ॐ

श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमाला पुष्प नं० ४७

श्री विद्यानंदि-स्वामि विरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार:

(भाषा टीका समन्वितः)

(षष्ठ-खंडः)

टीकाकार

तर्करत्न, सिद्धांतमहोदधि, स्याद्वादवारिधि, दार्शनिक शिरोमणि,

श्री पं० माणिकचंद जी कौंदेय न्यायाचार्य

संपादक व प्रकाशक

पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

(विद्यावाचस्पति, व्याख्यान केसरो, समाजरत्न, धर्मालंकार, विद्यालंकार, न्यायकाव्यतीर्थ)

ऑ, मंत्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर

प्रति १००० } १९६९ वीर सं० २४९५ { मूल्य १२ रुपये

संपादकीय वक्तव्य

तत्त्वार्थश्लोक वार्तिकालंकार का यह छठवां खंड स्वाध्याय प्रेमी बंधुवों के हाथ में देते हुए हमें हर्ष होता है, इस खंड के प्रकाशन में भी अपेक्षा से अधिक विलंब हो गया है, तथापि उसमें हमारी विवशता ही कारण है। प्रारंभ के कुछ भागों का मुद्रण श्री महावीरजी में हुआ, स्व० श्री पं० अजित-कुमारजी की देख-रेख में यह कार्य चला, परंतु उनके आकस्मिक स्वर्गवास से यह कार्य स्थगित रहा, अग्रिम भाग का कार्य वाराणसी में कराना पड़ा, इन सब यातायात आदि के कारण से इसके प्रकाशन में विलंब हुआ। आशा है कि हमारे बंधु क्षमा करेंगे।

ग्रंथ परिचय

यह तो सुविदित है कि तत्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार तत्त्वार्थसूत्र पर सुविस्तृत नैयायिक शैली की टीका है। महर्षि विद्यानंदि ने इस महत्त्वपूर्ण श्लोकवार्तिक में सर्व-प्रमेयों का सांगोपांग विचार किया है। किसी भी विषय पर कोई भी शंका शेष न रहे इस प्रकार निःसंदिग्ध विवेचन प्रस्तुत श्लोक-वार्तिक में है। करीब ६०० पृष्ठों के प्रथम खंड में केवल प्रथम-सूत्र की व्याख्या है। दूसरे, तीसरे, और चौथे खंड में तत्त्वार्थसूत्र का केवल प्रथम अध्याय समाप्त हो पाया। पांचवें खंड में द्वितीय, तृतीय और चौथे अध्याय के विषयों का निरूपण है। अब प्रस्तुत खंड में पांचवें, छठे और सातवें अध्याय के विषयों पर विचार किया गया है। यह खंड भी करीब ७०० पृष्ठों का हो गया है जो आपके सन्मुख उपस्थित है।

इस खंड में आगत विषयों का परिचय कराने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इसके साथ विस्तृत विषयानुक्रमणिका दी गई है। उसी से स्वाध्यायशील बंधुवों को विषयों का परिज्ञान हो जावेगा। आगामी एक खंड में ग्रंथ समाप्ति करने का हमारा संकल्प है। वह भी शीघ्र पूर्ण होगा ऐसी आशा है।

विषयानुक्रमणिका देने की पद्धति का हमने इससे पूर्व के खंडों में अवलंबन नहीं किया था, परंतु कुछ मित्रों की सलाह थी कि विषयानुक्रमणिका देनेसे स्वाध्याय करने वालों को एवं संशोधक विद्वानों को सहूलियत रहती है। सो इस खंड में प्रस्तुत खंड में आगत विषयों की सूची दी गई है। श्लोकानुक्रमणिका भी यथापूर्व दी गई है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में संस्थान ने बहुत बड़ा साहस किया है। कारण सातों खंडों के प्रकाशन में संस्था के करीब पचास हजार रुपयों का व्यय हो जायगा। तथापि एक महान् ग्रंथराज का प्रकाशन होकर जैन न्याय जगत् की एक महती आवश्यकता की पूर्ति करने का श्रेय संस्था को प्राप्त होगा। ऐसे ग्रंथों के एक बार प्रकाशित होने में ही जहाँ कठिनता का अनुभव होता है वहाँ बार-बार प्रकाशन तो असंभव ही है। उसमें भी विशेष बात यह है कि यह ग्रंथ विद्वान् व संशोधकों के काम की चीज है। जनसाधारण के लिए यह गूढ़ दार्शनिक विषय होने से शुष्क प्रतीत हो सकता है। हमारे करीब ५०० स्थायी सदस्य हैं, उन्हें तो यह ग्रंथ बिना मूल्य ही भेंट में देते हैं। हमारे सदस्यों में प्रायः समाज के प्रसिद्ध स्वाध्याय प्रेमी बंधु आ जाते हैं। अतिरिक्त सज्जन ग्रंथ को खरीदकर पढने वाले बहुत कम रह जाते हैं। इसलिए संस्था का व्यय करीब-करीब साहित्य सेवा में ही उपयुक्त हो जाता है।

हमारे साधर्मी बंधुवों से निवेदन है कि वे हमारे इस कार्य में हाथ बटावेंगे तो आगामी खंड भी शीघ्र ही प्रकाश में आ सकेगा, प्रत्येक श्रुत भण्डार, मंदिर, सरस्वती भवन, विद्यालय, महाविद्यालय, तीर्थ क्षेत्र आदि में इस ग्रंथराज की एक-एक प्रति विराजमान करावें। गत वर्षों में अमेरिका आदि परदेश के पुस्तक भंडारों में बीसों सेट गये है तो भारतीय ग्रंथ-भंडारों के संचालकों का भी ध्यान इस ओर जाना चाहिये, इस ग्रंथ के प्रकाशन में मदद देना या संस्था के कार्य में मदद देना भी एक प्रकार से प्रकाशन में सहायता है। १०१) देने वाले स्थायी सदस्यों की वृद्धि करना भी संस्था के कार्य में एक प्रकार की सहायता है। उन स्थायी सदस्यों को ग्रंथमाला से प्रकाशित (उपलब्ध) सर्व साहित्य बिना मूल्य भेंट में दिये जाते हैं। आशा है कि हमारे धर्म बंधु यथासाध्य इस कार्य में सहयोग देंगे।

इस खंड के प्रकाशन में सहायता

इस खंड के प्रकाशन में हमारी एक धर्मभगिनी ने उल्लेखनीय सहायता की है। अतः उनका संक्षिप्त परिचय करा देना हम अपना कर्तव्य समझते है।

सहारनपुर नि० ला० धवलकीर्ति जी प्रसिद्ध धर्मात्मा थे, उनकी चार पुत्र संतति (१) ला० मेहर चद, (२ ला० रूपचद (३) बा० रतनचंद (४) बा० नेमिचंद्र, और एक पुत्री जयवती देवी के नाम से थो। पिता श्री धवलकीर्ति नाम के अनुसार ही धार्मिक वृत्ति, सरल और भद्र प्रकृति के थे, अतः संतान में भी प्रारंभ से ही धार्मिक वृत्ति आई है। श्री ब्र० रतनचंद मुख्तार और बा० नेमीचंदजी वकील से समस्त समाज सुपरिचित हैं। सतत स्वाध्याय के बल से दोनों सहोदरोंने जैन सिद्धांत का जो ज्ञान आकलन किया है एव सूक्ष्मतलस्पर्शी विषयों का विवेचन उनकी लेखनी से सदा होता है, जिससे समाज के सर्व श्रेणी के लोग लाभान्वित होते है, भाई रतनचदजी ने मुख्तारगिरी १९४७ मे छोड़कर शांतिमय जीवन को अपनाया, बा० नेमीचदजी ने १९५३ में वकालत के व्यवसाय को छोड़कर अपनी ४९ की उम्र में ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया है, दोनों सहोदरों की यह पावन वृत्ति अनुकरणीय है। इनकी बहिन जयवंती देवी का विवाह सुलतानपुर नि० ला० महाज प्रसाद जी के पुत्र ला० जिनेश्वर प्रसाद जी बी० ए० के साथ हुआ, ला० महाज प्रसाद जी तहसीलदार थे। उनके दो सुपुत्र थे। जो क्रमशः जयप्रसाद और जिनेश्वर प्रसाद के नाम से प्रसिद्ध थे एव परस्पर प्रेम में बलभद्र और नारायण के समान रहते थे। ला० महाज प्रसाद जी के पिता ला० अजुध्या प्रसाद जी डिप्टी कलेक्टर थे। उनका एक पुत्र ला० जनेश्वरदास भी ऑनरेरी मेजिस्ट्रेट व ऑ० असिस्टेंट कलेक्टर थे। ला० जनेश्वरदास की एक बहिन सहारनपुर नि० सुप्रसिद्ध तीर्थ भक्त स्व० ला० जंबू प्रसाद जी से विवाही थी, उनके सुपुत्र ला० प्रद्युम्नकुमार जी रईस आज विद्यमान हैं, इस प्रकार श्रीमती जयवंती देवी ला० प्रद्युम्न कुमार जी की सगी मामी थी। ला० जिनेश्वर-प्रसाद और जयप्रसाद दोनों भाइयों को कोई सन्तान नहीं थी। ला० जयप्रसाद का स्वर्गवास सन् १९६० में हुआ, अत्यधिक प्रेम के कारण ला० जिनेश्वर दास जी उनके वियोग को सहन नहीं कर सके। इसलिए उसी शोक से वे भी एक महीने के बाद ही स्वर्गस्थ हुए, अब उनकी स्मृति में उनकी दोनों विधवा पत्नियों ने एक लाख रुपये नगद, और बहुत सी स्थावर संपत्ति देकर सुलतानपुर में इ टर कालेज स्थापित कराया है। सम्मेदशिखर जी, हस्तिनापुर आदि क्षेत्रों में भी कमरा आदि निर्माण कराये एव और भी पर्याप्त दान किया है। श्रीमती जयवंती देवी ने श्लोकवार्तिकालंकार के इस खण्ड के प्रकाशन में ४०००) की धन राशि सहायता में दी है, हमारी प्रबल इच्छा थी कि उनके सामने ही यह प्रकाशित हो जाय परंतु

उनका स्वर्गवास २६-१२-६७ को हो गया। देवेच्छा के सामने हम विवश रहे। स्वर्ग में उनकी आत्मा को इस पावन कार्य से अवश्य प्रसन्नता होगी।

ऋणभार स्वीकार

इस खंड के प्रकाशन में श्रीमती जयवंती देवी ने जो सहायता दी है वह अविस्मरणीय है, हम उनके प्रति ऋणी हैं, श्री ब्र० रतनचंदजी मुख्तार व श्री वा० नेमीचंदजी वकील ने ग्रंथ की विषय सूची के संकलन में, श्लोकानुक्रमणिका के चयन में एवं उक्त सहायता के प्रदान कराने में संस्था के प्रति आत्मीयता पूर्ण व्यवहार किया उनके प्रति हम कृतज्ञ हैं, श्री महावीर जी क्षेत्र स्थित शांतिसागर सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था, स्व० पं० अजितकुमार जी शास्त्री और आनन्द प्रेस वाराणसी के हम आभारी हैं जिनके सत्प्रयत्न से यह कार्य सुकर हो सका, पांचवें अध्याय के अंत तक श्री महावीर जी में और छठे, सातवें अध्याय का भाग वाराणसी में मुद्रित हुआ। और भी जिन जिन सज्जनों का हमें इस कार्य में सत्परामर्श व सहयोग प्राप्त हुआ उनके भी हम कृतज्ञ है।

अपनी बात

यह ग्रंथमाला परम पूज्य प्रातः स्मरणीय गुरु देव आचार्य कुंथुसागर महाराज की स्मृति में संचालित है। आचार्य महाराज स्वय विद्वान्, लोकैषणा के धनी, विश्ववंद्य, सर्वजन मनोहर, कठिन तपस्वी एव प्रभावक साधु थे, उनके द्वारा निर्मित करीब ४० ग्रंथ प्रकाशित हो चुके है। जो जन साधारण के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो चुके है। यह श्लोकवर्तिकालंकार विद्वान समाज के लिए अध्ययन की वस्तु है। इसे सरल व हृदयंगम करने के लिए जैन समाज के वयोवृद्ध सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री तार्किक शिरोमणि, सिद्धांत महोदधि, पं० माणिकचंद जी न्यायाचार्य ने जो विस्तृत हिंदी टीका लिखी है, वह अनुपम है। विद्वत्समाज उनकी इस कृतिकी उपकृति के लिए सदा ऋणी रहेगा। पूज्य पंडित जी की भी उत्कंठा है कि इसका संपूर्ण प्रकाशन जीवन काल में ही पूर्ण हो जाय।

इसके प्रकाशन में ग्रंथमाला के ट्रस्टियों का सहयोग पूर्णतया रहा है। वे हमारे कार्य में सतत प्रोत्साहन देते रहते है, परंतु हमारे ही कार्याधिक्य के कारण सर्वकार्य द्रुत गति से हो नहीं पाते हैं। फिर भी बड़ी उदारता से हमारे ट्रस्टीगण, वाचक, स्वाध्याय प्रेमी इसे सहन करते हैं एवं संस्थाको अपनाते है यह उनकी बड़प्पन है, हम सदा उनके प्रति कृतज्ञ रहेंगे।

वीर स० २४९५ वैशाख सु० ३
कल्याण भवन
सोलापुर २

विनीत
वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
ऑ० मंत्री, आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार का मूलाधार

षष्ठ खंड

पंचमोऽध्यायः

अजीव-काया धर्माधर्माकाश-पुद्गलाः ॥ १ ॥ द्रव्याणि ॥ २ ॥ जीवाश्च ॥ ३ ॥ नित्या-वस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥ रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥ आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥ निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥ असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥ आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥ संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥ नाणोः ॥ ११ ॥ लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥ धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥ एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥ असंख्येय-भागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥ प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥ गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥ आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥ शरीर-वाङ्-मनः-प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥ सुख-दुःख जीवित-मरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥ परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥ वर्तना-परिणाम-क्रिया-परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥ स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥ शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥ अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥ भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥ भेदादणुः ॥ २७ ॥ भेद-संघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥ सद् द्रव्य-लक्षणम् ॥ २९ ॥ उत्पादव्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत् ॥ ३० ॥ तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥ अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥ स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥ न जघन्य-गुणानाम् ॥ ३४ ॥ गुण-साम्ये सदृशानाम् ॥ ३५ ॥ द्व्यधिकादि-गुणानां तु ॥ ३६ ॥ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥ ३७ ॥ गुण-पर्ययवद् द्रव्यम् ॥ ३८ ॥ कालश्च ॥ ३९ ॥ सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥ द्रव्या-श्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥ तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

काय-वाङ्-मनः-कर्म योगः ॥ १ ॥ स आस्रवः ॥ २ ॥ शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३॥ सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥ इन्द्रिय-कषायाव्रत-क्रियाः पञ्च-चतुः-पञ्च-पञ्चविंशति-संख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥ तीव्र-मन्द-ज्ञाता-ज्ञात-भावाधिकरण-वीर्य-विशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥ अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ७ ॥ आद्यं संरम्भ-समारम्भारम्भ-योग-कृत-कारितानुमत-कषाय-विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥ निर्वर्तनानिक्षेप-संयोग-निसर्गाद्वि-चतुर्द्वि-त्रि-भेदाः परम्

॥ ९ ॥ तत्प्रदोषनिह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञान-दर्शनावरणयोः ॥ १० ॥ दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्म-परोभय-स्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥ भूत-व्रत्यनुकम्पादान-सरागसंयमादियोगः क्षांतिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥ केवलि-श्रुत-संघधर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥ कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥ बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥ माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥ अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥ स्वभाव-मार्दवं च ॥ १८ ॥ निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥ सरागसंयम-संयमासंयमाकाम-निर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥ सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥ योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥ तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥ दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शील-व्रतेष्वनतीचारो-ऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी साधु-समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचन-भक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्ग-प्रभावना प्रवचन-वत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥ २४ ॥ परात्म-निन्दा-प्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥ तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥ विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

हिंसाऽनृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥ देशसर्वतोऽणु-महती ॥ २ ॥ तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपण-समित्यालोकित-पानभोजनानि पञ्च ॥ ४ ॥ क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानान्यनुवीची-भाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥ शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादाः पञ्च ॥ ६ ॥ स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्म-नोहरांगनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कार-त्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥ मनोज्ञामनो-ज्ञेन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जनानि पञ्च ॥ ८ ॥ हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥ दुःखमेव वा ॥ १० ॥ मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि च सत्त्व-गुणाधिक-क्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ ११ ॥ जगत्काय-स्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥ प्रमत्तयोगात्प्राण-व्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥ असदभिधानमनृतम् ॥ १४ ॥ अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १५ ॥ मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥ मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥ निःशल्यो व्रती ॥ १८ ॥ अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥ अणुव्रतोऽगारी ॥ २० ॥ दिग्देशानर्थदण्डविरति-सामायिक-प्रोषधोपवासोपभोग-परिभोग-परिमाणातिथि-संविभाग-व्रत-सम्पन्नश्च ॥ २१ ॥ मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥ शंका-कांक्षा-विचिकित्सान्यदृष्टि-प्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥ व्रत-शीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ २४ ॥ बन्ध-वध-च्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥ मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासा-

पहार-साकारमन्त्रभेदाः ॥ २६ ॥ स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥ परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडा-कामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥ क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्य-प्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥ ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमण-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥ आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥ कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥ ३३ ॥ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोपक्रमणानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥ सचित्त-सम्बन्ध-सम्मिश्राभिषव-दुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥ सचित्तनिक्षेपापिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य्य-कालातिक्रमः॥ ३६ ॥ जीवित-मरणाशंसामित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि ॥ ३७ ॥ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥ विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

•

श्लोकवार्तिक विषयसूची

पंचमाध्याय

अध्याय ६

अध्याय ७

अथ पञ्चमोऽध्यायः

ध्वस्तमोहतमाः सर्व (लोका) लोकभासकचिन्महाः ।
प्रबोधयेन्मन्‌पद्म श्रीमान्मे जिनभास्करः ॥ १ ॥

ॐ नमो जिनेन्द्राय तुष्टिपुष्टिकर्त्रे

जीव तत्त्वका निरूपण कर चुकने पर अब श्रीउमास्वामी महाराज अजीव तत्त्वका निरूपण करनेके लिये पंचम अध्यायके प्रारम्भ में अजीव तत्त्वके भेदोंकी संज्ञाका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रको कहते हैं—

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१॥

धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल ये चार पदार्थ अजीव होते हुये काय हैं अर्थात्—चेतना गुण से रहित होते हुये प्रदेशप्रचयात्मक ये चार पदार्थ हैं ।

किमर्थमिदं सूत्रस्य प्रवृत्तिरत्रेत्याह ।

कोई शिष्य प्रश्न करता है कि इस सूत्र की प्रवृत्ति किसलिये उमास्वामी महाराजने यहां की है। ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं—

अथाजीवविभागादिविवादविनिवृत्तये ।
अजीवेत्यादिसूत्रस्य प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥१॥

उक्त चार अध्यायो मे जीव तत्त्व का प्ररूपण करने के अनन्तर अब अजीव तत्त्व के विभाग, लक्षण, आदि मे पडे हुये विवाद की विशेषतया निवृत्ति करने के लिये सूत्रकार द्वारा "अजीव काया" इत्यादि सूत्र की प्रवृत्ति करना युक्त बन जाता है ।

"सम्यग्दर्शनविषयभावेन जीवोद्दिष्टे दृष्टेष्टजीवतत्त्वव्याख्यानेऽनन्तरमजीवतत्त्वव्याख्यानमर्हत्येव, तत्र च लक्षणविभागविशेषलक्षणविप्रतिपत्तौ तद्विनिवृत्त्यर्थोऽस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिर्घटतएवान्यथा निःशंकमजीवतत्त्वव्यवधानात् ।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्र द्वारा तत्वार्थों मे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन बताया है तहां सम्यग्दर्शन के विषयभाव रके जीवतत्त्वका उद्देश कर चुकने पर उक्त चार अध्यायो मे देखे जारहे या युक्तिप्रमाणों द्वारा अभीष्ट होरहे अथवा प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से परीक्षा किये गये

जीव तत्त्व का व्याख्यान कर चुकने पर उसके अव्यवहित पीछे अजीव तत्त्व का व्याख्यान करना उचित पड़ जाता ही है। उस अजीव तत्व मे सामान्य लक्षण, विभेद, विशेषलक्षण, इन मे अनेक प्रवादियों के नाना विवादो के उपस्थित होने पर उनकी निवृत्तिके लिये इस सूत्र की प्रवृत्ति होना घटित होजाता ही है। अन्यथा यानी-सूत्रकार इस सूत्रको नही कह पाते तो शकारहित होकर अजीव-तत्व की व्यवस्था नही हो सकती थी।

अजीवनादजीवाः स्युरिति सा ान्यलक्षणं।
कायाः प्रदेशबाहुल्यादिति कालाद्विशिष्टता ॥ २ ॥
धर्मादिशब्दतो बोध्यो विभागो भेदलक्षणः।
तेन नैकं प्रधानादिरूपता नाप्यनंशता ॥ ३ ॥
निःशेषाणामजीवानामिति सिद्धं प्रतीतितः।
विपक्षे बाधसद्भावाद् दृष्टेनेष्टेन च स्वयम् ॥ ४ ॥

प्राणधारण या चेतनास्वरूप जीवन नही होने से धर्म आदिक द्रव्य अजीव होजाते है इस प्रकार पाचो द्रव्यो मे व्यापनेवाला अजीव का सामान्यलक्षण निरुक्तिद्वारा कहदिया गया है। प्रदेशो की बहुलता करके चारो पदार्थ काय हे इसकारण काल द्रव्य से विलक्षणता आजाती है अर्थात् काल द्रव्य जीवन से रहित होरहा अजीव तो है किन्तु अनेक प्रदेशी नही है अतः अजीव होते हुए काय बन रहे ये चार पदार्थ ही हे। धर्म आदि चार शब्दो की निरुक्ति से ही भिन्न भिन्न लक्षण वाला विभाग समझ लिया जाय तिस कारण सर्व अजीवोको एक ही प्रकृति या शब्दब्रह्म या चित्राद्वैत आदि स्वरूपपना नही है और वह अजीवतत्व अंशो से भी रीता नही है अर्थात्—धरति, न धरति, आकाशन्ते अस्मिन्, पूरणगलने यस्य, इन निरुक्ति--पूर्वक अर्थो से इनका लक्षण न्यारा न्यारा साध होजाता है। सांख्यों ने जैसे एक ही जड प्रकृति को मान रक्खा है वैसा हमारे यहां अजीवतत्व नही है अथवा बौद्ध जैसे निरंश स्वलक्षणो को स्वीकार कर बैठे हैं वैसा हमारा जीव द्रव्य नही है किन्तु अनेक प्रदेशो करके सारा है। प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त स्वभाव विद्यमान हैं, इस प्रकार सम्पूर्ण अजीव द्रव्यो के लक्षण आदिक सर्व प्रतीतियो द्वारा सिद्ध हो जाते है। इसके विपरीत विपक्ष मे दृष्ट प्रमाण और इष्ट प्रमाण करके स्वयमेव बाधाओ का सद्भाव है, अतःउमास्वामी महाराज का उक्त सूत्र निर्दोष सार्थक, आवश्यक, व्यावृत्तिकारक, और अज्ञात प्रमेय का ज्ञापक है।

जीवस्योपयोगो लक्षणं जीवनमितिप्रतिपादितं ततोन्यदजीवनं गतिस्थित्यवगाहहेतुत्वरूपादिस्वरूपमन्वयिसाधारणमजीवानां लक्षणं।

उक्त तीन वार्तिकों का विस्तृत विवरण इस प्रकार है कि जीव का लक्षण उपयोग है यही जीवन है। मूल सूत्रकार स्वयं दूसरे अध्याय मे इसका प्रतिपादन कर चुके है। उस जीवन से न्यारा पदार्थ पर्युदासवृत्ति द्वारा अजीवन है, जो कि गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहहेतुत्व, रूप रसादि स्वरूप हो रहा और अन्वय-रूप से लक्ष्यों मे ओत पोत वर्त रहा अजीवों का साधारण लक्षण है।

भावार्थ—धर्म द्रव्य में गति का हेतुपना है, अधर्म में स्थिति का हेतुपना है, आकाश में अवगाह का निमित्त कारणपना है और पुद्गल में रूप, रस, आदि गुण विद्यमान हैं तत्त्-स्वरूप अजीवन नाम का भाव धर्म चारों अजीव द्रव्यों का लक्षण है।

त्रिकालविषयाजीवनानुभवनादजीव इति निरुक्तेरव्यभिचारान्न पुनर्जीवनाभावमात्रं तस्य प्रमाणागोचरत्वात् पदार्थलक्षणत्वायोगात् भावांतरस्वभावस्यैवाभावस्य व्यवस्थापनात्। काया इव कायाः प्रदेशबाहुल्यात् कालाणुवदणुमात्रत्वाभावात्। ततो विशिष्टाः पंचैवास्तिकाया इति वचनात्।

भूत, वर्तमान, भविष्य, तीनों कालो मे गतिहेतुत्व आदि अजीवन धर्मों का अनुभवन करने से अजीवतत्व है। इस अजीव शब्द की निरुक्ति का कोई व्यभिचार दोष नही आता है, अतः निरुक्ति द्वारा ही निर्दोष लक्षण बन गया होने से सूत्रकार ने अजीव तत्व का स्वतंत्र सूत्र द्वारा कोई लक्षण नही कहा है। अजीव शब्द में नञ् शब्द तो सदृश को ग्रहण करने वाला पर्युदास है जो कि अनक्षर, अनंग, अनेकांत, अनुपम, अंग आदि के समान भाव--आत्मक पदार्थ है। तुच्छ हो रहा केवल जीवन का अभाव तो फिर अजीव नही है क्योंकि वह तुच्छ—अभाव किसी भी प्रमाण का विषय नही है खरविषाण के समान तुच्छ अभाव किसी भी पदार्थ का लक्षण नही हो सकता है। जैसे "भूतले घटाभावः यहा घट से अतिरिक्त भूतल पदार्थ जैसे घटाभाव अभीष्ट किया गया है, उसी प्रकार अधिकरण स्वरूप अन्य भाव का स्वभाव हो रहे ही अभाव पदार्थ की व्यवस्था की गयी है। भावार्थ-वैशेषिको ने सातवा पदार्थ तुच्छ अभाव स्वीकार किया है उनके यहां जीव का तुच्छ-अभाव अजीव समझा जाता है किन्तु जैनों के यहां गति-हेतुत्व आदि अनेक गुणो से युक्त हो रहे जीव भिन्न पदार्थ अजीव माने गये हैं। जीव से भिन्न हो रहे किन्तु सत्त्व, द्रव्यत्व आदि धर्मों करके जीव के सदृश पदार्थ हैं। "अजीव कायाः" यहा जो काय शब्द का प्रयोग किया गया है उसमें इव शब्द का उपमा अर्थ छिपा हुआ है जिस प्रकार जीवो के शरीर पुद्गलो के पिण्ड-स्वरूप एकत्रित हो जाते हैं उसी प्रकार अनादि-कालीन धर्मादिको के प्रदेशो की बहुलता का तदात्मक एकत्रीभाव हो जाने से ये चार पदार्थ शरीरो के समान काय हैं, कालाणुओ के समान ये चार तत्व केवल एक-प्रदेशी अणुस्वरूप नही हैं। सिद्धान्त ग्रन्थो मे ऐसा वचन है कि तिस कारण से अनेक प्रदेशो से विशिष्ट हो रहे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश ये पांच ही अस्तिकाय हैं, एक प्रदेश के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों से रहित होने के कारण कालाणु द्रव्य अस्तिकाय नही है।

अजीवाश्च ते कायाश्चेति समानाधिकरणवृत्तिसामर्थ्यादवसीयते, भिन्नाधिकरणायां वृत्तौ कथंचिद्भेदविवक्षायामपि कायानामेव संप्रत्ययप्रसंगात् अजीवानां विशेषणभावात् सामानाधिकरण्यायामपि वृत्तौ दोषोयमिति चेन्न, अभेदप्रतीतेः। अजीवा एव काया इति धर्मादीनामजीवत्वकायत्वाभ्यां तादात्म्यप्राधान्ये तयोः सामानाधिकरण्योपपत्तेः।

"अजीवकायाः" इस शब्द की अजीव हो रहे सन्ते जो काय हैं, इस प्रकार दोनों पदो के वाच्यार्थ के समान अधिकरण को बता रही कर्मधारय समास-वृत्ति हो रही है, यह बिना कहेही शब्द और अर्थ की सामर्थ्य से जान ली जाती है। "समर्थः पदविधिः" पद-सम्बन्धी विधियां सामर्थ्य के

आश्रित हो रहीं समझ ली जाती हैं। दोनो पदों के वाच्य अर्थों के न्यारे न्यारे अधिकरण को कहने वाली 'अजीवों के काय' यों षष्ठीतत्पुरुष वृत्ति करने पर तो अजीव और काय में कथंचित् भेद की विवक्षा होने पर भी केवल उत्तर पदार्थ-प्रधान मानी गयी तत्पुरुषवृत्ति मे कायों की ही प्रधान रूप से भली प्रतीति होनेका प्रसंग होवेगा। अर्थात् 'अजीवोंके काय' यो तत्पुरुष करने पर अजीव अर्थ गौण पड़ जाता है और 'अजीव हो रहे जो काय' यों कह देने पर दोनो पदार्थोंकी प्रधानता रहती है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे "अजीवाश्च ते कायाश्च" यो विग्रह करते हुये "विशेषणं विशेष्येण" इस सूत्र द्वारा कर्म-धारय समास करने पर भी अजीवों को विशेषणपना हो जाने से समानाधिकरणपना स्थापन करने वाली कर्मधारयवृत्ति मे भी यह दोष तदवस्थ है। अर्थात्-अजीव विशेषण है और काय-विशेष्य है। यो समान अधिकरण होते हुए भी विशेष्य हो रहे कायो की ही समीचीन प्रतीति हो सकेगी। विशेषण हो रहा अजीवपना गौण पड़ जायगा और आप जैनो को दोनों की प्रधानता अभीष्ट है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि यहा अजीव और काय दोनो की अभेद की प्रतीति हो रही है "अजीव हो रहे ही जो काय है" इस प्रकार धर्म, अधर्म, आदिकोके अजीवपन और कायपन करके तदात्मकपन की प्रधानता होने पर उन दोनों का समानाधिकरणपना बन जाता है। अजीवपन को छोड़कर कायपना जीव द्रव्य मे है और कायपन को छोडकर अजीवपना काल द्रव्य में है यो व्यभिचार की रक्षा करते हुये तथा अजीव को विशेषण बनाते हुये कर्मधारयवृत्तिका निर्वाह कर दिया जाता है परन्तु अजीवपना इन चार कायों मे कायपना इन चार अजीवो में अभेद अनुसार ओत प्रोत प्रतीत हो रहा है, अतः इस सूत्र में दोनो भेदो की प्रधानता रखते हुये धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गलो का उद्देश्य कर युगपत् अजीवपन और तदभिन्न कायपन का विधान कर दिया गया है।

काया इत्येवास्तु इति चेन्न, जीवस्यापि कायत्वात् तद्व्यवच्छेदार्थत्वादजीवग्रहणस्य। धर्मादीनामजीवत्वविधानार्थत्वाच्च सूत्रस्य युक्तमजीवग्रहणं। तर्हि जीवा इत्येवास्तु इति चेन्न, कालाणुवत्प्रदेशमात्रत्वनिराकरणार्थत्वात् कायग्रहणस्य। अन्यथा तेऽस्तिकाया इति सूत्रांतरारंभप्रसंगात्। जीवानां कायत्वविधानार्थमारंभणीयमेव सूत्रांतरमिति चेत्, नारंभणीयं, असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानामित्यत एव जीवानां प्रदेशबाहुल्यसिद्धेः कायत्वविधानात् तर्हि धर्माधर्मयोस्तत एव, आकाशस्यानंता इति वचनादाकाशस्य, संख्येयासंख्येयानंताश्च पुद्गलानामिति वचनात् पुद्गलस्य कायत्वविधानसिद्धेरपार्थकं कायग्रहणमिति चेन्न, ततो धर्मादिप्रदेशानामियत्ताविधानात्। तर्हि जीवस्यापि ततोऽसंख्येयप्रदेशत्वविधानान्न कायत्वविधिरिति चेन्न, ततो जीवस्य कायत्वानुमानात्। न चात्र धर्मादीनां कायत्वविधानं तत्र जीवस्य कायत्वमनुमातुं शक्यमिति युक्तमिह कायग्रहणं। अस्तिकायो जीवः प्रदेशेयत्ताश्रयत्वाद्धर्मादिवदित्यनुमानप्रवृत्तेः अन्यथा दृष्टान्तासिद्धेः।

यहां कोई प्रतिवादी कटाक्ष करता है कि अजीव नही कह कर विधेय दल में 'कायाः' इतना ही एक पद रहो वृत्ति आदिका टण्टा स्वतः मिट जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योंकि जीवको भी असंख्यात-प्रदेशी होने से कायपना है, अतः अजीवो का संग्रह करते समय उस

जीव का व्यवच्छेद करने के लिये अजीव पद का ग्रहण किया गया है। दूसरी बात यह भी है कि धर्म आदिकों के अजीवपन का विधान करने के लिये यह सूत्र है, अतः अजीव का ग्रहण करना युक्तिपूर्ण है अर्थात्—ब्रह्माद्वैतवादी सबको जीव-आत्मक ही स्वीकार करते है उनके प्रति धर्मादिकों मे अजीवपन का प्रतिपादन करना सूत्रकारको आवश्यक पड गया है। परोपकारी आचार्य महाराज सूत्रों द्वारा अज्ञात प्रमेयो का ज्ञापन कराते हैं। यदि वह प्रतिवादी फिर यों कहे कि तब तो 'अजीवाः' इतना ही विधेय दल रहो. काय ग्रहण की सूत्र में कोई आवश्यकता नही। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि धर्मादिकों में एक—प्रदेशी या अप्रदेश कालाणु के समान प्रदेशमात्रपन का निराकरण करने के लिये सूत्रकार ने काय का ग्रहण किया है अन्यथा यानी यदि यहाँ काय का ग्रहण नही किया जाता तो "ते अस्तिकायाः" वे धर्म आदिक अस्तिकाय है इस प्रकार एक न्यारे दूसरे सूत्र के आरम्भ करनेका प्रसंग होता. इसी सूत्र मे काय कह देने से उस गौरव दोष से बच जाते हैं। यदि प्रतिवादी यहां यों कहे कि जीवो के कायपनका विधान करने के लिये निराला सूत्र तो आरम्भ करने योग्य ही है, ऐसी दशा में लाघव कहां होसकेगा ? यो कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि हमको जीवो के कायपन का विधान करनेके लिये न्यारा सूत्र नहीं आरम्भ करना है "असख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्" धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, और एक जीव द्रव्य के मध्यम असख्यातासंख्यात प्रमाण असख्याते प्रदेश है, इस सूत्र से ही जीवो के प्रदेशो की बहुलता की सिद्धि होजाने से कायपन का विधान होजाता है, अतः न्यारे सूत्र का आरम्भ नही करने से लाघव हुआ। पुनः प्रतिवादी बोल उठा कि तब तो उस ही सूत्र से धर्म और अधर्म द्रव्य के बहुत प्रदेश सिद्ध होय ही जायगे, आकाश के अनन्त प्रदेश हैं इस सूत्रकार के वचन से आकाश के बहुत प्रदेश सध जांयगे। तथा पुद्गलों के संख्याते असख्याते और अनन्ते प्रदेश है इस सूत्रकार के वचन से पुद्गल के कायपन का विधान होना सधजाता है, अतः इस सूत्र मे काय का ग्रहण करना व्यर्थ है। लाघव करने बैठे हो तो अच्छा लाघव करना चाहिये। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन "असख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्, आकाशस्यानन्ताः, संख्येयासख्येयाश्च पुद्गलानाम्., तीन सूत्रो करके धर्म आदि द्रव्यों के प्रदेशों का इतना नियतपरिमाणपना विधान कर दिया गया है।

प्रतिवादी बुरे ढगसे पीछे पडकर पुनः कहता है कि तब तो उस "असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवाना" सूत्र से जीव के भी असख्यात प्रदेशीपन का विधानमात्र होजाने से कायपन की विधि नही होसकेगी अर्थात् उस सूत्र से धर्मादिक के समान जीवके भी असंख्यात प्रदेशों की ही सिद्धि होगी, कायपन की सिद्धि नही होसकेगी। धर्मादिकों के कायपनके लिये जब यह सूत्र किया है तबतो जीव के कायपन की विधिके लिये न्यारा सूत्र बनाना ही पड़ेगा, लाघवकी चर्चा उड़ गयी।

आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस सूत्र से असंख्यात प्रदेशों की विधि होते हुये जीव के कायपनका अनुमान कर लिया जाता है। किन्तु इस सूत्र में यदि धर्म आदिकों के कायपन का विधान नहीं किया गया होता तो वहां "असख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानां" इस सूत्र द्वारा जीवके कायपनका अनुमान नही किया जासकेगा, इस कारण यहां सूत्र में काय का ग्रहण करना उचित है।

जीव (पक्ष) अस्तिकाय है (साध्य) प्रदेशोंके बहुत से इतने परिमाण का आश्रय होने से (हेतु) धर्म, अधर्मआदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान की प्रवृत्ति होजाती है। अन्यथा यानी-यहां

काय का ग्रहण नहीं करने पर तो अस्तिकाय होरहे धर्मादि द्रव्य-स्वरूप दृष्टान्त की प्रसिद्धि हो जाने से जीव को अस्तिकाय साधने वाला अनुमान नहीं प्रवर्त सकता था अतः इस सूत्र में काय का ग्रहण करना सार्थक है, तुच्छ लाघव को हम इष्ट नही करते है ।

किमर्थं धर्मादिशब्दानां वचनं ? विभागविशेषलक्षणप्रसिद्ध्यर्थं । अस्तु नाम धर्माधर्माकाशपुद्गला इति शब्दोपादानात् विभागस्य प्रसिद्धिः, विशेषलक्षणस्य तु कथं ? तन्निर्वचनस्य लक्षणाव्यभिचारात् तद्विशेषलक्षणसिद्धिः । सकृत्सकलगतिपरिणामिनां सांनिध्यधानाद्धर्मः, सकृत्सकलस्थितिपरिणामिनां सांनिध्यधानाद्गतिविपर्यायादधर्मः, आकाशंतेऽस्मिन् द्रव्याणि स्वयं चाकाशते इत्याकाशं, त्रिकालपूरणगलनात् पुद्गला इति निर्वचनं न प्रतिपक्षमुपयातीत्यव्यभिचारं सिद्धं ।

यहां कोई प्रश्न करता है कि अजीव और काय शब्द का प्रयोग करना सूत्र में सार्थक समझ लिया, अब यह बताओ कि धर्म आदिक शब्दों का कथन सूत्रकारने किसलिये किया है ? इसका उत्तर आचार्य कहते है कि विभाग करके द्रव्योंके विशेष लक्षणों की प्रसिद्धिके लिये धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन शब्दों का सूत्रमे उपादान किया गया है ।

पुन. किसीका आक्षेप है कि धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इस प्रकार शब्दों का उपादान करदेने से अजीव काय के विभाग की प्रसिद्धि भले ही हो जाय किन्तु उनके न्यारे न्यारे विशेष लक्षणोंकी सिद्धि भला किस प्रकार हो सकती है ? किसी का नाम ले देने मात्रसे इतरव्यावर्तक लक्षण नही बन जाता है। आचार्य महाराज इसका समाधान करते हैं कि उन धर्म आदि शब्दों की निरुक्ति कर प्राप्त हुये यौगिक अर्थका स्वकीय लक्षण के अनुसार कोई भी व्यभिचार दोष नही देखा जाता है अत: उन धर्म आदि के विशेष विशेष लक्षणों की सिद्धि हो जाती है । जैसे कि सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र शब्दों की निरुक्ति द्वारा ही निर्दोष लक्षण प्रसिद्ध है, हां सम्यग्दर्शन का निरुक्तिद्वारा प्राप्त हुआ 'समीचीन देखना' स्वरूप अर्थ इष्ट नही है, अत. सूत्रकारको रूढि अर्थ या पारिभाषिक अर्थ प्रकट करने के लिये न्यारा लक्षण-सूत्र कहना पडा था । जब तक निरुक्ति से लक्षण अर्थ लब्ध हो जाय तब तक लम्बी परिभाषा बनाना उचित नही है ।

उसी ढंगसे धर्म आदिको की कुछ विशेषणों के साथ निरुक्ति इस प्रकार करलेनी चाहिये कि गमन परिणाम से युक्त होरहे जितने भी जीव या पुद्गल हैं उन सबके युगपत् सन्निधान या सहकारिपन का धारण कर देने से धर्म द्रव्य कहा जाता है। भावार्थ-गमनमे उपादान कारण या प्रेरक निमित्त तो ये जीव पुद्गल ही हैं किन्तु गमन करने वाले सम्पूर्ण जीव पुद्गलों का युगपत् उदासीन कारण धर्मद्रव्य है 'धृञ् धारणे,, धातुसे मन् प्रत्यय करदेने पर धर्म शब्द बनता है।

तथा कतिपय जीव, पुद्गल और धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन स्थितिपरिणामवाले सम्पूर्ण द्रव्योंके एक ही काल में सान्निध्य या सन्निधपन का आधान कर देनेसे कारण अधर्म द्रव्य कहा जाता है, यह अधर्म द्रव्य उस गति से विपर्यय कर देनेके कारण अधर्म कहा जाता है । अधर्म शब्द में पड़ा हुआ नञ् शब्द विपरीत अर्थ का प्रतिपादक है, पुद्गल द्रव्य बने हुये पुण्य पापों से ये धर्म, अधर्म द्रव्य सर्वथा विलक्षण हैं । पारिभाषिक या साङ्केतिक शब्दों में आनुपूर्वी का सादृश्य मिलाते रहना ठलुआओंका अप्रासंगिक कर्तव्य है ।

किन्हीं आचार्यों के मतानुसार गति पूर्वक स्थिति परिणामवाले जीव और पुद्गल ही यहां ग्रहण करने योग्य माने गये हैं। आकाश की निरुक्ति यों है कि जिसमे सम्पूर्ण द्रव्य युगपत् अवकाश पाते रहते है अथवा स्वयं आकाश भी जिसमे अवगाह पाजाता है, अतः वह अत्यन्त परोक्ष पदार्थ आकाश है। तथा तीनो कालों में पूर जाना या गल जाना होते रहनेसे ये पुद्गल हैं। इस प्रकार धर्म आदि चार शब्दो की निरुक्ति प्रतिपक्ष यानी विपक्ष में नही प्रवर्तती है, इस कारण निरुक्ति द्वारा प्राप्त हुआ अर्थ ही व्यभिचार दोष से रहित होरहा विशेषलक्षण सिद्ध हो जाता है।

यहा यह कहना है कि उदासीन कारण, प्रेरक कारण, और उपादानकारण इनकी शक्तियो में न्यूनता या अधिकता की पर्यालोचना करना व्यर्थ है, सभी अनन्त शक्तियों को धारते है।

कालस्याजीवत्वेनोपसंख्यानमिह कर्तव्यमिति चेन्न, तस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। ततो धर्माधर्माकाशपुद्गलाः कालश्चेति पंचैवाजीवपदार्थाः प्रतिपादिता भवंति। तेन प्रधानमेवाजीवपदार्थो धर्मादीनामशेषाणामजीवानां प्रधानरूपत्वादिति न सिद्धं तेषां पृथगुपलब्धेः।

यहा किसी प्रतिवादी का आक्षेप है कि काल द्रव्य का भी इस सूत्र में अजीवपन करके कथन करना चाहिये अन्यथा सूत्रकार की त्रुटि समझी जावेगी, सूत्रकार की भूल होजाने पर वार्तिककार को उचित है कि वे उस क्षति को पूरा करने के लिये नवीन वार्तिक बना देवें।

ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि स्वय ग्रन्थकार "कालश्च" इस सूत्र द्वारा इस काल को आगे ग्रन्थ मे अजीव स्वरूप कहनेवाले है तिस कारण पांचवे अध्यायका पूरा प्रकरण होजाने पर "धर्म अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल ये पांचोही द्रव्य अजीव पदार्थ समझा दियेगये होजाते है और वैसा होजाने से सांख्यों का यह मन्तव्य सिद्ध नही हो पाता है कि एक प्रधान (प्रकृति) ही अजीव पदार्थ है क्योंकि धर्मादिक सम्पूर्ण अजीव प्रधान स्वरूप ही है। बात यह है कि उन धर्म, अधर्म आदिको की न्यारी न्यारी उपलब्धि होरही है, अतः विरुद्ध होरहे धर्मआदिक पाच द्रव्य भला एक प्रकृति रूप कथमपि नही हो सकते है।

प्रधानाद्वैते दृष्टेन स्वयमिष्टेन च बाधसद्भावात्। नहि प्रधानमेकमुपलभामहे अन्तर्बहिश्च भेदानामुपलब्धेः। न चैषा भ्रांतभेदोपलब्धिर्बाधकाभावात्। प्रधानाद्वैतग्राहकमनुमानं बाधकमिति चेन्न, तस्य तद्भेदे तद्वदसिद्धत्वात्तत्साधकत्वाभावात् भेदोपलब्धिबाधकत्वायोगात्। ततो भेदे द्वैतसिद्धिप्रसंगात्। पराभ्युपगमादनुमानं तत्साधकंभेदोपलब्धेश्च बाधकमिति चेन्न, पराभ्युपगमस्याप्रमाणत्वात्। तत्प्रमाणत्वे भेदसिद्धे रवश्यंभावात्। ततः प्रधानाद्वैते निर्बाधं दृष्टविरोधः। तथेष्टेन च महदादिविकारप्रतिपादकागमेन तद्बाधोस्ति, तस्याविद्योपकल्पितत्वे प्रधानाद्वैतसिद्धिरपि ततो न स्यात्, न च प्रत्यक्षानुमानागमागोचरत्वापि प्रधानस्य स्वतः प्रकाशमचेतनत्वादिति न तद्रूपता धर्मादीनां।

दूसरी बात यह है कि आत्म-भिन्न सम्पूर्ण चर, अचर, पदार्थों को एक प्रधान-अद्वैत स्वरूप मानने पर तुम सांख्यों के यहां स्वयं इष्ट और दृष्ट प्रमाणों से बाधायें उपस्थित हो जावेंगी। देखिये

प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हम तुम सब एक प्रधान को ही नही देख रहे है क्योंकि सुख, दुःख, द्वेष, प्रयत्न, आदि अन्तरङ्ग और घट, पट आदि वहिरंग भिन्न-भिन्न हो रहे पदार्थों की उपलब्धि हो रही है पदार्थों का भिन्न-भिन्न प्रतिभास करने वाली यह उपलब्धि भ्रान्ति ज्ञान नही है क्योकि कोई बाधक प्रमाण सन्मुख उपस्थित नही है।

यदि कापिल यो कहे कि "त्रिगुणमविवेकि विषय. सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि," अविवेक्यादिः सिद्धस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात्, भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च, इत्यादि ग्रन्थ द्वारा हमारे पास प्रधान के अद्वैत का ग्राहक अनुमान प्रमाण विद्यमान है जो कि तुम्हारी भेद-उपलब्धि का बाधक है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि उस अनुमान को यदि उस प्रधान से अभिन्न मानोगे तो उस प्रधान के समान अनुमान की भी असिद्धि हो जाने से अनुमान को उस प्रधानाद्वैत के साधकपन का अभाव हो जावेगा, अतः वह अनुमान हमारी भेदोपलब्धि का बाधक नही हो सकेगा।

अर्थात्—जब प्रधानाद्वैत ही असिद्ध है तो उससे अभिन्न माना गया अनुमान भी असिद्ध है हा यदि उस प्रधान से अनुमान को भिन्न मानोगे तो उक्त दोष यद्यपि टल गया किन्तु अपसिद्धान्त हो गया, अद्वैत को साधते हुये तुम्हारे यहा प्रधान और अनुमान यो द्वैत पदार्थो की सिद्धि हो जाने का प्रसंग आबैठा। यदि तुम कापिल यो कहो कि दूसरे विद्वान् जैन या नैयायिको क स्वीकार करने से न्यारे अनुमान को उस प्रकृति अद्वैत का साधक और जैनो की भेद-उपलब्धि का बाधक कह दिया है वस्तुतः हमारे यहां अनुमान प्रकृति-आत्मक ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योकि दूसरे के स्वीकार करने को तुमने प्रमाण नही माना, यदि उसको प्रमाण मान लोगे तब तो तुम और दूसरे अथवा दूसरो के माने हुये अनेक तत्वो के स्वीकार करलेने से भिन्न-भिन्न पदार्थों की सिद्धि अवश्य हो जावेगी, तिस कारण प्रधान का अद्वैत मानने पर कापिलो के यहा बाधा-रहित होकर दृष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाणो से विरोध आया। तथा इष्ट अनुमान प्रमाण करके महत् अहंकार, तन्मात्राये आदि विकारो के प्रतिपादक आगम प्रमाण करके भी उस प्रधानाद्वैत की बाधा है।

यदि उन भिन्न भिन्न अनुमान, आगम, या महदादि विकारो को झूठी अविद्यासे गढ़ लिया गया मान लोगे तो उस अनुमान या आगम प्रमाण से तुम्हारे अभीष्ट प्रधानाद्वैत की भी सिद्धि नही हो सकेगी। प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम प्रमाणों के विषय नही हो रहे भी प्रधान का स्वयं प्रकाश, स्वरूप स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष तो हो नही सकता है क्योंकि कापिलों ने प्रधान को अचेतन माना है किसी भी अचेतन पदार्थ का स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष नही हो सकता है। इस कारण धर्म आदि द्रव्यो को उस प्रधान का स्वरूप हो जाना उचित नही है।

एतेन शब्दाद्वैतरूपता प्रतिषिद्धा पुरुषाद्वैतरूपतायां तु तेषामजीवत्वविरोधः। न च पुरुष एवेदं सर्वमिति शक्यव्यवस्थं पुरस्तादजीवसिद्धिविधानात्।

इस उक्त कथन करके धर्म आदिको का शब्दाद्वैत स्वरूपपना निषेधा जा चुका समझ लेना चाहिये शब्दाद्वैत पक्ष मे भी दृष्ट और इष्ट प्रमाणो से बाधा आती है अर्थात्—धर्म आदिक यदि शब्द-स्वरूप होते तो कानों से सुनने मे आते किन्तु ऐसा नही है तथा पाषाण, अग्नि आदि शब्दो का अर्थ के साथ अभेद मानने पर कान के फूट जाने या जलजाने का प्रसंग आवेगा जब कि अर्थ से शब्द

अभिन्न माना जा रहा है। इसी प्रकार धर्म, अधर्म आदिकों को पुरुषाद्वैत स्वरूप होने पर तो उन धर्मादिकों के अजीवपन का विरोध आवेगा, आत्म-स्वरूप पदार्थ चेतनात्मक होते हैं, अजीव नहीं। ब्रह्माद्वैतवादी ये 'सब ग्राम, बाग, पर्वत, घट, पट, आदिक ब्रह्म-स्वरूप ही हैं',इस सिद्धान्त की व्यवस्था नही कर सकते हैं क्योंकि प्रथम अध्याय मे "जीवाजीवास्रव", सूत्रका व्याख्यान करते समय पहले अजीव की सिद्धिका विधान किया जा चुका है। प्रत्यक्ष-सिद्ध हो रहे अनेक चेतन, अचेतन, पदार्थों का अपलाप करना उचित नही है।

पृथिव्यप्तेजोवायुमनोदिक्कालाकाशभेदरूपताप्यजीवपदार्थस्यायुक्तैव, पृथिव्यप्तेजोमनसां पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वाज्जात्यंतरत्वासिद्धेः। पृथिव्यादयः पुद्गलपर्याया एव भेदसंघाताभ्यामुत्पद्यमानत्वात्। ये तु न पुद्गलपर्यायास्ते न तथा दृष्टाः यथाकाशादयः भेदसंघाताभ्यामुत्पद्यमानाश्च पृथिव्यादय इति न ततो जात्यंतरं। विभागसंयोगाभ्यामुत्पद्यमानेन शब्देन व्यभिचार इति चेन्न, तस्यापि पुद्गलपर्यायत्वात्। तदपर्यायत्वे तस्य बहिःकरणवेद्यत्वविरोधात् न च भेदो विभागमात्रं, स्कंधविदारणस्य भेदशब्देनाभिधानात्। नापि संघातः संयोगमात्रं, मृत्पिंडादीनां स्कंधपरिणामस्य संघातशब्दवाच्यत्वात्। न च ताभ्यामुत्पद्यमानत्वमपुद्गलपर्यायस्य ज्ञानादेरस्ति येनानैकांतिको हेतुः स्यात्।

वैशेषिक नौ द्रव्यो में से पृथिवी, अप, तेज, वायु, मन, दिक्, काल, आकाश, इन आत्म-भिन्न आठ द्रव्यों को अजीव पदार्थ मानते है आचार्य कहते हैं कि यो अजीव पदार्थ का पृथिवी आदि आठ भेद स्वरूप होना भी युक्तिरहित ही है क्योंकि पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन ये पाच स्वतंत्र द्रव्य नही हैं, पुद्गल द्रव्य की विशेष पर्याय होने से इनको न्यारी न्यारी जाति का द्रव्यपना असिद्ध है, इसमे युक्ति यह है कि पृथिवी आदिक (पक्ष) पुद्गल के विकार नही है (साध्य) भेद और संघात से उपज रहे होने से (हेतु) जो पुद्गल के पर्याय नही हैं वे तो तिस प्रकार भेद और सघात से उपज रहे नही देखे जा रहे हैं जैसे कि आकाश. आत्मा, आदिक पदार्थ है (व्यतिरेकदृष्टान्त) भेद और सघात से उपजरहे पृथ्वी आदिक है (उपनय) इस कारण वे पुद्गल की पर्याय ही है, उस पुद्गल से न्यारी जाति के तत्वान्तर नही है (निगमन)।

इस अनुमान में कोई वैशेषिक पण्डित अनैकान्तिक हेत्वाभास उठाता है कि कणादप्रणीत वैशेषिक दर्शन का सूत्र है "संयोगाद्विभागाच्च शब्द-निष्पत्ति" बांस को चीरते समय या कपड़े को फाड़ते समय विभाग से शब्द उपजता है तथा ताली, घन्टा, घड़ियाल बजाते समय या लोहा कांसा आदि को पीटते समय संयोग से शब्द उत्पन्न होता है, शब्द तो गुण है, पुद्गल का पर्याय नही है, अत: विभाग और संयोगसे उपजरहे शब्द करके तुम जैनो के हेतु का व्यभिचार हुआ। हेतु रहगया साध्य नहीं रहा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वह शब्द भी पुद्गलसे उपादेय हो रहा पुद्गल की पर्याय है। यदि उस शब्द को उस पुद्गल की पर्याय नही माना जावेगा तो बहिरंग श्रोत्र इन्द्रिय करके उस शब्द के जानने योग्यपन का विरोध हो जावेगा। स्पर्शन आदि पाच बहिरंग इन्द्रियों करके पुद्गलपर्याय ही जाने जाते हैं अर्थात्—फोनोग्राफ के तवा या चूड़ी पर पौद्गलिक शब्द ही जमाया जा सकता है, टेलीग्राम या टेलीफान में पौद्गलिक शब्द ही पौद्गलिक बिजली करके

फेंका जाता है, घनगर्जन या बड़ी तोप के शब्दो से तो कान बहिरे या गर्भपात, हृदयकंप आदि विपत्तियां उपज जाती हैं, ये कृत्य पुद्गलपर्याय से ही सम्भवते है, गुण से नही । हेतु में पड़े हुये भेद का अर्थ केवल विभाग नही है, पुद्गल पिण्डस्वरूप स्कन्ध के विदारण को भेद शब्द करके कहा जाता है तथा सघात का अर्थ भी केवल सयोग ही नही है किन्तु यही, चून, के पिण्ड या तन्तु आदिके स्कन्धभूत, परिणाम को सघात शब्द करके कहा गया है, टुकडे होजाने का और मिल जाने को स्थूल रूप से भेद और सघात का अर्थ समझ लेना चाहिये । जो ज्ञान सुख, आदिक पदार्थ पुद्गल पर्याय नही हैं इन को उन भेद और सघात से उपजरहापन नही है जिससे कि हमारा हेतु व्यभिचारी होजाय अर्थात्—भेद और सघात से उपजरहापन हेतु निर्दोष है । अपने साध्य किये गये पुद्गलपर्यायपन को सिद्ध कर ही देता है ।

भेदात् पृथिव्यादीनामुत्पत्त्यसंभवादसिद्धो हेतुरिति चेन्न, घटादिभेदात्कपालाद्युत्पत्तिदर्शनात् द्वयणुकभेदादपि परमाणूत्पत्तिसिद्धेः । यथैव हि तंत्वादिसंघातान्वयव्यतिरेकानुविधानात् पटादीनां तत्संघातादुत्पत्तिरुरीक्रियते तथा पटादिभेदान्वयव्यतिरेकानुविधाना त्तंत्वादीनामात्मलाभात्तद्भेदादुत्पत्तिः सुशकाभ्युपगंतुम् । पटादिभेदाभावेपि तन्त्वादिदर्शनान्न ततस्तदुत्पत्तिरिति चेन्न, तस्यापि तंत्वादेः कर्पासप्रवेणीभेदादेवोत्पत्तिसिद्धेः ।

यहा कोई वैशेषिक प्रतिवादी उक्त हेतु को स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास बताने का प्रयत्न करता है कि स्कन्धो का विदारण करने से पृथिवी आदिको के उपजने का असम्भव है, अत जैनो का हेतु पक्ष में नही वर्तने से असिद्ध है अर्थात्—जैन जहां भेद से खण्डपट, कपलिका आदि की उत्पत्ति मानते है वहा भी द्रव्यर्वा के अवयव, पंचाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, द्वयणुक, परमाणु, इस क्रम से प्रलय हो कर पुन. द्वयणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक आदि की सृष्टिप्रक्रिया अनुसार ही खण्डपट, कपालिका, ठिकुच्ची आदि की उत्पत्ति भी सघात से ही होती है, भेद से तो नाश भले ही हो जाय, जो कोई छोटा टुकडा भी उपजेगा वह अपने उपादान कारण लघु अवयवोके सयोगसे ही उत्पन्न होगा, अत: जैनो का हेतु असिद्ध है ।

ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि घट, गेहूँ, डेल आदि का विदारण कर देनेसे कपाल, चून, डली, आदि पुद्गल पर्यायो की उत्पत्ति होरही देखी जाती है । द्वयणुक के भेदसे परमाणु की उत्पत्ति हो रही भी सिद्ध है, परमाणु की उत्पत्ति मे भेदके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नही है जब कि परमाणु से छोटा कोई अवयव नही माना गया है, परमाणु नित्य द्रव्य नही है इसका प्रकरणवश निर्णय करा दिया जावेगा । देखो जिस ही प्रकार तन्तु, कनिक, आदि अवयवो के एकीभाव के साथ अन्वय और व्यतिरेक का अनुविधान करने से पट लूण्ड, आदि अवयवियो की उन अवयवोके सघातसे उत्पत्ति होना स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार पट (थान) लक्कड़ चना, आदि अवयविया के भेद के साथ अन्वय व्यतिरेको का अनुविधान करने से तन्तु (सूत) चीपुटी, दौल, आदि अवयवो का आत्मलाभ होजाने के कारण उन अवयवियो के भेद से अवयवो की उत्पत्ति होना बहुत अच्छा स्वीकार किया जासकता है । कपड़ा फाड़ करके चीर चीर कर दिया जाता है, दुपट्टा फाड़ने के लिये लड़कियां कपड़े मे से सूत निकाल लेती हैं ।

यदि यहां वैशेषिक या कहें कि पहिले पहिले उपजे हुये सूत की अवस्था में कपड़ा, थान,

आदि का भेद नहीं होते हुये भी तन्तु आदिक उपज रहे देखे जाते हैं, अतः उस भेदसे उन तन्तु आदिकों का उपजना नही बन पाता है, अतः स्वरूपासिद्ध नही तो भागासिद्ध दोष अवश्य लागू होगा।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योकि उस प्रथम ही प्रथम के तन्तु आदि का भी कपास (रूई) की बनी हुई पौनी का भेद होजाने से ही उपजना सिद्ध है। धुनी हुयी रूई के पिण्डो को भेद कर पौनी बनाई जाती है, पुनः चर्खा या तकली द्वारा पौनी को क्रम-पूर्वक छिन्न भिन्न कर के सूत बनाया जाता है।

यथाविधानां च तंत्वादीनां पटादिभेदादुत्पत्तिरुपलब्धा तथाविधानां न तदभावे प्रतीयते इति नोपालंभः। समर्थयिष्यते च भेदात्परमाण्वादीनामुत्पत्तिः संघाताच्चेति नासिद्धो हेतुः, यतः पुद्गलपर्यायाः पृथिव्यादयो न सिद्ध्येयुः।

हां, कार्यकारण भाव का सूक्ष्मरूप से विचार करने पर निर्णीत होजाता है कि जिस प्रकार चपटे या ठहरहे तन्तु आदिको की उत्पत्ति पट आदिके भेद से ही होरही देखी गयी है उस प्रकार के होरहे कार्य भूत तन्तुओ आदि की उत्पत्ति उस पट आदि के भेद हुये बिना नही प्रतीत होती है, इस कारण हम जैनों के ऊपर कोई उलाहना या हेत्वाभास नही उठाया जा सकता है। सूत्रकार स्वयं भविष्य ग्रन्थ में कहेंगे और मुझ विद्यानन्द स्वामी करके उसका समर्थन किया जावेगा कि परमाणु की या महास्कन्धपूर्वक हुये लघुस्कन्ध आदि की उत्पत्ति भेद से ही होती है तथा लघु, महान् अनेक, पृथ्वी आदि स्कन्धो की उत्पत्ति संघात से हो रही है, इस कारण हम दोनो का हेतु असिद्ध हेत्वाभास नही है जिससे कि पृथ्वी, जल आदिक कार्य पुद्गल द्रव्य के पर्याय नही सिद्ध हो सकें अर्थात् पृथ्वी जल, तेज, वायु और मन ये स्वतन्त्र द्रव्य नही है किन्तु पुद्गल के पर्याय है।

दिशोपि नात्रोपसंख्यानं कार्यमाकाशेऽन्तर्भावात् ततो द्रव्यांतरत्वाप्रसिद्धेः।

वैशेषिकों ने नौ द्रव्यों में से जीव-भिन्न आठ द्रव्यों को स्वतन्त्रतया अजीव द्रव्य स्वीकार-किया है इन मे पृथ्वी आदि पांच का पुद्गल पर्यायपना साध दिया गया है। अब दिशा द्रव्य का विचार करते हैं। वैशेषिक की ओर से कोई कहरहा है कि स्वतंत्र अजीव द्रव्य के प्रतिपादक इस सूत्र में दिशा द्रव्य का भी निरूपण करना चाहिये था, सूत्रकार भूल जाय तो वार्तिककार द्वारा दिशा द्रव्य का भी उपसंख्यान करना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि यह ठीक नही क्योंकि उसका आकाश में अन्तर्भाव आजाता है, अतः दिशा का उस आकाशसे निराले द्रव्यपन की प्रसिद्धि नही होपाती है, दिशा आकाशस्वरूप ही है।

स्यान्मतं, पूर्वापरादिप्रत्ययविशेषः पदार्थविशेषहेतुको विशिष्टप्रत्ययत्वात् दंड्यादि-प्रत्ययवत्, योऽसौ विशिष्टः पदार्थस्तद्धेतुः सा दिग्द्रव्यं परिशेषादन्यस्य प्रसक्तस्य प्रतिषेधात् ततो द्रव्यांतरमाकाशादिति। तदसत्, तद्धेतुत्वेनाकाशस्य प्रतिषेद्धुमशक्तेस्तत्प्रदेशश्रेणिष्वेवादित्यो-दयादिवशात् प्राच्यादिदिग्व्यवहारप्रसिद्धेः। प्राच्यादिदिक्सम्बंधाच्च मूर्तद्रव्येषु पूर्वापरादिप्रत्यय-विशेषोत्पत्तेर्न परस्परापेक्षया मूर्तद्रव्याण्येव तद्धेतवः। एकतरस्य पूर्वत्वासिद्धावन्यतरस्यापर-स्यापरत्वासिद्धेस्तदसिद्धौ चैकतरस्य पूर्वत्वायोगादितरेतराश्रयत्वात् उभयाभावप्रसंगात्।

सम्भव है कि वैशेषिकों का यह मन्तव्य होय कि पूर्व, पश्चिम, आदिक होरहे ज्ञानविशेष (पक्ष) किसी विशिष्ट पदार्थ को हेतु मान कर उपजे है (साध्य) विशिष्ट प्रत्यय होने से (हेतु) दण्डी कुण्डली, आदि प्रत्ययो के समान (अन्वय दृष्टान्त)। जो कोई वह विशिष्टपदार्थ उस ज्ञान का हेतु होरहा है वह तो परिशेषन्याय से दिशा द्रव्य सिद्ध होजाता है क्योकि प्रसंगप्राप्त होरहे अन्य आत्मा, आकाश, पृथ्वी आदि का प्रतिषेध कर दिया जाता है, तिस कारण आकाशसे निराला स्वतन्त्र द्रव्य दिशा को मानना चाहिये। अर्थात्--पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानो का कारण आत्मा नही होसकता है क्योकि स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष के अतिरिक्त ज्ञानो द्वारा पूर्व, पश्चिम, आदि की व्यवस्था हो रही है, यह इससे पूर्व है, यह यहा से पश्चिम है, इस ज्ञान का कारण आकाश भी नही है क्योकि दिशाओ की आपेक्षिक परावृत्ति देखी जाती है। शब्द का समवायिकारण आकाश होता है, दिशा नहीं। पृथ्वी आदिक छह द्रव्य भी उक्त प्रत्यय के कारण नही हैं क्योकि इन मे विलक्षणता प्रतीत होरही है। अतः परिशेष से नवमा स्वतन्त्र दिग्द्रव्य स्वीकार करना पडता है।

आचार्य कहते है। कि वैशेषिको का यह मन्तव्य प्रशंसनीय नही है। क्योकि उस पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानो के हेतुपने करके आकाश का निषेध करने के लिये अशक्ति है। उस आकाश की प्रदेश-श्रेणियो मे ही सूर्य के उदय अस्त आदि के वश से पूर्व पश्चिम आदि दिशाओ के व्यवहार प्रसिद्ध होजाते है। अर्थात्—सम्पूर्ण अलोकाकाश के ठीक मध्य में लोकाकाश विराजमान है। लोकाकाश का ठीक मध्य सुदर्शन मेरु की जड मे विराज रहे आठ प्रदेश हैं। चार बरफियो के ऊपर रक्खे हुये चार बरफियों के समान उन आठ प्रदेशोके छह ओर परमाणु के समान नापलिये गये आकाश प्रदेशो की पंक्ति अनुसार छ दिशाये नियत होरही है। अथवा भ्रमण करते हुये सूर्यके उदय अस्त डेरी बाजू, सूधी लाग, ऊपर और नीचे अनुसार छह दिशाये स्वीकार करली जाती है, इस दूसरी व्यवस्था के अनुसार दिशाओकी ढाई द्वीप मे परावृत्ति होजाती है। बात यह है कि आकाश द्रव्य का मानना अवगाह देनेकेलिये आवश्यक ही है। आकाश के अतिरिक्त कोई निराला अनेक गुणों का पिण्ड दिशा द्रव्य नही है। सूर्यके उदय आदि के अधीन पूर्वदिशा, पश्चिम दिशा आदि व्यवहार प्रसिद्ध हो रहे है। तथा सूर्योदय की ओर बन गयी पूर्वदिशा आदि के सम्बन्ध से बनारस, पटना आदि मूर्त द्रव्यों मे या सिन्धुनदी आदि मे पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानविशेषो की उत्पत्ति होजाती है, अतः परस्पर की अपेक्षा करके मूर्त द्रव्य ही उन एक दूसरो में पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञान को उपजाने के कारण नही है। क्योकि यदि मथुरा की अपेक्षा पटना को पूर्व मे और पटना की अपेक्षा मथुरा को पश्चिम मे जान लेना मथुरा, पटना, इन मूर्त द्रव्यो की अपेक्षा से ही होरहा माना जावेगा तो दानो में से एक के पूर्व पनकी नही सिद्धि होने पर शेप वचे हुये दूसरे का पश्चिमपना सिद्ध नही हो सकेगा और उस का पश्चिमपना सिद्ध नही होनेपर दो में से प्रकरण-प्राप्त इस एकका पूर्वपना नही बन सकता है,अतः अन्योन्याश्रय दोष होजाने से दोनो मूर्त द्रव्यों के पूर्व पश्चिमपन के असद्भाव का प्रसग आवेगा इस कारण मूर्त द्रव्य से अतिरिक्त अखण्ड आकाश की प्रदेश श्रेणियों को दिशा द्रव्य मानकर मूर्त द्रव्यों मे उस दिशा करके पूर्व पश्चिम आदि व्यवहारों को साध लेना चाहिये, वैशेषिकों के यहां दीधितिकार पण्डितजी तो दिशा को ईश्वर से अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानते हैं। किंतु अचेतन दिशा का चेतन ईश्वर में अन्तर्भाव करना कठिन है। हां आकाश में सुलभतया अन्तर्भाव हो सकता है।

नन्वेवमाकाशप्रदेशश्रेणिष्वपि कुतः पूर्वापरादिप्रत्ययः सिद्ध्येत् ? स्वरूपत एव

तत्सिद्धौ तस्य परावृत्त्यभावप्रसंगात । परस्परापेक्षयता तत्सिद्धावितरेतराश्रयणादुभयासत्त्वं प्रसजते रिति चेत्, दिक्प्रदेशेष्वपि पूर्वापरादिप्रत्ययोत्पत्तौ समः पर्यनुयोगः। द्रव्यांतरपरिकल्पनायामनवस्थाप्रसंगश्च। यथैव हि मूर्तद्रव्यमवधिं कृत्वा मूर्तेष्वेवेदमस्मात्पश्चिमेनेत्यादिप्रत्यया दिग्द्रव्यहेतुकास्ततो दिग्भेदमवधिं कृत्वा दिग्भेदेष्वेवेयमितः पूर्वा पश्चिमेयमित्यादिप्रत्यया द्रव्यांतरहेतुकाः सन्तु विशिष्टप्रत्ययत्वाविशेषात् तद्भेदेष्वपि पूर्वापरादि-प्रत्ययाः परद्रव्यहेतुका इत्यनवस्था। दिग्भेदेषु द्रव्यांतरमंतरेण पूर्वापरादिप्रत्ययस्योत्पत्तौ तेनैव हेतोरनैकांतिकत्वात्कुतो दिक्सिद्धिः।

स्वपक्ष का अवधारण करते हुये वैशेषिक यहां कटाक्ष करते है कि इस प्रकार आकाश की प्रदेशपंक्तियों मे भी पूर्व, पश्चिम आदि ज्ञान भला किस कारण से सिद्ध होयंगे बताओ ? यदि जैन यो कहै कि आकाश के स्वकीय स्वरूप मे ही आकाश की प्रदेश-श्रेणियों मे उस पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञान होने की सिद्धि होजायगी, ऐसा कहने पर तो हम वैशेषिक कहते है कि उस पूर्व, पश्चिम, आदिके ज्ञानोके परिवर्तन नहीं होसकने का प्रसग आवेगा अर्थात्—मथुरा से पटना पूर्व है वे ही पूर्व दिशा के प्रदेश कलकत्ता की अपेक्षा पश्चिम दिशा सम्बन्धी हो जाते है, जो ही निपध पर्वतका पूर्वीय छोर यहा मे पूर्व दिशा मे है वही विदेह क्षेत्र वालों के लिये पश्चिमदिशा स्वरूप होकर बदल जाता है। यदि आकाशकी प्रदेशपक्तियो मे पूर्व, पश्चिम, दिशा को नियत करादिया जावेगा तो दिशाओ का बदलना नही होसकेगा।

अब यदि जैन परस्पर की अपेक्षा आकाश प्रदेशो मे पूर्व पश्चिमपन की सिद्धि करोगे तो तुम्हारे यहां भी इतरेतराश्रय दोष होजाने से दोनो अपेक्षकोके अभाव होजाने का प्रसग आता है।

यो कटाक्ष हो चुकने पर आचार्य कहते हैं कि तुम वैशेषिको के यहा दिशासम्बन्धी प्रदेशोंमे भी पूर्व पश्चिम, आदि ज्ञानो की उत्पत्ति मे यह कुचोद्य समान रूपसे लागू हो जाता है अर्थात्-वैशेषिको ने दिशा द्रव्य एक माना है "उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादि-व्यपदेशभाक्" उपाधियो के भेद से दिशा द्रव्य के छह या दश भेद कर लिये गये है यहा भी अन्योन्याश्रय दोप तदवस्थ है परस्पर मे एक दूसरे की या मूर्त द्रव्य की अपेक्षा है। यदि मूर्त द्रव्यो में पूर्वापरादि का ज्ञान कराने के लिये दिशा द्रव्य को और दिशा द्रव्य मे पूर्व, पश्चिमादि का ज्ञान कराने के लिये अन्य द्रव्यों की लम्बी कल्पना करते चले जावोगे तो वैशेशिको के ऊपर अनवस्था दोष होजाने का प्रसग आता है कारण कि जिस ही प्रकार मूर्त द्रव्य को अवधि करके मूर्त द्रव्यो में ही यह इससे पश्चिम दिशा-वर्त्ती है यह इससे उत्तरदिशावर्त्ती है। इत्यादिक ज्ञान वैशेषिको के यहा दिशा द्रव्य को कारण मानकर उपज जाते हैं उसी ढंगसे दिशा द्रव्य के भेदो की अवधि कर, पूर्व, अपर, आदि दिशा भेदों में ही (भी) यह इससे पूर्व दिशा है और यह इससे पश्चिम दिशा है इत्यादिक ज्ञान अन्य द्रव्य को कारण मान कर हो जावो, क्योकि विशिष्टज्ञानपना मूर्त द्रव्य और दिशा द्रव्योको कारण मानकर हुये दोनो ज्ञानों मे अन्तर रहित है तथा दिशाके उन भेदो मे भी पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञान अन्य तीसरे द्रव्य को हेतु मान कर होजायंगे यों चौथे, पाचवे, आदि द्रव्यो को कारण मानते हुये अनवस्था दोष आता है। यदि आप वैशेषिक दिशाओं के भेदों मे अन्य द्रव्य के विना ही पूर्व, पश्चिम आदि ज्ञानोकी उत्पत्ति होने को मानेंगे तो उस करके ही तुम्हारे विशिष्ट प्रत्ययत्व हेतु का व्यभिचार दोष आता है, ऐसी दशा

में उस व्यभिचारी हेतु से दिशा द्रव्य की सिद्धि कैसे होसकती है ? अर्थात्—नहीं।

भावार्थ—जो दिशा द्रव्य के लिये उपाय विचार रक्खा है उसी से आकाश प्रदेश श्रेणियों के विषय में हुये अन्योन्याश्रय का परिहार हो जाता है प्रत्युत वैशेषिकों के ऊपर अनवस्था और व्यभिचार दोष अधिक आजाता है "इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्" इस वैशेषिक सूत्र द्वारा न्यारे दिशा द्रव्य को मानना अनुचित है।

विषुवति दिने यत्र सवितोदेति स पूर्वो दिग्भागो, यत्रास्तमेति सोऽपर इति दिग्भेदेषु पूर्वापरादिप्रत्ययसिद्धौ गगनप्रदेशपंक्तिष्वपि तथैव तत्सिद्धिरस्तु किमत्र दिग्द्रव्यांतर-कल्पनया तद्देशद्रव्यकल्पनाप्रसंगात्। अथमतः पूर्वो देश इत्यादिप्रत्ययस्य देशद्रव्यमंतरेणानु-पपत्तेः पृथिव्यादिरेव देशं द्रव्यमित्ययुक्तं, तत्र पृथिव्यादिप्रत्ययोत्पत्तेः। पूर्वादिदिक्कृतः पृथिव्यादिषु पूर्वदेशादिप्रत्यय इति चेत्, पूर्वाद्याकाशकृतस्तत्रैव पूर्वादिदिक्प्रत्ययास्त्विति व्यर्था दिक्कल्पना।

पन्द्रह मूहूर्त का दिन और पन्द्रह मुहूर्त की रात यो दिन रात जिस दिन समान हो जाते है छः छः महीने पीछे आने वाले उस विषुवान् दिन मे जिस दिशा में सूर्योदय होता है वह भाग पूर्व दिशा सम्बन्धी है और उसी दिन जहाँ सूर्य अस्त होजाता है वह दिशाका अश पश्चिम कहा जाता है, इस प्रकार वैशेषिक दिशाओं के भेदों मे यदि पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानो के हो जाने की सिद्धि मानेंगे तब तो आकाश की प्रदेश-पंक्तिओ मे भी तिस ही प्रकार दिन, रात, के अवसर पर सूर्यके उदय, अस्त, अनुसार उन पूर्वादि दिशाओ की सिद्धि हो जाओ, यहा व्यर्थ न्यारे दिशा द्रव्य की कल्पना करके क्या लाभ निकला ?

यदि इसी प्रकार लोक व्यवहार की थोडी थोडी भित्ति पर न्यारे न्यारे द्रव्यो की कल्पता की जायगी तो देश द्रव्य की कल्पना करने का भी प्रसग आयगा। देखिये यह इससे पूर्व देश है, यह देश इससे पश्चिम है, यह मालव देश है, इत्यादिक ज्ञानो का होना स्वतन्त्र देश द्रव्य के बिना नहीं बन सकता है। यदि वैशेषिक यो कहे कि पर्वत, नदी आदि स्वरूप पृथिवी, जल, आदिक नियत द्रव्यही तो देश द्रव्य है, न्यारे देश द्रव्यको हमें माननेकी कोई आवश्यकता नही है। आचार्य कहते हैं कि यह कहना अयुक्त है क्योकि पृथिवी आदि द्रव्योंमें यह पृथिवी है, यह जल है इत्यादि ज्ञान ही उपज सकते हैं, यह पूर्व देश है यह पश्चिम देश है ये विशिष्ट-ज्ञान तो पृथिवी आदिक से नहीं उपज पाते है। यदि वैशे-षिक यों कहें कि पूर्व आदि दिशाओं द्वारा पृथिवी आदिको मे पूर्व देश, दक्षिण देश, आदि ज्ञान कर दिये जाते है। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि तबतो पूर्व आकाश या पश्चिम आकाश सम्बन्धी प्रदेश श्रेणियों द्वारा उन दिशाओ मे ही पूर्व आदि दिशा के ज्ञान हो जाओ, इस अवस्थामे न्यारे दिशा द्रव्य की कल्पना करना व्यर्थ पड़ती है।

नन्वेवमादित्योदयादिवशादेवाकाशप्रदेशश्रेणिष्विव पृथिव्यादिष्वेव पूर्वापरादिप्रत्यय सिद्धेराकाशश्रेणिकल्पनाप्यनर्थिका भवन्त्विति चेत् न, पूर्वस्यां दिशि पृथिव्यादय इत्याद्याधारा-धेयव्यवहारदर्शनात्। पृथिव्याद्यधिकरणभूताया गगनप्रदेशपंक्तेः परिकल्पनस्य सार्थकत्वात्

गगनस्य प्रमाणांतरत्वतः साधयिष्यमाणत्वाच्च । ततो न धर्मादीनामजीवादीनां दिग्द्रव्यरूपतोपसंख्यातव्या ।

वैशेषिक अपने पक्षका अवधारण करनेके लिये आक्षेप करते है कि इस प्रकार तो सूर्यके उदय, अस्तमन, दायां, बायां, आदि के वश से ही आकाश की प्रदेश—श्रेणियो के समान पृथिवी आदिकों मे ही परम्परा बिना आदित्य के उदय आदि से ही पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानो की सिद्धि हो जायगी, अतः आकाश के प्रदेशो की श्रेणियो की कल्पना करना भी व्यर्थ ही रही। यो कहने पर तो ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योकि पूर्व दिशा मे पृथिवी, पर्वत, नदी आदिक है इत्यादिक न्यारे आधार और न्यारे आधेय अनुसार व्यवहार हो रहे देखे जाते है, अत पृथिवी आदिको का आश्रय हो रही आकाश के प्रदेशो की पक्तिया की छहो ओर या दशो ओर कल्पना करना सार्थक है।

दूसरी बात यह है कि अन्य अन्य तर्क, अनुमान, या आगम प्रमाणो से हम भविष्य ग्रन्थ मे आकाश को साध देवेगे, अतः सर्व द्रव्यो को युगपत् अवकाश होने के लिये आकाश द्रव्य का मानना क्लृप्त है। उसी की कल्पित श्रेणियो से दिशा के कर्तव्य का निर्वाह कर दिया जाता है। तिस कारण सूत्रोक्त धर्म आदि "अजीवकायों" को (मे) अथवा जीव, अजीव, आदि तत्वोको (मे) एक स्वतन्त्र न्यारे दिग्द्रव्य स्वरूपपन का नही उपसंख्यान करना चाहिये अर्थात्—सूत्रकार ने द्रव्य या तत्वो के गिनाने मे कोई त्रुटि नही रक्खी है, दिशा द्रव्य आकाश स्वरूप है।

पृथिव्यादिरूपतापन्नस्कन्धस्वरूप एवाजीवपदार्थ इत्यप्ययुक्तं, धर्माधर्मादीनामपि ततो भिन्नस्वभावानामजीवद्रव्याणामग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात् । पुद्गलद्रव्यव्यतिरेकेण रूपस्कंधस्यासंभवाच्च सूक्तं धर्मादय एवाजीवपदार्था इति ।

यहा कोई चार्वाक या बौद्ध कहते हैं कि पृथिवी, पर्वत, नदी, जल, आदि पिण्ड-स्वरूप के समान रूपस्कंध स्वरूपी ही अजीव पदार्थ है, कोई न्यारा अमूर्त अजीव द्रव्य नही (यहा तावत् शब्द व्यर्थ दीख रहा है) ग्रन्थकार कहते है कि यह कहना भी अयुक्त है क्योकि उस रूपस्कन्ध से भिन्न स्वभाव वाले धर्म, अधर्म आदि अजीव द्रव्यो का भी अग्रिम ग्रन्थ मे समर्थन किया जानेवाला है तथा पुद्गल द्रव्य के अतिरिक्त सौत्रान्तिकों के अभीष्ट हो रहे रूपस्कन्ध का असम्भव है, अतः धर्म आदिक ही अजीव पदार्थ हैं, इस प्रकार सूत्रकार ने इस सूत्रमे बहुत अच्छा कहा है, चार ये और कहे जाने वाले काल द्रव्य इन पांच द्रव्यो से अधिक या न्यून अजीव पदार्थ नही है।

सूत्रकार महोदय के प्रति किसी विनीत पण्डित का प्रश्न है कि प्रायः सभी दार्शनिकों के यहां द्रव्यों की मुख्यता से तत्वों की व्यवस्था की गई है तथा "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" यहां द्रव्यों को कहा गया है वे द्रव्य कौन है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं—

द्रव्याणि ॥२॥

उक्त धर्म आदिक चार अजीवकाय माने जाचुके द्रव्य स्वरूप हैं अर्थात्—धर्म आदिक चार पदार्थ गुण या पर्याय स्वरूप नही हैं किन्तु अनेक अनुजीवी, प्रतिजीवी, आदि गुणों के अविष्व-

स्भाव पिण्ड-स्वरूप होरहे द्रवण क्रियापरिणत द्रव्य है, भविष्य में कहे जाने योग्य जीव और काल को मिला कर छह द्रव्य होजाते है।

स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैर्द्रूयंते द्रवन्ति च तानीति द्रव्याणि, कर्मकर्तृसाधनत्वोपपत्तेः द्रव्यशब्दस्य स्याद्वादिनां विरोधानवतारात्। सर्वथैकांतवादिना तु तदनुपपत्तिविरोधात्। द्रव्यपर्यायाणां हि भेदैकांते न द्रव्याणां पर्यायैर्द्रवणं तथा स्वयमसिद्धत्वात्। सिद्धरूपैरेव हि देवदत्तादिभिः प्रसिद्धसत्ताका ग्रामादयो द्रूयमाणा दृष्टाः न पुनरसिद्धसत्ताकैरसिद्धसत्ताका वन्ध्यापुत्रादिभिः कूर्मरोमादय इति। न च द्रव्येभ्यः पर्यायाः पृथक्सिद्धसत्त्वाः पर्यायत्वविरोधात् द्रव्यांतरवत्-द्रव्यपरतंत्राणामेव स्वभावानां पर्यायत्वोपपत्तेः।

जिस प्रकार घृत, तैल जल, यथायोग्य आगे, पीछे, वह जाते है, उसी प्रकार स्व को और पर को कारण मान कर हुये उत्पाद और व्ययसे युक्त होरहे पर्यायो करके जो बहाये जारहे हैं। अथवा उन उन पर्यायो को वहाती हुयी जो गमन कर रही है इस कारण वे द्रव्य है। द्रव्य शब्द के कर्म-साधनपना और कर्तृसाधनपना बनजाता है स्याद्वादियोके यहा कोई विरोधदोष नही उतरता है। हा सर्वथा एकान्तवादियो के यहा तो विरोध होजाने से वह कर्मपना और कर्तृपना एक मे नही बन पाता है।

अर्थात्—"द्रु गतौ" धातु से कर्म या कर्ता मे यत् प्रत्यय करने पर द्रव्य शब्द बन जाता है नदी का पानी स्वयं नीचे को वह जाता है और नहर, वम्बा, आदि का जल इष्ट स्थानो पर नीचे की ओर वहा दिया जाता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य प्रतिसमय उत्पाद व्ययवाले अनेक पर्यायो को धारते है, कभी द्रव्य स्वतन्त्र होकर पर्याय द्रव्य के पराधीन होजाती है। और कदाचित् पर्याये स्वतंत्र होकर द्रव्य की परतन्त्रता विवक्षित होजाती है। रूक्ष भोजनको विशेष प्रयत्न करके लीला जाता है। किन्तु चिकना, पतला, भोज्यपदार्थ स्वयमेव लिल जाता है। इसी प्रकार पर्याये द्रव्य को तीनो काल तक वही बहा रही है अथवा अन्वित द्रव्य ही अनेक पर्यायो मे अनुगत होरहा तीनो काल बहा जा रहा है। अनेकान्त वादियोके यहा विवक्षा अनुसार सब व्यवस्था बन जाती है।

यदि द्रव्य और पर्यायो का एकान्तरूपसे भेद मान लिया जावेगा तो द्रव्योका पर्यायो करके अनुगमन होना नही बन सकेगा क्योकि तिस प्रकार वे पर्याये स्वयं असिद्ध है। आत्मलाभ कर चुके सिद्ध स्वरूप ही होरहे देवदत्त, जिनदत्त, आदिको करके द्रवण या गमन किये जारहे वे ग्राम, नगर, आदि देखे जा चुके है जिनकी कि सत्ता प्रसिद्ध है। असिद्ध सत्ता वाले वन्ध्यापुत्र अश्वविषाण आदि करके अप्रसिद्धसत्तावाले कच्छपरोम, गगनकुसुम, आदिक प्राप्त हो रहे फिर नही देखे गये है। सर्वथा भेदवादियो के यहा द्रव्यो से सर्वथा पृथक् होरहे पर्यायो की सत्ता सिद्ध नही है क्योकि यों पर्यायपन का विरोध हो जावेगा जैसे कि एक विवक्षित द्रव्य की पर्याय दूसरे अप्रकृत द्रव्य की पर्याय नहीं कही जाती है।

अर्थात्—धर्म द्रव्य की पर्याय ज्ञान नहींहै, कारण कि धर्मद्रव्यसे ज्ञान सर्वथा भिन्न है। उसी प्रकार अग्नि से उष्णता को सर्वथा भिन्न मानने पर उधर उष्णतारहित अग्नि मर जावेगी और इधर आधार रहित हो रही उष्णता नष्ट हो जावेगी, सिरको धड़से अलग कर देने पर वह मनुष्य

मरजाता है अथवा एक के धड़ पर दूसरे के सिर को या दूसरे के धड़ पर एक के सिर को जोड़ देने से दोनो मर जाते है, इसी प्रकार सर्वथा भेद पक्ष मे पर्याय और पर्यायी दोनो असत् है। दो अन्धो के मिल जाने पर भी रूप को देखने की शक्ति नही उपज पाती है। वस्तुतः द्रव्य के पराधीन होरहे स्वभावों को ही पर्यायपना बनता है जोकि कथंचित् तादात्म्य पक्ष मे शोभता है सर्वथा भेद मे नही।

पृथग्भूता अपि द्रव्यतो द्रव्यपरतन्त्राः पर्यायास्तत्समवायादिति चेन्न, कथंचित्तादात्म्यव्यतिरेकेण समवायस्य निरस्तपूर्वत्वात्। पर्यायेभ्यो भिन्नानां द्रव्याणां च सत्वसिद्धौ पर्यायपरिकल्पनावैयर्थ्यात्। कार्यनानात्वपरिकल्पनायां स्वात्मकपर्यायसंबंधनानात्वसिद्धितस्तन्निबंधनपर्यायांतरपरिकल्पनाप्रसंगात्। सुदूरमपि गत्वा पर्यायांतरतादात्म्योपगमे प्रथमत एव पर्यायतादात्म्योपगमे च न पर्यायैर्द्रव्याणि द्रूयंते कथंचिद्भिन्नानामेव प्राप्यप्रापकभावोपपत्तेः।

वैशेषिक कहते है कि द्रव्य से पृथग्भूत भी होरही किन्तु द्रव्योके पराधीन होकर वर्तरहीं पर्याये उस नियत द्रव्य की ही बखानी जाती है क्योंकि अयुतसिद्धि के अनुसार आत्मा मे उन ज्ञान, आदि पर्यायो का या पृथिवी मे रूप, रसादि पर्यायो का समवायसम्बन्ध होरहा है, ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना, कारण कि कथंचित् तादात्म्यसम्बन्ध के अतिरिक्तपने करके समवाय सम्बन्ध का पूर्व प्रकरणो मे निराकरण किया जा चुका है। अर्थात्—समवाय का अर्थ कथञ्चित् तादात्म्य है। कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध से जुड रहे पदार्थों मे सर्वथा भेद नहीं बन पाता है।

एक बात यह भी है कि पर्यायो से सर्वथा भिन्न होरहे द्रव्यों के सद्भाव की सिद्धि यदि मानी जायगी तो वैशेषिको के यहा पर्यायो की चारो ओर कल्पना करना व्यर्थ होजायगा अर्थात्-उष्णता से सर्वथा न्यारी यदि अग्नि रक्षित रह सकती है। तो पीछे अग्नि पर उष्णता का बोझ लादना निरर्थक है इस ढगमे तो कोई किसी का आत्मभूत स्वभाव या स्वभावों का आत्मभूत आश्रय नही ठहर पायगा सर्व निराधार निराधेय होते हुये मारे मारे फिर कर नष्ट होजायगे। यदि भेद--वादी वैशेषिक पर्यायों से द्रव्य को भिन्न मानने के लिये उनके अपने अपने नियत अनेक कार्यों की कल्पना करेंगे तबतो भिन्न भिन्न पर्यायो के अनेक सम्बन्धो की सिद्धि होजाने से पुन. उनके नियोजक कारण हुये अन्य पर्यायों की कल्पना करते रहने का प्रसग आजाने से अनवस्था दोष आता है अर्थात्-भिन्न द्रव्यो की भिन्न पर्यायो को नियत करने के लिये नाना कार्य नियामक माने जायगे, पुनः उन कार्यों के नियोजक सम्बन्ध अनेक माने जायगे, सम्बन्ध भी भिन्न ही रहेंगे उनको नियत करने के लिये पुन. अन्य पर्यायो की आवश्यकता होगी, यो चाहे कितनी भी लम्बी पक्ति बढा लाजाय अनवस्था दोष अनिवार्य है।

यदि वैशेषिक बहुत दूर भी जाकर अनवस्था के डर से अन्य पर्यायोंके साथ द्रव्य का तदात्मकपन स्वीकार कर लेंगे तो प्रथम से ही पर्यायोके साथ द्रव्य का तदात्मकपन स्वीकार कर लिया जाय और ऐसा होने पर पर्यायो करके द्रव्य द्रवण करने योग्य यानी प्राप्त करने योग्य नही ठहर पाती है क्योकि कथंचित् भिन्न होरहे पदार्थों मे ही प्राप्यप्रापक भाव बनता है, सर्वथा भिन्नो में नहीं। देवदत्तको ग्राम की प्राप्ति होना भिन्न प्रकार का कार्य है। अतः भेद पक्षमे भी वह बन सकता है यो तो द्रव्यपन या वस्तुपन करके देवदत्त और ग्राम मे भी अभेद माना जासकता है। किन्तु यहां द्रव्य और

सहभावी क्रमभावी, पर्यायोंमें पाया जारहा द्रवरण स्वरूप प्राप्त होजाना या प्राप्त करलेना दो कथंचित् अभिन्न होरहे पदार्थों मे ही घटित है।

स्याद्वादिनां तु भेदनयार्पणात् पर्यायाणां द्रव्येभ्यः कथंचिद्भेदे सति यथोदितपर्यायैर्द्रूयंते प्राप्यंते इति द्रव्याणि "कर्मणि यस्त्यो युज्यते" द्रवन्ति प्राप्नुवंति पर्यायानिति द्रव्याणीति च कर्तरि बहुलवचनादुपपद्यते। द्रव इव भवन्तीति द्रव्याणीति चेवार्थे द्रव्यशब्दस्य निपातनात्।

स्याद्वादियो के यहा तो भेद नय की विवक्षा करने से पर्यायो का द्रव्य से कथंचित् भेद होने पर पूर्व मे कहे जा चुके अनुसार उत्पाद व्ययवाले पर्यायो करके जो द्रुत होते रहते है यानी प्राप्त किये जाते है इस कारण वे द्रव्य है, यो विग्रह करके कर्म मे य प्रत्यय करना युक्त पड़जाता है 'द्रु' धातु से कर्म मे य प्रत्यय करनेपर द्रव्य साधु बनालिया जाता है तथा जो द्रव्य स्वतन्त्र होकर पर्यायों को द्रवण करते है। यानी प्राप्त करते है। इस कारण द्रव्य है, यो कर्त्ता मे बहुल वचन से "य" प्रत्यय करना बन जाता है।

अर्थात्—कर्म मे य प्रत्यय करना तो न्यायप्राप्त है बहुल शब्द का वचन होने से कही कही कर्त्ता मे भी युट्प्रत्यय के समान य प्रत्यय कर लिया जाता है अथवा द्रु यानी काष्ठ के समान जो होते हैं इस कारण ये द्रव्य है यो इव यानी सदृश अर्थ मे द्रव्य शब्द को निपातसे साध लिया जाता है अर्थात्—द्रव्यभव्ये इस सूत्र से निपात करके द्रव्य शब्द साधुबनालिया जाता है जैसेगांठ या चिन्हो से रहित होरहा सुन्दर काठ मन चाहे मोगरा, मुद्गर कड़ी टोडा, जुआ आदि किसी भी आकार से प्रकट कर लिया जाता है। सुडौल उत्तम पाषाण म से कैसी भी प्रतिमा उकेर ली जाती है। तिसी प्रकार द्रव्य भी स्वपर या अन्तरंग बहिरग कारणो अनुसार उत्पाद व्ययवाले पर्यायो करके भव्य कर लिया जाता है।

द्रव्यत्वयोगाद्द्रव्याणीत्यपरे, तेषां द्रव्यत्ववंतीति स्याद्दण्डीत्यभिधानवत्। अथाभेदोपचारः क्रियते यष्टियोगात् पुरुषो यष्टिरिति यथा तथापि द्रव्यत्वानीति स्यान्न तु द्रव्याणि।

द्रव्यत्व जाति का समवाय सम्बन्ध होजाने से पृथिवी आदिक नौ द्रव्य माने जाते हैं इस प्रकार कोई दूसरे विद्वान् नैयायिक या वैशेषिक कह रहे हैं। आचार्य कहते है। कि उनके यहां धर्म आदि या पृथिवी आदि के साथ "द्रव्याणि" यह पद नही लगसकेगा भिन्न पृथिवी मे भिन्न जातिका भिन्न सम्बन्ध होजाने से वे पृथिवी आदिक द्रव्यत्व जाति वाले है यो 'द्रव्यत्ववन्ति" ऐसा प्रयोग होसकेगा जैसे कि सर्वथा भेद अनुसार दण्ड के योग से पुरुष के लिये दण्डवान् या दण्डी यह शब्द कहा जाता है। यदि वैशेषिक इस दोष से बचने के लिये यहा अब अभेद का उपचार यानी अभेद नही होते हुये भी पृथिवी आदिक नौ द्रव्य और द्रव्यत्व जाति मे अभेद की कल्पना करें जैसे कि लकड़ी या छड़ी के योग से पुरुष को लकडी कह दिया जाता है, लाल चोला वाले पुरुषको अभेद के उपचार अनुसार लाल चोला कह दिया जाता है। तब तो हम जैन कहते हैं कि तौभी "पृथिव्यादीनि द्रव्यत्वानि" पृथिवी आदिक द्रव्यत्व है यह शब्द कह सकोगे किन्तु पृथिवी आदिक द्रव्य है अभेद उपचार करनेपर यो कथमपि नही कह सकते हो "यष्टिः पुरुष" यहा अभेद उपचार करने से मतुप् ही तो उड़ाया गया है, तदनुसार यहां भी मतुप् को हटा कर द्रव्यत्वानि होना चाहिये।

द्रव्यत्वाभावलक्षणाभावात् तत्र द्रव्यत्वं द्रवणं द्रव्यमिति द्रव्यशब्दाभिधेयमपि सामान्यं यदि सर्वगतामूर्तनित्यस्वभावं द्रव्येभ्यः सर्वथा भिन्नं तदा न प्रमाणसिद्धं, द्रव्येषु सदृशपरिणामस्यैव द्रव्यत्वाख्यस्यानुवृत्तप्रत्ययहेतुत्वोपपत्तेरित्यन्यत्र निरूपणात् । अथ तदेव सादृश्यं सामान्यं तदभिमतमेव पर्यायैर्द्रूयंत इति द्रव्याणीति वचनात् सादृश्यव्यंजनपर्यायत्वात् ।

वैशेषिक पुनः अपना मत कहते है कि द्रव्य और द्रव्यत्व एक ही हैं क्योकि द्रव्यत्व में द्रव्यपन के अभावका लक्षण विद्यमान नही है अतः वह द्रव्यपना द्रवण-भाव स्वरूप होरहा द्रव्य है इस कारण द्रव्य शब्द का वाच्य भी द्रव्यत्व सामान्य है तब तो "पृथिव्यादीनि द्रव्यत्वानि" कह दो या "द्रव्याणि" कह दो, एक ही अर्थ पडता है ।

इस पर आचार्य कहते है कि वह द्रव्य या द्रव्यत्व रूप सामान्य भी सर्वव्यपक अमूर्त और नित्य स्वभाववाला माना जा रहा द्रव्यों मे यदि सर्वथा भिन्न है तव तो वह प्रमाणो से सिद्ध नही है क्योंकि द्रव्यो में वर्तरहे सदृशपरिणाम को ही द्रव्यत्व इस नाम से कहा गया है, यह गौ है, यहगौ है, इस प्रकार के अनुवृत्त ज्ञानों के हेतुपने करके सदृश परिणाम ही स्वरूप गोत्व आदि सामान्य वन सकते है, इसका निरूपण अन्य प्रकरणो में या अतिरिक्त ग्रन्थों में किया जा चुका है, अब वैशेषिक यदि उस सदृशपन को ही सामान्य (जाति) पदार्थ कहैंगे तब तो हम जैनो को स्वीकार ही है । सिद्धान्त ग्रन्थों मे ऐसा वचन है कि पर्यायो करके जो प्राप्त किये जारहे है इस कारण वे द्रव्य है ऐसी कर्मसाधन निरुक्ति कथन करदेने से द्रव्य शब्द साधु वन जाता है क्योंकि सदृशपरिणाम रूप व्यजन पर्याय ही द्रव्यत्व पड़ता है सदृश परिणामो से अतिरिक्त अन्य गुण या पर्याय भी द्रव्य के आत्मभूत शरीर है ।

धर्मादयोनुवर्तंते इति सामानाधिकरण्यात् द्रव्याणीति वचनात् । पुल्लिंगत्वप्रसग इति चेन्न, आविष्टलिंगत्वाद्द्रव्यशब्दस्य वनादिशब्दवत् ।

पूर्व सूत्र मे कहे गये धर्मादिक शब्दों की यहां अनुवृत्ति कर ली जाती है इस कारण उनके साथ समानाधिकरणपना होने से "द्रव्याणि" ऐसा बहुवचन से इस सूत्रका निर्देश किया गया है । यदि यहां कोई यो आक्षेप करे कि उन धर्मादिको का समानाधिकरणपने से जैसे यहा बहुवचन किया गया है उसी प्रकार पुल्लिंगपनका भी प्रसंग आता है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योकि द्रव्य शब्द अपने नियत लिंग को ग्रहण कर रहा आविष्टलिंग है जैसे कि वन, भाजन, पुण्य, आदि शब्द बहुब्रीहि समास के विना अपने लिंग को कही छोडते हैं उसी प्रकार द्रव्य शब्द अपने गृहीत नपुंसकलिंग को नही छोड़ सकता है ।

किं पुनरत्रानेन सूत्रेण कृतमित्याह—

कोई शिष्य पूछता है कि यहां सूत्रकार ने फिर इस सूत्र करके क्या क्या प्रयोजन सिद्ध किया है । इस प्रकार जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान-कार अगली वार्तिक को कहते हैं—

तद्गुणादिस्वभावत्वं द्रव्याणीतीह सूत्रतः ।
द्रव्यलक्षणसद्भावात्प्रत्याख्यातमवेयते ॥ १ ॥

सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज ने "द्रव्याणि" इस सूत्र से धर्म आदिकों को आत्मा का गुणपना, अभावपदार्थपना, गुण-समुदायपना, गुणसंद्भाव, आदि उन स्वभावपन का निराकरण कर दिया है, ऐसा जान लिया जाता है क्योंकि पर्यायों करके द्रवे जाय या पर्यायो को सदा प्राप्त करते रहे इस द्रव्य के लक्षण का सद्भाव उन धर्म आदिकों मे है।

धर्माधर्मयोरात्मगुणत्वादाकाशस्य च मूर्तद्रव्याभावस्वभावत्वाच्च द्रव्यत्वमित्येके मन्यंते, तान् प्रति धर्मादीनां गुणभावस्वभावत्वमनेनात्र प्रत्याख्यातं निश्चीयते। न हि पुण्य-पापे धर्माधर्मौ ब्रूमो नाप्याकाशं मूर्तद्रव्याभावमात्रं द्रव्यलक्षणयोगात् तेषां द्रव्यव्यपदेशसिद्धेः। कथमित्याह—

कोई एक विद्वान यों मान रहे है। कि वंशेशिक मतानुयायी तो धर्म और अधर्म को आत्मा का विशेषगुण स्वीकार करते हैं उनके यहा चौवीस गुणो मे या आत्मा के चौदह गुणो मे धर्म, अधर्म, (अदृष्ट) गिनाये गये है अत आत्मा के गुण होने से धर्म, अधर्म, को द्रव्यपना नही माना जाता है। पृथिवी आदि नौ ही द्रव्य है तथा चार्वाक मत के अनुयायी आकाश को स्वतत्र द्रव्य नही मान कर मूर्त द्रव्यों का अभाव स्वरूप स्वीकार करते है। प्रसज्यवृत्ति से मूर्त द्रव्योका तुच्छ अभाव आकाश पडता है। ग्रन्थकार कहते है कि उन वंशेशिक या नैयायिको तथा चार्वाक् या बौद्धोके प्रति धर्म आदिको का गुण स्वरूप भावस्वभावपना इस सूत्र करके यहा खण्डन कर दिया जा चुका निश्चय कर लिया जाता है हम ग्रन्थकार पुण्य और पाप को धर्म और अधर्म नही कह रहे है तथा मूर्त द्रव्यों के केवल अभाव को आकाश भी नही बखान रहे है क्योकि द्रव्य के सिद्धान्तित लक्षण का सम्बन्ध होजाने से उन धर्म अधर्म, और आकाश को द्रव्य का व्यवहार होना युक्तियो से सिद्ध है। किस प्रकार है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य समाधान कहते है—

धर्माधर्मौ मतौ द्रव्ये गुणित्वात्पुद्गलादिवत्।
तथाकाशमतो नैषां गुणाभावस्वभावता॥ २॥
न हेतोराश्रयासिद्धिस्तेषामग्रे प्रसाधनात्।
नापि स्वरूपतोसिद्धिर्महत्त्वादिगुणस्थितेः॥ ३॥

धर्म और अधर्म (पक्ष) द्रव्य माने गये हैं (साध्य) गुणवान् होने से (हेतु) पुद्गल, आत्मा, आदि द्रव्यो के समान (अन्वय दृष्टान्त) तिसी प्रकार गुणवान् होने से आकाश भी द्रव्य है अत. इन धर्म, अधर्मों, को गुणस्वभावपना और आकाश को अभाव स्वभावपना नहीं माना जा सकता है। गुण-वानूपन हेतुके आश्रयासिद्ध दोष नही है क्योकि उन अतीन्द्रिय धर्म, अधर्म और आकाशकी आगे ग्रन्थ मे बहुत अच्छी सिद्धि करदी जावेगी अत वस्तुभूत पक्ष के प्रसिद्ध होजाने पर हमारा हेतु आश्रयासिद्ध-हेत्वाभास नही है "पक्षे पक्षतावच्छेदकाभाव-आश्रयासिद्धिः" तथा महापरिमाण, सख्या, सयोग गति-हेतुत्व, अस्तित्व, प्रमेयत्व आदि गुणो की स्थिति वर्त रही होने से गुणसहितपना हेतु स्वरूप से असिद्ध भी नही है अर्थात् गुणीपना हेतु पक्ष मे वर्तरहा होने से स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नही है (पक्षे हेत्वभावः स्वरूपासिद्धिः) सम्पूर्ण वादियो ने गुणवान् पदार्थों को द्रव्य स्वीकार किया है।

द्रव्यत्वे साध्ये धर्मादीनां धर्मिणामप्रसिद्धत्वाद्गुणित्वादेरस्य हेतोराश्रयासिद्धत्वात्तत एव गुणित्वस्यासंभवात् स्वरूपासिद्धत्वं चेत्येके। तन्न सम्यक् तेषामग्रे प्रमाणतः साधनात् तत्र महत्त्वादिगुणस्थितत्वाच्च। ततः सूक्तं धर्मादयो द्रव्याणीति।

उक्त वार्त्तिकों का विवरण यों है कि कोई एक विद्वान् यहा दोष उठारहे है कि धर्म आदिकों का द्रव्यपना साध्य करने पर पक्षस्वरूपधर्मियो के अप्रसिद्ध होजाने से "गुणसहितपन" इस हेतु का आश्रयासिद्धपना है और तिस ही कारण से यानी जब पक्ष ही नहीं तो हेतु विचारा कहा ठहरेगा? यों पक्ष मे हेतु का सम्भव (सद्भाव) नही होने से गुणित्व हेतु स्वरूपासिद्ध है। आचार्य कहते है कि विलक्षण एक विद्वान का यह कहना समीचीन नही है क्योकि अगले ग्रन्थ मे प्रमाणो से उन धर्म अधर्म, और आकाश का साधन कर दिया जावेगा अत हमारा हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास नही है। तथा उन धर्म आदि तीनो मे महत्त्व आदि गुणों की स्थिति होरही होनेसे गुणित्व हेतु स्वरूपासिद्ध भी नहीं है तिस कारण सूत्रकार ने इस सूत्र द्वारा यो बहुत अच्छा कह दिया है कि धर्म आदिक चार पदार्थ द्रव्य है अर्थात्-गुण या पर्याय अथवा स्वभाव एव अविभागप्रतिच्छेद या अभावस्वरूप नही हैं किन्तु इन सबके तदात्मकपिण्डभूत अखण्ड द्रव्य है "नयोपनयैकान्ताना त्रिकालाना समुच्चयः। अविभ्राड्भाव--सम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा" यह गुरु जी समन्तभद्र स्वामी ने द्रव्य का लक्षण बहुत अच्छा कहा है तथा सिद्धान्त-चक्रवर्त्ती नेमिचन्द्र आचार्य ने "दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।" ... "णयदवियमि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि। तीदाणागदभूदा तावदियं त हवदि दव्व" यों आम्नात किया है। अकलक देव महाराज के राजवार्त्तिक मे कहे गये द्रव्यलक्षण से तो ग्रन्थकार की परिपूर्ण सहानुभूति है, ये द्रव्य के लक्षण सब धर्मादि मे सुघटित होरहे है।

अब क्या उक्त चार पदार्थ ही द्रव्य हैं? अथवा क्या कोई अन्य पदार्थ भी द्रव्य है? ऐसा प्रश्न प्रवर्तने पर अन्य द्रव्य का उपादान करने के लिये सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते है —

जीवाश्च ॥२॥

जो जीव चुके है, जीव रहे है, जीवेगे वे अनन्तानन्त जीव पदार्थ भी द्रव्य हैं। यों पांच ये और कहे जाने वाले काल के साथ सम्पूर्ण द्रव्य छह हो जाते है।

द्रव्याणीत्यभिसम्बन्धः। तत्र बहुत्ववचनं जीवानां वैविध्यख्यापनार्थं।

पूर्व सूत्र में कहे गये "द्रव्याणि" इसका विधेय दल की ओर सम्बन्ध कर लिया जाता है। अतः जीवो का उद्देश्य कर द्रव्यपन का विधान कर लिया जाय। उन जीवो में बहुवचनपना तो जीवों के अनेकपन को प्रकट करने के लिये है अर्थात्—अद्वैतवादियो के समान जीव एक ही नही है किन्तु संसारी मुक्त, या त्रस स्थावर, सूक्ष्म बादर, आदि भेदों करके अपनी अपनी न्यारी न्यारी सत्ता को धार रहे अनन्तानन्त जीव हैं।

द्रव्याणि जीवा इत्येकयोगकरणं युक्तमिति चेन्न, जीवानामेव द्रव्यत्वप्रसंगात्। धर्मादीनामप्यधिकाराद् द्रव्यत्वसंप्रत्यय इति चेन्न, द्रव्यशब्दस्य जीवशब्दावबद्धत्वाद्धर्मादिभिः

सम्बन्धयितुमशक्तेः । सत्यप्यधिकारे अभिप्रेतसम्बन्धस्य यत्नमन्तरेणाप्रसिद्धेः । चशब्दकरणात् तत्सिद्धिरिति चेत्, को विशेषः स्यादेकयोगकरणे ? योगविभागे तु स्पष्टा प्रतिपत्तिरिति स एवास्तु ।

यहां कोई तर्क उठाते हैं कि पूर्ववर्त्ती "द्रव्याणि" और इस सूत्र को मिलाकर "द्रव्याणि जीवाः" इस प्रकार दोनों को जोडकर एक सूत्र करना सूत्रकार को उचित था, दो सूत्र बनाने से और च शब्द डालने से गौरव होता है ? ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योकि जीवो के ही द्रव्यपन का प्रसंग आवेगा अर्थात्—जीव ही द्रव्य हो सकेंगे, धर्म आदिक चार या पांच पदार्थ द्रव्य नही हो सकेंगे।

यदि तर्की यो कहे कि धर्म आदिकों का अधिकार चला आ रहा है अतः एक योग होने पर भी धर्मादिकों के द्रव्यपन का भी साथ में समीचीन प्रत्यय हो जाता है और "द्रव्याणि" यह बहुवचन भी तो किसी न किसी रोग की औषधि है। आचार्य कहते है कि यह भी तो नहीं कहना क्योंकि एक योग करने पर द्रव्य शब्द जब जीव शब्द के साथ सर्वाङ्गीण बंध जायगा ऐसा होने से उस द्रव्य शब्द का धर्मादिको के साथ सम्बन्ध नही किया जा सकता है, अधिकार चला आ रहा होते हुये भी अभीष्ट पदार्थ के साथ किसी विवक्षित पद के सम्बन्ध करने की विशेष प्रयत्न के बिना लोक व्यवहार या शास्त्रव्यवहार मे प्रसिद्धि नही है, अत जीवो को ही द्रव्यपना सिद्ध हो सकेगा। रहा "द्रव्याणि" यह बहुवचन तो बहुत से जीवो को न्यारे न्यारे स्वतन्त्र द्रव्यपन का विधान करते हुये अनन्तानन्त जीव द्रव्यों की सिद्धि कराने के लिये सफल है।

यदि तर्क करने वाले तुम यो कहो कि इस सूत्र मे "च" शब्द करने से धर्मादिको के उस द्रव्यपन की सिद्धि कर दी जायगी, यो कहने पर तो हम जैन कहते है कि ऐसी दशा मे एक योग करने पर या दो सूत्र बनाने पर भला क्या अन्तर रहा ? अर्थात्—कुछ भी नही। साठ और तीन-वीसी का अर्थ एक ही है। प्रत्युत योगका विभाग कर दो सूत्र कर देने पर तो धर्मादिको के द्रव्यपन की अधिक स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाती है इस कारण न्यारे दो सूत्र बनाकर वह योगविभाग करना ही अच्छा बना रहो यो "च" शब्द करना भी सार्थक हो जाता है।

किं पुनरनेन वा व्यवच्छिद्यते इत्याह—

कोई प्रश्न करता है कि प्रायः सभी सूत्र अनिष्ट हो रहे इतर धर्मों की व्यावृत्ति किया करते हैं, सूत्रकार ने इस सूत्र करके भला किसका व्यवच्छेद किया है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार समाधान को कहते हैं।

कल्पिताश्चित्तसन्ताना जीवा इति निरस्यते ।
जीवाश्चेतीह सूत्रेण द्रव्याणीत्यनुवृत्तितः ॥१॥

यहा "जीवाश्च" इस सूत्र करके "द्रव्याणि" इस पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति कर देने से बौद्धों द्वारा माने गये कल्पित चित्त सन्तान जीव हैं, इसका निराकरण कर दिया जाता है। अर्थात्—बौद्ध जन अन्वित द्रव्य को स्वीकार नहीं करते हैं असत् का उत्पाद और सत् का विनाश मानते हुये प्रति-

क्षण एक एक विज्ञान परिणाम को उपज रहा स्वीकार करते है, उन अनेक ज्ञान-आत्मक चित्तों के कल्पित समुदाय या त्रिकाल सम्बन्धी कल्पित क्षणिक क्षणों की सन्तान को जीव मान बैठे हैं, उसका निराकरण करने के लिये अनेक गुणो के आश्रय हो रहे परमार्थ-भूत जीवो को भी वास्तविक अन्वित द्रव्यपना इस सूत्र द्वारा जताया गया है ।

नश्वराभ्रष्टभेदा निरन्वयविनश्वरचित्तक्षणा एव पूर्वापरीभूताः सन्ताना जीवाख्यां प्रतिपद्यंत इति युक्तं, यतस्तेषां संवृत्या द्रव्यव्यवहारानुरोधतः प्रमाणतः प्रसिद्धान्वयत्वात् । प्रमाणं पुनस्तदन्वयप्रसाधकमेकत्वप्रत्यभिज्ञानं पुरस्तात्समर्थितमिति परमार्थसदेव द्रव्यत्वमनेन जीवानां सूत्रितं । ततः कल्पिताश्चित्तसन्ताना एव जीवा इत्येतन्निराकृतं वेदितव्यं ।

बौद्ध यों मान रहे हैं कि "अन्वय-रहित हो रहे विनाश-शील ऐसे विज्ञान परमाणुओंके क्षणिक क्षण ही वस्तुभूत है जो कि पहले पिछले समयो मे आगे पीछे होचुके, हो रहे, हो गये इस ढङ्गसे स्वतन्त्र अकेले अकेले अपने अपने काल में है, जिस प्रकार भिन्न सन्तानो का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार एक सन्तान मानी जा रही स्वलक्षणो की लम्बी पंक्ति में एक दूसरे का कोई सम्बन्ध नही है, परस्पर मे सर्वथा भेद पडा हुआ है । भेद पड़े होते हुये भी मिथ्या वासनाओ के अनुसार उस भेदका परामर्श नही किया गया है अत समूल-चूल नष्ट हो गये, वर्तमान क्षण मे वर्त रहे, और सर्वथा नवीन ढंग से उपजने वाले, ऐसे पहिले पिछले अनेक निरन्वय क्षणिक सन्तानी स्व मे पड़े हुये भेद की नही विवक्षा करने पर जीव नामक संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं, अतः जीव पदार्थ कल्पित है, न्यारे न्यारे विलक्षण ही अकेले अकेले वस्तुभूत है ।"

आचार्य कहते है कि यह बौद्धों का कहना युक्तियो से पूर्ण नही है, जिस कारण से कि उन जीव नामक सन्तानों का तुम्हारा यद्या व्यवहार या झूठी कल्पना करके द्रव्यपन के व्यवहार की अनुकूलता से प्रमाणो द्वारा अन्वय प्रसिद्ध हो जायगा अर्थात्--जीवो में द्रव्यपना तुम संवृति से स्वीकार करोगे उसी समय समीचीन युक्तियो द्वारा पूर्वापर अनेक पर्यायो मे अन्वितपना अच्छा सिद्ध कर दिया जायगा उस अन्वय को अच्छा साधने वाले एकत्व ग्राहक प्रत्यभिज्ञान के फिर प्रमाणपनका पहिले प्रकरणो में समर्थन किया जा चुका है, इस कारण जीवो का द्रव्यपना वास्तविक सद् ही है ।

इस बात को इस सूत्र करके सूचित किया गया है और तैसा हो जाने से "कल्पित चित्त सन्तान ही जीव है" इस प्रकार के इस बौद्ध मन्तव्य का निराकरण कर दिया गया समझ लेना चाहिये "एकसन्तानगाश्चित्तपर्यायास्तत्वतोन्विता. । प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्मृत्पर्याया यथेदृशा." इत्यादि पहिले वार्तिकों का अध्ययन करलो ।

पृथिव्यादीन्येव द्रव्याणि न जीवास्तेषां तत्समुदायोत्थजीवत्कायात्मकत्वात्, चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति वचनात् द्रव्यांतरत्वानुपपत्तेरित्यपरः, सोपि तेनैव पराकृत इत्यावेदयति ।

यहाँ चार्वाक बोल उठे कि पृथिवी आदिक ही चार द्रव्य हैं जीव कोई तत्वान्तरभूत द्रव्य नहीं है क्योंकि वे जीव तो उन पृथिवी, जल, तेज, वायु, के विशिष्ट समुदाय से उपजे हुये काय-आत्मक

है। हमारे ग्रन्थों में ऐसा कहा है कि चैतन्य नामक परिणति से विशिष्ट हो रहा यह शरीर ही आत्मा है, अतः जीवों को पृथिवी आदिक से निराला स्वतन्त्र द्रव्यपना युक्तियो से नहीं बन पाता है। अर्थात्-पिठी, गुड़, महुआ, पानी, इनके सड़ाने से मदशक्ति नवीन उपज जाती है, उस मद शक्ति से युक्त हो रहा मद्य उक्त चार पदार्थों से कोई निराला तत्व या द्रव्य नही है, इसी प्रकार "पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्वानि" "तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसज्ञा तेभ्यश्चैतन्य" यह चैतन्य के उपजने की पद्धति है।

उस चैतन्य से युक्त हो रही काय को ही स्थूल--बुद्धि व्यवहारी जन जीव कह देते हैं इस प्रकार कोई दूसरा पण्डित कह रहा है। ग्रन्थकार कहते है कि चार्वाक पण्डित भी तिस 'द्रव्याणि' के अधिकार पड़े हुये "जीवाश्च" सूत्र करके पराभव को प्राप्त कर दिया गया समझ लेना चाहिये, इस बात का ग्रन्थकार दूसरी वार्तिक द्वारा निवेदन किये देते हैं—

क्ष्मादिभूतचतुष्काच्च द्रव्यांतरतया गतिः ।
न तु देहगुणत्वादिरिति देहात् परे नराः ॥२॥

पृथिवी आदि चारो भूतो से द्रव्यातरपने करके जीव की ज्ञप्ति हो रही है, बुद्धि या चैतन्य को देह का गुणपना आदि तो कथमपि नही है, इसको कहा जा चुका है। इस कारण शरीर से भिन्न जीव द्रव्य है, यह सिद्धान्त निर्णीत है।

पृथिव्यादिभ्यो द्रव्यांतरं जीव इति प्रागुक्तात्साधनाद्भिन्नलक्षणत्वादेर्विनिश्चयः। तथा देहस्य गुणः कार्यं वा चेतनेत्यपि "न विग्रहगुणो बोध. तत्रानध्यवसीयते" इत्यादेर्वा निरस्तत्वाच्च देहगुणत्वादिर्जीवानामतो भेदात् द्रव्यांतराण्येव जीवाः। एवं पंचास्तिकायद्रव्याणि धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवाख्यानि प्रसिद्धानि भवंति।

पहिले सूत्र के अवतार प्रकरणों मे कहे जा चुके भिन्न लक्षणत्व, भिन्न प्रमाणवेद्यत्व, आदि हेतुओ करके इस बात का विशेषतया निर्णय कर लिया जाता है कि पृथिवी आदिको से निराला द्रव्य जीव है अर्थात्—"विभिन्नलक्षणत्वाच्च भेदश्चैतन्यदेहयो:। तत्वान्तरतया तोयतेजोवदिति मीयते ॥ भिन्नप्रमाण वेद्यत्वादित्यप्येतेन वर्णितम्। साधितं वहिरन्तश्च प्रत्यक्षस्य विभेदत: ॥" इन वार्तिकों द्वारा जीव द्रव्य को पृथिवी आदिक से निराला तत्व साध दिया चुका है चार्वाक उस ग्रन्थ को पढ ले।

तथा देह का गुण हो रहा अथवा शरीर का कार्य हो रहा चैतन्य है, यह चार्वाको का कहना भी 'न विग्रहगुणो बोधस्तत्रानध्यवसायत.। स्पर्शादिवत्स्वयं तद्वदन्यस्यापि तथा गते.। तद्गुणत्वे हि बोधस्य मृतदेहेऽपि वेदनम्। भवेत्त्वगादिवद्बाह्यकरणज्ञानतो न किम् ॥" इत्यादि वार्तिको करके पूर्व प्रकरणो मे निराकृत किया जा चुका है, अतः जीवों को देह का गुणपना, जीवित शरीर का गुणपना, पृथिवी आदिका साधारण गुणपना, मन का गुणपना, आदि सिद्ध नही होपाता है, इस कारण पृथिवी आदि से भिन्न होजाने से जीव पदार्थ न्यारे न्यारे स्वतंत्र द्रव्य है किसी की पर्याय या किसी के गुण नही हैं और इस प्रकार व्यवस्था होचुकने पर धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव संज्ञा वाले पांच अस्तिकाय द्रव्य प्रसिद्ध हो जाते है।

तानि पुनः—

वे द्रव्य फिर कैसे हैं ? इस प्रश्न के अनुसार द्रव्यों की विशेष प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार अगले सूत्र को कहते हैं ।

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

धर्म आदिक द्रव्य नित्य है अर्थात्—तीनो कालों मे वर्त रहे सन्ते कभी नष्ट नही होते है। पर्यायों का नाश भले ही होजाय किन्तु परिणामी द्रव्य सदा विद्यमान रहते है। यदि द्रव्य ही नाश को प्राप्त होने लगते तो संसार में कभी का शून्यवाद छाजाता और यह चराचर जगत् देखने मे नही आता। तथा धर्म आदिक द्रव्य अवस्थित है अर्थात्—अपने नियत संख्या के परिमाण का उल्लंघन नही करते है द्रव्य जितने है उतने ही रहते है, न एक घटता है और न एक बढता है। सत् का विनाश नही होता है और असत् का उत्पाद नही होता है, धर्म द्रव्य एक है, अधर्म द्रव्य एक है, आकाश द्रव्य भी एक है, काल द्रव्य असख्यातासंख्यात है, जीव द्रव्य स्वतन्त्र होरहे अनन्तानन्त है, जीवो से अनन्त-गुणे पुद्गल द्रव्य है ये सब सख्याये नियत है, कोई पोल नही है जैसे कि मोहमद (मुहम्मद) के अनुसार चाहे जितनी आत्माये (रूहें) उपजा ली जाती हैं और चाहे जिनको नष्ट कर दिया जाता है।

बौद्ध भी नियत संख्यावाले नित्य द्रव्योको नही मानकर स्व-लक्षणों को क्षण-ध्वंसी ध्वन्सी स्वीकार कर बैठे है। बात यह है कि द्रव्य तो अवस्थित है ही अन्य भी गुण, पर्याय, अविभागप्रतिच्छेद, स्वभाव, जिसके जिन जिन निमित्तों द्वारा जैसे जैसे कालत्रय में होने योग्य है वे भी सब प्रतिनियत है सर्वज्ञ के ज्ञान में जैसा जिसका परिणमन झलका है रेफमात्र उससे न्यून, अधिक, नही होसकता है। भोले लोग कह देते है कि दाने दाने पर छाप पड़ी हुयी है, हम कहते है कि दानो पर ही क्या सम्पूर्ण पृथिवी, जल, वायु, जीव, कालाणु, लोहा, चांदी, रेत, मल, बूरा, काठ, अक्षर, आदि सभी पर अपने अपने नियत स्वभावो की छाप पडी हुयी है, सर्वत्र कथंचित् भेद केवलान्वयी होकर ओत पोत घुस रहा है, गेहू के एक दाने के हजारों एक एक चून के टुकड़ों पर और एक एक टुकड़े के अनन्त परमाणुओं पर तथा एक परमाणु द्रव्य के अनन्तानन्त गुणों पर एवं एक एक गुणकी अनन्त पर्यायो पर तथैव एक एक पर्यायके अनन्तानन्त अविभाग--प्रतिच्छेदो या स्वभावो पर छाप लग रही है "ज जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्हि कालम्मि" इत्यादि ग्रन्थ करके श्री कार्तिकेय स्वामी ने बहुत अच्छा सिद्धान्त कर दिया है। एव ये उक्त द्रव्य सभी रूपसे रहित है। रूपके कहने मे उसके अविनाभावी रस आदिका भी ग्रहण होजाता है। भविष्य ग्रन्थ में अकेले पुद्गल को ही रूपी द्रव्य कह देगे। अतः उससे शेष रहे द्रव्यों को रूपरहित समझाजाय।

तद्भावाव्ययानि नित्यानि, नित्यशब्दस्य ध्रौव्यवचनत्वात् सर्वदेयत्तानिवृत्तेरवस्थितानि, न विद्यते रूपमेतेष्वित्यरूपाणि कुतस्तान्येवमित्याह ।

"तद्भावाव्ययं नित्यं" प्रत्यभिज्ञान के हेतु होरहे वह के वही भाव करके व्यय नही होते रहने को नित्य कहा जाता है। ये धर्म आदिक द्रव्य "तदेव इदम्" इस प्रत्यभिज्ञान के हेतु-भूत सहभावी गुणों करके या पर्याय और गुणों के अविष्वग्भाव पिण्डस्वरूप करके व्यय को प्राप्त नहीं होते हैं, नित्य शब्द ध्रुवपन का कथन कर रहा है "णिञ् प्रापणे" धातु से ध्रुव अर्थ मे त्य प्रत्यय कर नित्य शब्द बना लिया जाता है, सदानियत संख्यावाले इतने परिमाणका उल्लंघन नही करने से ये द्रव्य अवस्थित कहे जाते है। ये द्रव्य अपने नियत प्रदेशो की संख्या का भी उल्लंघन नहीं करते है। इन द्रव्यो में रूप गुण विद्यमान नहीं है इस कारण ये अरूप माने जाते है। यहा कोई पूछता है कि वे धर्मादिक द्रव्य इस प्रकार उक्त तीन विधेय दलो से किस प्रकार विहित समझे जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्तिको को कहते है—

द्रव्यार्थिकनयात्तानि नित्यान्येवान्वितत्वतः।
अवस्थितानि सांकर्यस्यान्योन्यं शश्वदस्थितेः ॥ १ ॥
ततो द्रव्यांतरस्यापि द्रव्यषट्कादभावतः।
तत्पर्यायानवस्थानान्नित्यत्वे पुनरर्थतः ॥ २ ॥

द्रव्यार्थिकनय से धर्म आदिक (पक्ष) नित्य ही है (साध्य) तीनो कालसम्बन्धी गुण और पर्यायों के पिण्ड मे परस्पर अन्वय बन चुका होने से (हेतु) इस अनुमान द्वारा धर्मादिको को नित्य साध दिया गया है तथा धर्मादिक द्रव्य (पक्ष) अवस्थित है (साध्य) सर्वदा परस्पर में संकरपन की स्थिति नही होने से (हेतु) अर्थात्-एक दूसरे से न्यारे वर्त रहे ये द्रव्य परस्पर मे मिल कर अपनी सत्ता को नही खो बैठते है और मिल मिलाकर अतिरिक्त द्रव्यो को नही उपजा लेते है, अपने अपने अगुरुलघु गुण द्वारा अन्यूनानतिरिक्त होकर अवस्थित रहते है, तिसी कारण छह द्रव्यो से अतिरिक्त अन्य द्रव्योका अभाव है। द्रव्यार्थिक नय अनुसार परमार्थ रूपसे नित्य या अवस्थित होनेपर यह बात विना कहे ही निकल आती है कि पर्याय-दृष्टि से वे धर्म आदिक अनित्य और अनवस्थित है इतर व्यावृत्ति या अतिव्याप्ति का निवारण करने पर ही विशेषण लगाना सफल समझा जाता है।

धर्मादीन् व्याख्यातान् पंच वक्ष्यमाणेन कालेन सह षडेव द्रव्याणि। तानि द्रव्यार्थिकनयादेशादेव नित्यानि, निर्बाधान्वितविज्ञानविषयत्वान्यथानुपपत्तेः। तत एवावस्थितानि तेषामन्योन्यमसांकर्यस्याव्यवस्थानात् सर्वदा सप्तमद्रव्यस्याभावाच्चेति सूत्रकारवचनात्। पर्यायार्थादेशादनित्यानि तान्यनवस्थितानि चेति सामर्थ्यादवगम्यते।

धर्म आदिक पाच द्रव्यो का व्याख्यान किया जा चुका है काल द्रव्य को सूत्रकार आगे कहने वाले है यों ये पाच काल के साथ मिलकर छह ही द्रव्य है। वे छहं द्रव्य द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कथन कर देने से ही नित्य हैं क्योकि अन्वितपने के बाधारहित विज्ञान का विषयपना अन्यथा यानी नित्य माने विना बन नही सकता है। तिस ही कारण यानी द्रव्यार्थिक नय अनुसार ये द्रव्य अवस्थित हैं,

क्योंकि उनका परस्पर मे संकर होजाने की व्यवस्था नही है। एक बात यह भी है कि सूत्रकार ने जब छह ही द्रव्यों का निरूपण किया है तो सदा कालत्रय में सातवे द्रव्य का अभाव होजाने से ये द्रव्य अवस्थित रहते हैं। हां पर्यायार्थिकनय से कथन करने के अनुसार वे धर्म आदिक अनित्य है और अनव-स्थित हैं, यह सिद्धान्त कण्ठोक्त विना यों ही शब्द--सामर्थ्य से जान लिया जाता है।

भावार्थ—द्रव्य और पर्यायोका समुदाय वस्तु है जो कि प्रमाणका विषय है। वस्तु के अंशों को जानने वाले नय ज्ञान हैं। द्रव्यार्थिक नय वस्तु के नित्य, अवस्थित, अंशो को और पर्यायार्थिक अनित्य, अनवस्थित अंशो को जानता रहता है। द्रव्यें नित्य हैं, उनकी पर्यायें अनित्य है, इसी प्रकार द्रव्यें अवस्थित है, हां उनकी पर्यायें अनवस्थित हैं। ब्रह्मचर्य नामक पर्यायमें जैसे सत्यव्रत, अहिंसाव्रत, कृत कारित आदि नौ भंग, क्षमा आदि परिस्थितियो के अनुसार जैसे अनेक उत्तम अंश बढ़ जाते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक पर्याय मे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, आदि की अनेक परवशताओ से न्यून, अधिक, अविभाग-प्रतिच्छेदो को लिये अंश अनवस्थित रहते हैं। अत्यन्त छोटे निमित्तसे भी पर्यायें अवस्था से अवस्थान्तर को प्राप्त होरही अवस्थित नही रह पाती है। परिशुद्ध प्रतिभा वाले विचारकोकी समझ मे यह सिद्धान्त सुलभतया आजाता है। न्यायकर्त्ता (हाकिम) ने अपराधी को एक घण्टा, एक दिन, महीना, छह महीना, तीन वर्ष, सात वर्ष, आदि के लिये जो कारावास का दण्ड दिया है वह तादृश अपराध की अपेक्षा अपराधी के भिन्न भिन्न भावो का उत्पादक है, इसी प्रकार एक रुपया, दस, बीस, पाचसो, हजार, दस हजार आदि का दण्ड विधान भी अपराधी की न्यारी न्यारी परिणतियों का उत्पादक है, एक एक पैसे की न्यूनता या अधिकता उसी समय तादृश भावो की उत्पादक होजाती है। दीपक के प्रकाशमें मन्द कान्ति वाले कपड़े या भाण्डकी स्वल्प कान्तिका परिणमन एक गज, दसगज, बीसगज की दूरी पर न्यारा न्यारा है- यहां तक कि एक प्रदेश आगे पीछे होने पर मन्द चमक के अविभाग प्रतिच्छेदो की संख्या मे अन्तर पडता रहता है। शिखा, मूछे भौयें, आदि के बाल यद्यपि निर्जीव हैं फिर भी उनको कैंची या छुरा से काट देने पर मर्यादा तक फिर बढ जाते है यदि नही काटे जांय तो विलक्षण परिणति के अनुसार भीतर से नही निकल कर उतने ही मर्यादित बने रहते हैं।

कहां तक कहा जाय परिणामो का विचित्र नृत्य जितना अन्त:--प्रविष्ट होकर देखा जाता है उतना ही चमत्कार प्रतीत होता है, धन्य हैं वे सर्वज्ञदेव जिन्होंने सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणतियों का प्रत्यक्ष कर अनेक परिणामों का हमे दिग्दर्शन करा दिया है कि अमुक वस्तु का क्या भाव है ? इसका तात्पर्य यही है। कि बाजारमें प्रत्येक वस्तु का मूल्य दिन रात न्यून अधिक होता रहता है इसमें भी बेचने और खरीदने--योग्य वस्तुओं के परिणमन तथा क्रेता, विक्रेताओं की आवश्यकता, अनावश्यकता अथवा सुलभता, दुर्लभता, उपयोगिता, अनुपयोगिता के अनुसार हुये परिणाम ही भाव माने गये है। मोक्षमार्ग में भी शुभ भावो की अतीव आवश्यकता है, भावोको भी चीन्हने वाले व्यापारो के समान मुमुक्षु जीव भी झटिति आत्म--लाभ कर लेता है। कहां तक स्पष्ट किया जाय पदार्थोंके भावोसे ही सिद्ध अवस्था

और जगत् की चमत्कार चित्र, विचित्र, परिणतियां अनादि से अनन्त काल तक हो रही है। अतः पर्यायों को अनवस्थित कहना समुचित ही है, नियत कारणोंसे ही प्रतिनियत पर्यायें ही बनेंगी जैसा कि सर्वज्ञ ज्ञान मे झलक रहा है, इस दृष्टि से पर्यायों को अवस्थित कह देना भी बुरा नही है "अर्पितानर्पितसिद्धेः, तीन काल के जितने भी अक्षय अनन्तानन्त समय है उतने ही तो एक द्रव्य या एक एक गुण के अनन्तानन्त परिणाम होंगे और अधिक क्या चाहते हो ?

एतेन क्षणिकान्येव स्वलक्षणानि द्रव्याणीति दर्शनं प्रत्याख्यातं,प्रमाणतः प्रकृतद्रव्याणां नित्यत्वसिद्धेरन्यत्र प्रतीत्यभावात् । तथैकमेव द्रव्यं सन्मात्रं प्रधानाद्यद्वैतमेव वा नाना द्रव्याणां तत्रानुप्रवेशात् । परमार्थतोऽनवस्थितानि तानीत्यपि मतमपास्तं प्रतिनियतलक्षणभेदात्सर्वदा तेषामवस्थितत्वसिद्धेः ।

द्रव्यों का नित्यपन और पर्यायों का अनित्यपन समझाने वाले इस कथन करके बौद्धों के इस दर्शन का प्रत्याख्यान कर दिया गया है कि स्वलक्षण ही द्रव्य हो रहे क्षणिक ही है।

अर्थात्—बौद्धों ने असाधारण, क्षणिक, परमाणु स्वरूप, स्वलक्षणों को ही द्रव्य माना है जो कि प्रत्येक क्षण मे ठहरकर दूसरे क्षण मे समूल-चूल नष्ट हो जाते स्वीकार किये हैं, आचार्य कहते हैं कि प्रकरण-प्राप्त धर्म आदिक द्रव्यो के नित्यपन की प्रमाणों से सिद्धि हो रही है, अन्य स्वलक्षण, चित्राद्वैत, आदि मे प्रतीति होने का अभाव है, अत बौद्ध दर्शन का प्रत्याख्यान हो जाता है।

तथा अद्वैत-वादियो ने एक ही केवल सत्—स्वरूप परमब्रह्म को द्रव्य माना है। अथवा कापिलो ने प्रकृतिका अद्वैत ही अचेतन द्रव्य स्वीकार किया है, अन्यमतियो ने भी ज्ञानाद्वैत, शब्दाद्वैत आदि स्वीकार किये है। अद्वैतवाद अनुसार अनेक द्रव्यो का उस अद्वैत मे ही विचार करने के पीछे प्रवेश हो जाना माना है। ग्रन्थकार कहते हैं कि द्रव्य-रूप से नित्य और पर्याय-रूप से अनित्य कहने वाले इस प्रकरण मे इन सबका निराकरण कर दिया जाता है, साथ मे इस मत का भी खण्डन किया जा चुका समझो कि "वे द्रव्य वास्तविकरूप से अनवस्थित है" जब कि प्रत्येक मे नियत होरहे लक्षणों के भेद से सदा उन द्रव्यों का अवस्थितपना सिद्ध है, तो वे द्रव्य अनवस्थित कथमपि नही है, पर्यायें भले ही अनवस्थित रहो।

अथारूपाणीति किं सामान्यतो वाविशेषतोऽभिधीयत इत्याशंकमानं प्रत्याह ।

अब कोई शिष्य अच्छी आशका कर रहा है कि सूत्रकार ने जो "अरूपाणि" कहा है वह क्या सामान्य रूपसे कहा गया है ? अथवा क्या विशेष रूप से धर्मादिकों को रूपरहित कहा गया है ? इस प्रकार आशका करने वाले के प्रति ग्रन्थकार वार्त्तिक द्वारा समाधान को कहते हैं—

अरूपाणीति सामान्यादाह न त्वपवादतः ।
रूपित्ववचनादग्रे पुद्गलानां विशेषतः ॥ ३ ॥

धर्म आदिक पांच द्रव्य रूपरहित है, इस बातको सूत्रकारने सामान्यरूप से कहा है, अपवाद यानी विशेषरूप से नहीं। क्योंकि अगले सूत्र मे पुद्गलो का विशेष स्वरूप मे रूपसहितपन का वचन कहा जाने वाला है। पुद्गल के अतिरिक्त किसी भी द्रव्य मे किंचित् भी रूप नही है।

न हि विद्यते रूपं मूर्तिर्येषां तान्यरूपाणीत्युत्सर्गतः षडपि द्रव्याणि विशेष्यंते, न पुनर्विशेषतस्तथोत्तरत्र पुद्गलानां रूपित्वविधानात्।

जिन द्रव्यों के (में) रूप यानी मूर्ति विद्यमान नहीं है वे द्रव्य अरूप है, यो उत्सर्ग रूप से यानी सामान्यरूप मे छहो भी द्रव्य "अरूपाणि" इस विशेषण मे विशिष्ट होरही है किन्तु फिर विशेषरूप से कोई कोई ही द्रव्य या द्रव्यो के अन्तर्भेद स्वरूप कोई नियत द्रव्य ही अरूप नहीं है क्योंकि उत्तर ग्रन्थ में पुद्गलों के रूपसहितपन का विधान कर दिया जावेगा। यो धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और काल ये सभी पाचो द्रव्य रूपरहित कह दी गयी है, कर्म और नो--कर्म से बंधे हुये संसारी जीवको अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय मे भले ही मूर्त कह दिया जाय इसमे हमारी कोई क्षति नहीं है, द्रव्यदृष्टि से सभी जीव अमूर्त है।

कश्चिदाह—धर्माधर्मकालाणवो जीवाश्च नामूर्तयो असर्वगतद्रव्यत्वात् पुद्गलवत् स्याद्वादिभिस्तेषाममर्वगतद्रव्यत्वाभ्युपगमान्न त्र सिद्धो हेतुः, नाप्यनैकांतिकः साध्यविपक्षे गगने सुखादौ वा पर्याये तदसम्भवादिति। सोऽत्र प्रष्टव्यः का पुनरियं मूर्तिरिति ? असर्वगतद्रव्य-परिणामो मूर्तिरिति चेत् तर्हि न सर्वगत द्रव्यपरिणामवन्तो धर्मादय इति साध्यमायातं तथा च सिद्धसाधनं।

कोई यहा वैशेषिक का एक-देशी कह रहा है कि धर्म, अधर्म, काल-अणु ये, और जीव (पक्ष) अमूर्त नही है (साध्य) अव्यापक द्रव्य होने से (हेतु पुद्गल के समान (अन्वय दृष्टान्त , इस अनुमान मे हेतु पक्ष मे वर्त रहा होने के कारण असिद्ध हेत्वाभास नही है क्योंकि स्याद्वादियो ने उन धर्म आदिको का असर्वगत द्रव्य होना स्वीकार किया है, भले ही लोक मे व्याप रहे धर्म, अधर्म होय किन्तु आकाश के समान सर्वव्यापक नही है, परिच्छिन्न परिमाण वाले द्रव्य अमूत नही होते है "परिच्छिन्न-परिमाणवत्त्व मूर्त्तत्व" तथा हम वैशेपिको का हेतु व्यभिचारी भी नही है क्योंकि साध्यके विपक्ष हो रहे अमूर्त आकाश द्रव्य अथवा सुख, बुद्धि आदि पर्यायो मे उस असर्वगतद्रव्यपन हेतु का असम्भव है। आचार्य कहते है कि यो कह रहा वैशेषिक यहा पूछने योग्य है कि बताओ भाई ! तुम्हारे यहां यह मूर्ति फिर क्या पदार्थ माना गया है। यदि अव्यापक द्रव्य का परिणाम (अपकृष्ट परिमाण गुण) मूर्ति है, तो यो कहने पर हम जैन कहेगे कि तब तो सर्वगत द्रव्यो के परिणामों को नही धार रहे ये धर्म आदिक है यह साध्य दल कहना प्राप्त हुआ और वैसा होने पर तुम वैशेषिको के ऊपर सिद्धसाधन दोप लग बैठा। अर्थात्-जैसा हम जैन मान रहे है वैसा ही तुम साधरहे हो, नवीन कार्य कुछ नही कर रहे हो। साध्य तो प्रतिवादी को असिद्ध होना चाहिये तथा हम जैनो को अभीष्ट होरहे विषय पर साध्यसम हेतु नामका दोष उठाना हमें उचित नही दीखता है तुम उसको भी मन मे समझलो। यहां परिणाम के स्थान पर "परिमाण" शब्द अच्छा जचता है।

अथ स्पर्शादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिस्तदभावादमूर्ता धर्मादय इति साध्यं तदानुमानबाधितः पक्षः कालात्ययापदिष्टश्च हेतुः। तथाहि--धर्मादयो न मूर्तिमन्तः पुद्गलादन्यत्वे सति द्रव्यत्वादाकाशवदित्यनुमानं विवादाध्यासितद्रव्याणाममूर्तित्वं साधयत्येव । सुखादिपर्यायेष्वभावाद्भागासिद्धत्वं हेतोरिति चेन्न, तेषामपक्षीकृतत्वात्।

अब तुम वैशेषिक यदि स्पर्श आदि रचना--आत्मक परिणाम को मूर्ति मानोगे और उस मूर्ति का सद्भाव होने से धर्म आदिक द्रव्य अमूर्तिमान् नही हैं, यह साधा जायगा तब तो तुम्हारा पक्ष अनुमान प्रमाण से बाधित होजायगा और हेतु कालात्ययापदिष्ट यानी बाधित हेत्वाभास बन जायगा धर्म आदिक में स्पर्श आदि के सद्भाव का अभाव है यानी स्पर्श आदिक नही है 'पक्षे साध्याभावो बाधः' है, उसी बात को ग्रन्थकार स्पष्ट कर दिखलाते है कि धर्म आदिक द्रव्य पक्ष) मूर्ति वाले नही है (साध्य) पुद्गल से भिन्न होते हुये द्रव्य होने से (हेतु) आकाश के समान (दृष्टान्त यह निर्दोष अनुमान विवाद मे अधिरूढ होरहे धर्म आदि द्रव्यो के अमूर्तपन को साध ही देता है, अत. इस निर्दोप अनुमान से वैशेषिकों का (या आर्यसमाजियों का) पक्ष बाधित होजाता है, यदि जैनो के ऊपर वैशेषिक यो दोष उठावे कि सुख, इच्छा आदि पर्यायो मे तुम्हारा पुद्गल मे भिन्नपन होते हुये द्रव्यपना हेतु विद्यमान नही है, अतः हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है, पक्ष के एक देश में नही रहने वाला हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि उन सुखादि पर्यायो को पक्ष नहीं किया गया है, पांच द्रव्योको ही पक्ष कोटिमे डाला गया है, अत भागासिद्ध दोप नही आता हैं।

कुतस्तेषाममूर्तित्वसिद्धिः ? साधनान्तरादित्यभिधीयते । सुखादयोऽप्यमूर्तद्रव्यपर्यायाः न मूर्तिमन्तः अमूर्तद्रव्यपर्यायत्वादाकाशपर्यायवत् । मूर्तिमद्द्रव्यपर्यायाणां रूपादीनां कथममूर्तित्वसिद्धिरिति चेन्न कथमपि तेषां स्वयं मूर्तिमत्त्वात् । मूर्त्यंतराभावात् तेषाममूर्तित्वं गुणत्वादेव सिद्धयति गुणानां निर्गुणत्वसाधनात् ।

यहा यदि कोई यो पूछे कि फिर उन सुख, ज्ञान, उत्साह, आदि पर्यायो का अमूर्तपना भला किससे साधा जायगा ? इस पर हमारा यह कहना है कि अन्य साधनों से सुखादिको के अमूर्तपन की सिद्धि कर ली जाती है जैसे कि गूढ़ अंगार की अग्निको धूम से अतिरिक्त किसी अन्य हेतु से साध लिया जाता है सर्वत्र उस साध्य को साधने के लिये एक ही हेतु का ठेका नही है, दूसरे दूसरे हेतुओ द्वारा अन्य अनुमान उठा लिये जाते हैं। यहा सुखादिकों में यह अमूर्तपना यों साध लिया जाता है-- कि अमूर्त द्रव्यो के पर्याय होरहे सुख आदिक भी (पक्ष) मूर्तिवाले नही है (साध्य), रूप आदि संस्थान परिणतियो से रहित होरहे अमूर्त द्रव्यों के पर्याय होने से (हेतु), आकाश द्रव्य की पर्याय के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस दूसरे अनुमान द्वारा सुख आदि पर्यायोंके अमूर्तपन को साध दिया जाता है।

यदि यहां वैशेषिक यों कहैं कि 'हमारे यहाँ और स्याद्वादियों के यहा भी रूप में पुनः रूप, रस, आदि गुण नहीं माने गये हैं, रस में रूपरसादि गुण निर्गुण हुआ करते हैं, ऐसी दशा में हम पूछते हैं कि मूर्तिवाले पुद्‌गल द्रव्य की पर्याय होरहे रूप आदिको के अमूर्तपन की सिद्धि भला किस प्रकार करोगे ? अभी तक के दो अनुमानो से तो रूप आदि गुण या काली, नीली, खट्टी, मीठी आदि पर्यायो के अमूर्तपन की सिद्धि नही होपायी है, दानो हेतु रूप आदि सहभावो पर्यायो या क्रमभावी पर्यायों में नही वर्तते है' यों वैशेषिक के कहने पर तो ग्रन्थकार कहते है कि किसी भी प्रकारसे उन रूपादिकों के अमूर्तिपन की सिद्धि नही है क्योकि वे स्वयं मूर्तिमान् पदार्थ है पुद्‌गल जैसे स्वयं मूर्तिमान हैं पुद्‌गल से कथंचित् अभिन्न होरहे रूप आदि पर्याय भी उसी प्रकार मूर्त है, हा प्रकरणप्राप्त उन रूप आदिको में दूसरे अप्रकृत रूपादि संस्थान स्वरूप मूर्ति के नही होने से उन रूप आदिको के अमूर्तपना तो गुणपना हेतु से ही सिद्ध होजाता है क्योकि "द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणा." गुणो के गुणरहितपन की सिद्धि प्रसिद्ध है ।

भावार्थ—अघटो घट ? यहा नञ् का अर्थ यदि अन्योन्याभाव है तब तो यह प्रयोग अशुद्ध है जब कि घट घटस्वरूप है तो वह तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता वाले घट–भेद से युक्त कथमपि नही होसकता है "घटो घटः" यह समाचीन ज्ञान "अघटो घट." इस बुद्धि को नही होने देता हां यदि "अघटो घटः" मे नञ् का अर्थ अत्यन्ताभाव है तब तो यह प्रयोग ठीक है, संयोग सम्बन्धसे घटवान होरहा भूभाग अघट नही होसकता है किन्तु घट के ऊपर या भीतर कोई दूसरा घट सयोग सम्बन्धसे नही धरा हुआ है अतः दूसरे घटसे रहित होरहा यह घट अघट है । इसी प्रकार रूप आदिक स्वयं मूर्त हैं, हा रूप आदि मे दूसरे मूर्ति पदार्थों के नही वर्तने से वे रूप आदि गुण अमूर्त सध जाते हैं। आत्मा ज्ञानवान् है, ज्ञान ज्ञानवान् नही है । इसीप्रकार मूर्त द्रव्यो को पर्यायो मे अमूर्तपना गुण--पर्यायत्व हेतु से साध लिया जाय । यहा बात यह है कि पुद्‌गल द्रव्य गुणवान् होते हुये मूर्त है, पुद्‌गल के गुण या उनकी पर्यायें मूर्त नही है ।ग्वालिया गोमान् है गाये दूधवाली है, कन्तु दूध स्वयं गोमान् या दुग्धवान् नही है, दण्डी पुरुष डंडे वाला है, स्वयं दंड तो डडे वाला नही है, कथंचित् तादात्म्य मानने पर पुद्‌गल द्रव्य के गुण या पर्यायें भी मूर्त होजाते है, पुद्‌गल की स्कन्ध या अणुयें ये पर्यायें तो मूर्त हैं ही । मूर्त द्रव्य के साथ बंध जाने पर संसारी जीव को भी मूर्त कह दिया जाता है, शेष चारद्रव्य और उनके गुण या पर्यायें अमूर्त ही है यहां भी स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार कथंचित् मूर्तपना लगाना तो अज्ञो की चेष्टा करना है, सर्वत्र बिना विचारे 'स्यात्' को लगाने वाला पुरुष अपना उपहास कराता है ।

एतेन सामान्यविशेषसमवायानां सदृशेतरपरिणामाविष्वग्भावलक्षणानां मूर्तिमद्द्रव्याश्रयाणां कर्मणां च मूर्तत्वममूर्तित्वं चिंतितं बोद्धव्यं । तेषाममूर्तित्वमेवेत्यपि प्रत्याख्यातं । तेन यदुक्तं गुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया अमूर्तय एवेति तदयुक्तं, प्रतीतिविरोधात् ।

इस उक्त कथन करके इस बात का भी विचार किया जा चुका समझ लेना चाहिये कि सदृशपरिणाम–स्वरूप सामान्य पदार्थ (जाति) और विसदृश परिणाम स्वरूप विशेष पदार्थ तथा अविष्वग्भाव यानी अपृथग्भाव (कथंचित् तादात्म्य) स्वरूप समवाय पदार्थ का भी मूर्तपन और अमूर्तपन है एवं मूर्तिमान् पुद्‌गल या संसारी जीव द्रव्यों के आश्रित होरहे गमन, भ्रमण, आदि

क्रियाओं का भी मूर्ति-सहित-पना और मूर्तिरहितपना विचार लिया गया समझ लेना चाहिये अर्थात्-वैशेषिको ने द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय, या छह भाव पदार्थ स्वीकार किये हैं, पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच अपकृष्ट--परिमाण वाले मूर्त द्रव्योंको छोड करके अवशेष चार व्यापक द्रव्य तथा गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव भी अमूर्त पदार्थ माने गये हैं। वैशेषिको के छह पदार्थों की परीक्षा के अवसर पर उनको बहुत कुछ शोधा गया है। द्रव्य, गुण और कर्मों की अच्छी विवेचना की गयी है, नित्य एक और अनेक मे रहने वाला ऐसा कोई सामान्य पदार्थ नही है, हां सदृश परिणाम या पूर्वापर विवर्तो मे व्यापने वाला परिणाम ही सामान्य (जाति) है, तिर्यक् और ऊर्ध्वता उसके भेद है। तथा अन्त मे होने वाला और नित्य द्रव्य मे वर्त रहा विशेष पदार्थ प्रमाणों से सिद्ध नही है, हा विलक्षण परिणाम स्वरूप विशेष पदार्थ समुचित है, पर्याय और व्यतिरेक जिसके भेद हो सकते है। समवाय भी अयुत--सिद्धो का सम्बन्ध होरहा नित्य संसर्ग नही है किन्तु कथंचित् तादात्म्य स्वरूप ही समवाय है। जैन सिद्धान्त अनुसार छहो द्रव्यो मे सामान्य, विशेष, समवाय विद्यमान है।

हा परिस्पन्द रूप क्रियाये तो जीव और पुद्गल दो द्रव्यो मे ही है। प्रकरण मे यह कहना है कि मूर्त द्रव्यो के गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तो मूर्त है क्योकि मूर्त द्रव्य से कथंचित् अभिन्न हो रहे वे मूर्त ही तो कहे जायगे, हा इन गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवायो मे पुनः दूसरे गुण, कर्म, सामान्य, आदिक नही रहते है और रूप आदि संस्थान--परिणाम भी नही है अतः ये अमूर्त भी है अमूर्त द्रव्यो के गुण या पर्याये सब अमूर्त ही है ऊर्ध्वगमन काल मे मुक्त जीवो की क्रिया भी अमूर्त ही है, अत. जिन वैशेशिको के यहा उन गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवायो का अमूर्तपना ही जो बखाना गया है इस कथन से उस अमूर्तपन के एकान्त का भी खण्डन हो चुका समझ लेना चाहिये। तिस कारण जो वैशेषिकोने यह कहा था कि गुण. कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये पांच पदार्थ अमूर्त ही है, इस प्रकार उनका वह कथन अयुक्त है क्योकि प्रतीतियो से विरोध आता है। देवदत्त के पुत्र का शरीर जैसे देवदत्त का लड़का है उसी प्रकार उस शरीर के हाथ, पाव मस्तक, पेट, को भी देवदत्त का लडकापन प्राप्त है, मिश्री मीठी है उसका मीठा रस भी मीठा है, हा मीठे रस मे पुनः दूसरा मीठा रस नही घोल दिया गया है अत उसको भले ही रसान्तर से रहित कह दिया जाय एतावता मिश्री का रस एकान्त रूप से नीरस नही है।

आत्मा ज्ञानवान् है उसका ज्ञान भी ज्ञानवान् है, जिनदत्त की आत्मा पण्डित है साथ में जिनदत्त का शरीर उस शरीर का हाथ, पाव, पेट, मुख, अवयव भी पण्डित है, असद्भूत व्यवहार नय से तो पण्डित की पगड़ी या दुपट्टा भी पण्डित है तभी तो उन की पगडी का विनय करते है। द्रव्यनिक्षेप के भेदो का विचार कीजिये। अतः प्रतीति के अनुसार वस्तु की व्यवस्था स्वीकार कर लेनी चाहिये कुत्सित आग्रह करने का परिपाक अच्छा नही है।

अथोत्सर्गतः पुद्गलानामप्यरूपित्वप्रसक्तौ तदपवादार्थमिदमाह।

अब सूत्रकार उत्सर्ग यानी सामान्य विधि से पुद्गलों के भी रूप-रहितपन का प्रसंग प्राप्त होने पर उसका अपवाद (प्रतिषेध या विशेष) निरूपण करने के लिये इस अगले सूत्र को कहते हैं—

रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥

पुद्गल द्रव्य रूपवाले होते है अर्थात्—रूप रसादि सस्थान परिणाम वाले पुद्गल द्रव्य मूर्त है अतः अपवाद को टालकर उत्सर्ग विधिया प्रवर्तती है। यो पुद्गल के अतिरिक्त शेष पाच द्रव्यों मे पूर्व सूत्र अनुसार अरूपपना समझा जाय।

रूपशब्दस्यानेकार्थत्वेपि मूर्तिमत्पर्यायग्रहणं, शास्त्रसामर्थ्यात्। ततो रूपं मूर्तिरिति गृह्यते रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिरिति वचनात् गुणविशेषवचनग्रहणं वा रसादीनां तदविनाभावात्तदंतर्भूतत्वादग्रहणाभावात्। रूपमेतेष्वस्तीति रूपिण इति नित्ययोगे कथंचिद्व्यतिरेकिणां रूपतद्वतामिति, पुद्गला इति बहुवचनं भेदप्रतिपादनार्थं तदेवं।

रूप शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी यहा प्रकरण अनुसार मूर्तिमान् पर्याय को कहने वाले रूप शब्द का ग्रहण है क्योंकि अर्हन्तभगवान् करके कहे गये और गणधर देव करके धारण किये गये शास्त्र की सामर्थ्य से अर्थ यह लब्ध हो जाता है कि स्वभाव, अभ्यास, श्रवण तादात्म्य आदि ये रूप शब्द के अर्थ अभीष्ट नही है, तिस कारण रूप का अर्थ "मूर्ति" यह ग्रहण किया जाता है। रूप, रस आदि सस्थान परिणाम मूर्ति हैं इस प्रकार शास्त्रो मे वचन है अथवा गुण विशेष को कथन करने वाले रूप शब्द का यहा ग्रहण है जो कि गुण चक्षुः द्वारा ग्रहण करने योग्य है या काली, नीली, आदि पर्यायो से परिणत होता है।

यहा रूप शब्द उपलक्षण है अत उस रूप के साथ अविनाभाव सम्बन्ध हो जाने से उस रूप में ही अन्तर्भूत हो जाने के कारण रस, गन्ध आदिको के नही ग्रहण हो सकने का अभाव है अर्थात्—रूप के अविनाभावी सभी रस आदिक परिणाम रूप का ग्रहण करने से पकड़ लिये जाते है। इन पुद्गलो मे रूप विद्यमान है यो विग्रह कर कथंचित् भेद को धार रहे रूप और उस रूप वाले पुद्गलो का नित्य योग होने पर रूप शब्द से मत्वर्थीय इन् प्रत्यय करते हुये "रूपिण." यह बहुवचन शब्द बन जाता है।

सूत्रकार ने उद्देश्य दल मे "पुद्गला. यह जस् विभक्ति वाला बहुवचनान्त रूप तो पुद्गल के भेदो की प्रतिपत्ति कराने के लिये कहा है अर्थात्—अणु, स्कन्ध, या परमाणु, संख्यातवर्गणा असंख्यातवर्गणा, आहारवर्गणा भाषावर्गणा आदि पुद्गल के अनेक भेद है। तिस कारण इस प्रकार होने पर जो सूत्रकार का अभिप्राय ध्वनित हुआ उसको वार्तिक द्वारा यो समझो कि—

अरूपित्वापवादोऽयं रूपिण. पुद्गला इति ।
रूपं मूर्तिरिह ज्ञेया न स्वभावोखिलार्थभाक् ॥१॥
रूपादिपरिणामस्य मूर्तित्वेनाभिधानतः ।
स्पर्शादिमत्त्वमेतेषामुपलक्षयेत तत्त्वतः ॥२॥

"रूपिणः पुद्गला." यह जो सूत्र है सो पूर्वसूत्र मे कहे जा चुके पुद्गल के अरूपीपन का अपवाद है यहां प्रकरण मे रूप का अर्थ मूर्ति समझना चाहिये। सम्पूर्ण अर्थो मे प्राप्त होरहा स्वभाव तो रूप का अर्थ नही है अर्थात्—रूप का अर्थ यदि स्वभाव या स्वरूप पकड लिया जाय तब तो सम्पूर्ण पदार्थ या सम्पूर्ण द्रव्य गुण, पर्याये, रूपी बन बैठेगी। अन्य आकर ग्रन्थो मे रूप आदि परिणाम को मूर्तिपन करके कथन किया है वस्तुतत्त्व रूप से इन पुद्गलो को उपलक्षणो द्वारा स्पर्श आदि से सहितपना समझ लिया जाता है यानी रूपिण कहने से रसवन्तः, गन्धवन्त. इत्यादि सब पौद्गलिक गुणो से सहितपना जान लिया जाय। संक्षिप्त सूत्र मे अनेक गुणो का नाम कहा तक गिनाया जा सकता है ?

अथ षण्णामपि द्रव्याणां नानाद्रव्यत्वमाहोस्विदेकैकद्रव्यत्वमुत केषांचिन्नानाद्रव्यत्वमित्याशंकायामिदमाह ।

कोई शिष्य श्री उमास्वामी महाराज के प्रति शंका उठाता है कि छहों भी द्रव्यों को क्या प्रत्येक के अनेक द्रव्यपना है ? अथवा क्या छहों द्रव्य एक एक द्रव्य स्वरूप ही है ? किं वा कोई कोई ही नाना द्रव्य हैं ? इस प्रकार आशका होने पर सूत्रकार इस अगले सूत्र को स्पष्ट कहे देते है—

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

आकाशपर्यन्त एक एक द्रव्य है अर्थात्—धर्मद्रव्य एक ही द्रव्य है और अधर्म द्रव्य भी एक ही है तथा आकाश द्रव्य एक ही है, शेष द्रव्य अनेक होंगे यह परिशेषन्याय से लब्ध होजाता है ।

अभिविधावाङ्प्रयोगः । एकशब्दः संख्यावचनस्तत्संबंधाद् द्रव्यस्यैकवचनप्रसंग इति चेन्न, धर्माद्यपेक्षया बहुत्वसिद्धेः । एकं च द्रव्यं च तदेकद्रव्यं एकद्रव्यं चैकद्रव्यं च एकद्रव्याणीति धर्माद्यपेक्षया बहुत्वं न विरुध्यते । एकैकमस्तु लघुत्वात् प्रसिद्धत्वाद्द्रव्यगतेरिति चेन्न वा द्रव्यापेक्षयैकत्वख्यापनार्थत्वादेकद्रव्याणीति वचनस्य पर्यायार्थादेशाद्बहुत्वप्रतिपत्तेः ।

इस सूत्र में अभिविधि अर्थ में आङ् का प्रयोग किया गया है "तत्मांहितोऽभिविधि" यों प्रयुज्यमान आकाश का भी ग्रहण हो जाता है। यदि आङ् का अर्थ मर्यादा होता तो आकाश छूट जाता। यहां सूत्र मे एक शब्द सख्या अर्थ को कह रहा है। इस पर किसी का प्रश्न है कि यह एक शब्द संख्या को कह रहा है तो उस संख्या-वाचक एक शब्द के साथ सम्बन्ध हो जाने से द्रव्य शब्द के भी एक वचन हो जाने का प्रसंग आवेगा ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योंकि धर्म आदिक कतिपय द्रव्यों की अपेक्षा करके द्रव्य शब्द के बहुवचनपना सिद्ध है, एक हो रहा और जो द्रव्य है, यों विग्रह कर कर्म-धारय वृत्ति अनुसार "एक द्रव्य" शब्द को एक वचनान्त बनालो फिर एक द्रव्य (धर्म) और एक द्रव्य (अधर्म) तथा तीसरा एक द्रव्य (आकाश) यो विग्रह कर एक-शेष-वृत्ति द्वारा "एक द्रव्याणि" यह साधु शब्द बन जाता है, धर्म आदिक तीन द्रव्यो की अपेक्षा बहुवचन का प्रयोग करना विरुद्ध नही पड़ता है।

यहा कोई आक्षेप करता है कि "एक द्रव्याणि" ऐसा नही कह कर 'एकैकं' इतना ही विधेय दल रहो क्योकि लाघव गुण है, द्रव्यों का प्रकरण चल रहा है, तथा लोक मे आकाश आदिक द्रव्य रूप से प्रसिद्ध ही है। इस कारण द्रव्य की ज्ञप्ति बिना कहे स्वयं हो ही जायगी, सूत्र मे द्रव्य का ग्रहण करना व्यर्थ है ? ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना, द्रव्य शब्द व्यर्थ नही है क्योकि द्रव्य की अपेक्षा करके एकपन की प्रसिद्धि कराने के लिये 'एक द्रव्याणि' ऐसा सूत्रकार का वचन है, हां पर्यायार्थिकनय अनुसार कथन करने से बहुपने की प्रतिपत्ति होजाती है अर्थात्—धर्म, अधर्म, आकाश, ये द्रव्य तो एक ही एक हैं, किन्तु इनकी सहभावी या क्रमभावी पर्यायें बहुत है।

एकसंख्याविशिष्टानीत्येकद्रव्याणि सूचयन्।
अनेकद्रव्यतां हन्ति धर्मादीनामसंशयम् ॥ १ ॥
आ आकाशादिति ख्यातेः पुद्गलानां नृणामपि ।
कालाणूनामनेकत्वविशिष्टद्रव्यतां विदुः ॥ २ ॥

"एकद्रव्याणि" यहा मध्यम पदलोपी समास करके या धर्म से विशिष्टपन का लक्ष्य कर एकत्व संख्या से विशिष्ट होरहे ये एक एक द्रव्य है, इस प्रकार सूत्रद्वारा सूचन कर रहे श्री उमास्वामी महाराज तीन धर्मादि द्रव्यो के अनेक द्रव्यपन को सशयरहित नष्ट कर देते है। और आकाश पर्यन्त इस प्रकार सूत्रकार द्वारा उत्कृष्ट कथन कर देने से तो पुद्गल और जीवो के भी तथा कालाणुओ के अनेकत्वविशिष्ट द्रव्यपन को विद्वान् समझ लेते हैं।

आ आकाशादेकत्वसंख्याविशिष्टान्येकद्रव्याणीति सूत्रयन् केवलं द्रव्यापेक्षयानेकद्रव्यतामेषामपास्यति किं तर्हि ? जीवपुद्गलकालद्रव्याणामेकत्वं च ततोनेकत्वविशिष्टद्रव्यतामेषां वार्तिककारादयो विदुः। कथमिति चेत, उच्यते।

आकाश पर्यन्त एकत्व संख्या से विशिष्ट होरहे एक एक द्रव्य है, इस प्रकार सूत्र करते हुये उमास्वामी महाराज उन धर्मादिकों के द्रव्य--अपेक्षा केवल अनेकद्रव्यपन का ही निराकरण नही करते हैं किन्तु साथ ही जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य और कालद्रव्यों के एकपन का भी खण्डन कर देते हैं। तिस कारण वार्तिक को बनाने वाले अकलंक देव आदि उत्कृष्ट विद्वान् इन जीव पुद्गल कालाणुओं, के अनेकत्व विशिष्ट द्रव्यपन को समीचीन जान रहे है, साथ ही सूत्र अनुसार धर्म, अधर्म, और आकाश का एक एक द्रव्यपना निर्णीत कर चुके है। यहा यदि कोई यो पूछे कि इस प्रकार कैसे निर्णीत कर चुके है ? यो कथन करने पर तो ग्रन्थकार करके यह युक्ति कही जा रही है कि—

एकद्रव्यमयं धर्मः स्यादधर्मश्च तत्त्वतः।

महत्त्वे सत्यमूर्तत्वात्खवत्तत्सिद्धिवादिनाम् ॥ ३ ॥

यह धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य (पक्ष) एक द्रव्य है। (साध्य) तत्त्व स्वरूप से महान् यानी महापरिमाण वाले होते सन्ते अमूर्त होने से (हेतु)। अत्यन्त परोक्ष उस आकाश की सिद्धि को कहने वाले मीमासक नैयायिक, सांख्य, वैशेषिक आदि वादियो के यहाँ आकाश के समान (अन्वय दृष्टान्त) —वैशेषिकों के महत् परिमाण वाले आकाश को एक द्रव्य स्वीकार किया है, इसी प्रकार धर्म और अधर्म भी एक एक द्रव्य हैं।

[illegible]हत्त्वादित्युच्यमाने पुद्गलस्कन्धैर्व्यभिचारो मा भूदित्यमूर्तत्ववचन, अमूर्तत्वादित्युक्ते [illegible]लाणुभिर्वादिनः सुखादिभिः प्रतिवादिनोऽनेकांतो मा भूदिति महत्त्वविशेषणं। न चामूर्त[illegible]सिद्धं धर्माधर्मयोः पुद्गलादन्यत्वे सति द्र[illegible]त्वादाकाशवदिति तत्साधनात्। नापि म[illegible] त्रिजगद्व्यापित्वेन साधयिष्यमाणत्वात्। ततो निर[illegible] हेतुः।

महत्त्वे सति अमूर्तत्व हेतु यह निर्दोष है यदि महत्त्वात इतना ही कह दिया जाता तो पुद्गल-[illegible]र्गत स्कन्धो के साथ व्यभिचार होजाता। वह व्यभिचार नही होय इस लिये अमूर्तपन का कथन किया है, अर्थात्—पुद्गल के नभोवर्गणा, महास्कन्धवर्गणा, सुमेरु, स्वयंप्रभाचल पर्वत, स्वयभूरमण समुद्र, श्रेणीबद्धविमान आदि स्कन्ध महान् है। किन्तु अमूर्त नही है, अत पुद्गल की स्कन्ध-स्वरूप अनेक पर्यायो मे एक द्रव्यपन नही ठहराया जा सकता है। यदि अमूर्तत्वात् इतना ही हेतु कह दिया जाता तो वादी विद्वान् जैनो के यहा कालपरमाणुओ या सिद्ध आत्माओ करके व्यभिचार हो जाता तथा इस समय प्रतिवादी बन रहे नैयायिक या मीमासक के यहा अमूर्त माने गये सुख,इच्छा, आदि करके व्यभिचार होजाता। वह व्यभिचार नही होय इस लिये हेतु में महत्त्व नामक विशेषण डाला गया है।

भावार्थ—जैनों के कालाणु और सिद्ध जीवो को अमूर्त माना गया है, किन्तु महा परिमाण वाले नही होने से ये एक द्रव्य नहीं है। कालाणये तो असख्यात है, और सिद्ध अनन्तानन्त हैं। प्रतिवादियो की अपेक्षा काल करके व्यभिचार नही होगा क्योंकि वे वैशेषिक या नैयायिक काल द्रव्य को

महापरिमाण वाला और अमूर्त मानते हुये प्रसन्नता पूर्वक एकद्रव्य स्वीकार कर बैठे है, अतः उनके यहा अमूर्त होरहे सुख, ज्ञान, क्रिया आदि करके हुये व्यभिचार की निवृत्ति के लिये महापरिमाण यहा विशेषण देना सफल है. धर्म और अधर्म द्रव्य मे अमूर्तपना हेतु ठहर रहा है, अतः स्वरूपासिद्ध नहीं है. देखिये धर्म और अधर्म (पक्ष) अमूर्त है (साध्य) क्योंकि पुद्गल से भिन्न होते सन्ते द्रव्य हैं। (हेतु) आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमान से उस अमूर्तपन हेतु को साध दिया जाता है तथा हेतु का महत्त्व विशेषण भी असिद्ध नहीं हैं, पक्ष मे ठहर जाता है, कारण कि तीन जगत् मे व्यापक हो रहे-पन करके धम और अधम में महापरिमाण को भविष्य मे साध दिया जावेगा तिस कारण यह महापरिमाण वाले होते हुये अमूर्तपना हेतु निर्दोष है, इसमे कोई हेत्वाभास दोष नही आता है।

समुदाहरणमपि न साध्यसाधनधर्मविकलं तत्सिद्धिवादिनां, तदेकद्रव्यत्वस्य साध्य-धर्मस्य च महत्त्वामूर्तत्वस्य तत्रातस्तत्र प्रसिद्धत्वात् । गगनासत्त्ववादिनां प्रति तस्य तथात्वे-नाग्रे साधनाद्धर्माधर्मद्रव्यवत् । तत एव नाश्रय सिद्धो हेतुस्तदाश्रयस्य धर्मस्याधर्मस्य च प्रमा-णेन सिद्धत्वात् ।

उक्त अनुमान मे उस आकाश की सिद्धि को स्पष्ट कहने वाले वादियो के यहा आकाश उदा-हरण भी साध्यरूप धर्म और साधन स्वरूप धर्म से रीता नही है, क्योंकि उस आकाश में उसके एक-द्रव्यपन स्वरूप साध्यधर्म की और तत्त्व रूप से महान् होते हुये अमूर्तपन स्वरूप साधन धर्म की प्रसिद्धि हो रही है । हा गगन का सद्भाव नही मानने--वाले चार्वाक आदि वादियो के प्रति उस आकाश को तिस प्रकार साध्य--सहितपन और हेतुसहितपन करके आगे ग्रन्थ मे साध दिया जायगा जैसा कि यहा धर्म और अधम द्रव्य को, तैसा एक द्रव्यपना और महान् होते हुये अमूर्तपना साध दिया जाता है । तिस ही कारण से यह हेतु आश्रयासिद्ध भी नही है। क्योकि उस हेतु के आधारभूत धर्म और अधर्म की प्रमाण करके सिद्धि हो चुकी है. "प्रसिद्धो धर्मी" ऐसा सूत्र है । 'पक्षे पक्षतावच्छेदकाभाव आश्रयासिद्धि" खर--विपाण आदि असत् पदार्थो मे कोई भी वास्तविक स्वकीय धर्म नही रहता है यो पक्ष मे पक्ष के धर्म का नही रहना आश्रयासिद्धि दोष है।

नानाद्रव्यमसौ नानाप्रदेशत्वाद्धरादिवत् ।
इत्ययुक्तमनेकांतादाकाशेनैकता हता ॥ ४ ॥
तस्य नानाप्रदेशत्वसाधनादप्रतो नयात् ।
निरंशस्यास्य तत्सर्वमूर्तद्रव्यैरसंगतिः ॥ ५ ॥

यदि कोई पण्डित इस हेतु मे सत्प्रतिपक्ष दोष उठाता हुआ यो दूसरा अनुमान बनावे कि वह धर्म या अधर्म (पक्ष) अनेक अनेक द्रव्य हैं, (साध्य) अनेक प्रदेशवाले होने से (हेतु) पृथिवी, जल, आदि द्रव्यो के समान (अन्वय दृष्टान्त) । आचार्य कहते हैं कि यह कहना अयुक्त है क्योंकि एक-

पन को हरलेनेवाले या एकला को धारने वाले आकाश करके व्यभिचार होजाता हैं। अर्थात्—आकाश अनेक प्रदेशवान् है, किन्तु नाना द्रव्य नही है, एक द्रव्य है। अगले "आकाशस्यानन्ताः" इस ग्रन्थ से अथवा नय युक्तियो से उस आकाश का अनेक प्रदेश सहितपना साध दिया जायगा। इस अंशरहित आकाश की उन सम्पूर्ण मूर्तद्रव्यो के साथ संगति नही होसकती है।

अर्थात्—वैशेषिको ने आकाश को विभु द्रव्य माना है सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगित्व विभुत्वं" पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन सम्पूर्ण मूर्तिमन्द्रव्यों के साथ संयोग रखने वाला पदार्थ विभु माना गया है। यदि वैशेषिक आकाश के अंशो को स्वीकार नही करेंगे तो निरंश आकाश भला बम्बई, कलिकाता, यूरप, अमेरिका, स्वर्ग, नरक आदि दूर दूर सभी स्थलो पर विराज रहे मूर्तिमान द्रव्यो के साथ कैसे संयुक्त हो सकेगा ? अंशो से सहित होरहा बास या नापने का गज तो नाना देश मे फैल रहे भीत या वस्त्रो पर सयुक्त होजाता है, किन्तु निरंश परमाणु सकृत् भिन्नदेशीय पदार्थों से चिपट नही सकता है, (समर्थन)।

ततो न पक्षस्यानुमानेन वाधा तस्याप्रयोजकत्वात्। नापि हेतोः कालात्ययापदिष्टतेति धर्माधर्मयोरेकद्रव्यत्वसिद्धिः।

तिस कारण हम जैनो के पक्ष की इस वैशेषिक के अनुमान करके वाधा नही आती है। क्योकि वह नाना--प्रदेशत्व हेतु नाना द्रव्य--पन का प्रयोजक नही है, और हमारे हेतु के कालात्ययापदिष्टपना यानी वाधितहेत्वाभासपना भी नही है, इस कारण तीसरी वार्त्तिक द्वारा धर्म और अधर्म के एक द्रव्यपनकी सिद्धि होजाती है आकाश के एक द्रव्यपन मे किसी का विवाद ही नही है।

यथा च तानि धर्माधर्माकाशान्येकद्रव्याणि तथा।

जिस ही प्रकार वे धर्म, अधर्म, और आकाश द्रव्य रूप से एक एक हैं, उसी प्रकार और भी कुछ विशेषता को लिये हुये हैं। इस बात को समझने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते हैं—

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

धर्म, अधर्म, और आकाश ये तीन द्रव्य क्रियाओ से रहित है, अर्थात्—धर्म, अधर्म, आकाश ये केवल एक द्रव्य ही नही हैं, साथ मे देशसे देशान्तर होना रूप क्रिया से रहित भी है, जीव पुद्गलो के समान अपने स्थान को छोड़ कर परक्षेत्र में नही चले जाते है।

उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशांतरप्राप्तिहेतुः क्रिया, न पुनः पदार्थान्तरं तथाऽप्रतीयमानत्वात् गुणसामान्यविशेषसमवायवत्।

अन्तरंग कारण मानीगयी क्रिया परिणमन शक्ति और वहिरंग होरहे संयोग आदि इन दोनों निमित्त कारणों की अपेक्षा रखते हुए द्रव्य का जो पर्याय विशेष देश से देशान्तर प्राप्ति का कारण है, वह क्रिया है। फिर कोई स्वतंत्र न्यारा पदार्थ क्रिया नही है, क्योकि तिसप्रकार स्वतंत्र तत्त्व रूप

करके या अन्य पदार्थ-पने करके कर्म की प्रतीति नही होरही है। जैसे कि गुण, सामान्य, विशेष और समवाय स्वतंत्र होकर नही जाने जारहे है। अर्थात्— वैशेषिको ने द्रव्य से सर्वथा भिन्न स्वीकार कर गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इनको स्वतंत्र तत्त्व माना है, आचार्य कहते है, कि क्रिया अथवा गुण, सामान्य, विशेष, समवाय भी द्रव्य की ही विशेष पर्याये है। निराले तत्त्व नही हैं, अत यह क्रिया का लक्षण निर्दोष किया गया है।

ननु क्रिया द्रव्यात्पदार्थान्तरं तद्भिन्नलक्षणत्वाद्गुणादिवदिति। पदार्थांतरत्वेनाप्रतीयमानत्वमसिद्धमिति चेत्, कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वस्य द्रव्यव्यक्तिभिरनेकांतात्। कालादिद्रव्यव्यक्तीनां न द्रव्याद्भिन्नलक्षणत्वं क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणस्य तत्र भावादिति चेन्न, कालादिषु क्रियावत्त्ववर्जितस्य द्रव्यलक्षणस्योपगमात् पृथिव्यादिषु तदवर्जितस्य तस्य व्याख्यानात् कथंचित्तेषां द्रव्यलक्षणभेदसिद्धेः। पदार्थान्तरत्वे तु द्रव्यव्यक्तीनां गुणादिव्यक्तीनामपि पदार्थांतरत्वप्रसक्तेः कुतः षट्पदार्थनियमः ?

यहा वैशेषिक स्वपक्ष का अवधारण इस प्रकार कहते हैं कि क्रिया (पक्ष) द्रव्य से सर्वथा भिन्न निराला पदार्थ है (साध्य) उस द्रव्य के लक्षण से सर्वथा भिन्न लक्षण को धार रही होने से (हेतु) गुण, जाति, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। "क्रियावद्गुणवत्समवायिकारण" इस द्रव्य के लक्षण से "एक द्रव्यमगुणं सयोगविभागेष्वनपेक्षकारणं" यह कर्म का लक्षण भिन्न है, अतः अन्य पदार्थपन करके नही प्रतीत होरहापन क्रिया में असिद्ध है, यो कहने पर तो आचार्य कहते है, कि तुम वैशेषिको के भिन्नलक्षणत्व का अर्थ यदि कथंचित् भिन्न भिन्न लक्षणवानापन है। तब तो द्रव्य की व्यक्तियो करके व्यभिचार होजायगा, देखिये द्रव्य के पृथिवी, जल, तेज, आदि ये भेद है, पृथिवी के भी घट, पट, पुस्तक आदि अनेक भेद तुम्हारे यहा माने गये है। इन मे कथंचित् भिन्न-लक्षणपना हेतु विद्यमान है, किन्तु सर्वथा पदार्थान्तरपना साध्य नही है, अतः वैशेषिको का हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

यदि वैशेषिक यों कहें कि द्रव्य के काल, आत्मा, पृथिवी, आदि व्यक्ति विशेषो का लक्षण द्रव्य के लक्षण से भिन्न नही है जो क्रियावान् है. और गुणवान् है, तथा कार्योंका समवायि कारण है, वह द्रव्य है, द्रव्य के इस लक्षण का उन काल आदिको मे सद्भाव है। अतः व्यभिचार नही आयगा, ग्रन्थकार कहते हैं। कि यह तो नही कहना क्योकि काल आदि चार व्यापक द्रव्यो मे क्रियावान्पने से रहित होरहे द्रव्य लक्षण को स्वीकार किया गया है, और पृथिवी आदि पांच मूर्तों मे उस क्रियावत्त्व को नही छोड कर उस पूरे द्रव्य लक्षण को वखाना गया है। अतः उन द्रव्य व्यक्तियो के घटित होरहे द्रव्य लक्षणो का कथंचित् भेद सिद्ध होजाता है।

अर्थात्—कणादमुनि प्रणीत वैशेषिक दर्शन में "क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति" द्रव्य का लक्षण कहा है, यह पूरा लक्षण पृथिवी, जल, तेज वायु और मन मे घट जाता है, आकाश आदि व्यापक द्रव्यों में क्रिया नही मानी गयी है, अतः क्रियावत्त्व नही, आद्यक्षणावच्छिन्न अवयवी में गुण

वत्त्व भी नही माना गया है, कार्य से कारण एक क्षण पूर्व में रहता है, गुण उपजने के प्रथम द्रव्य निर्गुण है। यों द्रव्य के विशेष नौ भेदों मे कथचित् भिन्न लक्षणपना वर्त रहा है, अतः व्यभिचार दोष तदवस्थ है, व्यभिचार की निवृत्ति के लिये यदि वैशेषिक द्रव्यों की विशेष व्यक्तियो को स्वतंत्र तत्त्व रूप से न्यारे न्यारे पदार्थ स्वीकार करेंगे तब तो गुण के रूप, रसादि, व्यक्तियो को या कर्म के उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि व्यक्तियो को एव पर-जाति, अपर-जाति, इन सामान्य व्यक्तियों अथवा अनन्त विशेष व्यक्तियो को भी स्वतंत्र तत्त्व रूप से पदार्थान्तर पने का प्रसग प्राप्त होगा, ऐसा होने पर छहों भाव पदार्थ होने का नियम भला कैसे ठहर सकता है ? सैकड़ो या अनन्ते मूलतत्त्व बन बैठेंगे ।

द्रव्यत्वप्रतीतिमात्रं द्रव्यलक्षणं सकलद्रव्यव्यक्तीनामभिन्नं तस्य कर्मणि मनागप्यभावात् सर्वथा तद्भिन्नलक्षणत्वं हेतुरिति चेत्, प्रतिवाद्यसिद्धः सद्द्रव्यलक्षणमिति कर्मण्यपि द्रव्यप्रत्ययमात्रस्य भावादन्यथा तदसत्त्वप्रसंगात् ।

वैशेषिक कहते है, कि द्रव्यत्व जाति स्वरूप करके जातिमान् द्रव्य की प्रतीति होजाना केवल इतना ही द्रव्य का लक्षण तो द्रव्य के पृथिवी आदि सम्पूर्ण नौऊ व्यक्ति विशेषो के अभिन्न है उस द्रव्य के लक्षण का कर्म मे कदाचित् भी सद्भाव नही पाया जाता है, अतः उस द्रव्य से सर्वथा भिन्न लक्षणपना हेतु ठीक है, क्रिया मे वर्त्त रहा हेतु द्रव्य से पदार्थान्तरपने को साध देगा, यो कहने पर तो ग्रन्थकार कहते है, कि कथचित् भिन्न लक्षणत्व हेतु मे व्यभिचार दोष दिया जा चुका है, हा सर्वथा भिन्नलक्षणत्व हेतु को कहो तो प्रतिवादी विद्वान जैनो के प्रति असिद्ध है। पक्ष म हेतु नही ठहरता है। 'सद्द्रव्यलक्षण' द्रव्य का लक्षण सत् है इस प्रकार सत् स्वरूप द्रव्य की केवल प्रतीति करा देना इस द्रव्य का लक्षण सद्भाव कर्म मे भी विद्यमान है, अन्यथा यानी सत् स्वरूप द्रव्य के लक्षण को यदि कर्ममे नही माना जायगा तो खरविषाण के समान उस कर्म के असत्त्व का प्रसग होजावेगा, अतः "सर्वथा भिन्न लक्षणत्व" हेतु पक्षभूत कर्म मे नही ठहरा इस कारण तुम्हारा हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है।

न हि सत्तामहासामान्यमेव द्रव्यमिति स्याद्वादिनां दर्शनं तस्याः शुद्धद्रव्यत्वोपगमात् । गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्यशुद्धद्रव्यलक्षणस्य कर्मण्यभावेपि कथंचिदेकद्रव्याभिन्नलक्षणत्वं तस्य सिद्धयेन्न सर्वथा । तच्च कथंचित्पदार्थान्तरत्वं साधयेदिति विरुद्धसाधनाद्विरुद्धं परैः सर्वथा पदार्थांतरत्वस्य तत्र साध्यत्वात् ।

"सद्द्रव्यलक्षण" इस सूत्र अनुसार सत्ता नामका महासामान्य ही द्रव्य है, यह स्याद्वादियों का सिद्धान्त नही है। उस महासत्ता को तो हमने शुद्ध द्रव्यपन करके स्वीकार किया है, अर्थात्—शुद्ध द्रव्यो का निरूपण सत्स्वरूप करके किया जाता है, अनेक शुद्ध द्रव्यो मे प्रत्येक होकर वर्त्त रहे अनेक अस्तित्व गुणो के परसंग्रह नय द्वारा किये गये आपेक्षिक पिण्ड को महासत्ता कह दिया जाता है। अतः सूत्रकार करके कहा जाने वाला "सद्द्रव्यलक्षण" यह शुद्ध द्रव्यों का लक्षण समझा जाय जो कि

कथंचित् अभेद दृष्टि अनुसार शुद्ध द्रव्य की ओर लक्ष्य रखते हुये यावत् गुण, क्रिया, अशुद्धद्रव्य, पर्याय इन सम्पूर्ण सत्पदार्थों में घटित होजाता है।

हां गुण और पर्याय वाला द्रव्य होता है, इस अशुद्ध द्रव्य के लक्षण का कर्म में अभाव होनें पर भी कथंचित् एक द्रव्य के साथ अभिन्न लक्षणपना उस कर्म के सिद्ध होजावेगा अतः सर्वथा द्रव्य के लक्षणपना नही सिद्ध होसका। वैशेशिको का द्वितीय पक्ष अनुसार सर्वथा भिन्न लक्षणपना हेतु स्वरूपासिद्ध है, और प्रथम पक्ष अनुसार कथंचित् भिन्नलक्षणपना हेतु तो कर्म मे द्रव्य से कथचित् पदार्थान्तर को साध सकेगा, इस कारण इष्ट होरहे साध्य से विरुद्ध साध्य को सिद्धि कर देने से वैशेषिको का हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। क्योकि दूसरे विद्वान् वैशेषिको ने उस कर्म मे सभी प्रकारो से पदार्थान्तिरपन यानी न्यारेपन को साध्य कर रखा है, अतः वैशेषिको का भिन्न--लक्षणत्व हेतु अनैकान्तिक, असिद्ध और विरुद्ध दोषो से युक्त है।

कर्म सर्वथा न द्रव्यात्पदार्थान्तरं कथंचित्तद्भिन्नलक्षणत्वाद् गुणादिवदिति परमतसिद्धेः न चात्र कर्माप्रतिपन्नं येनाश्रयासिद्धिः साधनस्य। नापि सर्वथा पदार्थांतरत्वेन द्रव्यात्प्रतिपन्नं कुतश्चित्प्रमाणात् स्याद्वादिभिः, येन धर्मिग्राहकप्रमाणबाधा। तस्य कथंचित्पदार्थांतरत्वेनैव प्रतिपन्नत्वात् न चैव सिद्धांतविरोधः, कर्मणः पर्यायत्वेन द्रव्यात्कथंचित्पदार्थांतरत्वव्यवस्थितेरुत्पादविनाशत्वलक्षणस्य ध्रौव्याद्द्रव्यलक्षणाद्भेदसिद्धेः। कर्मगुणसामान्यविशेषसमवायानां पर्यायलक्षणसद्भावात् पर्यायपदार्थत्ववचनादन्यथातिप्रसक्तेः। प्रागभावादीनां विशेषणविशेष्यभावादीनां च पदार्थांतरत्वप्रसंगात् पदार्थशेषत्वकल्पनायामेकेनैव पदार्थेन पर्याप्तत्वादन्येषां पदार्थशेषावस्थिते सूत्रेवधारणाभावादित्युक्तप्रायं।

वैशेषिकों के अनुमान का बाधक यह अनुमान है कि कर्म (पक्ष) द्रव्य से सर्वथा न्यारा भिन्न पदार्थ नहीं है (साध्य) उस द्रव्य के लक्षण से कथंचित् भिन्न, अभिन्न होरहे लक्षण को धारने वाला होने से (हेतु) गुण, सामान्य, आदि के समान। इस अनुमान द्वारा पर-मत की यानी जैनमत की सिद्धि होजाती है। इस अनुमान मे पक्ष हो रहा कर्म (क्रिया) पदार्थ अपरिज्ञात नही है जिससे कि हेतु के आश्रयासिद्धि नामका दोष लग बैठता अर्थात्-बाल गोपालो तक को क्रिया प्रसिद्ध होरही है अतः हमारा " कथंचित् भिन्नलक्षणत्व " हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास नही है और स्याद्वादियो करके जिस किसी भी प्रमाण द्वारा वह कर्म से सर्वथा भिन्न तत्त्वपने करके भी ज्ञात नही है जिससे कि धर्मी को ग्रहण कराने वाले प्रमाण से बाधा आती।

हां द्रव्यसे कथंचित् भिन्न पदार्थपने करके ही उस कर्मकी प्रतिपत्ति होचुकी है भावार्थ -वैशेषिक यदि हमारे हेतु में यों बाधा उठाना चाहैं कि जिस प्रमाण करके धर्मी कर्म जाना जायगा वह प्रमाण द्रव्य से भिन्न होरहे ही कर्म को जान पायगा ऐसी दशा में द्रव्य से सर्वथा भिन्न पदार्थान्तरपन के अभाव को साधने वाला हेतु बाधित होजायगा, हम स्याद्वादी कहते हैं कि घोड़े कादौड़ना, आम

फल का पतन होना, चक्की का भ्रमण होना, अग्निज्वाला का ऊपर जाना, जल या वायु का तिरछा बहना. ये सब क्रियायें क्रियावान् पदार्थों से सर्वथा भिन्न नही दीख रही है, हां पहिले थोड़ा स्थिर था अब चलने लगगया। स्थिर चाकी पीछे भ्रमण करने लग जाती है, यों क्रियावान् द्रव्यसे क्रिया का कथंचित् भेद ही निर्णीत है. सर्वथा भेद नही है, इस प्रकार कहनेसे हम अनेकान्त--वादियो के यहाँ कोई जैन सिद्धान्त से विरोध नही आता है क्योंकि क्रिया होना एक पर्याय विशेष है, अत पर्याय होने के कारण क्रिया को द्रव्य से कथंचित् पदार्थान्तरपना व्यवस्थित है। सुवर्ण के कडे का सुवर्ण से सर्वथा भेद नही है। द्रव्य और पर्याय का समुदाय सत् है उत्पाद व्यय और ध्रौव्यों से तदात्मक युक्त होरहा सत् पदार्थ माना गया है। पर्याय के उत्पाद और विनाश लक्षण है, द्रव्य मे ध्रुवपना ओतपोत होरहा है, अतः कर्म के उत्पाद, विनाश--स्वरूप लक्षण का द्रव्य के लक्षणांश होरहे ध्रौव्य से भेद सिद्ध होरहा है। क्रिया, गुण, सामान्य, विशेष और समवा- के पर्याय का लक्षण विद्यमान है, अतः जैन सिद्धान्त में परिस्पन्द रूप क्रिया, सहभावी-क्रमभावी पर्याय स्वरूप गुण, सदृश परिणाम या परापर विवर्त-व्यापी परिणाम, स्वरूप सामान्य, पर्याय व्यतिरेक--स्वरूप विशेष और अविष्वग्भाग सम्बन्ध--स्वरूप समवाय इन सब के पर्याय का लक्षण विद्यमान है, अतः इनको जैन सिद्धान्त मे पर्याय पदार्थ कहा गया है, अन्यथा यानी--कर्म, गुण, आदि को पर्याय नही मान कर स्वतत्र तत्त्व (पदार्थ) माना जायगा तो अतिप्रसंग होजायगा। आपेक्षिक गुण, अविभागप्रतिच्छेद, प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व, आदि को भी न्यारे न्यारे पदार्थ होने का प्रसग आजायगा। प्रागभाव, प्राग्सता, पश्चात्- सत्ता आदि को और विशेष्य-विशेषणभाव, आधार आधेयभाव, स्वरूप सम्बन्ध, तादात्म्य सम्बन्ध आदि को भी न्यारे न्यारे पदार्थ होजाने का प्रसंग आवेगा। यों अनन्त मूल पदार्थ होजाने पर भला वैशेषिको के यहां छह या सात पदार्थों की हो व्यवस्था कहाँ रही ?

यदि वैशेषिक यों कहे कि पदार्थों की सख्या के प्रतिपादन करने वाले "धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाना पदार्थाना साधर्म्य-वैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसम्" इस कणाद ऋषि प्रणीत सूत्र मे हमने एवकार द्वारा कोई अवधारण नही किया है। दार्शनिक बेचारा कहाँ तक अनेक पदार्थों को गिना सकता है ? छह, सात, नौ, सोलह, पच्चीस आदि कितने ही पदार्थ गिनाये जाय तो भी सैकडो, हजारो, पदार्थ शेष पड़े रहते है विद्वान जन उपरिष्ठात् उन वैशेष्य-विशेषणभाव आदि पदार्थों को मान ही लेते है। ग्रन्थकार कहते है कि इस प्रकार उक्त उपलक्षण पदार्थों के शेषपन करके यदि अतिरिक्त पदार्थों की कल्पना की जायगी तब तो एक ही उपलक्षणभूत पदार्थ करके पर्याप्तपना है। यानी सभी प्रयोजन सिद्ध हो जायंगे क्योंकि पदार्थ--प्रतिपादक सूत्र में छह ही भाव पदार्थों का अवधारण नहीं है, अत कण्ठोक्त एक या दो पदार्थों से अतिरिक्त शेष अनेक पदार्थों के अवस्थित हो जाने पर सभी पदार्थ समझाये जा सकते है। इस बात को हम "जीवाजीवास्रव" इत्यादि सूत्र का विवरण करते समय कह चुके हैं, प्रकरण अनुसार और भी कई बार ऐसा विवेचन किया जाचुका है।

सामान्यसमवायौ कथं पर्यायौ ? नित्यत्वादिति चेन्न, तयोरपि गुणकर्मविशेषवद-नित्यत्वोपगमात् । सदृशपरिणामो हि सामान्यं स्याद्वादिनां अविष्वग्भावश्च द्रव्यपर्याययोः समवायः, सचोत्पाद-विनाशवानेव सदृशव्यक्त्युत्पादे सादृश्योत्पादप्रतीतेस्तद्विनाशे च तद्विना-शमात्रभावात् ।

कलुषित--चित्त होकर वैशेषिक पूंछते है कि तुम जैनो के यहाँ सामान्य और समवाय भला किस प्रकार पर्याय माने गये है ? क्योकि तुम्हारे यहाँ उत्पाद व्यय वाली पर्याये अनित्य मानी गयी हैं किन्तु नित्य होता हुआ, अनेको मे समवेत होरहा सामान्य और नित्य सम्बन्ध माना गया समवाय तो नित्य है अतः ये दोनो स्वतन्त्र तत्त्व होने चाहिये । ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि उन सामान्य और समवाय दोनो को भी गुण, कर्म, और विशेष पदार्थो के समान अनित्यपना स्वी-कार होजाता है । अथवा वैशेषिको के यहाँ अनित्य द्रव्यो के सम्पूर्ण गुणो और नित्य द्रव्यो के भी कतिपय गुणों तथा सम्पूर्ण कर्मों को जैसे अनित्य माना गया है उसी प्रकार सामान्य और समवाय भी अनित्य मानने पडेगे । विशेष पदार्थ भी दृष्टान्त समझ लिया जाय जब कि स्याद्वादियों के यहाँ सदृशपरिणाम ही सामान्य माना गया है तथा द्रव्य और पर्यायों का कथचित् तदात्मक अपृथग्भाव ही समवाय सम्बन्ध है, तब तो वह उत्पादवान् और विनाशवान् ही है क्योकि सदृश व्यक्तियों का उत्पाद होने पर सादृश्य (सामान्य) की उत्पत्ति होना प्रतीत होता है और उन सदृश व्यक्तियो का विनाश होने पर उस सदृशपन (जाति) का पूरा विनाश होरहा देखा जाता है ।

सादृश्यस्य व्यक्त्यतरेषु दर्शनान्नित्यत्वमितिचेन्न, वैसादृश्यस्य विशेषस्य गुणस्य कर्मणश्चैवं नित्यत्वप्रसंगात् । नष्टोत्पन्नव्यक्तिभ्यो व्यक्त्यंतरेषु न तदेव वैसादृश्यादि दृश्यते ततोन्यस्यैव दर्शनादिति चेत्, सादृश्यादि परमेव किन्न भवेत् तथाप्रतीतेरविशेषात् । ततो द्रव्य-पर्याय एव क्रिया ।

यदि वैशेषिक यो कहैं कि एक व्यक्ति के नष्ट होने पर भी अन्य दूसरी दूसरी व्यक्तियो मे सदृशपना देखा जा रहा है, अत. सादृश्यस्वरूप सामान्य भी नित्य ही होना चाहिये । ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि इस प्रकार तो विसदृशपन--स्वरूप विशेष पदार्थ को और गुण को तथा कर्म को भी नित्य होजाने का प्रसग आवेगा । देखो, विलक्षण पदार्थ के नष्ट होजाने पर भी दूसरे विसदृश पदार्थ विद्यमान हैं । एक काले, पोले, या खट्टे, मीठे, गुण के विनश जाने पर भी अन्य पृथि-वियों में काले आदि गुण विद्यमान है, हलन, चलन, आदि कर्म भी सदा किसी न किसी के होते हो रहते हैं, अतः वे भी नित्य बन बैठेगे ।

यदि वैशेषिक यों कहैं कि नष्ट होरही या उत्पन्न होरहीं व्यक्तियों से निराली अन्य विद्यमान व्यक्तियों में वे ही तो वैसादृश्य, गुण, क्रिया, आदि नही देखे जा रहे है, जो कि नष्ट या उत्पन्न व्यक्तियों मे हैं किन्तु उन नष्ट या उत्पन्न व्यक्तियो मे वर्त रहे वैसादृश्य आदिसे दूसरे भिन्न वैसादृश्य आदि का ही अन्य व्यक्तियो मे दर्शन होरहा है, अतः ये अनित्य हैं, यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो न्यारे न्यारे वैसादृश्य आदि के समान फिर सादृश्य, समवाय, आदि भी निराले ही क्यों नही होजांयगे क्योकि तिस प्रकार न्यारे सादृश्य या निराले वैसादृश्य आदि की प्रतीति होने का कोई अन्तर नही है तिस कारण सिद्ध होता है कि द्रव्य की पर्यायविशेष ही क्रिया है, द्रव्य से निराला स्वतंत्र तत्त्व कोई कर्म पदार्थ नही है।

गुणादीनां क्रियात्वप्रसंग इति चेन्न, ततो विशेषलक्षणसद्भावात्। द्रव्यस्य हि देशांतरप्राप्तिहेतुः पर्यायः क्रिया न सर्वः। सर्वत्र सर्वदा कस्मान्न स्यादिति चेन्न, उभयनिमित्तापेक्षत्वात् क्रियायास्तद्भाव एव भावात् पर्यायांतरवत्। निष्क्रांतानि क्रियायाः निष्क्रियाणि धर्माधर्माकाशानि। कुत इत्याह।

वैशेषिक कहते है कि द्रव्य की पर्याय को यदि क्रिया कहा जायगा तब तो गुण या सामान्य आदि को क्रिया होजाने का प्रसंग आजायगा। जैन सिद्धान्त अनुसार गुण आदि भी द्रव्य के पर्याय है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योकि उस क्रिया से गुण आदि में विशेष लक्षणों का सद्भाव पाया जाता है। द्रव्य को प्रकृत देश से अन्य देशान्तर की प्राप्ति का कारण होरहा द्रव्य की पर्याय तो क्रिया है, द्रव्य की शेष सभी पर्यायें क्रिया नही हैं। यदि यहा कोई आक्षेप करे कि जब क्रिया द्रव्य का अन्तरंग परिणाम है तो सर्व देशो मे सभी कालो मे द्रव्य की देशान्तर प्राप्ति जो होती रहनी चाहिये सो किस कारण से नही होती है बताओ? आचार्य कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि द्रव्य की क्रिया नामक परिणति अन्तरंग, बहिरंग, दोनो निमित्तो की अपेक्षा रखती है जब अन्तरंग, बहिरंग, कारणों की योग्यता प्राप्त होगी तब उसके होने पर ही तो क्रिया की उत्पत्ति होसकेगी जैसे कि द्रव्य की अन्य पर्यायें सर्वत्र सर्वदा नही होती फिरती है किन्तु नियत कारणों के अनुसार क्वचित्, कदाचित्, ही होती है। यहां तक यह निर्णीत कर दिया गया है कि परिस्पन्द स्वरूप क्रिया से निष्क्रान्त हो रहे धर्म, अधर्म, और आकाश द्रव्य निष्क्रिय है। किस कारण से ये तीन द्रव्य क्रियाओ से रहित है बताओ? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वार्त्तिक द्वारा उत्तर कहते है—

निष्क्रियाणि च तानीति परिस्पंदविमुक्तितः।
सूत्रितं त्रिजगद्व्यापिरूपाणां स्पंदहानितः॥ १॥

देश से देशान्तर होना--स्वरूप परिस्पन्द से छूट जाना होने के कारण सूत्रकार ने उन धर्म, अधर्म, और आकाश को इस सूत्र द्वारा " निष्क्रिय " ऐसा सूचित किया है क्योंकि तीनो जगत् में व्यापने वाले स्वरूपको धारने वाले पदार्थ के हलन, चलन, आदि स्पन्द होने की हानि है, जो तीनो जगत् मे ठसाठस भर रहा है वह कहाँ जाय ? और कहाँ से कहाँ आवे ? यानी कही नही।

धर्माधर्मौ परिस्पन्दलक्षणया क्रियया निष्क्रियौ सकलजगद्व्यापित्वादाकाशवत्। परिणामलक्षणया तु क्रियया सक्रियावेव, अन्यथा वस्तुत्वविरोधात्। स्वरूपासिद्धो हेतुरिति चेन्न, धर्माधर्मयोः सकललोकव्यापित्वस्याग्रे समर्थनात्।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य (पक्ष) परिस्पन्द स्वरूप क्रिया करके रहित होरहे निष्क्रिय है (साध्य) क्योंकि सम्पूर्ण जगत् मे व्याप रहे है (हेतु) आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त)। हाँ अपरिस्पन्द--आत्मक अनेक परिणाम स्वरूप क्रिया करके तो वे सहित होरहे सक्रिय ही है अन्यथा यानी धर्म आदि में यदि अपरिस्पन्द परिणाम स्वरूप क्रियाये भी नही मानी जायगीं तब तो अपरिणामी पदार्थों के वस्तुपन का विरोध होजायगा जैसे कि खर--विषाण कोई वस्तु नही है। यदि यहाँ कोई यों आक्षेप करे कि पक्ष मे नही वर्त्तने से जैनो का सकल जगत्--व्यापीपना हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कह बैठना क्योंकि धर्म, अधर्म के सम्पूर्ण लोक मे व्याप--रहेपन का अग्रिम ग्रन्थ मे समर्थन कर दिया जावेगा, उतावले मत होओ।

सामर्थ्यात्सक्रियौ जीवपुद्गलाविति निश्चयः।
जीवस्य निष्क्रियत्वे हि न क्रियाहेतुता तनौ ॥ २ ॥

धर्म, अधर्म, आकाश, इन तीन द्रव्य या काल को मिला देने से चार द्रव्यो के निष्क्रियपन की सूत्र द्वारा सूचना होचुकने पर विना कहे ही अन्य शब्दो की सामर्थ्य से यह निश्चय कर लिया जाता है कि जीव द्रव्य और पुद्गल-द्रव्य क्रियासहित है। पुद्गल को क्रियासहित माननेमे प्रायः किसी का विवाद नही है। हाँ वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य विद्वान् आत्मा मे क्रिया होना नही मानते है कोई अक्रिया-वादी पण्डित तो किसी भी पदार्थ मे क्रिया को नही मानते हैं, सिनेमा मे देखे जारहे चित्रो की क्रियाओ के ज्ञान समान सभी क्रियाओं के ज्ञान भ्रान्त हैं. अन्य अन्य प्रदेशो पर पदार्थ दूसरा, तीसरा, उपज जाता है। पूर्व प्रदेशों पर का पदार्थ वहा ही समूल--चूल नष्ट होजाता है। इस पर हम जैनो का यह कहना है कि यदि जीव को क्रियारहित माना जायगा तो शरीर मे क्रिया करने का हेतुपना जीव के घटित नही होसकेगा। भावार्थ--हाथ, पाँव, आदि शरीर में जीव ही क्रिया को उपजाता है, यथार्थ बात तो यह है कि हम हाथ को उठाते हैं यहां हाथ मे ओत पोत घुस रहे आत्मा या आत्मा के प्रदेशों को ही हम उठा रहे है, आत्मा के उठ जाने पर उससे चिपट रहा हाथ भी उठ जाता है। बैलगाड़ी का ऊपरला भाग बैलों द्वारा खींचाजाता है, उससे चिपट रहे पहिये भी घिसटते जाते हैं गाड़ी पर बैठेहुए मनुष्य भी लदे जारहे हैं, आत्मा शरीर की हड्डियो मे उलझरहे मांस, रक्त,

(खून) चर्म आदि धातु उपधातु, और मलो मे भी क्रिया उपजाती है। जहां तक पूंछ पहुँच जाती है, वहा पर तो घोडा पूंछ से ही डास को उडा देता है, हा इसके अतिरिक्त शरीर प्रदेश पर कभी मच्छर के बैठ जानेपर घोड़े की सक्रिय आत्मा वही चर्म मे कंप क्रिया पैदा कर मक्खी को उडा देता है। स्वयं क्रिया-रहित पदार्थ दूसरो मे क्रिया उपजाने का प्रेरक निमित्त नही होसकता है। अपने अपने शरीर बराबर परिमाण को धार रहे जीव के हलन, चलन, आदि क्रियाओ का होना प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।

प्रकृतेषु पंचसु द्रव्येष्वाकाशांतानां त्रयाणां निष्क्रियत्ववचने सामर्थ्याज्जीवपुद्गलौ सक्रियौ सूत्रितौ वेदितव्यौ।

प्रकरण प्राप्त पाच द्रव्यो मे आकाश पर्यन्त तीन द्रव्यो के निष्क्रियपन का कथन करन पर उमास्वामी महाराज ने विना कहे ही सामर्थ्य से जीव और पुद्गल के क्रिया--सहितपन का सूचन कर दिया है, यह समझ लेना चाहिये। गम्यमान पदार्थ को पुन कण्ठोक्त शब्दो द्वारा कहना व्यर्थ है, अत्यन्त संक्षिप्त शब्दो द्वारा बहुत प्रमेय को कह देने वाले सूत्रकार महाराज का तो यह लक्ष्य रहना ही चाहिये।

ननु पुद्गलाः क्रियावत्तयोपलभ्यमानाः क्रियावंत इति युक्तं, जीवस्तु न सक्रियस्तस्य तथानुपलभ्यमानत्वादिति न चोद्यं, तस्य निष्क्रियत्वे शरीरे क्रियाहेतुत्वविरोधात्। ततः क्रियावानात्मान्यत्र द्रव्ये क्रियाहेतुत्वात् पुद्गलद्रव्यवदित्यनुमानाज्जीवस्य क्रियावत्तोपलम्भात्र तस्य सक्रियत्वमयुक्तं।

यहा किसी का प्रश्न है कि क्रियासहितपन करके देखे जा रहे गाडी, वायु, बादल, समुद्रजल, आदि पुद्गल क्रियावान है, यो जैनो का कहना युक्ति-पूर्ण है किन्तु जीव क्रियावान् है, यह कहना तो उचित नही क्योकि उस जीव की तिस प्रकार क्रिया-सहितपने करके उपलब्धि नही हो रही है। आत्मा सर्व व्यापक है, एक देश से दूसरे देश मे नही जा सकता है। ग्रन्थकार कहते है, कि यह कुचोद्य उठाना ठीक नहीं है, कारण कि उस आत्मा को क्रिया रहित मानने पर शरीर मे क्रिया करने के हेतु होरहेपन का विरोध होजायगा। स्वयं दरिद्र मनुष्य दूसरे को धन देकर धनी नही बनासकता है। स्पर्शरहित आकाश दूध या पानी को उष्ण नही कर सकता है। तिस कारण से सिद्ध होजाता है कि आत्मा (पक्ष) क्रियावान् है (साध्य), अन्य पुद्गलद्रव्य मे क्रिया का हेतु होने से (हेतु), पुद्गल द्रव्य के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्—जैसे क्रियावान् हो पुद्गल दूसरे पुद्गल मे क्रिया को उपजा सकता है, क्रियावान् ऐंजिन गाड़ी के डब्बो मे क्रिया कर देता है, इस प्रकार अनुमान से जीव के क्रिया--सहित--पन का उपलम्भ होजाने के कारण उस जीव को क्रिया--सहितपना अभीष्ट करना अयुक्त नही है।

कालेन व्यभिचाराक्न हेतुर्गमको वेति चेन्न, कालस्य क्रियाहेतुत्वाभावात्। क्रियानिर्वर्तकत्वं क्रियाहेतुत्वमिह साधनं न पुनः क्रियानिमित्तमात्रत्व तस्य कालादौ सद्भावाभा-

वाम्न व्यभिचारः। कालो हि क्रियापरिणामिनां स्वयं निमित्तमात्रं स्थविरगतौ यष्ठिवत्, न पुनः क्रियानिर्वर्तकः पर्णादौ पवनवत्।

यदि यहां कोई यो दूषण उठावे कि काल तो सम्पूर्ण गति आदि परिणतियों का कारण होरहा निष्क्रिय माना गया है अत काल करके व्यभिचार होजाने से जैनों का अन्यत्र द्रव्ये क्रिया-हेतुत्व नामका हेतु अपने सक्रियत्व साध्य का ज्ञापक नही है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योकि काल को क्रिया का प्रेरकहेतुपना नही है क्रिया का प्रेरक होकर सम्पादन करा देना यहाँ " क्रियाहेतुत्व,, साधन का अर्थ है किन्तु फिर क्रिया का केवल उदासीन निमित्तकारणपना क्रिया-हेतुत्व नही है, अत. क्रियाके उस प्रेरक निमित्तपन हेतु का काल आदि में सद्भाव नही है इस कारण व्यभिचार दोष नही होता है।

यो समझिये कि काल तो स्वयं स्वकीय अभ्यन्तर बहिरग कारण या नियत उपादान कारणो अनुसार क्रिया स्वरूप परिणत होरहे पदार्थों का केवल उदासीन निमित्त है। जैसे कि अति वृद्ध पुरुष को गमन करने मे लठिया थोडा सहारा मात्र देती है, या चाक को घुमाने मे नीचे की पतली कीली साधारण सहायक है। बैठे हुये बुड्ढे को लठिया बलात्कार से नही चला देती है। दण्ड करके कुम्हार के घुमाये विना विचारी स्थिर कील चाक को नही घुमा देती है, इसी प्रकार काल क्रिया का उदासीननिमित्त है। जैसे तिनका आदि मे वायु प्रेरक निमित्त होरहा है उस प्रकार काल क्रिया का स्वातन्त्र्यवृत्ति से सम्पादक नही है। यद्यपि जीवो के साथ बध रहा पुण्य, पाप, भी स्वय गतिरहित होकर अन्य इष्ट, अनिष्ट, वस्तुओं की गति करने मे सहायक होजाता है तथापि अप्राप्यकारी वह निमित्त कारण भले ही रहो किन्तु प्रेरक निमित्त नही है।

तारो मे बह रहा बिजली का प्रवाह जैसे पखा, ट्राम गाडी, आदि की गतियो का निर्वर्तक बनानेवाला है वैसा अदृष्ट नही है, इसी प्रकार चुम्बक पाषाण, भले ही लोहे का आकर्षण कर उसको चिपटा लेवे किन्तु वहाँ वहाँ गमन किये विना स्वतंत्रता-पूर्वक लोहे को ठेडा, तिरछा, ऊंचा, नीचा, नही चला सकता है, बौइलर से निकल रही भाप स्वयं गतिमान् होती हुई ऐंजिन को चलाने मे प्रेरक कारण होजाती है। सत्य बात यह है कि मन्त्रशक्ति, ऋद्धि, अतिशय, अदृष्ट, तत्र आदि पदार्थ इस क्रिया के निमित्त कारण भले ही होजाय किन्तु प्रेरक कारण वे ही द्रव्य है जो स्वयं क्रियावान् है हम जैन क्रियारहित कारण से दूसरे मे क्रिया होजाने का निषेध नही करते है। आदिभूत क्रियारहित कारणो से ही पहिली क्रिया उपजेगी हाँ जो प्रकृष्ट प्रेरक होकर दूसरे पदार्थ मे क्रिया को करेगा वह स्वय क्रियावान् अवश्य होना चाहिये। प्रकृत मे जीव द्रव्य शरीर मे क्रिया का प्रेरक सम्पादक है अतः वह क्रियावान् अवश्य होना चाहिये जैसे कि पत्तो आदिक में क्रियाओ का सम्पादक वायु स्वयं क्रियावान् है। धीवर पालकी में वैद्य जी को लिये जा रहे हैं यहाँ वैद्य जी में क्रिया पालकी द्वारा होरही है, पालकी में क्रिया को धीवर कर रहे है धीवरों के शरीर मे क्रियाओं को उनकी आत्मायें

कर रही हैं। उत्साह, इच्छा, वेग, पुरुषार्थ, शक्ति इन करके छाती में क्रिया होरही धीवरों की टांगों को ढकेलती जाती है अथवा कौर लीला जाता है यानी गटक लिया जाता है, यहाँ भी क्रियावान् ही आत्मा अपने हाथ, जबडा, गलकाक आदि शरीर के अवयवों में क्रिया का सम्पादक है, भले ही आत्मा की क्रिया स्वय निष्क्रिय होरहे इच्छा, प्रयत्न, उत्साह आदि से होजाय। अत विचारशील विद्वानो को यहाँ ग्रन्थकार के "अन्यत्र द्रव्ये क्रियाहेतुत्वात्, इस हेतु का अन्तस्तल मे अवगाह कर विचार कर लेना चाहिये।

प्रयत्नादिगुणस्तद्वान्न हेतुरिति चेन्न वै।
गुणोस्ति तद्वतो भिन्नः सर्वथेति निवेदितम्।॥ ३ ॥

वैशेषिक कहते है कि आत्मा मे, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और भावना नामक संस्कार ये चौदह गुण है तिन मे से प्रयत्न आदि तीन गुण ही शरीर मे क्रिया करने के हेतु है उन गुणोवाला आत्मा तो शरीर मे क्रिया करने का हेतु नही है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो कथमपि नही कहना क्योकि उस गुणो वाले आत्मा से सर्वथा भिन्न होरहा कोई गुण नही है, पूर्व प्रकरणों में हम इस बातका निर्णय कर चुके हैं। अर्थात्-गुणी से गुण भिन्न नही है, जब आत्मा के गुण शरीर मे क्रिया के सम्पादक है तो उनसे अभिन्न होरहा आत्मा भी क्रिया का हेतु बन बैठा।

नात्मा शरीरादौ क्रियाहेतुर्निगुणस्यापि मुक्तस्य तद्धेतुत्वप्रसंगात् ततोऽसिद्धो हेतुः प्रयत्नो धर्मोऽधर्मश्चात्मनो गुणो हि तन्वामन्यत्र वा द्रव्ये क्रियाहेतुरिति परेषामाशयो न युक्तः, प्रयत्नस्य गुणत्वासिद्धेः, वीर्यान्तरायक्षयोपशमादिकारणापादितो ह्यात्मप्रदेशपरिस्पंदः प्रयत्नो नः क्रियैवेति स्याद्वादिभिर्निवेदनात्. तथा धर्माधर्मयोरपि पुद्गलपरिणामत्वसमर्थना-न्नात्मगुणत्वं।

इस कारिका का विवरण यो है वैशेषिको का यह अभिप्राय है कि शरीर आदि मे क्रिया का कारण आत्मा नही है किन्तु गुण है यदि शरीर मे क्रिया का कारण आत्मा को माना जायगा तो गुणो से रहित मुक्त आत्मा को भी उस क्रिया के हेतुपन का प्रसग होजावेगा, तिस कारण जैनो का हेतु स्वरूपासिद्ध है "आत्मा क्रियावान् अन्यत्र द्रव्ये क्रियाहेतुत्वात्" यह हेतु पक्ष मे नही वर्तता है। हाँ प्रयत्न, धर्म, और अधर्म ये आत्मा के तीन गुण ही शरीर मे अथवा अन्य वस्त्र, भूषण, ठेला, सूक्ष्म शरीर आदि द्रव्यो मे क्रिया के हेतु है। इस प्रकार दूसरे वैशेषिको का यह आशय है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह उनका अभिप्राय समुचित नही है क्योंकि प्रयत्न को गुणपना असिद्ध है, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम, इच्छा, आदि कारणो करके सम्पादित किया गया आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द

होजाना ही प्रयत्न है वही हमारे यहाँ प्रयत्न आत्मा की क्रिया मानी गयी है, इस प्रकार स्याद्वादी विद्वानों करके निवेदन कर दिया गया है। अर्थात्- आत्मा का प्रयत्न ही आत्मा की क्रिया है जो कि आत्मा की पर्याय आत्मस्वरूप ही है यदि कोई धनिक घोडागाडी मे बैठा (लदा) जा रहा है या कोई रोगी डोली मे बैठा जा रहा है यद्यपि परनिमित्त से उस धनिक या रोगी की आत्माओ मे क्रिया होरही है किन्तु यह उनका प्रयत्न नही है, अतएव प्रयत्न-स्वरूप क्रिया मे युक्त होरहे आत्मा को शरीर अथवा अन्य द्रव्यो मे क्रिया का हेतुपना कहा गया है तथा दूसरे तीसरे कारण माने गये धर्म, अधर्म, भी पुद्गल द्रव्य के पर्याय है, इस बात का हम प्रथम अध्याय मे समर्थन कर चुके है, अत ये धर्म अधर्म आत्मा के गुण नही है, ऐसी दशा मे वैशेषिको का आक्षेप सफल नही होसका।

समप्यसौ प्रयत्नादिरात्मगुणः सर्वथात्मनो भिन्नो न प्रमाणसिद्धोस्तीति निवेदनात् कथंचित्तदभिन्नस्तु स तत्र क्रियाहेतुरित्यात्मैव तद्धेतुरुक्तः स्यात्। तथा च कथमसिद्धो हेतुः ?

"अस्तुतोष न्याय" मे उन प्रयत्न आदि को आत्मा का गुण भी मान लिया जाय तो भी वे प्रयत्न धर्म, और अधर्म ये आत्मा मे सर्वथा भिन्न होरहे तो प्रमाणो मे सिद्ध नही है, आत्मा मे कथंचित् अभिन्न हो रहे ही प्रयत्न या भावपुण्य, एव भावपाप होसकते है, इसका हम निवेदन कर चुके है। उस आत्मा से कथंचित् अभिन्न होरहे प्रयत्न आदिक उन शरीर या अन्य द्रव्य मे क्रिया के कारण हैं, यों कहने पर तो वह आत्मा ही उस क्रिया का कारण है, यों कह दिया गया समझा जाता है। अभेद पक्ष के अनुसार एक की बात दूसरे कथञ्चित् अभिन्न में भी लागू होजाती है। और तिस प्रकार आत्मा को शरीर आदि की क्रिया का कारणपना सध जाने पर हम जैनो का " द्रव्ये क्रियाहेतुत्व " यह हेतु भला असिद्ध हेत्वाभास कैसे होसकता है ? अर्थात्-नही।

क्रियाहेतुगुणत्वाद्वा लोष्ठवत्सक्रियः पुमान्।
धर्मद्रव्येण चेदस्य व्यभिचारः परश्रुतौ ॥ ४ ॥
न तस्य प्रेरणाहेतुगुणयोगित्वहानितः।
निमित्तमात्रहेतुत्वात्स्वयं गतिविवर्तिनाम् ॥ ५ ॥

अथवा आत्मा को क्रिया-सहित सिद्ध करने का दूसरा अनुमान यों समझिये कि आत्मा (पक्ष) सक्रिय है (साध्य) क्रिया के हेतु होरहे गुणों को धारने वाला होने से (हेतु) डेल के समान (अन्वय दृष्टान्त)। यदि यहा कोई वैशेषिक पण्डित दूसरे विद्वान् जैनो के शास्त्रों की सम्मति अनुसार धर्मद्रव्य करके इस हेतु का व्यभिचार उठावे कि जीव, पुद्गलों की गति का कारण धर्म द्रव्य है या गति के हेतु होरहे " गति-हेतुत्व " नामक गुण को धारने वाला धर्म द्रव्य है किन्तु वह सक्रिय नहीं

माना गया हैं, अभी इसी सूत्र में धर्म द्रव्य को क्रियारहित साधा जा रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह दोष उठाना ठीक नही क्योंकि उस धर्म द्रव्य को क्रिया की प्रेरणा करनेवाला हेतुभूत गुण के योगीपन की हानि है। अर्थात्-क्रिया का प्रेरक कारण धर्म द्रव्य नही है, हा स्वयं गति-स्वरूप परिणमन कर रहे जीव पुद्‌गलो की गति--क्रिया का केवल सामान्य रूप से निमित्त कारण धर्म द्रव्य है, हेतु के शरीर में प्रेरकपना घुसा हुआ है, अत. व्यभिचार दोष नही आता है।

क्रियाहेतुगुणत्वस्य हेतोः क्रियावत्त्वे साध्ये गगनेनानेकांत इत्ययुक्तं, तस्य क्रियाहेतुगुणायोगात्। वायुसंयोगः क्रियाहेतुरिति चेन्न, तस्य क्रियावति तृणादौ क्रियाहेतुत्वेन दर्शनात्। निष्क्रिये व्योमादौ तथात्वेनाप्रतीतेः। न च य एव तृणादौ वायुसंयोगः स एवाकाशेस्ति, प्रतिसंयोगि-सयोगस्य भेदात् वायुसंयोगसामान्यं तु न क्वचिदपि क्रियाकारणं, मंदतमवेगवायुसंयोगे सत्यपि पादपादौ क्रियानुपलब्धेः।

वैशेषिक अन व्यभिचार दोष उठाने के लिये पुन अपनी घर-मानी प्रक्रिया अनुसार चेष्टा करते है कि क्रिया के हेतुभूत गुण से सहितपन हेतु का क्रियासहितपन साध्य करनेपर आकाश करके व्यभिचार होजायगा। आचार्य कहते हैं कि यह कहना अयुक्त है क्योकि उस आकाश के क्रियाके हेतुभूत होरहे गुण का योग नही है। यदि वैशेषिक यो कहै कि आकाश और वायुका, संयोग नामका गुण क्रिया का हेतु होरहा आकाश मे विद्यमान है जैसे तृणवायुसंयोग तृण मे क्रिया को कर देता है। सयोग दो आदि द्रव्यो मे ठहरता है, चल रही वायु मे जो ही संयोग है वही सयोग वहां के आकाश मे विद्यमान है। आचार्य कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि वह वायु सयोग तो क्रियावान् मानेगये तिनके, पत्ता, शाखा, आदि मे क्रिया करने के हेतुपने करके देखा गया है, क्रियारहित आकाश आदि मे तिस प्रकार क्रिया के हेतुपने करके उस वायुसयोग की प्रतीति नही होती है।

दूसरी बात यह है कि जो ही वायु--संयोग तृण आदि मे क्रिया का हेतु है वही वायु-संयोग तो आकाशमें नहीं है, कारण कि प्रत्येक संयोगी द्रव्य की अपेक्षा संयोग भिन्न भिन्न है, घट और पट का संयोग होजाने पर घट का सयोग गुण न्यारा है और पट का संयोग न्यारा है, दो द्रव्यों का एक गुण साझे का नही होसकता है, अलीक है। हां सामान्य होने से दो गुणों को एक गुण भले ही व्यवहार में कह दिया जाय, वैशेषिकों ने भी दो, तीन, आदि पदार्थों मे प्रत्येक मे न्यारी न्यारी द्वित्व, त्रित्व, संख्या का समवाय सम्बन्ध से वर्तना स्वीकार किया है। पर्वत मे अग्नि संयोगसम्बन्ध से रहती है, यहां प्रतियोगिता सम्बन्ध से अग्नि में संयोग रहता है और अनुयोगिता सम्बन्ध से पर्वत में संयोग रहता माना गया है, वस्तुतः ये संयोग दो होने चाहिये, अतः दो संयोगियो की अपेक्षा वायु संयोग उन में न्यारा न्यारा है।

हां सामान्य रूप से मात्र वायुसयोग तो किसी भी द्रव्य मे क्रिया का कारण नही माना गया है, देखिये अतीव मन्द वेगवाले वायु का संयोग होने पर भी कदाचित् वृक्ष आदि में क्रिया नही देखी जाती है अर्थात्—जीवनोपयोगी वायु सदा बहती ही रहती है कभी अर्द्धरात्रि के समय या वर्षा की आदि मे अथवा अन्य अवसरो पर भी सर्वथा मन्द वायु चलती है, तब वृक्ष, दीपक, आदि पदार्थों में भी क्रिया देखने में नही आती है, पुष्ट भीत या दृढ थम्भो को तो तीव्र वेग वाले वायु का संयोग भी हिला, डुला, नही सकता है, अतः आकाश करके "क्रिया-हेतु गुणत्व" हेतु का व्यभिचार दोष नही आता है।

स्यान्मतं, न क्रियावानात्मा सर्वगतत्वादाकाशवदित्यनुमानबाधितः क्रियावान् पुरुष इति पक्षः, कालात्ययापदिष्टश्च हेतुरिति। तदसत्, पुरुषस्य सर्वगतत्वासिद्धेः। सर्वगतः पुरुषो द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वाद्गगनवदिति चेन्न, परेषां कालद्रव्येण व्यभिचारात् साधनस्य। कालस्य पक्षीकरणाददोष इति चेन्न, पक्षस्यानुमानागमबाधानुषङ्गात्।

वैशेषिकों का यो मन्तव्य भी होय कि आत्मा (पक्ष) क्रियावान् नही है (साध्य) सर्वत्र व्यापक होने से (हेतु) आकाश के समान (दृष्टान्त)। इस अनुमान से तुम जैनो का "आत्मा क्रियावान् है" यह पक्ष बाधित होजाता है और "क्रियाहेतु-गुणत्वहेतु" कालात्ययापदिष्ट (बाधित हेत्वाभास) होजाता है। आचार्य कहते है कि यह उनका कहना असत्य है प्रशंसनीय नही है क्योकि पुरुष के सर्वव्यापकपन की सिद्धि नही होसकी है अर्थात् सभी आत्माये अपने अपने गृहीतशरीर बराबर मध्यम परिमाणवाले हैं। मुक्त आत्मायें चरम शरीर से किंचित् न्यून लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, को धार रही हैं केवल लोकपूरण अवस्थामे आत्मा तीन लोकमे व्याप जाती है। यदि वैशेषिक आत्मा को व्यापक सिद्ध करने के लिये यो अनुमान उठावें कि आत्मा (पक्ष) सर्वत्र फैल रहा व्यापक है (साध्य) द्रव्य होते हुये अमूर्त होने से (हेतु) आकाश के समान (दृष्टान्त)।

यहां रूप आदि गुणो या क्रिया, सामान्य, आदि मे व्यभिचार की निवृत्ति के लिये द्रव्यपन विशेषण देना और पृथिवी आदि में व्यभिचार के निवारणार्थ अमूर्त्तत्व कहना सार्थक है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह अनुमान तो ठीक नही। क्योंकि दूसरे विद्वान् जैनो के यहाँ स्वीकार किये गये काल द्रव्य करके तुम्हारे हेतुका व्यभिचार दोष आता है। भावार्थ--वादी, प्रतिवादी, दोनोंको हेतु अभीष्ट होना चाहिये अन्यथा वह साध्य कोटि में धर दिया जाता है। सवारी का घोडा वह होना चाहिये जो स्वयं चलता हुआ असवार को भी अभीष्ट स्थान पर ले पहुँचे किन्तु जो घोडी का निर्बल बच्चा (बछेडा) स्वयं सिर पर धरना पड़े वह गमक (ले जाने वाला वाहन) नही होसकता है। देखो काल बेचारा द्रव्य है और अमूर्त भी है किन्तु सर्वगत नही है। यदि वैशेषिक यो कहै कि काल को भी हम पक्ष कोटि में कर लेंगे, वह भी व्यापक द्रव्य है, अतः कोई दोष नही आता है। आचार्य कहते हैं

कि यह ढंग तो ठीक नही। व्यभिचार स्थल को पक्षकोटि मे डालने का विचार रखना अच्छा नही है, काल को सर्वगत मानने पर तुम्हारे पक्ष की अनुमानप्रमाण और आगमप्रमाण से बाधा आजाने का प्रसंग आता है।

तथाहि—कालोऽसर्वगतो नानाद्रव्यत्वात्-पुद्गलवदि यनुमानं पक्षस्य बाधकं। न चात्रासिद्धो हेतुः तस्य नानाद्रव्यत्वेन स्याद्वादिनां सिद्धत्वात्। नानाद्रव्यं कालः प्रत्याकाशप्रदेश युगपद्व्यवहारकालभेदान्यथानुपपत्तेः। प्रत्याकाशप्रदेशं भिन्नो व्यवहारकालः सकृत्कुरुक्षेत्राकाशलंकाकाशदेशयोर्दिवसादिभेदान्यथानुपपत्तेः। तत्र दिवसादिभेदः पुनः क्रियाविशेषभेदात् नैमित्तिकानां लौकिकानां च सुप्रसिद्ध एव। स च व्यवहारकालभेदो गौणः परैरभ्युपगम्यमानो मुख्यकालद्रव्यमंतरेण नोपपद्यते। यथा मुख्यसत्त्वमंतरेण क्वचिदुपचरित सत्त्वमिति। प्रतिलोकाकाशप्रदेशं कालद्रव्यभेदसिद्धिस्तत्साधनस्यानवद्यत्वात् अन्यथानुपपन्नत्वसिद्धेः।

इसी बात को स्पष्ट कह कर यो दिखलाया जाता है कि काल द्रव्य (पक्ष) अव्यापक है (साध्य) अनेक द्रव्य होने से (हेतु) पुद्गल के समान (दृष्टान्त)। यह निर्दोष अनुमान तुम्हारे पक्ष का बाधक है, इस अनुमान मे पडा हुआ हेतु असिद्ध नही है क्योंकि उस काल की नाना द्रव्यपने करके स्याद्वादियों के यहा सिद्ध कर दिया है। और भी लीजिये कि काल (पक्ष) अनेक द्रव्य है (साध्य) आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक ही समय मे भिन्न भिन्न व्यवहार कालो की अन्यथा यानी कालको नाना द्रव्य माने विना, सिद्धि नही होपाती है। इस अनुमान का हेतु भी असिद्ध नही है, देखिये व्यवहार काल (पक्ष) प्रत्येक आकाश के प्रदेशो पर भिन्न भिन्न वर्त रहा है (साध्य) क्योंकि एक ही समय उत्तर प्रान्तवर्त्ती कुरुक्षेत्र सम्बन्धी आकाश और दक्षिण प्रान्तवर्त्ती लका सम्बन्धी आकाश प्रदेशो मे दिवस आदिका भेद अन्यथा यानी भिन्न भिन्न व्यवहार कालको माने विना नही बन पाता है।

यह भी हेतु असिद्ध नही है क्योंकि उन कुरुक्षेत्र, लका आदि देशों मे फिर दिवस आदि का भेद तो क्रियाविशेषो के भेद से होरहा निमित्तशास्त्रज्ञाता, ज्योतिषी पण्डित और लौकिक पुरुषो के यहाँ बहुत अच्छा प्रसिद्ध ही है अर्थात्—सूर्यके उदय और अस्त की अपेक्षा लंका और कुरुक्षेत्र का स्वल्प अन्तर पड जाता है। शीत और उष्णता में भी अन्तर है, आम्र आदि फलो का आगे पीछे पकना इत्यादि क्रियाये भी विशेषताओ को लिये हुये है। यो क्रियाविशेषो के अनुसार दिवस आदि भेद और न्यारे न्यारे स्थलो पर दिवस आदि भेदो करके उन व्यवहार कालो का भेद तथा व्यवहार कालों के भेद से काल को नाना द्रव्यपन साध दिया जाता है।

भिन्न, भिन्न, व्यवहार काल तो वैशेषिक, मीमांसक, आदि सबको मानने पडते हैं और वह दूसरे विद्वानों करके गौण होकर स्वीकार कर लिया भिन्न भिन्न व्यवहार काल तो मुख्य काल-द्रव्यके

बिना नही बन सकता है। जैसे कि वैशेषिकों के यहां पर द्रव्य, गुण, कर्म मे मुख्य सत्ताको माने बिना कही सामान्य, विशेष, आदि मे उपचरित (गौण) सत्ता नही बन पाती है इस कारण लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर भिन्न भिन्न काल द्रव्य की सिद्धि होजाती है क्योंकि अन्यथानुपपत्ति की सिद्धि होजाने से काल के उस नाना द्रव्यपन को साधने वाला हेतु निर्दोष है। नाना द्रव्यपनसे पुनः काल का अव्यापकपना सध जाता है। अत आत्मा को व्यापकपना साधने मे दिया गया वैशेषिको का " द्रव्य होते हुये अमूर्तपना " हेतु काल द्रव्य करके व्यभिचारी है। स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष से भी आत्मा का अपने अपने शरीर--परिमाण वाले का ही अनुभव होरहा है।

कालस्यासर्वगतत्वेऽनिष्टानुषंगपरिजिहीर्षया प्राह ।

काल को अव्यापक द्रव्य मानने पर अनिष्ट का प्रसग होजायगा, यो वैशेषिको के अभिप्राय के परिहार करने की इच्छा करके ग्रन्थकार अगली वार्तिक को सुन्दर कह रहे है।

कालोऽसर्वगतत्वेन क्रियावान्नानुषज्यते ।
सर्वदा जगदेकैकदेशस्थत्वात् पृथक् पृथक् ॥ ६ ॥

कणाद मत-अनुयायी कहते है, कि काल को यदि असर्वगत द्रव्य माना जायगा तब तो इस हेतु करके परमाणु, मन, डेल, गोली आदि के समान काल को भी क्रियावान् बनने का प्रसंग आ जावेगा किन्तु हम और जैनभी कालको क्रिया-रहित मानते है आचार्य कहते है कि यह प्रसंग नही आपाता है क्योंकि सदा लोक के एक एक प्रदेश पर पृथक् पृथक् होकर कालाणु स्थित होरहे है। बात यह है कि कालाणुओ के अतिरिक्त सुमेरु पर्वत, ध्रुवतारा, मनुष्य लोक से बाहर के सूर्य चन्द्र विमान, अन्य भी बिले, भवन, कुल–पर्वत, आदिक अव्यापक पदार्थ जहां के तहां नियत होरहे स्थित हैं, हलन, चलन, नही करते है। उसी प्रकार असख्यात कालाणुये भी अनादि काल मे अनन्त काल तक अपने अपने नियत स्थानो पर अडिग होकर व्यवस्थित है, उन मे क्रिया होने का अन्तरंग कारण सर्वथा नही है। कोई वेगयुक्त पदार्थ कालाणुओ मे आघात भी करे तो वह अमूर्त कालाणुओं मे से अव्याघात होकर परली ओर निकल जायगा, जैसे मे कि स्वच्छ काच चलाया, फिराया, गया फैल रही धूप को हिला, डुला, नही सकता है, धूप वहा की वहां ही रहती है, कांच से उसका व्याघात या देशान्तर कर देना नही हो पाता है।

क्रियावान् कालोऽसर्वगतद्रव्यत्वात् पुद्गलवदित्यनिष्टानुषजनमयुक्तं, सर्वदा लोकाकाशैकैकप्रदेशस्थत्वेन पृथक्-पृथक् कालाणूनां प्रसाधनात् । ते हि प्रत्याकाशप्रदेशं प्रतिनियतस्वभावस्थितयोऽभ्युपगन्तव्याः परीक्षकैरन्यथा व्यवहारकालभेदप्रतिनियतस्वभावस्थित्यनुपपत्तेः कदाचित्तत्परावृत्तिप्रसंगात् ।

वैशेषिक अनिष्ट प्रसंग को उठा रहे है कि काल द्रव्य (पक्ष) क्रियावान् हो जाना चाहिये (साध्य) अव्यापक द्रव्य होने से (हेतु) पुद्गल के समान (दृष्टांत)। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह हम तुम दोनों को अनिष्ट हो रहे काल के क्रिया-सहित पन का प्रसग उठाना अनुचित है क्योकि सदा लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर स्थित हो रहेपन करके पृथक्-पृथक् कालाणु द्रव्यो की अच्छी सिद्धि कर दी गयी है। वे कालाणुये आकाश के प्रदेश पर अपने प्रतिनियत स्वभावो करके स्थित हो रही परीक्षक विद्वानो करके अवश्य स्वीकार करनी पड़ती हैं, अन्यथा यानी--प्रत्येक प्रदेश पर प्रत्येक कालाणु के नहीं मानने पर तो प्रतिनियत स्वभावो को लिये हुये व्यवहार काल के भेदो की स्थिति नही बन पाती है। यो तो कभी कभी उन व्यवहार काल के विशेषो की परावृत्ति हो जाने का प्रसंग हो जायगा किन्तु परावृत्ति (रद्दोबदल) होती नही है, अतः कालाणुओंको क्रिया-रहित और प्रत्येक प्रदेश पर नियत मान लेना उचित है।

अणुपरिमाणानि च तानि कालद्रव्याणि स्कंधाकारत्वेन कार्यानुमितिप्रतीयमानस्य कार्यस्य प्रत्याकाशप्रदेशं सकृद्द्रव्यव्यवहारकालभेदलक्षणस्याणुनापि कालद्रव्येण कर्तुं शक्यत्वात्। एतेन सर्वगतः काल इति पक्षस्यागमबाधोपदर्शिता। कथं? "लोयायासपएसे एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का। रयणाणं रासी इव ते कालाणू मुणेयव्वा" इत्यागमस्याबाधितस्य सिद्धेः। अत एव द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादिति हेतुः कालात्ययापदिष्टः कालोऽसर्वगत एव व्यवतिष्ठते। तथा चात्मनः परममहत्त्वे साध्येऽस्यैव हेतोः कालेन व्यभिचारः सिद्ध्यतीति नातस्तत्सिद्धिर्येन क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणत्वाल्लोष्ठवदित्यनुमानमनवद्यं न भवेत्। पक्षस्यानुमानबाधनानवतारा द्धेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्वाभावादिति सूक्तमाकाशान्तानां निष्क्रियत्वं तद्वचनेन सामर्थ्याज्जीवपुद्गलानां सक्रियत्वप्रतिपादनं च कालस्य वक्ष्यमाणस्य निष्क्रियत्वात्।

वे काल द्रव्य अणु परिमाण वाले है क्योकि स्कन्ध आकारपने करके कार्य अनुमिति द्वारा प्रतीत किया जा रहा जो प्रत्येक आकाश के प्रदेश पर युगपत् व्यवहार काल के अनेक भेद-स्वरूप कार्य है वह अणु-स्वरूप भी काल द्रव्य करके किया जा सकता है। इस कार्यके लिये व्यापक काल या लम्बे चौड़े काल द्रव्य की आवश्यकता नही है।

इस उक्त कथन करके वैशेषिको के काल सर्वगत है, इस पक्ष की आगमप्रमाणसे आ रही बाधा दिखलाई जा चुकी है। अनुमान प्रमाण से तो वैशेषिकों के पक्ष की बाधा हो ही चुकी।

आगम प्रमाण से बाधा किस प्रकार आती है? उसको यों सुनो। प्राचीन किसी सिद्धान्त ग्रन्थ की गाथा है श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने भी द्रव्य-संग्रह ग्रन्थ में उल्लेख किया है "लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक होकर जो रत्नो की राशि के समान स्थित हो रही हैं वे कालाणुये समझ लेनी चाहिये। इस अबाधित हो रहे आगम की सिद्धि है।

यों काल को भी पक्ष कोटि मे डालकर व्यापक सिद्ध कर रहे वैशेषिको के पक्ष की अनुमान से वाधा दिखला दी जा चुकी थी, अब आगम से भी उस पक्ष को वाधा को प्रसिद्ध कर दिया है।

इसी कारण से काल को पक्ष कोटि से डालकर "द्रव्य होते हुये अमूर्तपन" यह हेतु वाधित हेत्वाभास हो जाता है क्योंकि काल द्रव्य अव्यापक ही व्यवस्थित हो रहा है और तैसा होनेपर आत्मा को परम महापरिणाम वाला (सर्वव्यापक) साध्य करनेपर इस 'द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्व' हेतु का काल द्रव्य करके व्यभिचार सिद्ध हो जाता है, इस कारण इस द्रव्यत्वे सति अमूर्तत्वहेतु से आत्मा के उस सर्वगत-पने की सिद्धि नही हो पाती है जिससे कि हम स्याद्वादियो का "आत्मा क्रियावान है क्रियाके हेतु-भूत गुणो का धारने वाला होने से डेल के समान" यह अनुमान निर्दोष नही होता।

अर्थात्— जैनियों का अनुमान निर्दोष है क्योकि हमारे पक्ष के ऊपर अनुमान प्रमाणो द्वारा वाधाओ का अवतार नही है और इसी ही कारण हमारा हेतु कालात्ययापदिष्ट नहीं है। अतः सूत्रकार ने यह बहुत अच्छा कहा था कि आकाश पर्यन्त द्रव्यो के क्रिया-रहितपन है तथा उस कथन करके परिशेष न्याय द्वारा विना कहे ही अन्य उक्त शब्दो की सामर्थ्य से जीव और पुद्गल द्रव्यो का क्रियासहितपना समझा दिया गया है और भविष्य ग्रन्थ मे कहे जानेवाले काल द्रव्य को क्रिया-रहित पना भी निर्णीत कर दिया है जो कि सूत्रकार के अभिप्राय के अनुसार यह छटवा वार्त्तिक और उसका विवरण काल के निष्क्रियपन का प्रतिपादन कर रहा है।

नन्वेवं निःक्रियत्वेपि धर्मादीनां व्यवस्थिते।
न स्युः स्वयमभिप्रेता जन्मस्थानव्ययक्रियाः ॥७॥
तथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति लक्षणं।
तत्र न स्यात्ततो नैषां द्रव्यत्वं वस्तुतापि च ॥ ८ ॥
इत्यपास्तं परिस्पंदक्रियायाः प्रतिषेधनात्।
उत्पादादिक्रियासिद्धेरन्यथा सत्त्वहानितः ॥ ९ ॥
परिस्पंदक्रियामूला नचोत्पादादयः क्रियाः।
सर्वत्र गुणभेदानामुत्पादादिविरोधतः ॥ १० ॥
स्वपरप्रत्ययौ जन्मव्ययौ यदि गुणादिषु।
स्थितिश्च किं न धर्मादिद्रव्येष्वेवमुपेयते ॥ ११ ॥

अब यहां किन्ही दूसरे ही विद्वानो का प्रश्न है कि इस प्रकार प्रमाणो द्वारा धर्म आदि द्रव्यो के क्रिया- रहितपन की भी व्यवस्था होचुकने पर फिर स्वयं जैनो को अभीष्ट हो रही उत्पत्ति, स्थिति, और व्यय स्वरूप क्रियायें उनमें नही हो सकेंगी और ऐसी दशा मे सूत्रकार द्वारा किया गया तिस प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यो से युक्त पदार्थ सत् है, यह द्रव्य का लक्षण उन धर्म आदिको मे घटित नहीं होसकेगा. तिस कारण इन धर्म आदिको का द्रव्यपना और वस्तुपना भी नही बन पाता है, अर्थात्—धर्म आदिको मे जब कोई क्रिया नही पायी जाती है तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप क्रियाओं के भी अभाव हो जाने पर धर्म आदिक न तो द्रव्य और न वस्तु सध सकेंगे, खर-विषाण के समान असत् हो जायंगे।

आचार्य कहते हैं कि यह शंकाकार का कहना यो निराकृत होजाता है, कि सूत्रकार ने " निष्क्रियाणि च " इस सूत्र द्वारा हलन, चलन, कम्प आदि परिस्पन्द--स्वरूप क्रिया का धर्म आदिक द्रव्यो में प्रतिषेध किया है, शुद्ध धात्वर्थ--स्वरूप या अपरिस्पन्द--आत्मक उत्पाद आदि क्रियाये तो उनमे सिद्ध है, अन्यथा धर्म आदिको के सत्पने की ही हानि होजायगी। उत्पाद, व्यय, आदिक क्रियायें परिस्पन्द--स्वरूप क्रिया को मूल कारण मान कर नही होती है। यदि हलन, चलन, आदि क्रिया की भित्ति पर उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य माने जायंगे तो गुणो के रूप पीत आदि भेद प्रभेदो के उत्पाद आदि होनेका विरोध हो जायगा। भावार्थ—वैशेषिकों ने द्रव्यो मे ही उत्क्षेपण आदि परि- स्पन्द स्वरूप क्रियाये मानी है। " गुणादिर्निर्गुणक्रियः " गुणो मे क्रियाये नही रहती है, ऐसी दशा मे क्रिया--रहित गुणो में तुम्हारे विचार अनुसार उपजना, नशना, ठहरना, बढना, घटना, आदि क्रियायें नही हो सकेंगी।

यदि आप गुण आदिको मे स्व और पर को कारण मान कर होरहे उत्पाद, व्यय और स्थिति को मानेंगे तो इसी प्रकार धर्म आदि द्रव्यो मे उत्पाद, व्यय, स्थितियो को क्यों नही स्वीकार करलिया जाता है। भावार्थ—परिस्पन्द क्रिया के विना जैसे गुण आदिको मे अनेक अपरिस्पन्द-आत्मक क्रियाये होरही है, ज्ञान उपजता है, घटता है, बढता है, सुख ठहर रहा है, भावना दृढ होरही है आदि उसी प्रकार परिस्पन्द के विना भी धर्म आदि द्रव्यो मे उत्पाद आदि क्रियाये सध जाती है। शुद्ध पर- मात्मायें, आकाशद्रव्य, कालाणुयें, धर्म, अधर्म, इन द्रव्यो मे हलन, चलन, आदि के विना अनेक अप- रिस्पन्द क्रियाये होरही है, षट्स्थान-पतित हानि वृद्धियो के अनुसार अन्तरंग, वहिरंग कारण-वश अनेक उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते रहते हैं। अतः इनमें वस्तुपना, द्रव्यपना, वाल वाल रक्षित होरहा अक्षुण्ण है।

गतिस्थित्यवगाहानां परत्र न निबंधनं।
धर्मादीनि क्रियाशून्यस्वभावत्वात्खपुष्पवत्॥ १२ ॥

क्रियावत्त्वप्रसंगो वा तेषां वायुधरांबुवत् ।
इत्यचोद्यं बलाधानमात्रत्वाद्गमनादिषु ॥ १३ ॥
धर्मादीनां स्वशक्त्यैव गत्यादिपरिणामिना ।
यथेन्द्रियं बलाधानमात्रं विषयसंनिधौ ॥ १४ ॥

किसी विद्वान् का आचार्यों के ऊपर आक्षेप है, कि धर्म आदिक तीन द्रव्य (पक्ष) दूसरे द्रव्यों में गति स्थिति, और अवगाह के कारण नही होसकते है, (साध्य) क्रियारहितपना स्वभाव होने से (हेतु) आकाश के फूल समान (दृष्टान्त) । यदि धर्म, अधर्म और आकाश को यथाक्रम से गति, स्थिति, और अवगाह देना इनका कारण माना जायगा तो वायु, पर्वत, और जल के समान उन धर्म आदिको के क्रिया--सहितपन का प्रसग होजावेगा अर्थात्—वायु क्रियासहित हो रही ही तृण आदिको की गति का निबन्ध है, पर्वत क्रिया करने की सामर्थ्य को धार रहा ही पक्षी, पशु, आदि की स्थिति का अवलम्ब होरहा है । जल भी स्वय क्रियावान् होरहा मछली, डेल, आदि के अवगाह का हेतु होरहा है । इसी प्रकार धर्म आदिक भी क्रियावान् होजायंगे ।

ग्रन्थकार कहते है कि यह चोद्य उठाना ठीक नही है । क्योंकि अपनी शक्ति करके गति आदि स्वरूप परिणत होरहे पदार्थों के गमन, स्थिति, आदि मे धर्म आदि द्रव्यो को केवल बलाधायकपना है, जिस प्रकार कि रूप रस, आदि विषयो के सन्निधान होने पर चक्षु आदि इन्द्रिया चाक्षुषप्रत्यक्ष आदि की उत्पत्ति मे आत्माके केवल बल का आधान कर देती है । भावार्थ—जैसे कि आत्मा को ज्ञान करने मे इन्द्रिया थोडा सहारा लगा देती हैं, उसी प्रकार गति, स्थिति, अवगाह क्रियाओ मे धर्म आदिक तीन द्रव्य स्वल्प सहारा लगाने वाले उदासीन कारण है, समर्थ कारण तो गति-परिणत या स्थिति--परिणत अथवा अवगाह--परिणत पदार्थ ही हैं । अतः धर्म आदिको के परिस्पन्द क्रिया से सहितपन का प्रसग नही आपाता है ।

पुंसः स्वयं समर्थस्य तत्र सिद्धेर्न चान्यथा ।
तथैव द्रव्यसामर्थ्यान्निष्क्रियाणामपि स्वयं ॥ १५ ॥
धर्मादीनां परत्रास्तु क्रियाकारणमात्रता ।
नचैवमात्मनः कालक्रियाहेतुत्वमापतेत्॥१६॥
सर्वथा निष्क्रियस्या पि स्वयं मानविरोधतः ।

आत्माहि प्रेरको हेतुरिष्टः कायादिकर्मणि ॥
तृणादिकर्मणीवास्तु पवनादिश्च सक्रियः ॥१७॥ (षट्पदी)

विशेष शक्तिशाली कारणो की अपेक्षा विचार किया जाय तो उन चाक्षुष-प्रत्यक्ष आदि ज्ञानो मे स्वयं समर्थ हो रहे आत्मा की ही सिद्धि है, अन्य प्रकारो से ज्ञान नही उपजता है। यानी-आत्मा के बिना मृत शरीर मे वत रही इन्द्रिया ज्ञानो को नही उपजा सकती है।

तिस ही प्रकार द्रव्य की सामर्थ्य से स्वयं क्रिया--रहित हो रहे भी धर्म आदिको को दूसरे जीव आदिको की गति आदि मे क्रिया का केवल सामान्य कारणपना रहो।

यदि यहा कोई वैशेषिक अवसर पाकर यो बोल उठे कि इस प्रकार तो क्रिया--रहित ही आत्मा को भी शरीर मे क्रिया का हेतुपना आ पड़ेगा (प्राप्त हो जावेगा) अर्थात् क्रिया--रहित धर्म आदिक जैसे दूसरे पदार्थो मे क्रियाओ को कर देते है, उसी प्रकार क्रिया-रहित जीव भी शरीरमे क्रिया को उपजा देगा, फिर 'शरीरे क्रिया-हेतुत्व' हेतु आप जैनो ने आत्मा मे क्रिया-सहितपन को क्यो साधा था ? आचार्य कहते हैं कि यह नही समझ बैठना क्योकि सर्वथा भी स्वय क्रियाओ से रहित हो रहे आत्मा को मानने पर प्रमाणो से विरोध आता है जब कि शरीर आदि की क्रिया करने मे आत्मा प्रेरक कारण इष्ट किया गया है जैसे कि तृण पत्ता आदि की क्रियाओ मे वायु, जल, बिजली आदिक प्रेरक कारण माने गये है, दूसरा मे क्रियाओ के प्रेरक कारण पवन आदिक क्रिया--सहित ही है तो उसी प्रकार आत्मा भी क्रिया--सहित होना चाहिये तभी शरीर आदि मे क्रिया करने का वह प्रेरक-हेतु हो सकता है।

वीर्यांतरायविज्ञानावरणच्छेदभेदतः।
सक्रियस्यैव जीवस्य ततोंगे कर्महेतुता ॥१८॥

तिस कारण से सिद्ध हुआ कि वीर्यान्तराय कर्म और ज्ञानावरण कर्म के (का) विशेष क्षयोपशम हो जाने से क्रियासहित हो रहे ही जीव को शरीर में क्रिया का हेतुपना प्राप्त होता है।

हस्ते कर्मात्मसंयोगप्रयत्नाभ्यामुपेयते।
येस्तेपि च प्रतिक्षिप्तास्तयोस्तच्छक्त्ययोगतः ॥१९॥
निष्क्रियो हि यथात्मैषां क्रियावद्भिः सदृश्यतः।
कालादिवत्तथैवात्मसंयोगः सप्रयत्नकः ॥२०॥

गुणः स्यात्तस्य तद्वच्च निष्क्रियत्वाविशेषतः ।
गुणाःकर्माणि चैतेन व्याख्यातानीति सूचनात् ।।२१।।
नतावदात्मसंयोगः केवलःकर्मकारणं ।
नुःप्रयत्नस्य हस्तादौ क्रियाहेतुत्वहानितः ।।२२।।
नैकस्य तत्प्रयत्नस्य क्रियाहेतुत्वमीक्ष्यते ।
शरीरायोगिनोन्यस्य ततः कर्मप्रसंगतः ।।२३।।

आत्मा के हो रहे संयोग से और प्रयन्न से हाथ मे कर्म (क्रिया) उपज जाती है, यह सिद्धान्त जिन वैशेषिको करके स्वीकार किया गया है वे कणाद मतानुयायी भी उक्त कथन करके प्रतिक्षेप को प्राप्त कर दिये गये हैं क्योकि उन आत्मा के संयोग और आत्मा के प्रयत्न मे हाथ में उस क्रिया को करने की शक्ति का योग नही है अर्थात् कणाद ऋषि प्रणीत वैशेषिक दर्शन के पाचवे अध्याय का पहिला सूत्र है "आत्मसयोगप्रयत्नाभ्या हस्ते कर्म" आत्मा के सयोग और आत्माके प्रयत्न से हाथ मे क्रिया उपज जाती है, क्रिया का समवायी कारण हाथ है, प्रयत्न वाले आत्मा का सयोग असमवायी कारण है और प्रयत्न निमित्त कारण है। वैशेषिको ने पाचवे अध्याय के अगले सूत्रो मे भी कर्म पदार्थ की परीक्षा की है। हम ग्रन्थकार को यह कहना है कि साधर्म्य, वैधर्म्य अनुसार प्रमेय निरूपण करने वाले इन वैशेषिको के यहा क्रियावान् पदार्थो के साथ विसदृशपना होने से जिस प्रकार निष्क्रिय हो रहा आत्मा बेचारा काल आदि के समान क्रियाओ का सम्पादक नही है उसी प्रकार प्रयत्न का साथी हो रहा आत्माका सयोग नामक गुण भी क्रिया का कारण नही है क्योकि उस आत्म-सयोग या प्रयत्न को उन काल आदिक के समान क्रियारहितपन का कोई अन्तर नही है "दिक्कालावाकाशञ्च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि" चकारादात्मसंग्रहः। इसके लगे हाथ ही वैशेषिकों के इस प्रकार सूत्र करने से कि इस क्रियावान् के साथ विधर्मापन करके गुण और कर्मों का भी निष्क्रियपने करके व्याख्यान किया जा जा चुका है, केवल आत्मसंयोग तो कर्म का कारण नही हो सकता है।

अर्थात—वैशेषिक दर्शन मे पाचवे अध्याय के दूसरे आन्हिक का बाईसवा सूत्र "एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः" है, इस सूत्र के अनुसार कोई भी गुण भला क्रिया का कारण या अधिकरण नही हो सकता है ऐसी दशा मे केवल आत्म-संयोग भी तो उत्क्षेपण आदि कर्म का कारण नही बन पाता है, आत्मा के प्रयत्न को भी हाथ आदि क्रिया के हेतुपन की हानि है क्योंकि उस आत्मा के अकेले प्रयत्न को क्रिया का हेतुपना नही देखा जाता है, कोरा प्रयत्न यदि क्रिया का कारण होता तो शरीर का सम्बन्ध नहीं रखने वाले अन्य प्रदेशवर्त्ती व्यापक आत्मा के उस प्रयत्न से भी क्रिया होने का प्रसंग आवेगा।

अर्थात्—आत्मा को व्यापक मानने वाले वैशेषिकों के यहां शरीर से अतिरिक्त थम्भ या भीत में भी आत्मा विद्यमान है आत्मा का प्रयत्न गुणभी वहां आत्मा मे समवेत हो रहा है किन्तु भीत में क्रिया नहीं देखी जाती है जो गुण बेचारे स्वयं क्रिया रहित हैं वे अन्य द्रव्यो मे क्रिया के प्रेरक-कारण नही हो सकते हैं व्यापक द्रव्यका गुण किसी एक देशवर्ती स्वकीय शरीर नामक उपाधिमे ही क्रिया का प्रेरक कारण नही बन सकता है या तो सम्पूर्ण स्वसंयोगी पदार्थों में क्रिया को उपजावे अथवा कही भी क्रिया को नही उपजावे ।

बात यह है कि वैशेषिको के यहा स्वीकृत व्यापक आत्मा या उसके सयोग और प्रयत्न गुण भला हाथ आदि में क्रिया की उत्पत्ति नही करा सकते हैं ।

सहितावात्मसंयोगप्रयत्नौ कुरुतः क्रियाः ।
हस्तादावित्यसंभाव्यमन्धयोः सहदृष्टिवत् ॥ २४ ॥

यदि वैशेषिक यों कहै कि आत्मा का अकेला संयोग या प्रयत्न गुण तो हाथ मे क्रिया को नही उपजा सकते है, हाँ आत्मा के संयोग और प्रयत्न दोनो सहित होते हुये हाथ, पाव, आदि मे क्रियाओ को कर देते है । आचार्य कहते है कि यह असम्भव है । जैसे कि दो अन्धे पुरुष साथ होकर भी दर्शन को नही कर पाते हैं अर्थात्-अकेला अकेला अन्धा भी देख नही सकता है और दो अन्धे मिल कर भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष नही कर पाते हैं, इसी प्रकार मिलकर आत्मसंयोग और आत्मप्रयत्न भी हाथ मे क्रियाओ को नही उपजा सकते है ।

अदृष्टापेक्षिणौ तौ चेदकुर्वाणौ क्रियां नरि ।
हस्तादौ कुरुतः कर्म नैवं क्वचिददृष्टितः ॥ २५ ॥

यदि वैशेषिक पुन यों कहै कि अदृष्ट यानी विशेष पुण्य, पाप की अपेक्षा को कर रहे वे संयोग और प्रयत्न भले ही आत्मा मे क्रिया को नही कर रहे हैं किन्तु हाथ, शिर आदि में क्रिया को कर देते है । ग्रन्थकार कहते है कि यह कथन ठीक नही है । क्योंकि इस प्रकार कही भी नहीं देखा गया है, बिना देखी हुयी बात को केवल तुम्हारी प्रतिज्ञा-मात्र से स्वीकार करने की हमें टेव नही है ।

उष्णापेक्षो यथा वन्हिसंयोगः कलशादिषु ।
रूपादीन् पाकजान् सूते न वन्हौ स्वाश्रये तथा ॥ २६ ॥
नृसंयोगादिरन्यत्र क्रियामारभते न तु ।
स्वाधारे नरि तस्येत्थं सामर्थ्यादिति चेन्न वै ॥ २७ ॥

वैषम्यादस्मदिष्टस्य सिद्धेः साध्यसमत्वनः ।
प्रतीतिबाधनाच्चैतद्विपरीतप्रसिद्धितः ॥ २८ ॥
साध्ये क्रियानिमित्तत्वे दृष्टांतो ह्यक्रियाश्रयः ।
स्यादेव विषमस्तावदग्निसंयोग उष्णभृत् ॥ २९ ॥

पुन अपि वैशेषिक बोलते हैं कि उष्णता की अपेक्षा रखता हुआ अग्नि का संयोग जिस प्रकार घट आदिकों मे पाक से जायमान रूप, रस, आदिकों को उपजा देता है किन्तु वह वन्हि-सयोग अपने आधार भूत अग्नि में रूप आदिको को नवीन नही उपजाता है, उसी प्रकार आत्म-संयोग आदि गुण भी अन्य हाथ, पाव, आदि मे क्रिया को बना देते हैं परन्तु अपने आधार होरहे आत्मा मे क्रिया को नही उपजा पाते है क्योंकि उन आत्म--सयोग, प्रयत्न, आदि की इसी प्रकार सामर्थ्य है, कार्यकारणभाव के नियतपन मे आप जैन भी व्यर्थ झगडा नही उठावेंगे। आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योकि निश्चय से आपका दृष्टान्त विषम पडता है उसमे तो हमारे ही इष्ट की सिद्धि होजाती है। वैशेषिको के ऊपर साध्य-सम दोष भी लगता है और प्रतीतियो से बाधा आती है तथा वैशेषिको के इस अभीष्ट मन्तव्य से विपरीत होरहे सिद्धान्त की अच्छी सिद्धि होजाती है। देखिये प्रकरण में क्रिया का निमित्तपना साध्य किया जा रहा है उस अवसर पर क्रिया का आश्रय नही ऐसा अग्निसंयोग दृष्टान्त दिया जा रहा है, अतः उष्णता के साथीपन को धार रहा यह अग्नि-सयोग विषम दृष्टान्त है। विषमदृष्टान्त इष्ट साध्य को नही साध पाता।

यथा च स्वाश्रये कुर्वन् विकारं कलशादिषु।
करोति वन्हिसंयोगः पुंसो योगस्तथा तनौ ॥ ३० ॥
इत्यस्मदिष्टसंसिद्धिः क्रियापरिणतस्य नुः
काये क्रियानिमित्तत्वसिद्धेः संयोगिनि स्फुटं ॥ ३१ ॥

दूसरी बात यह है कि अग्नि-संयोग जिस प्रकार अपने आश्रय होरहे अग्नि में विकार को कर रहा सन्ता ही घट, ईट, रन्ध-रहे भात आदि में विकार को कर देता है, उसी प्रकार आत्मा का सयोग भी आत्मा में क्रिया को करता सन्ता ही शरीर में क्रिया को कर देवेगा, इस प्रकार क्रिया-परिणत आत्मा के संयोगी शरीर में क्रिया के निमित्तपन की सिद्धि होजाने से हम जैनों के इष्ट साध्य की भली सिद्धि होजाती है। आत्मा का क्रियासहितपना मन्दबुद्धि बाल गोपालो तक में स्पष्ट रूप से परिज्ञात होरहा है। भावार्थ—अवा या भट्टा में लग रही आग का संयोग घट या ईंट में कठिनता,

रक्ति या पक्वता को उपजा देता है, साथ में अग्नि के भी अनेक विकार कर देता है। अग्नि पर मोटी रोटी को सेकने से अग्नि की दशा को निहारिये वह निबल, निस्तेज, होजाती है किन्तु वैशेषिक अग्नि में विकार होने को स्वीकार नही करते है, अत साध्यसम दोष लागू होता है यहाँ तक ग्रन्थकार वैशेषिकों के ऊपर विषमता, अस्मदिष्ट-सिद्धि और साध्यसमता का आपादन कर चुके है, अब चौथी प्रतीतिबाधा को उठा रहे है ।

संयोगोर्थान्तरं वन्हेः कुपदेश्च तदाश्रितः ।
समवायात्ततो भिन्नप्रतीत्या बाध्यते न किं ॥ ३२ ॥
घटादिष्वामरूपादीन् विनाशयति स स्वयं ।
पाकजान् जनयत्येतत्प्रतिपद्येत कः सुधीः ॥ ३३ ॥

उस अग्नि या घट आदि के आश्रित होरहा अग्नि या घट आदि का सयोग तो समवाय-सम्बन्ध होजाने के कारण भला उन आधारो से भिन्न माना गया है तब तो कथंचित् अभिन्न होने की प्रतीति करके वह सर्वथा भिन्न संयोग क्यो नहीं बाधित हो जावेगा ? थोडा इस बात को विचारो कि वह अग्निसंयोग स्वय घट, ईंट आदि मे कच्चे, रूप, रस, आदिको को विनाश देता है और पाक से जायमान पक्के रूप,रस, आदिको उत्पन्न कर देता है कौन बुद्धिमान् ऐसी अयुक्त बात की प्रतिपत्ति कर लेवेगा ? अर्थात्-कोई नही । अग्नि के कार्य को बेचारा निर्गुण, निष्क्रिय अग्नि-सयोग नही कर सकता है ।

न चैषा पाकजोत्पत्तिप्रक्रिया व्यवतिष्ठते ।
वन्हेः पाकजरूपादिपरिणामाः कुटादिषु ॥ ३४ ॥
स्वहेतुभेदतः सर्वः परिणामः प्रतीयते ।
पूर्वाकारपरित्यागादुत्तराकारलब्धितः ॥ ३५ ॥
कुटेऽपाकजरूपादिपरित्यागेन जायते ।
वन्हेः पाकजरूपादिस्तथा दृष्टेरबाधनात् ॥ ३६ ॥
नौष्ण्यापेक्षस्ततो वन्हिसंयोगोऽत्र निदर्शनं ।
नुः क्रियाहेतुतासिद्धौ विपरीतप्रसिद्धितः ॥ ३७ ॥

वैशेषिकों के यहाँ मानी गयी यह पाकजपदार्थों की उत्पत्ति की प्रक्रिया व्यवस्थित नहीं हो पाती है। भावार्थ-परमाणु में ही पाक होने को मानने वाले पीलुपाक-वादी वैशेषिको के यहाँ तथा परमाणु और अवयवी दोनो मे पाक होने को कहने वाले पिठर-पाक--वादी नैयायिकों के यहाँ पाक-जन्य रूप आदिको के उपजने की यह प्रक्रिया है कि प्रथम अग्नि-संयोग से परमाणुओं में क्रिया उपजती है, क्रिया होजानेसे दूसरे परमाणु करके विभाग होजाता है, उस विभाग से द्वयणुक को बनाने वाले सयोग का नाश होजाता है, पश्चात्-द्वयणुको का नाश होजाता है, उसके पीछे परमाणु में श्याम आदिका नाश होजाता है, २--पुनः परमाणु मे रक्त आदि की उत्पत्ति होती है, ३-तत्पश्चात्-द्वयणुक द्रव्य को बनाने के अनुकूल लाल परमाणुओ मे क्रिया उपजती है, ४-पुनः विभाग होता है, ५ पश्चात्-परमाणुओ मे पहिले होरहे सयोग का नाश होता है, ६-पीछे द्वयणुको को आरम्भ करने वाला सयोग उपजता है, ७-उसके पीछे द्वयणुको की उत्पत्ति होती है, उसके पीछे द्वयणुकोमे रक्त आदि की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार और भी कई प्रक्रियाये हैं।

नैयायिको के यहा भी पाकज रूप, रस, गन्ध, स्पर्शों की उत्पत्ति करने मे न्यून--अधिक, वैसी प्रक्रिया इष्ट की गया है, ये अवयवी मे भी पाक को मानते हैं किन्तु यह सब प्रमाण-बाधित है अवे मे घड़ा या भट्टा में ईंट विचारी टूट फूट कर परमाणुस्वरूप टुकड़े टुकड़े नही होजाते हैं यदि कोई ईंट पिघल जाय या विखर जाय तो फिर वह वैसी ही छिन्न, भिन्न, होकर पक जाती है क्वचित् होने वाला कार्य सर्वत्र के लिये लागू नही होता है, अतः यह वैशेषिकों की प्रक्रिया व्यर्थ घोषणामात्र है। बात यह है कि अग्निसयोग से नही किन्तु वैशेषिको के मतानुसार मानी गयी अग्नि नामक द्रव्य से और जैन मतानुसार अग्नि नामक अशुद्ध द्रव्य या पर्याय से घट, ईंट, आदि में पाक-जन्य रूप, रस, आदिक परिणाम उपज जाते हैं। जगत् मे अपने अपने विशेष हेतुओ से सम्पूर्ण परिणाम होरहे प्रतीत किये जाते है। पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणः परिणामः, जैनसिद्धान्त मे पूर्वआकार का त्याग और उत्तर आकार का ग्रहण तथा ध्रौव्य अंशो करके स्थिति होने को परिणाम कहागया है, पूर्व--आकारो का परित्याग और उत्तर--वर्त्ती आकारो की प्राप्ति होजाने से घट मे पहिले के पाकजन्य नही ऐसे अपाकज रूप आदिका परित्याग करके पुनः अग्नि के द्वारा पाकज रूप आदिक उपज जाते है यों तिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से दीख जाने की कोई बाधा नही मानी है तिसकारण यहाँ उष्णता की अपेक्षा रखता हुआ अग्निसयोग नामक वैशेषिको का दृष्टान्त देना ठीक नही है क्योंकि इस दृष्टान्त की सामर्थ्य से आत्मा के क्रियाहेतुपन की सिद्धि होजाने पर वैशेषिको के मन्तव्य से विपरीत होरहे सिद्धान्त की प्रसिद्धि होजाती है, अतः वैशेषिकों के ऊपर प्रतीतिबाधा और विपरीतप्रसिद्धि का आपादन किया गया समझो।

अनुष्णाशीतरूपश्चाप्रेरकोनुपघातकः
कुटः प्राप्तः कथं रूपाद्युच्छेदोत्पादकारणं ॥ ३८ ॥

वैशेषिकों ने उष्णता की अपेक्षा रखते हुये अग्नि--संयोग को पाकज रूप आदिकों का कारण बताया है, उसमें हमारा यह कहना है जब कि अनुष्णाशीत स्पर्श वाला और काले रूप वाला पूर्ववर्ती कच्चा घड़ा तुम वैशेषिकों ने प्रेरक भी नही माना है और उपघातक भी नही माना है, ऐसी दशा मे वह घड़ा पूर्व--वर्त्ती रूप आदिको के उच्छेद का कारण और उत्तर-वर्त्ती पाकज रूप आदिकों के उत्पाद का कारण कैसे प्राप्त होसकता है ? अर्थात्--घट यदि प्रेरक होता तब तो नवीन रूप आदिको का उत्पाद कर देता और यदि उपघातक होता तो पूर्ववर्त्ती रूप आदिको का नाश कर देता किन्तु यह सब कार्य आपने वन्हिसंयोग के ऊपर रख छोड़ा है, ऐसी दशा मे समवायिकारण होरहे घट की गाँठका कोई बल रूप आदिको के उत्पाद या विनाश मे कार्यकारी नही हो पाता है।

गुरुत्वं निष्क्रियं लोष्ठे वर्तमानं तृणादिषु ।
क्रियाहेतुर्यथा तद्वत्प्रयत्नादिस्तथेक्षणात् ॥ ३९ ॥
ये त्वाहुस्तेपि विध्वस्ताः प्रत्येतव्या दिशानया ।
स्वाश्रये विक्रियाहेतौ ततोन्यत्र हि विक्रिया ॥ ४० ॥
द्रव्यस्यैव क्रियाहेतुपरिणामात्पुनः पुनः ।
क्रियाकारित्वमन्यत्रप्रतीत्या नैव बाध्यते ॥ ४१ ॥

" आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्या हस्ते कर्म " इस सिद्धान्त को पुष्ट कर रहे वैशेषिक पुन. कहते है कि जिस प्रकार डेल मे विद्यमान होरहा गुरुत्व नाम का गुण स्वयं क्रियारहित है किन्तु तृण, पत्ता, आदि में क्रिया को उपजाने का हेतु है उसी के समान प्रयत्न, संयोग, आदि निष्क्रिय भी है परन्तु आदि मे क्रिया के उत्पादक हो जायंगे क्योकि तिस प्रकार देखा जा रहा है, डेल के साथ बन्ध रहा हलका तिनका या पत्ता भी नीचे गिर जाता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो कोई वैशेषिक पण्डित कह रहे हैं वे भी तो इसी उक्त कथन के ढग करके निराकृत कर लिये गये समझ लेने चाहिये। अर्थात्--केवल भारीपन किसी भी क्रिया का सम्पादक नही है, गिर रहा क्रियासहित डेल ही तिनका आदि मे क्रिया को उपजाता है, विक्रिया के हेतु होरहे स्वकीय आश्रय में विक्रिया होते हुये ही उस विक्रियावान् द्रव्य से अन्य पदार्थों मे विशेष क्रिया होसकती है, अन्यथा नही। बात यह है कि द्रव्य की ही बड़ी देर तक पुनः पुनः क्रिया के हेतुपन करके परिणति होती रहती है तभी वह द्रव्य अन्य हाथ, शरीर, तिनका, आदि पदार्थों मे क्रिया को करा देता है, यह द्रव्य का क्रियाकारीपना प्रतीतियो करके बाधित नही होता है, अतः क्रियासहित आत्मा को ही शरीर आदि में क्रिया का हेतुपना है, यह निर्णीत समझो।

पुरुषस्तद्गुणो वापि न क्रियाकारणं तनौ ।
निष्क्रियत्वाद्यथा व्योमेत्युक्तिर्यात्मनि वाधकं ॥ ४२ ॥
नानैकांतिकता धर्मद्रव्येणास्य कथंचन ।
तस्या प्रेरकतासिद्धेः क्रियाया विग्रहादिषु ॥ ४३ ॥

सक्रिय जीव को क्रिया का हेतु मानने वाले जैनो के ऊपर कोई वाधा उठा रहे है कि आत्मा अथवा उसका प्रयत्न आदि गुण भी (पक्ष) शरीर मे क्रिया का कारण नही है (साध्य) क्रिया-रहित होने से (हेतु) जैसे कि आकाश (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते है कि इस प्रकार जो आत्मा मे क्रिया के कारणपन का वाधक कथन किया गया है वह हमारे सिद्धान्त का वाधक नही होसकता है क्योकि अनुमान मे पडे हुये इस निष्क्रियत्व हेतु का धर्म द्रव्य करके व्यभिचार है। देखिये उस धर्म द्रव्य को शरीर आदि मे क्रिया का किसी न किसी प्रकार उदासीनरूप से अप्रेरकहेतुपना सिद्ध है। दूसरी बात यह है कि निष्क्रियत्व हेतु भागासिद्ध भी है क्योकि पुरुष के क्रियासहितपना साधा जा चुका है, गुण को तुम भले ही निष्क्रिय मानते रहो।

एवं सक्रियतासिद्धावात्मनो निर्वृतावपि ।
सक्रियत्वं प्रसक्तं चेदिष्टमूर्ध्वगतित्वतः ॥ ४४
यादृशी सशरीरस्य क्रिया मुक्तस्य तादृशी ।
न युक्ता तस्य मुक्तत्वविरोधात् कर्मसंगतेः ॥ ४५ ॥
क्रियानेकप्रकारा हि पुद्गलानामिवात्मनां ।
स्वपरप्रत्ययायत्तभेदा न व्यतिकीर्यते ॥ ४६ ॥

वैशेषिक आक्षेप करते है कि इस प्रकार आत्मा का क्रियासहितपना सिद्ध होजाने पर तो मोक्ष मे भी आत्मा के क्रियासहितपन का प्रसग आवेगा। यो कहने पर तो हम जैनो को कहना पड़ता है कि यह प्रसग हमको अभीष्ट है, हम आत्मा का ऊर्ध्वगमन स्वभाव मानते हैं, आठ कर्मों का नाश तो मनुष्य लोक मे ही होजाता है पुनः ऊर्ध्वगमनस्वभाव करके मुक्त जीव सिद्धलोक मे विराज-मान होजाते है। हां इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि स्थूल, सूक्ष्म, शरीरो से सहित होरहे संसारी जीव की जिस प्रकार की क्रिया है वैसी मुक्त जीव की क्रिया मानना समुचित नही है, नही तो उसके मुक्तपन का विरोध होजावेगा अर्थात्--औदारिक, वैक्रियिक, शरीर-धारी जीव ऊपर, नीचे, तिरछे, चलते हैं, घूमते है, नाचते कूदते हैं, अथवा सूक्ष्मशरीर--धारी विग्रहगति के जीव भी ऋजुगति, पाणिमुक्ता, लांगलिका, गोमूत्रिका, गतियो जैसे जाते आते है, वैसे मुक्त जीव क्रिया को नही करते है।

कर्मों का क्षय होते ही उसी समय ऊर्ध्वगति स्वभाव करके सात राजु ऊंचा गमन करके सिद्धलोक में विराजमान होजाते है, भले ही सिद्धो मे ऊर्ध्वगतिस्वभाव सदा विद्यमान है किन्तु ऊपर धर्म द्रव्य का अभाव होनेसे सिद्ध भगवान् पुनः ऊपर अलोकाकाश में गमन नही कर पाते है। ज्ञानावरण आदि कर्मो के साथ संगति होजाने से पुद्गलो के समान संसारी आत्माओ की परिस्पन्द-स्वरूप क्रियायें अनेक प्रकार की हैं, स्व और पर कारणो के अधीन होकर अनेक भेदो को धार रहीं वे क्रियायें परस्पर मिश्रित नही होजाती है। भावार्थ--स्वकीय और परकीय कारणो के वश होरही वे क्रियायें न्यारी न्यारी है, घोड़े पर चढा हुआ अश्ववार स्वय और घोड़े को निमित्त पाकर नाना प्रकार की भिन्न भिन्न क्रियाओं को कर रहा है, वे क्रियाये अश्ववार से कथंचित् भिन्न अभिन्न स्वरूप है।

सान्यैव तद्वतो येषां तेषां तद्द्वयशून्यता।
क्रियाक्रियावतोर्भेदेनाप्रतीतेः कदाचन॥ ४७॥

वह क्रिया उस क्रियावान् से सर्वथा भिन्न ही है यह सिद्धान्त जिन वैशेषिको के यहाँ स्वीकार किया गया है उन वैशेषिक या नैयायिकों के यहाँ उन क्रिया और क्रियावान् दोनों का शून्यपना प्राप्त होता है क्योकि क्रिया और क्रियावान् की भिन्नपने करके कदाचित् भी प्रतीति नही होती है। अर्थात्-जैसे अग्नि को उष्णता से सर्वथा भिन्न मानने पर उष्णता के विना अग्नि की कोई सत्ता नही और आश्रय अग्नि के विना उष्णता भी ठहर नही पाती है, दोनो का अभाव होजाता है, उसी प्रकार क्रियावान् द्रव्य को क्रिया से भिन्न मानने पर क्रिया और क्रियावान् दोनो पदार्थ शून्य होजाते है। कोई क्रिया या क्रियावान् को न्यारा दिखा तो दे?।

क्रियाक्रियाश्रयौ भिन्नौ विभिन्नप्रत्ययत्वतः।
सह्यविंध्यवदित्येतद्भिदेकांतसाधनं॥ ४८॥
धर्मिग्राहिप्रमाणेन हेतोर्बाधनिर्णयात्।
कथंचिद्भिन्नयोस्तेन तयोर्ग्रहणतः स्फुटं॥ ४९॥

वैशेषिक अनुमान वनाते है कि क्रिया और क्रिया का आश्रय होरहा क्रियावान् द्रव्य (पक्ष) ये दोनो सर्वथा भिन्न है (साध्य)। विशेष रूप से 'भिन्न है' "भिन्न है" इस ज्ञान का विषय होनेसे (हेतु) सह्यपर्वत और विध्य पर्वत के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस प्रकार यह क्रिया और क्रियावान् के सर्वथा भेद को एकान्त से साधने वाला अनुमान है। आचार्य कहते हैं कि इस अनुमान में पडे हुये हेतु की धर्मी को ग्रहण करने वाले प्रमाण करके बाधा होजाने का निर्णय होरहा है क्योंकि पक्ष कोटि में पड़े हुये कथंचित् भिन्न होरहे ही उन क्रिया और क्रियावान् का उस धर्मी ग्राहक प्रमाण करके स्पष्ट रूप से ग्रहण होरहा है। क्रिया और क्रियावान न्यारे न्यारे किसी को नहीं दीख रहे हैं, क्रिया के नही उपजने पर भी अथवा क्रिया के नष्ट होजाने पर भी क्रियावान पदार्थ विद्यमान रह

सकता है, अतः क्रिया से क्रियावान को सर्वथा अभिन्न भी नहीं कह सकते है, अतः क्रिया और क्रियावान मे कथंचित् भेद स्वीकार करना ही बुद्धिमानो को सन्तोष कराने वाला है।

विभिन्नप्रत्ययत्वं च सर्वथा यदि गद्यते।
तत एव तदा तस्यासिद्धत्वं प्रतिवादिनः॥ ५० ॥
कथंचित्तु न तत्सिद्धं वादिनामित्यसाधनं।
विरुद्धं वा भवेदिष्टविपरीतप्रसाधनात्॥ ५१ ॥

वैशेषिको ने क्रिया और क्रियावान के सर्वथा भेद को साधने मे विभिन्नप्रत्ययपना हेतु दिया है, प्रत्यय शब्द का अर्थ ज्ञान पकडा जाय तो भिन्न भिन्न ज्ञान का गोचरपना अर्थ निकलता है और प्रत्यय का अर्थ कारण करने पर क्रिया और क्रियावान के कारण भिन्न भिन्न है, यह हेतु का अर्थ प्रतीत होता है, अस्तु—वैशेषिक चाहे किसी भी अर्थको अभिप्रेत करें हमे केवल इतना ही कहना है कि विभिन्न प्रत्ययपना क्रिया और क्रियावान् मे सर्वथा कहा जा रहा है तब तो तिस ही कारण से यानी कथंचित् विभिन्न प्रत्ययपना उन क्रिया, क्रियावानों मे ज्ञात होजाने से प्रतिवादी होरहे जैनो के यहा वह सर्वथा भिन्न प्रत्ययपना हेतु असिद्ध हेत्वाभास है अर्थात्—जैन सिद्धान्त अनुसार सर्वथा भिन्न प्रत्ययपना हेतु तो पक्षभूत क्रिया और क्रियावान् में नही ठहर पाता है, अत वैशेषिको का हेतु स्वरूपासिद्ध है। हा यदि कथंचित् भिन्न प्रत्ययपना हेतु कहा जाय तो प्रतिवादी जैनो को तो सिद्ध है किन्तु वादी होरहे वैशेषिको के यहा वह कथंचित् विभिन्न प्रत्ययपना हेतु सिद्ध नही है, इस कारण फिर भी वह हेतु समीचीन साधन नही बन सका। दूसरी बात यह है कि कथंचित् विभिन्नप्रत्ययपना हेतु क्रिया और क्रियावान् मे कथंचित् भेद को ही साधेगा, अत इष्ट होरहे सर्वथा भेद से विपरीत कथंचित् भेद का अच्छा साधन कर देने से वैशेषिको का कथंचित् भिन्न प्रत्ययपना हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होजायगा

साध्यसाधनवैकल्यं दृष्टांतस्यापि दृश्यताम्।
सत्त्वेनाभिन्नयोरेव प्रतीतेः सह्यविंध्ययोः॥ ५२ ॥

वैशेषिको के द्वारा प्रयुक्त किये गये सह्य और विंध्य पर्वत दृष्टान्तो के भी साध्यविकलता और साधनविकलता देखी जा रही है। सत्पने करके अभिन्न होरहे ही सह्य और विंध्य पर्वतो की बाल गोपालो तक को प्रतीति होती है। अर्थात्—सह्य पर्वत सद्भूत है और विंध्याचल भी सद्भूत है सत्पने करके या वस्तुत्व, पदार्थत्व रूप से सह्य और विंध्य अभिन्न है, यदि सत्पने करके भी सह्य और विंध्य को भिन्न मान लिया जायगा तो दोनों में से एक के आकाश-पुष्प समान असत्पने का प्रसंग आजावेगा, अतः दृष्टान्त मे वैशेषिकों का "सर्वथाभिन्नत्व" नामक साध्य नही रहा और सर्वथा भिन्नप्रत्ययपना हेतु भी नहीं ठहरा जिन स्कन्ध या परमाणुओ से सह्य या विंध्य पर्वत बनेहुये हैं। उनमें भी पुद्गलपने करके अभेद है, इस कारण साध्यविकल और साधनविकल दृष्टान्त होगया।

विरुद्धधर्मताध्यासादित्यादेरप्यहेतुता ।
प्रोक्तेतेन प्रपत्तव्या सर्वथाप्यविशेषतः ॥ ५३ ॥

यदि वैशेपिक दूसरे, तीसरे, आदि अनुमान यों उठावें कि क्रिया और क्रियावान् (पक्ष) सर्वथा भिन्न है (साध्य) विरुद्ध धर्मों से अधिरूढ होरहे होने से (हेतु) पुद्गल और आत्मा के समान (अन्वयदृष्टान्त) । अथवा क्रिया और क्रियावान् भिन्न है विभिन्न-कर्तृक होने से १ या विभिन्नकालवर्त्ती होने से २ अथवा भिन्न भिन्न कार्यो के सम्पादक होने से ३ (हेतु) । आचार्य कहते है कि इस ही से यानी-भिन्न प्रत्ययपन हेतु का विचार कर देने से विरुद्ध धर्माध्यास, भिन्नकर्तृकत्व, भिन्नकार्यकारित्व आदिक हेतुओ का भी अहेतुपना बढिया कह दिया गया, भली भांति समझ लेना चाहिये क्योकि उक्त हेतु से इन हेतुओ मे सभी प्रकारो से कोई विशेषता नही है । अर्थात्--विभिन्न प्रत्ययत्व हेतु पर जैसा विचार चलाया गया है उसी विचार अनुसार विरुद्धधर्माध्यास आदि हेतु भी असिद्ध, विरुद्ध,--हेत्वाभास है और उन अनुमानो के दृष्टान्त भी साध्यविकल और साधन-विकल होजाते है, यो विभिन्नप्रत्ययत्व हेतु से इन हेतुओ का कोई अन्तर नही है ।

क्रियाक्रियावतोनन्यानन्यदेशत्वतः क्रिया ।
तत्स्वरूपवदित्येके तदप्यज्ञानचेष्टितं ॥ ५४ ॥
लौकिकानन्यदेशत्वं हेतुश्चेद्व्यभिचारिता ।
वातातपादिभिस्तस्यानन्यदेशैर्विभेदिभिः ॥ ५५ ॥

वैशेषिको के पक्ष मे प्रतिकूल सर्वथा अभेद-वादी कोई एक विद्वान् कह रहे है कि क्रियावान् पदार्थ से क्रिया अभिन्न है (प्रतिज्ञा) दोनो का अभिन्न देश होने से (हेतु) क्रिया और उस क्रिया के स्वरूप समान (अन्वयदृष्टान्त) । आचार्य कहते है कि कापिलो का वह कहना भी अज्ञान पूर्वक चेष्टा करना है । यहां अभेद--वादियो से हम स्याद्वादी पूछते है कि अभिन्नदेशपना हेतु यदि लोक मे प्रसिद्ध होरहा अभिन्नदेश मे वृत्तिपना माना जायगा तब तो वायु और धूप या शर्वत मे घुल रहे बूरा और जल अथवा तिल और उसमे प्रविष्ट होरहे तैल आदि करके तुम्हारे उस हेतु को व्यभिचारि-हेत्वाभासपना प्राप्त होजायगा, देखो वे वात, आतप आदिक पूरे अभिन्न देश मे वर्त्त रहे है किन्तु वे वात, आतप आदिक परस्पर मे विशेष रूप से भिन्न है, अतः हेतु के रहजाने पर भी साध्य के नही ठहरने से व्यभिचार दोष हुआ ।

शास्त्रीयानन्यदेशत्वं मन्यते साधनं यदि ।
न सिद्धमन्यदेशत्वप्रतीतेरुभयोस्तयोः ॥ ५६ ॥

तद्देशा क्रिया तद्वान्स्वकीयाश्रयदेशकः ।
प्रतीयते यदानन्यदेशत्वं कथमेतयोः ॥ ५७ ॥

यदि अभेद-वादी पण्डित यो कहै कि शास्त्र युक्ति अनुसार सिद्ध होरहे अनन्यदेशपन को हम हेतु इष्ट करते है । वायु और धूप मे लौकिक देश की अपेक्षा भले ही अभिन्नदेशपना हो किन्तु शास्त्र-दृष्टि से वायु का देश न्यारा है और धूप का आश्रय होरहा देश न्यारा है, सम्पूर्ण अवयवी अपने अपने समवायिकारण होरहे अवयवो मे निवास करते है, बूरा अपने अवयवो मे है और जल अपने अवयवो मे आश्रित होरहा है, अत कोई व्यभिचार दोष नही आता है । आचार्य कहते हैं कि शास्त्रीय अभिन्न-देशपना यदि हेतु माना जा रहा है तब तो वह हेतु सिद्ध नही है अर्थात्-पक्ष मे नही वर्त्तने से अनन्यदेशत्व साधन असिद्ध हेत्वाभास है क्योकि उन दोनो क्रिया और क्रियावान् का भिन्न-देशवृत्तिपना प्रतीत होरहा है । देखिये क्रिया तो उस क्रियावाले देश (द्रव्य) के आश्रित होरही प्रतीत होती है और वह क्रियावान् पदार्थ तो अपने आश्रय-भूत पदार्थ मे वर्त रहा देखा जाता है । क्रिया दौडते हुये घोडे मे है और क्रियावान् घोडा तो समवाय सम्बन्ध से स्वकीय आधार होरहे अवयवो मे या संयोगसम्बन्ध से भूमि देश मे आश्रित होरहा है जब ऐसी दशा है तो भला इन क्रिया और क्रियावान् का भिन्न देश मे वृत्तिपना किस प्रकार बन सकता है ? अर्थात् -नही । ऐसी दशा मे तुम्हारा हेतु असिद्धहेत्वाभास है । 'अन्यौ देशौ ययो स्तावन्यदेशौ तयोर्भावः अन्य-देशत्व' यो बहुव्रीहि समास करना । व्याकरणशास्त्र मे बहुव्रीहि समास को अधिक स्थल मिलते है. " न कर्मधारयः स्यान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेदर्थप्रतिपत्तिकर " ।

सर्वथानन्यदेशत्वमसिद्धं प्रतिवादिनः ।
कथंचिद्वादिनस्तत्स्याद्विरुद्धं चेष्टहानिकृत् ॥ ५८ ॥
धर्मिग्राहिप्रमाणेन बाधा पक्षस्य पूर्ववत् ।
साधनस्य च विज्ञेया तैरेवातीतकालता ॥ ५९ ॥

क्रिया और क्रियावान् के अभेद को साधने वाले वादी ने अभिन्न-देशपना हेतु दिया था उस पर हमारा यह प्रश्न है कि सर्वथा अभिन्नदेशपना यदि हेतु है ? तब तो प्रतिवादी होरहे जैनो के प्रति यह हेतु असिद्ध है । जैन सिद्धान्त--अनुसार क्रिया और क्रियावान् का अधिकरणभूत देश सर्वथा अभिन्न नही है । लकड़ी को छील रहे तक्षक (बढई) की क्रिया का आधारभूत देश न्यारा है और क्रियावान् तक्षण का अधिकरण स्थान उससे भिन्न है । हाँ यदि कथंचित् अभिन्नदेशपना हेतु कहा जायगा तब तो वह वादी को विरुद्ध पड़ेगा कथंचित् अभिन्नदेशपना हेतु सर्वथा अभेद को नही साधता हुआ कथंचित् अभेद को साधेगा यो वह हेतु सर्वथा अभेद--वादी के इष्टसिद्धान्त की हानि को करने वाला हुआ । एक बात यह भी है कि धर्मी को ग्रहण करने वाले प्रमाण करके तुम्हारे पक्ष की बाधा उपस्थित होजाती है जैसे कि पूर्व मे क्रिया और क्रियावान का सर्वथा भेद मानने वाले को

बाधा उपस्थित हुई थी, जो प्रमाण पक्ष मे हुये क्रिया और क्रियावान् को ग्रहण करेगा वह उनको कथंचित् अभिन्न ही जानेगा तथा तुम्हारे सर्वथा अभिन्नदेशपन हेतु का उन वायु, धूप, आदि करके ही कालात्ययापदिष्टपना भी समझा जाता है अर्थात्--क्रिया और क्रियावान् प्रमाणो द्वारा सर्वथा अभिन्न नहीं प्रतीत होरहे हैं, अतः सर्वथा अनन्यदेशत्व हेतु बाधित हेत्वाभास है ।

निष्क्रियाः सर्वथा सर्वे भावाः स्युः चणिकत्वतः ।
पर्यायार्थतया लब्धिं प्रतिचणविवर्तवत् ॥ ६० ॥
इत्याहुर्ये न ते स्वस्थाः साधनस्याप्रसिद्धितः ।
न हि प्रत्यचतः सिद्धं चणिकत्वं निरन्वयं ॥ ६१ ॥
साधर्म्यस्य ततः सिद्धेर्बहिरन्तश्च वस्तुनः ।
इदानींतनता दृष्टिर्न चणचयिणः क्वचित् ॥ ६२ ॥
कालांतरस्थितेरेव तथात्वप्रतिपत्तिनः । (षट् पदी) ॥ ६३ ॥

यहाँ बौद्ध कह रहे है कि सम्पूर्ण पदार्थ (पक्ष) सब ही प्रकारो से क्रिया--रहित है (साध्य) क्षणिक होने से (हेतु) । पर्यायार्थ स्वरूप से आत्मा लाभ कर रहे प्रतिक्षण होने वाले परिणाम के समान (दृष्टान्त) । अर्थात्—बौद्ध लोग किसी भी पदार्थ मे क्रिया को नही मानते है, फेंका जा रहा डेल या दौडता हुआ घोडा उन उन प्रदेशो मे सर्वथा नवीन ढंग से उपजता जा रहा है, पूर्व समय मे जिन आकाश के प्रदेशो पर घोड़ा उपजा था, दूसरे समय मे उसका सर्वथा विनाश होकर अगले प्रदेशो पर नवीन घोडे का असत् उत्पाद हुआ है, यही ढंग कोसो तक के प्रदेशो पर सत् का विनाश और असत् का उत्पाद करते हुये मान लेना चाहिये । पर्याय-पदार्थ ही आत्मलाभ करता है, द्रव्य कोई वस्तु नहीं है, प्रतिक्षण मे होने वाली तद्देशीय पर्याय जैसे क्रियारहित है उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ क्रिया-रहित हैं । सिनेमा मे फिल्म के वही चित्र दौडते नही हैं केवल दूसरे दूसरे चित्र आते जाते हैं, और देखने वालो को उन्ही के दौडने, घूमने, नाचने का भ्रम होजाता है ।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो कह रहे हैं वे बौद्ध भी स्वस्थ नही है, रोगी पुरुष ही ऐसी अण्ट सण्ट अयुक्त बातो को कह सकता है, क्योकि उनके कहे हुये क्षणिकत्व हेतु की प्रमाणो से सिद्धि नहीं हुई है, देखिये निरन्वय क्षणिकपना प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध नही है बहिरंग घट, पर्वत, काष्ठ, सुवर्ण, आदि वस्तुओ के और अन्तरग आत्मा आदि वस्तुओं के सधर्मापन यानी अन्वयसहित-पन की उस प्रत्यक्ष से सिद्धि होरही है जो कोई पदार्थ एक ही क्षण तक स्थायी होकर क्षणिक होता तो इस ही काल मे वृत्तिपने करके उसका दर्शन होता किन्तु कही भी क्षणमात्र मे क्षय होजाने वाले पदार्थ का इस एक ही समय काल में वृत्तिपने करके दर्शन नही होता है । कालान्तर तक स्थिति की ही तिस प्रकारपने करके प्रतिपत्ति होरही है । बिजली, प्रदीप, बुद्बुदा, आदि पदार्थ भी अनेक क्षणों तक स्थित रहते हैं, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से अन्वय-रहित होरहे सर्वथा क्षणिकपन की प्रतीति नही होती है ।

नानुमानाच्च तत्सिद्धं तद्धेतोरनभीक्षणात् ।
सत्त्वोत्पत्यादिहेतुश्चेन्न तत्रागमकत्वतः ॥ ६४ ॥
विरुद्धादितया तस्य पुरस्तादुपवर्णनात् ।
प्रपंचेन पुनर्नेह तद्विचारः प्रतन्यते ॥ ६५ ॥

दूसरे अनुमानप्रमाण मे भी वह क्षणिकपना सिद्ध नही होता है, क्योकि उस क्षणिकपन को साधने वाला समीचीन हेतु नही देखा जा रहा है, यदि बौद्ध यों कहे कि हम क्षणिकत्व को साधने के लिये सत्त्वात् उत्पत्तिमत्त्वात्, कृतकत्वात्, यानी--सत्पना, उत्पत्तिसहितपना, कृतपना आदि आदि हेतु देंगे। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि उस क्षणिकपन को साधने में वे हेतु गमक अर्थात् साध्य के ज्ञापक नही है, विरुद्ध, वाधित, आदि हेत्वाभास रूप से उन हेतुओं का पहिले प्रकरणों में विस्तार से वर्णन किया जा चुका है यहाँ उनके विचार को पुनः नही फैलाया जाता है, अतः क्षणिकत्व हेतु से सम्पूर्ण पदार्थों मे सर्वथा निष्क्रियपना सिद्ध करना उचित नही है। जो कि " निष्क्रिया. सर्वथा सर्वे भावा स्युः क्षणिकत्वत. " बौद्धो करके कहा गया था।

कथंचिन्निष्क्रियत्वेन साध्ये स्यात्सिद्धसाधनं ।
तन्निश्चयनयादेशात्प्रसिद्धं सर्ववस्तुषु ॥ ६६ ॥
व्यवहारनयात्तेषां सक्रियत्वप्रसिद्धितः ।
भूतिर्येषां क्रिया सैवेत्ययुक्तं सान्वयत्वतः ॥ ६७ ॥

यदि सम्पूर्ण भावो को कथंचित् क्रियारहितपन करके साधा जायगा तब तो हम जैन तुम्हारे ऊपर सिद्धसाधन दोष उठा देवेंगे क्योकि निश्चयनय की अपेक्षा कथन करने से सम्पूर्ण वस्तुओ में वह क्रियारहितपना प्रसिद्ध ही है, अर्थात् निश्चयनय से सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने शुद्ध स्वरूप मे सदा तिष्ठते है। जाना, आना, घटना, बढ़ना, ठहरना, ठहराना, आदि क्रियाये उसमे नहीं होती है, व्यवहारनय से ही उन पदार्थों के क्रियासहितपन का प्रसिद्धि होरही है, निश्चयनय तो वस्तु के शुद्ध निर्विकल्प अंशो को ग्रहण करता है, जिन वादियो के यहाँ पदार्थों के भवन यानी नवीन उत्पत्ति को ही क्रिया माना गया है, वह सर्वथा असत् पदार्थों की उत्पत्ति स्वरूप क्रिया भी युक्त नही है क्योकि पदार्थों के अन्वयसहितपना विद्यमान है, पूर्वकालवर्त्ती पर्यायों में ओत-प्रोत होकर द्रव्य या गुणों का अन्वय प्रविष्ट होरहा है, सर्वथा असत् का उत्पाद होना अलीक है॥

नित्यत्वात्सर्वभावानां निष्क्रियत्वं तु सर्वथा ।
यैरुक्तं तेप्यनेनैव हेतुना दूषिता हताः ॥ ६८ ॥

सर्वथा तन्मतध्वंसात्प्रमाणाभावतः क्वचित् ।
कथंचिन्नित्यताहेतुर्यदि तस्य विरुद्धता ॥ ६९ ॥
कथंचिन्निष्क्रियत्वस्य साधनात् क्षणिकादिवत् ।
ततः स्युर्निष्क्रियाः सर्वे भावाः स्यात्सक्रियाः सह ॥ ७० ॥

हा तो जिन पण्डितो ने कूटस्थ नित्य होने के कारण सम्पूर्ण पदार्थों का सर्वथा क्रियारहित-पना बखान दिया है वे पण्डित भी इस हेतु करके दूषित कर दिये जा चुके हैं, इस ही कारण वे हर लिये गये हैं अर्थात्--आचार्यों ने क्षणिक-वादी बौद्धो के असत्-वाद का खण्डन करके जैसे पदार्थों के क्रियारहितपन को नही सधने दिया है, उसी प्रकार सर्वथा सत्-वाद का प्रत्याख्यान कर नित्यवादियों के यहाँ पदार्थों के निष्क्रियत्वकी सिद्धि नही हो पाती है । सभी प्रकारो से उन नित्य-वादियों के मत का खण्डन होजाता है, किसी भी घट, घोडा, गाडी, वाण, आदि पदार्थ मे सर्वथा नित्यत्व या निष्क्रियत्व को साधने वाला कोई प्रमाण नही है । हाँ कथंचित् नित्यत्व उनमे अवश्य पाया जाता है, अतः यदि कथंचित् नित्यपन को हेतु कहोगे तब तो वह हेतु विरुद्ध होजावेगा, जैसे कि क्षणिकत्व, कृतकत्व, आदिक हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होगये थे । क्योकि कथंचित् नित्यपना हेतु तो सर्वथा निष्क्रियपन के विपरीत कथंचित् निष्क्रियपन का साधन करेगा । तिस कारण अब तक सि हुआ कि सम्पूर्ण पदार्थ "स्यात् (कथंचित्) निष्क्रिय" है और साथ ही "स्यात्सक्रिय" है, यह स्याद्वाद सिद्धान्त श्रेयस्कर है ।

विरोधादिप्रसंगश्चेन्न दृष्टे तदयोगतः ।
चित्रैकज्ञानवत्स्वेष्टतत्त्ववद्वा प्रवादिनाम् ॥ ७१ ॥
स्वेष्टं तत्त्वमनिष्टात्मशून्यं सदिति ये विदुः ।
सदसद्रूपमेकं ते निराकुर्युः कथं पुनः ॥ ७२ ॥

पदार्थों को निष्क्रिय और साथ ही सक्रिय साधने मे विरोध, वैयधिकरण्य, संशय, उभय, संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति, अभाव, आदि दोषो का प्रसंग आवे, यह तो नही समझना क्योकि प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा अनेक धर्म-आत्मक देखे गये पदार्थ मे उन विरोध आदि दोषो का योग नही है, जैसे कि बौद्ध प्रवादियो के यहाँ नील, पीत, आदि अनेक आकार वाला एक चित्रज्ञान स्वीकार किया गया है, अथवा अन्य नैयायिक, मीमांसक, आदि प्रवादियों के यहाँ अपने अपने इष्ट तत्त्व जैसे स्वीकार किये जाते है । भावार्थ—श्लेष्म रोगी को दूध हानिप्रद है, और नीरोग पुरुष को दूध लाभप्रद है, साहूकार को दीपक इष्ट है, चोर को अनिष्ट है, चलतीहुई रेलगाड़ी मे बैठा हुआ मनुष्य चल भी रहा है, यो क्रियासहित होरहा भी क्रियारहित है । बौद्धों ने अनेक आकार वाले एक चित्र-ज्ञान को इष्ट किया है, उस ज्ञान में नानापन के साथ एकपना विद्यमान है वैशेषिक या नैयायिकों ने

भी सामान्य के विशेष होरहे द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, आदि को माना है, सभी प्रवादी विद्वान् अनिष्टतत्त्व से रहित होरहे, इष्ट तत्त्व को स्वीकार करते है, अतः वह इष्ट तत्त्व विचारा स्वरूप की अपेक्षा सत्रूप है, और पररूप होरहे अनिष्ट तत्त्व की अपेक्षा असत्रूप है, जो विद्वान् अनिष्टआत्मक पदार्थों से शून्य होरहे अपने 'इष्ट तत्त्व को सत् इस प्रकार जान रहे है वे आचार्यों करके सिद्धान्तित किये गये सत्स्वरूप और असत्स्वरूप एक पदार्थ का फिर किस प्रकार निराकरण कर सकेंगे ? अर्थात्--नही ।

निष्क्रियेतरताभावे वहिरंतः कथंचन।
प्रतीतेर्बाधशून्यायाः सर्वथाप्यविशेषतः ॥ ७३ ॥

वहिरंग पदार्थ और अन्तरंग पदार्थों मे निष्क्रियपन और उससे भिन्न सक्रियपन के सद्भाव होने मे वाधको से शून्य होरही प्रतीति होरही है, अत पदार्थों को कथंचित् निष्क्रिय और सक्रिय स्वीकार कर लेना चाहिये, सभी प्रकार से कोई विशेषता नही है। क्रियासहितपन और क्रियारहितपन दोनो की अन्तररहितप्रसिद्धि होरही है, इस प्रकरण मे आत्मा को सक्रिय मानना युक्तिपूर्ण है। यहाँ तक इस सूत्र का विवरण समाप्त हुआ ।

" अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला " इस सूत्र मे काय शब्द का ग्रहण कर देने से इन द्रव्यो के नाना प्रदेशो का अस्तित्व तो निश्चित हुआ किन्तु उन प्रदेशों की ठीक संख्या का परिज्ञान नही होसका है, कि किस द्रव्य के कितने कितने प्रदेश है ? अतः उन प्रदेशो की नियत सख्या का ज्ञान कराने के लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते है— ।

"असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य तथा एक जीव द्रव्य के असख्याते प्रदेश है, अर्थात्--जगत् में धर्म द्रव्य एक ही है, और अधर्म द्रव्य भी एक ही है, जीवद्रव्य अनन्तानन्त है, अतः पूरे धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य तथा एक जीव द्रव्य इन मे से प्रत्येक के लोकाकाश के प्रदेशो बराबर मध्यम असख्याता-सख्यात गिनती वाले असंख्याते प्रदेश है, पुद्गल परमाणु जितने स्थान को घेरती है वरफी के समान उतने घन चौकोर आकाश स्थल को प्रदेश कहा जाता है, संकोच, विस्तार स्वभाववाला जीव भले ही कर्मों से निर्मित छोटे या बडे शरीर के बराबर होय किन्तु केवल-समुद्घात करते समय लोकपूरण अवस्था में सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप लेता है ।

प्रदेशेयत्तावधारणार्थमिदं धर्माधर्मयोरेकजीवस्य च । कुतः पुनरसंख्येयप्रदेशता धर्मादीनां प्रसिद्धयतीत्यावेदयति ।

धर्म, अधर्म, और एक जीव के प्रदेशो की इतनी परिमाणपन–संख्या का अवधारण करने के लिये यह सूत्र प्रारम्भा गया है। यहाँ कोई शिष्य प्रश्न करता है कि धर्म आदिको का फिर असं-

ख्यातप्रदेशीपना भला किस प्रमाण से प्रसिद्ध होजाता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिको द्वारा समाधान का निवेदन करे देते है ।

प्रतिदेशं जगद्व्योमव्याप्तयोग्यत्वसिद्धितः ।
धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयप्रदेशता ॥ १ ॥
लोकाकाशवदेव स्याच्चासंख्येयप्रदेशभृत् ।
तदाधेयस्य लोकस्य सावधित्वप्रसाधनात् ॥ २ ॥
अनन्तदेशतापायात् प्रसंख्यातुमशक्तितः ।
न तत्रानंतसंख्यातप्रदेशत्वविभावना ॥ ३ ॥

लोक-सम्बन्धी आकाश के प्रत्येक प्रदेशो पर व्यापने की योग्यता की सिद्धि होजाने से धर्म, अधर्म, और एक जीव के असख्यात प्रदेशो से सहितपना है. धर्म और अधर्म से घिरा हुआ तथा एक एक जीव से घिर जाने योग्य यह परिमित जगत् बेचारा लोकाकाश के समान ही असख्याता-सख्यात प्रदेशो को धार रहा है, क्योकि जिस अधिकरणभूत लोक के धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य, ये आधेय होरहे है, उस लोक का छहो ओर अवधि-सहित पना बढिया साध दिया है। अनन्त प्रदेशी-पन का अभाव होजाने से इन तीन द्रव्यो के अनन्त प्रदेशो से सहितपन का विचार करना नही चाहिये । और एक, दो, तीन, चार आदि ढग से बढिया गिनती करने के लिये सामर्थ्य नही होने से सख्यात प्रदेशीपन का भी विचार नही करना चाहिये । तब तो अनन्त और संख्यात से शेष बचे असख्यात प्रदेश ही इन तीन द्रव्यो मे स्वीकार करने योग्य है जगत् श्रेणी के घन-प्रमाण मध्यम असख्यातासख्यात प्रदेश धर्मादिको के प्रसिद्ध होजाते है ।

न ह्ययं लोको निरवधिः प्रतीतिविरोधात् । पृथ्व्या उपरि सावधित्वदर्शनात् पार्श्वतोधस्ताच्च सावधित्वसंभवनात् तद्वदुपरि लोकस्य सावधित्वसिद्धेः । सर्वतः अपर्यंता मेदनीति साधने सर्वस्य हेतोरप्रयोजकत्वापत्तेः । प्रसिद्धे च सावधौ लोके तदधिकरणस्याकाशस्य लोकाकाशसंज्ञकस्य सावधित्वसिद्धेः ।

यह लोक छहो ओर मर्यादारहित नही है । मर्यादारहित मानने पर समीचीन प्रतीतियों से विरोध आजावेगा क्योकि पृथवी के ऊपर मर्यादासहितपना देखा जाता है, और पसवाडो मे या नीचे भी अवधिसहितपन की सम्भावना होरही है, इसी प्रकार (के समान) अधिक ऊपर देशो मे भी लोक का अवधिसहितपना सिद्ध होजाता है । " यह पृथवी सब ओर से पर्यन्तरहित है, " इस बात को साधने मे जितने भी हेतु दिये जावेंगे, अपने अपर्यन्तपन साध्य के साथ अनुकूल तक नही मिलने के कारण सभी हेतुओ के अप्रयोजकपन का प्रसग आजावेगा यों वे अपने साध्य को नही साध सकेंगे। अतः इस लोक के अवधिसहितपन की प्रसिद्धि होजाने पर उस जगत् के अधिकरण होरहे लोकाकाश नामक आकाश का अवधिसहितपन सिद्ध होजाता है ।

परिशेषादसंख्येयप्रदेशत्वसिद्धिः। तथाहि न तावल्लोकाकाशमनंतप्रदेशं शश्वद्-संहरणधर्मत्वे सति सावधित्वात् पंचाणुकाकाशवत्। असंहरणधर्मत्वादित्युच्यमानेऽलोकाकाशेन व्यभिचार इति सावधित्ववचनं, सावधित्वादित्युक्तेपि पुद्गलस्कंधेनानंतपरमाणुकेनानेकांतो माभूदिति शश्वदसंहरणधर्मकत्वे सतीति विशेषणं।

परिशेष न्याय से लोकाकाश के असख्यातप्रदेशीपन की सिद्धि होजाती है। उसी को विशद-रूप से यो समझिये कि सब से पहिले लोकाकाश अनन्तप्रदेशवाला तो नही है, (प्रतिज्ञा) सर्वदा सहार धर्म से रहित होते सते अवधिसहितपना होने से (हेतु) पाच अणुओ करके बने पचाणुक से घिरे हुए पाँचप्रदेशी आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त)। यह अनुमान प्रशस्त है, यदि वैशेषिकों के मतानुसार पचाणुक दृष्टान्त लिया जायगा तो एक सौ बीस परमाणुओ का पंचाणुक माना जायगा क्योकि दो परमाणुओ का एक द्वयणुक और तीन द्वयणुकों का एक त्र्यणुक तथा चार त्र्यणुको का एक चतुरणुक एव पाच चतुरणुको का एक पंचाणुक। यो एक पंचाणुक ने आकाश के अधिक से अधिक एक सौ बीस प्रदेशो को घेर लिया है, अस्तु, लौकिक या परीक्षको की समानबुद्धि का विषय होरहा किसी भी ढंग का पचाणुक दृष्टान्त बना लिया जाय।

इस अनुमान मे कहे गये हेतु के यदि केवल असकोचधर्मपन इतने विशेषण दल को ही हेतु कहा जायगा, तब तो अलोकाकाश करके व्यभिचार होजायगा। देखिये अलोकाकाश सहारधर्मवाला नही है, किन्तु अनन्त-प्रदेश वाला है, अतः हेतु के रहने पर और साध्य के नही ठहरते हुये व्यभिचार दोष हुआ।

इस व्यभिचार की निवृत्ति के लिये हेतु का विशेष्य दल अवधिसहितपना कहा गया है, अलोकाकाश अवधिसहित नही है, अवधिसहितपना इतना केवल विशेष्यदल के कथन करने पर भी अनन्त परमाणु वाले पुद्गल स्कन्ध करके व्यभिचार नही होजावे, इस लिये सर्वदा असंहरणधर्मपना होते सन्ते ऐसा विशेषण दल प्रयुक्त कियागया है। अनन्त परमाणु से बना हुआ पुद्गलस्कन्ध घडा या लड्डू अवधिसहित है किन्तु अनन्तप्रदेशीपन के अभाव वाला नही है, सदा असहार धर्म वाला होते सन्ते इस विशेषण से व्यभिचार का वारण होजाता है, क्योकि घडा, लड्डू, आदि पुद्गल स्कन्ध तो संकुचित होजाने वाले या नाशशील है। यो हम जैनों का प्रयुक्त हेतु निर्दोष है।

न चैतदसिद्धं साधनसद्भावात्। शश्वदसंहरणधर्मकं लोकाकाशमजीवत्वे सत्य-मूर्तद्रव्यत्वादलोकाकाशवत्। न ह्यलोकाकाशं कदाचित्संहरणधर्म सर्वदा परममहत्त्वाभावप्रसंगात् तथा न संख्यातप्रदेशं लोकाकाशं गणनया प्रसंख्यातुमशक्यत्वादलोकाकाशवदेवेति नानंतसंख्यात-प्रदेशत्वं तस्य विभावयितुं शक्यं। परिशेषादसंख्येयप्रदेशं लोकाकाशं सिद्धं। ततो धर्माधर्मैक-जीवास्त्वसंख्येयप्रदेशाः प्रतिप्रदेशं तावदसंख्येयप्रदेशलोकाकाशव्याप्तियोग्यत्वात् यन्न तथा तन्न तथा यथैकपरमाणुरिति निरवद्यो हेतुः, अन्यथानुपपत्तिसद्भावात्।

यह हेतु पक्ष में वर्त रहा है, असिद्ध हेत्वाभास नही है क्योकि हेतु को साधने वाले दूसरे अनुमान का सद्भाव है। लीजिये, लोकाकाश (पक्ष) सर्वदा असहार धर्मवाला है, (साध्य) अजीव होते सन्ते अमूर्त द्रव्य होने से (हेतु) अलोकाकाश के समान (अन्वय दृष्टान्त)। अलोकाकाश कदाचित् भी संहार धर्म वाला नही है, क्योकि अलोकाकाश को संहार धर्मी मानने पर सदा परममहत्त्व परिमाण के अभाव का प्रसग होजायगा, कदाचित् भी सकुचने वाला पदार्थ सदा परम महापरिमाण का आश्रय नही बना रह सकता है, अतः लोकाकाश अनन्त-प्रदेशी नही है यह सिद्ध हुआ तथा वह लोकाकाश (पक्ष) सख्याते प्रदेशो वाला भी नही है (साध्य)। क्योकि लोकाकाश के प्रदेशो की एक, दो, तीन, चार, सौ, पांचसौ, हजार, लाख, कोटि, आदि गिनती करके अच्छी सख्या करने के लिये किसी की सामर्थ्य नही है (हेतु), अलोकाकाश के ही सम न (अन्वय दृष्टान्त)। इस प्रकार उस लोकाकाश के अनन्तप्रदेशीपन और सख्यात-प्रदेशीपन का सद्विचार नही किया जा सकता है, परिशेष मे असख्यात प्रदेश वाला ही लोकाकाश सिद्ध होजाता है।

भावार्थ— सख्या-प्रमाण के संख्यात, असंख्यात और अनन्त तीन भेद है, तिनमे असंख्य और अनन्त के परीत, युक्त और द्विकवार यो तीन भेद है। उक्त सातसख्याओ के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, यो तीन तीन भेद कर इकईस भेद वाला सख्या-मान है, इन मे से मध्यम असख्यातासंख्यात का विशेष भेद यहाँ लिया गया है। तिस कारण मे इस सूत्र द्वारा यह सिद्ध हुआ कि धर्म, अधर्म, और एक जीव द्रव्य तो (पक्ष) असख्यात प्रदेश वाले है (साध्य)। क्योकि उतनी ही असंख्यातासंख्यात रूप सख्या को धार रहे असख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश के प्रत्येक प्रत्येक प्रदेश पर इन तीन द्रव्यो के व्यापने की योग्यता है (हेतु), अर्थात्—जितने ही धर्म आदि के प्रदेश है। ठीक उतने ही लोकाकाश के प्रदेश है, जो तिस प्रकार साध्य वाला नही है। यानी असख्यातप्रदेशी नही है, वह तिस प्रकार हेतुमान् नही है, यानी लोकाकाश को व्यापने की योग्यता नही रखता है। जैसे कि एक परमाणु (व्यतिरेकदृष्टान्त) इस प्रकार हमारा हेतु अन्यथानुपपत्ति का सद्भाव होने से निर्दोष है। असिद्धि, व्यभिचार आदि कोई भी दोष इस हेतु मे नही है।

नन्वत्र जीवस्यैकविशेषणं किमर्थमित्याशंकायामिदमाह।

यहाँ किसी की शका है कि सूत्रकार ने इस सूत्र मे जीव का विशेषण 'एक' किस लिये दिया है। इस प्रकार आशका होने पर ग्रन्थकार इस समाधान को कहते है—

एक जीववचः शक्तेर्नासंख्येयप्रदेशता।
नानात्मनामनंतादिप्रदेशत्वस्य संभवात्॥ ४॥

सूत्र मे एक जीव के कथन की सामर्थ्य से सिद्ध होजाता है, कि अनेक जीवो को असंख्यात प्रदेशीपना नही है। नाना जीवों के तो अनन्त आदि प्रदेश होते सम्भवते हैं। अर्थात्—यहाँ आदि पद को यो घटित किया जा सकता है कि जघन्य युक्तानन्त प्रमाण अभव्य जीवों के मिल कर सम्पूर्ण प्रदेश मध्यम युक्तानन्त प्रमाण होजाते है। समस्त सिद्धो के प्रदेश इन से भी अनन्तानन्त गुणे मध्यम अन-

स्तानन्त रूप हैं। तथा सम्पूर्ण जीवों के तो इनसे भी अनन्त गुणे मध्यम अनन्तानन्त प्रदेश हैं, जीवो की राशि और असख्यात प्रदेशो का गुणा करने पर विवक्षित जीवो के पिण्ड के प्रदेशो की संख्या निकल आती है, हा किसी भी एक जीव के प्रदेश तो असंख्याते ही है।

एकजीववचनसामर्थ्यान्न नानाजीवानामसंख्येयप्रदेशत्वं तेषां अनंतप्रदेशत्वस्यानंतानंतप्रदेशत्वस्य च संभवात्।

सूत्रकार द्वारा एक जीव के वचन की सामर्थ्य से नाना जीवो का असख्यात प्रदेशीपना नही सिद्ध होपाता है, क्योंकि उन नाना जीवो के अनन्तप्रदेशीपना और अनन्तानन्तप्रदेशीपना सम्भव रहा है।

कुतः पुनर्धर्मादीनां सप्रदेशत्वं सिद्धं यतोऽसख्येयप्रदेशता साध्यत इत्याशंकां निराचिकीर्षुराह।

पुनः किसी विनीत शिष्य की शका है, कि फिर यह बताओ कि धर्मादिको का प्रदेशो से सहितपना भला किस प्रमाण से सिद्ध होजाता है? जिससे कि उनका असख्येयप्रदेशो से सहितपना साधा जाता है, इस प्रकार की आशका का निराकरण करने की इच्छा रखते हुये ग्रन्थकार अगली वार्त्तिक को कहते है।

सप्रदेशा इमे सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंगमात्।
सकृदेवान्यथा तस्यायोगादेकाणुवत्ततः॥ ५॥

ये धर्म, अधर्म, आदिक द्रव्य (पक्ष) प्रदेशो से सहित ही है, (साध्य) एक ही वार मे सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यो के साथ सम्बन्धी होजाने से (हेतु)। अन्यथा-यानी इन धर्मादिको को सप्रदेशी माने विना उन सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यो के साथ उनके सम्बन्ध होजाने का अयोग होजावेगा जैसे कि एक परमाणु प्रदेश सहित नही होने के कारण सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यो के साथ युगपत् सम्बन्ध नही कर पाता है (व्यतिरेकदृष्टान्त)। तिस कारण से ये धर्म आदिक अनेक प्रदेश वाले है, (निगमन) यो यह उक्त सिद्धान्त पुष्ट होजाता है।

न हि सकृत्सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंगमः देसप्रशत्वमंतरेण घटते धर्मादीनामेकपरमाणुवत्। ततोमी धर्माधर्मैकजीवास्ते सप्रदेशा एव।

प्रदेशो से सहितपन के विना धर्मादिको का युगपत् सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यो के साथ संयोग होजाना घटित नही होपाता है, जैसे कि प्रदेशो के विना निरंश एक परमाणु का एक ही समय मे सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यो के साथ सम्बन्ध नही होपाता है, तिसकारण से ये जो धर्म, अधर्म, और एक जीव द्रव्य हैं वे स्वात्मभूत प्रदेशो से सहित ही हैं।

मुख्यप्रदेशाभावादुपचरिताः प्रदेशास्तेषामिति चेत् कुतस्तत्र तदुपचारः? सकृन्नानादेशद्रव्यसंबन्धादेव तस्य सप्रदेशे कांडपटादौ दर्शनादिति चेत् तद्वन्मुख्यप्रदेशसद्भावे को

दोषो ? अनित्यत्वप्रसंगः सावयवस्यानित्यत्वप्रसिद्धेर्घटादिवदिति चेत्, कथंचिदनित्यत्वस्येष्टत्वा-ददोषोयं । सर्वथानित्यत्वेर्थक्रियाविरोधात् । सर्वस्य कथंचिदनित्यत्वस्य व्यवस्थापनात् ।

कोई पंडित कहते हैं कि उन धर्म आदिको के प्रदेश मुख्य नही हैं, अतः उपचार से ही उनके प्रदेश मान लिये जाओ । यो कहने पर तो ग्रन्थकार पूछते है, कि उन धर्मादिको मे किस कारण से उन प्रदेशों का उपचार किया जाता है, बताओ ? यदि तुम यो कहो कि धर्म आदिको का एक ही समय में नाना देशो मे वर्त रहे द्रव्यो के साथ सम्बन्ध होरहा है, इस ही कारण इन मे प्रदेशो का उपचार है क्योंकि प्रदेशो से सहित होरहे ही डेरा, परदा, बास आदि मे उस अनेक देश-वर्ती द्रव्यो के साथ युगपत् सम्बन्ध होजाने का दर्शन होरहा है ।

यो कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उन्ही डेरा आदिको के समान धर्म आदिक में भी मुख्य प्रदेशो का सद्भाव मानने पर भला कौनसा दोष आता है, बताओ । यदि तुम यो कहो कि मुख्य प्रदेश मानलेने पर काण्ड पट आदि द्रव्यो के भी अनित्यपन का प्रसग आजायगा क्योकि अवयवो से सहित होरहे सावयव पदार्थो का अनित्यपना प्रसिद्ध है, जैसे कि सावयव घट, पट, आदिक अनित्य हैं । यो कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि धर्म आदिको का कथचित्-अनित्यपन यह हमारे यहा कोई दोष नही है, कथचित्-अनित्यपना धर्म आदिको के इष्ट किया गया है, यदि धर्म आदिको को सर्वथा नित्य माना जायगा तो कूटस्थ नित्य पदार्थ के अर्थक्रिया होने का विरोध होजावेगा, पर्यायों की अपेक्षा सम्पूर्ण पदार्थों के कथचित्-अनित्यपन की व्यवस्था करा दी गयी है, अतः धर्म आदिको के अनित्यपन का भय करना व्यर्थ है ।

जीवस्य सर्वतद्द्रव्यसंगमो न विरुध्यते ।
लोकपूरणसंसिद्धेः सदा तद्योग्यतास्थितेः ॥ ६ ॥

एक जीव का भी सम्पूर्ण उन मूर्तिमान द्रव्यों के साथ सम्बन्ध होना विरुद्ध नही पडता है, केवलि-समुद्घात के अवसर पर लोक-पूरण अवस्था मे एक समय तक सम्पूर्ण मूर्तद्रव्यो के साथ सम्बन्ध होजाना भले प्रकार सिद्ध है, और अन्य अवस्थाओ में भी सर्वदा उस सर्व मूर्तिमद्द्रव्यो के साथ सम्बन्ध होने की योग्यता अवस्थित रहती है, अर्थात्—जैसे तीन गज लम्बा फैला हुआ चादरा तीन गज भूमि को छूरहा है, छोटीसी घरी कर देने पर भी संकुचित चादरे मे तीन गज भूमि को स्पर्श करने की योग्यता सदा विद्यमान है, इसी प्रकार चीटी, मक्खी, घोडा आदि अवस्थाओ मे भी जीव के तीनो लोक मे फैल जाने की योग्यता विद्यमान है । हाँ जीव के अलोकाकाश मे व्यापने-योग्य अनन्तानन्त प्रदेश नहीं हैं । वैशेषिको ने भी "सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसयोगित्व व्यापकत्व" यो आत्मा का व्यापकपना इष्ट किया है, अन्तर इतना ही है कि वैशेषिक या नैयायिक तो सम्पूर्ण आत्माओं का सर्वदा व्यापक बना रहना अभीष्ट करते हैं और हम स्याद्वादी आत्मा का परिमाण तत्कालीन गृहीत शरीरों के बराबर स्वीकार करते हैं । हां वैक्रियिक समुद्घात, मारणान्तिकसमुद्घात, केवलिसमुद्घात, अवस्थाओं में आत्मा के प्रदेश लोक में बहुत फैल जाते हैं, लोक-पूरण अवस्था में तो तीन सौ तेतालीस

घन राजू प्रमाण लोक को कोई एक जीव व्याप्त कर लेता है, हाँ सम्पूर्ण लोक में फैल जाने की योग्यता सम्पूर्ण जीवों के सदा विद्यमान है।

जीवो हि लोकपूरणावस्थायां सकृत्सर्वमूर्तिमद्द्रव्यैः संबध्यते इति सिद्धान्तसद्भावाच्च स्याद्वादिनां तस्य सकृत्सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंगमो विरुध्यते, शेषावस्थास्वपि तद्योग्यताव्यावस्थापनात्। एतेन धर्माधर्मयोः सर्वथा प्रतिदेशं लोकाकाशव्याप्तिवदेकजीवस्यापि तद्व्याप्तियोग्यत्वस्थितेरसंख्येयप्रदेशत्वसाधने हेतोरसिद्धिः परिहृता वेदितव्या। तथा योग्यतामंतरेण धर्मादीनां शश्वत्तद्व्याप्तिविरोधात्। परमाणुवत् कालाणुवद्वा तद्व्याप्तिः साधयिष्यते चाग्रतः।

जीव नियम से लोक-पूरण अवस्था मे सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ युगपत्सम्बन्ध कर लेता है, इस प्रकार सिद्धान्त का सद्भाव होने से स्याद्वादियो के यहा उस जीव का युगपत् सम्पूर्ण मूत द्रव्यो के साथ संयोग होना विरुद्ध नही पड़ता है क्योकि लोकपूरण के अतिरिक्त शेष अवस्थताओ मे भी जीव के उस सर्वमूर्तिमद्द्रव्य-सम्बन्ध की योग्यता का व्यवस्थापन होजाता है। इस कथन करके धर्म और अधर्म के सभी प्रकारो से लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशो पर व्यापजाने के समान एक जीव के भी उस लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशो पर व्यापने की योग्यता स्थित होजाती है, इस कारण असंख्येय प्रदेशो के सहितपना साधने पर हेतु के स्वरूपासिद्ध दोष का परिहार कर दिया गया समझ लेना चाहिये क्योकि तिस प्रकार लोक-व्यापकपन की योग्यता के विना धर्मादिको के सर्वदा उस लोकमे व्यापकपन का विरोध होजावेगा जैसे कि पुद्गल परमाणु अथवा कालाणु के लोक मे व्यापकपन की योग्यता का विरोध है, और भी अग्रिम ग्रन्थो से (मे) इन धर्म आदिको का उस लोक में व्यापकपन साध दिया जावेगा, यहाँ इतना ही कथन पर्याप्त है। धर्माधर्मैक-जीवाः (पक्ष) असंख्येय-प्रदेशाः (साध्य) प्रतिप्रदेशं तावदसंख्येय-लोकाकाशव्याप्तियोग्यत्वात् (हेतु) इस अनुमान का हेतु पक्ष में विद्यमान है, जो कि अपने साध्य को पक्ष मे साध देता है।

अथाकाशस्य कियंतः प्रदेशा इत्याह।

अब महाराज यह बताओ कि आकाश द्रव्य के कितने प्रदेश हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्रकार उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं—

आकाशस्यानंताः ॥ ९ ॥

आकाश द्रव्य के अनन्त प्रदेश हैं। अर्थात्—यहा अनन्त पद से जिन-इष्ट कोई मध्यम अनन्तानन्त ग्रहण करना चाहिये, अनन्त नाम की एक संख्या विशेष है। जिसका अन्त नहीं आवे ऐसा अनन्त यहां अभीष्ट नही है। उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात से एक बढ़ा देने पर ही जघन्य अनन्त होजाता है, केवलज्ञान या श्रुतज्ञान की अपेक्षा इकईसो भी सख्याओं का परिमाण किया जा सकता है, कोई अशक्यता नही है। हा अक्षय-अनादि अक्षय-अनन्त को उसी स्वरूप से जान लेना या गिन

लेना प्रमाणज्ञान का कार्य है। जीव राशिसे अनन्तगुणी पुद्गल राशि है, पुद्गलों से अनन्त-गुणी काल समयों की राशि है। भूत, भविष्यत काल के समयों से अनन्तानन्तगुणे श्रेणीरूप अलोकाकाश के प्रदेश हैं, इनके घन प्रमाण सम्पूर्ण आकाश के अनन्तानन्त प्रदेश है। यों परिमाण किया जा सकता है, कोई पोल नहीं है। हाँ जिसका अन्त नही वह अनन्त है, यह केवल अनन्त शब्द की निरुक्ति की जा सकती है। प्रकृत्यर्थ नहीं करना चाहिये।

प्रदेशा इत्यनुवर्तते। पूर्वसूत्रे वृत्त्यकरणात्तत्र वृत्तिनिर्देशे हि प्रदेशानामसंख्येय-शब्दोपाधीनां व्यवस्थानात्केवलानामिहानुवृत्तिर्न स्यात्, तत एवासंख्येयप्रदेशा इति वृत्तिनिर्देशे लाघवेऽपि वाक्यनिर्देशोऽसंख्येयाः इति कृत इहोत्तरसूत्रेषु च प्रदेशग्रहणं मा भूद्यता गौरवमिति।

पूर्व सूत्र से "प्रदेशा" इस पद की अनुवृत्ति कर ली जाती है. तिस ही कारण मे पहिले सूत्र मे प्रदेश शब्द की असंख्येय शब्द के साथ कर्मधारयवृत्ति नही की गयी है। यदि वहा कर्मधारय समास वृत्ति अनुसार निर्देश कर दिया जाता तो "असंख्येय-प्रदेशा" पद बन जाता "विशेषणं विशेष्येण बहुलं" के अनुसार असंख्येय शब्द को विशेषण रखने वाले विशेष्यभूत प्रदेशों की व्यवस्था होजाने से केवल प्रदेशो की यहाँ अनुवृत्ति नही होसकेगी "एकयोग--निर्दिष्टाना सह वा निवृत्तिः सह वा प्रवृत्तिः" या तो असंख्येय और प्रदेश दोनों शब्दों को अनुवृत्ति होती या एक की भी नहीं होपाती। तिस ही कारण से यद्यपि समास करने पर "असंख्येय--प्रदेशा" इस प्रकार समास वृत्ति पूर्वक कथन करने मे लाघव है, फिर भी सूत्रकार ने "असंख्येया." यह पद न्यारा रखते हुये वाक्य का कथन किया है। यहा "आकाशस्यानन्ता" इस सूत्र मे और अगले दो सूत्रों मे पुन प्रदेश शब्द का ग्रहण नही होवे जिससे गौरव होजाता अर्थात्—गौरव दोष का परिहार करने के लिये "प्रदेशा." शब्द को असमसित रखा है, उसकी यहाँ अनुवृत्ति कर ली जाती है।

अंतोऽवसानमिह गृह्यते, अविद्यमानो अंतो येषां त इमेऽनंताः प्रदेशा इत्यन्यपदार्थ-निर्देशोय। ते चाकाशस्येति भेदनिर्देशः कथंचित्प्रदेशप्रदेशिनोर्भेदोपपत्तेः? सर्वथा तयोर-भेदे प्रदेशिनः स्वप्रदेशादेकस्मादर्थान्तरत्वाभावात् प्रदेशमात्रत्वप्रसंग इति प्रदेशिनोऽसत्त्वं। तदसत्त्वे प्रदेशस्याप्यसत्त्वमित्युभयासत्त्वप्रसक्तिः।

यहाँ सूत्र मे अन्त का अर्थ अवसान ग्रहण किया जाता है, जिनप्रदेशों का अन्त विद्यमान नही है, वे प्रदेश, ये अनन्त है, इस प्रकार बहुव्रीहि समास द्वारा अन्य पदार्थ को कथन करने वाला इस सूत्र मे "अनन्ता." यह निर्देश है। वे अनन्त प्रदेश आकाश द्रव्य के है, इस प्रकार षष्ठ्यन्त और प्रथमान्त पदों के अनुसार सूत्रकार द्वारा भेदपूर्वक कथन किया गया है, क्योंकि अंगभूत प्रदेश और अंगी होरहे प्रदेशी इनका कथंचित्-भेद होना युक्तियो से सिद्ध है। यदि सभी प्रकारो से उन प्रदेश और प्रदेशी द्रव्यो का अभेद माना जायगा तब तो प्रदेशवाले द्रव्य को अपने एक प्रदेश से भेद नही होने के कारण केवल एकप्रदेशधारीपन का प्रसंग होगा, यों प्रदेशी द्रव्य का अभाव हुआ जाता है, और उस प्रदेशी का असद्भाव होजाने पर प्रदेश का भी असत्त्व होजाता है। इस प्रकार प्रदेश और

प्रदेशी दोनों के असत्वका प्रसग आया । भावार्थ—प्रदेशी द्रव्य का एक प्रदेश के साथ अभेद मानने पर " द्रव्य " एक–प्रदेशवान् हुआजाता है, एक प्रदेश वाला द्रव्य तो परमाणु के समान प्रदेशी नही कहा जा सकता है, जब प्रदेशी कोई नही रहा तब प्रदेश भी कोई नहीं ठहर सकता है, यों दोनो का अभाव होजायगा, अतः एक आकाश और उसके अनन्त प्रदेशों का सर्वथा अभेद नहीं मान कर कथं-चित् अभेद स्वीकार करना चाहिये ।

सर्वथा तद्भेदे पुनराकाशस्य च द्रव्यप्रदेशा द्रव्याणि वा स्युर्गुणादयो वा ? यदि द्रव्याणि तदाकाशस्यानेकद्रव्यत्वप्रसंगो घटादिवत् । तथा च सादिपर्यवसानत्वं तद्वदेव न ह्यनेकद्रव्यारब्धं द्रव्यं किंचिदनाद्यनतं दृष्टमिष्टं वा परस्य । गुणाः प्रदेशा इति चेन्न, गुणांतराश्रयत्वविरोधात् साधारणगुणा हि संयोगविभागसंख्यादयस्तत्रेष्यंते घटसंयोगोन्यस्या-काशप्रदेशस्य कुड्यसंयोगोन्यस्य करविभागोऽन्यस्य दंडविभागोन्यस्येति संयोगविभागयोः प्रतीतेः । एकः खस्य प्रदेशो द्वौ चेति संख्यायाः संप्रत्ययात् परो गगनप्रदेशोऽपरो वेति पर-त्वापरत्वयोरवबोधात् पृथगेतस्मात् पाटलिपुत्राकाशप्रदेशाच्चित्रकूटाद्याकाशप्रदेश इति पृथक्त्व-स्योपलम्भात् तथाघटाकाशप्रदेशान्महान् मन्दराकाशप्रदेश इति परिमाणस्य सन्निर्णयात् ।

यदि फिर आकाश और उसके प्रदेशो का सर्वथा भेद माना जायगा तब तो बताओ वे आकाशद्रव्य के सर्वथा भिन्न पड़े हुये प्रदेश भला द्रव्यपदार्थ है ? अथवा क्या गुण, कर्म, सामान्य, आदि पदार्थ माने जायगे ? बताओ यदि वे अनेक प्रदेश द्रव्यरूप है, तब तो आकाश को अनेक-द्रव्य-पन का प्रसंग आवेगा जैसे कि घट आदिक अनेक द्रव्य माने गये हैं, किन्तु वैशेषिकों ने आकाश को एक द्रव्य स्वीकार किया है " तत्वं भावेन " ॥ २९ ॥ " शब्दलिगाविशेषाद्विशेषलिगाभावाच्च " । ३० ॥ इन दो सूत्रो से आकाश का एकद्रव्यपना साधा गया है. आकाश के प्रदेशो को द्रव्य मानने पर आकाश अनन्त द्रव्य हुये जाते हैं, और तैसा होने पर उन घट आदिको के ही समान आकाश को सादिपना और सान्तपना भी प्राप्त होजायगा अनेक द्रव्यों से आरम्भा जा चुका कोई भी द्रव्य अनादि और अनन्त नही देखा गया है ।

तथा उन दूसरे पण्डित वैशेषिकों के यहाँ अनेक द्रव्यों से बनाये गये घट, पट, आदि द्रव्यों का अनादि अनन्तपना इष्ट भी नही कियागया है । यदि उन प्रदेशों को द्रव्य नही मान कर गुण-स्वरूप माना जाय तो यह भी ठीक नहीं पड़ेगा क्योकि तब तो उन गुणस्वरूप प्रदेशों मे अन्य गुणो के आश्रयपन का विरोध होजायगा, गुणो मे दूसरे गुण नही रहा करते है " निर्गुणा गुणा." "गुणा-दिर्निर्गुणक्रियः " ऐसा जैनो ने और वैशेषिको ने स्वीकार किया है । जब कि आकाश-सम्बन्धी उन प्रदेशो में संयोग, विभाग, संख्या, आदि साधारण गुण वर्त रहे वैशेषिको ने इष्ट किये है ।

देखिये आकाश के अन्य प्रदेश का घट के साथ संयोग होरहा है, और आकाश के दूसरे ही अन्य प्रदेश का भींत के साथ संयोग होरहा है, यों प्रदेशों में सयोग गुण ठहर जाता है । तथा आकाश के अन्य प्रदेशों का हाथ से विभाग होरहा है, और आकाश के दूसरे अन्य प्रदेश का दण्ड के साथ

विभाग होरहा है, यह प्रदेशों मे विभाग गुण रह गया। इस प्रकार आकाश के प्रदेशों में संयोग और विभाग गुणों की प्रतीति होरही है। आकाश का एक प्रदेश और आकाश के दो प्रदेश, तीन प्रदेश, इत्यादि ढग से प्रदेशों मे संख्या गुण का भी भले प्रकार प्रत्यय होरहा है। यह आकाश का दूर-वर्त्ती प्रदेश परे है, और यह निकट-वर्त्ती प्रदेश अपर है, यो आकाश के प्रदेशो मे परत्व और अपरत्व गुणों का परिज्ञान होरहा है। तथैव पटना-सम्बन्धी आकाश के इस प्रदेश से चित्रकूट, मथुरा, उज्जैन आदि के आकाशप्रदेश पृथक् हैं, इस प्रकार आकाश के प्रदेशो मे पृथक्त्व गुण का उपलम्भ होरहा है। तथा घट-सम्बन्धी आकाश के प्रदेश से मन्दराचल-सम्बन्धी आकाश का प्रदेशस्थल महान् है, यो प्रदेशो मे परिमाण गुणका अच्छा निर्णय होरहा है।

इस ढंग से प्रदेशो मे सयोग, विभाग, सख्या, परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व, परिमाण, ये सात सामान्य-गुण पाये जाते है। वैशेषिको के यहा बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, धम, अधर्म, भावना, रूप, रस, गध, स्पर्श, स्नेह, सासिद्धिकद्रवत्व और शब्द, ये सोलह विशेष गुण है, और सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, वेग और नैमित्तिकद्रवत्व ये दस सामान्यगुण है द्रवत्व और संस्कार के विशेषभेद दोनो ओर आगये है यो चौवीस गुणो की संख्या छब्बीस होगयी है। अतः गुणवान् होने से आकाश के प्रदेश गुणस्वरूप नही होसकते है।

प्रदेशिन्येवाकाशे सयोगादयो गुणा न प्रदेशेष्विति चेन्न, अवयवसंयोगपूर्वकावयवि-संयोगोपगमाद् द्वि-ततुकवीरणसंयोगवत्। पटादीनामाकाशप्रदेशसंयोगमंतरेणाकाशप्रदेशसंयो-गोऽपरः एकवीरणस्यासिद्धः। सिद्धे तन्त्वेकसंयोगे द्वितंतुकसयोगप्रसंगात् संयोगजसंयोगाभावः।

प्रदेशों और प्रदेशी के भेद को माननेवाले वैशेषिक कहते हैं कि प्रदेशो वाले आकाश मे ही संयोग,विभाग, आदिक गुण है प्रदेशो मे कोई गुण नही है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि अवयवों के संयोग-पूर्वक होरहा अवयवी का संयोग तुम्हारे यहाँ स्वीकर किया गया है, जैसे कि दुसूता और वीरण का सयोग है। अर्थात्-हस्त पुस्तक सयोग से शरीर पुस्तक संयोग जो हुआ है वह अवयव संयोग-पूर्वक अवयवी का संयोग वैशेषिकों के यहाँ माना गया है, तृण या डशीर से बने हुये और तन्तुओ को स्वच्छ या विरल करने वाले साधन को वीरण (ब्रुश) कहते है। एक तन्तु और वीरण के सयोग से हुआ दो दो तन्तुओ के साथ वीरण का सयोग संयोगज सयोग है। वैशेषिको ने सयोग के एक कर्मजन्य, उभयकर्मजन्य और संयोगज--सयोग यो तीन भेद माने है, बाज पक्षी और पर्वत का संयोग अन्यतर कर्म-जन्य है। यहा एक बाज में क्रिया हुयी है, पवत मे नही। लडने वाले दो मेढाओ का उभय-कर्मजन्य संयोग है। क्योकि दोनो मेंढाओ में क्रिया होकर वह सयोग हुआ है, कपाल और वृक्ष के संयोग से घट और वृक्ष का सयोग तो सयोगजसयोग है। यह अवयव के संयोग पूर्वक हुआ अवयवी का सयोग है। पट आदिको का आकाश के प्रदेशों के साथ सयोग होजाने विना आकाश प्रदेश मे दूसरा सयोग असिद्ध है। प्रदेशो के विना एकतन्तु और वीरण का संयोग भी असिद्ध है, एक तन्तु के साथ संयोग सिद्ध होने पर दो तन्तुओं के साथ संयोग होने का प्रसंग है, अतः आकाश में संयोगजसंयोग का अभाव हुआ। भावार्थ—आकाश के प्रदेशों में संयोग को नही मानने वाले वैशे-

षिक आकाश में एक कर्मजन्य सयोग को नही मान सकते है, क्योकि आकाश मे तो क्रिया है नही। और दूसरा सयुक्त होने वाला द्रव्य यदि क्रिया को करै भी तो जहाँ वह पहिले था वहाँ भी आकाश विद्यमान था, ऐसी दशा में दो में से एक की क्रिया से हुआ सयोग आकाश में मानना व्यर्थ है। तथा उभय कर्मजन्य सयोग भी आकाश मे अलीक है, तीसरा सयोगजसंयोग तभी बन सकता है जब कि अवयव सारिखे आकाश प्रदेशो मे संयोग माना जाय। यदि वैशेषिक पण्डित आकाश के प्रदेशो में सयोग को नही मानते है, तो आकाश मे सयोगजसयोग नही बन पाता है, ऐसी दशा होने पर आकाश में संयोग गुण का अभाव हुआ।

एतेन विभागजविभागाभावः प्रतिपादितः। संख्या पुनर्द्वित्वादिकाकाशे प्रदेशिन्यनुपपन्नैव तस्यैकत्वात्। एतेन परत्वापरत्वपृथक्त्वपरिमाणभेदाभावः प्रतिनिवेदितः तत्रैकत्र तदनुपपत्तेः। ततः स्वप्रदेशेष्वेवैते गुणाः सिद्धा इति न गुणाः प्रदेशा गुणित्वात् पृथिव्यादिवत्।

इस ही कथन करके आकाश मे विभागजन्य विभाग का अभाव भी प्रतिपादन कर दिया गया समझो। अर्थात्—हस्त और वृक्ष का विभाग होजाने से शरीर और वृक्ष का विभाग हुआ विभागज विभाग कहलाता है, जब आकाश के प्रदेशो में विभाग गुण नही माना जाता है, तो वैशेषिकों के यहाँ आकाश मे भला विभागज विभाग कैसे ठहर पायेगा ? । अन्यतर कर्म-जन्य चील और पर्वत का विभाग है, केवल चील उड कर पर्वत से अलग होजाती है तथा उभयकर्मजन्य भिड़े हुये दोनों मेंढों का विभाग एवं कारणमात्र विभाग जन्य विभाग और कारणाकारण विभागजन्य विभाग ये विभागजविभाग हैं। आकाश के प्रदेशो मे विभाग माने विना आकाश में विभाग गुण का अभाव होजाता है। तीसरा गुण फिर द्वित्व, आदिक संख्यातो प्रदेशवाले आकाश से असिद्ध ही है, क्योकि वह आकाश द्रव्य एक माना गया है, आकाशके प्रदेशों में ही द्वित्व आदिक सख्याये ठहर सकती हैं। इस उक्त कथन करके परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व, और परिमाण विशेषो का अभाव भी आकाश में है, प्रतिवादी के सन्मुख इस बात का बहुत अच्छा निवेदन कर दिया गया है क्योकि उस अकेले आकाश में उन परत्व, अपरत्व, आदि की सिद्धि नही होपाती है, तिस कारण मे आकाश के प्रदेशो में ही संयोग, विभाग, संख्या, परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व, परिमाण, ये गुण सिद्ध होजाते है। इस कारण आकाश के प्रदेश (पक्ष) गुण पदार्थ नहीं है (साध्य) गुणवान् होने से (हेतु) पृथिवी, जल, आदि द्रव्यों के समान (अन्वयदृष्टान्त)। यहां तक आकाश के प्रदेशों का गुणपना निषिद्ध कर दिया है।

नापि कर्माणि तत एव परिस्पन्दात्मकत्वाभावाच्च। नापि सामान्यादयोनुवृत्तिप्रत्ययादिहेतुत्वाभावात्। पदार्थांतराणि खप्रदेशा इत्ययुक्तं। षट्पदार्थनियमविरोधात्।

आकाश के प्रदेश तिस ही कारण से यानी गुणवान् होने से तीसरे माने गये कर्मपदार्थ स्वरूप भी नहीं हैं क्योंकि कर्म गुणों के धारी नहीं हैं, दूसरी बात यह है कि परिस्पन्द-आत्मकपन का अभाव होजाने से वे प्रदेश कर्मपदार्थ स्वरूप नहीं है, कर्म होते तो हलन, चलन, आदि किसी भी क्रियास्वरूप होते किन्तु यह वैशेषिको ने इष्ट नही किया है। तथा आकाश के वे प्रदेश सामान्य,

विशेष, समवाय और अभाव पदार्थ स्वरूप भी नहीं है क्योंकि अनुवृत्तिप्रत्यय आदि के हेतुपन का अभाव है, अर्थात्—यह घट है, और यह घट है, तथा यह भी घट है, इत्यादिक अनुवृत्ति प्रत्यय का हेतु जैसे घटत्व सामान्य है, वैसे अनुवृत्त ज्ञान के कारण प्रदेश नही है और यह इससे व्यावृत्त है, यह इससे व्यावृत्त है, ऐसे व्यावृत्तिज्ञान के कारण नही होने से वे प्रदेश विशेष पदार्थ भी नही है अयुतसिद्ध पदार्थों का " यहां यह है " इस ज्ञान के कारण नही होने से वे प्रदेश समवाय पदार्थ भी नही है, भाव पदार्थ - स्वरूप प्रदेश भला अभाव पदार्थ-स्वरूप कैसे होसकते है ? । गुणवान् होने से भी प्रदेश इन सामान्य आदि पदार्थ-स्वरूप नही हैं क्योंकि सामान्य आदि मे गुण नही पाये जाते है । यदि वैशेषिक यों कहै कि आकाश के प्रदेश इन छह पदार्थों से अतिरिक्त अन्य पदार्थ स्वरूप होजायगे ग्रन्थकार कहते है । कि यह इनका कहना अयुक्त है क्योंकि " जगत् के सम्पूर्ण भाव पदार्थ छह ही है " जो कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, उनके यहाँ माने गये है, इस नियम का विरोध होजायगा ।

अत एव न मुख्या: स्वस्य प्रदेशा इति चेन्न, मुख्यकार्यकरणदर्शनात् । तेषामुपचरितत्वे तदयोगात् । न ह्युपचरितोऽग्निः पाकादावुपयुज्यमानो दृष्टस्तस्य मुख्यत्वप्रसंगात् । प्रतीयते च मुख्य कार्यमनेकपुद्गलद्रव्याद्यवगाहकलक्षणं ।

पुन: वैशेशिक यदि यो कहै कि इस ही कारण यानी छह पदार्थों के नियम का विरोध नही होय, अत: आकाश के प्रदेश वास्तविक मुख्यपदार्थ कोई नही है, कल्पित या उपचरित है । ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि उन प्रदेशो करके मुख्य कार्य का करना देखा जाता है, वस्तुभूत कार्य का कारण उपचरितपदार्थ नही होसकता है, उन प्रदेशो के कल्पित होने पर उस मुख्य कार्य के किये जाने का अयोग है । देखिये मिट्टी का अग्नि रूप बना हुआ खिलौना या अग्नि का चमकीले पदार्थ में पडाहुआ प्रतिबिम्ब अथवा "अग्निर्माणवक." आदि उपचरित अग्नि है, यह कल्पित अग्नि पकाने, जलाने, सुखाने आदि कार्यों मे उपयोगी होरही नही देखीगयी है, यदि कल्पित अग्नि पाक आदिको कर देती तो उसको मुख्य अग्निपनेका प्रसग आजावेगा किन्तु आकाशके प्रदेशोसे होरहा अनेक पुद्गलद्रव्य, जीवद्रव्य आदिका अवगाह करदेना स्वरूप मुख्य कार्य प्रतीत होता है ।

निरंशस्यापि विभुत्वात्तद्युक्तमिति चेत् कथं विभुर्निरंशो वेति न विरुध्यते । ननु प्रमाणसिद्धत्वाद्वादिप्रतिवादिनोराकाशे विभुत्वाभावात्र विप्रतिषिद्धं । तत एव निरंशत्व सिद्धिः । तथाहि-निरंशमाकाशादि सर्वजगद्व्यापित्वात् यन्न निरंशं न तत्तथा दृष्टं यथा घटादि सर्वजगद्व्यापि चाकाशादि तस्मान्निरंशमिति कश्चित् । तदसमीचीनं, हेतोः पक्षाव्यापकत्वात् परमाणौ निरंशे तदभावात् ।

यदि वैशेषिक यो कहे कि मुख्य प्रदेशो से रहित होरहे निरंश भी आकाश के व्यापक होने के कारण वह अनेक द्रव्यों को अवगाह देना युक्त बन जाता है । यो कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि आकाश को विभु कहना और निरंश कहना यह किस प्रकार पूर्वापर विरुद्ध नही पड़ेगा ? अर्थात्—

जो अंशों से रहित है, वह परमाणु के समान सम्पूर्ण स्थानो में कैसे फैल सकता है ? अथवा जो व्यापक होरहा है वह निरंश कैसे होसकता है ? यह तुल्य-बल विरोध है। पुनरपि वैशेषिक अपने पक्ष का अवधारण करते हैं, कि वादी, प्रतिवादी, होरहे वैशेषिक और जैन दोनो के यहां आकाश मे व्यापकपन का सद्भाव प्रमाणों मे सिद्ध है, अत निरंशपन और विभुपन का कोई तुल्यबल वाला विरोध नही प्राप्त हुआ, तिस ही कारण से यानी विभुपन से ही आकाश के निरंशपन की सिद्धि होजाती है, उसको स्पष्ट रूप से यों समझिये कि आकाश, काल, आदि पदार्थ (पक्ष) अंशों से रहित हैं (साध्य) सम्पूर्ण जगत् मे व्यापनेवाले होने से (हेतु) जो पदार्थ अंशो से रहित नही है, वह तिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में व्याप रहा नही देखा गया है, जैसे कि घट, पट, आदि है (व्यतिरेक दृष्टान्त) । सम्पूर्ण जगत् मे व्यापनेवाले आकाश आदि है (उपनय) तिस कारण से आकाश आदि निरंश है (निगमन) । इस प्रकार यहाँ तक कोई वैशेषिक कह रहा है ।

आचार्य कहते है कि वैशेषिक का वह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि पक्ष के एक देश में हेतु नही व्यापता है निरंश परमाणु मे उस हेतु का अभाव है, अतः सर्व जगत् व्यापकपना हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है । "पक्षैकदेशेहेत्वभावो भागासिद्धिः" यह भागासिद्धि का लक्षण है ।

तस्या विवादगोचरत्वादपक्षीकरणाददोष इति चेन्न, सांशपरमाणुवादिनस्तत्रापि विप्रतिपत्तेः पक्षीकरणोपपत्तेः । साधनांतरात्तत्र निरंशत्वसिद्धेरिहापक्षीकरणमिति चेत्, एवं तर्हि न कश्चित्पक्षाव्यापको हेतुः स्यात् । चेतनास्तरवः स्वापात् मनुष्यवदित्यत्रापि तथा परिहारस्य संभवात् । शक्यं हि वक्तुं येषु तरुषु न स्वापादयोऽसिद्धास्त एव पक्षीक्रियते, नेतरे तत्र हेत्वंतराच्चेतनत्वप्रसाधनात् ततो न पक्षाव्यापको हेतुरिति ।

वैशेषिक कहते है कि वह परमाणु तो वैशेषिक, नैयायिक, जैन, मीमासक, किसी के यहाँ भी विवाद का विषय नही है, सभी विद्वान् परमाणु को निरंश मानते है, अतः परमाणु को पक्ष कोटि मे नहीं किया गया है, तब तो भागासिद्ध दोष नही आया । आचार्य कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि परमाणुओं को अंशो से सहित कहने वाले वादी पण्डित का उस परमाणु मे भी निरंशपन का विवाद खडा हुआ है । प्रथम जैन विद्वान् ही पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः, यों छहो ओर से अन्य छह परमाणुओं को चिपटाने वाले छह पहलो करके सहित होरहे परमाणु को शक्ति की अपेक्षा षडंश मान लेते है, अतः विवाद पडजाने से परमाणु का भी पक्षकोटि मे कर लेना बन जाता है, उस मे हेतु के नही बर्तने से वैशेषिको के ऊपर भागासिद्ध दोष खडा हुआ है ।

यदि वैशेषिक यों कहैं कि उस परमाणु मे अन्य चरमावयवत्व आदि हेतु से निरंशपन की सिद्धि करली जायगी, अतः यहां इस अनुमान में परमाणु का पक्षकोटि मे ग्रहण करना उचित नहीं जंचा है । आचार्य कहते है कि यों कहोगे तब तो इस प्रकार कोई भी हेतु पक्ष में अव्यापक (भागासिद्ध) नही होसकेगा । देखिये भागासिद्ध का प्रसिद्ध उदाहरण यह है कि वृक्ष (पक्ष) चेतन हैं (साध्य) स्वाप यानी शयन करना पाया जाने से (हेतु) सो रहे मनुष्यों के समान (अन्वयदृष्टान्त) यो सोते हुये वृक्षो मे तो स्वाप हेतु है और निद्रा कर्म की उदय उदीरणा से रहित होरहे, जागते वृक्षों

मे स्वाप हेतु नही ठहरा किन्तु सभी वृक्षो को पक्ष बनाया गया है, अतः यह हेतु पूरे पक्ष में नही व्यापने के कारण भागासिद्ध हेत्वाभास है। यहां भी जिस प्रकार भागासिद्ध दोष के परिहार का सम्भव होरहा है। देखिये वादी के द्वारा यो कहा जासकता है कि जिन वृक्षों मे शयन, भग्नक्षत-सरोहण, आदि परिणाम असिद्ध नही है, वे ही वृक्ष यहा पक्ष कोटि में किये जाते है अन्य स्वाप आदि से रहित होरहे कम्पित या जागृत वृक्ष यहां पक्ष नही किये गये है। उन जागते वृक्षो में आहार करना, फलना, फूलना, आदि हेतुओं से चेतनपन की अच्छे ढग से सिद्धि करादी जावेगी, तिस कारण यह स्वाप हेतु भी पक्ष मे अव्यापक यानी भागासिद्ध नही हो सकेगा। यहाँ तक वैशेषिको के 'सर्वजगत्-व्यापित्व" हेतु को भागासिद्ध बता दिया गया है।

किल कालात्ययापदिष्टो हेतुर्निरंशत्वसाधने सर्वजगद्व्यापित्वादिति पक्षस्यानुमानागमबाधितत्वात् सांशमाकाशादि सकृद्भिन्नदेशद्रव्यसंबन्धत्वात्काण्डपटादिवदिति गगनादेः सांशत्वानुमानवचनात्। अत्र हेतोः सामान्यादिभिर्व्यभिचारासंभवात्। तेषां सकृद्भिन्नदेश-द्रव्यसंबंधस्य प्रमाणसिद्धस्याभावात्। तथा धर्माधर्मैकजीवलोकाकाशानां तुल्य संख्येयप्रदेश-त्वात् प्रदेशसमवाय इत्यागमस्यापि तत्सांशत्वप्रतिपादकस्य सुनिश्चित मंभ द्व भकस्य सद्भावाच्च।

वैशेषिको का आकाश आदि के निरंशपन को साधने मे दिया गया "सर्वजगद्व्यापकपना होने से" यह हेतु कालात्ययापदिष्ट (वाधित) हेत्वाभास भी है, क्योकि 'आकाश आदि निरंश हैं' इस पक्ष को अनुमान और आगम प्रमाणो से वाधितपना है। आकाश, आत्मा आदिक पदार्थ (पक्ष) अंशो से सहित है, (साध्य) एक ही वार मे भिन्न भिन्न देशवर्ती द्रव्यो के साथ सम्बन्ध कर रहे होने से (हेतु) काण्डपट, पदी, कनात, भीत आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इसप्रकार आकाश आदि के सांशपन को साधने वाले अनुमान का वचन है, इस अनुमान मे पड़े हुये हेतु का सामान्य (जाति) विशेष, आदि करके व्यभिचार दोष होजाने का असम्भव है, क्योकि उन सामान्य आदिको के एक ही वार मे भिन्न देशीय द्रव्यो के साथ सम्बन्ध होजाने की प्रमाणो से सिद्धि नही होपाती है, वैशेषिको द्वारा माना गया नित्य, एक, अनेकानुगत, सर्वगत, ऐसे सामान्य की प्रमाणो से सिद्धि नही होसकी है, घट या पट के पूरे देशो मे व्याप रहे सदृशपरिणाम-स्वरूप घटत्व, पटत्व आदि सामान्य यदि कतिपय भिन्नदेशीयद्रव्यो से सम्बन्ध रखते है तो वे सामान्य साथ मे सांश भी है, अतः व्यभिचार दोष की सम्भावना नही है, यह वैशेषिको के अनुमान की इस अनुमान से बाधा प्राप्त हुई। तथा वैशेषिको के अनुमान की आगम-प्रमाण से यो बाधा आती है कि धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव द्रव्य और लोकाकाश के तुल्य रूप से असख्यातासख्यात प्रदेश हैं, इस कारण इन चारों का समप्रदेशत्व रूप से सम्बन्ध होरहा है, इत्यादिक आकाश आदि को सांशपने के प्रतिपादक आगम का भी सद्भाव है, जिन आगमो के बाधक प्रमाणो के असम्भवने का बहुत अच्छा निर्णय होचुका है।

भावार्थ—द्वादशांगो के विषय का वर्णन करते हुये आचार्यों ने समवायांग का निरूपण करते समय धर्म, आदिक चार के तुल्य असंख्यात प्रदेशी होने से द्रव्यसमवाय इष्ट किया है। राजवा-

लिक में भी "श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदं" इस सूत्र के व्याख्यान मे लिखा है कि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय तथा लोकाकाश एवं एक जीव के तुल्य संख्या रूप असंख्यात प्रदेश होने के कारण एक प्रमाण (नाप) करके इनों का समवाय होजाने से परस्पर मे द्रव्यसमवाय है, इस प्रकार अनुमान और आगम प्रमाणों मे बाधित होरहा वैशेषिको का आकाश में निरंशत्व को साधने वाला हेतु कालात्ययापदिष्ट है।

यदप्युच्यते निरंशमाकाशादि सदावयवानारभ्यत्वात् परमाणुवदिति तदप्यनेन निरस्तं, हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वाविशेषात्। किं च यदि सर्वथा सदावयवानारभ्यत्वं हेतुस्तदा प्रतिवाद्यसिद्धः पर्यायार्थादेशात् पूर्वपूर्वाकाशादिप्रदेशेभ्य उत्तरोत्तराकाशादिप्रदेशोत्पत्तेरारभ्यारंभकभावोपपत्तेः। अथ कथंचित्सदावयवानारभ्यत्वं हेतुस्तदा विरुद्धः, कथंचिन्निरंशत्वस्य सर्वथा निरंशत्वविरुद्धस्य साधनात्। कथंचिन्निरंशत्वस्य साधने सिद्धसाधनमेव पुद्गलस्कंधवत्सदावयवविभागाभावात् सावयवत्वाभावोपगमात्

और भी वैशेषिकों द्वारा जो यह कहा जाता है कि आकाश आदि (पक्ष) निरश हैं, (साध्य) सवदा अवयवो से नही आरम्भने योग्य होने से (हेतु) परमाणु के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस प्रकार वैशेषिको का यह अनुमान भी इसी कथन करके निराकृत होगया समझो, क्योंकि पूर्व अनुमान के हेतु समान इस अनुमान के हेतु का भी कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभासपना अन्तररहित है, दूसरी बात यह भी है कि वैशेषिक यदि सर्वथा सदा अवयवो से अनारम्यपन को हेतु कहेंगे तब तो प्रतिवादी होरहे जैनो को यह वैशेषिको का हेतु असिद्ध (हेत्वाभास) पड़ेगा क्योंकि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथन करने से पूर्व पूर्व समय--वर्त्ती आकाश आदि के प्रदेशो से उत्तरोत्तर समयवर्ती आकाश आदि के प्रदेशो की उत्पत्ति होरही मानी जाती है, अतः आरम्य, आरम्भक भाव बन रहा है।

भावार्थ—पर्याय--दृष्टि से आकाश या उसके प्रदेश आदि सभी पदार्थ प्रतिक्षण उपजते रहते है, पूर्व समय—वर्त्ती पर्याय कारण होती है, और उत्तर समय—वर्त्ती पर्याय कार्य मानी जाती है आकाश के प्रदेश भी उत्तर समय--वर्त्ती आकाशीय प्रदेशो को या प्रदेशो के पिण्ड आकाश को उपजाते रहते हैं, ऐसी दशा मे सभी प्रकारो से अवयवो द्वारा अनारम्यपना हेतु आकाश में नही रहता है, अतः वैशेषिको का हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। हाँ अब यदि कथंचित् सदा अवयवों से अनारम्यपन को हेतु कहोगे तब तो वैशेषिको का हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होगा क्योंकि वह हेतु साध्य किये गये सर्वथा निरंशत्व से विरुद्ध होरहे कथंचित् निरंशत्व का साधना करेगा। तथा आकाश मे कथंचित् निरंशपन का साधन करने में हम जैनो की ओर से वैशेषिकों के ऊपर सिद्धसाधन दोष ही भी है, क्योंकि जिस प्रकार पुद्गल स्कन्धों में सदा अवयवो का विभाग है, वे टूट, फूट, जाते हैं जुड़ मिल जाते है, उस प्रकार आकाश में सदा अवयवो का विभाग नहीं है, अतः आकाश मे सावयवपने के अभाव को हम जैनों के यहां नही स्वीकार किया गया है, इस कारण जिस कथंचित् निरंशपन को हम जैन प्रथम से ही मानते आरहे हैं, उसके लिये ही आप पुनः अनुमान रचने का घोर परिश्रम कर रहे है, जो कि व्यर्थ है।

स्यान्मतं, नाकाशादीनां प्रदेशा मुख्याः संति स्वतोऽप्रदिश्यमानत्वात् परमाणुवत् । पटादीनां हि मुख्याः प्रदेशाः स्वतोऽवधार्यमाणाः सिद्धा इति । तदयुक्तं, परमाणोरेकप्रदेशाभावप्रसंगात् छद्मस्थैः स्वतोऽप्रदिश्यमानत्वाविशेषात् । परमाणुरेकप्रदेशोऽत्यन्तपरोक्षत्वादस्मदादीनां स्वतोऽप्रदिश्यमान इतिचेत् तत एवाकाशादिप्रदेशाः स्वतोऽप्रदिश्यमानाः संत्वस्मदादिभिः । अतींद्रियार्थदर्शिनां तु यथा परमाणुरेकप्रदेशः स्वतःप्रदेश्यस्तथाकाशादिप्रदेशोपीति स्वतोऽप्रदिश्यमानत्वादित्यसिद्धो हेतुः । पटादिद्व्यणुकाद्यवयवैरनेकांतिकश्च, तेषामस्मदादिभिः स्वतोऽप्रदिश्यमानानामपि भावात् ।

सम्भव है वैशेषिको का यह मन्तव्य होय कि आकाश आदिको के प्रदेश (पक्ष) मुख्य नही है (साध्य) स्वतः एक एक प्रदेश द्वारा नापने के ढग से नही प्रदेशित किये जारहे होने से (हेतु) परमाणु के समान (अन्वय दृष्टान्त) । जिस कारण से कि पट, घट, वृक्ष, आदिको के मुख्य प्रदेश है तिस ही कारण से वे स्वतःप्रदिष्ट होकर अवधारण किये जा रहे सिद्ध है । आकाश मे यह बात नही है अतः आकाश के मुख्य प्रदेश नही है । आचार्य कहते है कि वैशेषिको का यह कथन युक्तिरहित है क्योकि यो तो परमाणु के माने जा रहे एक प्रदेश के अभाव का प्रसग होजावेगा, कारण कि अल्पज्ञ छद्मस्थ जीवो करके परमाणु मे भी स्वतः अप्रदिश्यमानपना आकाश के समान अन्तररहित विद्यमान है । यदि वैशेषिक यो कहै कि परमाणु तो एक प्रदेशवाला है ही, किन्तु अत्यन्तपरोक्ष होने से हम आदि छद्मस्थ जीवो को स्वतःनापने योग्य प्रदिश्यमान नही होपाता है अथवा परमाणु का एक प्रदेश तो अनुमान या आगम से स्वीकार करने योग्य है, अगुलिनिर्देश करने के समान सूक्ष्म परमाणु के प्रदेश का स्वतःप्रदेशद्वारा अकित नही किया जा सकता है ।

आचार्य कहते है कि तिस ही कारण से यानी अत्यन्त परोक्ष होने से आकाश, काल, आदि के प्रदेश भी हम आदि अल्पज्ञ जीवो करके स्वत. नही प्रदेशने योग्य होरहे होजाओ, हाँ अतीन्द्रियअर्थों का प्रत्यक्ष करने वाले सर्वज्ञ जीवो के तो तिसप्रकार एक प्रदेश वाला परमाणु अङ्गुलिनिर्देश से भी अत्यधिक स्वतःप्रदेशने योग्य है, तिस प्रकार आकाश आदि के प्रदेश भी स्वतः प्रदेश करने योग्य है । इस प्रकार वैशेषिको का " स्वतःअप्रदिश्यमानत्वात् " यह हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है । तीसरा दोष यह है कि पट आदि के समान द्व्यणुक, त्र्यणुक, आदिको करके यह हेतु व्यभिचारी भी है, क्योकि हम आदिको करके स्वतः नही प्रदेशित किये जारहे भी उन द्व्यणुक का सद्भाव है अर्थात्— द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि अथवा पट आदि के भी एक परमाण्ववगाही प्रदेशो का स्वत प्रदिश्यपना नही है, फिर भी उनके प्रदेश माने गये है, अत. हेतु के रहने पर द्व्यणुकादिको मे साध्य के नही बरतने से वैशेषिको का स्वत.अप्रदिश्यमानत्व हेतु व्यभिचारी हेत्वाभास है ।

किं च कथंचित्सांशमाकाशादि परमाणुभिरेकदेशेन युज्यमानत्वात् स्कंधवत् । तस्य तैः सर्वात्मना संयुज्यमानत्वे परमाणुमात्रत्वप्रसंगात् । तथा चाकाशादिबहुत्वापत्तिः ।

एक बात यह भी है कि आकाश आदि द्रव्य (पक्ष) कथचित् अशों से सहित हैं (साध्य) अनेक परमाणुओं के साथ एक एक प्रदेश करके संयुक्त होरहे होने से (हेतु) घट, पट, आदि स्कन्ध

के समान (दृष्टान्त) । यदि आकाश को नाश नही माना जायगा और उस आकाश का उन परमाणुओ के साथ सम्पूर्ण स्वरूप से सयोग होरहा स्वीकार किया जायगा तब तो आकाश को परमाणु के बराबर होने का प्रसग आजायगा अर्थात्—देखो, विचारो, जो पदार्थ एक प्रदेशीय या निरश परमाणु के साथ भीतर बाहर ऊपर, नीचे, सर्वात्मना संयुक्त होरहा है, वह परमाणु के बराबर ही है। यदि परमाणु से उस संयुक्त पदार्थ का परिमाण बढ जायगा तो समझ लेना चाहिये कि उस संयुक्त पदार्थ का कुछ अंश परमाणु के साथ चिपटा नही था जैसे कि एक रुपये का दूसरे रुपये के साथ एक भाग मे संयोग होजाने से दो रुपयो की गड्डी बढ जाती है, सर्वाग रूप से एक रुपये का दूसरे रुपये के साथ ससर्ग मानने पर तो दो रुपये मिल कर भी एक रुपये बराबर ही होगे। केशाग्र मात्र भी बढ नही सकेगे। इसी प्रकार आकाश का सर्वाग रूप से एक परमाणु के साथ सयोग होजाने पर वह आकाश परमाणु के बराबर होजायगा और तैसा होने पर अनेक परमाणुओ के साथ आकाश का सर्वात्मना सम्बन्ध मानने पर आकाश धर्म आदि द्रव्यो के अनेकपनकी आपत्ति होगी जो कि हम, तुम, दोनो को इष्ट नही है।

स्यान्मतं, नैकदेशेन सर्वात्मना वा परमाणुभिराकाशादिर्युज्यते। किं तर्हि ? युज्यते एव यथावयवी स्वावयवैः सामान्यं वा स्वाश्रयैरिति। तदसत् साध्यसमत्वान्निदर्शनस्य तस्याप्यवयव्यादेः सर्वथा निरंशत्वे स्वावयवादिभिरेकांततो भिन्नेन संबंधो यथोक्तदोषानुषंगात् कार्त्स्न्यैकदेशव्यतिरिक्तस्य प्रकारांतरस्य तत्संबंधनिबंधनस्यासिद्धेः। कथंचित्तादात्म्यस्य तत्संबंधत्वे स्याद्वादिमतसिद्धिः, सामान्यतद्वतोरवयवावयविनोश्च कथंचित्तादात्म्योपगमात्। न चैवमाकाशादेः परमाणुभिः कथंचित्तादात्म्यमित्येकदेशेन सयोगोभ्युपगतव्यः। तथा च सांशत्वसिद्धिः।

धांधलबाजी करते हुये वैशेषिको का यह मत होय कि परमाणु आदिको के साथ आकाश आदि द्रव्य न तो एक देश करके सयुक्त होते है। जिससे कि आकाश आदि सांश होजाय और सर्वाग रूप से भी आकाश आदिक द्रव्य उस परमाणु के साथ सयुक्त नही होजाते हे। जिससे कि आकाश का परिमाण परमाणु के समान होजाता या अनेक परमाणुओ के साथ सयुक्त होजाने से आकाश द्रव्य अनेक होजाते। तो यहा किस ढंग से परमाणु आदिको के साथ आकाश आदिक युक्त होते है ? इस शका पर हम वैशेषिको का सक्षेप मे यही राजाज्ञा-स्वरूप उत्तर है, कि वे आकाश आदिक द्रव्य परमाणुओ के साथ सयुक्त हो ही जाते है। जैसे कि अपने अवयवो के साथ अवयवी सम्बन्धित हो जाता है। अथवा सामान्य (जाति) अपने द्रव्य, गुण या कर्म नामक आश्रयो के साथ सम्बन्धित होजाता है।

आचार्य कहते है कि इस प्रकार वैशेषिको का वह कथन प्रशसनीय नही है। क्योकि उनका दिया हुआ अवयवी या सामान्य स्वरूप दृष्टान्त साध्यसम है, अर्थात्—जैसे परमाणुओ के साथ आकाश

आदि का सयोग किसी ढंग से साधा जारहा है। उसी प्रकार अवयवी और सामान्य का अपने अवयव या आश्रयों के साथ संसर्ग करना भी साधने योग्य है। उनका ससर्ग जैसा आप मानते है, वैसा कोई निर्णीत नही होसकता है। बौद्धोने अवयवो मे अवयवी के वर्तने पर जो आक्षे किये थे उस पर भी वैशेषिकों ने कोरी प्रचण्ड नरपति की आज्ञा के समान युक्तियो से रीता उत्तर दिया है। बात यह है कि अवयवों में अवयवी रहता है, सामान्यवान् मे सामान्य रहता है, किन्तु वैशेषिक जिस ढग से कहते हैं उस रीति से नही। वैशेषिकों के अनुसार उस अवयवी या सामान्य, आदि को भी यदि सर्वथा निरश मानलिया जायगा तो एकान्त रूप से भिन्न होरहे स्वकीय अवयव आदिको के साथ सम्बन्ध नहीं होसकता है, क्योकि ऊपर कहे गये अनुसार दोषो का प्रसग आता है। पूर्णरूप से या एक देश से इन दो के अतिरिक्त उस सम्बन्ध के कारण होरहे अन्य प्रकारो की असिद्धि है, अतः वैशेषिको के दृष्टान्त में भी वे ही दोष खडे हुये है, असिद्ध दृष्टान्त से साध्य की सिद्धि नही होसकती है।

यदि कथचित् तादात्म्य को उनका सम्बन्ध स्वीकार किया जायगा तब तो स्याद्वादियो के मत की सिद्धि होजाती है क्योकि सामान्यवान् का एव अवयवो और अवयवी का कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध हमारे यहाँ स्वीकार किया गया है। किन्तु इस प्रकार परमाणुओं के साथ आकाश आदि का कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध नही माना जा सकता है क्योंकि ये सर्वथा भिन्न द्रव्य है, कथचित् भिन्नाभिन्न पदार्थों मे तो कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध बन सकता है, अब अनेक परमाणु के साथ एक आकाश द्रव्य का एक देश करके ही सयोग स्वीकार करना पड़ेगा और तैसा होने पर एक देश, एक देश यो अनेक देश होजाने से आकाश के सांशपन की सिद्धि होजाती है।

किं च सांशमाकाशादि श्येनमेषाद्यन्यतरोभयकर्मजसंयोगविभागान्यथानुपपत्तेः। श्येनेन हि स्थाणोः संयोगो विभागश्चान्यतरकर्मजस्तत्रोत्पन्नं कर्म स्वाश्रयं श्येनं तदाकाशप्रदेशाद्वियोज्य स्थाणवाकाशदेशेन संयोजयति ततो वा विभिद्याकाशदेशांतरेण संयोजयतीति प्रतीयते, न चाकाशस्यैकदेशाभावे तद्घटनात्, कर्मणः स्वाश्रयान्याश्रययोरेकदेशत्वात्।

एक बात यह भी है कि आकाश आदिक पदार्थ (पक्ष) स्वकीय अंशों से सहित है (साध्य) सयुक्त या विभक्त द्रव्यो मे से किसी एक द्रव्य मे हुई क्रिया से उत्पन्न हुआ श्येन (बाज पक्षी) या मनुष्य आदि का संयोग और विभाग तथा संयुक्त या विभक्त दोनो द्रव्यो मे उपजी क्रिया से जन्य मेढा, मल्ल, आदि के सयोग और विभाग ये अन्यथा यानी आकाश आदि को सांश माने विना नही बन सकते है (हेतु)। जब कि बाज पक्षी के साथ स्थाणु (ठूंठ) का संयोग और विभाग भला अन्यतरकर्म से जन्य हुआ है। यहा यो समझिये कि उस श्येन मे उत्पन्न हुआ कर्म अपने आधार होरहे श्येन को आकाश के उस प्रदेश से वियोग करा कर स्थाणु से अवच्छिन्न होरहे आकाश के प्रदेश के साथ सयोजित करा देता है. अथवा वह अन्यतर कर्म उस संयुक्त प्रदेश से विभिन्न कर यानी विभाग कर आकाश के अन्य प्रदेश के साथ संयुक्त करादेता है. इस प्रकार प्रतीति होरही है। आकाश के एक एक देश को माने विना उस एक एक प्रदेश के साथ हुये सयोग या विभाग की घटना नही होसकती है. क्रिया भी स्वकीय आश्रय में हो या अन्य आश्रय में उपज गयी होय, आकाश के एक देश में वर्त

रहे द्रव्य ही मे पायी जा सकती है, आकाश के सर्वदेशवर्ती द्रव्य में क्रिया नही होपाती है। क्योंकि ऐसा कोई क्रियावान् द्रव्य ही नही है।

एतेन मेषयोरुभयकर्मजः संयोगो विभागश्चाकाशस्याप्रदेशत्वे न घटत इति निवेदितं, क्रियानुपपत्तिश्च तस्याः देशांतरप्राप्तिहेतुत्वेन व्यवस्थितत्वात् देशांतरस्य चाऽसंभवात्। तत एव परत्वापरत्वपृथक्त्वाद्यनुपपत्तिः पदार्थानां विज्ञेया। तत्सकलमभ्युपगच्छतांजसा सांशमाकाशादि प्रमाणयितव्यं।

इस उक्त कथन करके इस बात का भी निवेदन कर दिया जा चुका समझलो कि दो मेंढाओ का दोनो की क्रियाओ मे उपजा सयोग अथवा विभाग ही आकाश को प्रदेशरहित मानने पर नही घटित होपाता है। दूसरी बात यह है कि आकाश को निरश मानने पर पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन मे से किसी भी द्रव्य को कोई क्रिया नही बन सकती है, क्योंकि वह क्रिया तो अन्य देशो की प्राप्ति का कारण होकरके व्यवस्थित होरही है। अर्थात्—जब आकाश के प्रदेश नहीं हैं, तो प्रकृत देश से दूसरे देशो मे प्राप्ति कराने वाली क्रिया कथमपि नही बन सकती है। किस देश से कौनसे दूसरे देश पर पदार्थ का रक्खे? आकाश को निरश मानने वाला के यहाँ देशान्तर का तो असम्भव है। तथा तिस ही कारण से यानी देशान्तरोका असम्भव होने से पदार्थोंके परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व, द्रवत्व, गुरुत्व आदि की असिद्धि होना समझ लेना चाहिये अर्थात्—आकाश के प्रदेश होने पर ही सहारनपुर से काशी की अपेक्षा अयोध्या अपर है, पटना पर है, यो पटनासम्बन्धी परत्व और अयोध्या सम्बन्धी अपरत्व गुण बन सकते है अन्यथा नही।

सप्रदेश आकाश के देश, देशान्तर मानने पर ही पदार्थो का एक दूसरे से पृथग्भाव बनता है, वस्त्र से मैल पृथक होगया, अंगुलीसे नख को पृथक कर दिया, ये सब आकाशके अनेक-प्रदेश मानने पर ही सम्भवते है। वैशेषिको ने आद्य स्पन्दन (बहना) का असमवायी कारण द्रवत्व गुण माना है, और आद्य पतन का असमवायी-कारण गुरुत्व गुण स्वीकार किया है, जब आकाश के प्रदेश ही नही हैं तो कौन द्रव्य कहा से बह कर कहाँ जाय? और भारी पदार्थ कहा से गिर कर कहां पडे? समझ मे नही आता है। तिसकारण उन संयोग, विभाग, क्रिया, परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व आदि सम्पूर्ण सुव्यवस्थाओ को स्वीकार करने वाले वैशेषिक या अन्य वादी करके आकाश, आत्मा, आदि द्रव्यो को अतिशीघ्र प्रामाणिक मार्ग अनुसार साश स्वीकार कर लेना चाहिये।

कुतः पुनराकाशस्यानंताः प्रदेशा इत्यावेदयति।

महाराज फिर यह बताओ कि आकाश के अनन्त प्रदेश भला किस ढंग से सिद्ध कर लिये जाते हैं? सम्भव है कि सप्रदेश सिद्ध करदिये गये आकाश के सख्यात या असंख्यात ही प्रदेश होवे? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा आवेदन करते है।

अनंतास्तु प्रदेशाः स्युराकाशस्य समंततः।
लोकत्रयाद्बहिः प्रांताभावात्तस्यान्यथागतेः॥ १ ॥

छहों ओर से या सब ओर से आकाश के प्रदेश तो अनन्तानन्त ही हो सकते है (प्रतिज्ञा) तीनो लोक से बाहर नियत प्रान्त का अभाव होने से (हेतु)। अन्यथा यानी लोक से बाहर प्रान्त का अभाव नही मानने पर तो उस आकाश की गति यानी ज्ञप्ति नही होसकेगी। वैशेषिको के मत अनुसार सर्वगतपना भी नही सम्भवेगा, अल्प देशो मे वर्त रहा आकाश अल्पगत बन वैठेगा।

अनंतप्रदेशमाकाशं लोकत्रयाद्बहिः समंततः प्रांताभावात् यत्रानंतप्रदेशं न तस्य ततो बहिः समन्ततः प्रांताभावो यथा परमाण्वादेः इत्यन्यथानुपपत्तिलक्षणो हेतुः स्वसाध्यं साधयत्येव। ततो बहिः समततः प्रान्ताभावस्याभावे पुनराकाशस्य गत्यभावप्रसंगात्। भावेऽपि कथमाकाशस्य गतिरित्याह।

आकाश द्रव्य (पक्ष) अनन्त प्रदेशवान् है (साध्य) तीनो लोक से बाहर सब ओर से प्रान्त का अभाव होजाने से (हेतु)। जो अनन्त प्रदेश वाला नही है, उसका उस तीनो लोक से बाहर सब ओर प्रान्त का अभाव नही पाया जाता है जैसे कि परमाणु, घट, पट, आदिका प्रान्ताभाव नही है, (व्यतिरेक दृष्टान्त)। इस प्रकार अन्यथानुपपत्ति नामक असाधारण लक्षण से युक्त होरहा हेतु अपने साध्य को साध ही देता है। उस लोकत्रय से बाहर समन्ततः आकाश के प्रान्ताभाव का अभाव माना जायगा यानी प्रान्तभाग मान लिये जायगे तो फिर आकाश द्रव्य की ज्ञप्ति होने के अभाव का प्रसंग आजायगा। कोई प्रश्न करता है कि लोक से बाहर आकाश के प्रान्तों के अभाव का सद्भाव मानने पर भी भला आकाश की ज्ञप्ति किस प्रकार होजायगी ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य महाराज उत्तर वार्तिक को कहते है।

जगतः सावधेस्तावद्भावो बहिरवस्थितिः।
संतानात्मा न युज्येत सर्वथार्थक्रियाक्षमः ॥ २ ॥
न गुणः कस्यचित्तत्र द्रव्यस्यानभ्युपायतः।
तदाश्रयस्य कर्मादेरपि नैवं विभाव्यते ॥ ३ ॥
द्रव्यं तु परिशेषात्स्यात्तन्नभो नः प्रतिष्ठितं।
प्रसक्तप्रतिषेधे हि परिशिष्टव्यवस्थितिः ॥ ४ ॥

सब से प्रथम यहां विचार करना है कि चराचर वस्तुओ का पिण्ड होकर यह जगत् मर्यादा-सहित है, चाहे तीन लोक माने जाय या सात भुवन अथवा चौदहभुवन आदि माने जाय इनकी अवधि अवश्य मानी जायगी। अवधिसहित इस जगत् से बाहर भी कोई भावात्मक पदार्थ अवस्थित है जो कि कल्पित सन्तानस्वरूप तो नही उचित है, क्योकि अर्थक्रिया करने मे वह समर्थ है, कल्पित पदार्थ सभी प्रकार से अर्थक्रिया को नही कर सकता है, " नहि मृण्मयो गौर्वाह--दोहादावुपयुज्यते " अतः वह भाव--पदार्थ बौद्धो के यहां माने गये अनुसार कल्पित सन्तान स्वरूप नही माना जा सकता

है। पृथिवी, जल, आदिस्वरूप भी वह नहीं है क्योंकि ये सब लोक के भीतर ही है। लोक से बाहर का भाव पदार्थ रूप, रस, आदि गुण-स्वरूप भी नहीं होसकता है क्योंकि उस गुण के आश्रयभूत किसी भी एक पृथिवी आदि द्रव्य को वहां स्वीकार नहीं किया गया है। इसी प्रकार कर्म (क्रिया), सामान्य (जाति) आदि के सम्भवने का भी वहां विचार नहीं किया जा सकता है क्योंकि उनके आश्रयभूत हो रहे द्रव्य का अभाव है, द्रव्य के विना ये विचारे कहां ठहर पायेंगे ? । हां पृथिवी, वायु, आत्मा, गुण, आदि का निषेध करते हुये " परिशेषन्याय " से जो कोई द्रव्य वहां जगत् के बाहर ठहर पायेगा वही तो हम स्याद्वादियों के यहां आकाश द्रव्य प्रतिष्ठित है, " प्रसक्तप्रतिषेधे परिशिष्ट-सम्प्रत्ययहेतु परिशेष: " क्योंकि प्रसंग-प्राप्त पदार्थों का युक्तियों से निषेध कर चुकने पर अन्त में जो परिशिष्ट (बच) रह जाता है, उसकी "परिशेषन्याय" अनुसार व्यवस्था कर दी जाती है। अर्थात्-जगत् के बाहर कोई पृथिवी आदि द्रव्य नहीं है, केवल आकाश द्रव्य है ।

अनंता लोकधातव इत्याकाशतत्ववादिनां दर्शनमयुक्तं प्रमाणाभावात्। स्वभावविप्रकृष्टानां भावाभावनिश्चयासंभवात् संभवे वा स्वतः क्षतिप्रसंगात् तदागमस्य प्रमाणभूतस्यानभ्युपगमात्। ततः सावधिरेव लोको व्यवतिष्ठते तस्य च स्वतो बहिः समंतादभावस्तावत्सिद्धः स च नीरूपो न युज्यते प्रमाणाभावात्। भावधर्मस्वभावो न गुणः, कर्म, सामान्यं, विशेषो वा, कस्यचिद्द्रव्यस्य तदाश्रयस्यानभ्युपगमात् परिशेषाद्द्रव्यमिति विभाव्यते। प्रसक्तप्रतिषेधे परिशिष्टव्यवस्थितेः तदस्माकमाकाशं सर्वतोऽवधिरहितमित्यनंतप्रदेशसिद्धिः।

लोक नामक धातुयें अनन्त है अर्थात्—लोक तीन, सौ, हजार लाख, आदि इतने ही नहीं है किन्तु सख्यात, असख्यात, से भी बढ कर अनन्त है। आचार्य कहते है कि इस प्रकार आकाशतत्व को मानने वालों का दर्शन अयुक्त है क्योंकि इस मे कोई प्रमाण नहीं है, अथवा आकाश को तत्व मानने वालों के यहा लोकों को भी अनन्त कहने वाला दर्शन अयुक्त है, इस विषय का कोई प्रत्यक्ष या अनुमान अथवा आगम प्रमाण नहीं है। स्वभाव से विप्रकृष्ट (व्यवहित) होरहे चाहे किन्ही भी अतीन्द्रिय पदार्थों के भाव या अभाव का निश्चय करना असम्भव है, फिर भी चाहे किसी भी अतीन्द्रिय पदार्थ का सद्भाव मान लिया जायगा तो सभी दार्शनिकों के यहा स्वत ही क्षति होने का प्रसग आजावेगा, चाहे कितने भी मन--माने सूक्ष्म पदार्थ मान लिये जावेंगे और चाहे किसी भी परमाणु, आकाश, कर्म, काल द्रव्य आदि स्वभावविप्रकृष्ट पदार्थोंका अभाव कर दिया जा सकता है। प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से तो अनन्त लोकों की सिद्धि नहीं होसकती है, और जिस आगम मे लोक अनन्त लिखे हुये है, उस आगम को प्रमाणभूत स्वीकार नहीं किया गया है, तिस कारण से मर्यादासहित ही लोक व्यवस्थित होता है।

उस पञ्च द्रव्य समुदाय या षट् द्रव्यसमूह--स्वरूप मर्यादित लोक का अपने से बाहर सब ओर अभाव तो सिद्ध ही है किन्तु वह लोक का अभाव नि:स्वरूप या प्रसज्यपक्ष अनुसार तुच्छ अभाव रूप माना जाय यह तो उचित नहीं है क्योंकि इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है। इस परिमित लोक के बाहर भी कोई भाव--पदार्थ ठहर सकता है, पर्युदास नामक अभाव के अनुसार वह लोक के बाहर

लोक का अभाव माना गया भाव धर्म स्वभाव होरहा पदार्थ किसी रूप आदि चौबीस गुण स्वरूप भी नही है, अथवा उत्क्षेपण आदि पाच कर्म स्वरूप भी नही है, इसी प्रकार वैशेषिको के यहाँ माने गये सामान्य अथवा विशेष पदार्थ--स्वरूप भी नही है, क्योकि उन गुण आदि के आश्रय होरहे किसी भी द्रव्य को वहाँ स्वीकार नही किया गया है, स्वकीय आधार के विना गुण आदि किसका आश्रय पाकर ठहरे ? । तब तो परिशेषन्याय से वह कोई द्रव्य ही विचारा जा सकता है । प्रसग--प्राप्तो का निषेध कर चुकने पर बच रहे परिशिष्ट पदार्थ की व्यवस्था होजाती है, अत वही द्रव्य हम स्याद्वादियो के यहां आकाश माना जा रहा है, अर्थात्—लोक के बाहर पृथिवी, जल आदि तो हो नही सकते है, क्योकि वहा उनके ठहरने या गमन का हेतु अधर्म या धर्म द्रव्य नही है, इस कारण से वहा जीव द्रव्य भी नही है, जहां पुद्गल, जीव, धर्म अधर्म, और कालद्रव्य पाये जाते है वह तो लोक ही है, लोक से बाहर सब ओर मे अवाधरहित होरहा आकाशद्रव्य है, इस कारण आकाश के अनन्तानन्त प्रदेशों की सिद्धि होजाती है, यो आकाश की ज्ञप्ति और आकाश के प्रदेशो की सिद्धि कर दी गयी है ।

परेषां पुनरनन्ता लोकधातवः सतोपि यदि निरतरास्तदा अंतरालप्रतीतिर्न स्यात् सर्वथा तेषां निरंतरत्वे चैकं लोकधातुमात्रं स्यात् । परेषां लोकधातूनां तत्रानुप्रवेशात् एकदेशेन नैरन्तर्ये सावयवत्वं तदवयवेनापि तदवयवांतरैः सर्वात्मना नैरंतर्ये तदेकावयवमात्रं स्यात्, तदेकदेशेन नैरन्तर्ये तदेव सावयवत्वमेवमनन्तपरमाणूनां सर्वात्मना नैरन्तर्ये परमाणुमात्रं जगद्भवेत तदेकदेशेन नैरंतर्ये सावयवत्वं परमाणूनां । तस्मादिष्टं इति सांतरा एव लोकधातवः प्रतिपरमाणु वक्तव्याः । तदन्तर एवाकाशमेवोक्तव्यापादनादनंतप्रदेशमायातं ।

दूसरे वादी पण्डितो के यहाँ फिर लोकधातुयें अनन्त होरहे सन्ते भी यदि वे अन्तररहित है तब तो उनके मध्य मे पडे हुये अन्तराल की प्रतीति नही होनी चाहिये । दूसरी बात यह है कि सर्वथा उनका अन्तररहितपना माननेपर केवल एक ही लोकधातु हो सकेगा, अनेक लोक कथमपि नही माने जासकेंगे क्योकि अन्तररहित अवस्था मे अन्य सम्पूर्ण लोक धातुओ का उस एक ही लोक मे अनुप्रवेश होजायगा । जैसे कि एक लोक मे पड़े हुये प्रान्त या देशो का उसी लोक मे अन्तर्भाव होजाता है, यदि लोको का परस्पर मे एक देश करके अन्तररहितपना माना जायगा तब तो लोक सावयव होजायगे क्योकि अवयवो से सहित होरहे पदार्थों का एकदेश या प्रान्तदेश अथवा मध्यदेश करके निरंतरपना या सान्तरपना सम्भवता है । तथा उस अवयवी के एक देश होरहे अवयव करके उसके अन्य अवयवो के साथ सम्पूर्ण रूप से यदि निरतरपना माना जायगा तो वह पूरा अवयवी केवल एक अवयव-प्रमाण (वरोवर) होजायगा ।

इसी प्रकार उस छोटे अवयवी स्वरूप अवयव के एक देश करके अन्तराल का अभाव माना जायगा तो फिर वही अवयव—सहितपना प्राप्त होना है । इस प्रकार अन्त मे जाकर सब से छोटे चरमावयव होरहे अनन्त परमाणुओ का सम्पूर्ण स्वरूप से निरन्तरपना स्वीकार करने पर यह जगत् केवल एक परमाणु—वरोवर होजायगा । यदि परमाणु के वरोवर उस जगत् का फिर एक देश करके अन्तरालाभाव माना जायगा तो परमाणुओ को अवयव से सहितपन का प्रसंग प्राप्त होता है, जो कि

किसी भी वादी, प्रतिवादी, विद्वान् को इष्ट नही है, इस कारण निरन्तरपन के पक्ष का परित्याग कर लोक धातुओ को अन्तरसहित ही स्वीकार कर लेना अच्छा है। सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर प्रत्येक परमाणु को अन्तर-सहित कहना उचित पडता है, प्रत्येक प्रत्येक परमाणु अनुसार वे लोकधातुयें अन्तराल सहित है और वह अन्तर यानी व्यवधान ही तो आकाश है, या वह अन्तर आकाश ही तो है, इस प्रकार अनन्त लोक-धातुओ को मानने वाले वादी के उक्त मन्तव्य का खण्डन कर देने से यह प्राप्त होता है, कि एक आकाशद्रव्य अनेक प्रदेशो मे फैल रहा अनन्तानन्त प्रदेशों वाला है।

आलोकतमःपरमाणुमात्रमतरमिति चेन्न, आलोकतमःपरमाणुभिरपि सान्तरैर्भवितव्यं। नैरंतर्ये प्रतिपादितदोषानुषंगात्। तदंतराण्याकाशप्रदेशा एवेत्यवश्यभावि नभोऽनंतप्रदेश।

यदि कोई यो कहे कि लोकधातुओ या परमाणुओ को न्यारा न्यारा करने के लिये अन्तर-सहित मानना ठीक है किन्तु वह अन्तराल आकाश पदार्थ स्वरूप नही मानकर केवल अवश्य माने जा हे आलोक अन्धकार, और परमाणुस्वरूप ही अन्तर माना जाय अथवा प्रकाश होने पर आलोक के परमाणुओ स्वरूप और अन्धकार मे तमः के परमाणुओ स्वरूप वह अन्तराल मान लिया जाय व्यर्थ मे अत्यन्तपरोक्ष आकाश द्रव्य के मानने की आवश्यकता नही दीखती है। ग्रन्थकार कहते है, कि यह तो नही कहना क्योकि आलोक के और अन्धकार के परमाणुएं भी तो खण्ड, खण्ड, होकर न्यारे न्यारे द्रव्य है, उनको भी अन्तरालसहित होना चाहिये तभी उन छोटे छोटे परमाणुओ के स्वतंत्र द्रव्यपन की रक्षा होसकती है, यदि उन आलोक परमाणुओ या अन्धकारपरमाणुओ का निरन्तरपना स्वीकार किया जायगा तो अभीकहे जा चुके दोषो का प्रसंग होगा।

अर्थात्—एक देशकरके निरन्तरपना मानने पर अनेक परमाणुओ का सावयवपना मानना-पड़ेगा और सर्वात्मना निरन्तरपना (ससर्ग) मानने पर केवल परमाणु के बराबर जगत् हुआ जाता है, जोकि किसी को भी इष्ट नही है, अतः लोकधातुओ अथवा प्रत्येकपरमाणुओ तथा आलोकपरमाणुये और तम.परमाणुयें उन सब के अन्तर होरहे आकाश प्रदेश ही है, इस कारण लोक के बाहर अनन्तानन्त प्रदेशो वाला आकाश द्रव्य अवश्यभावी है, लोक के बाहर एक अखण्ड आकाश द्रव्य अनन्तानन्त क्षेत्र मे फैल रहा है। घी से भरी हुई कढाई मे दसों पूडियो को डाल देने पर उन पूड़ियों के सब ओर फैल रहा घृत जैसे उनके परस्पर मे अन्तर है, उसी प्रकार अनेक पदार्थो का अन्तर आकाशद्रव्य होसकता है, हाँ अन्तरालरहित पदार्थो में आकाश का अन्तर मानना कोई प्रयोजनसाधक नही है, भले ही उन अखण्ड, अच्छिद्र, स्कन्ध आदि पदार्थो मे भीतर बाहर सब ओर आकाश द्रव्य ओत पोत घुस रहा है या वे पदार्थ उस आकाश में सर्वाङ्ग डूब रहे है।

आगमज्ञानसंवेद्यमनुमानविनिश्चितं।
सर्वज्ञैर्वा परिच्छेद्यमप्यनंतप्रमाणभाक् ॥ ४ ॥

आकाश द्रव्य का अनन्तप्रदेशीपना निर्दोष आगम प्रमाण से जानने योग्य है, तथा निर्दोष हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान प्रमाण द्वारा भी आकाश का अनन्तप्रदेशीपना विशेषरूप से निश्चित कर लिया जाता है, अथवा सर्वज्ञ जीवो करके भी अनन्त प्रदेशीपना विषय करने योग्य है, इस प्रकार आगम, अनुमान, और प्रत्यक्ष प्रमाणो करके जाना जा रहा आकाश अनन्तप्रदेशो के परिमाण को धार रहा है ।

यद्विज्ञानपरिच्छेद्यं तत्सांतमिति योऽब्रवीत् ।
तस्य वेदो भवादिर्वा नानंत्यं प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥

यहां कोई कुतर्क उठाता है कि जो विज्ञान करके जानने योग्य है, वह सान्त ही है, अनन्त नही । आचार्य कहते है कि इस प्रकार जो कटाक्ष कह चुका था उस पण्डितके यहा वेद अथवा महेश्वर, काल, बीज, वृक्ष सन्तान आदिक पदार्थ फिर अनन्तपन को नही प्राप्त होसकेगे । अर्थात्-ज्ञान से परिच्छेद्य वेद है, ईश्वर को भी आगम ज्ञान से जाना जाता है, युक्तियो से सन्तान का ज्ञान होजाता है किन्तु ये ज्ञेय होकर भी अनन्त माने गये है । इसी प्रकार आकाश द्रव्य भी परिच्छेद्य होकर अनन्त होसकता है, ये बात दूसरी है कि अनन्त को अनन्तपने करके ही जाना जायगा, सान्तपने करके नही । यों कुतर्की का सान्तत्व को साधने मे दिया गया " विज्ञान परिच्छेद्यत्व हेतु व्यभिचारी हुआ " ।

स्वयं वेदस्येश्वरस्य पुरुषादेर्वा अनाद्यनन्तत्वं कुतश्चित्प्रमाणात् परिच्छिन्दन्नपि तत्सादिपर्यन्तत्वं प्रतिक्षिपन्नाकाशस्यानुमानागमयोगिप्रत्यक्षैः परिच्छिद्यमानस्यानंतत्वं प्रतिक्षिपतीति कथं स्वस्थः ? प्रमाणस्य यथावस्थितवस्तुपरिच्छेदनस्वभावत्वादनंतस्यानं त्वेनैव परिच्छेदने को विरोधः स्यात् संख्यातासंख्यातादेस्तथा परिच्छेदनवत् । ततः सूक्तमाकाशस्यानंताः प्रदेशा इति ।

वेद का, ईश्वर का, अथवा आत्मा, प्रकृति, आदि का, अनादि अनन्तपना किसी भी प्रमाण से स्वयं जान रहा सन्ता भी और उन वेद आदि के सादि सान्तपन का खण्डन कर रहा सन्ता भी यह वादी फिर अनुमान, आगम, और सर्वज्ञप्रत्यक्ष इन प्रमाणो करके जाने जा रहे आकाश के अनन्तपन का खण्डन कर देता है, इस प्रकार कहने वाला वादी स्वस्थ किसप्रकार कहा जासकता है । किसी ज्ञेय पदार्थ को अनन्त माने और दूसरे ज्ञेय पदार्थ को यो ही मनमाना सान्त कह दे, वह वादी उन्मत्त ही कहा जा सकता है । भाई बात यह है कि प्रमाण का स्वभाव तो जो पदार्थ-जैसे व्यवस्थित है, उस वस्तु का उसी अन्यून, अनतिरिक्त, रूप से ज्ञान कर लेना है, अनन्त पदार्थ का अनन्तपने करके ही ज्ञान करने में भला कौन सा विरोध आजायगा ? अर्थात्-कोई नही । जिस प्रकार संख्यात या असंख्यात आदि की तिसप्रकार संख्यातपने या असंख्यातपने आदि करके ठीक परिच्छित्ति होजाती है, अथवा असंख्यातासंख्यात की असंख्यातासंख्यात रूप करके ज्ञप्ति है, उसी प्रकार आकाश के प्रदेशो का अनन्तानन्तरूप से ज्ञान होजाता है किसी स्थूलबुद्धिवाले पुरुष को यदि कोई सूक्ष्म पदार्थ या कठिन पदार्थ समझ मे नही आकर अज्ञेय होरहा है, फिर भी उस अज्ञेय पदार्थ को अज्ञेय--पने करके ज्ञेय कह सकते हैं, केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद सबसे बड़ी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नामकी संख्या वाले हैं,

अलौकिक गणित अनुसार वे भी इकईसवें संख्यामान द्वारा परिमित हैं, आकाश के अनन्तानन्त प्रदेश भी सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष में हस्तामलकवत् देखे जा रहे परिमित हैं, हा वे अनन्तानन्त अवश्य हैं, तिस कारण सूत्रकार ने यों इस सूत्र मे बहुत अच्छा कहा था कि आकाश द्रव्य के अनन्तानन्त प्रदेश हैं। यहां तक इस सूत्र का व्याख्यान समाप्त हुआ।

धर्म, अधर्म, एक जीव और आकाश यों चार अमूर्त द्रव्यों के प्रदेशों का परिमाण जाना जा चुका है, अब महाराज बताओ कि मूर्त पुद्गलों के प्रदेशों का परिमाण कितना है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते हैं।

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

पुद्गल द्रव्यों में से किसी के संख्यात प्रदेश हैं, किसी अशुद्ध पुद्गल द्रव्य के असंख्यात प्रदेश है, और च शब्द करके समुच्चय किये गये अनन्त प्रदेश भी किसी पुद्गल स्कन्ध के माने जाते हैं।

प्रदेशा इत्यनुवर्तते । च शब्दादनंताश्च समुच्चीयते । कुतस्ते पुगद्लानां तथेत्याह ।

इस सूत्र में " असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम् " इस सूत्र से प्रदेशाः इस पद की अनुवृत्ति होरही है और च शब्द से पूर्वसूत्रोक्त " अनन्ताः " इस वाच्यार्थ का समुच्चय कर लिया जाता है, ऐसी दशा मे इस सूत्र का यो अर्थ होजाता है कि पुद्गलों के संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रदेश हैं। कोई यहा यदि यो प्रश्न करे कि पुद्गलों के तिस प्रकार संख्यात, असंख्यात, और अनन्ते वे प्रदेश किस प्रमाण से भला सिद्ध होजाते है बताओ ? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार उत्तर-वार्त्तिक को कहते है।

संख्येयाः स्युरसंख्येयास्तथानंताश्च तत्त्वतः ।
प्रदेशाः स्कंधसंसिद्धेः पुगद्लानामनेकधा ॥ १ ॥

पुद्गल द्रव्यो के प्रदेश सख्यात और असख्यात तथा अनन्त होसकते है, (प्रतिज्ञा) क्योकि वास्तविक रूप से पुद्गलों के अनेक प्रकार के स्कन्धों की अच्छी सिद्धि होरही है, (हेतु)। अर्थात्—जितने परमाणुओं से जो स्कन्ध बनेगा उस-स्कन्ध मे उतने परमाण्ववगाही प्रदेश कहे जायेंगे। पुद्गलस्कन्ध में आकाश के प्रदेशों की लम्बाई, चौड़ाई, अनुसार प्रदेश नहीं माने गये हैं जैसे कि धर्म, अधर्म, एक जीव और आकाश में माने गये वे किन्तु पुद्गलो मे तो परमाणुओ की गिनती अनुसार प्रदेशों की संख्या नियत की गयी है, भले ही आकाश का क्षेत्र उनमे बहुत थोड़ा होय या अधिक से अधिक परमाणुओं की संख्या बराबर संख्यातप्रदेशी या असंख्यात प्रदेश वाला होय। अनन्त प्रदेश वाले आकाश में तो कोई पुद्गल द्रव्य ठहरता ही नहीं है क्योंकि पुद्गलों का अवस्थान असंख्यात प्रदेशवाले लोकाकाश में ही है अलोकाकाश में नही।

संख्येयपरमाण्वारब्धानामनेकधा--स्कंधानामसंख्यातानंतानंतपरमाण्वारब्धानां च संसिद्धेः पुद्गलानां स्युरेव संख्येयाश्चासंख्येयाश्चानंताश्च प्रदेशास्तत्त्वतः सकलबाधवैधुर्यात्।

संख्याते परमाणुओं करके आरम्भे गये अनेक प्रकारके स्कन्धों की भले प्रकार प्रमाणों से सिद्धि होरही है तथा असंख्यात परमाणुओं या अनन्त-परमाणुओं अथवा अनन्तानन्त परमाणुओं से बनाये जा चुके अनेक प्रकारके पौद्गलिक स्कन्धों की भलो सिद्धि होरही है, इस कारण से पुद्गलों के इस प्रकार संख्येय और असंख्येय तथा अनन्त प्रदेश होसकते हैं क्योंकि वास्तविक रूप से सम्पूर्ण बाधाओं का रहितपना देखा जाता है अर्थात् बाधा-रहित प्रमाणों से जिसकी सिद्धि है उस पदार्थ का सद्भाव अवश्य स्वीकार करने योग्य है। जैसे कि स्वकीय या पर के सुखदुःखों का अस्तित्व जान लिया जाता है।

ननु च स्कंधस्य ग्रहणं तदारंभकावयवग्रहणपूर्वकं तदग्रहणपूर्वकं वा ? प्रथमपक्षेऽनंतशः परमाणूनां तदवयवानामतींद्रियत्वादग्रहणे स्कंधाग्रहणमिति सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः, द्वितीयपक्षेऽत्र सकलावयवशून्येपि देशेऽवयविग्रहणप्रसंगः कतिपयावयवग्रहणपूर्वकेपि स्कंधग्रहणे सर्वाग्रहणमेव कतिपयावयवानामप्यनंतशः परमाणूनां व्यवस्थानात्तेषां च ग्रहणासंभवात्। ततो न परमार्थतः स्कंधसंसिद्धिः अनाद्यविद्यावशाद्दत्यासन्नेष्वसंसृष्टेषु बहिरंतश्च परमाणुषु तदाकारप्रतीतेः तादृशकेशादिष्वप्यन्याकारप्रतीतिवदिति कश्चित्

यहां कोई अवयवी को नहीं मानने वाला बौद्ध-वादी शंका करता हुआ स्वपक्ष का अवधारण करता है कि स्कन्ध का ग्रहण क्या उसको बनाने वाले अवयवों के ग्रहणपूर्वक होगा ? अथवा क्या उसके आरम्भक अवयवों का पूर्व में ग्रहण नहीं कर झटिति अवयवी का ग्रहण होजावेगा ? बताओ। प्रथम पक्ष ग्रहण करने पर उस स्कन्ध के अवयव होरहे कई वार अनन्ते अनन्ते परमाणुओं का अतीन्द्रियपना होने के कारण नहीं ग्रहण होनेपर स्कन्ध का ग्रहण नहीं होसकता है, इस कारण सम्पूर्ण पदार्थों का ग्रहण नहीं होसका क्योंकि अवयवी पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकी है। अर्थात्— परमाणुभूत अवयव तो अतीन्द्रिय है और अवयवीको हम बौद्ध मानते नहीं हैं, ऐसी दशा मे किसी भी पदार्थ का ग्रहण नहीं हुआ। यहां दूसरा पक्ष लेने पर तो यानी-पूर्व में अवयवोंका ग्रहण नहीं होते हुये भी स्कन्ध का ग्रहण होजाता है जो मानने पर सम्पूर्ण अवयवों से रीते होरहे भी देश मे अवयवी के ग्रहण होजाने का प्रसंग आवेगा।

यदि जैन या नैयायिक यों तीसरा पक्ष उठावें, कितने ही एक थोड़े से अवयवों का ग्रहण पूर्व में होने पर पुनः स्कन्ध का ग्रहण होजाता है तो भी हम बौद्ध कहते हैं कि यों मानने पर भी सभी अवयवों या अवयवियों का अग्रहण ही होगा क्योंकि स्कन्ध के कतिपय अवयव होरहे भी तो अनन्ते परमाणुओं की आप जैनों के यहां व्यवस्था की गयी है, अतः कितने ही एक अवयवभूत अनन्ते परमाणुओं का ग्रहण करना असम्भव है, तिस कारण वास्तविक रूप से स्कन्ध की समीचीन सिद्धि नहीं होसकती। हां अनादि काल से लगी हुई अविद्या के बल से जीवों को अति निकटवर्ती हो रहे किन्तु एक दूसरेके साथ नहीं संसर्गित हुये बहिरंग परमाणु और अन्तरंग परमाणुओंमें उस स्कन्ध आकार की

प्रतीति होजाती है जो कि भ्रान्त है जैसे कि तिस प्रकार के प्रति निकट-वर्ती और परस्पर नहीं सम्बन्धित होरहे केश धान्य, वालुका कण आदि में भी उन आकारो से न्यारे आकारो की प्रतीति-कीजाती है। भावार्थ-न्यारे न्यारे केशो के प्रति निकट होजाने पर कबरी, वेनी, चुट्ट, जटा, आदि प्रतीतियां होजाती हैं, न्यारे न्यारे अनेक धान्यो को मनुष्य एक धान्यराशि कह देते है, इसी प्रकार न्यारे न्यारे परमाणुओ के समीपवर्ती होजाने पर उनको भ्रान्तिवश जन स्कन्ध कह देते हैं। वस्तुतः सूक्ष्म, असाधारण, क्षणिक परमाणुये ही यथार्थ हैं, कालान्तरस्थायी, स्थूल, साधारण, माना जा रहा अवयवो या स्कन्ध तो वस्तुभूत पदार्थ नही है, यहां तक कोई बौद्ध पण्डित कह रहा है।

तस्यापि सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः। परमाणवो हि बहिरंतर्वाऽबुद्धिगोचरा एवातींद्रियत्वात् न चावयवी तदारब्धोभ्युपगतः इति सर्वस्य बहिरंगस्यांतरंगस्य चार्थग्रहणं कथं विनिवार्यते ? ।

अब आचार्य कहते हैं कि उस बौद्ध पण्डित के यहां भी (हो) सम्पूर्ण पदार्थों का ग्रहण नही होपाता है क्योकि अवयवी पदार्थ की सिद्धि उन्हो ने नही मानी है, तथा वहिरग और अन्तरग स्वलक्षण परमाणुये अथवा विज्ञानपरमाणुयें तो अतीन्द्रिय होने के कारण बुद्धि के विषय ही नही हैं और उन परमाणुओ से बनायागया अवयवी पदार्थ बौद्धों ने स्वीकृत नहीं किया है, इस प्रकार सम्पूर्ण वहिरगपदार्थ और अन्तरंग पदार्थों का ग्रहण नही होसकना भला किस प्रकार दूर किया जा सकता है ? अर्थात्—बौद्धों के यहाँ किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं होपाता है।

अथ केचित्संचिताः परमाणव एव स्वप्रत्ययविशेषादिंद्रियज्ञानविषयस्वभावा जायंते तेषां ग्रहणसिद्धेर्न सर्वाग्रहणमिति मतं तदपि न समीचीनं, कदाचित्क्वचित्कस्यचित्परमाणुप्रतीत्यभावात् एकोहि ज्ञानसन्निवेशी स्थविमानाकारः परिस्फुटमवभासते । परमाणव एव चेतनान्मन्यदिशमानमप्याकारं कथं यांतं कुतश्चिद्विभ्रमाद्दर्शयंतीति चेत्, कथंचित्प्रतिभाताःस्ते तमुपदर्शयेयुरप्रतिभाता वा ? न तावदप्रतिभाताः सर्वत्र सर्वदा, सर्वथा सर्वस्य तद्दर्शनप्रसंगात्, प्रतिभाता एव ते तमुपदर्शयंति स्वरूपादिनाकेशादिवदिति चेन्न । परमाणुत्वादिनापि तेषां प्रतिभातत्वप्रसंगात् ।

अब बौद्ध यों कहते हैं कि हम परमाणुओ की सदा उत्पत्ति मानते रहते हैं कोई कोई एकत्रित हुये परमाणु ही स्वकीय कारणों की विशेषता से इन्द्रियजन्य ज्ञानों करके जानने योग्य स्वभाव वाले उपज जाते हैं, उनका ग्रहण होना सिद्ध है इस कारण सम्पूर्ण पदार्थोंका अग्रहण नही हुआ, कतिपय दृष्टव्य परमाणुओ का इन्द्रियो द्वारा ग्रहण होचुका है, बौद्धो का यह मत है। अब आचार्य कहते हैं कि बौद्धो का वह मन्तव्य भी समीचीन नहीं है क्योकि कभी भी, कही भी, किसी भी, अल्पज्ञ व्यक्ति को परमाणुओ की प्रत्यक्ष प्रतीति होने का अभाव है। जब कि एक ही स्कन्ध वेचारा ज्ञान मे स्थूल रचनाओं को धारने वाला प्रतीत होरहा है, जो कि अपने को जानने वाली बुद्धि करके अनाकार होरहा पूर्ण स्पष्ट रूप से प्रतिभास रहा है अर्थात्-अर्थों के प्रतिविम्बों के नही धाररहा और स्व को

भी जानने वाला ज्ञान अनाकार है हां उस ज्ञान द्वारा स्थूल आकार वाला एक अवयवी स्पष्ट जान लिया जाता है।

यदि बौद्ध यहां यो कहै कि परमाणुयें ही चेतन आत्मा में नहीं विद्यमान होरहे भी अति स्थूल आकार को किसी एक भ्रान्तिज्ञान से दिखला देती हैं जैसे कि स्थूलदर्शक मोटे काच करके छोटा पदार्थ भी बहुत बडा दीखने लग जाता है, यो कहने पर तो आचार्य बौद्ध से पूछते हैं कि वे परमाणुयें किसी न किसी प्रकार प्रतिभासित होचुकी सन्ती उस स्थूल आकार को दिखलावेंगी ? अथवा क्या नहीं प्रतिभासित होरही परमाणुयें भी अविद्यमान, स्थूल, आकार को चेतन आत्मामें दिखला देवेंगी ? बताओ। द्वितीय पक्ष अनुसार नही प्रतिभासित हुयी परमाणुयें तो विज्ञान मे स्थूल आकार को नही दिखला सकती हैं क्योकि यो मानने पर तो सभी स्थानो पर सभी कालों में, सभी प्रकार, सम्पूर्ण जीवो के, उस स्थूल आकार के दीख जाने का प्रसग आवेगा क्योकि परमाणुओ का अप्रतिभास तो सर्वत्र सर्वदा सब जीवो के सुलभतया विद्यमान है। हां प्रथम पक्ष अनुसार आप बौद्ध यो कहै कि वे परमाणुयें सत्त्व, वस्तुत्व, आदि करके प्रतिभासित हो रही सन्ती ही उस स्थूल आकार को दिखला देती हैं, जैसे कि सत्त्व, पदार्थत्व, आदि रूप करके प्रतिभासित होरहे ही केश, धान्य, सूत, आदिक उन कबरी, धान्यराशि, रस्सा आदि स्थूल आकारों को दिखला देते है। आचार्य कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जब आप बौद्ध परमाणुओं को सर्वांगीण प्रतिभासित कर चुके है, तो परमाणुत्व, सूक्ष्मत्व क्षणिकत्व, स्वलक्षणत्व आदि स्वरूप--करके भी उन परमाणुओं के प्रतिभासित हो चुकनेपन का प्रसंग आयगा किन्तु यह बात अलीक है, किसी भी अर्वाग्दर्शी को परमाणु का परमाणुपन आदि धर्मों करके स्पष्ट प्रतिभास नहीं होपाता है।

सत्यं, तेनाप्रतिभाता एव परमाणवः "एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य स्वतः स्वयं। कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते" ॥ इतिवचनात् केवलं तथा निश्चयानुत्पत्तेस्तेषामप्रतिभातत्वमुच्यते। "तस्माद्दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः। भ्रांतेर्निश्चीयते नेति साधनं संप्रवर्तते" ॥ इति वचनात् सत्त्वादिनैव स्वभावेन तत्र निश्चयोत्पत्तेरभ्यासप्रकरणबुद्धिपाटवार्थित्वलक्षणस्य तत्कारणस्य भावाद्वस्तुस्वभावात्। वस्तुस्वभावो ह्येष परं प्रति प्रातीतिकानुभवपटीयान् कश्चिदेव स्मृतिबीजमाधत्ते प्रबोधयति चांतरं संसारमिति चेत्, कथमेवं सत्त्वादेरणुत्वादिस्वभावः परमाणुषु भिन्नो न भवेद्विरुद्धधर्माध्यासात् सह्यविंध्यवत्।

बौद्ध कहते हैं कि आप जैनों का कहना सत्य है उस परमाणुत्व आदि स्वभाव करके नहीं प्रतिभासित होरहे ही परमाणुयें उस आकार को दिखलाते हैं यह द्वितीयपक्ष हमको अभीष्ट है, हमारे बौद्धग्रन्थों में इसप्रकार का कथन है कि अर्थ के एकस्वभाव का जब स्वतः ही अपने आप प्रत्यक्ष ज्ञान होगया है, तो उस पदार्थ का कौनसा अन्यभाग देखा जा चुका, भला प्रमाणों करके परितः नहीं देखा गया है ? अर्थात्—पदार्थों में अनेक स्वभाव तो नही हैं किसी का एक बार प्रत्यक्ष कर लेने पर उस पदार्थ का पूर्णरूप से प्रत्यक्ष होजाता है, कोई भाग अदृष्ट नहीं रहता है, केवल इतनी बात है कि तिस प्रकार निश्चय की उत्पत्ति नहीं होने से उन परमाणुओं का अप्रतिभासितपना कह दिया जाता है, हमारे ग्रन्थों में यह भी कथन है कि तिसकारण देखे जा चुके पदार्थ के सम्पूर्ण गुण देखे जा चुके समझ

लेने चाहिये, हाँ कदाचित् भ्रान्ति होजाने से यदि किसी गुण का निश्चय नहीं किया जा सकता है तो साधन की प्रवृत्ति होती है, यानी--हेतु के द्वारा उस अनिर्णीत गुण का निश्चय कर लिया जाता है। भावार्थ--जैसे असाधारण, सूक्ष्म, परमाणु स्वरूप, स्वलक्षण के क्षणिकपन का ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा उसी समय हो चुका था क्योंकि देखे जा चुके पदार्थ में कोई न्यारे न्यारे अनेक अंश नहीं हैं। जिसमे कि कुछ अंशो को जान लिया जाय और कतिपय स्वभावो को छोड दिया जाय। बात यह है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष करके पदार्थका सर्वांगीण प्रत्यक्ष होजाता है किन्तु अनादि--कालीन वासना से जीवों के उत्पन्न होगये भ्रान्ति ज्ञान अनुसार उस क्षणिक पदार्थ मे कालान्तरस्थायीपन या नित्यपन स्थूलपन आदि का ज्ञान हो जाता है, इस भ्रान्ति को दूर करने की सामर्थ्य निर्विकल्पक ज्ञानमे नही है, अतः " सर्वं क्षणिक सत्त्वात् कृतकत्वाद्वा " इस निश्चयज्ञानात्मक अनुमान करके देखे जा चुके ही क्षणिकत्व का निर्णय कर लिया जाता है, इसी प्रकार परमाणु को जान चुकने पर ही उसके सम्पूर्ण स्वभावो का उसी समय दर्शन होचुका था, केवल कुछ गुणो का तिस प्रकार निश्चय नही उपजने से परमाणुओ को अप्रतिभासित कह दिया जाता है।

सत्व, पदार्थत्व, आदि स्वभावो करके ही उन परमाणु स्वरूप विषयों में निश्चय की उत्पत्ति होती है क्योंकि वस्तु के स्वभाव अनुसार उस निश्चय के कारण होरहे १ अभ्यास, २ प्रकरण, ३ बुद्धि-पाटव और ४ अर्थित्व स्वरूपों का वहाँ सद्भाव है। वस्तु का यह स्वभाव है कि प्रतीति के अनुसार अनुभव कराने मे अतीव दक्ष होरहा वह स्वभाव वस्तु के किसी ही अभ्यस्त अंश में दूसरे स्मरण करता जीव के प्रति स्मृति के बीज का आधान कर देता है, अन्य अनभ्यस्त या अबुद्धि--गोचर अंशो में नहीं। और संसार--वर्त्ती प्राणियो को अभिन्न परमाणु में भी यों अन्तर--प्रबोध करा देता है। अर्थात्- परमाणु के सत्त्वगुण में अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपटुता और अभिलाषुकतायें विद्यमान हैं, अतः परमाणु के सत्त्व--स्वभाव की प्रतीति झटिति होजाती है, किन्तु परमाणु के अणुत्व या क्षणिकत्व स्वभाव मे अभ्यास आदिक नहीं हैं, अतः उसका शीघ्र स्मरण नही होपाता है, एक परमाणु में भी संसारी जीव स्वभावो करके भेद को समझ बैठते हैं, अतः हम बौद्धों का कहना ठीक है कि अप्रतिभासित परमाणु भी अपने मे अविद्यमान होरहे स्थूल आकार को किसी विभ्रम से दिखला देते हैं, यो बौद्धो के कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार परमाणुओ में अणुत्व, क्षणिकत्व, आदि स्वभाव भला सत्व आदि स्वभावो से भिन्न क्यों नही होजायगे क्योकि निश्चितत्व और अनिश्चितत्व धर्मों का उनमे अध्यास होरहा है जैसे कि सह्य और विन्ध्य पर्वत विरुद्ध धर्मों से अधिरूढ होने के कारण भिन्न भिन्न माने गये हैं, परमाणु के कुछ धर्मों का निश्चय है, और अन्य स्वभावो का निश्चय नही, ऐसी दशा में परमाणु के स्वभावों का भेद होजाना अनिवार्य है। बौद्धों के कहने से ही परमाणु में अनेक अंश सध जाते है।

यदि पुनर्निश्चयस्यावस्तुविषयत्वान्न तद्भावाभावाभ्यां वस्तुस्वभावभेद इति-मतं, तदा कथं दर्शनस्य प्रमाणेतरभावव्यवस्था निश्चयोत्पत्त्यनुत्पत्तिभ्यां विपर्ययोपजननानुप-जननाभ्यामिति तद्व्यवस्थानुषंगात्।

यदि फिर बौद्ध यों कहैं कि निश्चय ज्ञान तो वस्तु को विषय नही किया करता है, निर्विक-ल्पक प्रत्यक्ष ही वस्तु को छूता है, निश्चय द्वारा कल्पित अंश जाने जाते हैं इस कारण उस निश्चय

के सद्भाव और अभाव करके वस्तु के स्वभावों में भेद नही होसकता है। आचार्य कहते हैं कि बौद्धों का यदि यह मत है तब तो निश्चय की उत्पत्ति करके निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के प्रमाणपन और अप्रमाणपन की व्यवस्था भला किस प्रकार होगी ? यो तो विपर्यय ज्ञान की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति करके भी दर्शन के उस प्रमाणपन या अप्रमाणपन की व्यवस्था होजाने का प्रसग आवेगा। भावार्थ—बौद्धो ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे निश्चय ज्ञान की उत्पत्ति होजाने से प्रमाणपना स्वीकार किया है, और जिस देखे हुये भी विषय में पश्चात् निश्चय उत्पन्न नही हुआ है, उस दर्शनका अप्रमाणपना व्यवस्थित किया है जैसे कि नीलस्वलक्षण का प्रत्यक्ष कर पीछे यह नील ही है, ऐसा निश्चय उपज गया तब तो उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की प्रमाणता मानी जायगी और यदि स्वलक्षणत्व या क्षणिकत्व का पीछे निश्चय ज्ञान नही उपज सका है तो उनका निर्विकल्पक दर्शन हो चुकने पर भी उस दर्शन की अप्रमाणता ही समझी जाती है इसपर हमे यह कहना है कि दर्शन में प्रमाणता और अप्रमाणता के व्यवस्थापक निश्चय को वस्तु का निश्चय करने वाला नही माना जाय यह आश्चर्य है, यदि वस्तु को नही विषय करने वाले झूठे ज्ञानो को प्रमाणता या अप्रमाणता का व्यवस्थापक मान लिया जायगा तो विपर्ययज्ञान या संशय भी प्रमाणपन और अप्रमाणपन की व्यवस्था करा देंगे। मूर्ख या अपराधी पुरुष भी न्यायकी गद्दी पर बैठ कर अण्ट सण्ट शासन करने लगजावेगा कौन रोकता है ?

दर्शनप्रामाण्यहेतुर्यथार्थनिश्चय एव दृष्टार्थाध्यवसायित्वान्न विपर्ययः संशयो वा तद्विपरीतत्वादिति चेद्व्याहतमेतत् स्वलक्षणानालम्बनश्च निश्चयो दृष्टार्थाध्यवसायी चेति ततः स्वलक्षणाध्यवसायी स्वलक्षणालंबन एवेति वस्तुविषयो निश्चयोन्यथानुपपत्तेः सिद्धः। एवं च तद्भावाभावाभ्यां वस्तुस्वभावभेदोवश्यंभावीति सत्त्वकृतकत्वादि-स्वभावेन निश्चीयमानाः परमाणवो अणुत्वादिस्वभावेन चाऽनिश्चीयमाना नानास्वभावाः सिद्धा एव। केशादित्वेन निश्चीयमानाः प्रविरलत्वादिना चाऽनिश्चीयमानाः प्रतिपत्तव्याः। सर्वथा तदनिश्चये तत्र विभ्रमाभावप्रसंगात् तद्भावे अतिप्रसक्तेः।

बौद्ध कहते हैं कि दर्शन में प्रमाणपन का कारण तो यथार्थनिश्चय ही है क्योकि निर्विल्पक-प्रत्यक्ष द्वारा देखे जा चुके अर्थ का अध्यवसाय (निर्णय) करने वाला निश्चय ज्ञान है, विपर्ययज्ञान अथवा संशय ज्ञान तो निर्विकल्पक दर्शन मे प्रमाणता के सम्पादक नही हैं क्योकि वे उससे विपरीत हैं, यानी दृष्ट अर्थ का अध्यवसाय नही करा सकते हैं। यो बौद्धोके कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि यह कहना परस्पर व्याघात दोष युक्त है, एकान्त-वादी बौद्धों को ऐसी बात कथमपि नही कहनी चाहिये। एक ओर निश्चय को स्वलक्षण को नही विषय करने वाला कहा जाता है, और दूसरी ओर निश्चय को दृष्ट अर्थ का अध्यवसाय करने वाला माना जाता है, इसमें उसी प्रकार व्याघात दोष आता है, जैसे कि अपनेको अज्ञानी मानता हुआ कोई पुरुष स्वयको सर्वज्ञ कहबैठे। देखो जो निश्चय-ज्ञान तुम बौद्धो के यहाँ वस्तुभूत माने गये स्वलक्षण को आलम्बन नही करेगा वह दृष्ट अर्थ का अध्यवसाय करने वाला नही है, और जो ज्ञान दृष्ट अर्थ का अध्यवसाय करता है, वह स्वलक्षण को विषय अवश्य करता है।

स्वलक्षण को विषय करने वाला ही स्वलक्षण-अध्यवसाय करसकता है, तिस कारण सिद्ध हुआ कि स्वलक्षण का अध्यवसाय करने वाला ज्ञान (निश्चय) स्वलक्षण को आलम्बन (विषय) करने वाला ही होना चाहिये। इसप्रकार अन्यथानुपपत्ति से यह सिद्ध हुआ कि निश्चय ज्ञान वस्तुभूत को विषय--करने वाला है, अन्यथा यानी वस्तु को विषय करने वाला नही मानने पर अनुपपत्ति यानी निश्चय ज्ञान करके इष्ट अर्थ के अध्यवसाय की सिद्धि रहीं होपाती है। और इस प्रकार उस निश्चय के सद्भाव और अभाव करके परमाणस्वरूप वस्तु के स्वभावो का भेद अवश्य ही होजावेगा, इस कारण सत्व, द्रव्यत्व, पदार्थत्व आदि स्वभावो करके निश्चय किये जारहे और परमाणुत्व क्षणिकत्व, असाधारणत्व, सूक्ष्मत्व आदि स्वभावो करके नही निश्चय किये जा रहे परमाणयें अवश्य अनेक स्वभाव वाले सिद्ध हो ही जाते हैं, जैसे कि केश, धान्य, आदिपने करके निश्चय को प्राप्त होरहे और विरलपन, असंसृष्टपन, सान्तरालपन, आदि करके नही निश्चय किये जारहे वे परमाणु समझ लेने योग्य है।

यदि सभी प्रकारो से उन परमाणुओं का निश्चय नही माना जायगा जो कि बौद्धों ने परमाणुओ के अप्रतिभातपन का पक्ष लेरखा है, तब तो विभ्रम के भी अभाव होजाने का प्रसंग होगा ऐसी दशा मे बौद्धो का यह कहना शोभा नही पायगा कि परमाणुऐं ही अविद्यमान होरहे स्थूल आकार को किसी विभ्रम से दिखला देती हैं, यदि बौद्ध परमाणुओ का सर्वथा अनिश्चय होने पर भी उन में भ्रान्तिज्ञान होने को स्वीकार कर लेगे तब तो अतिप्रसंग होजायगा यानी--मरीचिकाचक्र के नही होने पर भी जल की भ्रान्ति उपज जानी चाहिये, सीप के नही होनेपर भी या सोते हुये पुरुष को भी रजत चादी का भ्रान्तिज्ञान होजाना चाहिये, बात यह है कि लम्बी पड़ी हुयी वस्तु को जानकर ही रस्सी में सांप का ज्ञान होसकता है, अन्यथा नही।

सत्वादिना च निश्चयमानोवयवी वहिर्न परमाणव इत्ययुक्तं, सर्वानिश्चयेऽवयव्य-सिद्धेः। तथामूल्यदानक्रयिणः परमाणवः। प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं च न समर्पयंति प्रत्यक्षतां च स्वीकुर्वंतीति ततः परमार्थसंतः पुद्गलानां स्कंधा द्व्यणुकादयोऽनेकविधा इति तेषां संख्येया-दिप्रदेशाः प्रातीतिका एव।

बौद्ध कहते हैं कि सत्व, द्रव्यत्व, आदि स्वभावो करके अवयवी का निश्चय किया जा रहा है जो कि अवस्तुभूत है, इसका ज्ञान भी अज्ञान सारिखा है किन्तु वहिरंग परमाणयें तो सत्व आदि करके नही निश्चय की जा रही हैं, अतः वे अप्रतिभात ही रही। ग्रन्थकार कहते हैं कि बौद्धों का यह कहना युक्तियो से रीता है, क्यो कि तुम्हारे पूर्व कथन--अनुसार सम्पूर्ण पदार्थों का निश्चय नही होने पर अवयवी की भी सिद्धि नहीं है, जब तुम बौद्ध सत्व आदि करके भी परमाणु का निश्चय होना नहीं मानते हो तबतो वे परमाणु मूल्य नहीं देकर खरीदने वाले हुये, यह बड़ा भारी दोषआया। प्रत्यक्षबुद्धि में परमाणयें अपने को समर्पण नही करती हैं, और अपना प्रत्यक्ष होजानापना स्वीकार कर रही हैं यह " अमूल्यदान क्रयित्व " दोष है, तिस कारण से पुद्गलो के अनेक प्रकार द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि स्कन्ध आप बौद्धो को परमार्थ रूप से सद्भूत मानने पड़ेंगे। यों इस सूत्र द्वारा कहे गये उन पौद्गलिक स्कन्धों के संख्येय, असंख्येय आदि प्रदेश तो प्रतीतियों अनुसार सिद्ध ही होजाते हैं कतिपय

स्थूल स्कन्धों का चक्षुओं से प्रत्यक्ष होरहा है, किन्तु सूक्ष्म स्कन्ध या परमाणुओं को अनुमान या आगम ज्ञान से जान लिया जाता है, प्रतीतियों के अनुसार सार वस्तुकी व्यवस्था है, और वस्तु की व्यवस्थिति अनुसार समीचीन प्रतीतियां होजाती हैं। ज्ञापकपक्ष में एक को जानकर उससे अज्ञात को जानने में कोई अन्योन्याश्रय दोष नही आता है ॥

" संख्येयासंख्येयाश्च पुगद्लाना " इस सूत्र में सामान्य रूप से पुद्गलों के प्रदेशों का निरूपण किया गया है, यों अविशेष रूप से कथन होने के कारण एक पुद्गल परमाणु के भी उस प्रकार अनेक प्रदेश होजायं , ऐसी आशंका उपस्थित हो ाने पर उसका निषेध करनेके लिये सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते हैं।

नाणोः ॥ ११ ॥

परमाणु के प्रदेश नही हैं। अर्थात्-अणु केवल एक प्रदेश परिमाण वाली है, अतः जैसे आकाश के एक प्रदेशके पुनः अन्य प्रदेश नही हैं, उसी प्रकार एक अविभागी परमाणु का भी अप्रदेश-पना जान लेना चाहिये। जब कि परमाणु से कोई छोटा पदार्थ जगत् में नही है तो इस परमाणु के प्रदेश कैसे भिन्न किये जा सकते हैं ? अतः " अत्तादि अत्त मज्झं अत्तत्तं णेव इन्दियेगेज्जं " ऐसे सूक्ष्म अणु के दो तीन आदि कितने भी प्रदेश नही माने गये है।

संख्येयासंख्येयाश्च प्रदेशा इत्यनुवर्तनात्त एवाणोः प्रतिषिध्यंते। तथा च—

पूर्व सूत्र से संख्येय, असंख्येय तथा च शब्द करके लिये गये अनन्त और प्रदेश इन पदों की अनुवृत्ति कर लेने से वे संख्यात, असंख्यात, और अनन्त प्रदेश ही अणु के इस सूत्र द्वारा प्रतिषिद्ध किये जाते हैं और तैसा होने पर सूत्र का अर्थ ऐसा होजाता है कि—

नाणोरिति निषेधस्य वचनान्नाप्रदेशता।
प्रसिद्धो वैकदेशत्वात्तस्याणुत्वं न चान्यथा ॥ १ ॥

अणु के प्रदेश नही हैं इस प्रकार सूत्रकार द्वारा निषेध का कथन कर देने से उस अणु का अप्रदेशपना या प्रदेशरहितपना नही प्रसिद्ध होजाता है क्योंकि उस अणु का एक प्रदेश माना जा रहा है, अन्यथा यानी अणु का एक भी प्रदेश नहीं मानने पर तो खर-विषाण के समान उसका अणुपना ही नही रक्षित रह सकेगा अर्थात्-जब अणु स्वयं एकप्रदेश परिमित है तो फिर उसके दूसरे प्रदेश नहीं होसकते हैं अकेला रुपया पुनः दो,तीन, आदि रुपयों वाला नही है। एक बात यह भी है कि एयादीया गणणा वीयादीया हवंति संखेज्जा। तीयादीणं णियमा कदित्ति सण्णा मुणेदव्वा " जैन सिद्धान्त में संख्यातो को दो से प्रारम्भ किया गया है, गुण जैसे स्वयं निर्गुण हैं उसी प्रकार एक प्रदेश वाला भी अणु स्वयं दो आदि प्रदेशों से रहित होरहा सन्ता अप्रदेश है।

नह्येकप्रदेशोऽप्यणुर्न भवतीति युक्तं तस्यावस्तुत्वप्रसंगात्। ननु चाणोः प्रदेशत्वे प्रदेशी कः स्यात् स एव द्रव्यादिगुणाश्रयत्वाद्गुणीति ब्रूमः। कथं स एव प्रदेशः प्रदेशी च ? विरोधादिति

चेत् तदुभयस्वभावत्वोपपत्तेः । प्रदेशित्वस्वभावस्त्वस्याति स्कंधावस्थायां तद्भावान्यथानुपपत्तेः प्रदेशत्वस्वभावः पुद्गलद्रव्यत्वात् । एकेन प्रदेशेन पुद्गलद्रव्यस्याप्रदेशित्वे द्वयादिप्रदेशैरप्यप्रदेशित्वप्रसंगात् विरुद्धं चेदं परमाणुरेकप्रदेशोऽप्रदेशी चेति प्रदेशप्रदेशिनोरन्योन्याविनाभावात् प्रदेशिनमंतरेण प्रदेशस्यासंभवात् खपुष्पवत् प्रदेशमंतरेण च प्रदेशिनोनुपपत्तेस्तद्वदेव ।

एक प्रदेशवाला भी अणु नही होता है, यह कहना तो उचित नहीं है क्योंकि यो तो उस परमाणु के अवस्तुपन का प्रसंग आजावेगा सर्वथा एक भी प्रदेश से रहित तो खर--विषाण आदि असत् पदार्थ ही हैं । यहा किसी की शंका है, कि यदि अणु को एक प्रदेशस्वरूप माना जायगा तो भला प्रदेशवाला प्रदेशी यहा कौन पदार्थ होसकेगा ? प्रदेशी के विना कोई एक भी प्रदेश स्थिर नही रह सकता है । इसके उत्तर मे ग्रन्थकार कहते है, कि स्पर्श, रस, आदि गुणों का आश्रय होने से वह गुणवान् परमाणु ही प्रदेशी है, ऐसा हम जैन सिद्धान्ती सिहगर्जना करते हुये बोलत है । शकाकार पुन कहता है, कि वह प्रदेश होरहा ही परमाणु भला प्रदेशी किस प्रकार हो सकता है ? क्योकि विरोध है, स्वयं धन ही तो धनवान् नही होजाता है, स्वय बच्चा बच्चे--वाला नही है ।

यो कहने पर तो ग्रन्थकार कहते है कि उस परमाणु मे दोनो स्वभावो से सहितपना बन रहा है । देखिये प्रदेशीपन स्वभाव तो इस परमाणु के विद्यमान है, अन्यथा स्कंध अवस्था मे परमाणुओ के उस प्रदेशीपन भाव की सिद्धि नही होसकेगी, परमाणु मे प्रदेशीपन आत्मभूत है । तभी तो कतिपय परमाणुओ के बंधजाने पर स्कन्ध दशा मे वह प्रकट होजाता है, तथा पुद्गल द्रव्य होने से प्रदेशपन स्वभाव स्पष्ट ही है । शुद्ध पुद्गल द्रव्य एक प्रदेश स्वरूप परमाणु ही तो है, यदि पुद्गल द्रव्य को एक प्रदेश करके प्रदेशीपना नहीं माना जायगा तो दो, तीन, आदि प्रदेशो करके भो उसके अप्रदेशीपन (प्रदेशी नही होसकने) का प्रसंग आवेगा । यहा किसी का यह कहना विरुद्ध है कि परमाणु एक प्रदेश वाला होरहा अप्रदेशी है, जैन--सिद्धान्त अनुसार प्रदेश और प्रदेशी का परस्पर मे अविनाभाव होरहा है । प्रदेशी के विना प्रदेश का असम्भव है, जैसे कि आकाश का फूल प्रदेशी नही होता स्वयं प्रदेश भी नही है । तथा प्रदेश के विना प्रदेशी की भी सिद्धि नही है, उस ख पुष्प के समान हो समझलो अतः प्रदेश होता हुआ भी परमाणु प्रदेशी है ।

तत एव न प्रदेशो नापि प्रदेशी परमाणुरिति चेन्न, द्रव्यत्वविरोधात् गुणादिवत् । न चाद्रव्यं परमाणुर्गुणवत्त्वात् स्कंधवत् । न चाप्रदेशप्रदेशिस्वभावं किंचिद्द्रव्यं सिद्धं । गगनादिसिद्धमिति चेन्न, तस्यानंतादिप्रदेशत्वसाधनेन प्रदेशित्वव्यवस्थापनात् ।

यहां नैयायिक कहते है तिस ही कारण यानी प्रदेश और प्रदेशी का अविनाभाव होने से हमारे यहां परमाणु प्रदेश स्वरूप भी नहीं है । और प्रदेशवान् भी परमाणु नही माना गया है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योकि यो कहने से परमाणु के द्रव्यपन का विरोध होजायगा जैसे कि गुण, कर्म आदिक पदार्थ प्रदेश न होते हुये भी प्रदेशी नही है । अतः वे द्रव्य नही हैं, इसी प्रकार परमाणु भी द्रव्य नहीं हो सकेगा किन्तु यह परमाणु अद्रव्य तो नही है । क्योकि स्पर्श आदि

गुणों से सहित है जैसे कि गुणवान होने से पुद्गल स्कन्ध द्रव्य माना जाता है। दूसरी बात यह है, कि प्रदेश और प्रदेशी स्वभावों से रहित तो जगत् में कोई द्रव्य ही सिद्ध नहीं है। यदि वैशेषिक यों कहैं कि आकाश, आत्मा, आदिक द्रव्य न तो प्रदेशस्वरूप है और न प्रदेशीस्वरूप हैं किन्तु वे द्रव्य रूप से सिद्ध हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन आकाश आदि के अनन्त, असंख्यात, अनन्तानन्त आदि प्रदेशों से सहितपन का साधन कर देने से प्रदेशीपन की व्यवस्था करा दी गयी है।

स्यादाकूत ते अनेकप्रदेशः परमाणुर्द्रव्यत्वात् घटाकाशादिवदिति। तदसत्-धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् पक्षस्य कालात्ययापदिष्टत्वात् हेतोः कालेन व्यभिचाराच्च। स्याद्वादिनां मीमांसकानां च शब्दद्रव्येणानेकांतात्।

यदि तुम कटाक्ष-कर्ताओं का यह चेष्टित होय कि परमाणु (पक्ष) अनेकप्रदेशों वाला है, (साध्य) द्रव्य होने से (हेतु) घट, आकाश, आत्मा, आदि के समान। ग्रन्थकार कहते है कि तुम्हारा वह कथन प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि पक्ष होरहे परमाणु स्वरूप धर्मी को ग्रहण करने वाले प्रमाण करके बाधित होजाने से द्रव्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधितहेत्वाभास) है अर्थात्-जो कोई प्रमाण परमाणु को जानेगा वह चरमावयव होरहे परमाणु को केवल एक प्रदेश रूप ही जान पावेगा यदि इसमें भी अनेक प्रदेश माने जायगे तो उन अनेक प्रदेशों में पड़े हुये एक प्रदेश का जहां सद्भाव होगा वह परमाणु व्यवस्थित किया जायगा बहुत दूर भी जाकर जब कभी परमाणु सिद्ध होगा वह एक प्रदेश स्वरूप ही निर्णीत किया जायगा, ऐसी दशा में भी परमाणुके अनेक प्रदेश स्वीकार करते जाना कालात्ययापदिष्ट है, यानी एक प्रदेशपन, इस की सिद्धि होचुकी पुनः साधनकाल के अभाव होजाने पर तुमने हेतु प्रयुक्त किया है, यों साध्याभाव का निर्णय होचुकने पर द्रव्यत्व हेतु से अनेकप्रदेशत्व की सिद्धि नहीं होसकती है। दूसरा दोष यह है कि द्रव्यत्व हेतु का काल द्रव्य करके व्यभिचार आता है, काल भला द्रव्य तो है किन्तु अनेक प्रदेशों वाला नहीं है। तीसरी बात यह है कि स्याद्वादी और मीमांसकों के यहां माने गये शब्द द्रव्य करके व्यभिचार आता है, वैशेषिक या नैयायिक भले ही शब्द को गुण मानें किन्तु स्पर्श, वेग, संयोग, आदि गुणों का धारी होने से शब्द का द्रव्यपना निर्णीत है। अथवा इस पंक्ति का अर्थ यों कर दिया जाय कि स्याद्वादियों के यहां काल द्रव्य से व्यभिचार है, और मीमांसकों के यहां माने गये शब्द द्रव्य करके व्यभिचार आता है, मीमांसक द्रव्य मानते हुये शब्द को प्रदेशों से रहित स्वीकार करते हैं किन्तु स्याद्वादी तो शब्द को अशुद्ध द्रव्य मानते हुये साथ ही अनेकप्रदेशी भी इष्ट कर लेते हैं।

तथाहि—घटादिर्भिद्यमानपर्यन्तो भेद्यत्वान्यथानुपपत्तेः योऽसौ तस्य पर्यन्तः स परमाणुरिति परमाणुग्राहिणा प्रमाणेनानेकप्रदेशित्वं बाध्यते तस्यानेकप्रदेशत्वे परमाणुत्वविरोधात्।

ग्रन्थकार ने वैशेषिकों के द्रव्यत्व हेतु को बाधित कहा था उसी को स्पष्ट कर यों दिखलाते हैं कि घट, पट, आदिक पदार्थ (पक्ष) छोटे छोटे अवयव रूप से छिन्न, भिन्न, किये जारहे पर्यन्तभूत किसी चरमावयव पदार्थ को धार रहे हैं, अन्यथा यानी अन्तपर्यन्त उनके छोटे छोटे टुकड़े होजाना

नहीं माना जायगा तो भेद्यपना नही बन सकता है (हेतु) जो भी कोई पदार्थ सब से अन्त में जाकर उस घटादि अवयवों का पर्यन्त होगा वह परमाणु है, इस प्रकार परमाणु को ग्रहण करने वाले प्रमाण करके अनेक प्रदेशी पना बाधित होजाता है। यदि उस अन्तिम अवयव को अनेकप्रदेश वाला माना जायगा तो उसके परम अणुपनका विरोध होजावेगा। परम अणुतो वही होसकता है जिससे फिर कोई छोटा अवयव न कभी हुआ, न है, न होगा, "अणोरप्यणीयान् न परो वर्तते"।

अष्टप्रदेशरूपाणुवादोऽनेन निवारितः।
तत्रापि परमस्कन्धविदभावप्रसंगतः ॥ २ ॥

इस उक्त कथन करके रूप–परमाणु के आठ प्रदेशों के प्रवाद का निवारण किया जा चुका समझ लो। एक कारण यह भी है कि उस अणु के आठ प्रदेश मानने के प्रवाद में भी बड़े लम्बे चौड़े स्कन्ध की प्रतीति होने के अभाव का प्रसंग आता है। भावार्थ–आठ दिशा, विदिशाओं, से दूसरे दूसरे आठ परमाणुओं का बंध होजाने की अपेक्षा जो परमाणु के आठ प्रदेश माने गये हैं, वहां भी एक देश या सर्व देश का विकल्प उठा देने पर परमाणु का प्रदेशों से रहितपना ही सिद्ध होता है। वस्तुतः परमाणु का एक ही प्रदेश है, और उस प्रदेश की व्यञ्जन पर्याय बरफी के समान छह पैल वाली है, तदनुसार एक परमाणु के साथ चार दिशाओं और ऊपर नीचे यों छह परमाणु बंधसकते हैं, अनेकान्त वाद मे परमाणु के एक देश या सर्व देश करके दूसरे परमाणु का बंध जाना घटित होजाता है। शक्ति की अपेक्षा छह अंश वाला परमाणु साधा जा चुका है, परमाणु के आठ अंश मानने वाले को ऊर्ध्व और अधः अंश अवश्य मानने पड़ेंगे इस में एक बडाभारी दोष यह भी होगा कि आठ पैल वाले अनेक पदार्थ छिद्र रहित होकर सघन बन्ध नहीं सकते हैं जैसे कि गोल गोल पदार्थों का छिद्ररहित पिण्ड नही बन सकता है, तथा दिशा विदिशाओं सम्बन्धी आठ पैल वाले पदार्थ का ऊपर और नीचे का पैल बहुत बडा होजाता है किन्तु परमाणु के अंश एक से होने चाहिये यदि परमाणु के समतल में छह पैल माने जांय और ऊपर नीचे दो पैल मानकर यों आठ प्रदेशों की कल्पना की जायगी तो यद्यपि छह पैल वाले पदार्थों का अच्छे ढंग से समतल में छिद्ररहित बन्ध होसकता है किन्तु ऊपर नीचे के पैल बहुत बड़े होजाने से अंशों में छोटापन, बडापन आजाता है परमाणु को घन समचतुरस्र (बरफी के समान) मानने पर ये कोई आपत्तियां नही आती है अतः परमाणु के आठ अंश या दश अंश अथवा गोल आकार का मानना ठीक नही जंचता है।

परमाणूनामनेकप्रदेशत्वाभावे सर्वात्मनैकदेशेन च संयोगे पिण्डेपि अणुमात्रप्रसक्तेः सावयवत्वेऽनवस्थाप्रसंगाच्च परमस्कंधस्य प्रतीतिविरोधादष्टप्रदेशरूपाणुर्भिद्यमानपर्यन्तः सर्वदा स्वयमभेद्यः सिद्ध्यति न पुनरनंशः परमाणुस्तस्य बुद्ध्या परिकल्पनादिति केषांचिदष्टप्रदेशरूपाणुवादः सोप्यनेनैव प्रदेशपरमाणुस्कंधस्य वचनेन विचारितो द्रष्टव्यः, रूपाणोरष्टप्रदेशस्य सर्वदाप्यभेद्यत्वायोगात्। तथाहि–भेद्यो रूपाणुः मूर्तत्वे सत्यनेकावयवत्वात् घटवत्। नात्र हेतोराकाशादिभिरनेकांतो मूर्तिमत्त्वे सतीति विशेषणात्तेषाममूर्तत्वात्। ततः परमाणुरेकप्रदेश एव भिद्यमानपर्यन्तः सिद्धः।

परमाणु के आठ प्रदेश को मानने वाले कहते है कि यदि परमाणुओं के अनेक प्रदेशों से सहितपना नही माना जायगा तो सर्वांगरूप से सयोग होजाने पर पिण्ड मे भी केवल अणु बराबर बनेरहने का प्रसंग आवेगा क्योकि एक परमाणु दूसरे परमाणु मे सर्वांगीण प्रविष्ट होजायगी और उसी मे तीसरी, चौथी, आदि अणुये सर्वात्मना अन्त प्रविष्ट होजायगी तो ऐसी दशा मे सुमेरु पर्वत भी अणु के बरोबर छोटा बन बैठेगा और यदि एक देश करके परमाणुओ का सयोग माना जायगा तब तो सावयवपना होने पर अनवस्था दोष का प्रसग आवेगा कारण कि पहिले से ही जिस पदार्थ के कतिपय अवयव होते है. उसी पदार्थ के कई एक एक देशो की कल्पना करके उसका एक देश करके सयोग होजाना बन सकता है, और यो पहिले से ही कतिपय अवयवो करके गढ गया वह अवयवी पदार्थ हुआ उन पूर्ववर्ती अवयवों के सयोग मे भी एक देश करके सयोग होने की कल्पना करते करते यो लम्बी धारा बढती चलीजायगी, इस प्रकार अनवस्था होजाती है, चाहे सर्वात्मना संयोग मानो चाहे एकदेशेन सयोग मानो बडे स्कन्ध की प्रतीति होने का विरोध आता है, अत हम कहते है कि वह आठ प्रदेशो वाला रूपाणु उत्तरोत्तर भेदा जा रहा अन्त मे जाकर सिद्ध होजाता है जो कि सदा किसी करके भी स्वय पुन भेदने योग्य नही है. किन्तु वह परमाणु फिर अशो से रहित नही है, अस्मदादि जीवो को प्रत्यक्षज्ञान द्वारा अवेद्य होरहे उस साश परमाणु की बुद्धि करके परिकल्पना कर ली जाती है। इस प्रकार किन्ही विद्वानो का रूपाणु के आठ प्रदेशो का मानने वाला प्रवाद है।

ग्रन्थकार कहते है कि वह कुत्सित पक्ष का परिग्रह भी इस ही प्रदेश--स्वरूप परमाणुओ से बनजाने योग्य स्कन्ध के कथन करके विचार कर दिया गया देख लेना चाहिये। अर्थात्—स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार एक प्रदेश वाले परमाणु का सर्वात्मरूप से या एक देश रूप से सयोग होजाने पर अनेक अणु अणुमात्र भी होसकते है और बडे स्कन्ध स्वरूप भी परिणम जाते है, कोई दोष नही आता है, तुम्हारे आठ प्रदेशवाले रूपाणु के सदा भी अभेद्यपन का प्रयोग है, आठ प्रदेश वाले पदार्थ के पुनरपि कतिपय टुकडे होसकते है, इसी बात को स्पष्ट करके यो अनुमान द्वारा दिखलाया जाता है कि रूपाणु (पक्ष) भेदने योग्य है, (साध्य) मूर्त होते सन्ते अनेक अवयवो वाला होने से (हेतु) घट के समान (अन्वयदृष्टान्त)।

यहा हमारे हेतु का आकाश आदि करके व्यभिचार दोष नही आता है क्योकि मूर्तिवाला होते सन्ते इस प्रकार हेतु मे विशेषण दे रखा है, वे आकाश आदि तो अमूर्त है, तिस कारण घट, कपाल, कपालिका, षडणुक, पंचाणुक यो भेद को प्राप्त होरहा सन्ता सब मे अन्त मे जाकर एकप्रदेशवाला ही परमाणु सिद्ध होता है, अतः अष्ट प्रदेशवादी भले ही उसको रूपाणु कहे या बौद्ध उसको स्वलक्षण कहै, नैयायिक परमाणक कहै, जैन उसको अणु कहै। बात यह है कि अन्तिम सब से छोटा अवयव केवल एक प्रदेश स्वरूप है, हां उसकी व्यंजनपर्याय समघनचतुरस्र है, झगड़ा बढाना व्यर्थ है, परोक्ष पदार्थों का निर्णय आप्तोक्त आगमो से बहुत बढिया होता है।

नन्वेवं परमस्कन्धप्रतीत्यभावप्रसग इति चेन्न, तस्याष्टप्रदेशाणुवादेपि समानत्वात्।

तथाहि—

परमाणु को आठ प्रदेश का कहने वाले पण्डित यहां शंका करते है कि इस प्रकार परमाणु का एक ही प्रदेश मानने पर तो बडे लम्बे चौडे महान् स्कन्ध की प्रतीति होने के अभाव का प्रसग आवेगा क्योंकि परमाणु के अनेक प्रदेश तो नही हैं, ऐसी दशा मे अनेक परमाणुओ के संयुक्त होजाने पर भी पिण्ड अणुमात्र ही बना रहेगा। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि वह बडे स्कन्ध की प्रतीति नही होना तो तुम्हारे आठ प्रदेश वाले अणु को कहने वाले प्रवाद मे भी समान है, आठ प्रदेश वाले अणु का एक देश करके सयोग मानने पर छिद्र रह जाते हैं, ऊपर नीचे के स्थल भर नही पायगे और एक देश का पक्ष लेने पर अनवस्था दोष भी आता है, अत सम्पूर्ण रूप से सयोग मानने वाला दूसरा पक्ष ही लेना पडेगा। ऐसी दशा मे पिण्ड अणु मात्र रह जायगा और बड़े पिण्ड की प्रतीति नही होसकेगी, इस बात को ग्रन्थकार स्वय विशद रूप से अग्रिम वार्तिकों द्वारा कहते है।

यथाणुरणुभिर्नानादिक्कैः संबंधमादधत्।
देशतोवयवी तद्वत्प्रदेशोन्यैः प्रदेशतः ॥ ३ ॥
सर्वात्मना च तैस्तस्यापि संबंधेणुमात्रकः।
पिंडः स्यादन्यथोपात्तदोषाभावः समो न किम् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार एक मध्य-वर्ती परमाणु इधर उधर नाना दिशाओं मे वर्त्तरहे नाना परमाणुओ के साथ सम्बन्ध को सब ओर से धारण कर रहा सन्ता एक एक देश की अपेक्षा से वह प्रदेश यानी परमाणु अवयवी हुआ जाना है, उसी के समान उस अवयवी के पहिले से भी अनेक देश थे उन अन्य प्रदेशो के साथ भी एक एक देश करके सम्बन्ध धारने पर अनवस्था दोष का प्रसग आता है। हाँ द्वितीय पक्ष अनुसार सम्पूर्ण रूप से भी उन नाना दिशा-वर्ती अनेक परमाणुओ के साथ उस मध्य-वर्त्ती परमाणु का सम्बन्ध मानने पर तो पिण्ड अणु मात्र होजायगा अन्यथा यानी जैन सिद्धान्त अनुसार अन्यप्रकारो से सम्बन्ध मानने पर यदि गृहीत दोषोका अभाव किया जायगा तो प्रदेशमात्र परमाणु को मानने वालो के यहां भी वह दोष का अभाव क्यों नही समान रूप से लागू होगा ? अर्थात्-द्रव्य रूप से निरंश और शक्ति रूप से सांश परमाणु का अन्य दिशा-वर्ती परमाणुओ के साथ बन्ध होजाने पर महान स्कन्ध की प्रतीति होजाती है, यह आचार्यों करके माना गया निर्दोष मार्ग है।

अष्टप्रदेशोपि हि रूपाणुः पूर्वादिदिग्गतरूपाण्वंतरप्रदेशैरेकशः संबंधमधितिष्ठन्नेकदेशेन कार्त्स्न्येन वाधितिष्ठेत् ? एकदेशेन चेदवयवी प्रदेशः स्यात्परमाणुवत् तथा चानवस्था परापरप्रदेशपरिकल्पनात् कार्त्स्न्येन चेत् पिण्डोऽणुमात्रः स्यात् रूपाणुप्रदेशेष्वष्टासु रूपाण्वंतरप्रदेशानां प्रवेशात्तेषां च परस्परानुप्रवेशात्। तथा च परमस्कधप्रतीत्यभावः।

यहाँ हम जैन प्रश्न उठाते हैं कि आठ प्रदेशों वाला भी रूपाणु पूर्व आदि दिशाओ में प्राप्त होरहे अन्य अन्य रूपाणु स्वरूप प्रदेशों के साथ एक ही बार सम्बन्ध को प्राप्त होरहा सन्ता क्या एक देश करके अथवा क्या पूर्ण रूप करके ही संसर्गित होगा बताओ यदि रूपाणु एक देश करके अन्य रूपाणुओ के साथ सम्बन्धित होगा तब तो परमाणु के समान तुम्हारे यहा माना गया प्रदेश स्वरूप

रूपाणु अवयव अवयवी होजावेगा अवयवी के ही एक देश हुआ करते है और तिस प्रकार उस अवयवी के भी पूर्व अवयवों के साथ एक एक देश करके सम्बन्ध-व्यवस्था मानने पर उत्तरोत्तर अनेक प्रदेशो की कल्पना करने से अनवस्था दोष आता है। द्वितीय पक्ष अनुसार सर्वांग रूप से सम्बन्ध मानने पर तो अनेक प्रदेशो का पिण्ड विचारा केवल अणु के समान परिमाणवाला होजायगा क्योंकि प्रकरणप्राप्त रूपाणु के आठों प्रदेशों मे अन्य रूपाणुओ के प्रदेशो का सर्वाङ्गीण प्रवेश हो जायगा और उनका भी परस्पर में अनुप्रवेश होजावेगा यो असख्य परमाणुओ का परस्पर मे परिपूर्णरूप से सम्बन्ध होजाने पर पिण्ड एक परमाणु के बराबर ही बन जायगा और तैसी दशा मे घट, पट, पर्वत, भीत आदि बडे बड़े स्कन्धो की प्रतीति होने का अभाव होजायगा।

अथ महतः स्कन्धस्य प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्रकारांतरेण रूपाणुप्रदेशानामन्य-रूपाणुप्रदेशैः संबंधसिद्धेः कार्त्स्न्यैकदेशपक्षोपात्तदोषाभावो विभाव्यते परमाणूनामपि प्रकारां-तरेण संबंधस्तत एवेति समानस्तत्पक्षोपात्तदोषाभावः। वक्ष्यते च परमाणूनां बंधपरिणामहेतुः स्निग्धरूक्षत्वादिति परिणामविशेषः प्रकारान्तरमिति नेहोच्यते—

अब यदि आप यो विचार करे कि बडे बडे स्कन्धों की प्रतीति का होना अन्यथा बन नही सकता है, अत एक देश और सम्पूर्ण देश इन दो प्रकारों से अतिरिक्त तीसरे रूपाणु के प्रदेशों का अन्य रूपाणु प्रदेशो के साथ सम्बन्ध होजाने की सिद्धि कर ली जाती है, अतः सर्वांगीणता या एक देश इन दो पक्षो में उपादान किये गये दोषो का अभाव विचार लिया जाता है, तब तो हम जैन कहेगे कि तिस ही कारण से तुम्हारी रूपाणुओ के समान हमारे यहा मानी गयी परमाणुओ का भी उसी तीसरे प्रकार करके यानी कथञ्चित् एकदेश और कथञ्चित् सर्वदेश अथवा स्निग्धरूक्षपन इस ढंग करके-सम्बन्ध स्वीकार कर लिया जाता है, इस कारण उस पक्ष मे उपादान किये गये दोषो का अभाव समान है।

अर्थात्—आठ प्रदेश वाली परमाणु को मानने वालों के यहाँ जिस ढंग मे अनवस्था दोष का निवारण कर दिया जाता है, तथा पिण्ड के अणुमात्र होजाने और परम स्कन्ध की प्रतीति नही होसकने का जैसे निवारण किया जाता है, उसी नीति के अनुसार एक प्रदेश वाली परमाणु को स्वीकार करने वाले जैनों के यहाँ भी उक्त दोषो का परिहार होजाता है, सूत्रकार द्वारा इसी अध्याय मे स्निग्ध रूक्षपने से बन्ध होता है, "स्निग्धरूक्षत्वाद्बंध" इस प्रकार परमाणुओं की बन्ध परिणति का कारण कह दिया जायगा, वह स्निग्ध रूक्ष पर्यायो के अविभाग-प्रतिच्छेदो का द्व्यधिकपना स्वरूप परिणाम-विशेष ही तीसरा प्रकार है, जो कि एकदेशेन ससर्ग कराता हुआ परमाणुओ करके बड़े पिण्ड को बना देता है, और कदाचित् अनेक परमाणुओ का पिण्ड सर्वात्मना ससर्ग होजाने पर अणुमात्र ही रह जाता है, तभी तो इस छोटे से लोक में अनन्तानन्त परमाणुयें निरापद विराजमान हैं, विचित्र विचित्र कारणों से पदार्थों की अनेक प्रकार परिणतिया बन बैठती हैं। अनेकान्तवादियों के यहाँ एक देश और सर्व देश दोनों पक्ष स्वीकृत होजाते है। हा उन पक्षों के घटना की पद्धति को समझ लेने पर पुनः अवयवी और अवयवो के कार्यकारणभाव में कोई शंका नही रहती है। उस न्यारे प्रकार को सूत्रकार स्वयं कहेंगे, इस कारण यहाँ श्री विद्यानन्द स्वामी करके इस विषय में कुछ नही कहा जाता है।

विद्यादजीवकायानां द्रव्यत्वादिस्वभावतां ।
एवं प्राधान्यतः प्रोक्तां समासात् सुनयान्वितां ॥ ५ ॥

अजीव कायो के सुनयों करके अन्वित होरहे और सक्षेप से ग्यारह सूत्रो द्वारा इस प्रकार अच्छे कहे जा चुके प्रधानरूप से द्रव्यत्व, नित्यपन, रूपित्व, निष्क्रियत्व आदि स्वभावो को समझ लिया जाय ।

धर्मादीनामजीवकायानामादिसूत्रोक्तानां द्रव्यत्वस्वभावो जीवाना च प्राधान्येन वेदितव्यो गुणभावेन पर्यायत्वस्वभावस्यापि भावात् । शुद्धद्रव्यस्य हि सन्मात्रदेहस्य पर्याया एवाजीवकाया जीवाश्च तस्यैकस्यानतपर्यायस्यातिसंक्षेपतोभिमतत्वात् । एकं द्रव्यमनंतपर्यायमिति वचनात् ।

पचम अध्याय के " अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः " इस आदिसूत्र मे कहे जा चुके धर्म, अधर्म, आदि का द्वितीय सूत्र द्वारा कहा गय। द्रव्यपन-स्वभाव, और तृतीयसूत्र द्वारा कहा गया जीवो का भी द्रव्यपन स्वभाव, प्रधानता करके समझ लेने योग्य है, क्योकि गौण रूप से उक्त धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीवद्रव्यो के पर्यायपन स्वभाव का भी सद्भाव है, अर्थात्—एकान्त रूप से इन सब को द्रव्य ही कहते जाना ठीक नही है, ये किसी अपेक्षा पर्याय भी है जब कि सिद्धान्त शास्त्रो मे इस प्रकार निर्णीत है, कि "सत्" केवल इतने ही शरीर को धार रहे शुद्ध द्रव्य की ये अजीव काय और जीव सब पर्याय ही है उस अनन्त पर्यायो वाले एक सत् का अतिसंक्षेप से कथन करना अभीष्ट है, एक द्रव्य है, और उसकी अनन्ती पर्यायें है, इस प्रकार प्राचीन शास्त्रो में कहा गया है। भावार्थ — " अंश--कल्पन पर्यायः " अंशो की कल्पना करना यह पर्याय का सिद्धान्त-लक्षण है । शुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा एक ही सत् स्वरूप वस्तु के ये जीव, धर्म, आदि सब पर्यायें हैं, " सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणन्तपज्जाया ? भगोप्पादधुवत्था सप्पडिवक्खा हवदि एक्का" ऐसा श्री कुन्दकुन्द स्वामी का वचन है, अतः स्याद्वादसिद्धान्त अनुसार अपनी पर्यायो की अपेक्षा तो ये धर्म आदिक पर्यायें है ही किन्तु सत् पदार्थ के अंश होने के कारण भी ये पर्यायें हैं, हाँ इनमे पर्यायपना गौण रूप से है, प्रधान रूप से ये स्वतंत्र न्यारे न्यारे अखण्ड असकीर्ण द्रव्य ही है ।

तथा नित्यत्वावस्थितत्वारूपत्वैकद्रव्यत्वनिष्क्रियत्वस्वभावोऽपि प्राधान्येनैव तेषां गुणभावेनानित्यत्वानवस्थितत्वसरूपत्वानेकद्रव्यत्वस्वभावानामपि भावात् तेषामनुक्तानामपि गम्यमानत्वात् समासतोभिधानात् । तथैव सुनयान्वितत्वोपपत्तेरन्यथा दुर्नयान्वितत्वप्रसंगात् । द्रव्यार्थान्नित्यत्वेपि पर्यायार्थादेशादनित्यत्वोपगमादन्यथार्थक्रियाविरोधाद्वस्तुत्वायोगात् । तथा द्रव्यतोवस्थितत्वेपि पर्यायतोनवस्थितत्वसिद्धेरित्यवयवावस्थानाभावात् । तथा स्वरूपतो अरूपत्वेपि मूर्तिमद्द्रव्यसंबंधात्तेषां सरूपत्वव्यवहारात् ।

तथा इस पांचवे अध्याय में चौथे, पांचवे, छठवे, सातवें, सूत्रो द्वारा नित्यपन, अवस्थितपन,

अरूपपन, एकद्रव्यपन, निष्क्रियपन, स्वभाव भी प्रधानता करके ही उन धर्म आदिको के समझने चाहिये,गौण रूप से धर्मादिको के अनित्यपन. अनवस्थितपन, सरूपपन अनेकद्रव्यपन, स्वभावों का भी सद्भाव है, पुद्गल के रूपीपन के समान ससारी जीव का रूप-सहितपन स्वभाव भी वर्त्त रहा है, अतः सूत्र मे नही कहे गये भी उन स्वभावो को अर्थापत्ति से जान लिया जाय। सूत्र मे तो सक्षेप से ही कथन हुआ करता है। तिस प्रकार कथन करने पर ही सुनयो से अन्वितपना बन सकता है अन्यथा यानी सूत्र में कहे गये स्वभावो का ही एकान्तरूप मे हठ किया जायगा तो दुनयो मे अन्वितपन का प्रसंग आवेगा देखिये द्रव्य को ही विषय करनेवाले द्रव्यार्थिक नय से उन धर्मादिको का नित्यपना होते हुये भी पर्यायार्थिक नय अनुसार कथन करने से उनका अनित्यपना स्वीकार किया जाता है, अन्यथा यानी सर्वथा कूटस्थ नित्यद्रव्यपन मानने पर तो धर्म आदिकों मे अर्थ--क्रिया होजाने का विरोध होने से वस्तुपन का अयोग होजायगा। तथा द्रव्यरूप से अवस्थित होते हुये भी पर्यायरूप मे धर्म आदिको का अनवस्थितपना सिद्ध होरहा है, इस कारण अवयवो का नियत अवस्थान नही होसका अर्थात्— द्रव्यें तो इयत् परिमाण रूप से नियत होरही परिगणित है किन्तु पर्यायें अवस्थित नही है। तिसी प्रकार स्वकीय स्वरूप से धर्मादिको का रूपरहितपना होते हुये भी मूर्तिमान् द्रव्यो के साथ सम्बन्ध होजाने से उन धर्मादिको के गौणरूपेण रूपसहितपन का व्यवहार कर लिया जाता है।

तथैकद्रव्यत्वेपि विभागापेक्षया तद्विभागविवक्षायामनेकद्रव्यत्वोपपत्तेः। परिस्पंद-क्रियया निष्क्रियत्वेपि तेषामवस्थितत्वादिक्रियया सक्रियत्वात्। एवमसंख्येयप्रदेशत्वादयोपि प्रधानभावेनैव धर्मादीनां गुणभावेन संख्येयप्रदेशत्वादिस्वभावानामप्यविरोधात् परिमिततद्भा-वापेक्षया संख्योपपत्तेरिति सर्वत्र स्यात्कारः सत्यलांछनो द्रष्टव्यस्तस्यानुक्तस्यापि सामर्थ्यात् सर्वत्र प्रतीयमानत्वादिति प्रकरणार्थोपसंहृतिः।

तथा "आ आकाशादेकद्रव्याणि" यो एकद्रव्यपन होते हुये भी विभाग की अपेक्षा करके उन धर्म आदिको के विभाग की विवक्षा करने पर अनेकद्रव्यपना भी युक्तिसिद्ध है, अत. गौणरूप से धर्म, अधर्म, और आकाश का अनेकद्रव्यपना स्वभाव भी मान लिया जाय। तथा हलना, चलना, भ्रमणकरना, चढना, उतरना, आदि परिस्पन्दरूप क्रिया करके उन धर्म, अधर्म, आकाश, द्रव्यो का निष्क्रियपना है तो भी धात्वर्थस्वरूप, अवस्थितपन, अस्तित्व, द्रवण आदि अपरिस्पन्द रूप क्रियाओ करके क्रियासहितपना है, इसी प्रकार आठवें, नवमे सूत्रो करके कहे गहे धर्म आदिको के असख्येय-प्रदेशीपन आदिक स्वभाव भी प्रधानरूप करके ही समझे जाय गौणरूपसे तो सख्यातेप्रदेशोसे सहितपन आदि स्वभावो का भी कोई विरोध नही है परिमित होरहे उन उन भावो की अपेक्षा करके धर्म आदिको के अल्पदेशीय प्रदेशो की संख्या करना बन जाता है इस प्रकार सभी स्थलो पर सत्य का अमोघ चिन्ह होरहा स्यात्कार देख लेना चाहिये शब्दों द्वारा नही कहे गये भी उस स्यात्कार की केवल अन्य उक्त शब्दो की सामर्थ्य से सर्वत्र प्रतीति कर ली जाती है।

वस्तु के चाहे किसी भी स्वभाव का निरूपण किया जाय वहा कण्ठोक्त नही कहनेपरभी अनेकान्त का द्योतक स्यात्पद उपस्थित होजाता है, अतः पाचवें अध्याय के उक्त ग्यारह सूत्रो द्वारा कहे गये स्वभावो मे स्याद्वादसिद्धान्त की योजना कर लेनी चाहिये। इस प्रकार प्रकरणप्राप्त अर्थ का उपसंहार होचुका है, अब सूत्रकार दूसरे प्रकरण का प्रारम्भ करते है।

अब कहे जा चुके धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, आदि द्रव्यों के अधिकरण की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते हैं—

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों का इस तीन सौ तेतालीस घन राजू प्रमाण लोकाकाश मे अवकाश होरहा है। बाहर अलोकाकाश मे नही।

धर्मादीनामित्यभिसंबंधः प्रकृतत्वादर्थवशाद्विभक्तिपरिणामात्। लोकेन युक्तमाकाशं तत्रावगाहः। कुत इत्याह।

पूर्व सूत्रो के अनुसार धर्म, अधर्म, आदिको का प्रकरणप्राप्त होने से यो उद्देश्य दल की ओर सम्बन्ध कर लिया जाता है कि धर्मादिको का लोकाकाश मे अवगाह है। आद्यसूत्र मे और तृतीयसूत्र मे प्रथमा विभक्ति वाले धर्म आदिको का वचन है, किन्तु कृदन्त अवगाह क्रिया की अपेक्षा षष्ठयन्त पद की आवश्यकता है, अत. अर्थ के वश से विभक्ति का बदलकर विपरिणाम कर लिया जाता है, धर्म, अधर्म पुद्गल, जीव काल इन पाच द्रव्यो का समुदाय लोक है, लोक करके युक्त होरहा जो ठीक मध्यवर्त्ती आकाश है, वह लोकाकाश है, उस लोकाकाश मे धर्म आदिको का अवगाहन होरहा है, जैसे कि समुद्र मे जल, मगर, मछली, आदि का अवगाह होरहा है। कोई आतुर पुरुष पूछता है कि यह लोकाकाश मे धर्म आदि द्रव्यो का अवगाह होरहा भला किस प्रमाण से निर्णीत किया जाय ? यों जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिक को कहते है।

लोकाकाशेवगाहः स्यात्सर्वेषामवगाहिनां।
बाह्यतोसम्भवात्तस्माल्लोकत्वस्यानुषंगतः ॥ १ ॥

अवगाह करने वाले सम्पूर्ण पदार्थो का लोकाकाश मे अवगाह है, उस लोक से बाहर आकाश से अतिरिक्त किसी भी द्रव्य के अवगाह का असम्भव है, यदि लोक से बाहर अलोकाकाश मे भी कुछ द्रव्यों का अवगाह माना जायगा तो उस अलोकको लोकपन का प्रसग होजायगा।

न हि लोकाकाशाद्बाह्यतो धर्मादयोऽवगाहिनः संभवन्त्यलोकाकाशस्यापि लोकाकाशत्वप्रसंगात्। ननु च यथा धर्मादीनां लोकाकाशेऽवगाहस्तथा लोकाकाशस्यान्यस्मिन्नधिकरणेऽवगाहेन भवितव्यं तस्याप्यन्यस्मिन्नित्यनवस्था स्यात्, तस्य स्वरूपेवगाहे सर्वेषां स्वात्मन्यवावगाहोस्त्वित्याशंकायामिदमुच्यते।

लोकाकाश से बाहर की ओर अवगाह करने वाले धर्म आदिक द्रव्य नही सम्भवते है, अन्यथा अलोकाकाश को भी लोकाकाशपन का प्रसंग आवेगा जो कि किसी भी वादी प्रतिवादी, को इष्ट नही है। पुनः यहां किसी का प्रश्न है कि जिस प्रकार धर्मादिकों का लोकाकाश मे अवगाह है उसी

प्रकार लोकाकाश का किसी अन्य अधिकरण में अवगाह होना चाहिये और उस अन्य का भी किसी तीसरे निराले अधिकरण मे अवगाह होना चाहिये, तीसरे का भी चौथे आदि में अवगाह मानते मानते अनवस्था दोष होगा। यदि उस अनवस्था दोष के निराकरण के लिये उस लोकाकाश का स्वकीय निज रूपमें अवगाह माना जायगा तब तो उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्यो का अपनी अपनी निज आत्मा (शरीर) में ही अवगाह होजाओ, व्यर्थ मे अधिकरणो के निरूपण की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार आशंका उपस्थित होने पर ग्रन्थकार करके यह समाधान कारक वार्त्तिक कहा जाता है।

लोकाकाशस्य नान्यस्मिन्नवगाहः क्वचिन्मतः।
आकाशस्य विभुत्वेन स्वप्रतिष्ठत्वसिद्धितः ॥ २ ॥

लोकाकाश का फिर कही भी अन्य अधिकरण मे अवगाह होना नही माना गया है क्योकि आकाश सर्व-व्यापक है इस कारण आकाश के स्व मे ही प्रतिष्ठित बने रहने की सिद्धि होचुकी है। भावार्थ—अनन्तानन्त राजू लम्बा, इतना ही चौड़ा, और ठीक इतना ही ऊंचा, समघन चतुरस्र आकाश द्रव्य है, उसके ठीक मध्य के चौदह राजू ऊंचा तथा दक्षिण उत्तर सात राजू लम्बा और पूर्व पश्चिम सात, एक, पांच, एक राजू चौड़ा इतना तीनसौ तेतालीस घन राजू प्रमाण भाग को लोकाकाश कल्पित कर लिया है लोकाकाश और अलोकाकाश का अभेद सम्बन्ध है, आकाश द्रव्य व्यापक है उससे बड़ा कोई द्रव्य नही है जो कि आकाश का आधार होसकता था, अतः आकाश द्रव्य स्वप्रतिष्ठित है, और अन्य द्रव्यो का उस आकाश मे अवगाह है। आचारसार और त्रिलोकसार मे अलोकाकाश को बरफी के समान घनसमचतुरस्र सिद्ध किया है।

ततो नानवस्था नापि सर्वेषां स्वात्मन्येवावगाहस्तेषामविभुत्वात्, परस्मिन्नधिकरणेऽवगाहोपपत्तेरन्यथाधाराधेयव्यवहाराभावात्।

तिस कारण से यानी आकाश के स्वप्रतिष्ठितपन की सिद्धि होजाने से अनवस्था दोष नही आता है, तथा सम्पूर्ण द्रव्यो के स्वकीय स्वरूप में ही अवगाह होजाने का प्रसग भी नही आता है क्योंकि वे धर्म आदिक पाच द्रव्ये अव्यापक है, अतः अव्यापक पदार्थों का दूसरे व्यापक अधिकरण मे अवगाह होना युक्ति-सिद्ध है, अन्यथा यानी-दूसरे पदार्थों मे द्रव्यों का अवगाह नही मान कर निश्चय नय अनुसार स्वात्मा मे ही सब का अवगाह माना जायगा तो जगत् प्रसिद्ध आधार आधेयपन के व्यवहार का अभाव होजायगा जो कि इष्ट नहीं है ? अतः प्रमाणदृष्टि और व्यवहार नय के अनुसार जो व्यवस्था है उसकी प्रतिपत्ति करो।

उस लोकाकाश में अवगाहितपने करके अवधारण किये जा रहे न्यारी न्यारी द्रव्यों के अवस्थान का भेद होना सम्भव है. अतः उस विशेष अवस्थान की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते हैं।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

सम्पूर्ण लोकाकाश में अन्तरालरहितपने करके धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह होरहा है।

लोकाकाशेवगाह इत्यनुवर्तनीयं। कृत्स्न इति वचनात्तदेकदेश एव धर्माधर्मयोरवगाहो व्युदस्तः। कुतस्तौ कृत्स्नलोकाकाशावगाहिनौ सिद्धावित्याह।

लोकाकाश में अवगाह है, इस प्रकार पूर्व सूत्रोक्त पदों की यहां अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाह है, इस प्रकार कथन कर देने से उस लोकाकाश के एक ही देश में धर्म और अधर्म के अवगाह का निराकरण किया जा चुका है। यहां किसी जिज्ञासु का प्रश्न है कि किस कारण से वे धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश मे अवगाह होरहे सिद्ध है, बताओ ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्रीविद्यानन्द आचार्य उत्तर-वार्तिक को कहते हैं।

धर्माधर्मौ मतौ कृत्स्नलोकाकाशावगाहिनौ।
गच्छत्तिष्ठत्पदार्थानां सर्वेषामुपकारतः॥ १॥

धर्म और अधर्म द्रव्य तो सम्पूर्ण लोकाकाश मे अवगाह करने वाले माने गये हैं (प्रतिज्ञा) क्योकि गमन कर रहे और ठहर रहे सम्पूर्ण पदार्थों का उपकार किया जा रहा होने से। भावार्थ— सम्पूर्ण लोकाकाश मे गमन कर रहे पदार्थों का उपकार धर्म द्रव्य से होता है, और ठहर रहे पदार्थों का ठहरा देना-स्वरूप उपकार अधर्म द्रव्य करके होता है, अतः ये दोनो द्रव्य लोकाकाश में ठसाठस अवगाह कर रही मानी गयी है।

न हि लोकत्रयवर्तिनां पदार्थानां सर्वेषां गतिपरिणामिनां स्थितिपरिणामिनां च गतिस्थित्युपग्रहौ युगपदुपकारौ धर्माधर्मयोरेकदेशवर्तिनोः संभवत्यलोकाकाशेपि तद्गतिस्थितिप्रसंगात्। ततो लोकाकाशे गच्छत्तिष्ठत्पदार्थानां सर्वेषां गतिस्थित्युपकारमिच्छता धर्माधर्मयोः कृत्स्ने लोकाकाशेऽवगाहोभ्युपगंतव्यः।

देखो बात यह है कि गति नामक परिणाम को धार रहे और स्थिति नामक परिणति को प्राप्त कर रहे लोकत्रयवर्ती यथायोग्य सम्पूर्ण पदार्थों के गति-उपग्रह और स्थिति-उपग्रह ये एक साथ होरहे उपकार तो एक एक देश मे वर्त्तरहे धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके द्वारा नही सम्भवते हैं। अन्यथा अलोकाकाक मे भी उन पदार्थों की गति और स्थिति होने का प्रसंग आजावेगा अर्थात्—एक देश में ठहर रहे धर्म या अधर्म द्रव्य यदि पूरे लोकाकाश में पदार्थों की गति या स्थिति को करा देवेंगे तब तो यहाँ एक कोने में बैठ कर अलोकाकाश में भी पदार्थों को चला देगे या ठहरा देंगे ऐसी दशा मे अलोकाकाश में भी जीव और पुद्गल का गमन या स्थापन होजाने से लोक, अलोक, का विभाग नही बन सकेगा तिस कारण लोकाकाश मे ही गमन करते हुये और ठहरते हुये सम्पूर्ण पदार्थों के गति-उपकार या स्थिति-उपकार को चाहने वाले पण्डित करके धर्म और अधर्म द्रव्य का सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाह होना स्वीकार कर लेना चाहिये।

लोकाकाश में अमूर्त हो रहे धर्म, अधर्म, द्रव्यों के अवगाह का प्रतिपादन कर अब उनसे विपरीत मूर्तिमान् अप्रदेश अणु और संख्यात, असंख्यात, अनन्त प्रदेशों वाले पुद्गल द्रव्यों के अवगाह की विशेष प्रतिपत्ति कराने के लिये ग्रन्थकार अगले सूत्र को कहते हैं।

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

एक प्रदेश को आदि कर सख्यात, असख्यात, प्रदेशो मे पुद्गल द्रव्यो का अवगाह विकल्पनीय है। अर्थात्—तद्गुणविज्ञान वृत्ति द्वारा एक प्रदेश भी पकड लिया जाता है, एक आकाश के प्रदेश मे एक परमाणु का अवगाह है। और बद्ध या अबद्ध होरहे दो, तीन, सैकडो, असख्याते, अनन्ते परमाणुओ का भी अवगाह है. दो प्रदेशो पर दो, तीन, संख्याते, असंख्याते, अनन्ते, बद्ध या अबद्ध परमाणुओ का अवगाह है, हा तीन प्रदेशों पर तीन, चार, सख्यात आदिक बद्ध या अबद्ध परमाणुओं का अवकाश है। दो प्रदेशो पर एक परमाणु कथमपि नही ठहर सकती है। तीन परमाणु यदि दो प्रदेशों पर ठहरेंगी तो अबद्ध दशा मे एक प्रदेश पर दो और दूसरे प्रदेश पर एक या तीन परमाणु ठहर जायगी किन्तु दो प्रदेशोमे एक, एक प्रदेश पर डेढ डेढका बाट होकर तीन परमाणु नही ठहर पाते है, तीन परमाणुओंका बन्ध होजाने पर तो एक नवीन अशुद्ध पुद्गल पर्याय उपज जाती है। अत एक त्र्यणुक अवयवी का एक प्रदेश मे या दो प्रदेशो में अथवा तीन प्रदेशो मे अवस्थान होजाता है। एक परमाणु का दूसरे या तीसरे परमाणु के साथ सर्वात्मना बन्ध होजाने पर त्र्यणुक केवल परमाणु के बराबर आकार वाला बन जायगा। तथा एक परमाणु के साथ दूसरे परमाणु का सर्वात्मना बन्ध होजाने पर और तीसरे का एक देश से बन्ध होजाने पर त्र्यणुक का सस्थान द्विप्रदेशी द्व्यणुक के समान होगा, हां तीनो अणुओ का एकदेशेन बन्ध होजाने पर त्र्यणुक तीन प्रदेशो को घेर कर बैठ जावेगा। शक्ति रूप से परमाणु के छह अंश साधे जा चुके है। अत अप्रदेश अणु का भी एकदेशेन या सर्वात्मना बन्ध या सयोग मान लेना अनिष्टापत्ति नही है। एव अनेक जातीय पुद्गल स्कन्धो का लोकाकाश मे एक, दो, सौ, आदि संख्यात, असख्यात प्रदेशो मे अवगाह होरहा है अवगाह शक्ति के योग से अनन्तानन्त बादर या सूक्ष्म पुद्गल इस असंख्यात--प्रदेशी लोकाकाश में निर्विघ्न विराज रहे हैं।

अवगाह इत्यनुवर्तते लोकाकाशस्येत्यर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः तेन लोकाकाशस्यैकप्रदेशेऽसंख्येयेषु च पुद्गलानामवगाह इति वाक्यार्थः सिद्धः। कथमित्याह—

"लोकाकाशेऽवगाहः" इस सूत्र से यहां "अवगाह" इस शब्द की अनुवृत्ति करली जाती है, और लोकाकाशे इस सप्तमी विभक्ति वाले पद की विभक्तिका अर्थ के वशसे षष्ठी विभक्ति रूप परिवर्तन कर लिया जाता है तिस कारण इस प्रकार वाक्य का अर्थ सिद्ध होजाता है कि लोकाकाश के एक, दो, तीन, आदि संख्यात प्रदेशो मे एक, दो, तीन, आदि सख्याते या असख्याते अथवा अनन्ते परमाणुओ का अथवा इन से बने हुये स्कधो का अवगाह है। तथा लोकाकाश के असख्यात प्रदेशो पर असख्याते या अनन्त परमाणुओ अथवा इन से बने हुये पुद्गल स्कन्धो का अवगाह है। कोई पूछता है कि इस प्रकार थोडे से प्रदेशो पर बहुत से अणु या स्कन्धोका अवगाह होजाना भला किस

प्रकार समझ लिया जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिको द्वारा उत्तर को कहते है

तस्यैवैकप्रदेशेस्ति यथैकस्यावगाहनं
परमाणोस्तथानेकाणुस्कंधानां च सौक्ष्म्यतः ॥ १ ॥
तथा चैकप्रदेशादिस्तेषां प्रतिविभिद्यतां ।
सोवगाहो यथायोग्यं पुद्गलानामशेषतः ॥ २ ॥

उस ही लोकाकाश के एक प्रदेशमे जिस प्रकार एक परमाणु का अवगाह होरहा है, तिसी प्रकार अनेक अणु अथवा अनेक स्कन्धो का भी सूक्ष्म परिणाम होजाने से अवगाह होजाता है और जिस प्रकार उन पुद्गलो का सम्पूर्ण रूप से वह एक प्रदेश आदि मे होरहा अवगाह यथायोग्य प्रत्येक मे विभाग प्राप्त कर लिया जाओ अथवा प्रत्येक विभेद को प्राप्त होरहे पुद्गलो का सम्पूर्ण रूप से यथायोग्य एक प्रदेश आदि अवगाहस्थान है, उसी को सूत्रकार ने कहा है कि आकाश के एक प्रदेश, दो प्रदेश, सख्यात आदि प्रदेशो मे पुद्गलो का अवगाह भजनीय है ।

तस्यैव लोकाकाशस्यैकप्रदेशे यथैकस्य परमाणोरवगाहनमस्ति निर्बाधं तथा द्व्यादिसंख्येयानां स्कंधानामपि परमसौक्ष्म्यपरिणामानां । तद्वद्व्यादिप्रदेशेषु च यथैकत्वपरिणामनिरुत्सुकानां द्व्यादिपरमाणूनामवगाहस्तथा द्वित्र्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तपरमाणुमयस्कंधानामपि तादृशात् सौक्ष्म्यपरिणामादित्यशेषतो यथायोगं प्रविभज्यतां ।

असंख्यात–प्रदेशी उस ही लोकाकाश के एक प्रदेश मे जिस प्रकार एक परमाणु का बाधा रहित होकर अवगाहन होरहा है, तिसी मे प्रकार उस एक प्रदेश मे दो, तीन, सौ, लाख, कोटि, सख्याते परमाणुओ और स्कन्धो का भी परमसूक्ष्मपन परिणामवालो का अवगाह होरहा है, असख्याते और अनन्ते भी परमाणुओ और स्कधो का अवगाह है । और उसी एक प्रदेश के समान दो, तीन, आदि प्रदेशो मे जिस प्रकार एकत्व परिणति के उत्सुक नही होरहे दो, तीन, सख्यात, असख्यात, आदि अबद्ध परमाणुओं का अवगाह है, तिसी प्रकार उन दो आदि प्रदेशो मे दो, तीन, पचास, हजार, खर्व, सख्यात, असख्यात, अनन्ते, परमाणुओ से तादात्म्य रखते हुये तन्मय होरहे स्कन्धो का भी अवगाह होना समझ लिया जाय, उन परमाणुओके ही समान तिसी जातिके सूक्ष्मपन परिणाम मे पुद्गल का अशेष रूप से यथायोग्य होरहे अवकाशकी अच्छी विकल्पना कर ली जाओ, कोई विरोध नही आता है ।

न च पुद्गलस्कंधानाम् तादृशसौक्ष्म्यपरिणामोऽसद्धः स्थूलानामपि शिथिलावयवकर्पासपिंडादीनां निबिडावयवदशायां सौक्ष्म्यदर्शनात्, कूष्मांडमातुलुंगबिल्वामलकबदिरसौक्ष्म्यतारतम्यदर्शनाच्च क्वचित्कार्मणस्कंधादिषु परमसौक्ष्म्यानुमानात् महत्त्वतारतम्यदर्शनात् क्वचित्परममहत्त्वानुमानवत् ।

यहाँ कोई यदि यों कटाक्ष करै कि पुद्गलस्कन्धो का तिन परमाणुओ के समान सूक्ष्मता स्वरूप परिणाम हो जाना तो असिद्ध है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कटाक्ष उचित नही है कारण कि स्थूल होरहे भी शिथिल अवयव वाले कपासनिर्मित रूई के पिण्ड, बुरादा, रेख, आदि स्कन्धो का दवा देने पर कठिन अवयवो के सयोग होजाने की दशा मे सूक्ष्मपना देखा जाता है। तथा कूष्माण्ड-(तौमरा) बिजौरा, बेल, आमला, बेर, कालीमिरच, वायविरंग, सरसो आदिमे सूक्ष्मपना का तरतमपना देखा जाता है, अत: किन्ही २ ज्ञानावरण आदि कर्मों के पिण्डभूत कार्मणस्कंध, तैजस शरीर आदि मे भी परमसूक्ष्मपन का अनुमान कर लिया जाता है जैसे कि पोस्त, मूंग, मटर, सुपारी बहेडा, अमरूद, खरबूजा, पेठा, घडा, कपडा, प्रासाद, पर्वत आदि मे बडप्पन के तरतमभाव का दर्शन होने से कही आकाश मे परम महापरिमाण का अनुमान होजाता है। एक घर मे सैंकडो दीपको के प्रकाश भरपूर होकर समाजाते हैं, बात यह है कि ऊंटनी के दूध से भरे हुये पात्र मे उतना ही मधु (शहद) आजाता है, दूध मे बूरा समा जाता है बुभुक्षित पारा सोने को खा जाता है और बोझउतना ही रहता है, बालू, रेत, या राख में पानी समा जाता है, इत्यादि स्थूल पदार्थ भी अन्य स्थूल पदार्थो को जब अवकाश दे रहे है तो सूक्ष्मपरिणामधारी अनन्ते पदार्थो का आकाश के एक दो तीन आदि संख्यात, असख्यात, प्रदेशो पर अवगाह होजाने मे कौन आश्चर्य है ?। अत असख्यात-प्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त वादरपुद्गलो और सूक्ष्म पुद्गलो का निराबाध अवस्थान होरहा है।

पुद्गलों का अवगाह ज्ञात कर लिया अब क्रमप्राप्त जीव द्रव्यों का अवगाह किस प्रकार है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते है।

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

उस लोकाकाश के एक असख्यातवे भाग को आदि लेकर पूरे लोकाकाश तक असंख्यात प्रकार के स्थानो मे जीवो का अवगाह होरहा समझ लेना चाहिये।

लोकाकाशस्येति संबधनीयं अवगाहो भाज्य इति चानुवर्तते। तेनासंख्येयभागे असख्येयप्रदेशे कस्यचिज्जीवस्य सर्वजघन्यशरीरस्य नित्यनिगोतस्यावगाहः, कस्यचिद्द्वयोरन्तदसंख्येयभागयोः कस्यचित्त्र्यादिषु सर्वस्मिश्च लोके स्यादित्युक्तं भवति।

सप्तमी विभक्ति के स्थान मे बदली हुयी षष्ठी विभक्ति वाले "लोकाकाशका" इस प्रकार यहा सम्बन्ध कर लेने योग्य है, अवगाह और भाज्य इन दो पदो की भी यहां पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति करली जाती है, तिस कारण इस सूत्र का वाक्य बनाकर अर्थ यो होजाता है कि उस लोकाकाश के असंख्येय प्रदेश वाले होरहे तद्योग्य असख्यातवे भाग मे किसी एक जीव का यानी शरीर की सब से छोटी जघन्य अवगाहना वाले नित्यनिगोदिया का अवगाह होरहा है और किसी एक जीव का लोक के दो असंख्यातवें भागो मे अवकाश होरहा है। एवं किसी किसी जोव का लोकाकाश के तीन, चार, संख्याते, असंख्याते, उन असंख्येय भागो में अवस्थान होरहा है, केवलि समुद्घात करते समय लोकपूरण अवस्था मे तो सम्पूर्ण लोक में वह एक जीव फैल जाता है, यह इस सूत्र द्वारा कहा गया समझा जाता है।

भावार्थ—कोई भी जीव किसी भी पर्याय में असंख्यातप्रदेशों से कमती एक, दो, सौ, लाख, संख्याते प्रदेशों में नही ठहर पाता है, जीव की सब से छोटी व्यंजनपर्याय भी असंख्यात प्रदेशों को घेर रही है, सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग में भी असंख्याती उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के समयों से अत्यधिक प्रदेश विद्यमान हैं। सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के पश्चात् तीसरे समय में घनांगुलके असंख्यातवें भाग स्वरूप सब से छोटी जघन्य अवगाहना है, इस अवगाहना से एक, दो, आदि या असख्याते प्रदेशो बढती हुयी अगले समयों में इसी जीव की अथवा अन्य जीवो की भी अवगाहनायें है, सूक्ष्म निगोदिया की अवगाहना से दूनी अवगाहना को या तिगुनी अवगाहना को लोकाकाश के दो या तीन असख्यातवे भाग कहा जा सकता है किन्तु जघन्य अवगाहना से एक, दो, पाच, सौ, संख्याते, प्रदेशो से बढी हुयी अवगाहना को तो एक संख्यातवे भाग और दो असख्यातवे भागो की मध्यम दशा समझना और इस माध्यम को चार, पाच, आदि के बीचों में भी लागू कर लेना चाहिये।

सूत्रकार या व्याख्याकार ने इनका कण्ठोक्त निरूपण नही किया है फिर भी " तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " अनुसार उन सब का ग्रहण होजाता है। एक बात यह भी है कि जब लोक के सैकडो या असख्याते, असख्याते भागो को मिला देने पर भी लोक का असख्यातवां भाग रक्षित रह जाता है तो जघन्य अवगाहना के ऊपर दो, चार, दस, वीस, पचास, प्रदेशो के बढ जाने पर लोक के असंख्यातवे भाग मे कोई क्षति नही आती है, इसी प्रकार अवगाहनाओ के बढते बढते घनांगुल का सख्यातवा भाग, पूराघनागुल, संख्यातेघनागुल, होता हुआ महामत्स्य का साड़े बारह करोड, योजन क्षेत्रफल वाला जीवसस्थान होजाता है, मारणान्तिक समुद्घात या दण्ड कपाट, प्रतर, अवस्थाओं मे लोक का वहुत बडा असंख्यातवां भाग या संख्यातवा भाग अथवा कुछ कम लोक बराबर भी जीव की अवगाहना होजाती है जो कि लोकाकाश के उतने उतने प्रदेशो को घेर लेती है।

नानाजीवानां केषांचित्साधारणशरीराणामेकस्मिन्नसंख्येयभागेवगाहः, केषांचिद्द्वयो: सख्येयभागयोस्त्र्यादिषु चासंख्येयभागेष्विति भाज्यावगाहः।

साधारणशरीर वाले किन्ही किन्ही अनन्तानन्त जीवो का लोक के एक ही असख्यातवे भाग मे अवगाह है, और किन्ही किन्ही नाना जीवो का लोक के दो असख्यातवें भागो मे और तीन आदि यानी चार, सौ, संख्यात, असख्याते, भी असख्येय भागो मे इस प्रकार अवगाह होजाना विकल्पनीय है। भावार्थ–साधारण नामक नामकर्म का उदय होने से बादर या सूक्ष्म जीव होजाते हैं, जिन अनन्तो जीवो का आहार श्वास, उत्श्वास, जन्म, मरण, साधारण हैं, वे जीव साधारण निगोदिया हैं। इस लोक में असख्यातलोक प्रमाण स्कन्ध हैं, एक एक स्कन्ध मे असख्यात लोक के प्रदेशो बराबर अण्डर हैं, एक एक अण्डर में असख्यात लोक–प्रमाण आवास है, एक एक आवास में असख्याती पुलवियां है, एक एक पुलवी में वादर निगोदिया जीवो के असख्यात लोक प्रमाण शरीर हैं, एक एक शरीर मे सिद्ध राशि से अनन्त गुणे अथवा अतीत काल के समयो से अनन्त गुणे निगोदिया जीव अपने स्वकीय शरीरो को लिये हुये भरे हुये हैं। ये अनेक जीव लोक के एक असंख्यातवे भाग दो, तीन, आदिअसंख्यातवे भागो में अवगाहित होरहे हैं।

न चैकस्य तदसंख्येयभागस्य द्वयाद्यसंख्येयभागानां चासंख्येय प्रदेशत्वाविशेषात्

सर्वजीवानां समानोवगाहः शंकनीयः । असंख्येयभागासंख्येयविकल्पत्वात् । तत्रिदं लोकाकाशै-कासंख्येयप्रदेशपरिणमनत्वाद्वृद्धयाद्यसंख्येयभागानामिति नानारूपावगाहसिद्धिः ।

यदि यहां कोई यो शंका करे कि उस लोक के एक असंख्यातवें भाग का और दो, तीन, आदि असंख्यातवें भागो का जब असख्येय प्रदेशपना अन्तररहित है। तब तो इस कारण सूक्ष्म जघन्य निगोदिया या सूक्ष्म वातकायिक जीव तेजस कायिक, त्रीन्द्रियक, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, अप्रतिष्ठित प्रत्येक, महामत्स्य, अथवा समुद्घात करने वाले यो सम्पूर्ण जीवोका अवगाह समान होजायगा। ग्रन्थकार कहते है कि यह शका तो नही करनी चाहिये असंख्यातके क्योकि असख्याते भेद है, जैसे कि संख्यातोंके सख्याते भेद होसकते है। अतः वह अनेक प्रकारोका अवगाह होना सिद्ध होजाता है, लोकाकाश के भेद सख्याते दो, तीन, आदि सख्यात, असख्याते भी असख्येय भागोकी परिणति लोकाकाशके एक असख्येय भाग होरहे प्रदेशो स्वरूप होजाती है। अर्थात्—कई असंख्यातवें भाग मिलकर भी लोक का एक असंख्यातवा भाग बन जाता है। इस प्रकार अनेक जीवो के नाना स्वरूप अवगाहों की सिद्धि होजाती है। दसो के दसो भेद है, सैकडो के सैकडो प्रकार है, इसी प्रकार असख्यातवें भागो के असख्याते प्रभेद है।

धर्मादीनां सकललोकाकाशाद्यवगाहवचनसामर्थ्याल्लोकाकाशस्यैकस्मिन्नेकस्मिन् प्रदेशे चैकैकस्य कालपरमाणोरवगाहः प्रतीयते तथा च सूत्रकारस्य नासंग्रहदोषः ।

धर्म, अधर्म, पुद्गल आदि द्रव्यो का सम्पूर्ण लोकाकाश या लोक के असख्येय भाग आदि मे अवगाह होजाने का सूत्रकारद्वारा कण्ठोक्त निरूपण करने की सामर्थ्य से यह प्रतीत होजाता है कि लोकाकाश के एक प्रदेश पर एक एक काल परमाणु का अवगाह होरहा है। और तिस प्रकार होने से सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज के ऊपर कोई 'नही संग्रह करने का' दोष लागू नही होता है।

भावार्थ—सूत्रकार ने धर्म, अधर्म, पुद्गल, और जीव द्रव्यो के अवगाह का सूत्र द्वारा निरूपण किया है, आकाश द्रव्य तो स्वयं अपने मे ही अवगाहित होरहा है। किन्तु छठे काल द्रव्य के अवकाशस्थान का सूत्र द्वारा निरूपण नही किया, अत. अवगाहित द्रव्यो का निरूपण करते हुये सूत्रकार ने काल द्रव्य का सग्रह नही करपाया है। यह असग्रह दोष खटकने योग्य है। इस आक्षेप का उत्तर ग्रन्थकार लगे-हाथ यो दिये देते है, कि बहुत से प्रमेय विना कहे ही अर्थापत्त्या उक्त शब्दो की सामर्थ्य से लब्ध होजाते है। जब कि धर्म, और अधर्म, का निवास स्थान पूरा लोक कहा, पश्चात् पुद्गलो का एक प्रदेश आदि अवगाह स्थान कहा, पुन. जीवों का असख्येयभाग आदि कहा, ऐसी दशा मे कालाणुओ का लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर स्थान पाजाना स्वत ही लब्ध होजाता है, इस कारण असग्रह दोष कथमपि नही आता है।

ननु च लोकाकाशप्रमाणत्वे जीवस्य व्यवस्थापिते कथं तदसख्येयभागावगाहनं न विरुध्यत इत्याशंक्याह ।

यहा किसी की शका है कि "असख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्" इस सूत्र करके जीव के प्रदेशो की जब लोकाकाश प्रमाण व्यवस्था करा दो जा चुकी है, तो फिर उस लोक के असख्यातवे

भाग आदि में जीव का अवगाह होजाना किस प्रकार भला विरुद्ध नही पड़ता है बताओ ? वैशेषिको के विचार अनुसार सम्पूर्ण लोक में प्रत्येक जीव का व्यापक होकर अवगाह होना चाहिये ऐसी योग्य आशंका उपस्थित होजाने पर सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते है।

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥

जीव सम्बन्धी प्रदेशों के सकोचन और प्रसारण से असख्येय आदि भागो मे जीव की वृत्ति होजाती है, जैसे कि प्रदीप का छोटे बड़े स्थलो मे सहार और विसर्प हो जाने मे अन्तराल-रहित अवकाश होजाता है। भावार्थ—छोटे घर मे दीपक का प्रकाश पूर्ण रूप से उतने मे समा जाता है और बड़े घर में वही प्रकाश अविरल फैल कर समा जाता है। प्रदीप के निमित्त से हुआ प्रकाश भी प्रदीप का ही परिणाम है, अतः प्रदीप-आत्मक है। यद्यपि घर मे फैलरहे अन्य पुद्गल स्कन्ध ही प्रकाशित स्वरूप परिणम गये है, तो भी वह प्रदीप का ही शरीर है जैसे कि प्रचण्ड अग्नि को कारण मानकर हुये यहा वहां दूर तक के उष्णता वाले पदार्थ सब अग्नि के अंग माने जाते है। जल रहा काठ कुछ देर मे सब का सब अग्नि होजाता है, अत. प्रदेशों के सहार या विसर्प में प्रदीप का दृष्टान्त अनुपयोगी नही है। यो दृष्टान्त के सभी धर्म तो दार्ष्टान्त में नही पाये जा सकते है। कुछ तो अन्तर रहता ही है, अन्यथा वह दृष्टान्त ही नही समझा जावेगा, दार्ष्टान्त बन बैठेगा।

असंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भाज्य इति साध्यत इत्याह।

लोक के असख्येय भाग आदिको मे जीवो का विकल्पना करने योग्य अवगाह होरहा है, यह यहा साधा जाता है (प्रतिज्ञा) प्रदेशसहार-विसर्पाभ्याम् यह हेतु है, प्रदीप दृष्टान्त है। इसी बात को ग्रन्थकार वार्तिको द्वारा कहते है।

न जीवानामसंख्येयभागादिष्ववगाहनं।
विरुद्धं तत्प्रदेशानां संहारात्प्रविसर्पतः॥ १ ॥
प्रदीपवदिति ज्ञेया व्यवहारनयाश्रया।
आधाराधेयतार्थानां निश्चयात्तदयोगतः॥ २ ॥

जीवो का लोक के असंख्यातवें भाग आदिको मे अवगाह होना विरुद्ध नही है (प्रतिज्ञा) उन जीवों के प्रदेशों का संहार होने से और विसर्प होने से (हेतु)। प्रदीप के समान (अन्वय-दृष्टान्त)। इस अनुमान-अनुसार पदार्थों के व्यवहार का अवलम्ब लेकर "आधार आधेयभाव" बन रहा जान लेना चाहिये, हां निश्चय नय से तो अर्थो के उस आधार आधेय भाव का योग नही है। भावार्थ—निश्चयनय से सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने शुद्ध स्वरूप मे अवस्थित है, न कोई किसी का आधार है और न कोई किसी का आधेय है, हां व्यवहार नय से आधार आधेय-व्यवस्था होरही है,

वस्त्र के समान जीव स्वकीय प्रदेशों का सकोच या विस्तार होजाने से लोकाकाश में अनेक अवगाहनाओं--अनुसार आश्रित होरहा है।

अमूर्तस्वभावस्याप्यात्मनोऽनादिसंबंध प्रत्येकत्वात् कथंचिन्मूर्ततां बिभ्रतो लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यापि कार्मणशरीर-वशादुपात्तं सूक्ष्मशरीरमधितिष्ठतः शुष्कचर्मवत्संकोचनं प्रदेशानां संहारस्तस्यैव बादरशरीरमधितिष्ठतो जले तैलवद्विसर्पणं विप्रदेशानां सर्पस्ततोऽसंख्येयभागादिषु वृत्तिः प्रदीपवन्न विरुध्यते। न हि प्रदीपस्य निरावरणनभोदेशावधृतप्रकाशपरिमाणस्यापि शरावमानिकापवरकाद्यावरणवशात् प्रकाशप्रदेशसंहारविसर्पौ कस्यचिदसिद्धौ यतो न दृष्टांतता स्यात्।

यद्यपि प्रत्येक आत्मा का निज स्वभाव अमूर्तपना है तथापि प्रवाह रूप से अनादि कालीन सम्बन्ध को प्राप्त होरहे पुद्गल के प्रति (साथ) कथंचित् एकपना होजाने से आत्मा कथंचित् मूर्तपन को धारण कर रहा है, लोकाकाश के प्रदेशो के समान असख्यात प्रदेशों के धारी भी ऐसे मूर्त और कार्मण शरीर के वशसे ग्रहण किये गये सूक्ष्म शरीर को धारण कर रहे आत्मा का सूखे चमड़े समान सकुचित होजाना ही आत्माके प्रदेशोका सहार है, संहारका अर्थ नाश नही है। और असंख्यात प्रदेशी, मूर्त, बादर शरीरमे अधिष्ठान करते हुये उस ही आत्माका जल मे तैलके समान फैलजाना-रूप विसर्प ही प्रदेशो का प्रसर्प है, तिस कारण से प्रदीप के समान जीव का लोक के असख्यातवे भाग आदि स्थानोमे वर्त जाना विरुद्ध नही पडता है। अर्थात् मूर्त आत्मा मूर्त होरहे सूक्ष्म, स्थूल, शरीरो अनुसार सकुचित विसर्पित होरहा संता लोक के अनेक छोटे, बडे स्थानों मे वर्त रहा है, चमड़ा या रबड के सिकुड जाने पर उनके प्रदेश नष्ट नही होजाते हैं एवं जल मे तेल के फैल जाने पर तेल के नवीन प्रदेशों की उत्पत्ति नही होजाती है, इसी प्रकार जीवो के प्रदेशो मे कोई उत्पाद या विनाश नही है।

बाल्य-अवस्था के शरीर की युवा अवस्था में बढ़ जाने पर आहार वर्गणा के प्रदेशो की वृद्धि अनुसार सर्वथा नवीन व्यंजन पर्याय उपज गयी है, और युवा से वृद्ध होने पर जीर्ण शीर्ण वृद्ध शरीर की व्यजन पर्याय शरीरोपयोगी पुद्गलो की अधिक हानि अनुसार नवीन रीत्या उत्पन्न होगयी है, किन्तु बाल्य-अवस्था से युवा पुरुष की आत्मा का केवल प्रदेश विस्तार होगया है और थकेवृद्ध की आत्मा का केवल प्रदेश सकोच होगया है, प्रदेशो की वृद्धि या हानि नहीं हुयी है, भले ही आत्मा की व्यंजन पर्याय उतनी ही मान ली जाय फिर भी शरीर की व्यंजन पर्याय और आत्मा की व्यंजन पर्याय मे महान् अन्तर है, बुद्धिमान् पुरुष इस रहस्य को समझ लेवे। इस सूत्र मे कहा गया प्रदीप दृष्टान्त प्रकरण प्राप्त साध्य के सर्वथा उपयोगी है। आवरण-रहित लम्बे, चौड़े, आकाश के प्रदेशों में दूर तक मर्यादित प्रकाशने के परिणाम को धारने वाले भी प्रदीप का सरवा, मौनी, घड़ा, डेरा, गृह, आदि आवरणो के वश से होरहे प्रकाश-आत्मक प्रदेशो के सहार और विसर्प दीखरहे सन्ते किसी भी वादी प्रतिवादी के यहा असिद्ध नही है, जिससे कि दीपक को दृष्टान्तपना नहीं होसके अर्थात्— लम्बे, चौड़े प्रकाशो वाला दीपक छोटे छोटे स्थानो मे निरन्तराल मर्यादित होजाता है, अतः यह दृष्टान्त बहुत अच्छा है।

स्यादाकूतं, नात्मा प्रदेशसंहारविसर्पवान् अमूर्तद्रव्यत्वादाकाशवदिति। तदयुक्तं,

पक्षस्य बाधितप्रमाणत्वात् । तथाहि—आत्मा प्रदेशसंहारविसर्पवानस्ति महाल्पपरिमाणदेशव्यापित्वात् प्रदीपप्रकाशवदित्यनुमानेन तात्पक्षो बाध्यते । । न चात्र हेतुरसिद्धः शिशुशरीरव्यापिनः पुनः कुमारशरीरव्यापित्वप्रतीतेः । स्थूलशरीर—व्यापिनश्च सतो जीवस्य कृशशरीरव्यापित्वसंवेदनात् । न च पूर्वापरशरीरविशेषव्यापिनो जीवस्य भेद एव प्रत्यभिज्ञानाभावप्रसंगात् । न चेह तदेकत्वप्रत्यभिज्ञानं भ्रांतं बाधकाभावादित्युक्तत्वात् ।

सम्भव है कि नैयायिक या वैशेषिकों का यह भी मन्तव्य होवे कि आत्मा (पक्ष) स्वकीय प्रदेशो के संहार और विसर्प को नही धारता है (साध्य) अमूर्त द्रव्य होने से (हेतु) आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त) । किन्तु इस प्रकार वैशेषिकों का वह अनुमान तो युक्तियों से रीता है, क्योकि उनके पक्ष की अनुमान या आगमप्रमाणों से बाधा प्राप्त होरही है, उन्ही बाधक प्रमाणोको स्पष्ट कर यो कहाजाता है कि आत्मा (पक्ष) अपने प्रदेशो के सहार और विसर्प को तदात्मक होकर धारने वाला है, (साध्य) बडे परिमाण वाले और अल्प-परिमाण वाले देशो मे व्यापक होजाने से (हेतु) प्रदीप के प्रकाश समान (अन्वयदृष्टात) । सब से प्रथम इस निर्दोष अनुमान करके वैशेषिको का पक्ष (प्रतिज्ञा) बाधित होजाता है । देखो इस अनुमान मे कहा हेतु असिद्ध नही है, कारण कि बालक के छोटे शरीर मे व्याप रहे आत्मा का पश्चात्-कुमार अवस्था के बडे शरीर मे व्याप जाना प्रतीत होरहा है तथा स्थूल शरीर मे व्याप रहे सन्ते जीवका पुन: कृश शरीर होजाने पर वहाँ व्यापक होरहेपन का सम्वेदन होरहा है । यदि यहाँ कोई यो आक्षेप करे कि शिशु-अवस्था का जीव न्यारा है, और कुमार अवस्था का जीव भिन्न है, मोटे शरीर वाले जीव से पतले उस शरीर में ठहर रहा जीव पृथक् है, पहिले पिछले शरीर-विशेषो मे व्यापने वाले जीव का भेद ही है । आचार्य कहते हैं कि यह आक्षेप नही चल सकता है क्योकि एकत्व प्रत्यभिज्ञानके अभावका प्रसंग होजावेगा । जो मैं बालक था वही मैं अब युवा हूँ, मेरा मोटा शरीर अब पतला होगया है, ऐसे आत्मा के एकत्व का ज्ञापक करने वाले प्रत्यभिज्ञान होरहे हैं । यहा हो रहे वे एकत्व प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त नहीं हैं क्योकि प्रत्यभिज्ञान के बाधक प्रमाणों का अभाव है इस बात को हम पूर्वप्रकरणो मे कई वार कह चुके है ।

तथागमबाधितश्च पक्षः स्याद्वादागमे जीवस्य समारिणः प्रदेशसंहारविसर्पवत्त्वकथनात् । न च तदप्रमाणत्वं सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्वात् प्रत्यक्षार्थप्रतिपादकागमवत् । सर्वगतत्वादात्मनो न प्रदेशसंहारविसर्पवत्त्वमाकाशवदिति चेन्न, तस्यासर्वगतत्वसाधनात् ।

तथा वैशेषिको का आत्मा में प्रदेशो के सहार और विसर्प के अभाव को साधनेवाला पक्ष हमारे आप्तोक्त आगमसे बाधित होरहा है क्योकि स्याद्वाद सिद्धान्त मे संसारी जीव को प्रदेशो के संहार और विसर्प से सहितपन का कथन किया गया है, "लोगस्स असखेज्जदिभागप्पहुदि तु सव्वलोगोत्ति, अप्पपदेशविसप्पण संहारे वावडो जीवो" इत्यादिक अथवा इन से भी पूर्ववर्त्ती उन आगम वाक्यों को अप्रमाण नही कह सकते हो क्योकि बाधक प्रमाणो के नही सम्भवने का अच्छा निर्णय हो चुका है । जैसेकि प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा जाने गये अर्थ के प्रतिपादक आगम का अप्रमाणपना नहीं है । अर्थात्-कोई सज्जन देहली या आगरा को देखकर 'दूसरे स्थान पर वहाँ के दृश्यों का सच्चा वर्णन

कर रहा है, उन सज्जन के वाक्यों से उत्पन्न हुआ आगम ज्ञान जैसे प्रमाण है, उसी प्रकार सर्वज्ञ आम्नाय से प्रतिपादित आगम भी प्रमाण है, अतः अनुमान और आगम प्रमाण से वैशेषिकों का पक्ष बाधित हुआ।

पुनः वैशेषिक बोलता है कि सर्वगत होने के कारण आत्मा का स्वकीय प्रदेशों के संहार और विसर्प से सहितपना नहीं बनता है जैसे कि सर्वव्यापक आकाश अपने प्रदेशोंके संकोच या विस्तार को लिये हुये नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस आत्मा का अव्यापकपना साधा जा चुका है, संसारी आत्मा अपने उपात्त शरीर के परिमाण है और मुक्त आत्मा चरम शरीर से कुछ न्यून परिमाणवाला है, अतः अव्यापक आत्मा के प्रदेशों का संकोच या विस्तार होसकता है।

येषां पुनर्वटकणिकामात्रः सहस्रधा भिन्नो वा केशाग्रमात्रोंगुष्ठपर्वप्रमाणो वात्मा तेषां सर्वशरीरे स्वसंवेदनविरोधः, तस्याशु-संचारित्वात्तथा संवेदने सकलशरीरेषु तथा संवेदनापत्तेरेकात्मवादावतरणात। शक्यं हि वक्तुं सकलशरीरेष्वेक एवात्माणुप्रमाणोप्याशु-संचारित्वात् संवेद्यत इति तत्राश्वेवाचेतनत्वप्रसंगोऽन्यत्र संचारणादिति चेत्, शरीरावयवेष्वपि तन्मुक्तेष्वचेतनत्वमुपसज्येत तद्युक्तस्यैव चोपशरीरैकदेशस्य सचेतनत्वोपपत्तेरिति यत्किंचिदेतत् यथाप्रतीतिशरीरपरिमाणानुविधायिनो जीवस्याभ्युपगमनीयत्वात्।

जिन प्रतिवादियो के यहां फिर आत्मा का परिमाण वट-वृक्ष के छोटे बीज की कनी बराबर माना गया है अथवा हजारों प्रकार (बार) छिन्न भिन्न किये गये बाल के अग्रभाग प्रमाण अत्यन्त छोटा आत्मा माना गया है अथवा अंगूठे की पमोली बराबर आत्मा का परिमाण इष्ट किया है, उन पण्डितों के यहां सम्पूर्ण शरीर मे आत्मा के स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होने का विरोध होगा। अर्थात्—छोटासा आत्मा शरीर मे जहां होगा वहां ही आत्मा का स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होसकेगा, हाथ, पांव, पेट, मस्तक, सर्वत्र आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होसकेगा। दुःख, सुख भी छोटे से ही शरीर भाग मे अनुभव किये जा सकेंगे, पूर्णशरीरावच्छिन्न आत्मा में नहीं। यदि वे पण्डित यों कहैं कि छोटी आत्मा का अत्यन्त शीघ्र संचार होजाने मे तिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में ज्ञान, सुख, आदि का सम्वेदन होजाता है जैसे कि अत्यन्त शीघ्र भ्रमण कर रहे चाक पर लगगई काली बूंद सब ओर दीख जाती है। यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, वृक्ष, आदि के सम्पूर्ण शरीरों में तिस प्रकार शीघ्र संचार होजाने से एक ही आत्मा के सम्वेदन का प्रसंग आजावेगा अतः अद्वैतवादियों के समान एक ही आत्मा के प्रवाद का अवतार हुआ जाता है।

यों निःसंशय कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण शरीरो में अणु के समान परिमाण को धार रहा एक ही आत्मा है, अणु-परिमाण वाला एक ही आत्माभी शीघ्र शीघ्र संचार करनेवाला होनेसे सम्पूर्ण शरीरो में संवेदा जाता है। अर्थात्—जैसे हाथी, बैल, मनुष्य, आदि प्रत्येक के शरीरमे वट कणिका या केशाग्र, अथवा अंगूठा के बराबर परिमाण का धारी छोटा आत्मा यहां, वहा, शीघ्र गमन करने के के कारण सम्पूर्ण शरीर मे सम्विदित होजाता है, उसी प्रकार जगत् भर के प्राणियो का भी आत्मा एक ही छोटा सा मानलिया जाय, बिजली की गति से भी अतीव शीघ्रगति होजाने से वह एक ही

छोटा आत्मा सम्पूर्ण शरीरो में सम्विदित होता रहेगा। यदि वे पण्डित यो कहैं कि उन सम्पूर्ण शरीरों में एक ही आत्मा के माननेपर तो शीघ्र ही अन्य अन्य शरीरो में संचार होजाने से उन व्यक्तों के अचेतनपन (मरजाने) का प्रसग आजायगा एक भाव के सचार से उसके अनेक अभावों के शीघ्र आगमन का काल बहुत है, अत. सम्पूर्ण शरीरो मे तो एक छोटी आत्मा नही मानी जा सकती है, हाँ एक शरीर मे अल्प-आत्मा को मानने में कोई विपत्ति नही दीखती है।

ग्रन्थकार कहते है कि यो तो एक शरीर के उस छोटी आत्मा करके छोड़े जा चुके अनेक अवयवो में भी अचेतनपन का प्रसंग आजावेगा। हाँ उस छोटी सी आत्मा से युक्त होरहे ही स्वल्प शरीर के एक देश को सचेतनपना बन सकेगा, ऐसी दशा में शरीर के स्वल्पभाग को छोड़ कर अवशिष्ट सम्पूर्ण शरीर मृत बन जावेगा। शीघ्र घूमते हुये चाक पर जैसे काली बूंद चारो ओर दीखजाती है, उसी प्रकार उससे अधिक देर तक काली बूंद से रीता स्थान दीखता रहता है, गाड़ी के पहियो का भ्रमण होने पर अरों से भरे हुये स्थान के समान अरो से रीता स्थान भी खूब दीखता है, ऐसी दशा मे यह आत्मा का अणु-परिमाण या अंगुष्ठ-परिमाण मान लेना मनचाहा जो कुछ भी आग्रह पकड़ लेना मात्र है, कोई युक्त मार्ग नही है, प्रतीतियो का उल्लंघन नही करके उपात्त शरीर के परिमाण का अनुविधान करने वाले ही जीव को परिशेष मे स्वीकार कर लेना आवश्यक होगा, उसी प्रकार अपने अपने शरीर परिमाण वाले ही आत्मा की सम्पूर्ण जीवो को प्रतीति होरही है।

तथा सति तस्यानित्यत्वप्रसंगः प्रदीपवदिति चेन्न किंचिदनिष्टं, पर्यायार्थादेशादात्मनोऽनित्यत्वसाधनात्। द्रव्यार्थादेशात्तन्नित्यत्ववचनात् प्रदीपवदेव। सोपि हि पुद्गलद्रव्यार्थादेशान्नित्य एवान्यथा वस्तुत्वविरोधात्।

प्रतिवादी कहता है कि तिसप्रकार अपने विनश्वर शरीर का अनुकरण कररहा अनुनयकारी (खुशामदी) आत्मा यदि शरीर के परिमाण ही घट, बढ, जाता है तब तो उस आत्मा के अनित्यपन का प्रसंग आता है जैसे कि अपने आवारकों के परिमाण अनुसार घट रहा और बढ रहा प्रदीप या दीपकप्रकाश अनित्य है। आचार्य कहते हैं कि यह प्रसंग तो हम को कुछ भी अनिष्ट नही है, पर्यायार्थिक नय अनुसार कथन करने से आत्मा का अनित्यपना साध दिया गया है, हाँ द्रव्यार्थिक नय अनुसार कथन करने से ही उस आत्मा के नित्यपन का " नित्यावस्थितान्यरूपाणि " इस सूत्र द्वारा निरूपण किया गया है, प्रदीप के नित्यपन समान ही। अर्थात्-जब कि वह प्रदीप भी पुद्गलद्रव्य अर्थ का कथन करने अनुसार द्रव्यार्थिक नयमे नित्य ही है, उसी प्रकार आत्मा भी द्रव्यार्थिकनय अनुसार नित्य है, अन्यथा यानी द्रव्यदृष्टि से नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य यदि आत्मा या प्रदीप को नही माना जायगा तो इनके वस्तुपन का विरोध होजावेगा द्रव्य और पर्यायों का तदात्मक समुदाय ही वस्तु है, केवल नित्यद्रव्य या केवल पर्यायें तो खरविषाण या कच्छपरोमों के समान असत् हैं।

जीवस्य सावयवत्वे भंगुरत्वे वावयवविशरणप्रसंगो घटवदिति चेन्न, आकाशादिदिनानैकांतात्। न ह्याकाशादि कथंचिदनित्योपि सावयवोपि प्रमाणसिद्धो न भवति। न चावयवविशरणं तस्येति प्रतीतं।

यहां पुनः वैशेषिक आक्षेप करते हैं कि जीवका यदि अवयव-सहितपना अथवा अनित्यपना माना जावेगा तो जीवके अवयवों का फट जाना टूटजाना, नष्ट भ्रष्ट हो-जाना रूप विशरण होजाने का प्रसंग आता है जैसे कि अवयवों से सहित होरहे भंगुर घट के अवयव टूट फूट, छिन्न भिन्न होजाते है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि आकार आदि करके व्यभिचार दोष होजावेगा देखिये पर्यायार्थिक नय करके आकाश आदि कथंचित् अनित्य भी और अवयवोंसे सहितभी प्रमाणों से सिद्ध न होवे यह नही समझ बैठना किन्तु उस आकाश आदि के अवयवों का टूट फूट जाना तो प्रतीत नहीं होता है अर्थात्–भिन्न भिन्न प्रान्तों मे वर्त रहा आकाश सावयव है और कूटस्थनित्य भी नहीं है आकाश की पूर्व समय--वर्ती पर्याय से उत्तर समय की पर्याय न्यारी है अतः सावयव और भंगुर होते हुये भी आकाश का छिन्न भिन्न होना नही देखा जाता है, अत. तुम्हारा हेतु व्यभिचारी हुआ।

किंचिदात्मनोवयवा न विशीर्यंतेऽकारणपूर्वकत्वादाकाशादिप्रदेशवत् परमाण्वेकप्रदेशवद्वा। कारणपूर्वका एव हि पटादिस्कंधावयवा विशीर्यमाणा दृष्टास्तथाश्रयत्वेनावयवव्यपदेशात्। अवयूयन्ते विश्लिष्यंते इत्यवयवा इति व्युत्पत्तेः नचैवमात्मनः प्रदेशाः परमाणुपरिमाणेन प्रदिश्यमानतया तेषां प्रदेशव्यपदेशादाकाशादिप्रदेशवत्। ततो न विशरणं

जैन सिद्धान्त यह है कि आत्मा के कुछ भी अवयव जीर्ण शीर्ण नही होते हैं (प्रतिज्ञा) क्यों कि आत्माके अवयव अकारण–पूर्वक है जैसे कि आकाश धर्म, आदिके अनेक प्रदेश अथवा परमाणु का एक प्रदेश कारण-पूर्वक नही होनेसे छिन्नभिन्न नही होपाते हैं कारण कि पट घट, पुस्तक आदि स्कन्धों के कारण-पूर्वक हुये अवयव तो टूट फूटे जारहे देखे गये हैं आत्मा,आकाश,आदिके नही। अर्थात्-पौनीसे सूत और सूत से कपडा बनता है, यहाँ वस्त्र के अवयव कारणपूर्वक बने हैं, इसी प्रकार घट के अवयव भी कपाल, कपालिका, स्थास, आदि से बने है, अतः घट, पट, के अवयव तो विशीर्ण होजाते हैं किन्तु आत्म द्रव्य या आकाश के अखण्ड अवयव (प्रदेश) तो कारणों को पूर्ववर्ती मानकर उपजे नही हैं केवल तिस प्रकार आत्मा या आकाशके आश्रयपने करके उन प्रदेशोंमे अवयवपनेका व्यवहार होजाता है 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातु से अप् प्रत्यय करने पर अवयव शब्द बन जाता है। चारो ओर से विश्लेष को प्राप्त होजाय इस प्रकार "अवयव" इस शब्द की व्याकरण द्वारा व्युत्पत्ति की गयी है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार आत्मा, आकाश, परमाणु, इनमे अवयव-सहितपना घटित नही होता है आत्मा के इस प्रकार विभाग को प्राप्त होरहे मुख्य प्रदेश नहीं मानेगये हैं केवल परमाणु के परिमाण की नाप करके चिन्हित किये जारहेपने से उन आत्मा के अखण्ड अंशो को प्रदेशपन का कोरा नाम मात्र कथन कर दिया है जैसे कि आकाश, धर्म, आदि के विष्कम्भक्रम से की गयी अंशकल्पना अनुसार प्रदेश या अवयवों का केवल व्यवहार कर लिया जाता है तिसकारण आत्मा के प्रदेशो का छिन्न,भिन्न, होजाना नही बन पाता है। वस्तुतः देखा जाय तो अवयव शब्दका मुख्य अर्थ तो घट, पट,आदि खण्डितानेकदेश अशुद्ध द्रव्यों में ठीक घटित होता है अवयवों में अवयवी की वृत्ति मानी जाय अथवा अवयवों मे अवयवीका वर्तना माना जाय हमको दोनो अभीष्ट हैं किन्तु यह प्रक्रिया कारण-पूर्वक उपजने वाली अशुद्ध द्रव्यों मे है, आकाश या आत्मा के अंशों में तो उपचार अवयवपनका निरूपण किया गया है।

जीवस्याविभागद्रव्यत्वादाकाशादिवत् नावयवविशरणमविभागद्रव्यमात्मा अमूर्तत्वानुभवात् । प्रसाधितं चास्यामूर्तद्रव्यत्वमिति न पुनरत्रोच्यते । तदेवं लोकाकाशमाधारः कात्स्न्र्येनैकदेशेन वा धर्मादीनां यथासंभव धर्मादयः पुनराधेयास्तथाप्रतीतेर्व्यवहारनयाश्रयादिति विज्ञेयार्थानामाकाशधर्मादीनामाधाराधेयता घटोदकादीनामिव बाधकाभावात् ।

एक बात यह भी है कि अविभागी द्रव्य होने से(हेतु) जीव के अवयवो का विशरण नहीं हो-पाता है (प्रतिज्ञा) आकाश, परमाणु, आदिके समान(अन्वय दृष्टान्त) । इस अनुमान मे पड़ा हुआ हेतु स्वरूपासिद्ध नही है उस हेतु को यों सिद्ध(पक्षवृत्ति) समझियेगा कि आत्मा(पक्ष)कालत्रय मे भी विभाग को प्राप्त नही होने वाला द्रव्य है (साध्य)अमूर्तपन का अनुभव कर रहा होने से(हेतु) । इस अनुमान का हेतु भी असिद्ध नही है क्योंकि इस आत्मा का अमूर्तद्रव्यपन पहिले प्रकरणोमे अच्छा साधा जा चुका है इस कारण फिर यहा अमूर्तद्रव्यपन की सिद्धि नही कही जाती है, अतः आकाशके समान आत्मा या उनके प्रदेशो का फटना, टूटना, फूटना,आदि का प्रसग हम जैनो के ऊपर नहीं आपाता है ।

तिस कारण इस प्रकार सिद्ध हुआ कि धर्म, अधर्म जीव, आदि, द्रव्यो का यथासम्भव पूर्ण रूप करके अथवा एक देश करके वह लोकाकाश आधार है और धर्म आदिक द्रव्य फिर आधेय है क्यो-कि व्यवहार नय का अवलम्ब लेनेसे तिसप्रकारकी प्रतीति होरही है । यो आकाश, धर्म, आदिक पदार्थों का आधार- आधेय भाव समझ लेना चाहिये । जैसे कि घडा पानी का, कूंड़ा दही, आदि का आधार आधेयपना प्रसिद्ध है । लोक प्रसिद्ध होरहे आधार आधेयभाव मे बाधक प्रमाणो का अभाव है ।

न तेषामाधाराधेयता सहभावित्वात् सव्येतरगोविषाणवदित्येतद्बाधकमिति चेन्न, नित्यगुणिगुणाभ्यां व्यभिचारात् ।

यहाँ कोई पण्डित आधार आधेय भाव का बाधक यो अनुमान खड़ा करते हैं कि उन आकाश और धर्म आदिको का "आधार आधेय भाव" सम्बन्ध नही है (प्रतिज्ञा) साथ साथ वर्त रहे होने से (हेतु) गाय के डेरे और सीधे सीगसमान (अन्वयदृष्टान्त) , यह बाधक प्रमाण है । अर्थात्—गाय का डेरा सीग सीधे सीगपर बैठा हुआ नही है, और एक साथ ही होजानेके कारण सीधा सीग भी डेरे सीग पर स्थित नही है, इसी प्रकार अनादिकालसे आकाश और धर्म आदि द्रव्य साथ साथ विद्यमान हैं, ऐसी दशामे किसको आधार और किसको आधेय कहा जाय ? जब कि आधार पहिले वर्तता है, और आधेय पीछे उस पर आकर बैठ जाता है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योकि नित्यगुणी और उसके नित्यगुण करके व्यभिचार होजायगा अर्थात्–अनादि निधन आकाश द्रव्यमें अनादि निधन परम महत्व गुण ठहर रहा है, आत्मा में द्रव्यत्व, वस्तुत्व, आदि नित्य गुण सर्वदा से आधेय होरहे हैं, अतः सहभावी पदार्थों में भी आधार आधेय भाव देखा जाने से तुम्हारा सहभावित्व हेतु व्यभिचारी हेत्वाभास है ।

न लोकाकाशद्रव्ये धर्मादीनि द्रव्याण्याधेयानि युतसिद्धत्वादनेककालद्रव्यवदिति चेन्न, कुंडबदरादिभिरनेकांतात् । साधारणशरीराणामात्मनामपि परस्परमाधाराधेयत्वोपगमाद्श्वमनुष्यादीनां दर्शनात् साध्यशून्यमुदाहरणं ।

यहाँ कोई पण्डित लोकाकाश और धर्मादि द्रव्यों के आधारआधेयभाव का निराकरण करने के लिये अनुमान बोलता है कि लोकाकाश स्वरूप द्रव्य मे धर्म आदि स्वरूप द्रव्ये तो आश्रित नहीं होरही हैं, (प्रतिज्ञा) क्योंकि ये युक्त सिद्ध पदार्थ है, (हेतु) अनेक काल द्रव्यो के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्—संयोगसम्बन्ध के उपयोगी होरही युत-सिद्धि जहा वर्त रही है, उन पदार्थों मे आधार आधेय भाव नहीं है, तभी तो काल परमाणुओं में आधार आधेय भाव नहीं है, ज्ञान आत्मा, या घट रूप, अथवा अग्नि उष्णता आदिक समवायसम्बन्धवाले अयुत-सिद्ध पदार्थों का आधार आधेयपना उचित है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि युत-सिद्धत्व हेतुका कूंडा, वेर, थाली, दही, दण्ड, दण्डी, आदि करके व्यभिचार दोष आता है अर्थात्—कुण्ड, वेर, आदि युत-सिद्ध पदार्थों का बहुत अच्छा आधार आधेय भाव बनरहा है जब कि साधारण शरीर वाले अनन्त आत्माओं का भी परस्पर मे आधार आधेयपना स्वीकार किया गया है, 'साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च । साहारण जीवाणं साहारणलक्खणं भणियं " एक निगोदिया जीव के आश्रित अनेक जीव वर्त रहे है वह भी दूसरों के आश्रित होरहा है, यो संयुक्त जीवो मे भी परस्पर आधार आधेय भाव सुलभ है, घोडेके ऊपर मनुष्य बैठा हुआ है, चौकी पर पुस्तक है, यहा घोड़ा, मनुष्य, आदिक युत-सिद्ध पदार्थों के भी निर्दोष आधार आधेय भाव देखा जाता है, अत. तुम्हारे हेतु मे व्यभिचार दोष तदवस्थ है । अनेक काल द्रव्यों का उदाहरण भी साध्यशून्य है, कारण कि नीचे ऊपर के कालाणुओं मे उपचार से आधेय भाव बन जाता है अथवा अनेक काल द्रव्य को उपलक्षण मान कर घोडा, मनुष्य, आदि को भी दृष्टान्त कह दिया जायगा, ऐसी दशा मे अश्व, पुरुष आदिकों मे साध्य दल के नहीं वर्तने से दृष्टान्त साध्य से रीता होगया ।

न तानि तत्राधेयानि शश्वदसमवेतत्वे सति सहभावादिति चेन्न, हेतोरन्यथानुपपत्तिनियमासिद्धेः । न हि यत्र यदाधेयं तत्र शश्वत्समवेतं तदसहभावि च सर्वं दृष्टं व्योमादौ नित्यमहत्त्वादिगुणस्याधेयस्य शश्वत्समवेतस्य सिद्धावपि तदसहभावाप्रतीतेः, कुंडादौ वदरादेराधेयस्य सहभावसिद्धावपि शश्वत्समवेतत्वाप्रसिद्धिरिति समुदितस्य हेतोः साध्यव्यावृत्तौ व्यावृत्त्यभावादप्रयोजको हेतुः । नभःपुद्गलद्रव्याभ्यां व्यभिचाराच्च । न हि नभसि पुद्गलद्रव्यमाधेयं न भवति तस्य तदवगाहित्वेन प्रतीतस्तदाधेयत्वसिद्धेः पयसि मकरादिवत्, तत्र तस्य शश्वदसमवेतत्वे सति सहभावश्च हेतुः प्रसिद्धः । खे पुद्गलद्रव्यस्य सदा समवायासंभवान्नित्यत्वेन सहभावत्वेपि विपक्षेपि भावात् तस्य व्यभिचार एव ।

पुनरपि लोकाकाश को धर्म आदिकों का आधार नहीं सिद्ध होने देने वाला पण्डित कह रहा है कि उस लोकाकाश मे वे धर्म आदिक द्रव्ये (पक्ष) आश्रित नहीं हैं (साध्य) सर्वदा समवाय सम्बन्ध करके नहीं वर्तमान होरही सन्ता सदा साथ हो वर्तना होने से (हेतु) । अर्थात्—घटमें रूप

कदाचित् समवाय सम्बन्ध से रहता है, आत्मा मे ज्ञान कभी कभी समवाय से रहता है, सदा वही रूप या ज्ञान नही बना रहता है । दण्ड, पुरुष, घोड़ा,मनुष्य, आदिका सहभाव नही है, अतः इनका आधार आधेय भाव बन जाता है किन्तु जिन पदार्थों का सदा असमवेतपना है, और सहभाव है, उन मे आधार आधेय भाव नहीं है जैसेकि बैलके डेरे (बाये) और सीधे दाये सीगमे या साथ धरे हुये अनेक घड़ों आदि मे आश्रय आश्रयी भाव नही है । ग्रन्थकार कहते है कि यहतो नही कहना क्योंकि हेतुके अन्यथानुपपत्ति स्वरूप नियम की सिद्धि नही है, देखिये' जो पदार्थ जिस अधिकरण मे आधेय होरहे है, वे सभी पदार्थ उस अधिकरण मे सर्वदा समवाय सम्बन्ध से वर्तमान होय और सहभाव रखने वाले नही होय ऐसा कोई नियन नही है । आकाश, आत्मा, आदि अधिकरणो मे महत्व, संख्या आदि गुण आधेय होरहे सर्वदा समवाय सम्बन्ध से वर्तमान है, ऐसे सदा समवेतपन की सिद्धि होते हुये भी उन आधार आधेयो का सहभाव नही होना प्रतीत नही होता है, तथा कूंडा आदि मे बेर आदि आधेयो के सहभाव की सिद्धि होते हुए भी कुण्ड, बदर, आदि संयुक्त पदार्थों का सर्वदा समवेतपना अप्रसिद्ध है । इस प्रकार सत्यन्त विशेषण से युक्त होरहे समुदित हेतु की साध्य की व्यावृत्ति होने पर व्यावृत्तिका अभाव होजाने से तुम्हारा हेतु अप्रयोजक है, यानी अनुकूल तर्क नही मिलने से अविनाभावका अभाव होजानेके कारण उक्त हेतु साध्य का प्रयोजक नही है, अन्यथानुपपत्ति ही तो हेतु का प्राण है ।

तथा आकाश और पुद्गल द्रव्य करके व्यभिचार दोष भी आता है अर्थात्—आकाश और पुद्गल का सदा असमवेपना होते हुए सहभाव है किन्तु आधारआधेयभाव का अभाव नहीं है, यानी आधार आधेय भाव है । आकाश मे पुद्गल द्रव्य आधेय नही होय, यह नही समझ बैठना क्योंकि उस आकाश की उस पुद्गल के अवगाहकपन करके प्रतीति होरही है, अतः पुद्गल को उस आकाश का आधेयपना सिद्ध है जैसे कि नदीजलमे मगर, कछवा, आदिक आधेय होरहे है, अतः व्यभिचार स्थल होरहे आकाश और पुद्गल द्रव्य मे साध्य नहीं रहा किन्तु उस आकाशमे उस पुद्गल द्रव्य का सदा असमवेतपना होते सन्ते सहभाव होरहा हेतु तो प्रसिद्ध है, द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ सयोग सम्बन्ध होसकता है, समवाय नही । अत. आकाशमे पुद्गल द्रव्य के सदा समवाय होने का असम्भव है तथा आकाश द्रव्य और पुद्गल द्रव्य के नित्यपन होने के कारण सहभावपना भी है, ऐसी दशा होने पर भी तुम्हारा हेतु विपक्ष मे भी विद्यमान रहता है, अत उस हेतु का व्यभिचार दोप तदवस्थ ही है ।

तयोः पक्षीकरणेत्र पक्षस्य प्रमाणबाधः कालात्ययापदिष्टश्च हेतुः खपुद्गलद्रव्ययोराधाराधेयताप्रतीतेः । पुद्गलपर्याया एव घटादयः खस्याधेयाः प्रतीयंते न च द्रव्यमिति चेन्न, पर्यायेभ्यो द्रव्यस्य कथंचिदव्यतिरेकात् तदाधेयत्वे तस्याप्याधेयत्वसिद्धेः । ततः सूक्तं लोकाकाशधर्मादिद्रव्याणामाधाराधेयता व्यवहारनयाश्रया प्रतिपत्तव्या बाधकाभावादिति निश्चयनयात्तु तेषामाधाराधेयता युक्ता व्योमवद्धर्मादीनामपि स्वरूपेऽवस्थानादन्यस्यान्यत्र स्थितौ स्वरूपसंकरप्रसंगात् ।

यदि पूर्व–पक्षी पण्डित यों कहे कि उन आकाश और पुद्गल द्रव्य को पक्षकोटि मे कर लिया

जावेगा यानी आकाश और पुद्गल का भी आधार आधेय भाव नहीं है, हेतु रह गया तो क्या हुआ वहां साध्य भी रह गया कोई व्यभिचार दोष नहीं है। यों इस पक्ष के लेनेपर ग्रन्थकार कहते हैं, कि तुम्हारे पक्ष की प्रमाणों से बाधा उपस्थित होती है, तथा हेतु बाधित-हेत्वाभास हुआ जाता है क्योंकि आकाश और पुद्गल द्रव्य का आधार आधेयपना बालको तक को प्रतीत होरहा है। कौन विचारशील मनुष्य आकाश, पुद्गल, और अन्य पर्याय या द्रव्यो के प्रसिद्ध आधार आधेयपन को मेट सकता है? यदि वह पण्डित यों कहे कि पुद्गल द्रव्य के पर्याय होरहे घट, पट, पुस्तक, आदिक ही आकाश के आधेय होरहे प्रतीत किये जाते हैं, अनादि काल से सहचारी होरहा नित्य पुद्गल द्रव्य तो आकाश का आधेय नहीं है।

अर्थात्—पीछे आया सेवक भले स्वामी के आश्रय पर यातनाओ को सहता हुआ निर्वाह करे किन्तु भाई बन्धुओ का नाता रखने वाला सदा सहचारी प्रभुओ के समान नित्य द्रव्य तो किसी के आश्रित नहीं है। आचार्य कहते है, कि यह ता नहीं कहना क्योंकि पर्यायो से द्रव्य का कथंचित् अभेद है सर्वथा भेद नहीं है जब आकाश के आधेय वे पुद्गल पर्याय हैं तो पर्यायो से अभिन्न उस पुद्गल द्रव्य का भी आधेयपना सध जाता है सहचारी या भाई बन्धु भी बुद्धिवयोवृद्ध अथवा कुलमान्य या राजा बन गये बन्धु के साथ आश्रित होकर रहते है। माता, पिता, गुरुओ और पुत्र शिष्यो मे व्यवहार-सम्बन्धी आश्रय आश्रितपना है। आचार्य, उपाध्याय सर्वसाधु भी एक दूसरेके आश्रित या आश्रय होजाते हैं, यहा प्रकरणमे मुख्य आधार आधेय भाव सिद्ध करा दिया है, तिस कारण हमने इस सूत्रकी दूसरी वार्तिक मे यों बहुत अच्छा कहा था कि लोकाकाश और धर्म आदिक द्रव्यो का व्यवहार नय का आश्रय लेते हुये बहुत अच्छा बन रहा आधार आधेय भाव समझ लेना चाहिये। इस लोक-प्रसिद्ध आधार आधेय भाव का कोई बाधक नहीं है। हा निश्चय नय से तो उन लोकाकाश और धर्म आदिको का आधार आधेय भाव मानना उचित नहीं है, क्योंकि व्यवहार निश्चय दोनो मे जैसे आकाश स्वय अपने मे ही आश्रित होरहा है उसी प्रकार धर्म, अधर्म, पुद्गल आदि द्रव्यो का भी अपने अपने स्वरूप मे अवस्थान होरहा है, यदि अन्य पदार्थ की किसी दूसरे पदार्थ मे स्थिति मानी जावेगी तो द्रव्यों के अपने अपने निज स्वरूप के संकर दोष होजाने का प्रसंग आवेगा।

भावार्थ—परमार्थ रूप से सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने स्वरूप मे लवलीन है, आत्मा मे ज्ञान है, पुद्गल मे रूप है। लोकाकाश मे धर्म आदिक है। इस व्यवहार का निश्चय नय नहीं सह सकता है, निश्चय नय निर्विकल्प है। यदि ज्ञान को आत्मामे धरा जायगा तो कारण वश वह ज्ञान आकाश मे भी बैठ जावेगा। धर्म द्रव्य मे रूप गुण विराज जावेगा, कोई रोक नहीं सकता है बात यह है कि सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने स्वरूप मे निमग्न है। कुण्ड अपने कुण्ड स्वरूप मे है और जल अपने निज रूप मे लवलीन है, घोड़ा स्वकीय अंशो मे स्थिर है और सवार अपने को स्वय डाटे हुये हैं, यदि सवार अपने शरीर को डाटे हुये नहीं होता तो उसकी अंगुली या बांह अथवा नाक गिर पड़ती किन्तु ऐसा होता हुआ नहीं देखा जाता है, देवदत्त के साथ लगे हुए वस्त्र, खाट, भीत आदि जैसे देवदत्त के स्वात्मभूत नहीं हैं। उसी प्रकार देवदत्त का स्थूल शरीर या सूक्ष्म शरीर भी देवदत्त-आत्मक नहीं है, तभी तो एकेन्द्रिय जीव और सिद्ध जीव मे निश्चयनय अनुसार कुछ भी अन्तर नहीं है। यदि द्रव्य में अन्तर होता तो जीव की मोक्ष ही नहीं होसकती। यो अतः लोकाकाश स्व-अंशो में एकरस होरहा है और धर्म आदिक द्रव्य अपनी ही धुन मे तन्मय हैं। कोई किसी को अपना स्वरूप बालाग्र मात्र भी

नही देता है और न दूसरे का लेता है। यदि स्वरूपो के लेने देने का अनुक्रम होता तो जीव जड और जड़ चेतन द्रव्य बन बैठता और यो कितने ही द्रव्यों का नाश कभी का होचुका होता किन्तु ऐसा नहीं है " नैवासतो जन्म सतो न नाशः " यह श्री समन्त--भद्राचार्यका वाक्य है, अतः निश्चय नय अनुसार आधार आधेयभाव नहीं है। हाँ प्रमाण दृष्टि और व्यवहार नय से आधार आधेय व्यवस्था है।

स्वयं स्थास्नोरन्येन स्थितिकरणमनर्थकं स्वयमस्थास्नोः स्थितिकरणमसंभाव्यं शशविषाणवत्। शक्तिरूपेण स्वयं स्थानशीलस्यान्येन व्यक्तिरूपतया स्थितिः क्रियत इति चेत्तस्यापि व्यक्तिरूपा स्थितिस्तत्स्वभावस्य वा क्रियेत। न च तावत्तत्स्वभावस्य वैयर्थ्यात् करणव्यापारस्य, नाप्यतत्स्वभावस्य खपुष्पवत्करणानुपपत्तेः।

निश्चयनय से आश्रय आश्रयी भाव नही है इस बातको ग्रन्थकार और भी पुष्ट करते है। कि जो स्वय अपनी स्थिति रखने के स्वभाव को धारे हुये है, उसकी अन्य पदार्थ करके स्थिति का किया जाना व्यर्थ है, क्योंकि वह तो अपनी स्थिति मे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है, हाँ जो स्वय स्थिति स्वभाव को धारे हुये नहीं हैं। शशा के विषाण समान उसकी स्थिति का किया जाना असम्भव है, भावार्थ—"सत्पुत्रश्चेत् रक्षितधनेन किं। कुपुत्रश्चेत् संचितधनेन किं" सुपुत्र है तो धन एकत्रित करने से क्या लाभ ? और कुपुत्र है तो भी धन इकट्ठा करने से क्या प्रयोजन सधेगा यानी कुछ भी नहीं। इसी प्रकार जो पदार्थ अनादि काल से अपने स्वरूप मे स्थित है उसकी लोकाकाश या अश्व आदि करके स्थिति किया जाना व्यर्थ है। और जो खरविषाण के समान स्वय स्थिति-शील ही नही है, सहस्रो अधिकरणो के जुटाने पर भी कही उसकी स्थिति नहीं की जा सकती है।

यदि व्यवहार नय का पक्ष लेने वाले यो कहे कि जो पदार्थ शक्तिरूप करके स्वयं स्थिति स्वभाववाला है। अन्य अधिकरणों करके व्यक्तिरूप से उसकी स्थिति कर दी जाती है, यानी अप्रकट रूप से पदार्थ स्वय स्थिति-शील है, अपने ही आप मे रहता है। हां प्रकट रूप से वह अन्य आश्रयों करके अपने ऊपर धर लिया जाता है. यो कहने पर तो ग्रन्थकार पूछते है कि उस शक्तिरूप से स्थितिशील पदार्थ की भी जो दृश्य होरही प्रकट स्वरूप स्थिति करदी जाती है. क्या वह व्यक्ति स्थिति स्वभाव वाले की व्यक्त स्थिति की जायगी ? अथवा व्यक्त स्थिति स्वभाव से रहित भी पदार्थ को कहीं पर बैठाया जा सकता है। बताओ ? प्रथम पक्ष अनुसार उस व्यक्त स्थिति स्वभाव वाले पदार्थका तो अन्य करके स्थापन करने का व्यापार व्यर्थ है जैसे कि सूर्य को दूसरे करके प्रकाशित करना व्यर्थ है, और द्वितीय पक्ष अनुसार उस प्रकट स्थिति स्वभाव से रीते पदार्थ का भी आकाशपुष्प समान स्थिति करा देना बन नही सकता है, असम्भव है, अतः कोई पदार्थ भी किसी अन्य पदार्थ पर स्थित नही रहता है " क्व भवान् ? आत्मनि " आप कहा है ? इसका सब से बढ़िया उत्तर यह है कि हम अपने ही स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं, सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं स्थितिशील हैं।

कथमेवमुत्पत्तिविनाशयोः करणं कस्यचित्तत्स्वभावस्यातत्स्वभावस्य वा केनचित्करणे स्थितिपक्षोक्तदोषानुषंगादिति चेन्न कथमपि तन्निश्चयनयात्सर्वस्य विस्रसोत्पादव्ययध्रौव्यव्यवस्थितेः। व्यवहारनयादेवोत्पादादीनां सहेतुकत्वप्रतीतेः।

कोई व्यवहारी पुरुष कार्यकारणभाव या स्थाप्यस्थापकभाव को मान रहा आचार्य महाराज से प्रश्न करता है कि जब कारणों करके नवीन रीति से स्थिति का करना नहीं होसकता है, तब तो इस प्रकार किसी भी पदार्थ के उत्पत्ति और विनाश का करना भला किस प्रकार बन सकेगा ? क्योंकि उस उत्पत्ति स्वभाव वाले अथवा उस उत्पत्ति स्वभाव को नहीं धारने वाले पदार्थ का यदि किसी भी उत्पादक कारण करके करना होगा तो स्थिति पक्षमे कहे गये दोषो का प्रसग आता है, तथा इसी प्रकार से उस विनाश स्वभाव वाले पदार्थ का अथवा नही विनाशशील पदार्थ का यदि किसी विनाशक कारण करके सम्पादन किया जायगा तो भी स्थिति पक्षमें कहे जा चुके दोषों का प्रसंग आता है, अर्थात्—उत्पत्ति स्वभाव वाले की उत्पादक कारण द्वारा उत्पत्ति किया जाना व्यर्थ है जैसे कि अग्निमें उष्णता को उपजाना व्यर्थ है, और स्वय उत्पादस्वभाव को नही धारने वाले पदार्थ की खरविषाण के समान उत्पत्ति होने का असम्भव है तथैव नाश--शील पदार्थ का अन्य नाशक पदार्थ करके नष्ट करना व्यर्थ है जैसे कि जल के बबूले का नाश करना अपार्थक है। और खरविषाणसमान विनाशशील को नही धारने वाले का नाशक कारणो करके नष्ट किया जाना असम्भव है । आचार्य कहते हैं कि यो कहने पर तो हम यही उत्तर देंगे कि किसी भी प्रकार से वह उत्पत्ति और विनाशका करना नही होता है, निश्चयनय से सम्पूर्ण पदार्थोंके उत्पाद, व्यय, और ध्रुवपन की स्वभाव अनुसार व्यवस्था होरही है । अर्थात्—अनादि काल से सम्पूर्ण पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य--आत्मक स्वतःसिद्ध है, निश्चय नय अनुसार उत्पत्ति, विनाश और स्थिति होने मे किसीभी कारण की अपेक्षा नही है, हां व्यवहार नयसे ही पदार्थों की उत्पत्ति आदिकों का कारणो करके सहितपना प्रतीत होरहा है, यानी व्यवहार में उत्पादक कारणों से उत्पत्ति नाशक कारणों से विनाश और अधिकरण या स्थापको करके स्थिति होरही देखी जाती है ।

क्षणक्षयैकान्ते तु सर्वथा तदभावः शाश्वतैकांतवत् । संवृत्या तु जन्मैव सहेतुकं, न पुनर्विनाशः स्थितिश्चेति स्वरुचिविरचितदर्शनोपदर्शनमात्रं नियमहेत्वभावात् ।

बौद्धो के मन्तव्य अनुसार यदि एक क्षण ही ठहरते हुये सम्पूर्ण पदार्थो का द्वितीय क्षण में नाश होजाने का एकान्त आग्रह स्वीकार किया जायगा तब तो सभी प्रकारो से उन उत्पत्ति, विनाश, स्थितियो का अभाव होजायगा जैसे कि सर्वथा नित्यपन के एकान्त में उत्पाद आदिक नही बनते हैं । बौद्धो ने इस दृष्टान्त को बड़ी प्रसन्नता से इष्ट किया है, कूटस्थनित्य की उत्पत्ति और विनाश तो अलीक है ही । ध्रुवपना भी अपरिणामी में नही बन पाता है । इसी प्रकार बौद्धो के क्षणिकत्व पक्षमे किसकी उत्पत्ति होय ? कौन पूर्ववर्त्ती उपादान भला किस उपादेय स्वरूप परिणमे ? और किससे किसका विनाश होय ? कौन पूर्व--आकारों का त्याग कर उत्तर--आकारो का उपादान करे ? ध्रुवपना तो असम्भव ही है, क्योंकि ध्रुवपना भी पर्यायअंश है, द्रव्यांश नही । कालान्तर--स्थायी परिणामी--पदार्थों में ही तीनों घटित होते हैं ।

बौद्ध मान बैठे है कि सम्वृत्ति यानी व्यवहार से तो उत्पत्ति ही हेतुओ से सहित है किन्तु फिर विनाश और स्थिति तो कारणो वाले नही है अर्थात्–उत्पत्ति के लिये कारणो की अपेक्षा है, विनाश होना तो कारणो के विना ही स्वाभाविक है, इसी प्रकार स्थिति पक्ष वाले पण्डित कारणो के

विना हुई ही स्थिति को स्वाभाविक स्वीकार करते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो उन दार्शनिकों का अपनी रुचि अनुसार मनमानी विरचित किये दर्शन (सिद्धान्त) का केवल दिखलाना है, क्योंकि इसमे नियम करने वाले हेतुका अभाव है यदि व्यवहार नयसे उत्पत्ति का कारण इष्ट किया जाता है, तो स्थिति और विनाशका भी कारणो--जन्यपना अनिवार्य होगा और परमार्थ रूप से नाश या स्थिति को वैस्रसिक मानोगे तो उत्पाद को भी कारण-रहित मानना आवश्यक होगा। अर्द्धजरतीय न्याय का पचडा लगाना अनुचित है।

ततो नास्ति निश्चयनयाद्भावानामाधाराधेयभावः सर्वथा विचार्यमाणस्यायोगात्कार्यकारणभाववदिति स्याल्लोकाकाशे धर्मादीनामवगाहः स्यादनवगाह इति स्याद्वादप्रसिद्धिः।

तिस कारण से सिद्ध होता है कि निश्चय नय मे पदार्थों का " आधार आधेयभाव " नही है, क्योकि परमार्थ रूप से विचार किये जारहे आधार आधेयपन का सभी प्रकारों से अयोग है जैसे कि निश्चय नय अनुसार कार्यकारणभाव की घटना नही होसकती है, न कोई किसी को बनाता है, और न कोई किसी से बनता है, कोई किसी का बाध्य या बाधक नही है, प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव, गुरु-शिष्यभाव, जन्य-जनकभाव, ये सब व्यवहारनय अनुसार हैं। इस प्रकार स्यात् यानी कथंचित् व्यवहार नयकी अपेक्षा लोकाकाश मे धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों का अवगाह होरहा है और कथंचित् निश्चय नय के विचार अनुसार लोकाकाश मे धर्म आदिको का अवगाह नही है, इस प्रकार अजेय स्याद्वाद सिद्धान्त की सम्पूर्ण जगत् मे प्रसिद्धि होरही है।

यहा तक द्रव्यो के अवगाह देने और प्राप्त करने का प्रकरण समाप्त हुआ।

अग्रिम सूत्र का अवतरण यो है कि यहा पर कोई यो आशका कर बैठे कि धर्म आदिक छहो द्रव्य एक स्थान मे आकाश-प्रदेशो पर यदि विराज रहे है तब तो धर्म आदिको का प्रदेशों के परस्पर प्रवेश होजाने से एकपना प्राप्त होजाता है ? इसका उत्तर यह है कि परस्पर अत्यन्त सश्लेष होने पर भी कोई द्रव्य अपने स्वभाव को नही छोड़ता है। इस पर आशंका करने वाला कहता कि यदि इस प्रकार धर्म आदिको का स्वभाव न्यारा न्यारा है तो वह स्वभाव--भेद ही अति शीघ्र क्यो नही कह दिया जाता है ? इस प्रकार संकेत करने पर ही मानो सूत्रकार महाराज अगले सूत्र को कहते हैं—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

जीव और पुद्गलों का गति—स्वरूप उपग्रह होना धर्म द्रव्य का उपकार है तथा जीव और पुद्गलों का (अथवा सम्पूर्ण द्रव्यों का) स्थिति—स्वरूप उपग्रह होना अधर्म द्रव्य का उपकार है। भावार्थ—द्रव्यों की गति कराने में उदासीन कारण धर्म द्रव्य है और स्थिति कराने में उदासीन कारण अधर्म द्रव्य है।

द्रव्यस्य देशांतरप्राप्ति-हेतुः परिणामो गतिः, तद्विपरीता स्थितिः । उपग्रहोऽनुग्रहः गतिस्थिती एवोपग्रहौ स्वपदार्था वृत्तिर्न पुनरन्यपदार्था धर्माधर्मावित्यवचनात् । नाप्यन्यतरपदार्था गतिस्थित्युपग्रहाविति द्विवचननिर्देशात् । तस्यां हि सत्यामुपग्रहस्यैकत्वादेकवचनमेव स्यात् । गतिस्थित्योरुपग्रहो गतिस्थित्युपग्रह इति भावसाधनस्योपग्रहशब्दस्य षष्ठीवृत्तेर्घटनात् । तस्य कर्मसाधनत्वे स्वसदार्थवृत्तेरेवोपपत्तेः गतिस्थिती एवोपगृह्येते इत्युपग्रहौ

द्रव्य की प्रकृत देश से देशान्तर मे प्राप्ति कराने का हेतु होरहा परिणाम गति कहाजाता है और द्रव्य को उसी देश में ठहराये रखने का कारणभूत होरहा उस गति स्वरूप परिणाम से विपरीत परिणाम तो स्थिति है, इस सूत्र मे पडे हुये उपग्रह शब्द का अर्थ अनुग्रह है, "गतिस्थित्युपग्रहौ" शब्द की निरुक्ति तो यों करनी चाहिये प्रथम ' गतिश्च स्थितिश्च " यो द्वन्द्व-वृत्ति द्वारा "गतिस्थिती" शब्द बना लिया जाय पश्चात् गति--स्थिती ही स्वरूप जो दो उपग्रह है यो कर्मधारय के उपयोगी विग्रह को कर स्वकीयपदो के अर्थ को प्रधान रखने वाली समास वृत्ति करली जाय किन्तु फिर गति-स्थिती जिनके उपग्रह है, ऐसी स्वघटकावयव पदार्थों से अतिरिक्त अन्य पदार्थ को प्रधान करने वाली बहुव्रीहिसमास वृत्ति तो नही की जाय, कारण कि "धर्माधर्मौ" ऐसा प्रथमान्तरूप सूत्रकार करके नही कहा गया है ।

अर्थात्—गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मौ " ऐसा होता तब तो जिनके उपग्रह गति और स्थिति हैं वे धर्म और अधर्म है, यह अर्थ सुघटित होजाता किन्तु सूत्रकार ने " धर्माधर्मयो " ऐसा षष्ठ्यन्त पद दिया है, अत स्वपदार्थप्रधान समास करना अच्छा है । तथा दो मे से किसी एक ही पदार्थ को प्रधान रखने वाली वृत्ति भी नही करनी चाहिये क्योकि सूत्रकार ने " गतिस्थित्युपग्रहौ " इस प्रकार प्रथमा के द्विवचनान्त रूप का प्रयोग किया है, अन्यतर पदार्थ को प्रधान रखनेवाली उस वृत्ति के करने पर तो उपग्रह का एकपना होने से एक वचन हो होता । अर्थात्—गति और स्थिति के उपग्रह यो एक ही उत्तर पदार्थ को प्रधान करने वाली षष्ठी तत्पुरुषवृत्ति की जाती तो उपग्रह भाव का एकपना होने से " गतिस्थित्युपग्रहः " ऐसा एकवचन का कथन किया जाता । भाव पदार्थ को दो या बहुत प्रकार करके कथन करना अनुचित है । गति और स्थिति का उपग्रह करना गतिस्थित्युपग्रह है, यों उप उपसर्गपूर्वक ग्रह धातु से भाव में अप् प्रत्यय कर साधे गये उपग्रह शब्द की षष्ठी समास वृत्ति से घटना होसकती थी । द्विवचन होने के कारण उस उपग्रह शब्द को यदि कर्म मे अप् प्रत्यय कर साधा जायगा तब तो अपने घटकावयव पदार्थों को प्रधान रखने वाली कर्मधारय वृत्ति मे ही ' गतिस्थित्युपग्रहौ " शब्द की सिद्धि होसकती है जबकि गति और स्थिति ही तो अनुग्रह प्राप्त किये जारहे हैं, इस कारण कर्म मे अप् प्रत्यय करके द्विवचनान्त " उपग्रहौ " शब्द ठीक सध जाता है ।

न च कर्मसाधनत्वेप्युपग्रहशब्दस्योपकारशब्देन सह सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः गतिस्थित्युपग्रहौ उपकार इति उपकारशब्दस्यापि कर्मसाधनत्वात् । न चैवमुपकारशब्दस्य द्विवचनप्रसंगः सामान्योपक्रमादेकवचनोपपत्तेः पुनर्विशेषोपक्रमेपि तदपरित्यागात् "साधोः कार्यं तपःश्रुते " इत्यादिवत् ।

यहां कोई यह शंका उपस्थित करे कि उपग्रह शब्द की कर्म में प्रत्यय कर सिद्धि करने पर भी उपकार शब्द के साथ यो समान अधिकरणपना नही बन सकता है कि दो गति स्थितियां के दो उपग्रहीत हुये जो हैं वह एक उपकार है, अर्थात्-भावसाधन करने पर तो समान--अधिकरणपना बनता ही नही था जब कि उपकार तो धर्म और अधर्म में वर्तता है और गति स्थितिया तो जीव-पुद्गलो मे हैं, इस कारण कर्मसाधन निरुक्ति की गयी फिरभी कर्म मे साधे गये उपग्रह शब्द का भाव में साधे गये उपकार के साथ समान अधिकरणपना नही बन सकता है ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शका नही करनी चाहिये क्योंकि विधेयदलमे पडा हुआ उपकार शब्द भी कर्म मे घञ् प्रत्यय कर साधा गया है। फिर कोई यदि यो आक्षेप करै कि उपग्रह के समान इस प्रकार तो उपकार शब्द के भी द्विवचन होजानेका प्रसंग आवेगा ? आचार्य कहते है कि यह तो नही कह सकते है क्योंकि संग्रहनय अनुसार सामान्य का उपक्रम कर देने से एक वचन का प्रयाग बनना सध जाता है, पश्चात् विशेषो का प्रकरण होने परभी उस एक वचन का परित्याग नही किया जाता है जैसे कि साधु का कार्य तपस्या करना और शास्त्र अभ्यास करना है, "साधो कार्यं तपःश्रुते" "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" इत्यादि स्थलो पर सामान्यम उपात्त किया शब्द भलेही विशेषो का उपक्रम होने पर भी अपनी गृहीत संख्या को नही छोडता है।

ननु स्वपदार्थायां वृत्तावुपग्रहवचनमनर्थकं गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकार इतीयता पर्याप्तत्वात्। धर्माधर्मयोरनुग्रहमात्रवृत्तित्वख्यापनार्थं गतिस्थित्योर्निर्वर्तककारणत्वप्रतिपत्त्यर्थं चोपग्रहणमित्यप्ययुक्तं, गतिस्थिती धर्माधर्मकृते इत्यवचनादेव तत्सिद्धेः। उपकारवचनाज्जीव-पुद्गलानां गतिस्थिती स्वयमारभमाणानां धर्माधर्मौ तदनुग्रहमात्रवृत्तित्वादुपकारकाविति प्रतिपत्तेः। यथासंख्यनिवृत्त्यर्थमुपग्रहवचनमित्यप्यसारं, तद्भावे तदनिवृत्तेः। शक्यं हि वक्तुं जीवस्य गत्युपग्रहो धर्मस्योपकारः पुद्गलस्य स्थित्युपग्रहोऽधर्मस्योपकार इति यथासंख्यमुपग्रह-वचनसद्भावेपि जीवपुद्गलानां बहुत्वाच्च द्वाभ्यां समत्वाभावादेव यथासंख्यनिवृत्तिसिद्धेर्न तदर्थं तद्वचन युक्तं। धर्माधर्माभ्यां यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थं गतिस्थित्युपग्रहाविति वचन व्यवतिष्ठते तेन गत्युपग्रहो धर्मस्य स्थित्युपग्रहः पुनरधर्मस्येति प्रतीयते।

पुनः यहां किसी की शका है कि स्वकीय पदार्थों को प्रधान रखने वाली समास वृत्ति के करने पर तो सूत्र मे उपग्रह शब्द का निरूपण करना व्यर्थ पडता है "गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः" गति और स्थिति करादेना तो धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है, यो केवल इतना कहदेने से ही तात्पर्य की सिद्धि होजाती है। सम्भव है यहा कोई यो समाधान कहै कि पदार्थों की गति और स्थिति के करने में धर्म और अधर्म की केवल अनुग्रह करा देना ही प्रवृत्ति है इस भावको प्रसिद्ध कराने के लिये सूत्रकार ने उपग्रह शब्द डाला, तथा गति और स्थितिके सम्पादक कारण धर्म और अधर्म नही है इस बातकी प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्र में उपग्रह शब्द ग्रहण कियागया है। शंकाकार कहता है कि उपग्रह शब्द का यह भी प्रयोजन दिखलाना युक्ति--रहित है क्योंकि धर्म करके की गयी गति और स्थिति हैं ऐसा सूत्र कथन नहीं होनेसे ही उस प्रयोजन की सिद्धि होजाती है। अर्थात्-उनको उक्त दो प्रयोजन अभीष्ट होते तो "गतिस्थितो धर्माधर्मकृते" ऐसा सूत्र कर देते किन्तु सूत्रकार ने ऐसा उपदेश नही दिया है अतः

सिद्ध होजाता है कि गति और स्थितिके प्रधान कर्ता धर्म और अधर्म नही है। सूत्र मे उपकार शब्द का कथन कर देने से यो प्रतिपत्ति को प्रेरक होकर स्वय प्रारम्भ कर रहे जीव और पुद्गलो की उन गति और स्थितियो मे केवल अनुग्रह करने की प्रवृत्ति होजाने के कारण धर्म और अधर्म उपकारक हैं।

पुनः शंकाकार अपनी शका को पुष्ट कर रहा है कि श्री अकलक देव के मन्तव्य अनुसार यदि कोई या कह बैठे कि यथासंख्य की निवृत्ति करने के लिये सूत्र मे उपग्रह शब्द कह गया है। अर्थात्-गति और स्थिति तो धर्म और अधर्म का उपकार है केवल इतना ही कह दिया जाय तो जीवो की गति परिणति करा देना धर्म का उपकार होसकेगा यो पुद्गलो की गति-परिणति धम का उपकार नहीं हो सकेगा तथा पुद्गलोकी स्थिति करा देना धर्मका उपकार बन जायगा जीवोंकी स्थिति करा देना अधर्म का उपकार नही होसकेगा, यो संख्याक्रम अनुसार प्रतीति होजायगी उसकी निवृत्तिके लिये उपग्रह शब्द कहा गया है वह व्यर्थ होकर ज्ञापन कर देता है कि यथासख्य नही है।

शंकाकार कहता है कि यह किसी का कहना भी निस्सार है क्योंकि उस उपग्रह शब्द का सद्भाव होने पर भी उस यथासंख्य की निवृत्ति नही होनेवाली है जब कि उपग्रह शब्द के होने पर भी यो कहा जा सकता है कि जीवकी गतिमे अनुग्रह करना धर्म द्रव्यका उपकार है और पुद्गल की स्थिति-स्वरूप अनुग्रह करना अधर्म द्रव्यका उपकार है। इस प्रकार उपग्रह शब्दका सद्भाव होने पर भी वह यथासंख्य बनारहता है, निवृत्त नही होने पाता है। हाँ एक बात यह है कि जीव और पुद्गल तो बहुत हैं अर्थात् "जीवाश्च" रूपिणः पुद्गला, एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलाना, असख्येयभागादिषु जीवाना,, इन सूत्रोंके अनुसार और द्रव्योंकी गणना अनुसार जीव और पुद्गल बहुत है धर्म और अधर्म इन दोनो द्रव्यों के अनुसार उन बहुतो की समता नही होसकती है इस ही कारण यथासख्यकी निवृत्ति होना सिद्ध होजाता है फिर उस यथासख्य की निवृत्ति के लिये तो उस उपग्रह शब्द का कथन करना युक्त नही है।

भावार्थ—धर्म और अधर्मके समान यदि जीव और पुद्गल भी एक एक द्रव्य होकर दो ही होते तबतो यथासख्य लागू होता किन्तु जब जीव और पुद्गल अनन्त द्रव्य है तो ऐसी दशामे अनन्तो का दो के साथ सामानाधिकरण्य नही बनसकता है, अतः जीवोको गति धर्मका उपकार और पुद्गलोकी स्थिति अधर्म का उपकार, यह अर्थ करना ही अलीक है। हा उपग्रह शब्द के नही ग्रहण करने पर भी जीव और पुद्गलो की गति करना धर्मका और जीव या पुद्गलोकी स्थिति करना अधर्म का उपकार है, यह अर्थ ही सम्पन्न होता है फिर सूत्रकार ने उपग्रह शब्द क्यो दिया ? यहा तक आक्षेप करते हुये शकाकार ने अपने मतको पुष्ट किया है। अब ग्रन्थकार समाधान करते है कि धर्म और अधमके साथ यथा-संख्यगति और स्थितिको प्रतिपत्ति होय इसलिये सूत्रकारका 'गति स्थित्युपग्रहो, यो उपग्रह शब्दका निरूपण करना व्यवस्थित होजाता है तिस कारण इस समीचीन अर्थ की प्रतिपत्ति होजाती है कि गति स्वरूप अनुग्रह करना धर्म का उपकार है और स्थिति रूप अनुग्रह करना फिर अधर्म का उपकार है। भावार्थ—यदि सूत्र मे उपग्रह शब्द नही डाला जाता तो गति और स्थिति दोनो ही धर्म के उपकार बन बैठते तथा अधर्म के उपकार भी गति और स्थिति दोनों होजाते, अत. यथासख्य की प्रतिपत्ति कराने के लिये उपग्रह शब्द सार्थक है। श्री अकलंक देव के विचार—अनुसार यथासंख्यकी निवृत्तिके लिये उपग्रह शब्द का प्रयोग करना बताया साधक नही हैं।

ननु गतिस्थित्युपग्रहौ धर्मस्याधर्मस्य च प्रत्येकमिति कश्चित्, सोपि न स्थितवादी उपकाराविति वचनादपि तत्सिद्धिः गतिरुपकारो धर्मस्य स्थितिरधर्मस्येत्यभिसंबंधत्वात् ।

यहाँ कोई पुनः प्रश्न करता है कि 'गतिस्थित्युपग्रहौ धर्मस्याधर्मस्य च प्रत्येकं' गति और स्थिति रूप उपग्रह करना तो प्रत्येक होकर धर्म और अधर्म का उपकार है, इस प्रकार कोई पण्डित आलाप कर रहा है। ग्रन्थकार कहते है कि वह भी व्यवस्थित पदार्थ के कहने की टेव को रखने वाला नहीं है, क्योंकि " उपकारौ " इस कथन से भी उस प्रयोजन की सिद्धि होजाती है, गति-स्वरूप उपकार धर्म का और स्थिति-स्वरूप उपकार तो अधर्म का है यो दोनों मे दो ओरसे सम्बन्ध होजायगा इसके लिये उपग्रह शब्द डालना या प्रत्येक शब्द डालना निष्प्रयोजन है " गतिस्थित्युपकारौ धर्माधर्मयोः " इतना ही सूत्र पर्याप्त है।

तत्किमिदानीमुपग्रहवचनं ? न कर्तव्य । कर्तव्यमेवोपकारशब्देन कार्यसामान्यस्याभिधानात् गतिस्थित्युपग्रहाविति कार्यविशेषकथनात् । तेन धर्माधर्मयोर्न किंचित्कार्यमस्तीति वदन्निवार्यते धर्माधर्मयोरुपकारोस्तीति वचनात् । किं पुनस्तत्कार्यमित्यारेकायां गतिस्थित्युपग्रहाविन्युच्यते गतिस्थिती इति तयोस्तदनिर्वर्त्यत्वात् धर्माधर्मौ हि न जीवपुद्गलानां गतिस्थिती निर्वर्तयतः । किं तर्हि ? तदनुग्रहावेव ।

पुनरपि कोई आक्षेप करता है कि तब तो ऐसा अवसर उपस्थित होने पर उपग्रह शब्द क्यों बोला जाता है ? सूत्र मे उपग्रह का ग्रहण तो नही करना चाहिये यथा-संख्य की प्रतिपत्ति भी उपग्रह शब्द के विना होसकती है जैसे कि अभी आपने प्रतिपादन कर दिया है कि धर्म का उपकार जीव पुद्गलो की गति करा देना और अधर्म का उपकार जीवपुद्गलो की स्थिति करा देना है। अब ग्रन्थकार सिद्धान्त उत्तर कहते है कि सूत्र मे उपग्रह शब्द का ग्रहण करना ही चाहिये कारण कि उपकार शब्द करके कार्यसामान्य का कथन किया गया है और " गतिस्थित्युपग्रहौ " यो उपग्रह शब्द करके कार्यविशेष का प्ररूपण सूत्रकार द्वारा किया गया है, तिस कारण धर्म और अधर्म का कोई कार्य ही नही है, इस प्रकार कह रहे किसी सांख्य या अन्य वादी के मन्तव्य का निवारण कर दिया जाता है क्योकि धर्म और अधर्म का कुछ न कुछ उपकार अवश्य है, ऐसा सामान्य रूप से कथन किया गया है। इस पर फिर कोई यो प्रश्न करे कि उन धर्म और अधर्म का कार्य क्या है ? ऐसी आशका होने पर " गतिस्थित्युपग्रहौ " यहा उपग्रह शब्द को डाल कर उद्देश्य दल कह दिया गया है, यानी धर्म और अधर्म के विशेषरूपसे कार्य गति-स्वरूप उपग्रह और स्थिति-स्वरूप उपग्रह है, यदि उपग्रह को नही कर " गतिस्थिती " इतना ही कहा जाता तो विशेष कार्यों की प्रतिपत्ति नही होसकती थी। जैन सिद्धान्त अनुसार प्रत्येक वस्तु किन्हीं न किन्ही सामान्य और विशेष कार्यो का प्रति समय सम्पादन करती रहती है, सामान्य के विना विशेष और विशेष के विना सामान्य खरविषाणवत् है, अतः गति और स्थिति तो धर्म और अधर्म के विशेष कार्य हैं। यहा सामान्य कार्य उपकार का और विशेष कार्य गति स्थितिओं का कोई समय भेद या स्वरूपभेद नही है, केवल सामान्य के साथ तदात्मकविशेष और विशेष

के साथ कथंचित् तदात्मक सामान्य की प्रतिपत्ति कराते हुये ग्रन्थकार ने सामान्य और विशेष दो कार्यों को दिखला कर सूत्रकार के उपग्रह शब्द को सार्थक सिद्ध कर दिया है।

यहां इतना विवेक रखना चाहिये कि यद्यपि धर्म और अधर्मके उपकार गति और स्थिति स्वरूप अनुग्रह हैं फिर भी वे दोनो गति स्थितियांउन धर्म और अधर्म द्रव्य करके स्वतन्त्रतया सम्पादित नहीं की जाती हैं, कारण कि धर्म और अधर्म नियम मे जीव और पुद्गलो की गति और स्थिति को नहीं बना-देते हैं, यानी प्रेरक कारण नही हैं तो फिर धर्म अधर्म ये गति स्थिति मे क्या करते हैं ? इसका उत्तर यही है कि धर्म और अधर्म उन गति और स्थितिओंका अनुग्रह ही करते हैं, चलाकर बनाते नहीं हैं। गति और स्थिति के सम्पादक कारण जीव और पुद्गल ही हैं धर्म और अधर्म तो उन बन रही गति स्थितियों पर केवल अनुग्रह कर देते हैं। जैसे कि मछली के गमन में जल और पथिको के ठहराने मे छाया अनुग्राहक मात्र है, कारक नही। यह बात उपग्रह शब्दके डालने पर ही व्यवस्थित होसकती है, अनुग्राहक और प्रेरक कारण में महान् अन्तर है।

कुत इत्येवं।

ग्रन्थकार के प्रति किसी का प्रश्न है कि इस प्रकार धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य के सामान्य कार्य और विशेष कार्य दो हैं, यह किस प्रमाण से समझा जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार उत्तर-वार्तिकों को कहते हैं।

सकृत्सर्वपदार्थानां गच्छतां गत्युपग्रहः।
धर्मस्य चोपकारः स्यात्तिष्ठतां स्थित्युपग्रहः ॥ १ ॥
तथैव स्यादधर्मस्यानुमेयाविति तौ ततः।
तादृक्कार्यविशेषस्य कारणाव्यभिचारतः ॥ २ ॥

युगपत् गमन करने वाले सम्पूर्ण पदार्थों की गति करने मे अनुग्रह करना तो धर्म द्रव्य का उपकार है और तिस ही प्रकार ठहर रहे सम्पूर्ण पदार्थों की अक्रम से होरही स्थिति मे अधर्म द्रव्यका उपकार समझा जायगा, इस कारण वे धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य दोनों उन गत्युपग्रह तथा स्थित्युपग्रह कार्यों करके अनुमान करने योग्य हैं, जैसेकि धूमसे अग्नि का अनुमान कर लियाजाता है तिस प्रकार के कार्य विशेष का स्वकीय कारणो के साथ कोई व्यभिचार नही है। अर्थात्-गमन करने वाले सम्पूर्ण पदार्थों का युगपत् गमन और ठहरने वाले अखिल पदार्थों का युगपत् ठहरे रहना इन दोनो कार्यों के अव्यभिचरित कारण नियत हो रहे धर्म और अधर्म द्रव्य है। इन्द्रियग्राह्य अविनाभावी कार्य हेतु से अतीन्द्रिय कारण की ज्ञप्ति कर ली जाती है।

क्रमेण सर्वपदार्थानां गतिपरिणामिना गत्युपग्रहस्य स्थितिपरिणामिना स्थित्युपग्रहस्य

च क्षित्यादिहेतुकस्य दर्शनाच्च धर्माधर्मनिबंधनत्वमिति चेन्न सकृद्ग्रहणात्। सकृदपि केषांचित्पदार्थानां तस्य क्षित्यादिकृतत्वसिद्धेश्च तन्निमित्तत्वमित्यपि न मंतव्यं, सर्वग्रहणात्। ततः सकृत्सर्वपदार्थगतिस्थित्युपग्रहौ सर्वलोकव्यापिद्रव्योपकृतौ सकृत्सर्वपदार्थगतिस्थित्युपग्रहत्वान्यथानुपपत्तेरिति कार्यविशेषानुमेयौ धर्माधर्मौ। न हि धर्माधर्माभ्यां विना सकृत्सर्वार्थानां गतिस्थित्युपग्रहौ संभाव्येते, यतो न तदव्यभिचारिणौ स्याताम्।

हेतु दलमें पड़े हुये सकृत् और सर्व इन दो पदो का कृत्य यो समझना कि यदि कोई कहे गति स्वरूप परिणत होरहे जीव और पुद्गल स्वरूप सम्पूर्ण पदार्थों के क्रम से गति उपग्रह का कारण तो पृथिवी, जल, आदि द्रव्य हैं और स्थिति परिणत होरहे सम्पूर्ण पदार्थों की क्रम क्रम से स्थिति अनुग्रह करने के हेतु तो भूमि, वृक्षच्छाया, आदि होसकते हैं, ऐसा देखा जाता है अतः गति-उपग्रहका कारण धर्मद्रव्य और स्थिति-उपग्रहका कारण अधर्मद्रव्य नही मानना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यहतो नहीं कहना क्योंकि सकृत् शब्द का ग्रहण होरहा है सम्पूर्ण पदार्थों की क्रम से गति स्थितिया भले ही पृथिवी आदिक से होजांय किन्तु अक्रम से गति और अक्रम से स्थिति तो धर्मद्रव्य करके ही होसकती है। तथा यदि फिर भी कोई यो कहे कि किन्ही किन्ही थोड़े से पदार्थों की वह गति और स्थितिओ का किया जाना पृथिवी आदिकसे भी सिद्ध होसकता है,अतः उन गति स्थितियोके निमित्त कारण पृथिवी आदिक बन बैठेगे ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी नही मान बैठना चाहिये क्योंकि हेतु कोटि में सर्व का ग्रहण होरहा है सम्पूर्ण द्रव्योकी युगपत् गति या स्थिति तो पृथिवी आदिक से नहीं होसकती है, धर्म या अधर्म द्रव्य से हो होगो तिस कारण से यो अनुमान बनाया जाता है कि युगपत् होरहा सम्पूर्ण पदार्थों का यथायोग्य गति-अनुग्रह और सर्व पदार्थों का युगपत् स्थिति-अनुग्रह ये दोनों (पक्ष) सम्पूर्ण लोक में व्यापक होरहे द्रव्यो करके उपकृत हैं (साध्य) क्योंकि अक्रम करके सम्पूर्ण पदार्थों की गति और स्थिति रूप अनुग्रह होना अन्यथा यानी लोकव्यापक द्रव्यो के विना नहीं होसकता है (हेतु) इस प्रकार कार्य विशेषों करके धर्म और अधर्म द्रव्य अनुमान कर लेने योग्य हैं। कारण कि धर्म और अधर्म के विना युगपत् सम्पूर्ण पदार्थों के गति-उपग्रह और स्थिति-उपग्रह सम्भवनेयोग्य नहीं हैं जिससे कि वे गति उपग्रह और स्थिति-उपग्रह होरहे उस लोक-व्यापक द्रव्यके साथ अव्यभिचारी नही होते। यानी उक्त हेतुका अपने साध्यके साथ निर्दोष अविनाभाव है कोई व्यभिचार विरोधादि दोषों की सम्भावना नही है।

ताभ्यां विनैव परस्परतः संभाव्येते ताविति चेत् किमिदानीं युगपद्गच्छतां सर्वेषां तिष्ठंतो हेतवः सर्वे, तिष्ठतां च सकृत्सर्वेषां गच्छंतः सर्वेषां आहोस्वित् केचिदेव केषांचित्? न तावत्प्रथमः पक्षः परस्पराश्रयप्रसंगात् नापि द्वितीयः अयान् सर्वार्थगतिस्थित्युपग्रहयोः सर्वलोकव्यापि द्रव्योपकृतत्वेन साध्यत्वात् प्रतिनियतार्थगतिस्थित्यनुग्रहयोः कादाचित्कयोः प्रतिविशिष्टयोः क्षित्यादिद्रव्योपकृतत्वाभ्युपगमात्।

यदि यहां कोई प्रतिवादी यों कहे कि प्रकृत हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव नही है उन धर्म, अधर्म द्रव्यों के विना ही परस्पर करके सम्पूर्ण अर्थों के वे गतिअनुग्रह स्थिति-अनुग्रह सम्भव जाते हैं, घोड़ा सवार को चला रहा है, सवार घोड़े को चला रहा है, पर घोडा सवार को ठहरा लेता है और सवार घोडेको ठहरा लेता है। पथिक को छाया ठहरा लेती है, वायु तृणोको उडादेती है मूढा या कुर्सी मनुष्यको वैठाये रखता है। ठहरा हुआ लाल सिगनल या नही झुका हुआ सिगनल रेलगाडी को ठहरा लेता है और हरा या झुका हुआ सिगनल रेलगाडीकी गति होजाने मे अनुग्राहक है तथा गमन कर रही वायु परदे वाली नावकी गतिको करादेती है और निषेधके लिये हिलाया गया हाथ आगन्तुक को ठहरा देता है, यो गमन करने वाले पदार्थ दूसरोकी स्थिति करानेमे अथवा स्थिति वाले पदार्थ दूसरोके गमन करानेमे सहायक होरहे है, इत्यादिक अनेक पदार्थ परस्पर गमन और स्थितिको करा रहे हैं इसके लिये धर्म और अधर्म द्रव्य कुछ भी उपयोगी नही।

यो कहने पर तो आचार्य विकल्प उठाते है कि इस अवसर पर युगपत् गमन कर रहे सम्पूर्ण पदार्थों के गतिअनुग्रह में कारण क्या सम्पूर्ण ठहर रहे पदार्थ हैं ? और एक साथ ठहर रहे सम्पूर्ण पदार्थों के स्थिति-अनुग्रहमे कारण क्या सभी गमन कर रहे पदार्थ है ? अथवा क्या कुछ थोडे से पदार्थ ही कुछ अन्य थोड़े से पदार्थों के गति-अनुग्रह या स्थिति-अनुग्रह करने मे कारण माने गये हैं ? बताओ पहिला पक्ष ग्रहण करना तो ठीक नही पड़ेगा क्यो कि अन्योन्याश्रय दोष होजाने का प्रसग आता है गमन करने वाले पदार्थोंके कारण ठहरने वाले होय और ठहरने वालोके कारण गमन करने वाले पदार्थ होय, यह अन्योन्याश्रय स्पष्ट है। सम्पूर्ण पदार्थ तब गमन कर सके जबकि सभी पदार्थ ठहरे हुऐ होय और सभी पदार्थ ठहरें कव, जब कि सभी पदार्थ गमन करे, यह असम्भव-गर्भित परस्पराश्रय दोप है तथा दूसरा पक्ष ग्रहण करना भी श्रेष्ठ नही है क्योंकि सम्पूर्ण अर्थों के गति-उपग्रह और स्थिति-उपग्रह को सम्पूर्ण लोक मे व्याप रहे द्रव्य द्वारा उपकृतपने करके साध्य किया गया है प्रतिनियत हुये कतिपय अर्थो के कभी कभी होने वाले प्रत्येक विशिष्ट होरहे गति-अनुग्रह और स्थिति-अनुग्रह का पृथवी आदि द्रव्यो द्वारा उपकृतपना हम जैन स्वीकार कर चुके हैं, अत. कतिपय द्रव्य किन्ही परिमित द्रव्यो के अनुग्राहक है, यह दूसरा पक्ष लेना उचित नही है।

गगनोपकृतत्वात् सिद्धसाधनमिति चेन्न, लोकालोकविभागाभावप्रसंगाल्लोकस्य सावधित्वसाधनात् निरवधित्वे संस्थानवत्त्वविरोधात् प्रमाणाभावाच्च।

यहा कोई आक्षेप करता है कि जैनो द्वारा दिये गये अनुमान मे सिद्धसाधन दोष है। क्योकि सर्वत्र लोकालोक मे व्याप रहे आकाश द्रव्य करके उपकृत होरहे गत्युपग्रह और स्थित्युपग्रह सिद्ध ही है। इस क्लृप्त होरहे आकाश के द्वारा साधने योग्य कार्य के लिये नवीन धर्म अधर्म द्रव्योंकी कल्पना करना ठीक नही है, आकाश करके अवगाह और गति--अनुग्रह, स्थिति--अनुग्रह ये कार्य निपटा दिये जायंगे- अत. आप जैन भाई सिद्ध पदार्थ आकाश का ही साधन कर रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं. कि यह तो नही कहना क्योंकि यो आकाश के मानने पर और धर्म, अधर्म, द्रव्यो के नही स्वीकार करने पर तो लोक और अलोक के विभाग के अभाव का प्रसंग होजावेगा, जहा तक आकाश में धर्म, अधर्म द्रव्य

पाये जाते हैं उतना मध्यवर्ती तीनसौ तेतालीस घन-राजू प्रमाण लोकाकाश है, शेष अनन्तानन्त रज्जु लम्बा, चौडा, मोटा, अलोकाकाश है, लोक को पूर्व प्रकरणो मे मर्यादा-सहित साधा जाचुका है यदि लोक को मर्यादा-रहित माना जायगा तो विशेष आकार मे सहितपन का विरोध होजावेगा तथा लोक को मर्यादा-रहित साधने वाले प्रमाणो का भी अभाव है।

भावार्थ—अलोकाकाश के सब ओर से ठीक बीच मे यह लोक अनादि काल से विरचित है, जोकि चौदह राजू ऊंचा और दक्षिण उत्तर सात राजू लम्बा है। हा लोककी पूर्व पश्चिम मे नीचे सात राजू उसके ऊपर सात राजू तक क्रमसे घटकर एक राजू और वहासे क्रमसे बढ कर साढे दस राजू तक पाच राजू तथा पुन. क्रम से घट कर चौदह राजू की ऊचाई तक एकराजू चौडाई है। लोक के छहो ओर वातवलय हैं. इस प्रकार पाव फैलाकर और कमर पर हाथ रख खडे हुये पुरुष के समान लोक की आकृति है, जो कि उक्त प्रमाण अनुसार छहो ओर मर्यादा सहित है। इस लोक की मर्यादाको धर्म द्रव्य और अधर्म ने ही व्यवस्थित किया है। अन्यथा सर्वत्र जीव और पुद्गलो की अव्याहत गति या स्थिति होजाने से लोक और अलोक का कोई विभाग नही होसकेगा। एक बात यहां यह भी विचारने की है, कि सम्पूर्ण आकाश द्रव्य अनन्तानन्त-प्रदेशी है अनन्त का अर्थ कोई पण्डित मर्यादा रहित होरहा करते है सम्भव है इसी प्रकार असख्यात का अर्थ संख्या से अतिक्रान्त होरहा करते होय किन्तु यो अर्थ करना स्थूल दृष्टि से भले ही थोडी देर के लिये मान्य कर लिया जाय परन्तु सिद्धान्त दृष्टिसे उक्त दोनो अर्थ अनुचित हैं। असख्यात की भी सख्या की जासकती है, और अनन्तानन्त भी सर्वज्ञ ज्ञान द्वारा गिने जा चुके मर्यादित है जब कि उत्कृष्ट सख्यात को गिना जा सकता है। तो उससे एक अधिक जघन्य परीतासंख्यात को क्यो नही गिना जा सकेगा ? इसी प्रकार जब असंख्यातासख्यात की मर्यादा बाधी जाती है, तो उसमे एक अधिक परीतानन्त की मर्यादा करने मे कौन सी बुद्धि की नोंक घिस जायगी ?

सख्यामान के ही तो इकईस भेद हैं, जो कि सख्यात, परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात, सख्यातासख्यात, परीतानत, युक्तानन्त, अनन्तानन्त के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद अनुसार है। संख्यामान के ग्यारहव भेद होरहे मध्यम असंख्यातासख्यात नामक गणना के किसी अवान्तर भेद मे लोकाकाश के प्रदेश परिगणित है तथा बीसवी संख्या मध्य-अनन्तानन्त के किसी भेद मे अलोकाकाश या सम्पूर्ण आकाश के प्रदेश गिन लिये गये हैं " पल्लघणविदगुल जगसेढी लोय पदर जीवघण। तत्तो पढमं मूल सव्वागास च जा जाणेज्जो " यो त्रिलोकसार मे सर्वाकाश के प्रदेश गिना दिये हैं। साधारण पुरुष जिसप्रकार दश, बीस, पचास रुपयो को गिन लेता है, इससे भी कही अधिक स्पष्ट रूपसे केवलज्ञानी महाराज अलोकाकाश के प्रदेशोको झटिति गिन लेते है। बरफी के समान समघन चतुरस्र अलोकाकाश की छहो दिशाओं में मर्यादा है।

लोक के ठीक बीच सुदर्शनमेरु की बीच जड मे पडे हुये आठ प्रदेशो से यदि अलोकाकाश को नापा जायगा तो पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः, छहों ओर डोरी ठीक नाप की पड़ जायगी। हा चौकोर पदार्थ के बीच से तिरछे नापे गये कौने तो बढ ही जायगे यदि केवल अलोकाकाश के ही छहों दिशा की ओर प्रदेश गिनने होय तो लोकाकाश के नीचे या ऊपर के प्रदेशो से दक्षिण या उत्तर दिशा-सम्बन्धी प्रदेश तो साढ़े तीन, साढ़े तीन राजू बढ जायगे कारण कि लोक की

ऊंचाई चौदह राजू है। और दक्षिण उत्तर लम्बाई सर्वत्र सात राजू है, अत दक्षिण या उत्तर किसी भी एक ओर अलोकाकाशके प्रदेश ऊंचाई या निचाई से साढ़े तीन राजू अधिक फैल रहे माने जायगे। इसी प्रकार मध्य लोक में एक राजू चौड़े लोकाकाश से पूर्व या पश्चिम राजू के अलोकाकाश के प्रदेश तो दक्षिण उत्तर की अपेक्षा तीन तीन राजू अधिक विस्तृत हैं। और ऊपर नीचे की अपेक्षा साढ़े छह छह राजू अतिरिक्त हैं, यों विवेचन करने पर श्रुतज्ञान द्वारा अलोकाकाश की व्यजन पर्याय मर्यादा-सहित प्रतीत होजाती है। सर्वज्ञ भगवान तो अनन्तानन्त राजू लम्बे, चौडे, ऊंचे मर्यादा वाले अलोका-काश को स्पष्ट देख रहे हैं। जैसे कोई साधारण मनुष्य पचास गज लम्बे, चौडे, चौकोर प्रासाद को देख रहा है।

उस मर्यादित अलोकाकाशके बाहर कुछ नही है। भैंस के शिरपर लम्बे काठिन्यगुणयुक्त सींग विद्यमान हैं। अतः बैल या भैंस के शिर पर हाथ फेरने वाले को ऊपर सीगो का परिज्ञान होजाता है, किन्तु घोड़ा या गर्दभके शिर पर हाथ फेरने वालोको ऊपर कुछ भी नही प्रतीत होता है। इसी प्रकार अलोकाकाश के बाहर न कोई पोल है, न कोई जीवद्रव्य है, और न पुद्गलादि द्रव्य हैं, खर-विषाण के समान वहा कुछ भी तो नही है। प्रकरण मे यह कहना है कि लोक या अलोक को मर्यादारहित मानने पर आकृति-सहितपन का विरोध होगा, इस कथन मे ग्रन्थकार को कुछ अस्वरस है। अत प्रमाणोका अभाव, यह दूसरी युक्ति दी गयी है। वस्तुतः विचाराजाय तो आकाश, काल, जीव केवलज्ञान, ये सभी मर्यादासहित हैं। अत इनकी आकृति यानी-व्यजन पर्याय अवश्य है, जो केवलज्ञानी आत्माकी व्यजन पर्याय है वही केवलज्ञान का संस्थान है। अत. कोई अस्वरस नही है, इकईसवी उत्कृष्- अनन्तानन्त संख्याके अनुसार केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों की मर्यादा परिगणित है। उत्कृष्ट अनन्तानन्त में भी दस बीस सख्या को मिलाकर इस सख्या को बढाया जा सकता है। किन्तु क्या करें उस संख्या-द्वारा संख्या करने योग्य कोई वस्तुभूत पदार्थ ही नही है, सख्येयो में नही घटित होने वाली कोरी संख्याओं को जैनसिद्धान्त मे व्यर्थ गिनाया नही गया है। ऐसी अपार्थक, निस्सार बातो को कहने या सुनने के लिये किसी के पास अवसर नहीं है।

तभी तो घनधारा में " आसण्णघणा मूलं " और द्विरूप घनधारा मे " चरिमस्स दुचरिमस्स पणेव घण केवलव्वदिक्कमदो। तम्हा विरुवहीणा सगवग्गसला हवे ठाणं।" तथा द्विरूप घनाघन धारा में " चरमादिचउक्कस्स य घणाघणा एत्थणेव संभवदि। हेदूभणिदो तम्हा ठाण चउहीण वग्गसला" श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीको कहना पडा है। भले ही बहुत सी मध्यवर्त्ती संख्याओके सख्येय पदार्थ जगत् में नही हैं, फिर भी उनसे अधिक या न्यून के अधिकारी भावो के विद्यमान होने से ठीक ठीक गणित बनाने के लिये मध्यम अस्वामिक संख्याओ का निरूपण करना भी अनिवार्य पड़ जाता है। पुद्गल परमाणु एक समय में चौदह राजू गमन कर सकती है, तदनुसार बीच २ के अनेक स्थानो पर परमाणु के पहुँचने पर समय से भी छोटा काल नापा जा सकता था किन्तु कोई भी पूरा कार्य आधे समय या चौथाई समय अथवा समय के किसी अन्य छोटे भाग में न हुआ, न होरहा है, न होगा, अतः काल की सब से छोटी मर्यादा "समय" बांध दी गयी है। इसी प्रकार बडा स्कन्ध बनने के लिये जब पुद्गल परमाणुओं के एक एक भाग में दूसरी दूसरी परमाणुयें अपने अपने भाग से चिपटती हैं। या बंधती हैं तदनुसार परमाणु से भी छोटा टुकड़ा कल्पित किया जा सकता है। किन्तु हम क्या करें तीनों काल में पुद्गल परमाणु से छोटा टुकड़ा अखण्ड पर्याय रूप से न हुआ, न है, न होगा, अतः परमाणु

हो छोटे द्रव्य की अन्तिम मर्यादा है। इन दृष्टान्तों से हमें अलोकाकाश को मर्यादा-सहित कहने में कोई प्रमाणों से बाधा नहीं आती है। तो लोकाकाश को निरवधि कथमपि नहीं कह सकते हो।

प्रायः पौराणिक, नैयायिक, मीमांसक, और आधुनिक पण्डित, लोक को सावधि मानते हैं। निरवधि मानने मे कोई प्रमाण नहीं है, लौकिक स्थूल गणित से गिनती नहीं होसके एलावता अलौकिक गणित से भी इन आकाश आदि को अमर्यादित कहना अनीति है। जैन सिद्धान्त अनुसार एक एक परमाणु एक एक प्रदेश, एक एक समय और एक एक अविभाग प्रतिच्छेद की ठीक ठीक गिनती या मर्यादा होरही है। जीव राशि से पुद्गल राशि अनन्तगुणी अधिक है, मुक्त जीवो को अपेक्षा ससारी जीव अनन्तानन्त गुणे हैं। सिद्ध राशि भी अनादि है, जीव राशि भी अनादि है फिर भी सिद्धराशिका अनादिपन जीव राशि के अनादित्व से पौने नौ वर्ष छोटा है। नौ महीने गर्भ मे ठहर कर पुनः जन्म लेरहा मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र आठ वर्ष पश्चात् संयम को ग्रहण करता सन्ता कतिपय अन्तर्मुहूर्तों के पश्चात् सिद्ध–अवस्था को प्राप्त कर सकता है। अतः सिद्ध–राशि के अनादिकाल से जीव–राशि का अनादि काल पौने नौ वर्ष बडा है।

तथा व्यवहार काल या भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालो के समयो से अलोकाकाश के प्रदेश अनन्तानन्त गुणे हैं इतने बड़े अलोकाकाश की भी मर्यादा है, लोक के ऊपर नीचे सम्बन्धी अलोकाकाश से दक्षिण उत्तर का अलोकाकाश बडा है और लोक के दक्षिण, उत्तर, बाजू के अलोकाकाश से मध्य लोक के इधर उधर पूर्व पश्चिम फैला हुआ अलोकाकाश बढा हुआ है। वृद्ध विद्वानो से सुना है, कि सुदर्शन मेरु के बराबर एक लाख योजन लम्बा, चौडा, गोल, लोहे का गोला बनाया जाय वह प्रत्येक समय में एक राजू की गति अनुसार यदि पतन करै तो भी पूर्ण भविष्य काल के अनंन्तानन्त समयों में भी अलोकाकाश के तल तक नहीं पहुँच पायगा इस दृष्टान्त को सुन कर अब निर्णीत दृष्टान्त को यो समझिये कि जम्बू द्वीप के बराबर गढ लियागया लोहे का गोला प्रति समय यदि अनन्तराजू भी पतन करै अथवा एक समय मे अनन्त राजू चल कर दूसरे समय मे उस अनन्त से अनन्तगुणे अनन्तानन्त राजू गमन करै यो तीसरे, चौथे, आदि समयो में पूर्व पूव से अनन्त गुणा चलता चला जाय फिर भी भविष्य काल के अनन्तानन्त समयो मे अलोकाकाश की सड़क को पूरा नहीं कर सकेगा, कारण कि " तिविह जहण्णाणंत वग्गसलादल छिदी सगादि पद। जीवो पोग्गलकाला सेढी आगास तप्पदरम्। " इस गाथा अनुसार काल समय राशि से अनन्त स्थान ऊपर जाकर आकाश श्रेणी की वर्गितवार स्वरूप वर्ग शलाकाये मिलती हैं, उनसे अनन्त स्थान ऊपर जाकर आकाशश्रेणी के अर्द्धच्छेद निकलते हैं। उनसे अनन्त स्थान ऊपर श्रेणी आकाश की संख्या आती है, श्रेणी आकाश के घन प्रमाण सम्पूर्ण आकाश प्रदेश हैं।

यह दृष्टान्त केवल कल्पित है, क्योंकि धर्मद्रव्य के नहीं होने से कोई भी पुद्गल द्रव्य लोक बाहर गमन नहीं कर सकता है, केवल इस दृष्टान्त द्वारा गणित मात्र दिखाकर उसकी मर्यादा बता दी गयी है, कि व्यवहार काल से अलोकाकाश इतना बड़ा है। इससे कुछ न्यून या अधिक बड़ा नहीं है। तथैव भूत काल के अनन्तानन्त समयो से भविष्य काल के अनन्तानन्त समय अनन्तानन्त गुणे हैं, इस प्रकार श्री केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामी ने प्रतिपादन किया है, महावीर स्वामी की दिव्य भाषा के समय से अब तक असंख्याते समयों की वृद्धि भूतकाल में होचुकी है, और भविष्य काल में असंख्यात समयो की हानि होचुकी है, सम्भव है अनन्तानन्त कल्प कालो के पश्चात् कोई सर्वज्ञ भगवान् यां

उपदेश देवे कि आज ठीक मध्यान्ह या अपराण्ह के समय भूतकाल और भविष्यकाल दोनो तराजू के पलड़े समान बराबर होजांय, पश्चात् भूतकाल बढता जाय और भविष्यकाल छोटा होता जाय यों द्रव्य, काल, क्षेत्रो की ठीक ठीक गिनती कर मर्यादा बाध दी गयी है।

भाव की व्यवस्था यो समझिये कि अलोकाकाश के प्रदेशो से अनन्तानन्त गुणे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के जघन्य ज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद हैं। द्विरूप वर्गधारा मे प्रतर आकाश की सख्या को समझा कर " धम्माधम्मा गुरु लघु इगिजीवागुरुलघुस्स होति तदो। सुहमणिअपुण्णणाणे अवरे अविभाग पडिछेदा" ऐसा त्रिलोकसारमे कहा है। इस गणित मे एक भी सख्या की न्यूनता या अधिकता नहीं है। यह नाप " वामन तोले पाव रत्ती" के न्याय अनुसार ठीक ठीक की गयी है।

जघन्य ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदो मे अनन्तानन्त गुणे केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद है, यद्यपि केवल ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदो की इकईसवी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नामक सख्या मे भी एक दो, दस, वीस, संख्यात, असंख्यात कोई भी संख्या बढायी जा सकती है। और बढी हुई उस कल्पित संख्या से केवल ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद न्यून भी कहे जा सकते है। तथापि सच्चे गणितज्ञ की यही नीति है, कि वह ठीक ठीक सख्या वाले पदार्थों का उसी नियत संख्या अनुसार निरूपण करें। केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदो से अधिक सख्या वाला पदार्थ कोई इस चराचर जगत् मे गिनने योग्य ही नही है। अतः सर्वज्ञ देव ने उत्कृष्ट अनन्तानन्त से अधिक किसी बाईसवी सख्या का उपदेश नहीं दिया है। यो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावो की नियत सख्या या अनन्तानन्त सख्याओ पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला जा चुका है।

यहाँ किसीका यह कुतर्क नही चल सकता है कि अनादि और अनन्तकी भी जब मर्यादा हो चुकी तो उनका कभी न कभी अन्त आही जायगा ? निर्णीत विषय यह है कि सक्षय अनन्त राशि का भले ही व्यय होते होते अन्त आजाय किन्तु अक्षय अनन्त राशियो मे पडे हुये जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, कालसमय, आकाश प्रदेश, जघन्य ज्ञान या केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद इनका अन्त नही आ सकता है हाँ जीव द्रव्यो की मोक्ष होने पर या काल समया के व्यतीत होने पर व्यय होते होते न्यूनता अवश्य होजायगी, क्षय नही होगा। व्यय-सद्भावे सत्यपि नवोनवृद्धेरभाववत्व चेत्। यस्य क्षयो न नियतः सोनन्तो जिनमते भणितः।

आक्षेप कर्त्ता का लक्ष्य आकाश क्षेत्र या भाव पदार्थ नही है हा द्रव्य और काल मे यह शंका उपस्थित की जा सकती है कि छह महीने आठ समयो मे छहसौ आठ जीवो के मुक्त होते होते कभी न कभी संसारी जीव राशि का अन्त होजायगा और भविष्यकाल मे से न्यून होते होते कदाचित् काल समय राशि का अवसान होजाय किन्तु पहिले कहा जा चुका है कि वह जीव राशि या काल राशि का अनन्तानन्त इतना बड़ा है। कि उसका कभी पूर्ण विराम नही होसकता है यद्यपि जीव राशि से काल समय अत्यधिक है, फिर भी वे दोनो अक्षयानन्त है।

जैसे शून्य० का किसी भी बडी सख्या से गुणा किया जाय तीन, चार, आदि संख्या का प्राप्त करना असम्भव है। उसी प्रकार किसी गुणाकार द्वारा शून्य से एक, दो, संख्या लाना भी असम्भव है, द्रव्यो की ठीक ठीक अन्यूनातिरिक्त गिनतो कर देने वाले सर्वज्ञ देव के वचनो पर किसी कुतर्क का सञ्चार नहीं होसकता है, वे अनादि का अनादि रूप से ही ठीक ठीक जान रहे है और अनन्त का

अनन्तरूप से परिज्ञात कर रहे हैं। भला ये भी कोई बलात्कार शोभता है कि अनादि को जानते हुये वे उसकी आदिको जान बैठें या अनन्तको जानते हुए उसका अन्त कर बैठें। यो जानना तो एक प्रकार का मिथ्याज्ञान होगा जो कि सम्यग्ज्ञानी सर्वज्ञके असम्भव है। विकास सिद्धान्त को मानने वाले भावों को अनादि अनन्त अवश्य मान लेगे। मुर्गी अण्डा या बीजवृक्ष का अनादित्व निःसशय प्रसिद्ध है, वैसा ही क्षेत्र, काल, द्रव्यो मे भी अनन्तपना सयुक्त है। परिशेष मे यह कहना है कि असख्यात या अनन्ते पदार्थ भी अवधिसहित हैं। मर्यादित लोक में ही जीव आदि पाच द्रव्य निवास करते है।

यदि पुनर्लोकैकदेशवर्तिद्रव्योपकृतौ सकलार्थ-गतिस्थित्युपग्रहौ स्यातां तदापि लोकालोकविभागासिद्धिः क्वचिद्वर्तमानयोर्धर्माधर्मास्तिकाययोः सर्वलोकाकाशे इवालोकाकाशेपि सर्वार्थगतिस्थित्युपग्रहोपकारित्वप्रसक्तेस्तस्य लोकत्वापत्तेः। ततः सर्वगताभ्यामेव द्रव्याभ्यां सकलार्थगतिस्थित्यनुग्रहोपकारिभ्यां भवितव्यं तौ नो धर्माधर्मौ।

फिर शकाकार के विचार अनुसार सम्पूर्ण अर्थोंके गति-उपग्रह और स्थिति–उपग्रह यदि लोक के एक देश मे वर्त रहे द्रव्यो करके उपकार प्राप्त किये जाते होते तो भी लोक और अलोक के विभाग की सिद्धि नही हो पाती क्योंकि लोक मे कही वर्त रहे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायों को जैसे अतिरिक्त स्थान या सम्पूर्ण लोकाकाश मे अथवा वहा विद्यमान पदार्थों के गति-उपग्रह और स्थिति-उपग्रह का उपकारकपना स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार लोकाकाश के किसी कोने मे धरे हुए धर्म, अधर्म करके अलोकाकाशमे भी सम्पूर्ण अर्थोंके गति-उपग्रह और स्थिति अनुग्रहके उपकारकपनका प्रसग आजायगा और ऐसा होने से उस अलोकाकाश को भी लोकपन की आपत्ति आजायगी जो कि अलोक का लोकपना किसीको भी इष्ट नही है, तिस कारण लोक मे सर्वत्र व्यापक होरहे ही धर्म, अधर्म, द्रव्यो को सम्पूर्ण अर्थों की गति और स्थिति स्वरूप अनुग्रह करने मे उपकारी होना चाहिये यानी-लोकमे सर्वगत होरही द्रव्यें ही सम्पूर्ण अर्थों की गति और स्थिति के अनुग्रह करने मे उपकारी होसकती है। अव्यापक द्रव्यें उक्त कार्यको नही निभासकेंगी बस वही लोक मे सर्वगत होरही द्रव्ये हम स्याद्वाद-सिद्धान्तियों के यहां धर्म और अधर्म इस नाम से प्रख्यात हैं।

अग्रिम सूत्र का अवतरण यों समझिये कि कोई जिज्ञासा करता है कि परोक्ष होरहे अतीन्द्रिय धर्म और अधर्म द्रव्य का अस्तित्व यदि उपकार के सम्बन्ध करके नियत किया जाता है तो उनके अव्यवहित उत्तर कहे गये अत्यन्त परोक्ष आकाश का अधिगम करने मे भला क्या उपाय है ? जिसप्रकार का कि अवलम्बकर अतीन्द्रिय आकाशकी आधुनिक पण्डितोको ज्ञप्ति होजाय आकाश तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु से भी अत्यधिक अत्यन्त परोक्ष है ऐसी अभिलाषा प्रवर्तने पर सूत्र–कार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

आकाशस्यावगाहः॥२८॥ १८

अवगाह करने वाले जीव, पुद्गलादि सम्पूर्ण द्रव्यों को अवकाश देना यह आकाश का उपकार है।

उपकार इत्यनुवर्तते। कः पुनरवगाहः अवगाहनमवगाहः स च न कर्मस्थस्तस्यासिद्धत्वात्क्लिन्नत्वायोगात्। किं तर्हि ? कर्तृस्थ इत्याह।

पूर्व सूत्र से उपकार इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती है तदनुसार अवगाह देना आकाश का उपकार है यह अर्थ घटित होजाता है। यहाँ कोई पूछता है कि यह अवगाह भला क्या पदार्थ है? इसका उत्तर यो है कि अवगाहन क्रियाको ही यहां अवगाह लिया गया है अव उपसर्गपूर्वक" गाह विलोडने,, धातु से भावमे घञ् प्रत्यय कर अवगाह शब्द बना लियागया है और वह अवगाह यानी अनुप्रवेश तो कर्म मे स्थित होरहा नही है क्योकि कर्म में स्थित होरहे उस अवगाह की सिद्धि नही है अतः उस कर्मस्थ अवगाहको आकाश द्रव्यका ज्ञापक लिंगपना नही बन सकता है। अर्थात्' जल अवगाहते मत्स्यः मछली जल को अवगाह करा रही है, इस प्रकार "जीवादय· आकाश अवगाहन्ते,. जीव आदिक पदार्थ आकाश को अवगाह रहे है ऐसा कर्त्ता होरहे जीव आदिकोमे अवगाह क्रिया ठहर जाती है किन्तु कर्म होरहे आकाशमें क्रिया नहीं ठहरती है, भलेही निश्चयनय अनुसार आकाश स्वय ठहर जाय किन्तु भेद पक्ष की षट्कारकी अनुसार वह सिद्धान्त गौण पड जाता है। जबतक आकाश ही सिद्ध नही है तो उस आकाश कर्म मे अवकाश क्रिया तो सुतरां असिद्ध होगी। ऐसी दशा मे वह अवगाह आकाश का ज्ञापक हेतु नही होसकता है फिर वह अवगाह कैसा माना जाय? ऐसा आक्षेप होने पर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि कर्त्ताओ मे ठहररहा अवगाह प्रसिद्ध है वह आकाश का ज्ञापक हेतु भी होसकता है इस बात को ग्रन्थकार अगली वार्तिकद्वारा स्पष्ट कहते है।

उपकारोवगाहः स्यात् सर्वेषामवगाहिनां।
आकाशस्य सकृन्नान्यस्येत्येतदनुमीयते ॥१॥

अवगाह करने वाले जीव आदि सम्पूर्ण द्रव्यों को एक ही वार मे अवगाह दे देना यह आकाश का ही उपकार हो सकता है, अन्य किसी द्रव्य का नही। यह उक्त सूत्र अनुसार अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात्–"सकृत्,, और "सर्वेषा,, पदो का उपस्कार कर हेतु कोटि मे डालते हुये विज्ञपुरुष द्वारा आकाश को जानने के लिये अनुमानप्रमाण बना लिया जाता है।

जीवादयो अवगाहकास्तत्र प्रतीतिसिद्धत्वाल्लिंगमवगाह्यस्य कस्यचित् यत्तदवगाह्यं सकृत्सर्वार्थानां तदाकाशमिति कर्तृस्थादवगाहादनुमीयते। गगनादन्यस्य तथाभावानुपपत्तेः।

जब कि जीव आदिक पदार्थ वहा आकाश मे अवगाह कर रहे समीचीन प्रतीतियो से सिद्ध हैं इस कारण किसी न किसी अवगाह करने योग्य द्रव्य के वे ज्ञापक लिंग होसकते हैं। एक ही वार में सम्पूर्ण पदार्थों का जोभी कोई वह अवगाह करने योग्य पदार्थ है वह आकाश है इस प्रकार कर्त्ता मे स्थित होरहे अवगाहसे आकाशका अनुमान करलिया जाता है। आकाशके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ के तिसप्रकार युगपत् सम्पूर्ण अर्थों को अवगाह देना नही बन सकता है। अतः "जीवादय. आकाश अवगाहन्ते,, इस प्रतीति अनुसार यो अनुमान वना लिया जाता है कि सकृत् सर्वपदार्थावगाहोपग्रहः (पक्ष) सर्वलोकालोकव्यापिद्रव्योपकृत. (साध्यदल) सकृत्सर्वपदार्थावगाहान्यथानुपपत्ते. (हेतु) यः साध्यवान् न स हेतुवान् यथा कूटस्थलोहो बज्रं वा (व्यतिरेकदृष्टान्त)।

आलोकतमसोरवगाहः सर्वेषामवगाहकानां जलादेर्भस्मादिवदिति चेन्न, तयोरप्यवगाहकत्वादवगाह्यांतरसिद्धेः।

यहाँ अत्यन्त परोक्ष आकाश को नही मान रहा कोई लौकिक पण्डित आक्षेप करता है कि दिन में आलोक और रात्रि मे अन्धकार इन दोनो मे सम्पूर्ण अवगाह करने वाले जीवादि पदार्थों का अवगाह होजायगा जैसे कि किसी पात्रमे ठूंस कर भर दी गयी राख मे पुन जल का अवगाह होजाता है या पानी, ऊंटनी के दूध, आदि में जिस प्रकार बूरा ,मधु आदि का अवगाह होजाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योंकि वे आलोक और अन्धकारभी कहीं न कहीं अवगाह करने वाले पदार्थ हैं यदि जीव आदिको का आलोक और अन्धकारमें अवकाश प्राप्त करना माना जायगा तो पुन: उन आलोक और अन्धकारके लिये भी अवगाह करने योग्य किसी अन्य अधिकरणकी सिद्धि माननी पड़ेगी इससे यही अच्छा है कि प्रथम से ही सबका अवगाह्य पदार्थ एक मान लिया जाय।

भावार्थ—मन्द अन्धकार मे गाढ अन्धकार प्रविष्ट होजाता है और गाढ अन्धकार मे अति निविड अन्धकार समा जाता है इसीप्रकार दीपक के प्रकाश मे दूसरे, तीसरे, आदि दीपकों के प्रकाश प्रविष्ट होजाते है सूर्य के तेजस्वी आलोक मे भी विजली या टौर्च का प्रकाश प्रविष्ट होही जाता है खिडकी खोलते ही आलोक भी पोल रूप घरोमे घुस आता है यो आलोक या अन्धकार भी कहीं न कहीं अवगाह पाने के लिये लालायित रहते है अत: परिशेष मे जाकर सब का अवगाह करने योग्य आकाश ही ठहरता है यद्यपि भस्म मे जल, पानीमे बूरा, काठ मे कील, चर्म मे तेल, रोटी मे घी इत्यादि" आधार आधेय भाव लोक-प्रसिद्ध है। व्यवहार नय से ये सब सत्य भी है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर यही निर्णीत होगा कि भीतमे बैठा हुआ आकाश ही कील को स्थान देरहा है। भस्म स्वयं आकाश मे है, भस्म मे आकाश ओत प्रोत ठस रहा है वह आकाश ही जल को अवकाश दे देता है अत: "आकाशस्यावगाह:,, इसका अर्थ "अवगाह देना आकाश का ही उपकार है" यो कर दिया जाय तो अनुचित नही है।

नन्वेवमाकाशस्याप्यवगाहकत्वादन्यदवगाह्यं कल्प्यतां तस्याप्यवगाहकत्वे अपरमवगाह्यमित्यनवस्था स्यादिति चेन्न, आकाशस्यानंतस्यामूर्तस्य व्यापिनः स्वावगाहित्वसिद्धेरवगाह्यांतरासंभवात्। न चैवमालोकतमसोः सर्वार्थानां वा स्वावगाहित्वप्रसक्तिरसर्वगतत्वात्। न च किंचिदसर्वगतं स्वावगाहि दृष्टं, मत्स्यादेर्जलाद्यवगाहित्वदर्शनात्।

यहा कोई शका उठाता है कि इस प्रकार तो जीव आदि के समान आकाश भी अवगाहक है अत: आकाश को अवगाह देने के योग्य किसी अन्य पदार्थ की कल्पना कर ली जाय और उस दूसरे अवगाह्य का भी अवगाहकपना मानते सन्ते तीसरे, चौथे, आदि अवगाह्य पदार्थों की कल्पना करते करते यो अनवस्था होजायगी। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि आकाश पदार्थ सब से बड़ा अनन्तानन्त-प्रदेशी है, अमूर्त है, व्यापक है। इस कारण दूसरो को अवगाह देनेवाला होते हुये आकाश मे स्वय को भी अवगाह देनापन सिद्ध है। इस कारण उस आकाश के लिये स्वातिरिक्त अन्य अवगाह्य पदार्थ का असम्भव है। किन्तु इस प्रकार आलोक और अन्धकार को तो सम्पूर्ण अर्थों का और अपना भी अवगाहीपना प्रसंगप्राप्त नही होता है। कारणकि वे असवगत द्रव्य अपना और सम्पूर्ण द्रव्यो का अवगाह्य नहीं होसकता है। कोई भी अव्यापक पदार्थ स्वयं अपना अपने मे अवगाह्य करने वाला नही देखा गया है। मछली, सुई आदि का जल, पत्ता आदि मे अवगाहकपना देखा जाता है। भले ही जल आदिको मछली आदि का अवगाह्य कह दिया जाय या निश्चयनय अनुसार सम्पूर्ण पदार्थों

का अपने अपने में अवगाह होना मान लिया जाय फिर भी व्यवहार नय और निश्चयनय तथा प्रमाण दृष्टि से एक आकाश पदार्थ ही स्व और अन्य सम्पूर्ण पदार्थों का अवगाह्य प्रतीत होरहा है।

सर्वार्थानां क्षणिकपरमाणुस्वभावत्वात् अवगाह्यावगाहकभावाभाव इति चेन्न, स्थूलस्थिरसाधारणार्थप्रतीतेः न चेयं भ्रांतिर्बाधकाभावात् एकस्यानेकदेशकालव्यापिनोर्थस्याभावे सर्वशून्यतापत्तेः। भावे पुनरवगाह्यावगाहकभावविरोध एवाधाराधेयभावादिवत्

आधार आधेय भाव हिंस्य हिंसक भाव, आदि को नही मानने वाले बौद्ध कहरहे हैं, कि सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक है और परमाणु स्वरूप हैं, अत. अवगाह्य अवगाहक भाव का अभाव है। अर्थात्—कालान्तर-स्थायी पदार्थ यदि होते तबतो पहिले से वर्त रहे आधार के ऊपर कोई आधेय ठहर जाता, इसी प्रकार लम्बे, चौडे, स्थूल या व्यापक पदार्थ पर उससे कुछ छोटा पदार्थ अवगाह कर लेता है, किन्तु जब परमाणु स्वरूप ही छोटे छोटे पदार्थ है। और वे भी एक क्षण जीवित रह कर दूसरे क्षण में मर जाते है, ऐसी दशा मे कोई किसी का आधार या कोई किसी का आधेय नही होसकता है। मर रहा मनुष्य मर रहे घोड़े पर नहीं चढ सकता है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि प्रामाणिक पुरुषो को स्थूल और स्थिर तथा साधारण अर्थों की प्रतीति होरही है। तुम्हारे मन्तव्य अनुसार सूक्ष्म, अस्थिर और विशेष स्वरूप ही अर्थ की स्वप्न मे भी प्रतीति नही होती है। यह प्रतीति भ्रान्तिज्ञान रूप नही है, क्योकि इस समीचीन प्रतीति का कोई बाधक नही है। यदि अनेक देश और अनेक कालो मे व्याप रहे स्थूल और कालान्तर-स्थायी एक अन्वित पदार्थ का अभाव माना जायगा तो सम्पूर्ण पदार्थों के शून्य होजाने की आपत्ति आवेगी। यानी अनेक देशव्यापी पदार्थों को नही मानने पर दृष्टि गोचर सम्पूर्ण स्थूल पदार्थों का अभाव तो हो ही जायगा, हा सूक्ष्म पदार्थ रह जायगे किन्तु उन सूक्ष्मो को यदि अनेक-काल-व्यापी नही मानकर क्षणिक स्वीकार किया जायगा तो उत्तर क्षणमे समूलचूल विनाश जाने पर पुन बिना उपादान के किसी की भी उत्पत्ति नही होने पायगी और पहिले भी तो उपादानके बिना सूक्ष्मपदार्थ नही उपज सकेगा यो बौद्धोके विचार अनुसारहो शून्यवाद छा जयगा हा यदि अनेक देश या अनेक कालोमे व्याप रहे पदार्थोका सद्भाव मानोगे तब तो फिर अवगाह्य अवगाहक भाव का विरोध ही नही है। जैसे कि आधार-आधेय भाव, कार्य-कारण भाव, बाध्य-बाधक भाव, आदि का कोई विरोध नही है।

अर्थात्—मीमासक, नैयायिक, वैशेषिक, जैन ये विद्वान तो आधार आधेय भाव, कार्य कारण भाव, आदिकको निर्विवाद स्वीकार करते ही हैं किन्तु बौद्धोको भी आधार आधेय, भाव मानना आवश्यक पड जाता है। क्षणिकत्व, सत्व आदि धर्म पदार्थ मे ठहरते हैं, पक्ष म हेतु रहता है। बौद्ध उत्पाद को कारणसहित स्वीकार करते हैं, भले ही वे विनाश को निर्हेतुक माने, अतः उत्पाद्य और उत्पादक पदार्थों का कार्य-कारण भाव अभीष्ट हुआ तथा क्षणिकत्व का ज्ञान कालान्तर-स्थायीपन के समारोप का बाधक माना गया है। सौत्रान्तिको के द्वैतवाद पर विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बाधा उठाते हैं, यो "बाध्य बाधक भाव" क्लृप्त होजाता है। साध्य और हेतु में ज्ञाप्यज्ञापक भाव तो सभी दार्शनिकों को स्वीकृत है, इसी प्रकार "अवगाह्य अवगाहक भाव" सुप्रसिद्ध है।

शीतवातातपादीनामभिन्नदेशकालतया प्रतीतेः स्वावगाह्यावगाहकभावसिद्धिः। परस्परमनवगाहानुपपत्तौ भिन्नदेशत्वप्रसंगाल्लोष्टद्वयवत्। ततो यथाप्रतीति-नियतानामवगाहकानां

प्रतिनियतमवगाह्यं सिद्धं तथा सकृत्सर्वावगाहिनामवगाह्यमाकाशमनुमन्तव्यम् ।

जाडे की ऋतु मे वायु चलते समय घाममे बैठ जाते है । उस अवसर पर शीतता, वायु, घाम, धूल, आदि पदार्थों की उसी अभिन्न देश और उसी अभिन्न काल मे वृत्ति बन करके प्रतीति होरही है, इस कारण अपने मे ही अवगाह्यपन और स्वयं मे ही अवगाहकपन की सिद्धि होजाती है । यदि शैत्य वायु, घाम, आदिक का परस्पर मे एक दूसरे को अवगाह देना बन रहा नही माना जायगा तब तो उन शीत आदि के न्यारे न्यारे देशो मे वृत्ति होने का प्रसग आवेगा जैसे कि दोनो ढेल परस्पर मे अवगाह नहीं देते हुये अपने अपने न्यारे न्यारे देशो मे वर्त रहे हैं । तिस कारण सिद्ध होता है, कि समीचीन प्रतीति का उल्लघन नही कर जिस प्रकार प्रतिनियत होरहे विशेष विशेष अवगाहको के प्रतिनियत होरहे अवगाह्य पदार्थ सिद्ध हैं । उसी प्रकार युगपत् सम्पूर्ण अवगाह करने वाले जीव आदि पदार्थोंका अवगाह करने योग्य आकाश द्रव्य है । यह युक्तिपूर्वक मान लेना चाहिये ।

अर्थात्—मत्स्य का अवगाह्य जल है, भीत मे कील घुस जाती है. अधेरे मे मनुष्य छिप जाता है । इत्यादिक रूपसे विशेष २ मछली आदि अवगाहको के विशेष जल आदि अवगाह्य पदार्थ तो प्रसिद्ध ही है , इसी प्रकार एक ही वार मे सम्पूर्ण अर्थों का अवगाह करने योग्य आकाश पदार्थ स्वीकार कर-लेना चाहिये ।

सूत्रकार महाराज के प्रति किसी का प्रश्न है कि आकाश का उपकार आपने अवगाह देना कहा सो परिज्ञात कर लिया अब यह बताओ कि आदि सूत्रमे उस आकाश ने अनन्तर कहे गये पुद्गलो का उपकार क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते है ।

शरीर वाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥

औदारिक आदि शरीर, वचन, मन, प्राण, अपान ये पुद्गलो के उपकार हैं । अर्थात्—जीवों के उपयोग मे आरहे पाँचो शरीर तो आहार आदि वर्गणाओ से बन रहे सन्ते पुद्गलरूप उपादान कारणो के उपादेय है, वचन भी पुद्गलो के बनाये हुये हैं । हृदय मे आठ पाखुरी वाले कमल समान बन रहा द्रव्य मन भी मनोवर्गणा नामक पुद्गलो से निर्मित है । उदर कोठे से बाहर निकल रही वायु उच्छ्वास नामक प्राण और बाहर की भीतर खीची जा रही वायु निःश्वास स्वरूप अपान भी पुद्गलों से सम्पादित है । अतः संसारी जीवो के प्रति इन शरीर आदिको का सम्पादन कर देना पुद्गलो का उपकार है,स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ और बहिर्भूत भोग्य,उपभोग्य विषय भी पुद्गलोके उपकार (कार्य) हैं ।

उपकार इत्यनुवर्तनीय, तत्र शरीरमौदारिकादि व्याख्यातं । वाक् द्विधा—द्रव्यवाक् भाववाक् च । तत्रेह द्रव्यवाक् पौद्गलिकी गृह्यते । मनोपि द्विविध, द्रव्यभावविकल्पात् । तत्रेह द्रव्यमनः पौद्गलिकं ग्राह्यं, प्राणापानौ श्वासोच्छ्वासौ । त एते पुद्गलानां शरीरवर्गणादीनामनेन्द्रियाणामुपकारः कार्यमनुमापकमित्यावेदयति ।

सत्रहवें सूत्र से " उपकार " यह पद यहा अनुवृत्ति कर लेने योग्य है । उन सूत्रोक्त शरीर आदिकों में उत्तरवर्त्ती वाक् आदिको का अधिष्ठान होरहा आदि में कहागया शरीर तो यहां औदा-रिक आदि लेना चाहिये औदारिक, वैक्रियिक, आदि शरीरोंका हम व्याख्यान कर चुके हैं । पौद्गलिक

आहार वर्गणा से औदारिक, वैक्रियिक, और आहारक, शरीर बन जाते हैं । तेजोवर्गणा से तैजस और कार्मणवर्गणा से कर्म शरीर बने हुए हैं । वचन दो प्रकार का है, एक द्रव्य-वचन दूसरा भाववचन तिनमें भाव वचन आत्मा का प्रयत्न विशेष है । अत यहा पौद्गलिक पदार्थोमे उन दो वाणिओ मे से पुद्गलसे उपादेय होरहे द्रव्य वचन काहो ग्रहण किया जाता है,भाषावर्गणा हो ता वचन रूप परिणम जाती है । मन भी द्रव्य और भाव इन भेदों से दो प्रकार का है, उन दो मे यहाँ पुद्गल-निर्मित द्रव्य मन का ग्रहण करना चाहिये । गुण दोष विचार आदि स्वरूप भाव मन तो आत्मा की पर्याय है, अन यहाँ पुद्गल-निर्मित पदार्थों मे भावमन का ग्रहण नही है ।

अर्थात्—अगले सूत्र मे पुद्गल के निमित्तसे जीव के होने वाले भाव कहे जायंगे वहा भाव वाक् या भाव मनका उपसंख्यान किया जा सकता है । क्योंकि भाव वाक् तो वचनो को बनाने वाला आत्मा का विशेष विशेष शरीर स्थानो में ज्ञान पूर्वक प्रयत्न विशेष करना है इसमे पौद्गलिक अ गो-पांग प्रकृति और देशघाति प्रकृतियों का उदय निमित्त रूप से अपेक्षणीय है । तथा छद्मस्थो के पाये जारहे लब्धि और उपयोग स्वरूप मनमे भी पौद्गलिक देशघाति प्रकृतियोका उदय या अवलम्बन भूत पुदगलकी अपेक्षा है,भाव वाक् या भावमनमें पुद्गल उपादान कारण नही है इसी कारण श्रीविद्यानन्द आचार्य ने राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि की नययोजनासे निराला निर्णय कराया है । पुद्गल को भाव वाक् या भावमन का उपादान कारण तो वे भी नहीं मानते है प्राण, अपान तो श्वास, उच्छ्वास रूप हैं । जो कि आहार वर्गणा से बन जाते हैं " आहारवग्गणादो तिण्णि सरीराणि होंति उस्सासो । णिस्सासो विय तेजो वग्गणखधादु तेजगं ॥ भासमण वग्गणादो कमेण भासामणं च कम्मादो अट्ठविय-कम्मदव्वं होदित्ति जिणेहि णिदिट्ठ " (जीवकाण्ड गोम्मटसार) । वे सब दार्शनिको के यहा प्रसिद्ध होरहे ये शरीर, वचन, मन, प्राण, और अपान तो शरीर आदि के उपयोगी होरही अतीन्द्रिय आहार वर्गणा आदिको के उपकार स्वरूप कार्य हैं । जो कि कार्य-लिंग होरहे सन्ते अतीन्द्रिय वर्गणाओ का अनुमान करा देते हैं । जैसे कि अग्नि का कार्य होरहा धूम ओटमे धरी हुई आगका ज्ञापक लिंग होकर अनुमान ज्ञान करा देता है । अर्थात्—दृश्यमान शरीर आदि कार्यो से कारण होरही अतीन्द्रिय वर्ग-णाओ का अनुमान कर लियाजाता है, इसी बात का ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा आवेदन करे देते हैं ।

शरीरवर्गणादीनां पुद्गलानां स संमतः ।
शरीरादय इत्येतैस्तेषामनुमितिर्भवेत् ॥ १ ॥

ये शरीर, वचन, आदिक तो शरीरोपयोगी सूक्ष्म आहार वर्गणा आदिक पुद्गलो के वह उपकार हैं यो अच्छे प्रकार मान लिया गया है, इस कारण इन उपकार यानी कार्यों करके उन कारण भूत पौद्गलिक वर्गणाओ का अनुमान ज्ञान होजावेगा जैसे कि गत्युपग्रह से धर्म का, स्थित्युपग्रह से अधर्म द्रव्य का और अवगाहक जीवादिकों के सकृत् अवगाह से अवगाह्य आकाश का अनुमान किया जा चुका है ।

संति शरीरवाङ्मनोवर्गणाः प्राणापानारंभकाश्च सूक्ष्माः पुद्गलाः शरीरादिकार्या-न्यथानुपपत्तेः न प्रधानं कारणं शरीरादीनां मूर्तिमत्त्वाभावादात्मवत् । न ह्यमूर्तिमतः परिणामः कारणं दृष्टं ।

जगत् में शरीरोपयोगी आहार वर्गणा, तेजोवर्गणा, कार्मणवर्गणायें और वचनोपयोगी भाषा वर्गणायें तथा मन को बनाने वाली मनोवर्गणायें एवं प्राण और अपान को बना रही आहार वर्गणायें ये सूक्ष्म पुद्गल विद्यमान है (प्रतिज्ञा) क्योंकि शरीर, वचन, आदि कार्य अन्यथा यानी सूक्ष्म पुद्गलो के बिना बन नही सकते है (हेतु)। इस अनुमान में पड़ा हुआ हेतु अपने साध्य को साध देता है। शरीर, वचन आदिकों का कारण वह साख्यो के यहा मानी गयी प्रकृति तो नही है (प्रतिज्ञा) क्योकि सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुणों की साम्य-अवस्था स्वरूप अतीन्द्रिय अव्यक्त प्रकृति को मूर्त्तिसहित पन का अभाव है (हेतु) आत्मा के समान (दृष्टान्त)। नही मूर्तिमान् यानी अमूर्त पदार्थ का परिणाम भला मूर्तिमान् पदार्थो का कारण होरहा नही देखा गया है। अमूर्त आत्मा जैसे शरीर आदि मूर्त कार्यों का उपादान कारण नही है उसी प्रकार अमूर्ति प्रधान के परिणाम शरीर आदिक नही होसकते है।

पृथिव्यादिपरमाणवः कारणमिति केचित्, तेषां सर्वेप्यविशेषेण पृथिव्यादिपरमाणवः शरीराद्यारंभकाः स्युः प्रतिनियतस्वभावा वा ? न तावदादिविकल्पोऽनिष्टप्रसंगात्। द्वितीय-कल्पनायां तु शरीरादिवर्गणा एव नामांतरेणोक्ता भवेयुरिति सिद्धोऽस्मत्सिद्धान्तः।

वैशेषिक कहते है कि पृथिवी, जल, आदि के परमाणुयें ही शरीर आदिकों के कारण हैं। अर्थात्—मनुष्य, तिर्यंच, सर्प, कीट, वृक्ष, आदि के शरीर तो पृथिवी परमाणुओ से बन जाते है, और वरुण लोक मे रहने वाले जीवो के शरीर जल परमाणुओं से निष्पन्न होजाते है। सूर्य लोक आदि में पाये जारहे तैजस शरीर तो तेज परमाणुओं से उपजते है, पिशाच आदिकों के वायवीय शरीर वायु परमाणुओ करके किये जाते है शब्द का समवायी कारण आकाश है, मनोद्रव्य किसी से भी नही उत्पन्न होरहे नित्य है। प्राण और अपान नामके विषय तो वायु परमाणुओं से उपज जाते हैं। इस प्रकार कोई पण्डित कह रहे है। इस पर ग्रन्थकार पूछते हैं कि उन वैशेषिको के यहा क्या सभी पृथिवी आदि परमाणुयें विशेषता-रहित होकरके शरीर आदि को बनाने वाली होगी ? अथवा क्या प्रतिनियत स्वभावो वाली परमाणुयें इन शरीर आदिको बनावेगी ? बताओ, पहिला विकल्प तो ठीक नहीं पड़ेगा क्योंकि वैशेषिको के यहा अनिष्ट का प्रसग होजायगा।

अर्थात्—वैशेषिक यदि चाहे जिस जाति की परमाणुओं से चाहे जिस कार्य का बन जाना मान लेगे तब तो जलीय परमाणुओ से तैजस शरीर या पार्थिव परमाणुओ से वायवीय शरीर बन जायगा और ऐसी दशा मे पृथिवी, जल, तेज, वायु, परमाणुओ की चार जातियो का कारण रूप से समर्थन करना विरुद्ध पडेगा,एक ही पुद्गल तत्व मान कर कार्य-निर्वाह होसकता है। हा दूसरी कल्पना करने पर तो वैशेषको द्वारा दूसरे दूसरे नामो करके वे हमारी अभीष्ट होरही शरीर आदि वर्गणायेंही कह दी गयी हुई समझी जायगी, इस प्रकार हम जैनो का सिद्धान्त ही प्रसिद्ध हुआ। अलं विस्तरेण।

सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज के प्रति किसीका प्रश्न है कि क्या इतना ही पुद्गलों करके किया गया उपकार है ? अथवा क्या अन्य भी पुद्गलो करके जीवो लिये उपयोगी उपकार किया जाता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते हैं।

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

प्रीति या प्रसन्नता स्वरूप ऐन्द्रियिक सुख, संक्लेश या परिताप स्वरूप दुःख, प्राण अपान स्वरूप क्रियाविशेष का विच्छेद नही होना--स्वरूप जीवित, और प्राण अपान क्रियाओ का उच्छेद स्वरूप मरण ये अनुग्रह भी जीव के पुद्गल करके किये गये उपकार हैं। उपग्रह शब्द के प्रकरणप्राप्त होने पर भी पुनः सूत्रकार करके कहा गया उपग्रह शब्द तो पुद्गल का पुद्गल के ऊपर उपकार करना ध्वनित करता है। च शब्द करके अन्य भी पुद्गल--निष्ठ निमित्त कारण निरूपित कार्यता वाले हास्य, रति वेद, उच्चाचरण, नीचाचरण,भोग, उपभोग, आदिका समुच्चय होजाता है। अर्थात् विस्मृति करादेना, अज्ञान भाव रखना, आदि भी पुद्गल--जन्य उपकार हैं। यदि घोर अपमान या इष्ट वियोग-जन्य दुःख आदि का स्मरण बना रहे तो ये मोही मनुष्य विना मृत्युकालके बीच मे ही अपमृत्यु को प्राप्त होजाय, ऐसी अवस्था मे विस्मृति मैया उसकी रक्षा कर लेती है, तत्वज्ञान के अनुपयोगी दुरूह, कषाय-वर्द्धक ज्ञेयोंका, अज्ञान बना रहना ही विशेष लाभप्रद नही तो रद्दी पदार्थोंके ज्ञान उन आवश्यक भेदविज्ञानो के स्थानों को प्रथम से ही उसी प्रकार घेर लेगे जैसे कि घरमे व्यर्थका कूडा, कचडा, अनावश्यक पड़ा हुआ स्वास्थ्य को विनाश रहा सन्ता पुनः आवश्यक पदार्थों को स्थान नही देने देता है, मानसिक या शारीरिक कार्य करने वालो के निकट स्थान मे सोरहा या आलस्य मे बैठाहुआ मनुष्य उनके कार्यों में विघ्न डालता रहता है, व्यर्थके संकल्प, विकल्प, या अनावश्क ज्ञान तो इससे भी कही अत्यधिक भारी क्षति को करते रहते हैं। इन ठलुआ ज्ञान या अर्थसकल्पो से पर-जन्म ही नही बिगड रहा है साथ मे प्रतिक्षण शारीरिक, मानसिक, आर्थिक क्षतियां भी अपरिमित उठाई जा रही हैं, अत मरण के समान ये भी पुद्गलकृत उपकार सम्भव जाते हैं।

पुद्गलानामुपकार इत्यभिसंबंधः केषां पुनः पुद्गलाना ममे कार्यमित्याह ?

पूर्व सूत्रोसे'पुद्गलानां, और 'उपकारः, इन दो पदोकी अनुवृत्ति कर सूत्रके पहिली और पिछली ओर सम्बन्ध करलेना। तब अर्थ इस प्रकार होजायगा कि पुद्गलोके यो सुख, दुःख,जीवित और मरण ये अनुग्रह भी उपकार हैं। कोई जिज्ञासु यह पूछता है कि किन किन पुद्गलो के फिर ये सुख आदिक कार्य है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस अगली वार्तिक को कहते है।

सुखाद्युपग्रहाश्चोपकारो जीवविपाकिनाम्।
सातवेद्यादिकर्मात्मपुद्गलानामितोनुमा॥१॥

जीव मे विपाक को करने वाली सातावेदनीय, असातावेदनीय आदि कर्मस्वरूप पुद्गलो का उपकार जीव के लिये सुख आदि अनुग्रह करना है, इन सुख आदि उपग्रहो से उन कारणभूत अतीन्द्रिय पुद्गलो का अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात्-जीव के सुख आदि होना पुद्गल को निमित्त पाकर हुये अनुग्रह हैं, मरण भी एक अनुग्रह है धार्मिक दृष्टिसे वैराग्य को प्राप्त होरहे पुरुष को समाधिमरण प्रिय है व्याधि, पीडा, शोक, आदि से आर्त्त होरहे पुरुष को मरण प्यारा लगता है और न भी प्यारा लगे तो हमें क्या। पुद्गलोसे जो प्रिय या अप्रिय कार्य बनाये जाते हैं उन नैमित्तिकोका यहाँ निरूपण करदिया गया है नैतिक दृष्टि अनुसार अनेक मनुष्य यो कहदेते है कि यदि मनुष्य या तिर्यंच मरें नहीं तो सौ, दो सौ वर्ष में स्थान या खाद्य की प्राप्ति अशक्य होजाय मरना तो नवीनताका एक पूर्व रूप है इत्यादि। यो मरण स्वरूप उपकारको विवेचना करलीजाय ।

सुखं तत्वेत्सद्वेद्यस्य कर्मणः कार्यं, दुःखमसद्वेद्यस्य, जीवितमायुषः, मरणमसद्वेद्यस्यैवायुःक्षये सति तदुदयात्परमदुःखात्मना तस्यानुभवात् । ततः सातवेद्यादिकर्मात्मनः पुद्गलाः सुखाद्युपग्रहेभ्योऽनुमीयंते । अत्रोपग्रहवचनं सद्वेद्यादिकर्मणां सुखाद्युत्पत्तौ निमित्तमात्रत्वेनानुग्राहकत्वप्रतिपत्त्यर्थं परिणामकारणं जीवः सुखादीनां तस्यैव तथापरिणामात् अत एव जीवविपाकित्वं सद्वेद्यादिकर्मणां जीवे तद्विपाकोपलब्धेः ।

पुद्गल कृत उपकारो मे वह सुख तो सातावेदनीय कर्म का कार्य है असाता वेदनीय कर्मका कार्य दुःख है, आयुष्य कर्मका कार्य जीवित रहना है, असाता वेदनीयका ही कार्य मरण है क्योंकि भुज्यमान आयु कर्म के निषेको का क्षय होने के अवसर पर विशिष्ट जाति के उस असातावेदनीय कर्म का उदय होजानेसे परम दुःखस्वरूप करके उस मृत्युका अनुभव होता है तिस कारण सिद्ध हुआकि सातावेदनीय आदि कर्मस्वरूप होरहे पुद्गल तो जीव के इन सुखादि अनुग्रहो करके अनुमान कर लिये जाते हैं। इस सूत्र में उपग्रह शब्द की अनुवृत्ति या आकर्षण होसकता था फिर भी सूत्रकार ने यहाँ उपग्रह शब्द कहा है उसका प्रयोजन यह प्रतिपत्ति करा देना है कि जीवके सुखादि की उत्पत्ति करने मे सातावेदनीय आदि कर्म केवल निमित्त होकरके अनुग्राहक है शरीर आदि के उपादान कारण जैसे पुद्गल हैं, उस प्रकार सुखादि के उपादान कारण पुद्गल नही है सुखादि परिणामों का उपादान कारण जीव है क्योंकि उस जीवको ही तिस प्रकार सुख आदि रूप करके परिणति होती है इसी ही कारण सातावेदनीय आदि कर्मो को जीव-विपाकी प्रकृति कहा गया है "अट्ठत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा" क्योंकि जीव मे उन सातावेदनीय आदि कर्मों का विपाक होरहा देखा जाता है ।

नन्वायुः भवविपाकि श्रूयते तत्कथं जीवविपाकि स्यात् ? भवस्य जीवपरिणामत्वविवक्षायां तथा विधानाददोषः । तस्य कथंचिदजीवपरिणामविशेषत्वे वा जीवपरिणाममात्राद्भेदविवक्षायामायुर्भवविपाकि प्राक्तमिति न विरोधः ।

यहा किसीका प्रश्न है कि शास्त्रोमे आयुष्य कर्मको भवविपाकी सुना जारहा है "आऊणि भव विवाई खेत्तविवाई य आणुपुव्वीओ", चारो आयुओ का देव मनुष्य तिर्यंच, नरक इन भवो मे विपाक होता है तो फिर आपने आयु को जीव-विपाकी प्रकृति किस प्रकार कह दियाहै ? नही कहना चाहिये था,इसका उत्तर ग्रन्थकार यो देते है कि चारगतियोमे अनेक भव ग्रहण करना जीवोका ही विभाव परिणाम है, अतः भव को जीव का परिणाम होनेकी विवक्षा होने पर तिस प्रकार भेद गणना कर देने से कोई दोष नहीं आता है,अर्थात्-जीव-विपाकी प्रकृतियोंमे ही भव-विपाकी आयुष्य प्रकृति गिनली जाती है । ऐसी दशा मे जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, क्षेत्र-विपाकी यो सम्पूर्ण कर्मों के तीन ही भेद या क्षेत्र विपाकी आनुपूर्व्य को भी जीव-विपाकीमे गिनलेने पर जीव-विपाकी और पुद्गलविपाकी यो कर्मों के दो ही प्रकार कहदिये जाते है । हाँ यदि उस भव को कथंचित् अजीव की पर्याय-विशेष माना जायगा तब तो जीव के यावत् परिणामो से भेद की विवक्षा करने पर आयु को शास्त्रो मे अच्छे ढंग करके भवविपाकी कहा जा चुका है । इस प्रकार आयु को जीवविपाकी या भवविपाकी कह देने से कोई पूर्वापर विरोध नही आता है " अर्पितानर्पितसिद्धेः" ।

नन्वाभरणादिपुद्गलानां सुखाद्युपग्रहे वृत्तिदर्शनात्तेषां सुखाद्युपग्रह उपकारोस्त्विति चेन्न, तेषामननुमेयत्वात् नियमाभावाच्च कस्यचित्कदाचित्सुखोपग्रहे वर्तमानस्यापि बंधनादेरपरस्य दुःखाद्युपग्रहेपि वृत्त्यविरोधात् नियमः।सद्वेद्यादिकर्माणि सुखाद्युपग्रहे प्रतिनियतस्वभावान्येवान्यथा तत्संभावनानुपपत्तेरिति तेभ्यस्तदनुमानम्।

पुन: किसीका प्रश्न है कि केवल अतीन्द्रिय कर्मोंको ही सुख आदिका अनुग्राहक क्यों मानाजाता है जब कि आभरण (भूषण) वस्त्र, गृह, रसायन, घडी, चश्मा, वाहन, वायुयान, मोटरकार, रेलगाडी, अस्त्र, शस्त्र, विष, विद्युत् आदि पुद्गलो की भी जीव के लिये सुख आदि अनुग्रह करने में प्रवृत्ति होरही देखी जा रही है अतः उन भूषण आदिको का भी सुख आदि अनुग्रह करने मे उपकार होजाओ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योंकि वे भूषण, विष, आदि तो अनुमान कर लेने योग्य नही है बालक, बालिकाओ, तक को भूषण आदिका सुख आदि के अनुग्राहकपने करके प्रत्यक्ष होरहा है, शास्त्र मे अनुमान करने योग्य या आगमगम्य पदार्थों का परिज्ञान कराया जाता है अत इन्द्रियग्राह्य पौद्गलिक कार्य पदार्थों करके अनुमान कर लेने योग्य अतीन्द्रिय सूक्ष्म कारण-आत्मक पुद्गलो के निरूपण अवसर मे प्रत्यक्षसिद्ध पुद्गलो के कहने का प्रकरण नही है।

दूसरी बात यह है कि आभरण आदि करके सुख आदि होने का कोई अन्वयव्यतिरेक पूर्वक नियम नहीं है किसी किसीको कभी कभी सुख अनुग्रह करनेमे वर्त्तरहे भी बन्धन आदिकी दूसरोके सुख आदि अनुग्रहमे भी प्रवृत्ति होनेका कोई विरोध नही है। यानी "पित्तलाभरणवित्तलाभतस्तुष्टिमावहति पामरी नरी। नहि स्वर्णमणिभूषित पुनर्भारमावहति सा नृपाङ्गना"। गहने, कपडे,, सुख के उत्पादक होते हुये भी लूट या डाके के प्रकरण पर दुख के उत्पादक होजाते हैं, बैल गाड़ियो से उतनी दुर्घटनायें नही होती हैं जितनी कि मोटरकार रेलगाडी आदि से होती है। घी या तेल के दोपक से आखो को लाभ ही है, बिजलीके उजालेसे आंखोको विशेष क्षति होती है, अतः आभरण आदि का सुखादि अनुग्रह करने मे नियम नही है। हा सातावेदनीय आदि कर्म तो सुख, दुःख आदि अनुग्रह करने मे प्रति नियत स्वभाववाले ही है अन्यथा यानी अतीन्द्रिय कर्मोंके विना उन सुख आदि अनुग्रहो के होने की सम्भावना नही सिद्ध होती है इस कारण अविनाभावी उन सुख आदिको से उन सातावेदनीय आदि सूक्ष्म पुद्गल का अनुमान होजाता है। अल पल्लवितेन।

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन चार अजीव द्रव्यो का उपकार ज्ञात कर लिया अब जीवो करके होने वाले उपकार को सूत्रकार अगले सूत्र मे कहते है।

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

परस्पर के (मे) अनुग्रह करना जीवो का उपकार है अर्थात्- शिष्य का उपकार उपदेश प्रदान द्वारा गुरू करता है और गुरूके अनुकूल प्रवर्त्तन, पाव दावना, नमस्कार करना, गुण कीर्तन, इष्टवस्तु समर्पण आदि करके शिष्य, गुरू का उपकार करता है, राजा प्रजा, या पिता पुत्र, आदि में भी इसी प्रकार परस्पर अनुग्रह किया जाना समझलिया जाय।

उपकार इत्यनुवर्तते, ततः परस्परं जीवानामनुमानमित्याह।

यहां "उपकार:" इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती है तिस कारण जीवो के परिदृश्यमान उपकारो करके परस्पर मे अनुग्रह करने वाले जीवो का अनुमान होजाता है, इसी बात को ग्रन्थकार अगली वार्तिक द्वारा स्पष्ट कह रहे है।

जीवानामुपकारः स्यात्परस्परमुपग्रहः।
संतानान्तरवद्धाजां व्यापारादिरतोनुमा ॥१॥

परस्पर मे एक दूसरे का अनुग्रह करना जीवों का उपकार होसकता है, अन्य सन्तानो के समान उस उपकार करके जीवोका अनुमान होजाता है, सन्तानान्तरको धारनेवाले जीवो के व्यापार आलिंगन, शिक्षा आदिक हैं इनसे उन सन्तानान्तरो का अनुमान होजाता है। भावार्थ-अल्पज्ञ जीवों को दूसरो की आत्माओं का प्रत्यक्ष होता नहीं है, व्यापार करना, वचन बोलना, आदि करके अन्य सन्तानों का अनुमान कर लिया जाता है, इसी प्रकार परस्पर के उपग्रह स्वरूप उपकार करके अनुग्राहक जीवो का अनुमान कर लिया जाता है।

संतानांतरभाजो हि जीवाः परस्परमसंविदाऽमानः कार्यतोनुमेयाः स्युर्न पुनरैक्यभाजः। तच्च कार्यं परस्परमुपग्रहः। स च व्यापारादिरालिंगनादिवाहनादिभिर्व्यापारः। अनुनयनं हितप्रतिपादनादिर्व्याहारः। स च परस्परमुपलभ्यमानः संतानांतरत्व साधयतीति तदनुमेयाः संतानांतरभाजो जीवाः।

सन्तानान्तरोको धारने वाले जीव जब कि परस्परमें असविदित स्वरूप है यानी अपनी आत्मा का तो स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होसकता है दूसरोकी आत्माओ का स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष नही होपाता है तथा वे सन्तानान्तर-वर्ती जीव अव्यभिचारी कार्य हेतुओ से अनुमान करने योग्य होसकते हैं किन्तु फिर वे सन्तानान्तर वर्ती जीव ब्रह्माद्वैतवादियो के विमर्षण अनुसार एकता को धारने वाले तो नही हैं वह अनेक सन्तानवर्ती जीवो का कार्य तो परस्पर मे एक दूसरे का अनुग्रह करना है और वह अनुग्रह तो व्यापार करना,विनय करना,लेन देन करना बाइना बाटना,आदि है, आलिगन करना, प्रेमालाप, गुह्य आख्यान आदि और वाहन (घोडा सवार को लाद लेजाता है और सवार घोड़े को पौष्टिक भोजन, मर्दन, टहलना,खुजाना,आदि करके प्रसन्न रखता है अध्यापन आदि क्रियाओ करके व्यापार करना वह अनुग्रह है और अनुनय करना तो हित मार्गका प्रतिपादन,सुन्दर आख्यान आदिक वचन बोलना है और वह जीवों के परस्परमें देखा जारहा अनुग्रह तो अन्य सन्तानोकी सिद्धि करा देता है इस कारण सन्तानान्तरो को धारनेवाले अनेक जीव उस परस्परोपग्रह करके अनुमान कर लेने योग्य है। पूर्व सूत्रों के विवरण में भी इसीढंग से धर्म आदि चार द्रव्यो का अनुमान कर लेना कहा जा चुका है।

परस्परं संवृत्या संतानान्तरव्यवहार इत्ययुक्तं पुरुषाद्वैतवादस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात्संवेदनाद्वैतवादवत्।

यहां कोई अद्वैतवादी आक्षेप करता है कि संसार मे एक ही परब्रह्म है परस्पर में न्यारी न्यारी सन्तानों के होरहे व्यवहार तो झूठी कल्पनाओ से गढ लिये गये हैं जैसे कि शरीर में एक अखण्ड आत्मा के भी खण्ड मान लिये जाते हैं, मेरे सिर में पीडा है, पांव मे सुख है आदि। ग्रन्थकार कहते है कि

यह अद्वैतवादियो का कहना युक्ति रहित है क्योकि बौद्धो के संवेदनाद्वैतवाद के समान पुरुषाद्वैतवाद का पूर्व प्रकरणो मे ही निराकरण किया जा चुका है। शुभ अशुभ कर्म, विद्या अविद्या, संवृत्ति परमार्थ, रोगी नीरोग, बद्धमुक्त, ये सब द्वैतवाद मे ही सध पाते है, अत. सूत्रकार का "जीवाना" यह बहुवचन पद और "परस्पर मे एक दूसरे का उपग्रह" ये दोनो पद अतीव उपयोगी समझे गये है यहा तक पांचवे द्रव्य–जीवो का उपकार कह दिया है।

अब सूत्रकार महाराज के प्रति किसी का प्रश्न है कि उपकारो द्वारा सत् पदार्थोंके अनुमान कराने के अवसर पर सद्भूत छठे काल द्रव्य के उपकार का कथन करना भी आवश्यक है ऐसे जिज्ञासु के उत्तर-स्वरूप अग्रिम सूत्र को श्री उमास्वामी महाराज कहते है—

वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

वर्तना, परिणाम,क्रिया परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्यके उपकार है। अर्थात्-निश्चय काल करके छहो द्रव्यो की वर्तना होती है। और व्यवहार काल करके अपरिस्पन्दात्मक परिणाम या परि-स्पन्द–आत्मक क्रिया और कालकृत छोटापन, बडापन, ये अनुग्रह होते रहते है।

वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तना, वृत्तेर्ण्यन्तात्कर्मणि भावे वा युक् तस्यानुदात्तेत्वात्ताच्छी-लिको वा युच् वर्तनशीला वर्तनेति ।

प्रत्येक पदार्थ मे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों, करके प्रति समय जो वर्ताई जाती है, वह वर्त्तना है। अथवा नवीन मे कुछ जीर्ण होना स्वरूप वर्त्तन मात्र ही वर्तना मानी गयी है। पदार्थाः वर्तन्ते, कालः प्रेरयति, इति कालः पदार्थान् वर्त्तयति, वर्त्तयिता-हेतुः कालः, वर्त्यन्ते पदार्था. कालेन, अथवा वर्त्यते इति भाव मात्रं। यहा यदि "करणाधिकरणयोश्च" इस सूत्र करके वर्तते अनया या वर्तते अस्या यो विग्रह कर वृतु धातु से करण अथवा अधिकरण मे युट् प्रत्यय किया जाता तो टकार इत् होने से स्त्रीलिग की विवक्षा मे ङी प्रत्यय प्राप्त होता, वर्तना पद ठीक नही बन सकता था अत वर्तना शब्द को यो बना लिया जाय कि "वृतु वर्तने" धातु से णि प्रत्यय कर पुनः ण्यन्त वृतु धातु से कर्म अथवा भाव मे युच् प्रत्यय कर लिया जाता है। यु को अन करते हुये स्त्रीलिंग की विवक्षा होने पर आट् प्रत्यय कर वर्त्तना शब्द बना लिया जाता है। अथवा वृतु धातु का अनुदात्त इत् संज्ञक-पना है, तभी तो यह आत्मनेपदी है। अनुदात्त इत होने से "अनुदात्त तश्च हलादेः" सूत्र करके तच्छील अर्थ मे प्रयुक्त किया गया युच् प्रत्यय कर लिया जाय वर्त्तन स्वभाव रूप पदार्थ ही वर्त्तना है। यो तत् शील यस्या. इस प्रकार ताच्छीलिक युच् प्रत्यय होजाता है, वर्त्तनशील ही वर्त्तना है। इस प्रकार वर्त्तना शब्द की निरुक्ति द्वारा यथायोग्य अर्थ निकाला जा सकता है।

का पुनरियं ? प्रतिद्रव्यपर्यायमंतर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना। द्रव्य वक्ष्यमाणं तस्य पर्याया द्रव्यपर्यायः द्रव्यपर्यायं द्रव्यपर्याय प्रति प्रतिद्रव्यपर्यायं अन्तर्नीत एकः समयोन-पेत्यंतर्नीतैकसमया। का पुनरसौ ? स्वसत्तानुभूतिः स्वस्यैव स्वत्ता स्वसत्ता अन्यासाधारणी जन्म-व्ययध्रौव्यैक्यवृत्तिरित्यर्थः। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इति वचनात्। न हि सत्तात्यंतं भिन्ना स्वाश्रयादुपपद्यते। बुद्ध्यभिधानानुप्रवृत्तिलिंगेनानुमीयमाना सैकैवेत्ययुक्तं, सादृश्योपचारात्स-

देकत्वप्रत्ययप्रवृत्तिः । जीवाजीव-तद्भेदप्रभेदैः संबध्यमाना विशिष्टा शक्तिभिरनेकत्वमास्कंद-तीति स्वसत्ताया अनुभूतिः सा वर्त्तना वर्त्यमानत्वात् वर्तनमात्रत्वाद्वा तदुच्यते ।

किसी का प्रश्न है कि यह वर्त्तना फिर क्या पदार्थ है ? ग्रन्थकार इसका समाधान यो देते है, कि जिस स्वकीय सत्ता की अनुभूति ने द्रव्य की प्रत्येक पर्याय के प्रति उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य–आत्मक एक वृत्ति को एक ही समय मे गर्भित कर लिया है । वह स्वकीय सत्ता का तदात्मक रस स्वरूप अनुभवन करना वर्त्तना है, यहाँ ज्ञान स्वरूप अनुभव नही लिया गया है । किन्तु स्वकीय केवल उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यो की युगपत् प्रवृत्तिरूप सत्ता की प्रत्येक पदार्थ मे पाई जाने वाली एक-रसता ग्रहण की गई है । इस वर्त्तना के अकलक लक्षण का अर्थ इस प्रकार है कि "उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत्, सद्द्रव्य-लक्षण गुणपर्ययवद्द्रव्य" इनसूत्रो करके द्रव्य का लक्षण भविष्य मे कहा जाने वाला है । उस द्रव्य की पर्याय को द्रव्यपर्याय कहा जाता है । द्रव्य-पर्याय, द्रव्यपर्याय के प्रति जो वह प्रतिद्रव्य पर्याय है, यो षष्ठीतत्पुरुष पूर्वक अव्ययीभाव समास वृत्ति की गयी है । जिसने एक समय को अन्तरग मे प्राप्त कर लिया है, वह "अन्तर्नीतैकसमया" है । फिर वह अन्तर्नीतैकसमया क्या है ? इसका उत्तर स्वकीय सत्ता का अनुभव करना है. केवल अपनी ही सत्ता को स्वसत्ता कहा गया है । अन्य पदार्थो मे साधारण रूप से नही पाई जा रही वह सत्ता है, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उत्पत्ति, व्यय, और ध्रौव्यो की एकपने करके वृत्ति होना सत्ता है । स्वय सूत्रकार का इस प्रकार वचन है, कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यो से युक्त यानी तदात्मक वर्त रहा सत् है ।

वैशेषिक विद्वान् सत्ता को अन्य अनेक पदार्थो मे साधारण रूप से वर्त्त रही एक, नित्य, तथा स्वकीय आश्रय होरहे द्रव्य, गुण, कर्मो मे सर्वथा भिन्न स्वीकार करते है । वैशेषिक दर्शन के प्रथम अध्याय मे सूत्र है "द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तर सत्ता" किन्तु यह वैशेषिको का मन्तव्य युक्तिसिद्ध नही बन पाता है क्योकि अपने आश्रय मानेगये द्रव्य आदि मे सर्वथा भिन्न होरही सत्ता जाति प्रतीत नही होती है । वैशेषिक यो मान बैठे है कि पृथिवी द्रव्य, जल द्रव्य, आत्मा द्रव्य इत्यादिक द्रव्य द्रव्य ऐसे शब्दो की पीछे पीछे प्रवृत्ति होना स्वरूप ज्ञापक हेतु करके वह द्रव्यत्व जाति जैसे एक है, उसी प्रकार सत् सत् द्रव्यं सत् है, गुणः सत् है, कर्म सत है, इस आकार की बुद्धि और शब्दो की अनुप्रवृत्ति होना स्वरूप लिग करके अनुमित की जारही वह सत्ता जाति एक ही है " सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता" ।७। वंशेषिक दर्शन के सातमे अध्याय का सूत्र है । सत् इस प्रकार का ज्ञान या लोकव्यवहार जिससे द्रव्य, गुण, कर्मो मे होता है वह सत्ता है । ग्यारहवासूत्र यह है, कि "सदिति लिगाविशेषादविशेषलिगाभावाच्चैको भावः ॥ १७ " द्रव्य गुण कर्मो मे सत् सत् ऐसा ज्ञापक लिग विशेषता-रहित होकर प्रवर्तता है, और सत्ताके विशेषोका सूचक कोई अन्य लिंग नही है, इस कारण भाव यानी सत्ता पदार्थ एक ही है ।

आचार्य कहते हैं कि वैशेषिको का कहना अयुक्त है क्योंकि सदृशपन के उपचारसे उन सत्ताओं के एकपने का ज्ञान प्रवर्त्त जाता है । हां वस्तुतः विचाराजाय तो जीव, अजीव, पदार्थ और उनके भेद प्रभेद होरही अनेक व्यक्तियो के साथ अविष्वग्भाव सम्बन्धको प्राप्त होरही वह सत्ता या सत्तायें विशिष्ट शक्तियो करके अनेकपन को प्राप्त कर लेती हैं अर्थात्—अनेक द्रव्यगुण कर्मो मे यदि एक सत्ता व्यापती तो अन्तराल मे अवश्य दीखती । दूसरी बात यह है कि घट के उपजने पर वह सत्ता कहा से आकर घट के साथ सम्बन्धित होजाती है ? बताओ, यदि वहां हो प्रथम से विद्यमान थी तो आश्रयके बिना भला

कैसे ठहरी रही ? तथा घट के फूट जाने पर वह तुम्हारी नित्य, व्यापक, मानीगयी सत्ता विचारी बिना आश्रय के कैसे ठहरी रह सकती है ?

अतः "नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्य" यह लक्षण ठीक नही है। हां "सदृशपरिणामस्तिर्यक् सामान्यं" यह लक्षण समुचित है। जगत् में प्रत्येक पदार्थ की सत्ता न्यारी न्यारी है, हा सदृश होने से उन अनेक सत्ताओं में एकपन का उपचार भले ही कर लिया जाय जैसे कि दूसरे दिन भी उसी शीशी में से औषधि दे देने पर रोगी कह देता है कि वैद्य जी ! यह तो वही औषधि है, जो कि कल खाई थी किन्तु कल वाली औषधि तो कल ही खाई जा चुकी है। यह तो उसके सदृश है, इसी प्रकार सत्ता में एकपन का व्यवहार होजाता है। अपने अपने न्यारे न्यारे अगुरुलघु गुण-अनुसार अस्तित्व गुण की परिणति होरही सत्ता भी न्यारी न्यारी है। 'स्वपरादानापोहनव्यवस्थापाद्य खलु वस्तुनो वस्तुत्व' सभी वस्तुयें अपने अंशों को पकड़े रहती हैं, और दूसरो के सत्वो का परित्याग करती रहती हैं किसी के भी न्यारे न्यारे अंशो का अन्य किसी के साथ सम्मिश्रण या एकीभाव नही होसकता है। ऐसी स्वकीय स्वकीय सत्ता की जो अनुभूति यानी एकतानता है, वह वर्तना है। कर्म मे युच् करने पर वर्ताया जा रहापन होने से वह वर्तना कह दी जाती है। अथवा भाव में युच् करने पर केवल वर्ता देना इस क्रिया मात्र से वह वर्त्तना कह दी जाती है।

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ प्रति समय उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप परिणमन करता सन्ता अपनी निज सत्ता का एक रस लेरहा वर्तना मे निमग्न है उस वर्त्तना का उपादान कारण वह वह पदार्थ है। हां वर्तना का निमित्त कारण कालद्रव्य है अतः काल द्रव्य का उपकार वर्तना इष्ट की गयी है। विशेष यह कहना है, कि कई विद्वान् जैसे धर्म द्रव्य गति कराने मे उदासीन निमित्त है उसी प्रकार वर्तना करानेमें कालको उदासीन कारण मान लेते हैं। फिर भी वर्तयिता या परिणमयिता काल का निमित्त-पना कुछ प्रेरकता को लिये हुये है, सभी कारणो को एक ही ढंग से कार्य करने के लिये नही हांका जाता है। घट की उत्पत्ति में कुलाल, चक्र, डोरा, मिट्टी, अदृष्ट, रासभ, दण्ड आकाश, काल ये सब न्यारे न्यारे कर्त्तव्यों द्वारा कारण होरहे हैं। निगोदराशि से जीव को निकाल कर व्यवहार राशि में लाने के अवसर पर कालाणुओ का प्रभाव (जौहर) अनुमित होजाता है। सम्यक्त्वादि की प्राप्ति या नियत काल में फल, पुष्प, तृण, वल्ली आदि के लगने अथवा ऋतु परिवर्तन में जहाँ काल लब्धि को कारण माना गया है। एव अष्टमी, चतुर्दशी पर्व अष्टान्हिका, दशलक्षण पव, कल्याण दिवस आदि की शक्तिओ का निरूपण है। वहां व्यवहार काल की भी सामर्थ्य का अनुमान लगाया जा सकता है, "दव्वपरिवट्ट रूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो" (द्रव्य संग्रह) गति कराने मे धर्म द्रव्य की उदासीनकारणता और उक्त कार्यों मे काल की निमित्त-कारणता का अन्तर स्पष्ट है।

अन्तर्नीतैकसमयः स्वसत्तानुभवो भिदा।
यः प्रतिद्रव्यपर्यायं वर्तना सेह कीर्त्यते ॥ १ ॥
यस्मात्कर्मणि भावे च ययंताद्वर्तेः स्त्रियां युचि।
वर्तनेत्यनुदात्तेत्त्वाच्छील्यादौ वा युचीष्यते ॥ २ ॥

उक्त वर्तनाका वार्तिकों द्वारा ग्रन्थकार करके यों विवरण किया जा रहा है कि द्रव्यके प्रत्येक पर्याय के प्रति जो एक समय का अन्तरंग मे प्राप्त करता हुआ भेदविवक्षा अनुसार स्वकीय सत्ता का अनुभव है, वह यहा प्रकरणमें वर्तना वखानी जाती है, जिस कारण से कि वर्तना शब्द की व्याकरण द्वारा सिद्धि यो की जाती है कि णि प्रत्ययान्त वर्त्ति धातु से कर्म या भाव मे युच् प्रत्यय करने पर स्त्रीलिंग की विवक्षा होतेसन्ते "वर्तना" यह शब्द निष्पन्न होजाता है अथवा अनुदात्त इत् होने से ताच्छील्य, अधिकरण, आदि अर्थमे युच् प्रत्यय करने पर वर्तना शब्द बन गया इष्ट कर लिया जाता है

धर्मादीनां हि वस्तूनामेकस्मिन्नविभागिनि ।
समये वर्तमानानां स्वपर्यायैः कथंचन ॥ ३ ॥
उत्पादव्ययध्रौव्यविकल्पर्बहुधा स्वयं ।
प्रयुज्यमानतान्येन वर्तना कर्म भाव्यते ॥ ४ ॥
प्रयोजनं तु भावः स्यात्स चासौ तत्प्रयोजकः ।
काल इत्येष निर्णीतो वर्तनालक्षणोंजसा ॥ ५ ॥

बहुत प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यो के विकल्प स्वरूप अपनी पर्यायो करके एक अविभागी समय मे किन्ही न किन्ही कारणो अनुसार स्वय वर्तन कर रहे धर्म आदिक छहों वस्तुओं की जो अन्य किसी प्रयोजक कारण करके प्रयुज्यमानपना है। वह वर्तना नाम की क्रिया विचारली जाती है। भावार्थ—धर्मादिक छहो द्रव्ये अपने अन्तरंग, वहिरंग कारणो अनुसार प्रत्येक समय मे अपनी अपनी अनेक उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यो, के विकल्प स्वरूप पर्यायो करके अनेक ढगो से स्वयं वर्त रही हैं। तथापि किसी अन्य प्रयोजक कर्ता करके इन धर्मादिको मे प्रेरितपना विचार लिया जाता है। बस वही वर्तना इस प्रयोजक कर्त्ता काल के द्वारा किया गया उपकार है। प्रयोजक काल का भाव तो धर्मादिको का वर्ता देना प्रयोजन है, और वह जो उनका प्रयोजक यह काल है। इस प्रकार यह निर्दोष रूप से वर्त्तना नामक लक्षण को धार रहा काल द्रव्य निर्णीत होजाता है। नवगणी या दशगणी का कर्त्ता प्रयुज्य होजाता है, और ण्यन्त का कर्त्ता प्रयोजक होजाता है। प्रयोजक का प्रयोजन यहा वर्तना नामक परिणति है, जोकि युक्तियों से शीघ्र समझली जाती है।

प्रत्यक्षतोऽप्रसिद्धापि वर्तनास्मादृशां तथा ।
व्यावहारिककार्यस्य दर्शनादनुमीयते ॥ ६ ॥
यथा तंदुलविक्लेदलक्षणस्य प्रसिद्धितः ।
पाकस्यौदनपर्यायनामभाजः प्रतिक्षणं ॥ ७ ॥
सूक्ष्मतंदुलपाकोस्तीत्यनुमानं प्रवर्तते ।
पाकस्यैवान्यथेष्टस्य सर्वथानुपपत्तितः ॥ ८ ॥

तथैव स्वात्मसद्भावानुभूतौ सर्ववस्तुनः ।
प्रतिक्षणं वहिर्हेतुः साधारण इति ध्रुवम् ॥ ६ ॥
प्रसिद्धद्रव्यपर्यायवृत्तौ वाह्यस्य दर्शनात् ।
निमित्तस्यान्यथाभावाभावान्निश्चीयते बुधैः ॥ १० ॥

हम सारिखे अल्पज्ञ जीवो के यहा प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रसिद्ध नही भी होरही वर्तना तिस प्रकार व्यवहारोपयोगी कार्य के देखने से अनुमित होजाती है। जिस प्रकार कि चावलो का अग्निसयोग अनुसार खदर, वदर, होकर पकना-स्वरूप पाक की प्रसिद्धि होजाने से यह अनुमान प्रवर्त जाता है कि भात इस नाम को धारने वाली पर्याय का पूर्व मे प्रत्येक क्षण मे सूक्ष्म रूप से चावलो का पाक हुआ है। अन्यथा यानी प्रतिक्षण सूक्ष्मरूप से पाक होना यदि नही माना जायगा तो इष्ट होरहे पाक की सभी प्रकारों से सिद्धि नही होसकती है। भावार्थ—प्रत्येक क्षण मे सूक्ष्म परिणाम करता हुआ बालक जिसप्रकार युवा होजाता है। उसी प्रकार अग्नि द्वारा चावलो को पकाने पर भी क्रम क्रम से सूक्ष्म पाक होते होते भात वन सका है, अन्यथा नही। अत उन अतीन्द्रिय सूक्ष्म पाको का जैसे अनुमान कर लिया जाता है। उसी प्रकार वर्तना का अनुमान कर लिया जाता है। सम्पूर्ण वस्तुओ के प्रत्येक क्षण मे होने वाले अपने निज सद्भाव के अनुभव करने मे कोई साधारण वहिरंग हेतु है। यह निश्चित मार्ग है, द्रव्यो की प्रसिद्ध होरही पर्यायो के वर्तने में भी वहिरंग निमित्त कारण देखा जाता है। अन्यथा उन पर्यायो के भाव का अभाव है, अतः अन्यथानुपपत्ति द्वारा विद्वानो करके उस अतीन्द्रिय भी वर्तना का निश्चय कर लिया जाता है, वह वर्तना काल द्रव्य करके किया गया उपकार है।

आदित्यादिगतिस्तावन्न तद्धेतुर्विभाव्यते ।
तस्यापि स्वात्मसत्तानुभूतौ हेतुव्यपेक्षणात् ॥ ११ ॥

मुख्य काल को नही मानने वाले श्वेताम्बर कहते हैं कि सूर्य चन्द्रमा आदि की गति या ऋतु अवस्था, आदि उस वर्तना की प्रयोजक हेतु होजायगी। इस पर ग्रन्थकार कहते है, कि सूर्य आदि की गति तो उस वर्तना का हेतु नही है। यह बात यो विचार ली जाती है कि उन सूर्य आदि के गमन या ऋतु की भी स्वकीय निज सत्ता क अनुभव करने मे किसी अन्य हेतु की विशेषतया अपेक्षा होजाती है। अतः अन्य हेतु काल द्रव्य का मानना श्वेताम्बरो को भी आवश्यक पड़ेगा।

न चैवमनवस्था स्यात्कालस्यान्याव्यपेक्षणात् ।
स्ववृत्तौ तत्स्वभावत्वात्स्वयं वृत्तेः प्रसिद्धितः ॥ १२ ॥

यदि कोई यो कहे कि धर्मादिक की वर्तना कराने मे काल द्रव्य साधारण हेतु है और काल द्रव्य की वर्तना मे भी वर्तयिता किसी अन्य द्रव्य की आवश्यकता पड़ेगी और उस अन्य द्रव्य की वर्तना करानेमे भी द्रव्यान्तरो की आकाक्षा बढ़ जानेसे अनवस्था दोष होगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि हमारे यहां इस प्रकार अनवस्था दोष नही आता है क्योंकि काल को अन्य द्रव्य की व्यपेक्षा नहीं है अपनी वर्तना करने मे उस काल का वही स्वभाव है क्योंकि दूसरो के वर्तना कराने के समान काल द्रव्य की स्वय

निज में वर्तना करने की प्रसिद्धि होरही है जैसे कि आकाश दूसरो को अवगाह देता हुआ स्वयं को भी अवगाह दे देता है, ज्ञान अन्य पदार्थोको जानता हुआ भी जान लेता है।

तथैव सवभावानां स्वयं वृत्तिर्न युज्यते।
दृष्टेष्टबाधनात्सर्वादीनामिति विचिंतितम् ॥१३॥

यहां किसी का यह कटाक्ष करना युक्त नही है कि जिस प्रकार काल स्वयं अपनी वर्तना का प्रयोजक हेतु है उस ही प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों की स्वमेव वर्तना होजायगी कारण कि घट, पट आदि सम्पूर्ण पदार्थों को स्वय वतना का प्रयोजक हेतुपना मानने पर प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणों करके बाधा आती है, इस बात का हम पूर्व प्रकरण मे विशेष रूप से विचार कर चुके है, प्रदीपका स्वपरोद्योतन स्वभाव है, घट का नही। कनक फल या फिटकिरी स्वय को और कीच को भी पानी मे नीचे बैठा देते है, वायु या फेन नही।

न दृश्यमानतैवात्र युज्यते वर्तमानता।
वर्तमानस्य कालस्याभावे तस्याः स्वतो स्थितेः ॥१४॥
प्रत्यक्षासंभवासक्तेरनुमानाद्ययोगतः।
सर्वप्रमाणनिन्हुत्या सर्वशून्यत्वशक्तितः ॥१५॥

मुख्य काल और व्यवहारकाल को नही मानने वाले बौद्ध यहा कटाक्ष करते है कि वर्तमान काल कोई पदार्थ नही है, निर्विकल्पक दर्शन द्वारा जो पदार्थों की दृश्यमानता है वही वर्तमानता है अत एव इस अन्यापोह रूप धर्म को ही वर्तना कहा जा सकता है, इसके लिये इतने लम्बे चौड़े कार्य कारण भाव के मानने की अवश्यकता नही। आचार्य कहते हैं कि यह बौद्धों का कहना युक्तिपूर्ण नही है क्योंकि वर्तमानकाल का अभाव मानने पर उस दृश्यमानता की स्वयं अपने आप से व्यवस्था नही होसकती है क्योंकि "दृशि प्रेक्षणे" धातु से कर्म में यक् करते हुये पुन वर्तमानकाल की विवक्षा होने पर "शानच" प्रत्यय करने पर दृश्यमान बनता है, दूसरी बातयह है कि वर्तमान कालके नही मानने पर प्रत्यक्ष प्रमाण के असम्भव होजानेका प्रसग होगा क्योंकि वर्तमान कालीन पदार्थोको इन्द्रिय, अनिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष जानते हैं, प्रत्यक्ष को मूल मान कर अनुमान आदि प्रमाण प्रवर्तते है अत प्रत्यक्ष प्रमाण का असम्भव होजानेसे अनुमान आदि प्रमाणोंकी योजना नही होसकती है, ऐसी दशामे सम्पूर्ण प्रमाणोका अपलाप होजानेसे सर्व पदार्थोंके शून्यपनका प्रसंग आवेगा जो कि किसीका भी इष्ट नही है, अतः वर्तमान कालका मानना अत्यावश्यक है। जो पण्डित यो कह देते है कि 'वर्तमानाभावः पततः पतित पतितव्य कालोपपत्तेः' अर्थात्-वर्तमानकाल कोई नही है क्योंकि वृक्ष से पतन कर रहे फल का कुछ देश तो पतित होकर भूतकाल के गर्भ मे चला गया है और कुछ नीचे पडने योग्य देश भविष्य काल में आने वाला है अतः भूत पतित और भविष्य पतितव्य काल ही है। उन पण्डितो की यह तर्क निस्सार है जब कि फल का वर्तमान काल में पतनहोरहा प्रत्यक्ष सिद्ध है, वर्तमान को मध्यवर्ती मान कर ही भूत, भविष्य काल माने जा सकते हैं, अन्यथा नहीं।

स्वसंविदद्वयं तत्वमिच्छतः सांप्रतं कथम्
सिद्धयेन्न वर्तमानोस्य कालः सूक्ष्मः स्वयंप्रभुः ॥१६॥

जो बौद्ध बहिरंग सम्पूर्ण पदार्थों को नहीं मान कर स्वसम्वेदनाद्वैत को ही तत्व इच्छते हैं उनके यहां वर्तमान काल मे वर्त रहा सम्वेदनाद्वैत भला किस प्रकार सिद्ध नही होगा ? और ऐसा मानने पर इस सम्वेदनाद्वैतका स्वयं प्रभु होरहा और परम सूक्ष्म वर्तमान काल सिद्ध नही होवे ? यानी वर्तमानकाल अवश्य सिद्धहोजावेगा । क्षणिक-वादी बौद्धो को बडी सुलभता से वर्तमान क्षण इष्ट करना पड़ेगा कारणकि वर्तमान क्षणमे पदार्थकी सत्ता मानते हुये उन्होने दूसरे क्षणमे पदार्थों का स्वभाव से होरहा विनाश इष्ट किया है "द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्व क्षणिकत्वं,, ।

ततो न भाविता द्रक्ष्यमाणता नाप्यतीतता ।
दृष्टता भाव्यतीतस्य कालस्यान्यप्रसिद्धितः ॥१७॥

तिसही कारण भविष्यमे दर्शनका विषय होजाना यह द्रक्ष्यमाणता ही भविष्यता नही है और तिस ही कारण दृष्टता ही अतीतपना भी नही है क्योकि अन्य भी भविष्य मे होने वाला भावी काल और होचुके अतीत काल के ओत प्रोत चले आरहे अन्वय की प्रसिद्धि होरही है । ज्ञान करके देखा जा-चुकापन या देखाजायगापन केवल इतना स्वभाव ही भूतकाल या भविष्यकाल नही है किन्तु यथार्थ मे पदार्थों के परिणमयिता भूत, वर्तमान, भविष्य, काल हैं ।

गतं न गम्यते तावदागतं नैव गम्यते ।
गतागतविनिर्मुक्तं गम्यमानं न गम्यते ॥१८॥
इत्येवं वर्तमानस्य कालस्याभावभाषणं ।
स्ववाग्विरुद्धमाभाति तन्निषेधे समत्वतः ॥१९॥
निषिद्धमनिषिद्धं वा तद्द्वयोन्मुक्तमेव वा ।
निषिध्यते न हि क्वैवं निषेधो वाधिरेव वा ॥२०॥

कोई पण्डित कहते हैं कि कोई पथिक मार्ग मे गमन कर रहा है जितना मार्ग वह गमन कर चुका है वह फिर गमन नही किया जाता है क्योकि वह गत होचुका और जो भविष्य मे आने योग्य मार्ग है वह भी गमन नही किया जा सकता है कारण कि वह तो भविष्य काल मे गमन किया जावेगा अब गत और आगत मार्गसे रहित कोई गम्यमान स्थल शेष नही रहा तो वह नही गमन किया जायगा ऐसी दशा में गत और गमिष्यमाण से अतिरिक्त वर्तमानका कोई गम्यमान शेष नही रहता है ।

आचार्य कहते है कि इस प्रकार जो पण्डित वर्तमान कालके अभाव को वखानते हैं उनका भाषण स्ववचन-विरुद्ध प्रतीत होरहा है क्योंकि उस वर्तमानके निषेधमे भी समान रूपसे वैसे ही आक्षेप प्रवर्त जाता है हम जैन उन वर्तमान काल का निषेध करने वाले पण्डितो से पूछते है कि आप निषिद्ध

पदार्थका निषेध करते हो ? अथवा नही-निषिद्ध पदार्थ का निषेध करते हो ? अथवा क्या निषिद्ध और अनिषिद्ध उन दोनो स्वभावो से रहित होरहे ही पदार्थका निषेध करते हो ? तीनो पक्षोमे इस प्रकारका निषेध नही बन सकता है, विधि ही बन बैठेगी, निषेध कहा रहा ? अर्थात्-निषिद्ध का निषेध करने पर सद्भाव उपस्थित होजाता है और अनिषिद्ध का निषेध करते हुये वदतोव्याघात दोष है फिर भी विधि ही आई तथा जो निषिद्ध भी नही और अनिषिद्ध भी नही उसका परिशेष मे जाकर विधान होजाता है, निषिद्ध नही, अनिषिद्ध भी नही यो दोनों मे से किसी भी एक का निषेध करते ही झट दूसरे का विधान होजाता है, यो व्याघात हुआ जाता है अथवा सत् का निषेध भी नही होसकता है, विरोध है, खरविषाणके समान। असत् पदार्थका भी निषेध नही होसकता है, अत: वर्तमान कालका भी निषेध अशक्य होगया। बात यह है कि कुचोद्यो द्वारा किसी भी सद्भूत पदार्थ का निषेध या असद्भूत पदार्थ का विधान करना अन्याय है।

> क वाभ्युपगमः सिद्धयेत् प्रतिज्ञाहानिसंगतः ।
> तस्य स्वयं प्रतिज्ञानाद्वर्तमानस्य तत्वतः ॥२१॥
> तथैव च स्वयं किंचित्परैरभ्युपगम्यते ।
> तथैव गम्यते किं न क्रियते वेद्यतेपि च ॥२२॥
> संवेदनाद्वयं तावद्विदितं नैव वेद्यते ।
> न चाविदितमात्मादितत्वं वा नापि तद्द्वयं ॥२३॥
> इति स्वसंविदादीनामभावः केन वार्यते ।
> वर्तमानस्य कालस्यापन्हवे स्वात्मविद्विषां ॥२४॥

इस प्रकार कुतर्क करने वाले बौद्धो के यहाँ भला किस निर्णीत पदार्थ मे स्वीकृति कर लेना सिद्ध होसकेगा क्योंकि प्रतिज्ञाहानि दोषका प्रसंग आता है जब कि वास्तविक रूप मे उस वर्तमान काल की उन्हो ने स्वयं प्रतिज्ञा करली है तिस ही प्रकार दूसरो करके जो कुछ स्वीकार किया जाता है उसको बौद्ध जब स्वयं स्वीकार कर लेते है और उस ही प्रकार प्राप्त कर लेते है तो फिर भला वह क्यो नही किया जायगा ? और क्यो नही जाना जायगा।

अर्थात्- स्वीकार कर लेना प्राप्त कर लेना विधान कर लेना, जान लेना ये सब वर्तमान काल के स्वीकार कर लेने पर ही बन सकते है। केवल सम्वेदनाद्वैत वादियो का शुद्ध सम्वेदनाद्वैत तो नही जानाजाता है जो अंश उसका पूर्व मे जाना जा चुका है वह वर्तमान में नही जाना जा सकता है और नही जाने जा चुके आत्मा आदिक तत्व तो कथमपि नही वेदे जाते है तथा उन विदित और अविदित का द्वय अथवा ज्ञान और आत्मा का द्वय तो अद्वैतवादियो के यहा नही जाना जाता है, इस प्रकार वर्तमान काल का अपन्हव (छिपजाना) मानने पर अपने निज आत्मा के साथ विद्वेष करनेवाले बौद्धो के यहां स्वसम्वेदन आदिको का अभाव किस के द्वारा रोका जा सकता है ? अर्थात्-वर्तमान काल का

नही मानने पर स्वसम्वेदनाद्वैत, चित्राद्वैत आदिका अभाव होजावेगा, कोई रोक नही सकता है विदित अंश जाना नहीं जा सकता है और अविदित अंश भी नही जाना जाता, तबतो कुछ भी नही जाना जाता है।

न संवित्संविदेवेति स्वतः समवतिष्ठते।
ब्रह्म ब्रह्मैव वेत्यादि यथाऽभेदाप्रसिद्धितः २५॥

सम्वेदन सम्वेदनस्वरूप ही है इस प्रकार सम्वेदनाद्वैत की अपने आप ही से व्यवस्था नही होजाती है जैसे कि ब्रह्म ब्रह्म ही है, शब्द शब्द ही है, इत्यादि व्यवस्थाये स्वतः नही प्रतिष्ठित होपाती तुम्हारे यहा मानी गयी हैं। बात यह है कि अभेद-वादियो के मन्तव्य अनुसार उस अभेद की प्रमाणो से प्रसिद्धि नही है। यदि सम्वेदनाद्वैतवादी अपने सम्वेदनकी स्वत. सिद्धि स्वीकार करेगे तो ब्रह्माद्वैत-वादी भी अपने परम ब्रह्मकी स्वतःसिद्धि अभीष्ट करलेगे, शब्दाद्वैत-वादी भी आडटेगे. यो सभी अनिष्ट तत्वो की स्वतःसिद्धिया होने लगेंगी।

तत्स्वसंवेदनस्यापि संतानमनुगच्छतः।
परेण हेतुना भाव्यं स्वयं वृत्यात्मनां न सः ॥२६॥
वर्तनैवं प्रसिद्धा स्यात्परिणामादिवत् स्वयं।
ततः सिद्धान्तसूत्रोक्ताः सर्वेमी वर्तनादयः ॥२७॥

जिस कारण स्वसम्वेदन की भी सन्तान को अनुगमन कर मान रहे बौद्धो के यहा उस संतान को चलाने का कोई दूसरा हेतु होना चाहिये। अतः कालद्रव्य का मानना आवश्यक है। हा जो स्वय वर्तना स्वरूप परिणमरहे पदार्थ है, उनका वर्तयिता वह काल कोई न्यारा हेतु नही है। इस प्रकार बौद्ध अथवा कोई भी दार्शनिक हो उनके यहां पदार्थकी वर्तना प्रसिद्ध हो ही जाती है जैसे कि परिणाम आदिक स्वयं प्रसिद्ध मानने पडते है। तिस कारण सिद्धान्त सूत्रो मे वे सभी वर्तना, परिणाम, आदिक बहुत अच्छे कहे गये हैं, किसी भी प्रमाण से बाधा उपस्थित नही होती है।

अत एवाह

इस ही कारण से ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक मे यो स्पष्ट कह रहे है—

कालस्योपग्रहाः प्रोक्ता ये पुनर्वर्तनादयः।
स्यात्त एवोपकारोतस्तस्यानुमितिरिष्यते ॥ २८ ॥

फिर जो सूत्रकार ने कालके वर्तना, परिणाम आदिक उपग्रह बहुत अच्छे कहे है। वे ही वर्तना आदिक काल के उपकार होसकते है। इन वर्तना आदिक ज्ञापक लिगो से उस अतीन्द्रिय काल का अनुमान होजाना अभीष्ट किया जाता है, जैसे कि पूर्व सूत्रों के अनुसार धर्म आदिक का अनुमान किया जा चुका है।

वर्तना हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां तत्सत्तायाश्च साधारण्याः सूर्यगत्यादीनां च स्वकार्यविशेषानुमितस्वभावानां बहिरंगकारणापेक्षा कार्यत्वात्तंदुलपाकवत्। यत्तावद्बहिरंग कारणं स कालः।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यो की तथा उन मे साधारण रूप से पायी जा रही उनकी सत्ता की एव अपने अपने कार्य विशेषो से अनुमित होरहे स्वभावोको धारने वाले सूर्य गमन ऋतुप्रभाव, आदि की वर्तना (पक्ष) अवश्य वहिरंग कारणो की अपेक्षा रखती है (साध्य) कार्य होने से हेतु । चावलो के पाक समान (अन्वय दृष्टान्त) । जो उस वर्तना का वहिरग कारण होगा वह तो काल द्रव्य ही होसकता है अर्थात्– चावलो के पकने मे जैसे वहिरग कारण अग्नि है उसी प्रकार जीव आदि द्रव्यो की वर्तना कराने मे और उनकी सत्ताके वर्ताने मे अथवा सूर्यगति, वर्षा होना, ऋतुकार्य आदि के वर्ताने मे वहिरग कारण काल द्रव्य है।

ननु कालवर्तनया व्यभिचारः स्वयं वर्तमानेषु कालाणुषु तदभावात। न हि कालाणवः स्वसत्तानुभूतौ प्रयोजकमपरमपेक्षन्ते सर्वप्रयोजकस्वभावत्वात् स्वप्रयोजकत्वाभावे सर्वप्रयोजक-स्वभावत्वविरोधात्। खस्य स्वावगाहहेतुत्वाभावे सर्वावगाहहेतुत्वस्वभावत्वविरोधवत् सर्वज्ञ-विज्ञानस्य स्वरूपपरिच्छेदकत्वाभावे सर्वज्ञत्वविरोधवद्वा। दिशः स्वस्मिन् पूर्वापरादिप्रत्ययहेतु त्वाभावे सर्वत्र पूर्वापरादिप्रत्ययहेतुत्वविरोधवद्वेति केचित्।

यहाँ कोई पण्डित प्रश्न उठाते हैं, कि उक्त कार्यत्व हेतु का काल द्रव्यकी वर्तना करके व्यभिचार आता है क्योकि स्वय अपने आप वर्तना कर रहे कालाणुओं मे उस वहिरग कारण की अपेक्षा स्वरूप साध्य का अभाव है। देखिये कालाणुये अपनी सत्ता का अनुभव करना स्वरूप वर्तना मे किसी दूसरे प्रयोजक हेतु की अपेक्षा नहीं करती हैं। क्योकि उन कालाणुओ का स्वभाव सम्पूर्ण द्रव्यो की वर्तना करने मे प्रयोजकपना है. यदि वे कालाणुये स्वय अपनी ही वर्तना करने मे प्रयोजक नही मानी जावेंगी तो उनके सर्वप्रयोजक स्वभाव होने का विरोध आजावेगा, जैसे कि आकाश को अपने स्वय अवगाह का हेतुपना नही मानने पर सम्पूर्ण द्रव्यो के अवगाह देने के हेतुपन स्वभाव होने का विरोध होजाता है। सबको अवगाह वही दे सकता है जो स्वको भी अवगाह देता है। सब मे स्व सब से पहिले आता है। इसी प्रकार काल द्रव्य स्वय अपनी वर्तना करने मे प्रयोजक हेतु होगा तभी सबका वर्तयिता होसकता है।

अथवा दूसरा दृष्टान्त यह है कि सर्वज्ञ का विज्ञान यदि अपने निजरूप का परिच्छेदक नही माना जायगा तो उसके सबको जान लेने स्वभावका विरोध होजायगा सर्वज्ञ का विज्ञान स्वको जानता हुआ ही सर्व का ज्ञाता बन सकता है। अथवा तीसरा दृष्टान्त यो समझिये कि दिशा को अपने मे पूर्व पश्चिम, आदि ज्ञानो का हेतुपना नही मानने पर सम्पूर्ण पदार्थों मे पूर्व, पश्चिम, ज्ञान करने के हेतुपन का जैसे विरोध होजाता है। यानो दिशाये स्व मे पूर्व, पश्चिम, आदि का व्यवहार कराती हुई ही मूर्त द्रव्यों मे पूर्व आदि व्यवहार को कराती है, अन्यथा अनवस्था होजायगी। भावार्थ—आकाश स्वयं अपना अवगाहक है ज्ञान स्वय अपना परिच्छेदक है। दिशा स्वयं अपने को पूर्व आदि व्यवस्था करा-

देती है । इसी प्रकार काल द्रव्य की वर्तना स्वयं होरही है, ऐसी दशा मे हेतु के रहजाने पर साध्य के नहीं रहते सन्ते काल वर्तना करके व्यभिचार हुआ, यो कोई पण्डित कह रहे है ।

कालवर्तनाया अनुपचरितरूपेणासद्भावात् यस्यासावन्येन वर्त्यते तस्या सा मुख्य वर्तना कर्मसाधनत्वात्तस्याः । कालस्य तु नान्येन वर्त्यते तस्य स्वयं स्वसत्तावृत्तिहेतुत्वाद् यथा नवस्थाप्रसंगात् ततः कालस्य स्वतो वृत्तिरेवोपचरिता वर्तना वृत्ति तद्वर्तकयोर्विभागाभावे मुख्य-वर्तनानुपपत्तेः ।

अब आचार्य उत्तर कहते हैं कि मुख्यरूप से काल वर्तना का असद्भाव है । जिस द्रव्य की वह वर्तना अन्य द्रव्य करके वर्तायी जाती है, उसकी वह मुख्य वर्तना है । क्योकि कर्म मे निरुक्ति कर उस वर्तना को साधा गया है । कालद्रव्य की वर्तना तो अन्य द्रव्य करके नही वर्तायी जाती है । कारण कि वह काल स्वय अपनी सत्ताकी वृत्ति का कारण है । अन्यथा यानी काल के वर्त्तने मे भी अन्य वर्तयिता द्रव्य की अपेक्षा होगी तो अनवस्था दोष का प्रसग आवेगा तिस कारण काल की स्वय अपने आप से वृत्ति होजाना ही उपचार से वर्तना मानी गयी है क्योकि वृत्ति और वर्तक विभाग का अभाव होजाने से काल के मुख्य वर्तना की सिद्धि नही होपाती है ।

अर्थात्—दूसरे मनुष्य करके माल खरीदने पर तो विक्रेता के यहा बेचने का व्यवहार मुख्य समझा जाता है । स्वयं खरीद लेने से विक्रय व्यवहार नही मानाजाता है, उसी प्रकार जहाँ भिन्न द्रव्य प्रयोजक हेतु है । उन जीव आदि पाच द्रव्यों की वर्तना तो मुख्य है, और स्वय हेतु होजाने से कालकी वर्तना केवल उपचरित है । अत. उपचरित यानी असद्भूत पदार्थ करके हेतु का व्यभिचार दोप नही हुआ करता है, एक द्रव्य वर्तने योग्य होता और दूसरा द्रव्य वर्ताने का कारक वर्तक होता तब तो मुख्य वर्तना होसकती थी, अन्यथा नही ।

शक्तिभेदात्तयोर्विभागे तु सा कालस्य यथा मुख्या तथा च बहिरंगनिमित्तापेक्षात्वं वर्तकशक्तेर्बहिरंगकारणत्वात् ततो न तया व्यभिचारः ।

यदि वह पण्डित यो कहै कि जैसे ज्ञान मे वेद्य और वेदक दोनो शक्तिया विद्यमान हैं । प्रदीप मे स्व-प्रकाशत्व और पर-प्रकाशत्व दोनो शक्तिया हैं, इसी प्रकार काल द्रव्य मे वर्त्यत्व और वर्तकत्व भिन्न भिन्न शक्तिया है । शक्तियो के भेदसे उन वृत्ति और वर्तक पदार्थों का विभाग होजायगा यो कहने पर तो आचार्य कहते हैं, कि ठीक है यो तो जिस प्रकार वह काल की वर्तना मुख्य सध जाती है उस ही प्रकार बहिरग निमित्तो की अपेक्षा होना साध्य भी घटित होजाता है । क्योकि काल की कथंचित् भिन्न मान ली गयी वर्तकत्व शक्ति यहाँ काल के वर्त्तने मे बहिरग कारण पड़ गयी है, तिस कारण उस कालवर्तना करके व्यभिचार दोष नही हुआ कालवर्तना मे हेतु रह गया तो क्या हुआ साध्य भी तो साथ ही साथ ठहर गया है । ऐसी दशा मे व्यभिचार दोष नहीं आता है ।

अकालवृत्तित्वे सति कार्यत्वादिति सविशेषणो वा हेतुः सामर्थ्यादवसीयते । यथा पृथिव्यादयः स्वतोर्थान्तरभूतज्ञानवेद्याः प्रमेयत्वादित्युक्तेप्यज्ञानत्वे सतीति गम्यते, अन्यथा ज्ञानेन स्वयं वेद्यमानेन व्यभिचारप्रसंगात् ।

अथवा " कार्यत्वात् " इतना ही हेतु नही समझा जाय " अकालवृत्तित्वे सति " यह विशेषण जोड दिया जाय काल वर्तना ही व्यभिचार स्थल होसकता है। अतः तद्भिन्नत्व का निवेश कर देना उचित है, बिना कहे ही शब्दो की सामर्थ्य से यह निर्णीत कर लिया जाता है कि ग्रन्थकार ने यहां कालवर्तना से भिन्न होते हुये कार्यपना यो विशेषणसहितहेतु कहा है। जैसे कि किसी ने यह अनुमान कहा कि पृथिवी, जल आदिक पदार्थ (पक्ष) स्व से भिन्न होरहे ज्ञान करके जानने योग्य है (साध्य) प्रमेय होने से (हेतु) यो केवल प्रमेयत्व हेतु कह देने पर भी ज्ञानभिन्नत्वे सति यह विशेषण बिना कहे ही जान लिया जाता है। अन्यथा स्वयं अपने आप वेदे जारहे ज्ञान करके व्यभिचार दोष होजाने का प्रसग आजावेगा, प्रमेय तो ज्ञान भी है किन्तु वह स्व से निराले अन्य ज्ञान करके वेद्य नही है। ज्ञान तो स्वसम्वेद्य है।

गम्भीर विद्वानो के वाक्य सोपस्कार होते है, अभिप्राय को नही समझ कर कोरे शब्दो पर ही से व्यभिचार दोष उठा देना तुच्छता है। गम्भीरता का पाठ पढने वालो को ऐसे तुच्छ कमीनेपन से अपने को बचातेरहना चाहिये यद्यपि यह कार्य कठिन है। किन्तु असम्भव नही। तुम्हारा मित्र ग्राम को जारहा है तुमने उससे कहा कि सम्भवतः मेह पडेगा, अत छतरी लेते जाओ। वह मित्र मेह नही बरसने का आग्रह करता हुआ छतरी को नही लेगया, दैव योग से मार्ग मे मेह बरसा और मित्र बेचारा वस्त्र तथा अन्य सामान के साथ भीग गया और लौट कर मित्रने सम्पूर्ण व्यवस्था सुनाई। मित्र की दशा को सुनकर तुम्हें इतनी गम्भीरता बनाई रखनी चाहिये जिससे कि झटिति यह शब्द नही निकल पडे कि हमने तभी तुमसे कहा था कि छतरी लेते जाना। तात्पर्य यह है कि पक्ष के प्रयोग की सामर्थ्य से ग्रन्थकार का यही अभिप्राय जचता है कि वे हेतु दल मे " कालवर्तनाभिन्नत्वे सति " इतना विशेषण लगा रहे है।

नन्वत्र प्रमेयत्वादेवेत्यवधारणात्तदप्रमाणत्वे सतीति विशेषणमनुक्तमपि शक्यमवगंतुमन्यत्र तु कथमिति चेत्, कार्यत्वादेवेत्यवधारणाश्रयणादन्यत्राप्यकारणत्वे सतीति विशेषणं तावद् गम्यते कारणं च युगपत्सकलवृत्तिमतां वृत्तौ कालवृत्तिरित्यकालवृत्तित्वे सतीति विशेषणं लभ्यत एव सामर्थ्यात् ततो न प्रकृते हेतौ विशेषमिच्छता हेरर्थांतरं।

सन्तुष्ट नही हुये उस विद्वान् का पुन. प्रश्न है कि सभी वाक्यो मे अवधारण लग जाते है। इस बात का जैन भी मानते है " पृथिव्यादय स्वतो अर्थान्तरभूत-ज्ञान-वेद्या प्रमेयत्वात् " इस अनुमान मे प्रमेयत्वात् एव" इस प्रकार अवधारण कर देने से प्रमाण भिन्नत्वे सति यह विशेषण विना कहे भी जाना जा सकता है किन्तु अन्य स्थल पर यानी " वर्तना बहिरगकारणापेक्षा कार्यत्वात् इस अनुमान मे वह " कालवर्तनाभिन्नत्वे सति " यह विशेषण भला किसप्रकार जाना जा सकता है।

अर्थात्—प्रमेयपना ही जहां है वह अपने से अर्थान्तर होरहे ज्ञान के द्वारा वेद्यपना है यद्यपि ज्ञान प्रमेय है तथा साथमे प्रमाण भी है अतः केवल प्रमेय ही तो ज्ञान भिन्न पदार्थ पृथिवी, जल आदिक हो होसकते है। अतः "प्रमाणाभिन्नत्वे सति" यह विशेषण बिना कहे हो निकल पड़ता है, किन्तु आप जैनों के अनुमान में कालवर्तना भिन्नत्वे सति यह बिना कहे यो हो नही टपक पड़ेगा। यो आक्षेप करने पर तो ग्रन्थकार समाधान करते है, कि यहा भी कार्यत्वादेव इस प्रकार एव द्वारा अवधारणका आश्रय लेने से हमारे दूसरे अनुमान में भो " अकारणत्वे सति " यह विशेषण तो बिना कहे ही जान लिया

जाता है, जो अन्य द्रव्य करके की गयी कार्यरूप ही वर्तनायें है। वे ही पकड़ी जायंगी, स्व करके की गयीं अथवा जो कथंचित् कारण भी होसकती है, वह काल वर्तना नही ली जासकेगी कार्य कहने से कारणत्व से रीते कार्य ही ग्रहण किये जासकते है। जब कि सम्पूर्ण वृत्तिमान् पदार्थोंकी युगपत् वृत्ति कराने में कारण कालवृत्ति है इस कारण अकाल वृत्ति यह विना कहे ही आजाता है। अकालवृत्तित्वे सति यह विशेषण विना कहे ही सामर्थ्य मे लब्ध हो ही जाता है।

अर्थात्—कूटस्थ काल द्रव्य तो अन्य द्रव्यो के वर्तानि मे कारण नही है स्वय अपनी वर्तना कर रहा ही काल दूसरो का वर्तयिता है, अत. काल के समान काल को स्वयं वर्तना भी अन्य द्रव्यो के वर्तानि मे प्रयोजक हेतु होजाती है, धर्म और धर्मी मे कथंचित् अभेद है। अब "कालवृत्तिभिन्नत्वे सति" इतना विशेषण स्वत: ही प्राप्त होगया तो जैनो के ऊपर हेत्वन्तर नामक निग्रहस्थान नही हुआ। प्रकरणप्राप्त हेतु मे विशेष की रक्षा रखनेवाले वादी के ऊपर हेत्वन्तर निग्रह स्थान उठा दिया जाता है, "अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तर" यह गौतमसूत्र है जिस प्रकार किसी ने अनुमान कहा कि शब्द अनित्य है। क्योकि उसका बाह्य इन्द्रियद्वारा प्रत्यक्ष होता है, किन्तु नित्य मानी गयी शब्दत्व जातिका भी बाह्य इन्द्रिय करके प्रत्यक्ष होता है। अत: प्रतिवादीने शब्दत्व जाति करके व्यभिचार उठा दिया ऐसी दशा मे वादी "सामान्यवत्वे सति" यह विशेषण लगा देता है सामान्य मे पुन: दूसरा सामान्य नही टिकता है, अत: शब्दत्व सामान्य सामान्यवान् नही है, यो व्यभिचार दोष तो टल गया किन्तु वादी का हेत्वन्तर नामक निग्रह-स्थान होगया। इस प्रकार हम जैनो के ऊपर यह हेत्वन्तर निग्रहस्थान नही लागू होता है क्योकि हमने हेतु मे कोई विशेष अंश नही जोड़ दिया है "कालवर्तनाभिन्नत्वे सति" इतना कार्यत्व हेतु का विशेषण तो ग्रन्थकार के अभिप्राय में पहिले ही से था जैसे कि "पर्वतो वन्हिमान् धूमात्" यहा "संयोग सम्बन्धेन" यह विशेषण तो अनुमान प्रयोक्ता को प्रथम से ही अभिप्रेत है। उसका शब्द से कहने की कोई आवश्यकता नही है, अन्यथा समवाय सम्बन्ध से धूम अपने अवयवो में रहा वहा वन्हि के नहीं वर्तने से व्यभिचार दोष आजाता। प्रकरणप्राप्त कार्यत्व हेतु मे कोई नवीन विशेषण लगाने का इच्छा नही की गई है।

नन्वेवं कालवृत्तेरकार्यत्वं तया व्यभिचाराभावादनर्थकं विशेषणोपादानमिति चेन्न, पर्यायार्थादेशात्कार्यत्वस्य तत्र भावात्तया व्यभिचारप्रसंगात् तत्परिहारार्थं विशेषणोपादानस्यानर्थकत्वायोगात्। ततो वर्तनोपकारः कालसत्तां साधयत्येव।

पुन: कोई पण्डित अनुनय करते है कि कालकी वर्तना जब कार्य ही नही है तो कार्यत्व हेतु के नही ठहरने पर उस कालवृत्तिकरके व्यभिचार होजाने का अभाव है, अत: "अकाल वृत्तित्वे सति इस विशेषणका हेतु दलमे उपादान करना व्यर्थ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योकि पर्यायार्थिक नय करके कथन करने से उस कालवर्तनामे कार्यत्व हेतुका सद्भाव है। पर्यायार्थिकनयसे सम्पूर्ण पदार्थ कार्य हैं अत: उस कालवर्तना करके व्यभिचार होजानेका प्रसंग आजाता है, उस व्यभिचार दोष का परिहार करने के लिये अकालवृत्तित्वे सति इस विशेषण के ग्रहण करने को व्यर्थपन का अयोग है। यानी विशेषण लगाना सार्थक है। तिस कारण मे सिद्ध होता है कि वर्तना नामका उपकार यह ज्ञापक हेतु उस अतीन्द्रिय परमार्थ काल की सत्ता को साध ही देता है।

कः पुनः परिणामः ? द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः तत्र विस्रसापरिणामोनादिरादिमांश्च । चेतनद्रव्यस्य तावत्स्वजातेश्चेतनद्रव्यत्वाख्याया अपरित्यागेन जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वादिरनादिरौपशमिकादिः पूर्वाकारपरित्यागाजहद्वृत्तिरादिमान् स तु कर्मोपशमाद्यपेक्षत्वादपौरुषेयत्वाद्वैस्रसिकः । अचेतनद्रव्यस्य तु लोकसंस्थानमदराकारादिरनादिरिन्द्रधनुरादिरादिमान् पुरुषप्रयत्नानपेक्षत्वादेव वैस्रसिकः ।

वर्तना का व्याख्यान हो चुका अब महाराज यह बताओ कि सूत्र मे वर्तना के पश्चात् कहा गया परिणाम फिर भला क्या पदार्थ है ? इसका समाधान करते हुये ग्रन्थकार कहते है कि स्वकीय जाति का परित्याग नही करके द्रव्यका प्रयोग और विस्रसा स्वरूप विकार होजाना परिणाम है द्रव्य का जीवके प्रयत्नसे हुआ विकार तो प्रयोगस्वरूप परिणाम है और उन जीवप्रयत्नो की नही अपेक्षा करके अन्य अन्तरग बहिरग कारणोसे विस्रसा स्वरूप परिणाम होता है । उन दोनो प्रकार के परिणामो मे विस्रसा नामक परिणाम दो प्रकार है एक अनादि और दूसरा आदिमान् यानी सादि है । तिनमे चेतन द्रव्यका तो चेतनद्रव्यत्व नामक अपनी निज जातिका नही परित्याग करके होरहा जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व, ज्ञत्व, आदि स्वरूप अनादि परिणाम है । अर्थात्--चेतन जीव द्रव्य अनादि काल से जीवत्व आदि परिणामो को धार रहे है । जो भव्य जीव हैं वे अनादिकाल से विना ही प्रयत्न के भव्यत्व रूप परिणमन मे लवलीन है और जो जगत् मे जघन्य युक्तानन्तप्रमाण अभव्य जीव है पुरुषार्थ विना ही अनादि से अभव्यत्व परिणति मे तत्पर होरहे है, जीवत्व परिणाम तो सबका अनादि, अनन्त है तथा चेतन द्रव्य के औपशमिक, क्षायोपशमिक आदिक परिणाम तो आदिमान हैं क्योकि उपशमसम्यक्त्व, मतिज्ञान आदि परिणतियो मे पूर्व आकारोका परित्याग और अजहद्वृत्ति यानी ज्ञानत्वेन या जीवत्वेन ध्रौव्य अंश बना रहता है, कर्मके उपशम आदि की अपेक्षा होनेसे इन परिणतियो मे जीव का पुरुषार्थ कोई प्रधान हेतु नही माना गया है, वे औपशमिक आदि भाव तो कर्मों के उपशम, क्षयोपशम, आदि की अपेक्षा रखने वाले होने से जीव के पुरुषार्थ करके नही उपजने के कारण वैस्रसिक समझे गये है यो चेतन द्रव्य के अनादि और सादि वैस्रसिक परिणामो को उदाहरण सहित कह दिया है । अचेतन द्रव्य के तो लोकको रचना, सुदर्शन मेरु को रचना सूर्य चन्द्रमाओं की रचना, आदि परिणाम अनादि होरहे वैस्रसिक हैं और इन्द्रधनुष बादल आदिक अनेक परिणाम आदिमान् है इनमे पुरुषप्रयत्न की अपेक्षा नही है, इस कारण ये अचेतन पुद्गल द्रव्यके वैस्रसिक परिणाम कहे जाते है ।

प्रयोगजः पुनर्दानशीलभावनादिश्चेतनस्याचार्योपदेशलक्षणपुरुषप्रयत्नापेक्षत्वात्, घटसंस्थानादिरचेतनस्य कुलालादिपुरुषप्रयोगापेक्षत्वात् धर्मास्तिकायादिद्रव्यस्य तु वैस्रसिकोऽसंख्येयप्रदेशित्वादिरनादिः परिणामः । प्रतिनियतगत्युपग्रहहेतुत्वादिः आदिमान । प्रयोगजो यन्त्रादिगत्युग्रहहेतुत्वादिः पुरुषप्रयोगापेक्षत्वात् ।

दूसरा प्रयोग से जन्य परिणाम फिर चेतन द्रव्य का तो दान करना, शील पालना, भावना भाना, अध्ययन करना, संयम पालना आदिक हैं क्योकि आचार्य महाराज के उपदेशस्वरुप पुरुष प्रयत्न

की अथवा जीवपुरुषार्थकी अपेक्षा रखकर वे परिणाम उत्पन्न हुये हैं तथा अचेतन द्रव्य पुद्गलका-प्रयोगजन्य परिणाम तो घट की रचना, पट कीरचना, आदि हैं क्योंकि कुम्हार, कोरिया, आदि पुरुषों के प्रयोग की इनकी उत्पत्ति में अपेक्षा रहती है हां अचेतनद्रव्यों मे धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का वैस्रसिक अनादि कालीन परिणाम तो असंख्येयप्रदेशीपना, नित्यपना, अवस्थितपना, रूपरहितत्व आदि हैं, हां प्रतिनियत होरहे अश्व आदि की गति मे अनुग्रह करने का हेतुपन या वृक्षों की स्थिति करने में अनुग्राहकपन आदिक तो आदिमान् वैस्रसिक परिणाम हैं धर्मास्तिकाय आदिके इन परिणामोंकी उत्पत्ति मे किसी जीवके प्रयत्नकी आवश्कता नहीं है। हा धर्मास्तिकाय आदि अचेतन द्रव्योके प्रयोगजन्य परिणाम तो इस प्रकार हैं कि छापने, सीने आदि के यंत्र (मशीनें) बैलगाड़ी, आदि के गति उपग्रह का हेतुपना धर्म का अथवा चलतेहुये घोडे के ठहरने पर स्थिति का अनुग्राहकपन अधर्म द्रव्यका, ठोकी जारही कील को अवगाह देना आकाश का, व्यायाम द्वारा शरीर की वर्तना काल का अनुग्रह है क्योंकि इन परिणतियों के उपजने में जीवो के प्रयोगो की सहकारित्वेन अपेक्षा है।

समर्थोपि बहिरंगकारणापेक्षः परिणामत्वे सति कार्यत्वात्, व्रीह्यादिवदिति यत्कारणं बाह्यं स कालः।

ये कहे जा चुके वैस्रसिक और प्रयोगजन्य विकार यद्यपि समर्थ हैं यानी अपने उपादान कारण उस द्रव्य को अन्तरंग कारण मानते हुये उपजाते हैं फिर भी विकार (पक्ष) वहिरंग कारण की अपेक्षा रखता है (साध्य) परिणाम होते सन्ते कार्य होने से (हेतु) धान चावल, मूंग आदि के समान अर्थात्—जैसे चावल या मूंग में पकने की शक्ति अन्तरंग में विद्यमान है तथापि जल, अग्नि, आतप, आदि वहिरंग कारण मिलने पर ही उनका परिपाक होता है। यहां प्रकरण मे जो उनका वहिरंग कारण है, वही काल द्रव्य है यह समझाना है।

परिणामोऽसिद्ध इति चेन्न, बाधकाभावात् परिणामस्याभावः सत्त्वासत्त्वयोर्दोषोपपत्तेरिति चेन्न, पक्षान्तरत्वात्। न हि सन्नेव बीजादावंकुरादिः परिणामस्तत्परिणामत्वविरोधाद्बीजस्वात्मवत्। नाप्यसन्नेव तत एव खरविषाणवत्। किं तर्हि? द्रव्यार्थादेशात् सन् पर्यायार्थादेशादसन् न चोभयपक्षभावी दोषोऽत्रावतरति सदसदेकांतपक्षाभ्यामनेकांतपक्षस्यान्यत्वात् हिमकत्वपारदारिकत्वाभ्यामहिंमकापारदारिकत्ववत् वियुक्तगुडशुंठीभ्यां तत्संयोगवद्वा जात्यंतरत्वाच्च रसांतरसंभवात्। एतेन विरोधादयः परिहृताः दृष्टव्याः।

यहा कोई कूटस्थनित्यवादी पण्डित आक्षेप करता है कि द्रव्यों का परिणाम होना सिद्ध नही होपाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योंकि परिणामों के सद्भाव का कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अनेक घट, पट, पुस्तक, क्रोध, मतिज्ञान आदि परिणामों का साक्षात्कार होरहा है। पुन. आक्षेपकार पण्डित कहता है कि परिणाम का जगत् में अभाव है क्योंकि सद्भाव मानने पर और असद्भाव मानने पर अनेक दोष उपस्थित होजाते है। देखिये बीज अंकुर-स्वरूप करके परिणत माना जाता है, यहा हम कूटस्थ-वादी जैनो से पूछते हैं, कि यदि अंकुर अवस्था में बीज है। तब तो अंकुर का अभाव होगया। जैसे कि पहिले बीज अवस्था मे अंकुर नही था, दो अवस्थाये एक साथ नही ठहर पाती हैं। यदि अंकुरमें बीज का असत्व माना जाना जायगा तब तो अंकुर रूप से बीज की परिणति

नहीं घटित होती है। क्योंकि अंकुर में बीजपन स्वभाव का अभाव है, अतः सद्भाव या असद्भाव दोनों पक्षों मे दोष खड़ा होजाता है ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि सर्वथा सद्भाव और सर्वथा असद्भाव इन दो पक्षों से निराला तीसरा कथंचित् सदसत्वका पक्ष हमने ग्रहण किया है। बीज भविष्यमें अंकुर होनेवाला है। बालक आगे जाकर युवा होजायगा यहां हम बीज आदिमें अंकुर आदि परिणामों को सर्वथा विद्यमान होरहे ही नहीं मानते हैं। यदि बीज अवस्था में भी अंकुर अवस्था मान ली जाय तो अंकुर को उस बीज का परिणाम होने का विरोध होजावेगा जैसे कि बीज की निज आत्मा का परिणाम बीज ही है, अंकुर नही। दुग्ध काल मे अविद्यमान होरहा दही तो दूध की पर्याय कही जा सकती है, विद्यमान दूध की स्वात्मा ही तो दूध का विपरिणाम नही है. तथा बीज आदिक मे सर्वथा असत् ही मान लिया गया भी अंकुर आदिक उसका परिणाम नही होसकता है। तिस ही कारण मे यानी उस बीज के परिणाम होजाने का अंकुर को विरोध आजाने से (हेतु) जैसे कि बीज मे सर्वथा अविद्यमान होरहा खरविषाण बीज का परिणाम नही है। यदि यहा कोई यो पूछे कि परिणामी में सद्भूत माना जा रहा भी परिणाम नही है, और परिणामीमें अविद्यमान होरहा भी परिणाम उसका परिणाम नही है तो परिणामी मे कैसा क्या होरहा परिणाम उसका परिणाम कहा जायगा ? बताओ। इसके उत्तर मे हम जनो को यही कहना है। कि द्रव्यार्थिक नय द्वारा कथन करने से परिणामी मे परिणाम सत है। तभी तो कारण मिलने पर परिणामी झट उस परिणाम स्वरूप परिणत होजाता है। और पर्यायार्थिक नय द्वारा कथन करने से परिणामी मे परिणाम का सद्भाव नही है, तभी तो उस असद्भूत परिणाम को उपजाने के लिये कारणकूट जोड़ना पड़ता है।

भावार्थ—परिणाम होने का द्रव्य सतत विद्यमान है, किन्तु वह पर्याय विद्यमान नही है। धार्मिक पुरुष पर्वके दिनोमे एकाशन करता है, रोटी, दाल, दूध पानी आदि खाद्य पेय द्रव्यों मे आहार वर्गणाये विद्यमान हैं। उन खाद्य पदार्थों की उदराग्नि, पर्याप्ति, आदि करके कुछ देर मे मास, रक्त, अस्थि, मल, मूत्र, स्वरूप परिणति होजावेगी किन्तु भोजन करते समय वह मास, रक्त, आदि पर्याये खाद्य पदार्थों में विद्यमान नही है, यही सांख्य सिद्धान्त और जैन सिद्धान्त में अन्तर है अत उस व्रती के व्यवहार चारित्र मे कोई दोष नहीं लगता है। व्यवहार चारित्र की भित्ति पर्यायार्थिक नय अनुसार उनउन विशेष पर्यायों पर डटी हुई है, द्रव्यार्थिक नय का विषय यहां गौण पड़ जाता है, आहारवर्गणा ही तो रक्त, मांस, आदि रूप परिणति करने वाली है, आकाशकी रोटी, दाल, रस, रक्त आदि स्वरूप परिणति नही होसकती है।

स्वस्त्री-सन्तोष या अचौर्यव्रत भी पर्यायदृष्टि से ही पलते हैं, अन्यथा अन्य भी अनेक स्त्रिया भूत पूर्व जन्मोंमे व्रतीकी वल्लभाये बन चुकी हैं। दूसरोंका धन भी पूर्व जन्मोमे व्रती का होचुका होगा तब तो उन के ग्रहण मे दोष नहीं होना चाहिये। बात यह है कि सर्वथा सत् पक्ष और सर्वथा असत् पक्ष इन दोनो पक्षो मे होने वाले दोष का यहा कथंचित् सत्त्वासत्व पक्ष मे अवतार नही होपाता है। क्योंकि सत् एकान्त का पक्ष और असत् एकान्त का पक्ष इन दोनों पक्षो से कथंचित् सदसत् इस अनेकान्त पक्ष का भेद भाव है जैसे कि हिंसकपन, और परदारा-सेवीपन दोषों से अहिंसकपन और परदारात्यागीपन गुण विभिन्न है। अर्थात्—कतिपय हिंसक जीव भले ही परदारा-सेवी नहीं होंय क्योंकि हिंसक के क्रूर परिणाम होते हैं और परदार-सेवन मे स्नेहपुंज की आवश्यकता है। अथवा कतिपय परदार-सेवी जीव भले ही हिंसक नहीं होय क्योंकि हिंसकके लिये क्रूर भावो की आवश्यकता होजाती

है। कम से कम जिस परस्त्री से उनका स्नेह है, उसकी हिंसा करना उनको अभिप्रेत नही है। तथापि कोई कोई दुष्ट जीव परदारा-सेवी होते हुये भी हिंसक होरहे हैं। परस्त्री करके अन्य पुरुष के ऊपर स्नेह करने की शंका होजाने पर वे उस परदारा की हिंसा तक कर देते है, पर-पुरुष-रत स्त्रिया भी अपने रसिक को मार डालती सुनी गयी है। किन्तु जो धर्मात्मा जीव सुदर्शन सेठ के समान है, हिंसक नही है, और परदार-सेवी भी नही है वह उन हिंसक और पारदारिक दूषित पुरुषो से तीसरी ही जाति का सज्जनोत्तम है।

दूसरा दृष्टान्त यो समझिये कि एक दूसरेसे पृथक् भूत होरहे अकेले गुड और अकेली सोंठ के सयोग से उपजा हुआ अशुद्ध द्रव्य तीसरे ही प्रकारका है, अकेला गुड या सोठ जिस रोग को दूर नही कर सकते है उस विशेष जाति की खासी को मिला लिये गये गुड और सोठ मिटा देते है। क्योकि दोनो की मिलकर पुन तीसरी ही जाति की न्यारी परिणति होजाती है। अकेले अकेले गुड या सोठ के रस से विले हुये गुड सोठ का रस तीसरी जाति का उपज जाता है, इसी प्रकार कथंचित् सदसत्व पक्ष मे कोई उभय दोष नही प्राप्त होता है। इस उक्त कथन करके अनेकान्त पक्ष मे विरोध आदिक दोषो का भी परिहार कर दिया जा चुका देख लेना चाहिये अर्थात्—विरोध, वैयधिकरण्य, सशय, संकर व्यतिकर अनवस्था, अभाव, अप्रतिपत्ति ये दोष अनेकान्त पक्ष मे नही आते है। उभय दोष के समान विरोध आदि दोषो का उपद्रव भी द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, नामक सामान्यविशेष या चित्रज्ञान, संयुक्त गुड सोठ, आदि दृष्टान्ता करके दूर भगा दिया जाता है।

किं च परिणामस्य प्रतिषेधो न तावत्सतः सत्त्वादेव परिणामप्रतिषेधवत् सतोपि प्रतिषेधे परिणाम—प्रतिषेधस्यापि प्रतिषेधप्रसंगात् प्रतिषेधाभावः। अथ प्रतिषेध. सत्वान्न प्रतिषिध्यते तत एव परिणामोपि न प्रतिषेद्धव्य इति स एव प्रतिषेधाभावः नाप्यसतः प्रतिषेधः असत्वादेव नह्यसन्प्रतिषेधमियान्निर्विषयत्वप्रसंगात्।

एक बात यह भी है कि परिणाम का जो प्रतिषेध किया जाता है, उसमे हम दो पक्ष उठाते है कि सद्भूत परिणाम का प्रतिषेध किया जाता है ? अथवा असत् होरहे परिणाम का निषेध किया जाता है ? बताओ ; प्रथम पक्ष अनुसार विद्यमान होरहे सत् परिणाम का तो प्रतिषेध नही होसकता है। कारण कि वह परिणाम सत् ही है जैसे कि कूटस्थ-वादियो के यहाँ परिणाम के सद्भूत माने गये प्रतिषेध का निषेध नही किया जा सकता है। जब कि परिणाम का प्रतिषेध विद्यमान माना गया है तो भला उसका निषेध कैसे होसकता है ? यदि सद्भूत पदार्थ का भी निषेध कर दोगे तो परिणाम के भी निषेध होजाने का प्रसग आवेगा, ऐसी दशामे प्रतिषेध हो ही नही सकता है ; दो अभाव भाव रूप होजाते हैं। निषेध का निषेध कर दियाजाय तो विधि सिद्ध होजाती है। यदि कूटस्थवादी अब यो कहें कि परिणाम का प्रतिषेध तो विद्यमान है। इस कारण नही निषेधा जाता है ग्रन्थकार कहते हैं, कि तिस ही कारण परिणाम भी प्रतिषेध करने योग्य नही है। इस प्रकार वही परिणाम के प्रतिषेध का अभाव होगया यानी परिणामका सद्भाव बन गया। तथा द्वितीय पक्ष अनुसार असत् होरहे परिणाम का भी प्रतिषेध असत् होनेके कारण ही नही होसकता है "संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्" प्रतिषेध्यके बिना उसका प्रतिषेध नहीं होसकता है। सर्वथा असत् होरहा पदार्थ कभी प्रतिषेध को प्राप्त नही होसकता है, अन्यथा प्रतिषेधको निर्विषयपन का प्रसग आवेगा। जैसे वस्तुभूत विषय के नही होने

से स्वप्नज्ञान या भ्रान्तज्ञान निर्विषय हैं, उसी प्रकार प्रतिषेध के षष्ठयन्त प्रतियोगी विषय का अभाव होजानेसे प्रतिषेध निर्विषय होजायगा।

खरविषाणप्रतिषेधः कथमिति चेत्, न कथमपि सत्त्वाद्येकांतवादिनामिति ब्रूमः। तदनेकांतवादिनां तु क्वचित्कदाचित्कथंचित् सत एवान्यत्रान्यदान्यथा प्रतिषेध इति सर्वमनवद्यम्।

ग्रन्थकार के प्रति किसी का प्रश्न है कि तब तो खरविषाण का प्रतिषेध किस प्रकार कर सकोगे ? यहाँ तो प्रतिषेधका प्रतियोगी कोई वस्तुभूत विषय नही है, यस्याभाव: स प्रतियोगी। यो कहने पर तो आचार्य कहते है,कि सर्वथा सत्त्व या सर्वथा असत्त्व आदिक एकान्तका आग्रह कर रहे वादियो के यहा किसी भी प्रकार से खरविषाण का निषेध नही होसकता है। ऐसा हम ढिढोरा पीट कर स्पष्ट कह रहे है, हा उन कथचित् सत्त्व आदि का अनेकान्त मानने वाले सिद्धान्तियोके यहा तो कही न कही, कभी न कभी, किसी भी प्रकार से, सत् होरहे ही पदार्थका अन्य स्थल पर अन्य काल मे दूसरे प्रकारो से निषेध किया जा सकता है। यो कहने पर हम स्याद्वादियो के यहा सम्पूर्ण व्यवस्था निर्दोष सिद्ध होजाती है। बात यह है कि जगत् मे खर भी है बैल, भैस आदि के सिर पर विषाण भी विद्यमान है केवल खरके सिर पर विषाणोका अभाव साध दिया जाता है। अष्टसहस्रीमे अद्वैत शब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षो नञ्पूर्वाखण्डपदत्वादहेत्वभिधानवत्" इस अनुमान द्वारा बढिया निरूपण कर दिया गया है। श्री अकलक देव ने तो मन्डूक की चोटी अथवा खर के विषाण को भी अनेक युक्तियों से पुष्ट करके स्वकीय स्याद्वाद वाणी का वैभव दरशाया है।

सर्वथैकांतस्य प्रतिषेधः कथमिति चेत, कोऽयं सर्वथैकांतः। इदमेवेत्थमेवेति वा धर्मिणो धर्मस्य चाभिमननमिति चेत, तर्हि तस्य सत एव निर्विषयसाधनमेव प्रतिषेधः। स्वरूपप्रतिषेधे तु सर्वथा प्रतीतिविरोधः स्यात। दर्शनमोहोदये सति सदाद्येकांताभिनिवेशस्य मिथ्यादर्शनविशेषस्य प्रत्यात्मवेद्यत्वात्। निर्विषयत्वसाधने तु तस्य न प्रतीतिबाधा प्रतीयमानस्य वस्तुनि सत्त्वाद्यंशस्य धर्मत्वात्। नाय सर्वथा सत्त्वाद्येकांताभिनिवेशस्य विषयो वस्त्वंशः सर्वथा विरोधात्।

पुन: कोई प्रश्न करता है कि आप जैन सर्वथा एकान्त का भला प्रतिषेध किस प्रकार करोगे क्योकि सर्वथा एकान्त को सद्भूत मानने पर उसकी विधि हुई जाती है। एकान्तको जानने वाला ज्ञान प्रमाण होजायगा, असत् एकान्तका आप निषेध होना इष्ट नही करते है। यह विकट समस्या उपस्थित हुई। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते है,कि भाई यह सर्वथा एकान्त भला क्या पदार्थ है ? बताओ, यह यही है, अथवा इस ही प्रकार है, यो धर्मी अथवा धर्मको कदाग्रह पूर्वक माने जाना यदि सर्वदा एकान्त इष्ट है, यो कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो उस सत् भूत ही सर्वथा एकान्त के अभिनिवेश को विषयरहित साधन कर देना ही उसका प्रतिषेध है यानी सर्वथा एकान्त के ज्ञान का कोई वस्तुभूत विषय नही है जैसे कि स्वप्नज्ञान तो परमार्थ है किन्तु उसका विषय वस्तुभूत नही है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टियो के यहा सर्वथा एकान्त का आग्रह है किन्तु वह कोरा मन्तव्य निर्विषय ही है।

एकान्त के मन्तव्य या भ्रान्त ज्ञानों के स्वरूप का निषेध कर देने पर तो सभी प्रकार प्रतीतियों से विरोध आवेगा स्वसम्वेद्य होरहे मिथ्यादर्शन या मिथ्याज्ञानका अपलाप नही किया जा सकता है। असत्य-भाषी पुरुष को मार डालना नही चाहिये, हाँ उसको दूषित या अपराधी कह सकते हो क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्म का उदय होने पर प्रत्येक आत्मा मे सत्, असत्, आदि एकान्तो के अभिनिवेश स्वरूप मिथ्यादर्शन विशेष का वेदन किया जा रहा है। उस स्वसम्वेद्य पदार्थ का निषेध नही किया जा सकता है, हाँ उस एकान्त आग्रह को विषय-रहित साधने पर तो प्रतीतियो मे बाधा नही आती है। वस्तु में प्रतीयमान होरहे सत्व, असत्व, आदि अंशो को धर्म मान लिया जाता है उनमे सर्वथापन का निषेध यों करा दिया जाता है, कि सभी प्रकारो मे सत्व या असत्व आदिक एकान्तों के अभिनिवेश का विषय होरहा यह वस्त्वंश सर्वथा नही है। क्योंकि विरोध आजावेगा, हां कथञ्चित् वह वस्त्वंश है। अर्थात्—जो सर्वथा है वह वस्तु का अंश नही और जो वस्तु का अंश है। वह सर्वथा एकान्त स्वरूप नही। हां कोई भी सत्त्व आदिक बडी सुलभता से कथचित् वस्तु के अंश होसकते हैं, कोई विरोध नही आता है।

एतेन प्रधानादिप्रतिषेधो व्याख्यातः प्रधानाद्यभिनिवेशस्य निर्विषयत्वसाधनात्। ततो नैकांतेनासतः प्रतिषेध इति सत एव परिणामस्य कथंचित्प्रतिषेधोपपत्तेः सर्वथा नाभावः।

इस उक्त कथन करके सत्व गुण, रजोगुण, तमोगुण, स्वरूप प्रधान या नित्य, एक, परमब्रह्म जगत् कर्त्ता ईश्वर आदि के प्रतिषेधोका भी व्याख्यान कर दिया समझलेना चाहिये। साख्य या अद्वैतवादी अथवा नैयायिक पण्डितो को प्रधान आदि अपने इष्ट तत्वों का अभिनिवेश होरहा है उस अभिनिवेश को निर्विषय सिद्ध कर देने से ही प्रधान आदिके प्रतिषेध का तात्पर्य सध जाता है, मंत्र द्वारा सर्प को निर्विष कर देना अथवा उनसे कथचित् बचे रहना ही सर्पका निषेध है, अहिंसक धार्मिक पुरुष सर्प को मारते नही हैं। तिस कारण से सिद्ध हुआ कि एकान्त रूप से असत् पदार्थका प्रतिषेध नही बनता है इस कारण सद्भूत होरहे ही परिणाम का कथचित् क्वचित् प्रतिषेध होजाना बन पाता है, अतः सभी प्रकारो से परिणाम का अभाव नही हुआ, प्रत्युत परिणाम की सिद्धि कर दी गयी है।

स्यान्मतं, नास्ति परिणामोन्यानन्यत्वयोर्दोषादिति नोक्तत्वात्। उक्तमत्रोत्तरं, न वयं बीजादंकुरमन्यमेव मन्यामहे तदपरिणामत्वप्रसंगात् पदार्थान्तरवत्। नाप्यनन्यमेवांकुराभावानुषंगात्। किं तर्हि ? पर्यायार्थादेशाद्वीजादंकुरमन्यमनुमन्यामहे द्रव्यार्थादेशादनन्यमिति पक्षान्तरानुसरणाद्दोषाभावाच्च परिणामाभावः।

कूटस्थ-वादियों का सम्भवतः यह भी मन्तव्य होवे कि परिणाम (पक्ष) नही है (साध्य) परिणामी से परिणाम को भिन्न मानने पर अथवा अभिन्न मानने पर दोनो पक्षो मे दोष प्राप्त होते हैं अर्थात्-यदि बीजसे अंकुर को भिन्न माना जायगा तो बीज का परिणाम अंकुर नही होसकता है जैसे सह्य पर्वत का परिणाम विन्ध्य नही है तथा यदि बीजसे अंकुर को अभिन्न माना जायगा तो भी बीज की परिणति अंकुर नहीं होसकती है, जैसे घट की परिणति घट ही नही है, ऐसी दशामें बीजसे अंकुर कोई न्यारा पदार्थ नहीं ठहरता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योंकि इसका समाधान हम कह चुके हैं। इस विषय में यों उत्तर कहा जा चुका है कि हम जैन बीजसे अंकुर को सर्वथा भिन्न ही नहीं मान रहे हैं क्योंकि बीजसे अंकुर को भिन्न मानने पर अंकुर को उस बीज का परिणाम नही

होने का प्रसंग आवेगा जैसे कि सर्वथा भिन्न कोई दूसरा पदार्थ इस प्रकृत पदार्थ का परिणाम नही है, दूधका परिणाम ईंट नही है और मिट्टीका परिणाम दही नहीं है। तथा हम जैन बीजसे अंकुर सर्वथा अभिन्न ही होय ऐसा भी नही मानते हैं, यों मानने पर अंकुरके अभावका प्रसंग आवेगा। बीज से बीज ही होता रहेगा अंकुर भी बीज ही बन जायगा।

प्रतिवादी यदि यो पूछे कि परिणामी से परिणाम को भिन्न भी नहीं कहते हो और आप जैन अभिन्न भी नही कहते हो तो फिर आप कैसा क्या कहते हो ? इस प्रश्न पर हम जैनोंका समाधान यह है कि पर्यायार्थिक नयके कथनानुसार बीजसे अंकुरको हम भिन्न मानरहे हैं अंकुरकी उत्पत्तिसे पहिले बीज मे अंकुर पर्याय नही थी पीछे उपजी अत बीज पर्यायसे अंकुर पर्याय न्यारी है, हां द्रव्यार्थिक नय अनुसार कथन करने मे बीज से अंकुर अभिन्न है जो भी पुद्गल द्रव्य बीज रूप परिणत हुआ है उसी पुद्गल द्रव्यकी अंकुर स्वरूपसे परिणति होने वाली है, द्रव्य वह का वही है, इस प्रकार कथंचित् पर्याय दृष्टि से भेद और द्रव्य दृष्टि से अभेद इस तीसरे पक्ष के अनुसरण करने से स्याद्वादियो के यहां दोषोका अभाव है, अतः परिणामका अभाव नही होसका,परिणामकी सिद्धि होजाती है। पहिले सर्वथा भेद और दूसरे सर्वथा अभेद इन दो पक्षो से निराले 'कथंचित् भेदाभेद' इस तीसरे पक्ष का आलम्बन ले रक्खा है।

व्यवस्थिताव्यवस्थितदोषात्परिणामाभाव इति चेन्नानेकांतात्। न हि वयमंकुरे बीजं व्यवस्थितमेव ब्रूमहे विरोधादंकुराभावप्रसंगात्। नाप्यव्यवस्थितमेवांकुरस्य बीजपरिणामत्वाभावप्रसंगात् पदार्थान्तरपरिणामत्वाभाववत्। किं तर्हि ? स्याद्बीजं व्यवस्थितं स्यादव्यवस्थितमंकुरे व्यांकुर्महे। न चैकांतपक्षभावी दोषो ऽनेकांतेऽवस्तीत्युक्तप्राय। स्याद्वादिनां इह बीजशरीरादेव वनस्पतिकायिको बीजोंकुरादिः स्वशरीरपरिणाममागभिमतो यथा कललशरीरे मनुष्यजीवोऽर्बुदादिस्वशरीरपरिणामभागिति न पुनरन्यथा सः। तथा सति—

पुनः कोई पण्डित आक्षेप करते है कि व्यवस्थित और अव्यवस्थित पक्ष मे दोष जानने से परिणाम कोई पदार्थ नही ठहरता है अर्थात्–बीज का अंकुरपने करके परिणाम होने पर हम पूछते हैं कि अंकुर मे बीज व्यवस्थित है ? अथवा व्यवस्थित नही है ? बताओ'। यदि अंकुर मे बीज प्रथम से ही व्यवस्थित है तब तो बीजकी व्यवस्था होजानेके कारण अंकुर का अभाव होजायगा, एकत्र बीज और अंकुर दोनो अवस्थाओके एक साथ ठहरे रहनेका विरोध है और यदि अंकुरमे बीज अव्यवस्थित माना जायगा तब तो बीज की अंकुररूप से परिणति नही होसकेगी। सर्वथा भिन्न होरहे अव्यवस्थित रूप पदार्थ करके यदि कोई परिणमन करने लगेगा तो जल अग्नि स्वरूप करके अथवा पुद्गल जीवरूपकरके परिणत होजावेगा जो कि इष्ट नही है, अत. जैनो के यहा परिणाम पदार्थ का अभाव होगया।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योंकि व्यवस्थित,अव्यवस्थित पक्षोमे अनेकान्त माना जा रहा है हम जैन अंकुरमे जीवको व्यवस्थित ही नही कह रहे है जिससे कि दो अवस्थाओका विरोध होजाने से अंकुर के अभावका दोष प्रसग होजाय। तथा अंकुरमे बीजको अव्यवस्थित भी नही बखान रहे हैं जिससे कि अंकुर को बीज के परिणामपनके अभाव का प्रसंग होजावे जैसेकि सर्वथा भिन्न दूसरे पदार्थ का परिणाम उससे सर्वथा भिन्न कोई निराला पदार्थ नही होता है, यानी धर्म में अधर्म द्रव्य

अव्यवस्थित है, अतः धर्म द्रव्य का परिणाम अधर्म द्रव्य या स्थितिहेतुत्व नही होसकता है तो हम जैन क्या कहते हैं ? इस प्रश्न पर हमारा समाधान यह है कि अंकुरमे बीज कथंचित् व्यवस्थित है और कथंचित् अव्यवस्थित है,इस प्रकार हम जिज्ञासुओको व्युत्पत्ति करा रहे हैं। एकान्तपक्षो मे आने वाले दोष अनेकान्तों मे प्रवेश नही पाते है. इस बात को हम कई बार पूर्व प्रकरणो में कह चुके हैं।

निर्णीत सिद्धान्त यह है कि स्याद्वादियो के यहा बीज, शरीर, पुष्प आदिक ही से वनस्पति काय को धारने वाला सजीव बीज उपजताहै और वह बीजात्मा अंकुर, फल, आदि स्वरूप होरहा अपने शरीर के अनुसार स्वरूप परिणाम को धारने वाला अभीष्ट किया गया है जैसे कि मातृ गर्भ में प्रथम मास के कलल शरीर मे मनुष्य जीव उपज कर (जन्म लेकर) अर्बुद आदि अपने शरीर की पर्यायो को यो धारता रहता है अन्य प्रकारो से फिर वह परिणामो को नही धारता है अर्थात्–पहिले सूखा बीज जड़ है पुन वनस्पतिकायिक जाव उसमें उपज जाता है तब वह बीज अंकुर लघुवृक्ष, महावृक्ष आदि परिणामो को धार लेता है जैसे कि मातृगर्भ मे पहिले महीने कलल शरीर मे मनुष्य जाव उपज कर पुनः पेशी अर्बुद, आदि रूप करके परिणमन करता हुआ नौ महीने मे बालक शरीर होकर परिणम जाता है और तैसा होने पर जो व्यवस्था होती है उसका सुना।

> मनुष्यनामकर्मायुषोदयात्प्रतिपद्यते ।
> कललादिशरीरांगोपांगपर्यायरूपताम् ॥२६॥
> स जावत्वमनुष्यत्वप्रमुखैरन्वयैर्यथा ।
> व्यवस्थितः स्वकार्येषु परिणामेष्वशेषतः ॥३०॥
> कललादिभिः पुनः पूर्वभावैः क्रमवर्तिभिः ।
> व्यतिरिक्तैः परत्रासो न व्यवस्थित इष्यते ॥३१॥
> तथा वनस्पतिर्जीवः स्वनामायुर्विशेषतः ।
> वनस्पतित्वजीवत्वप्रमुखैरन्वयैः स्थितः ॥३२॥
> स्वशरीरविवर्तेषु बीजादिषु परं न तु ।
> पूर्वपूर्वेण भावेन तु स्थितः क्रमभाविना ॥३३॥

माता पिता के रजः और वीर्य का गर्भमे योग्य सम्मिश्रण होने पर स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव अनुसार वहाँ कोई विवक्षित जीव जन्म ले लेता है, मनुष्य गति संज्ञक नामकर्म और आयुष्य कर्म इन दोनों कर्मो का और इनके सहचारी अन्य अनेक कर्मोंका उदय होजाने से वह जीव कलल आदिक शरीर के अंगोपांग पर्याय स्वरूपो को प्राप्त कर लेता है। वह जीव कलल, घन, बाल्य, कौमार आदि अवस्थाओ मे जीवत्व मनुष्यत्व, द्रव्यत्व आदिक अन्वयो करके जिसप्रकार अपनी अपनी निज पर्यायों में पूर्णरूप से व्यवस्थित होरहा है और फिर भिन्न भिन्न होरहे एवं क्रम से विवर्त कर रहे ऐसे कलल

आदिक पूर्व पूर्व भावों करके वह जीव परले२ भावोंमें व्यवस्थित होरहा नहीं देखा जा रहा है। अर्थात् अन्वित भावों करके सम्पूर्ण परिणामो मे जीव ओत पोत होरहा है। किन्तु व्यतिरेकी पर्यायो करके पहिली पिछली पर्यायोमे कोई पर्याय व्यवस्थित नहीं है, पहिले 'यथा' का यहां 'तथा' के साथ अन्वय है उसी प्रकार वनस्पतिकायिक जीव भी अपने योग्य नाम कर्म और विशेष प्रकार की तिर्यंच आयु का उदय होने से वनस्पतिपन, जीवपन, चेतनत्व, आदि अन्वयो करके अपने शरीर के विवर्त्त होरहे बीज आदिकों मे व्यवस्थित है किन्तु क्रम से होने वाले पूर्व पूर्व भावो करके तो परले परले भावो में व्यवस्थित नहीं है। पर्यायो मे द्रव्य तो अन्वित होता है, पर्यायो मे अगली, पिछली पर्याये ओत, प्रोत नहीं घुसी रहती हैं "सर्वं सर्वत्र विद्यते" यह सांख्य का सिद्धान्त अनेक दोषो से भरपूर है।

भावार्थ—इस मनुष्य शरीर की गर्भमे ही अनेक अवस्थाएं होजाती है सुश्रुत मे लिखा हुआ है—

'प्रथमे मासि कललं जायते, द्वितीये शीतोष्णानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां सङ्घातो घन सञ्जायते, यदि पिण्ड. पुमान् स्त्रीचेत् पेशी नपुंसकञ्चेदर्बुदमिति। तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्चपिण्डका निर्वर्त्तन्तेऽङ्ग-प्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति। चतुर्थे सर्वांग-प्रत्यंग विभाग. प्रव्यक्ततरो भवति, गर्भ-हृदय-प्रव्यक्तभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति कस्मात् तत्स्थानत्वात्तस्माद्गर्भश्चतुर्थेमास्यभिप्राय-मिन्द्रियार्थेषु करोति द्विहृदया च नारी दौहृदनीमाचक्षते। पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति, षष्ठे बुद्धिः सप्तमे सर्वांग-प्रत्यंगाविभाग. प्रव्यक्ततर.। अष्टमेऽस्थिरीभवत्योज., नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतम-स्मिन् जायते।" चरक संहिता मे यो उल्लेख है "स तु सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि संमूर्छित. सर्वधातु-कलनीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्त-विग्रहः सदसद्भूताङ्गावयव, द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते पिण्डः पेश्यर्बुदं वा तत्र घन पुरुष स्त्री पेशी अर्बुद नपुंसकम्, तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वांगावयवाश्च यौगपद्यनाभिनिवर्त्तन्ते, चतुर्थे मासि स्थिरत्वमापद्यते गर्भ, पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितापचयो भव-त्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्य., षष्ठे मासि गर्भस्य बलवर्णोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, सप्तमे मासि गर्भ. सर्वैर्भावैराप्यायते सहसा, अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसहारिणीभि. संवाहिनी-भिर्मुहुरोजः परस्परत आददाते"।

वाग्भटकृत अष्टांगहृदय के शारीर-स्थान मे गर्भ की अवस्थाओं का यों निरूपण किया है।

"अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात्कललो भवेत्। गर्भः पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत्। द्वितीये मासि कललाद्घनः पेश्यथवाऽर्बुदम्। पुंस्त्रीक्लीबाः क्रमात्तेभ्य,। व्यक्तो भवति मासेऽस्य तृतीये गात्रपञ्चकम्,। चतुर्थे व्यक्ततांगानां चेतनायाश्च पंचमे। षष्ठे स्नायु शिरारोम-बलवर्णनखत्वचाम्। सर्वै.सर्वांगसम्पूर्णो भावैः पुष्यति सप्तमे। ओजोऽष्टमे संचरति माता पुत्री मुहुः क्रमात्। शस्तश्च नवमे मासि।

तात्पर्य यह है कि कलल, अर्बुद आदि गर्भ के परिणामो और जन्म के पीछे बाल, कौमार, युवत्व, आदि परिणामोमे जीवत्व, जैसे व्यवस्थित है उसीप्रकार बीज, अंकुर आदिमे वनस्पति कायि-कत्व आदि धर्म व्यवस्थित हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार परिणामो की उत्पत्ति का क्रम यही है कि पहिले शुक्रशोणितका मरण होने पर वह पुद्गलपिण्ड अचेतन रहता है पश्चात् उसमे कहीं अन्य गति से आ-कर मनुष्य जन्म लेता है। जीव के पुरुषार्थ और कर्मोंके उदय अनुसार उस पुद्गल पिण्डके मरण अव-स्था तक अनेक परिणाम होते रहते हैं इसी प्रकार अचेतन बीज मे क्षिति, सलिल, आदि योग्यकारणों

का प्रकरण मिलने पर वनस्पतिकायिक जीव वहां जन्मता है पश्चात्–उसके अंकुर, पत्ते, शाखा, उपशाखा, आदि परिणाम होते रहते हैं एकेन्द्रियजाति, तिर्यंचआयु आदि कर्मों के अधीन होरहा वह जीव बीज, अंकुर, आदि परिणामों को धारता है, अतः अनादि पारिणामिक चेतन्य द्रव्यकी अपेक्षा वह सत् है और पूर्वापर परिणामों के संक्रमण आदि की अपेक्षा असत् है। यो व्यवस्थित और अव्यवस्थित पक्षों में अनेकान्त का साम्राज्य है।

स्यान्मतं, न बीजमंकुरादित्वेन परिणमते वृद्ध्यभावप्रसंगात् यो हि यत्परिणामः स न ततो वृद्धिमान् दृष्टो यथा पयः-परिणामो दध्यादिः,बीजपरिणामश्चांकुरादिस्तस्मान्न ततो वृद्धिमान् इति बीजमात्रमङ्कुरादिः स्यादतत्परिणामो वेति। उक्तं च-"किं चान्यद्यदि तद्बीजं गच्छेदंकुरतामिह । विवृद्धिरंकुरस्य स्यात्कथं बीजादपुष्कलात् । अथेष्टं तै रसैर्भौमैरौदकैश्च विवर्धते। नन्वेवं सति बीजस्य परिणामो न युज्यते॥ आलिप्त जतुना काष्ठं यथा स्थूलत्वमृच्छति। तनु काष्ठं तथैवास्ते जतु चात्र विवर्धते॥ तथैव यत्र तद्बीजमास्ते येनात्मना स्थितं । रसाश्च वृद्धिं कुर्वंति बीजं तत्र करोति किम् ॥ इति तदेतदनालोचिततत्त्ववचनं, तद्वृद्धेरन्यहेतुकत्वात्।

परिणाम होने का निराकरण करने वालों का स्यात् यह भी मन्तव्य होवे कि बीज तो (पक्ष) अंकुर आदिपने करके नहीं परिणाम सकता है (साध्य) क्यों कि वृद्धि के अभाव का प्रसंग होजावेगा (हेतु)। देखो जो पदार्थ जिस परिणाम को धारता है वह परिणाम उस परिणामी पदार्थ मे वृद्धिवाला नही देखा गया है जिस प्रकार कि दूध का परिणाम दही या विलोडित तक्र आदिक उतने ही परिणाम वाले रहते है बढ नही जाते है, आतानवितानीभूत तन्तुओ से पट का परिणाम बढ नही सकता है (व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त) बीज का परिणाम जब अंकुर आदिक माने जा रहे है (उपनय) ति। कारण उस बीज से अंकुर आदिक वृद्धि को लिये हुये नही होने चाहिये।

इस अनुमान अनुसार बीजके परिमाणवरावरही उसके अंकुर आदि परिणाम होने चाहिये किन्तु बीजसे अंकुर,लघुवृक्ष,आदि परिणाम बहुत बढे हुये देखे जाते है अतः वे बीजके परिणाम नही होसकते हैं हमारे इस तर्क अनुसार अन्य ग्रन्थो मे भी यो कहा है कि दूसरी बात यह है कि वह बीज यदि यहा अंकुरपने को प्राप्त होजायगा तो ऐसी दशा मे उस छोटे बीज से भला अंकुर की विशेषवृद्धि किस प्रकार होसकेगी ? इस पर अब कोई यों इष्ट करे कि भूमि-सम्बन्धी और जल सम्बन्धी रसों करके वह अंकुर बढ जाता है यानी बीज मे भूमिरस और जलरस मिलजाते हैं, अतः रत्ती भर के बीज से एक तोला या एक छटाक का अंकुर बढजाता है, ऐसी दशा मे हम आक्षेपकार अनुनय करते हैं कि इस प्रकार होने पर तो बीज का परिणाम वह अंकुर होय यह उचित नही है। यो तो भूमि,जल, और बीज इन तीनो का परिणाम अंकुर कहा जा सकेगा, अकेले बीज का परिणाम अंकुर नही होसकेगा जिसप्रकार कि रोगन या लेप करने पर लाख करके चारो ओर से लीप दिया गया काठ स्थूल पन को प्राप्त होजाता है किन्तु सच पूंछो तो वह काठ तिस ही प्रकार पतला भीतर बना, रहता है, इस काठ में तो लाख बढ जाती है, रूई के भरे गूदड़ वस्त्रो का पहिनने वाला मनुष्य मोटा नही कहा जासकता है तिस ही प्रकार जहां वह बीज जिस स्वरूप से हो रहा विद्यमान है वह उतना ही बना रहेगा हां पृथिवी

आदिक के रस वृद्धि को कर लेते है उस में बीज क्या कर लेता है ? कुछ भी नही । अतः बीज का परिणाम इतना बढा हुआ अंकुर कथमपि नही होसकता है । आचार्य कहते हैं कि वह उन पण्डितो का वचन तत्त्वोंकी नही-पर्यालोचना करते हुये होरहा है, समीचीन विचार करने पर वे ऐसा नही कह सकते हैं क्योंकि बीज का परिणाम अंकुर है किन्तु उस अंकुर की वृद्धि का कारण कोई अन्य ही है, उसको यो स्पष्ट समझिये ।

यथामनुष्यनामायुःकर्मोदयविशेषतः ।
जातो बालो मनुष्यात्मा स्तन्याद्याहारमाहरन् ॥३४॥
सूर्यातपादिसापेक्षः कायाग्निबलमादधन् ।
वीर्यांतरायविच्छेदविशेषविहितोद्भवं ॥३५॥
विवर्धते निजाहाररसादिपरिणामतः ।
निर्माणनामकर्मोपष्टंभादभ्यंतरादपि ॥३६॥
तथा वनस्पतिर्जीवः स्वायुर्नामोदये सति ।
जीवाश्रयोंकुरो जातो भौमादिरसमाहरन् ॥३७॥
तप्तायस्पिंडवत्तोयं स्वीकुर्वन्नेव वर्धते ।
आत्मानुरूपनिर्माणनामकर्मोदयाद्ध्रुवम् ॥६८॥

इस कारिकामे पढे गये 'यथा' का इसके आगे सेतीसवी वार्तिकमें कहे जाने वाले 'तथा' शब्दके साथ अन्वय है । जिस प्रकार मनुष्य गति नामकर्म और मनुष्य आयुः कर्म का विशेष रूप करके उदय होजाने से मनुष्य आत्मा बालक उपज जाता है वह बालक मातृ दुग्ध, गोदुग्ध, आदि आहारका आहार लेता हुआ और बहिरंगमें सूर्य के आतप आदि की अपेक्षाको धार रहा सन्ता शरीरकी उदराग्नि अनुसार और अन्तरंगमें वीर्यान्तराय कर्मके किये गये विशेष क्षयोपशमसे उत्पन्न हुये बलका आधान करता हुआ बढ़ता रहता है तथा अपने आहार किये गये पदार्थके रस,रक्त,मांस, मेद, अस्थि मज्जा, शुक्र आदि परिणामों से और अभ्यन्तर में होरहे निर्माण नाम कर्म के उदय का उपष्टम्भ हो जाने से भी बालक बढ़ता चला जाता है, उसी प्रकार बीज मे कारणवश जन्म ले चुका वनस्पतिकायिक जीव भी अपने आयुष्य व नामकर्मका उदय होने पर जीव का आश्रय होरहा वही बीज अथवा बीज का आश्रय होरहा वह जीव भला मिट्टी, जल, आदि के रसो का आहार करता हुआ अंकुर होजाता है जैसे तपाया गया लोहे का पिण्ड सब ओर से जल को खींच कर अपने आत्मसात् कर लेता है उसी प्रकार वह बीज में बैठा हुआ जीव पृथिवी, जल-सम्बन्धी रसो के आहार को स्वीकार करता हुआ ही अंकुर रूप करके बढ़ जाता है, अन्तरंगमें अपने अनुकूल निर्माण नामकर्मका उदय भी निश्चित रूपसे अपेक्षणीय है,अन्तरंग, बहिरंग दोनो कारणो के मिलने पर कार्य-सिद्धि होती है, अन्यथा नही, अतः केवल बीज ही अंकुर

स्वरूप नही बढ गया है किन्तु जीव द्वारा आहार किये गये पृथिवी आदि के रसों अनुसार अंकुर बढ पाया है, अन्य भी अन्तरंग बहिरंग कारण अपेक्षणीय है।

ततो न वृद्धयभावोंकुरादेः। यदप्युक्तं,यो यत्परिणामश्च ततो न वृद्धिमान् दृष्टो यथा क्षीरपरिणामो दध्यादिर्न क्षीरादिति। तत्र हेतुः कालात्ययापदिष्टो धर्मिदृष्टांतग्राहक-प्रमाणबाधितत्वात्। धर्मी तावद्बीजपरिणामोंकुरादिस्ततो वृद्धिमानेव प्रतिभासमानः कथं वा ऽवृद्धिमाननुमातुं शक्यः। दृष्टांतश्च शीतक्षीरस्य तप्यमानोन्यो न क्षीरपरिणामो धर्मोद्वर्तित दधिपरिणामो वा क्षीराद्वृद्धिमनुपलभ्यमानः कथं तद्वृद्धयभावसाध्ये निदर्शनं।

तिस कारण अंकुर आदि को वृद्धि का अभाव होजाना यह दोष हम जैनो पर लागू नही है क्यो कि वीज से अतिरिक्त भी पदार्थ अकुर की वृद्धि मे कारण होरहे है और भी जो आक्षेपकार ने जो यह कहा था कि जो जिसका परिणाम है वह उससे वृद्धिको धार रहा नही देखा गया है जैसे कि जमादिये गये दूध का परिणाम दही, मथित आदिक उस दूध से बढे हुये नही पाये जाते हैं। एक सेर दूधका दही एक सेरसे अधिक परिमाण वाला नही होपाता है। इस प्रकार कहने पर तो हम जैनयो उत्तर कहते है कि उस अनुमानमे कहा गया हेतु बाधितहेत्वाभास है क्योकि धर्मी और दृष्टान्तको ग्रहण करने वाले प्रमाणो करके उसके साध्य मे बाधा प्राप्त होजाती है। देखिये यहां धर्मी तो बीज का परि-णाम होरही अकुर आदि अवस्था है किन्तु वह अंकुर आदि तो उस परिणामी बीज से वृद्धि को धार रहा ही देखा जा रहा है, ऐसी दशा में नही-वृदि को धारने वाला इस साध्य का अनुमान किस प्रकार किया जा सकता है ?

अर्थात्–"तत्परिणामत्व" हेतुसे "ततोवृद्धयभाव" इस साध्यको सिद्धि नही होसकती है जो प्रमा-ण पक्ष को जानेगा उसी समय वह साध्य में बाधा को उपस्थित कर देगा तथा दृष्टान्त भी वृद्धयभाव को नही साधने देता है। ठण्डे होरहे दूध का तपाया जारहा दूध परिणाम कोई अन्य नही है अथवा उष्णता से उद्वर्तन कर दिया गया दही परिणाम भी कोई दूध से न्यारा नही है, भले ही वह दूध से बढतो को प्राप्त होरहा नहीं देखा जा रहा है वे दधि आदि भला वृद्धिअभावको साध्य करने मेदृष्टा-न्त किस प्रकार होसकते हैं ? अर्थात्–नही। भावार्थ–बीज का परिणाम अकुर ठीक है किन्तु वह वृद्धि-युक्त देखा जा रहा है, हा क्षीर का परिणाम माना जा रहा दही भले ही बढता नही है किन्तु वह उस दूध का न्यारा परिणाम ही नहीं है, ठण्डा दूध, उष्ण दूध, दही, मथित, तक्र ये सब एक अपेक्षा दूध ही हैं, अतः परिणामी से न्यारे परिणाम के वृद्धयभाव को साधने मे दृष्टान्त नही होसकते हैं।

तत्परिणामत्वादित्यसिद्धं च साधनं परिणामाभाववादिनः। पराभ्युपगमात् तत्सिद्धौ वृद्धिसिद्धिरपि तत एव स्यात् सर्वथा विशेषाभावात। ततो वृद्धयभावात् परिणामाभावः स्याद्वादिनां प्रति साधयितुं शक्यः, परिणामाभावात् वृद्धयभावः सर्वथैकांतवादिनः प्रसिद्धयत्येव जन्माद्यभाववदिति निवेदितप्रायं।

दूसरा दोष यह भी है कि परिणामों के अभाव को कहने वाले वादियोके यहां तत्परिणामत्व यह हेतु सिद्ध नही है, अतः असिद्धहेत्वाभास भी है। पक्ष में हेतु नही ठहरता है। यदि कूटस्थ वादी

यों कहैं कि परिणाम-वादी नैयायिक, जैन, आदि दूसरे विद्वानो के स्वीकार कर लेने से तदनुसार हम भी उस परिणाम की सिद्धि मान लेते है। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो तिस ही कारण से यानी दूसरोके स्वीकार कर लेने मात्र से वृद्धि की सिद्धि भी होजाओ, सभी प्रकारो से कोई विशेषता नही है। दूसरे विद्वानो का एक स्वीकृत अंश माना जाय और दूसरा प्रतीतसिद्ध अंश नही माना जाय यों अर्द्धजरतीय न्याय का अनुसरण करना प्रशस्त मार्ग नही है, तिस कारण वृद्धि का अभाव होजाने से परिणामका अभाव यह स्याद्वादियोंके प्रति नही साधा जा सकता है। हा सर्वथा एकान्त वादियो के प्रति परिणाम का अभाव होजाने से वृद्धि का अभाव प्रसिद्ध कर दिया ही जाता है। जैसे कि सर्वथा नित्यपन या सर्वथा क्षणिकपन को मान बैठे एकान्त-वादी पण्डितो के यहा जन्म, अस्तित्व आदिक का अभाव प्रसिद्ध होजाता है, इस बात का हम पूर्व प्रकरणो मे कई वार निवेदन कर चुके है। अभी चौथे अध्याय के अन्त मे भी जन्म, अस्तित्व, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश इन विकारो की स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार प्रक्रिया मानने पर ही सिद्धि बताई जा चुकी है, अन्यथा नही।

न हि नित्यैकांते परिणामोस्ति पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादानभ्युपगमात् स्थितिमात्रावस्थानात् न च स्थितिमात्रं परिणामः तस्य पूर्वोत्तराकारपरित्यागोपादानभावस्थितिलक्षणत्वात् ।

सर्वथा नित्यपन का एकान्त मानने पर परिणाम होना नही बन पाता है क्योंकि परिणाम का अर्थ तो पूर्व आकार का विनाश और कुछ ध्रुव अंशो को नही छोड कर वर्तना तथा उत्तर आकार का उत्पाद होना है "पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च" किन्तु नित्य एकान्त मे उक्त परिणाम होना नही स्वीकार किया गया है वहाँ तो केवल स्थिति ही अवस्थित रहती है, पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकारो का ग्रहण नही सम्भवते है। केवल ध्रौव्य अंश करके स्थित होना ही तो परिणाम नही है, क्योंकि उस परिणाम का लक्षण पूर्व आकार का परित्याग और उत्तर आकर का उपादान तथा ध्रुव भाव (आकार) की स्थिति इतना अखण्ड है।

सदा स्थास्नोरात्मादेरर्थान्तरभूतोतिशयः कुतश्चिदुपजायमानः परिणाम इति चेत्, स तस्येति कुतः ? तदाश्रयत्वादिति चेत्, कथमेकस्वभावमात्मादि वस्तु कदाचित्कस्यचिद्तिशयस्याश्रयः कदाचिन्नान्यस्येति संभाव्यते ? स्वभावविशेषादिति चेत्, तर्हि येन स्वभावविशेषेणाश्रयः कस्यचिद्भावो येन वानाश्रयः स ततोनर्थान्तरभूतश्चेत्तन्नित्यत्वैकांतविरोधः। स ततोर्थान्तरभूतश्चेत्तस्येति कुतः ? तदाश्रयत्वादिति चेत्, स एव पर्यनुयोगोनवस्था च । सुदूरमपि गत्वा तस्य कथंचिदनर्थान्तरभूतस्वभावविशेषाभ्युपगमे कथं ततोर्थान्तरभूतोतिशयः परिणामस्तदाश्रयः स्यात् ।

नित्यैकान्तवादी कहते हैं कि सर्वथा स्थिति-शील होरहे आत्मा, आकाश, आदिक अर्थों से सर्वथा भिन्न पदार्थ होरहा अतिशय ही किन्ही कारणो से उपज रहा सन्ता परिणाम है, परिणामी से परिणाम अभिन्न नही है। यो कहने पर तो ग्रन्थकार पूछते हैं, कि वह भिन्न पड़ा हुआ अतिशय स्वरूप

परिणाम उस आत्मा आदि का है , यह किससे निर्णीत किया जाय बताओ ? यदि तुम नित्यैकान्त-वादी यों कहो कि भिन्न पडा हुआ भी अतिशय उस आत्मा के आश्रय पर आश्रित है, अतः वह आधेय होरहा अतिशय उस अधिकरण भूत आत्मा का कहा जा सकता है। यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि एक स्वभाव वाले कूटस्थ आत्मा आदिक वस्तुयें कभी तो किसी एक अतिशय के आश्रय होजांय और कदाचित् किसी अन्य अनित्य अतिशय के आधार होजाय यह किस प्रकार सम्भावना हासकता है ? अर्थात् एक स्वभाव वाला पदार्थ एक ही अतिशय को धार सकेगा भिन्न भिन्न काल में न्यारे २ अन्य अतिशयो को नही धार सकेगा क्योंकि कूटस्थ नित्य पदार्थ ठीक एकसा ही रहता है । यदि नित्यैकान्तवादी इस पर यो कहें कि आत्मा आदिक किसी विशेष स्वभाव से कभी कभी किसी किसी अतिशय के आश्रय होजायगे यो कहने पर हम जैन आपादन करते हैं, कि जिस विशेष स्वभाव करके वह आत्मा पदार्थ किसी एक अतिशय का आश्रय है। अथवा जिस स्वभाव करके किसी दूसरे अतिशय का वह उस समय आश्रय नही है, वह स्वभाव विशेष उस कूटस्थ आत्मा से यदि अभिन्न होगा तब तो उस आत्मा के कूटस्थनित्यपन के एकान्त का विरोध होजावेगा क्योकि वह स्वभाव विशेष तो सर्वदा नही ठहरेगा, उससे अभिन्न आत्मा भी कथंचित् अनित्य बन जायगा, स्वभाव विशेषको कारणो मे जन्य ही तो मानोगे। हां यदि वह स्वभावविशेष उस आत्मासे भिन्न होगा तब कूटस्थनित्यपन तो उसका रक्षित रह गया किन्तु सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ " वह स्वभावविशेष उस आत्मा का है " यह कैसे व्यवहृत कर लिया जाय ? सर्वथा भिन्न पडा हुआ पदार्थ या तो किसी का भी नही है। अथवा सबका उस पर एकसा अधिकार है। यदि नित्य एकान्त-वादी यो कहें कि आश्रय आत्माके वह स्वभाव विशेष आश्रित होरहा है, इस कारण " वह स्वभावविशेष उस आत्मा का है " ऐसा व्यवहार कर लिया जाता है। जैसे कि आश्रित होने से जिनदत्त का सेवक देवदत्त कह दिया जाता है ।

यो कहने पर तो हम जैनो को कहना पडता है कि पुन वही तर्क चलाया जायगा कि वह एक स्वभाववाला नित्य आत्मा कभी कभी न्यारे न्यारे स्वभावविशेष या अतिशयो का आश्रय कैसे होसकता है ? इस पर आपकी ओर से वही स्वभाव विशेष उत्तर कहा जायगा, यो वही तर्क और समाधान अनुसार आकांक्षाशान्ति नही होने के कारण अनवस्था दोष होजायगा। बहुत दूर भी जाकर स्वभाव विशेष को उस स्वभाववान् आत्मा से कथंचित् अभिन्न होरहा स्वीकार करोगे तब तो उस आत्मा से भिन्न माना जा रहा अतिशय स्वरूप परिणाम किस प्रकार उस आत्मा के आश्रित होसकेगा अर्थात्—जब स्वभाव विशेष अभिन्न होकर ही उस आत्मा के आश्रित होसकता है, उसी प्रकार भले ही अतिशय स्वरूप परिणाम माना जाय किन्तु वह आत्मा आदि से कथंचित् अभिन्न ही होगा और ऐसी दशा मे कूटस्थनित्यपन का एकान्त रक्षित नही रहा ।

यो यथा यत्र यदा यतोतिशयस्तस्य तथा तत्र तदाश्रयीभाव इत्येवंरूपैकस्वभावत्वादात्मादिभावस्यादोष एवेति चैन्नैकात्मादिभावपरिकल्पनात् विरोधः, पृथिव्याद्यतिशयानामेकात्मातिशयत्वप्रसंगात् । शक्यं हि वक्तुमेक एवात्मैवंभूतं स्वभावं बिभर्ति येन यथा यत्र यदा पृथिव्याद्यतिशयाः प्रभवंति तेषां तथा तत्र तदाश्रयो भवतीति । तदतिशया एव तेन पुनरन्यद्रव्यातिशय इति। द्रव्यांतराभावे कुतोतिशयाः स्युरात्मनोति चेत्, अतिशयांतरेभ्यः एवान्येपि परेभ्योतिशयेभ्य इत्यनाद्यतिशयपरम्पराभ्युपगमाददुपालम्भः।

कूटस्थनित्यवादी कहते है कि जो जिसप्रकार जहां जिस समय जिससे अतिशय उपजता है। उसका उस प्रकार वहा उस समय आश्रय आश्रयीभाव होजाता है, यो इस प्रकार इतना आत्मा आदि भाव का एक ही स्वभाव है, अतः कोई दोष नही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि आप कूटस्थवादियो को एक आत्मा, आकाश आदि भावो की परिकल्पना करने से विरोध उपस्थित होजायगा। पृथिवी, जल आदि अतिशयो को एक आत्मा के अतिशय होजाने का प्रसग होजायगा, हम यो नियम से कह सकते हैं कि एक ही आत्मा इस प्रकारके होरहे स्वभावो को धार लेता है, कि जिस करके जिस प्रकार, जहा, जब, पृथिवी-आदिक अतिशय उत्पन्न होते हैं उनका उस प्रकार वहा, तब, आश्रय होजाता है, इस प्रकार वे पृथिवी आदिक उस आत्मा के अतिशय ही हैं। किन्तु फिर अन्य द्रव्यों के अतिशय नही हैं। कूटस्थ नित्यवादी कहते है कि पृथिवी आदिक द्रव्यो का अभाव मानने पर वे अतिशय आत्मामे भला किन कारणोसे उपज जायगे ? यो कहने पर तो यही कहा जा सकता है कि अन्य अतिशयो से वे अतिशय उपज जायगे और ये अन्य अतिशय भी तीसरे, चौथे, पाचवे, आदि निराले अतिशयों से उपजते रहेगे इस प्रकार अनादि काल से अतिशयो की परम्परा का स्वीकार कर लेने से कोई उलाहना नही आसकता है।

अस्त्येक एवात्मा पुरुषाद्वैताभ्युपगमादित्यपरः तस्यापि नात्मातिशयः परिणामो द्वैतप्रसंगात्। अनाद्यविद्योपदर्शिनः पुरुषस्यातिशयः परिणाम इति चेत्, तर्हि न वास्तवः परिणामः पुरुषाद्वैतवादिनोस्ति ।

ऐसे अवसर पर अपने पक्ष को पुष्ट हुआ देख कर ब्रह्माद्वैतवादी बोल उठते हैं कि जगत् मे एक ही तो आत्मा है क्योकि पुरुषाद्वैत-वाद को स्वीकार कर रखा है। इस प्रकार किसी अपर पण्डित के कहने पर आचार्य कहते है, कि उस ब्रह्माद्वैतवादी के यहा भी आत्मा का अतिशय होरहा परिणाम नही माना जा सकता है। क्योकि निराले अतिशय स्वरूप परिणाम और परमब्रह्म को मानने से द्वैत-वाद का प्रसग हो जावेगा यदि अद्वैत वादी यो कहै कि अनादि काल मे लगी हुई अविद्या करके उप-दर्शित होरहे परम ब्रह्म का अतिशय ही परिणाम है, वस्तुतः एक परम पुरुष ही पदार्थ है, अन्य कोई नही। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो पुरुषाद्वैतवादी के यहा वास्तविक परिणाम नही सिद्ध हुआ, अविद्या के द्वारा दिखलाये गये झूंठे अतिशय को परिणाम मानने पर यथार्थ परि णाम की सिद्धि नही होपाती है, अतः कूटस्थ नित्यवादी या ब्रह्माद्वैतवादोके यहाँ परिणाम नही बन पाता है।

योप्याह, प्रधानादनर्थान्तरभूत एव महदादिः परिणाम इति, सोप्ययुक्तवादी, सर्वथा प्रधानादभिन्नस्य महदादेः परिणामत्वविरोधात् प्रधान-स्वात्मवत् तस्य वा परिणामत्व-प्रसंगात् महदादिवत्, ततो न प्रधानं परिणामि घटते नित्यैकस्वभावत्वादात्मवत्।

जो भी सांख्य यो कह रहा है कि सत्वगुण, तमोगुण, रजोगुण, की साम्य अवस्था रूप प्रधा-नसे महत्, अहंकार, आदि परिणाम होरहे अभिन्न हैं "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः तस्मादपि षोडशकात्पचभ्यः पचभूतानि"। ग्रन्थकार कहते है कि वह सांख्य भी युक्तिरहित पदार्थों के कहने की टेब को धारता है। क्योकि प्रधान से सभी प्रकार अभिन्न होरहे महत्तत्व, अहंकार आदि

को परिणामपन का विरोध है, जैसे कि प्रधान से अभिन्न होरहा प्रधान का स्वात्मा तो प्रधान ही परिणामी का परिणाम नही है। दूसरी बात यह है कि अभिन्न पदार्थ ही यदि परिणाम होने लगे तो महत् आदि के समान उस प्रधान को परिणामपन का प्रसंग आजावेगा तब तो महत्, अहकार आदि परिणामी होजायगे और प्रकृति उनका परिणाम बन जावेगी तिस कारण सांख्यो के यहा माना गया प्रधान तो परिणामवाला नही घटित होता है। क्योकि सर्वथा नित्यपन ही उसका एक स्वभाव है, जैसे कि कापिलो के यहा एकान्त से नित्य स्वभाव होने के कारण कूटस्थ आत्मा परिणामी नही माना गया है (परार्थानुमान)।

यदि पुनः प्रधानस्य महदादिरूपेणाविर्भावतिरोभावाभ्युपगमात् परिणामित्वमभिधीयते तदा स एव स्याद्वादिभिरभिधीयमानः परिणामो नान्यथेति नित्यैकांतपक्षे परिणामाभावः।

यदि फिर कापिल यो कहे कि हम आत्मा के कूटस्थनित्यपन से निराले प्रकार के प्रधान का महत्, अहकार, तन्मात्राये, आदिरूप करके आविर्भाव और तिरोभाव को स्वीकार करते है, हां उत्पाद या विनाश हमको अभीष्ट नही है अतः आविर्भूत, तिरोभूत होरहे अपने अभिन्न परिणामो के अनुसार प्रधान का परिणामीपना कहा जाता है। आचार्य कहते है कि तब तो स्याद्वादियो करके वही परिणाम कहा जा रहा है, प्रकट होजाना, छिप जाना आदि अन्य प्रकारो से परिणाम नही बनता है। अर्थात् आविर्भाव, तिरोभाव,का अर्थ कथंचित् उत्पाद, विनाश, मानने पर ही निश्चिन्तता होसकेगी। अन्न मे मास या मल का सद्भाव मानना अनुचित है, अगुलीके अग्रभाग पर हाथियो के सौ झुण्डो का समा जाना स्वस्थ पुरुष नही कह सकता है अतः स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार ही परिणाम बनता है। नित्यपन के एकान्त पक्ष मे परिणाम का अभाव है "न हि नित्यैकान्ते परिणामोऽस्ति" यहा से प्रारम्भ कर अब तक इस प्रकरण का विवरण कर दिया है।

क्षणिकैकांतेपि क्षणादूर्ध्वं स्थितेरभावात् परिणामाभावः, पूर्वक्षणे निरन्वयविनाशादुत्तरक्षणोत्पादः परिणाम इति चेत्, कस्य परिणामिन इति वक्तव्यं ? पूर्वक्षणस्येति चेन्न, तस्यात्यंतविनाशात्तदपरिणामित्वाच्चिरतनविनष्टक्षणवत्।

सम्पूर्ण पदार्थो को एकक्षणस्थायी मानने के एकान्त पक्ष मे भी परिणाम नही बनता है। क्योंकि क्षण से ऊपर दूसरे समया में पदार्थों को स्थिति का अभाव है, ऐसी दशा मे कौन किस स्वरूप परिणमे? जो जीवित रहेगा वह आनन्द भोग सकेगा, मरेहुये पदार्थ के लिये कुछ भी नही है। यदि बौद्ध यो कहै कि पहिले क्षण मे अन्वयरहित होकर पदार्थ का विनाश होजाने से उत्तर-वर्त्ती दूसरे क्षण मे नवीन पदार्थ का उत्पाद होना परिणाम है, यो कहने पर तो हम जैन पूछते है कि वह उत्तर क्षण-वर्त्ती उत्पाद भला किस परिणामी का परिणाम है ? यह तुमको स्पष्ट कहना चाहिये यदि पूर्व क्षणवर्त्ती पदार्थ का ही परिणाम वह उत्तर क्षण-वर्त्ती उत्पाद माना गया है, यह तो आप बौद्ध नही कह सकते है। क्योंकि उस पूर्व क्षण-वर्त्ती पदार्थ का अत्यन्त रूप से अनन्त काल तक के लिये विनाश होचुका है, अत. वह पूर्व क्षण-वर्त्ती पदार्थ इस उत्तर क्षण-वर्त्ती पदार्थका परिणामी नही होसकता है। जैसे कि बहुत काल पहिले विशेषरया नष्ट होचुका क्षण (स्वलक्षणपदार्थ) इस वर्तमान कालीन

उत्पाद का परिणामी नहीं माना गया है। यानी एकदिन पहिले मर गये अथवा पचास वर्ष पहिले मर गये बाबा आज इस समय गुड को नही खा सकते हैं।

कार्यकारणभाव एव परिणामिभाव इति चेन्न, क्षणिकैकांते कार्यकारणभावस्य निरस्तत्वात् क्रमयौगपद्यविरोधान्नित्यत्वैकांतवत्। संवृत्त्या कार्यकारणभावे तु न वास्तवः परिणामिभावः कयोश्चिदिति क्षणिकैकान्तपक्षे परिणामाभावः सिद्धः।

बौद्ध कहते है कि कार्यकारण भाव ही परिणाम परिणामीभाव है। पहिला क्षण कारण है, अतः परिणामी है। और उत्तर क्षण-वर्त्ती स्वलक्षण कार्य है, अतः परिणाम है। ऐसी अवस्था में हम बौद्धोके यहां परिणाम बन जायगा। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कह बैठना क्योकि क्षणिक पक्ष का एकान्त ग्रहण करने पर कार्य कारण भाव का निराकरण होचुकता है क्योकि क्षणिक एकान्त मे क्रम और यौगपद्य होने का विरोध है जैसे कि सर्वथा नित्यपन के एकान्त मे क्रम और यौगपद्य घटित नही होते है, अतः कार्यकारणभावका निराकरण होजाता है। कारक पक्षमें कार्यकारण भावके व्यापक क्रम और यौगपद्य है जैसे कि ज्ञापक पक्ष में कार्य कारण भाव के व्यापक अन्वय और व्यतिरेक है। यदि बौद्ध झूठी कल्पना या व्यवहार मे कार्य कारण भाव को स्वीकार करेंगे तब तो किन्ही एक नियत दो पदार्थों का होरहा परिणाम परिणामी भाव वास्तविक नही होसकता, इस प्रकार क्षणिक एकान्त पक्षमे परिणाम होने का अभाव सिद्ध होगया।

संवेदनाद्यद्वैते तु दूरोत्सारित एव परिणाम इति सकलसर्वथैकांतवादिनां परिणामाभावाद्वृद्ध्यभावो अपक्षयाद्यभाववदवतिष्ठते। स्याद्वादिनां पुनः परिणामप्रसिद्धेर्युक्ता कस्यचिद्वृद्धिः स्वकारणसन्निपातादपक्षयादिवत्तथाप्रतीतेर्बाधकाभावात्।

कोई कोई बौद्ध पण्डित तो सम्वेदन, चित्र, आदि का अद्वैत मान बैठे हैं, आचार्य कहते है कि सम्वेदन आदि के अद्वैत पक्ष मे तो परिणाम बहुत ही दूर फेंक दिया गया है। एक ही पदार्थ भला क्या परिणाम और परिणामी होसकता है? यानी देवदत्त का इकलौता लडका जेठा, मझिला, या कनिष्ठ, नही होसकता है। इस प्रकार सम्पूर्ण सर्वथा एकान्त-वादियो के यहा परिणाम की घटना नही होने से वृद्धि का अभाव व्यवस्थित होजाता है, जैसे कि अपक्षय, विनाश, आदि का अभाव हो जाता है, हां स्याद्वादियो के यहा तो फिर परिणाम की समीचीनतया प्रसिद्धि होजाने से किसी अंश की वृद्धि स्वकीय वृद्धि के कारणो का सन्निपात होजाने से समुचित बन जाती है। जैसे कि अपने अपने कारणो का सान्निध्य होने से अपक्षय, अस्तित्व, आदिक सध जाते हैं। तिस प्रकार की होरही प्रतीति का कोई बाधक प्रमाण नही है। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षयते, विनश्यति, अपने अपने कारणो अनुसार होरहे इन छह विकारो की बालक बालिकाओ तक को प्रतीति होरही है। यहाँ तक "परिणामाभावात् वृद्ध्यभाव: सर्वथैकान्तवादिन:" इस कथन का उपसंहार कर दिया गया है।

परिणामो हि कश्चित् पूर्वपरिणामेन सदृशो यथा प्रदीपादेर्ज्वालादिः, कश्चिद्विसदृशो यथा तस्यैव कज्जलादिः, कश्चित्सदृशासदृशो यथा सुवर्णस्य कटकादिः। तत्र पूर्वसंस्थानाद्यपरित्यागे सति परिणामाधिक्यं वृद्धिः, सदृशेतरपरिणामो यथा बालकस्य कुमारादिभावः।

जगत्में परिणाम अनेक प्रकारके है,नैमित्तिक भाव भी अनेक प्रकारके है कोई कोई परिणाम तो पहिले पहिले परिणामोंके सदृश होता है, जैसे कि प्रदीप आदि की ज्वाला, कलिका आदि हैं, प्रदीप की कलिका से कलिका पुनः कलिका से वैसी ही कलिका यो घण्टो तक दीपक सदृश परिणामो को धारता रहता है । हा कोई कोई परिणाम तो विसदृश यानी परिणामी से विलक्षण होता है जैसे कि उस ही प्रदीप आदि के काजल, धुआं राख, आदि परिणाम हैं तथा कोई कोई परिणाम कुछ अशो मे परिणामी के सदृश और अन्य अंशो मे परिणामी से विलक्षण होता है जैसे कि सुवर्ण के कंकण, आदि परिणाम हैं । यहा सोनापन सदृश है किन्तु पहिले फासेकी आकृति सर्वथा विसदृश होकर कंकण,हंसली, कुण्डल आदि रूप होगई है । उन परिणामो में पहिले सस्थान (रचना) आदिका परित्याग नही होते सन्ते परिणाम की अधिकता होजाना तो वृद्धि है जो कि सदृश और विसदृश परिणामस्वरूप है जैसे कि बालक का कुमार आदि अवस्था रूप वृद्धि परिणाम है, यहा बालक की ही कुमार अवस्था में वृद्धि होगयी है जिसके कारण मातृदुग्ध अन्न, जल सूर्याताप, उदराग्नि, वीर्यातरायक्षयोपशम आदि भी कहे जा चुके हैं ।

सदृश एवायमित्ययुक्तं, विसदृशप्रत्ययोत्पत्तेः । सर्वथा सादृश्ये बालकुमाराद्यवस्थयोः कुमाराद्यवस्थायामपि बालप्रत्ययोत्पत्तिप्रसगात्, बालकावस्थायां वा कुमारादिप्रत्ययोत्पत्तिप्रसक्तेः सर्वथा विसदृश एव बालकपरिणामात्कुमारादिपरिणाम इत्यपि न प्रातीतिकं स एवायमिति प्रत्यप्रत्यभावात् । भ्रांतोसौ प्रत्यय इति चेन्न बाधकाभावादात्मनि स एवाहं प्रत्ययवत् । सर्वत्र तस्य भ्रांतत्वोपगमे नैरात्म्यवादालंबनप्रसंगः । न चात्मा श्रेयान् यतश्च सदृशेतरपरिणामात्मनो वस्तुनः साधनात्, प्रत्यभिज्ञानस्याभेद- प्रत्ययस्य ।। प्रामाण्यव्यवस्थापनात् । ततो युक्तः सदृशेतरपरिणामात्मको वृद्धिपरिणामः ।

वृद्धि नामक विकार को सदृश, विसदृश, दोनो स्वरूप नही मानते हुये कोई कहते हैं कि वह वृद्धिपरिणाम तो सदृश ही है वैसा का वैसा ही बालक पुनः कुमार या युवा होता हुआ बढ़ जाता है कोई विलक्षणता नही दीखती है । ग्रन्थकार कहते है कि यह कहना युक्तियोसे रहित है क्योकि बालक से कुमार होजाने पर विसदृशपनेका ज्ञान भी उपजता है किसी किसी बालक का तो अगली अवस्थाओ मे बहुत अन्तर पड़ जाता है यदि बालअवस्था और कुमार आदि अवस्थाओ को सभी प्रकारो से सदृश ही माना जायगा तो कुमार आदि अवस्था मे भी बालक है, ऐसे ज्ञान के उपजने का प्रसंग आवेगा अथवा बालक अवस्था मे कुमारपन, युवापन, आदिक ज्ञानो की प्रतीति उपजने का प्रसग आजायगा कुमार को बालक या बालक को कुमार कोई नही कहता है ।

इसके विपरीत कोई दूसरे विद्वान् यो कह रहे हैं कि बालक परिणाम से कुमार आदिक परिणाम सर्वथा विसदृश (विलक्षण) ही है । आचार्य कहते हैं कि यह भी सिद्धान्त प्रतीतियो पर आरूढ़ नही कहा जासकता है, कारणकि वही बालक कुमार होगया है, इस प्रकारके प्रत्ययका सद्भाव है ऐसी दशा में बालक से कुमार को सर्वथा विलक्षण नही कहा जा सकता । माता, पिता, या अन्य गुरू जन उसी बालक को कुमार, युवा, आदि अवस्था पर्यन्त बढ़ता हुआ देख रहे है । यदि कोई पण्डित यों कहे कि वह प्रत्यभिज्ञान स्वरूप प्रत्यय तो भ्रान्त है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस प्रत्यभिज्ञान का कोई बाधक प्रमाण नही है, जैसे कि आत्मा में यह वही है इस प्रत्यभिज्ञान के बाधको

का अभाव होजाने से वह प्रत्यभिज्ञान अभ्रान्त समझा जाता है, सीप में हुये चांदी के ज्ञान का "यह चांदी नही है,, ऐसा बाधक ज्ञान पश्चात् उपज जाता है, अतः सीप मे चादी का ज्ञान भ्रान्त है किन्तु माता की गोद मे पड़ा हुआ वही बालक क्रम क्रम से कुमार, युवा, वृद्ध, होजाता है, इन प्रत्यभिज्ञानो का बाधक कोई समीचीम ज्ञान नहीं है।

प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता पर आस्था नही रखने वाले पण्डित यदि सभी स्थलों पर उ। प्रत्यभिज्ञान का भ्रान्तपना स्वीकार करेगे तब तो नैरात्म्यवाद के अवलम्ब करने का प्रसंग आवेगा किन्तु वह बौद्धो के यहा नैरात्म्यवाद का अवलम्ब किया जाना श्रेष्ठमार्ग नही है क्योकि कालान्तर-स्थायी अथवा अनादि अनन्त आत्माकी सिद्धि हो चुकी है जो आत्माको या आत्माके स्वभावोंको अथवा अन्य पदार्थों के धर्मों को स्वीकार नही करते हैं वे अवश्य नैरात्म्यवादी हैं, अतः बाल्य, कौमार्य, आदि अवस्थाओंमे हुआ एकत्व प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, जिस कारण से कि पहिले प्रकरणों मे सदृश, विसदृश, परिणाम स्वरू। या सामान्य विशेषात्मक वस्तु की सिद्धि की जा चुकी है प्रत्यभिज्ञान अथवा अभेद को विषय करने वाले ज्ञानो की प्रमाणता का व्यवस्थापन होचुका है। तिस कारण से यह कहना सर्वांग युक्तिपूर्ण है कि वृद्धिस्वरूप होरहा परिणाम तो सदृश परिणाम और विसदृशपरिणामात्मक है, केवल सदृश ही या केवल विसदृश ही नही है।

एतेनापक्षयपरिणामो व्याख्यातः। यथा स्थूलस्य कायादेः सदृशेतर-प्रत्ययसद्भावात् सदृशेतरात्मक इति। विसदृशपरिणामो जन्म तस्यापूर्वप्रादुर्भावलक्षणत्वात्, तथा विनाशः पूर्व-विनाशस्यापूर्वप्रादुर्भावरूपत्वात्। तद्व्यतिरिक्तस्य विनाशस्याप्रतीतेः।

इस कथन करके अपक्षय नाम के परिणाम का भी व्याख्यान कर दिया गया समझ लो। अर्थात् –पुष्ट शरीर वाला युवा पुरुष जब बुड्ढा होता हुआ कुछ क्षीण होजाता है अथवा कोई रोगी या दरिद्र पुरुष क्षीणशरीर होजाता है उसका वह अपक्षय भी कुछ सादृश्य और कुछ वैसादृश्य को लिये हुये सदृशेतरपरिणाम स्वरूप है। जिस प्रकार कि मोटे होरहे शरीर, मणि, आदिक का अपक्षय होने पर सदृशपन और विसदृशपन को जानने वाले ज्ञान के विषयताका सद्भाव होजाने से वे काय आदिक पदार्थ सदृश, विसदृश, परिणाम-आत्मक है। कृष्ण पक्ष मे क्षीण होरहा चन्द्रमा, शाण पर घिसी गयी मणि, वर्षा के पश्चात् शरद ऋतु की नदियां, इनका अपक्षय परिणाम भी समान असमान उभयात्मक है

हां जन्म नामक परिणाम तो विसदृश परिणाम कहा जा सकता है,क्योंकि सर्वथा अपूर्व पदार्थ का प्रादुर्भाव होना उस जन्म का लक्षण है। घोडा मर कर मनुष्य उपज गया या मनुष्य मर कर स्वर्ग मे देव का जन्म पाता है, बत्ती, तेल आदि मे कलिका विलक्षण होरही उपजती है, यहा अन्वित होरहे किसी ध्रौव्य अंशकी विवक्षा नही की गयी है। तिस प्रकार जन्म, अस्तित्व आदि छः भावो में गिनाया गया विनाश परिणाम भी विसदृश परिणाम कहा जाता है क्योकि पहिली पर्याय का विनाश होजाना अपूर्व पर्याय के प्रादुर्भाव स्वरूप है "कार्योत्पाद. क्षयो हेतोः" गेहुओं का क्षय चून का उत्पाद रूप है। इस अपूर्वअवस्थाके प्रादुर्भावसे अतिरिक्त किसी तुच्छ विनाशकी प्रतीति नहीं होरही है। नैयायिकोंका-सा तुच्छ ध्वंस हमको अभीष्ट नही है, अपूर्व प्रादुर्भावको हम विसदृशपरिणाम कह ही चुकेहैं।

ध्वंसाभावोस्तीति प्रत्ययविषयत्वादिति चेत्, ततश्च भावस्वभावत्वे नीरूपत्वप्रसंगात्।

नास्तीति प्रत्ययविषयरूपसद्भावान्न नीरूपत्वमिति चेत्, तर्हि भावस्वभाव एव विनाशः स्वभावत्वादुत्पादवत् । प्रागभावेतरेतराभावात्यन्ताभावानामप्यनेनैव भावस्वभावता व्याख्याता ।

यदि वैशेषिक यो कहैं कि "ध्वंस रूप अभाव है" ऐसी प्रतीतिका विषय होनेसे विनाश पदार्थ तो भाव पदार्थों से न्यारा है । यो कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि उस प्रतीतिसे यदि ध्वंस को अभाव स्वभाव वाला माना जायगा तो नीरूपपने का प्रसंग आवेगा यानी उस तुच्छ ध्वंस के कोई भी स्वभाव या धर्म नही होनेके कारण वह ध्वंस निस्स्वभाव होजायगा निस्स्वभाव पदार्थ खरविषाणवत् असत् है, फिर भी वैशेषिक यो कहैं कि "नही है" इस प्रकार के ज्ञान की विषयता ध्वंस में है अतः ध्वंस के उस विषयतास्वरूप धर्म का सद्भाव होने से नीरूपपन यानी स्वभावरहितपन का प्रसंग नही आवेगा । यो कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो विनाश पदार्थ भाव का ही स्वभाव रहा (प्रतिज्ञा) स्वभाव होने से (हेतु) उत्पाद के समान (अन्वयदृष्टान्त) । अतः उत्तर पर्यायस्वरूप ही पूर्व पर्याय का विनाश है जो कि विनाश स्वरूप परिणाम उस पूर्व कालीन परिणामी से विसदृशपरिणाम स्वरूप है । इस उक्त कथन करके ही प्रागभाव अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावका भी भावस्वभावपना वखान दिया गया है अर्थात् प्रागभाव आदिक चारो अभाव भावस्वरूप ही पड़ते हैं इसका निर्णय ग्रन्थकार ने अष्टसहस्री ग्रन्थ में अच्छा कर दिया है । "कार्यस्य आत्मलाभात्प्रागभवनं प्रागभावः" कार्य के आत्मलाभ से पहिले कार्य का नही होना प्रागभाव है, जो कि कार्य के अव्यवहित पूर्व-वर्त्ती या कार्यके सम्पूर्ण पूर्व-वर्त्ती परिणामो स्वरूप है । ऋजुसूत्रनयार्पणात् उपादानक्षण एवोपादेयस्य प्रध्वंसः, ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा उपादेय परिणाम का उत्पाद ही पूर्व समय-वर्त्ती उपादान का प्रध्वंस है । "स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिः अन्योन्याभावः" किसी दूसरे स्वभावसे प्रकृत स्वभाव की व्यावृत्ति होना अन्योन्याभाव है जैसे घट पट नही हैं यों घट या पट की स्वकीय परिणतियो स्वरूप ही अन्योन्याभाव है, यदि स्वभावान्तरो से स्वभावकी व्यावृत्ति कालत्रय वृत्ति होजाय तो वे आत्मा,आकाश आदिकी मिथः परिणतियां अत्यन्ताभाव समझी जाती हैं । संक्षेप से अभावो को भाव रूप इसी ढगसे समझ लिया जाय । यो वृद्धि, अपक्षय,जन्म और विनाश इन चार परिणामो (विकारो) के सदृशपन या विसदृशपन अथवा उभयपन का विचार कर दिया गया है ।

ननु च यथा स्वभावधर्मत्वाविशेषेपि घटपटयोर्नानात्वं विशिष्टप्रत्ययविषयत्वात्तथा भावाभावयोरपि स्यादिति चेन्न,घटत्वेन वा स्वभावत्वस्याव्याप्तत्वाद् घटस्य पटात्मकत्वासिद्धः, पटस्य वा घटात्मकत्वानुपपत्तेः कथंचिन्नानात्वव्यवस्थितेः । भावात्मकत्वेन तु स्वभावत्वस्य व्याप्तिसिद्धेः सर्वत्र भावात्ममतरेण स्वभावत्वाप्रसिद्धेरभावस्य ततो भावात्मकत्वसिद्धेरप्रतिबंधनात् । तत्र विशिष्टप्रत्ययस्तु पर्यायविशेषादुपपद्यते एव घटे नवपुराणादिप्रत्ययवत् । यथैव घटो नवः पुराण इति विशिष्टप्रत्ययतामात्मसात्कुर्वन्नपि घटात्मतां न जहाति तथा भावोस्ति नास्तीति विशिष्टप्रत्ययं विषयता स्वीकुर्वन्नपि न भावत्वमतिशेते

यहाँ वैशेषिको का पुनः स्वमन्तव्य अवधारण है कि स्वभावसहितपन के विशेषतारहित होते हुये भी घट और पट मे तिस प्रकार विशिष्ट ज्ञान का विषय होजाने के कारण नानापन है, शीतको पट दूरकर देता है,कपड़ा तोड़ा मरोड़ा जा सकता है, घट नही । घट पानीको धारता है, कठिन है, पट

ऐसा नही है, उसी प्रकार भाव और अभाव मे भी न्यारे न्यारे विशेष प्रत्ययो का गोचरपना होने से अनेकपन होजावेगा। "द्रव्यमस्ति, गुणः अस्ति, कर्म अस्ति" ये ज्ञान भावो को विषय करते हैं "प्राक् नासीत्, पश्चान्न भविष्यति, इतरत् इतरत्र नास्ति अन्यत् अन्यत्र कालत्रयेऽपि नास्ति" ये ज्ञान अभावो को विषय करते है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि घटपने करके स्वभावसहितपना व्याप्त नही है अतः घट को पटस्वरूपपना असिद्ध है और पटको घट-आत्मकपना बन नही सकता है, इस कारण घट, पट, दोनो मे कथंचित् नानापन की व्यवस्था समुचित होरही है। हां भावआत्मकपन करके तो स्वभावसहितपनकी व्याप्ति सिद्ध है, अत. सर्वत्र भाव-आत्मक बने विना अभाव को स्वभाव-सहितपना अप्रसिद्ध होजायगा तिस कारण अभाव को तुच्छ या निरुपाख्य नही मानते हुये जैनों के यहा भाव-आत्मकपन की सिद्धि का कोई प्रतिबन्धक नही है।

अर्थात्-अभावो मे अनेक स्वभाव तभी रह सकते है जब कि अभावो को भावआत्मक माना जाय। भूतल मे घटका अभाव रीते भूतल स्वरूप है, हा उस अभाव मे भावों के ज्ञान की अपेक्षा कुछ विशेषताओं के लिये हुये ज्ञान का होजाना तो पर्याय विशेष अनुसार बन जाता ही है, जैसे कि घट मे नवीन, पुराना, नीला, काला, पुष्ट, शिथिल, आदि ज्ञान उन उन विशेष पर्यायों अनुसार होजाते है। अर्थात्—जिस ही प्रकार नवीन या पुराना घडा है इस प्रकार विशिष्ट ज्ञान की विषयता को आत्मा-धीन करता हुआ भी वह घट अपने घट स्वरूप को नही छोडता हे तिस प्रकार "पदार्थ है अथवा पदार्थ नही है" इस प्रकार विलक्षण ज्ञानो की विषयता को स्वीकार कर रहा भी भाव-पदार्थ अपने भावपन को नही छोडता है घटकी नई, पुरानी, आदि अवस्थाओ और भाव की सत्ता या असत्ता रूप अवस्थाओ मे कोई अन्तर नही है, अत भाव का पर्याय होरहा अभाव पदार्थ कोई भाव से न्यारा तत्व नही है।

न चाभावो भावपर्याय एव न भवति सर्वदा भावपरतंत्रत्वादभावप्रसंगात्। न च — सर्वदाभावपरतंत्रो नीलत्वादिर्भावधर्मोऽप्रसिद्धो येनाभावोऽपि तद्वद्भावधर्मो न स्यात्।

यदि वैशेषिक यो कहे कि सातवा अभाव पदार्थ तो स्वतंत्र है किसी भी भाव पदार्थकी पर्याय ही नही है ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो वैशेषिक नही कहै क्योंकि सदा भावपदार्थों के ही पराधीन वर्त्त रहा अभाव पदार्थ है, इस कारण नील, नीलत्व, आदि के समान वह भावाधीन वर्त्त रहा अभाव पदार्थ भी भाव पदार्थों का ही पर्याय है। अभाव को यदि भाव या भावाधीन नही माना जायगा तो उस खर-विषाण के समान तुच्छ अभाव का प्रसग होजायगा यहा 'अभावप्रसंगात्" के स्थानपर "नीलत्वादिवत्" इस दृष्टान्तका पाठ अच्छा शोभता है। अस्तु। ग्रन्थकार हेतु को पुष्ट करते हैं कि सदा भावो के पराधीन वर्त्त रहे नीलत्व, नील, आदिक पदार्थ भाव के धर्म है, यह बात अप्रसिद्ध नहीं है जिससे कि अभाव भी उन्ही नीलत्व आदिक के समान भाव का धर्म नही होसके।

अर्थात्-नीलं द्रव्यं, नीलवान् घटः, नीलत्वजातिमत् नीलरूप, यहा नील गुण वाला द्रव्य है नील में नीलत्व जाति रहती है, यो द्रव्य का विशेषण नील और नील का विशेषण नीलत्व प्रसिद्ध ही है, इसी प्रकार घटःपटो न, घटाभाववद्भूतलं, आकाशे ज्ञानाभावः, कपाले घट-ध्वंस, मृत्तिकायां घटा-भावः आदि स्थलो पर भाव पदार्थों का विशेषण होरहा अभाव पदार्थ प्रतीत होरहा है। विशेष्यों के अधीन विशेषण रहता है। मुख्य रूपसे प्रथमा विभक्ति वाला पद विशेष्य होता है, यह नियम ठोस नही है सिद्धान्त यह है कि चाहे पर्वतो वन्हिमान् कहो अथवा पर्वते वन्हिः कहो पर्वत विशेष्य है और अग्नि

विशेषण है। केवल प्रत्यय बदल जानेसे आधार भूत विशेष्य कोई आधेय नही होसकता है और आधेय भूत विशेषण बिचारा आधार नहीं बन सकता है, अतः जो पदार्थोंको धारता है वह विशेष्य होगा और जो उसमे वर्तता है वह विशेषण होगा।

न च सर्वदा भावपरतंत्रत्वमभावस्यासिद्धं, घटस्याभावः पटस्य चेत्येवं प्रतीतेः स्वतंत्रस्याभावस्य जातुचिदप्रतीतेः अत एव भावविलक्षणत्वमभावस्येति चेन्न, नीलादिना व्यभिचारात्। नीलमिदमित्येवं नीलादेः स्वतंत्रस्य संप्रत्ययात्सर्वदा भावपरतंत्रत्वासिद्धेः नीलादेर्न तेन व्यभिचार इति चेत्, तर्हि तत्राप्यसदिदमित्येवमभावस्य स्वतंत्रस्य निश्चयात् सर्वदा भावपारतंत्र्यं न सिद्ध्येत् इदमिति प्रतीयमानस्य विशेष्यतयाऽप्रतीतेरस्वतंत्रत्वे नीलादेरपि स्वतंत्रत्वं मा भूत्तत एव, व्यवस्थापितप्रायं चाऽभावस्य भावस्वभावत्वमिति न प्रपञ्च्यते

स्वरूपासिद्ध दोष का निराकरण करते हुये ग्रन्थकार पक्ष मे हेतु का वर्तना पुष्ट करते है, कि अभाव के सदा भावो के पराधीन रहनापन असिद्ध नही है। देखिये घट का अभाव है, यहा पट का अभाव है, अत्र पुस्तक नास्ति, इस प्रकार भाव के अधीन होरहे ही अभाव की प्रतीति होती है। "अभाव है, अभाव है" इस प्रकार स्वतंत्र होरहे अभाव की कदाचित् भी प्रतीति नही होती है यानी अभावको कहने पर उसी समय उसका प्रतियोगी तिसी प्रकार लग बैठेगा जैसे कि उष्णता के कहने पर अग्नि, बिजली आदि षष्ठी विभक्ति वाले पद विशेष्य होकर लग जाते हैं। यहा वैशेषिक कहते हैं कि इस ही कारण से अभाव को भावो से विलक्षणपना माना जाता है। जैसे कि अग्नि की उष्णता है यहाँ अग्नि को हम वैशेषिक द्रव्य पदार्थ मानते हैं, और उष्णता को उस अग्नि से विलक्षण गुण पदार्थ अभीष्ट किया गया है। प्रकरण मे भी घटस्य अभाव. यहा घट न्यारा पदार्थ है। और अभाव उससे विलक्षण निराला तत्व है जो भाव के अधीन होगा वह भाव से न्यारा अवश्य होगा, इस कारण आप जैनों का भावो के पराधीनपना हेतु ही अभाव को भावो से निराला साध रहा है।

आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योंकि नील, पीत, सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि करके व्यभिचार होजायगा यानी नील, पीत, आदिभी सदा भावोके पराधीन रहते हैं किन्तु वे नील आदिक तुम्हारे यहां छह भाव पदार्थों से विलक्षण नही माने गये हैं। तब तो " अत एव " आदि इस वैशेषिको के कथन अनुसार भावविलक्षणपना साधने के लिये दिया गया सदाभावपरतत्रत्व हेतु व्यभिचारी है। अभावो के सर्वथा भावों से विलक्षणपन का ग्राहक कोई प्रमाण भी नही है। यदि वैशेषिक यो कहे कि हेतु के शरीर में सदा यह पद पडा हुआ है, जो सर्वथा ही भावों-अधीन रहेगा वह तो भावों से विलक्षण अवश्य होगा किन्तु "यह नील है, यह पीत है यह दुर्गन्ध है" इस प्रकार स्वतत्र होरहे नील आदि की भी समीचीन प्रतीति होरही है अतः नील आदि का सर्वदा भावों के पराधीनपना असिद्ध है, कभी कभी वे स्वतंत्र भी प्रतीत होजाते हैं, इस कारण उन नील, आदि करके व्यभिचार नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों कहोगे तब तो तुम वैशेषिको के यहां भी " यह असत् है, यह अभाव है" इत्यादि इस प्रकार स्वतंत्र होरहे अभाव का भी निश्चय होरहा है, अत. अभावो को सदा भावों का परतंत्रपना नहीं सिद्ध होसकेगा, कभी कभी अभाव स्वतत्र भी जाने जाते हैं।

यदि वैशेषिक यों कहैं कि "असत् है, अभाव है" यहां भले ही कोई विशेष्य मानेगये भाव को कण्ठोक्त नहीं कहे फिर भी भाव पदार्थ अर्थापत्ति करके गम्यमान होजाता है। घट असत् है, पुस्तकका

नास्तित्व है, यह यों असत् है, इस प्रकार अनुमान या अर्थापत्ति द्वारा प्रतीत किये जारहे भावो के विशेषण होरहेपन करके ही यहा असत् यानी अभाव की प्रतीति होरही है। अत: अभावो का स्वतंत्रपना नही माना जाकर भावो के पराधीन होना ही माना जावेगा। यो तुम्हारे कहने पर तो हम जैन भी कहते हैं, कि तिस ही कारण से नील आदि को भी स्वतत्रपना नही होवे अर्थात्—नील है, सुगन्ध है, इत्यादि स्वतत्र नीलादि की जहा प्रतीति होरही मानी गयी है। वहा भी विशेष्य होरहे भावो की अर्थापत्या प्रतीति करली जाती है, अत: वे नील आदि भी स्वतत्र नही है, भावो के पराधीन है। तात्पर्य यह निकलता है कि भावो के पराधीन होरहे नील आदिक जैसे भावो की पर्याय ही हैं, उसी प्रकार भावो के पराधीन वर्त रहा अभाव भी भाव पर्याय ही है कोई स्वतंत्र तत्व नही है। एक बात यह भी है कि अभावो को भाव पदार्थों का स्वभावपना हम पूर्व प्रकरणों में प्राय (कईवार) व्यवस्थापित कर चुके है, इस कारण यहा फिर उसका विस्तार नही किया जाता है।

यत्पुनरस्तित्वं विपरिणमनं च जातस्य सतस्तत्सदृशपरिणामात्मकं तत्र वैसादृश्यप्रत्ययानुत्पत्तः।

वृद्धि, अपक्षय, जन्म, और विनाश इन चार विकारो का विचार किया जा चुका है, फिर जो छह विकारो मे अस्तित्व और विपरिणाम नाम के विकार है। वे तो उत्पन्न होचुके सद्भूत पदार्थ के सदृश पर्याय स्वरूप हैं, क्योकि उनमे विपदृशपन के ज्ञान की उत्पत्ति नही होती है। अर्थात्—जायते अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षयते, विनश्यति, इस क्रम अनुसार पदार्थ पहिले उत्पन्न होता है। पीछे आत्मलाभ कर चुका जो अपना अवस्थान करता है, वही अस्तित्व है, उसके पश्चात् उस पदार्थ की अन्य सदृश अवस्थाओ की प्राप्ति होजाना विपरिणाम है। अतः अस्तित्व और विपरिणाम सदृश अवस्थाये ही हैं, जन्म के समान विसदृश परिणतिया वे नही है।

ननु च सर्वस्य वस्तुनः सदृशेतरपरिणामात्मकत्वे स्याद्वादिनां कथं कश्चित्सदृशपरिणामात्मक एव कश्चिद्विसदृशपरिणामात्मकः पर्यायो युज्यते इति चेत्, तथा पर्यायार्थिकप्राधान्यात् सादृश्यार्थप्राधान्याद्वैसादृश्यगुणभावात् सादृश्यात्मकोयं परिणाम इति मन्यामहे, न पुनर्वैसादृश्यनिराकरणात्। तथा वैसादृश्यार्थप्राधान्यात्सादृश्यस्य सतोपि गुणभावाद्विसदृशात्मकोयं परिणाम इति व्यवहरामहे। तदुभयार्थप्राधान्यात्तु सदृशेतरपरिणामात्मक इति संगिरामहे तथा प्रतीतेः। ततोपि न कश्चिदुपालंभः।

यहा कोई शका उठाता है कि स्याद्वादियो के यहां सम्पूर्ण वस्तुये जब सदृशपर्याय और विसदृश पर्याय स्वरूप मानी जा चुकी है। तो फिर जन्म, विनाश, आदि के विषय मे किया गया यह सिद्धान्त किस प्रकार युक्तियों से भरपूर होसकता है ? कि कोई कोई अस्तित्व और विपरिणाम नाम के विकार तो सदृश परिणाम स्वरूप ही होवे तथा कोई जन्म और विनाश नामक पर्याय अकेले विसदृश परिणाम स्वरूप ही होवे। अर्थात्—"सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय:" सामान्य विशेष-आत्मक सम्पूर्ण पदार्थ हैं जो कि प्रमाण के विषय है, ऐसी दशा मे जन्म, विनाश, तो विसदृश परिणाम ही और अस्तित्व, विपरिणाम, ये सदृशपर्याय ही कैसे माने जा सकते हैं ? हा वृद्धि और अपक्षय को सदृश, विसदृश-आत्मक पर्याय स्वीकार करना यह समुचित है। यो कहने पर तो ग्रन्थकार समाधान करते है कि तिस प्रकार अस्तित्व और विपरिणाम नामक विकारो मे पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से सदृशपन अर्थ की प्रधानता है। विसदृशपन की गौणता है। अतः यह अस्तित्व या विपरिणाम नामकी

पर्याय सादृश्य स्वरूप है इस प्रकार हम स्याद्वादी विद्वान् मान रहे हैं। किन्तु फिर विसदृशपनका सर्वथा निराकरण कर देने से हम अस्तित्व को केवल सदृश-आत्मक नही कह रहे है। अर्थात्—गौण रूप से इनमे विसदृशता विद्यमान है।

तिसी प्रकार जन्म और विनाश में भी समझ लेना, यहा विसदृशपन अर्थ की प्रधानता है, विद्यमान भी होरहे सादृश्य का गौणभाव है। इस कारण यह जन्म या विनाश नामक विकार विसदृश स्वरूप है यो हम स्याद्वादी कोविद व्यवहार कर रहे है, जैसे कि स्पश, रस, गन्ध, वर्ण, चारो गुणो के होते हुये भी मखमल या रूई को कोमल स्पर्शवान् और नीबू, लड्डू, आदि को रसवान् पदार्थ तथा कपूर, इत्र, को गन्धवान् एवं सुन्दर शरीर चित्र, आदि को रूपवान पदार्थ कह दिया जाता है। हा उन सादृश्य, वैसादृश्य, दोनो अर्थोंकी प्रधानता से तो वृद्धि या अपक्षय ये विकार सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम-आत्मक हैं। इस प्रकार हम स्याद्वादी प्रतिज्ञा पूर्वक कहते है। क्योंकि तिस प्रकार की समीचीन प्रतीति होरही है। प्रतीतिसिद्ध पदार्थ का कौन अपलाप कर सकता है ? तिस कारण हमारे ऊपर कोई भी उलाहना नही आता है " अर्पितानर्पितसिद्धेः " यो स्वय सूत्रकार महोदय कहने वाले हैं।

संकरव्यतिकर—व्यतिरेकेणाविरुद्धस्वभावानां निःसशय तदतत्परिणामानां विनियतात्मनां जीवादिपदार्थेषु प्रसिद्धेः। सुखादिपर्यायेषु सत्त्वाद्यन्वयिविवर्तसदर्भोपलक्षितजन्मादिविकारविशेषवत्। जीवादयो द्रव्यपदार्थाः सुखादयः पर्यायाः विनियततदतत्परिणाममयत्वविवर्तयितृविकारा। इत्यकलंकदेवैरप्यभिधानात्।

" परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वे सति धर्मिणोरेकत्र समावेशः सकरः " परस्पर के अत्यन्ताभाव का समान अधिकरणपना होते सन्ते धर्मियो अथवा विजातीय धर्मों का एक स्थल मे समागम होजाना सकर दोष है। अथवा " येन रूपेण भेदस्तेन भेदश्चाभेदश्चेति सकर. "। "परस्परविषयगमन व्यतिकर " परस्पर मे एक दूसरे के विषय मे चला जाना व्यतिकर दोष है। जीव आदि पदार्थों मे सकर और व्यतिकर दोष का पृथग् भाव करते हुये अविरुद्ध अनेक स्वभावों को धार रहे और विशेषरूप से नियत होकर अपने अपने स्वरूप मे निमग्न होरहे सदृश, विसदृश, परिणामो की प्रसिद्धि होरही है, इस मे कोई सन्देह नही है जैसे कि सुख आदि पर्यायो मे सत्व, द्रव्यत्व आदि अन्वयी विवर्तों के सन्दर्भ से उपलक्षित होरहे जन्म, विनाश, आदि विशेष विकारो की लोक मे प्रसिद्धि होरही है। अर्थात्—जीव आदिक सम्पूर्ण पदार्थ सदृश, विसदृश, परिणाम-आत्मक हैं। इस बात का बालक बालिका तक जानते है। इसीप्रकार सुखादि पर्याय भी सत्व, द्रव्यत्व, आदि के अन्वय को धारती हुई सदृश-आत्मक है वे ही सुखादि पर्यायें जन्म आदि विकारों वाली विसदृश-आत्मक भी हैं। कोई संकर व्यतिकर, उभय, विरोध, आदि दोष नहीं आते है, हा इन धर्मों के अपेक्षणीय स्वभाव न्यारे न्यारे है।

माननीय श्री अकलक महाराज ने भी इस प्रकार कहा है कि जीव, पुद्गल, आदिक द्रव्य स्वरूप पदार्थ और सुख, मतिज्ञान, आदि पर्यायें ये सब विशेष विशेष के लिये नियत होरहे सदृश विसदृश परिणाम कराने वाले विवर्तयिता तत्व के विकार हैं। अथवा सदृश, विसदृश, परिणामो को स्व के अधीन कर रहे पर्यायी तत्व के ये जीवादि द्रव्य या सुखादि पर्याय विवर्त हैं। वस्तु अंशी है और द्रव्य या पर्याय उसके अंश है जो कि मूल धारा से सामान्य विशेष-आत्मक है।

ततो नावस्थितस्यैव द्रव्यस्य परिणामः, पूर्वापरस्वभावस्यागोपादानविरोधात् । नाप्यनवस्थितस्यैव सर्वथान्वयरहितस्य परिणमनाघटनादिति स्यादवस्थितस्य द्रव्यार्थादेशात्, स्यादनवस्थितस्य पर्यायार्थादेशादित्यादि सप्तभंगीभाक् परिणामो वेदितव्यः । सोयं परिणामः कालस्योपकारः, सकृत्सर्वपदार्थगस्य–परिणामस्य बाह्यकारणमंतरेणानुपपत्तेर्वर्णनात्, यत्तद्बाह्यं निमित्तं स कालः ।

तिस कारण से सिद्ध होजाता है कि सर्वथा नित्य अवस्थित होरहे ही द्रव्य के ये जन्म आदि परिणाम नहीं हैं, सर्वाङ्ग ध्रुव द्रव्य के ही इनको विकार मानने पर पूर्व स्वभावों के त्याग और उत्तर स्वभावों के ग्रहण का विरोध होजावेगा तथा सर्वथा अनवस्थित होरहे ही क्षणिक परिणाम के भी ये जन्म आदि विकार नही है । क्योंकि कालत्रय मे ओत प्रोत होरहे अन्वय से सर्वथा रहित पदार्थका परिणाम होना घटित नहीं होता है, जो दूसरे क्षण में ही मर जाता है वह परिणामों को क्या धारेगा इस कारण यहाँ स्याद्वादनीति की योजना यो कर लेना कि द्रव्यार्थिक नय अनुसार कथन करने से कथंचित् अवस्थित होरहे द्रव्य के जन्म, वृद्धि, आदिक परिणाम है और पर्यायार्थिक नय अनुसार कथन करने से कथंचित् अनवस्थित होरही पर्यायो के जन्म आदि विवर्त है, स्यात् उभय है, स्यात् अनुभय है, इत्यादि रूप से सप्तभंगी को धार रहा यह परिणाम समझ लेना चाहिये जो कि यह प्रसिद्ध होरहा परिणाम काल का उपकार है । कारण कि सम्पूर्ण पदार्थों में युगपत् (एक वार) प्राप्त होरहे परिणामो की बाह्य कारण के विना सिद्धि नही होपाती है, इसका हम वर्णन कर चुके हैं । जो उस परिणाम का वहिरंग निमित्त है वह काल पदार्थ है, वर्त्तना का निमित्त मुख्य काल द्रव्य है और परिणाम का वहिरंग कारण व्यवहारकाल है ।

ननु च कालस्य परिणामो यद्यस्ति तदासौ बाह्यान्यनिमित्तापेक्ष सन्निमित्तं परिणाममात्मसात्कुर्वदपरनिमित्तापेक्षमित्यनवस्था स्यात् । कालपरिणामस्य बाह्यनिमित्तानपेक्षत्वे पुद्गलादिपरिणामस्यापि बाह्यनिमित्तापेक्षा माभूत् । अथ कालस्य परिणामो नास्ति "सर्वार्थपरिणा निमित्तत्वात्" साधनमप्रयोजकं स्यात्तेन व्यभिचारात् ततो न कालस्य परिणामोऽनुमापक इति कश्चित् ।

यहां किसी का आक्षेप प्रवर्तता है कि जिस प्रकार जीव, घट, आदि का परिणाम होना अन्य वहिरंग निमित्तों की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार यदि काल का भी परिणाम होता है । तब तो वह काल का परिणाम यदि वहिरंग अन्य निमित्त कारण की अपेक्षा रखता सन्ता तज्जन्य परिणति को अपने अधीन करता हुआ पुन. तीसरे इतर निमित्त की अपेक्षा करेगा और तीसरे का परिणाम भी अन्य चौथे काल सारिखे वहिरग कारण की अपेक्षा रखेगा यों पाचवे, छठे आदि वहिरग कारणो की अपेक्षा की आकांक्षा बढते बढते अनवस्था होजायगी, काल के परिणाम को स्वात्म-लाभ मे यदि वहिरंग निमित्तों की अपेक्षा नही मानी जावेगी तब तो पुद्गल, जीव, आदि के परिणामों को भी वहिरंग निमित्त कारण माने जा रहे काल की अपेक्षा नहीं होवे, काल के और पुद्गल आदि के परिणामों में वहिरंग कारण की अपेक्षा रखने या नही रखने का कोई अन्तर नही दीख रहा है, या तो दोनों दोनों

अथवा कोई भी पर की अपेक्षा नहीं रखेगा । यदि आप जैन अब ऐसी विपन्न दशा में यों कहैं कि काल का परिणाम होता ही नहीं हैं, तब तो हम आक्षेप-कर्त्ता कहेगे कि सम्पूर्ण अर्थोंके परिणाम का निमित्त कारणपना यह हेतु अनुकूल तर्क वाला नही ठहरेगा क्योकि उस काल के परिणाम करके व्यभिचार होजायगा सम्पूर्ण अर्थो मे काल भी आगया किन्तु काल का परिणाम होना ही आप जैन नही मानते हैं । ऐसी दशा में सम्पूर्ण अर्थों के परिणाम करा देने मे काल निमित्त नही होसका । एक बात यह भी है कि सम्पूर्ण वस्तुओ को परिणामी मानने वाले जैनो के यहाँ काल का परिणाम नही मानने पर अपसिद्धान्त दोष आजाता है तिस कारण सिद्ध होता है, कि परिणाम होजाना काल का अनुमान कराने वाला नही है । जो कि आप जैनो ने पहिले कहा था, इस प्रकार कोई प्रतिवादी कह रहा है ।

सोपि न विपश्चित्, कालस्य सकलपरिणामनिमित्तत्वेन स्वपरिणामनिमित्तत्वसिद्धेः सकलावगाहहेतुत्वेनाकाशस्य स्वावगाहहेतुवत् सर्वविदः सकलार्थसाक्षात्कारित्वेन स्वात्मसाक्षात्कारित्ववद्वान्यथा तदनुपपत्तेः । न चैवं पुद्गलादयः सकलपरिणामहेतवः, स्वपरिणामहेतुत्वेपि सकलपरिणामहेतुत्वाभावात् प्रतिनियतस्वपरिणामहेतुत्वात् ।

आचार्य कहते हैं कि वह भी आक्षेप कर्त्ता विचारशाली पण्डित नही है जब कि काल को सम्पूर्ण पदार्थों का निमित्तपना निर्णीत होचुका है, इस व्यवस्था करके काल का स्वकीय परिणामो का भी निमित्तपना सिद्ध है । काल की परिणति मे अन्तरग कारण भी काल है, और वहिरग कारण भी काल है अपनी परिणति मे स्वय निमित्त बनजाना कोई असिद्ध नही है । यो समझिये जैसे कि आकाश को सम्पूर्ण पदार्थो के अवगाह का हेतुपन करके अपने भी अवगाह का हेतुपना सिद्ध है अथवा सर्वज्ञ को सम्पूर्ण अर्थो का प्रत्यक्षदर्शीपना होने से स्वकीय आत्मा का भी प्रत्यक्ष दर्शनपना सिद्ध है । अन्यथा वह स्वभाव बन नहीं सकता है । अर्थात्—आकाश यदि अपने को अवगाह नही देगा तो सकल अर्थो के अवगाह का हेतु नहीं होसकता है जो सर्वज्ञ स्वात्मा को ही नहीं जानता है, वह अन्य सम्पूर्ण पदार्थों को भी नहीं जान सकता है, स्वय अनुदार होरहा पुरुष दूसरे को उदार नही बना सकता है । जिस प्रकार काल अपनेसे सहित अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंके परिणामका हेतु है, इस प्रकार पुद्गल आदिक द्रव्य तो सर्व द्रव्यो के परिणाम करानेके हेतु नही होसकते हैं क्योकि अपनी अपनी परिणति का अन्तरग हेतु होते हुये भी उनमे सम्पूर्ण द्रव्यो की परिणति के हेतुपन का अभाव है, जब कि सम्पूर्ण पदार्थों मे स्वकीय स्वकीय परिणति का अन्तरग हेतुपना प्रतिनियत होरहा है, हा सूर्यके स्वप्रकाशकपनके समान काल द्रव्य मे स्व-परनिमित्तपना स्वभाव व्यवस्थित है " स्वभावोऽतर्कगोचरः । "

ये त्वाहुः, नान्यान्यं परिणामयति भावान् नासौ स्वयं च परिणमते विविधपरिणामभाजां निमित्तमात्रं भवति काल इति । तेपि न कालस्यापरिणामित्वं प्रतिपन्नाः, सर्वस्य वस्तुनः परिणामित्वात् । न च स्वयं परिणमते इत्यनेन पुद्गलादिवत् महत्त्वादेपरिणामप्रतिषेधात् । न चासौ भावानन्योन्यं परिणमयतीत्यनेनापि तेषां स्वयं परिणममानानां कालस्य प्रधानकर्तृत्वप्रतिषेधात् । तस्यापि परिणामहेतुत्वं निमित्तमात्रं भवति काल इति वचनात् । ततः सर्वो वस्तुपरिणामो निमित्तद्रव्यहेतुक एवान्यथा तदनुपपत्तेरिति प्रतिपत्तव्यः ।

जो कोई पण्डित यहाँ यों कह रहे हैं कि आप जैनो के यहां तो काल द्रव्य के लिये यों लिखा है कि वह काल द्रव्य भावो को स्वयं नही परिणमाता है और स्वयं भी परिणमन नही करता है, हां नाना प्रकार परिणामो को धारने वाले पदार्थों का वह काल केवल निमित्त होजाता है, इस प्रकार काल के परिणाम नही होना सिद्ध है, फिर आप जैनो ने कालके परिणाम होना कैसे कहा ? अर्थात्— काल द्रव्य का परिणाम नही होना चाहिये, गोम्मटसार मे कहा है कि—

ण य परिणमदि सयं सो ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं ।
विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदु ॥५६९ ॥

काल द्रव्य स्वयं परिणमन नही करता है और न दूसरे द्रव्यो को अन्य द्रव्यो के साथ परिणमन कराता है,हाँ स्वतः अनेक प्रकार परिणमन कर रहे पदार्थोंका काल द्रव्य हेतु होजाता है । यो कह चुकने पर ग्रन्थकार कहते है कि वे पण्डित भी काल के अपरिणामीपन को विश्वास प्राप्त नही करे, जब कि सम्पूर्ण वस्तुये परिणामी है तो काल का अपरिणामीपना नही समझा जा सकता है उक्त पंक्ति या गाथाका ऐदम्पर्य यह है कि काल स्वयं परिणमन नही करता है, इस विशेषण करके कालमे पुद्गल आदि के समान महत्व आदि परिणतियो का निषेध कर दिया जाता है । यानी पुद्गल की जैसे स्थूल, सूक्ष्म, भेद, आदि परिणतियां होती है अथवा जीव की जैसे मतिज्ञान, क्रोध, आदि परिणतियां होती है वैसी शुद्ध काल द्रव्य की विभाग परिणतियां नही होती हैं तथा वह काल भावो को परस्पर में नही परिणमाता है, इस दूसरे विशेषण करके भी कालके स्वयं परिणमन कर रहे उन भावोके प्रधानकर्त्तापन का प्रतिषेध किया गया है । अर्थात्–परिणाम करने मे प्रधान कर्त्ता वे पदार्थ स्वयं है, हां निश्चय काल या व्यवहारकाल साधारण निमित्त हैं, प्रेरक निमित्त नही हाँ कालकी कारणता उस उदासीन कारणता या प्रेरक-कारणता के बीच मे वर्त्तरही-सी है, प्रधान कर्त्ता या प्रेरक कारण काल नही है फिर भी उसके परिणाम का हेतुपना यानी परिणामोका केवल निमित्त कारण काल होजाता है, ऐसा जैन सिद्धान्त का वचन है, तिस कारण सिद्ध होताहै कि वस्तुओ के सम्पूर्ण परिणाम उस निमित्त कारण होरहे काल द्रव्यको वहिरंग हेतु मान कर ही होते हैं अन्यथा यानी वहिरंग निमित्त के विना उन परिणामो का होना बन नही सकता है, यह भले प्रकार विश्वासपूर्वक समझ लेना चाहिये ।

का पुनः क्रिया ?

परिणाम का विचार होचुका अब कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि सूत्र मे कही गयी क्रिया भला फिर क्या पदार्थ है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वार्त्तिको द्वारा क्रिया के लक्षण और भेदो को कहते हैं ।

परिस्पंदात्मको द्रव्यपर्यायः संप्रतीयते ।
क्रिया देशांतरप्राप्तिहेतुर्गत्यादिभेदभृत् ॥३९॥
प्रयोगविस्रसोत्पादाद्द्वेधा संक्षेपतस्तु सा ।
प्रयोगजा पुनर्नानोत्क्षेपणादिप्रभेदतः ॥४०॥

विस्रसोत्पत्तिका तेजोवाताँभःप्रभृतिष्वियं।
सर्वाप्यदृष्टवैचित्र्यात् प्राणिनां फलभागिनाम् ॥४१॥

द्रव्य की हलन, चलन आदि परिस्पन्द-आत्मक जो पर्याय भले प्रकार प्रतीत होरही है वह क्रिया है जो कि पदार्थों के प्रकृत देश से अन्य देशो की प्राप्ति का कारण है, यह क्रिया गमन, भ्रमण, आकुंचन, आदि भेदो को धार रही है, जीव के प्रयोग करके उत्पत्ति होने से और जीवप्रयत्नके अतिरिक्त अन्य विस्रसा-आत्मक कारणो करके उत्पत्ति होजाने से वह क्रिया संक्षेप से तो दो प्रकार है, हा कुशल नृत्यकारिणी के नाच या एंजन, मशीन, यंत्रालय, आदिके अनेक परिस्पन्दोकी अपेक्षा विस्तार से क्रिया के असंख्य भेद होसकते हैं, गेद का ऊपर उछालना, नीचे कूदना,पैंता फादना, पांव फैलाना इन उत्क्षेपण आदिक प्रभेदोसे वह जीवप्रयोग करके उपज रही क्रिया फिर अनेक प्रकार की है। दूसरी विस्रसा यानी जीव प्रयोगके सिवाय अन्य कारणो से जिस क्रिया की उत्पत्ति है ऐसी यह वैस्रसिक क्रिया तो तेजो द्रव्य, बिजली, अग्नि, वायु, आधी, जलप्रपात, बादल, तरंगितसमुद्र, भूकम्प आदि मे होरही अनेक प्रकार हैं ये सभी क्रियायें शुभ अशुभ फलको भोगने वाले प्राणियोके पुण्य पाप,कर्मोकी विचित्रता से होरही हैं। जगत् के बहुभाग कार्यों मे जीवो का पुण्य पाप ही साक्षात् या परम्परा से कारण पड जाता है।

क्रिया क्षणक्षयैकांते पदार्थानां न युज्यते।
भूतिरूपापि वस्तुत्वहानेरेकांतनित्यवत् ॥४२॥
क्रमाक्रमप्रसिद्धिस्तु परिणामिनि वस्तुनि।
प्रतीतिपदमापन्नाप्रमाणेन न बाध्यते ॥४३॥

बौद्धो के यहाँ मानेगये क्षणिकपन के एकान्त पक्ष मे पदार्थों की क्रिया का होना युक्त नही पडता है क्योंकि कुछ पूर्वदेशस्थिति की अवस्था को त्याग रहे और उत्तरदेशस्थिति की अवस्था को ग्रहण कर रहे तथा अन्वित रूप से कालान्तर-स्थायी होरहे नित्य, अनित्य-आत्मक पदार्थ मे ही क्रिया होना सम्भवता है "भूतिर्येषा क्रिया प्रोक्ता" जिन बौद्धों के यहा सर्वथा असत् की उत्पत्ति को ही पदार्थ की क्रिया माना गया है सो भी ठीक नही है क्योंकि "नैवासतो जन्म, सतो न नाशो" सर्वथा असत् का उत्पाद नही होता है और सत् का सर्वथा विनाश नही होता है, परिणामी वस्तु का कथंचित् उत्पाद, विनाश होता रहता है अत: कूटस्थ नित्यपन का एकान्त मानने वाले सांख्यों के यहा जैसे सर्वथा नित्य पदार्थमे क्रिया नही होपाती है उसीके समान क्षणिकपक्षमे भी क्रिया नही सम्भवती है, पदार्थों में परिस्पन्द या अपरिस्पन्द स्वरूप क्रिया को माने बिना वस्तुत्वकी हानि है, जैसे कि खर विषाण कोई वस्तु नही है।

'सत्वमर्थक्रियया व्याप्त' 'अर्थक्रिया क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता' अर्थ-क्रियाको करने वाला पदार्थ ही सत् है, प्रत्येक सत् पदार्थ में क्रमसे या युगपत् अर्थक्रिया अवश्य होती रहती है। क्रम और अक्रम की प्रसिद्धि तो परिणाम को धारने वाली वस्तु में होरही सच्ची प्रतीतियों के स्थान को प्राप्त होरही है जो कि किसी भी प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणों करके बाधित नहीं हैं। अर्थात्-श्री अकलंक देव का

सिद्धान्त वाक्य है "स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वं" स्वकीय अंशों को पकड़े रहना और परकीय स्वभावो का परित्याग करते रहना इस व्यवस्था से वस्तु का वस्तुत्व प्राप्त कराया जाता है। श्री माणिक्यनन्दि आचार्य महाराजका सूत्र है कि "पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षण-परिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च., पूर्व आकारो का परित्याग और उत्तर आकारो की प्राप्ति तथा अन्वित ध्रौव्यसे स्थिति इस परिणाम करके अर्थमे अर्थक्रिया होना बन जाता है, अतः परिणाम वस्तुमें अर्थक्रिया या क्रमयौगपद्यकी प्रसिद्धि है.यही प्रमाणो द्वारा प्रतीति होरही है। सर्वथा क्षणिक या सर्वथा नित्य अर्थ मे क्रिया नही होसकती है।

कथं पुनरेवं वधा क्रिया कालस्योपकारोस्तु यतस्तं गमयेत ? कालमतरेणानुपपद्यमानत्वात् परिणामवत् । तथाहि—मकृ सवद्रव्यक्रिया वहिरंगसाधारणकारणा, कारणापेक्षकार्यत्वात् परिणामवत् सकृत्सर्वपदार्थगतिस्थित्यवगाहवद्वा यस्तद्वहिरंगसाधारणकारणं स कालोऽन्यासभवात् ।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि आप जैनो ने वर्तना' परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व इन उपकारो करके काल का अनुमान ज्ञान किया जाना बताया है किन्तु इस प्रकार की क्रिया फिर किस प्रकार काल का उपकार होवे ? जिससे कि क्रिया उस काल को अनुमान द्वारा समझा सके ? इस प्रश्न का समाधान श्री आचार्य महाराज करते हैं कि काल के विना वह क्रिया का होना किसी भी प्रकार नही बन सकता है जैसे कि काल के विना परिणाम होने की कोई युक्ति नही है, अतः अन्यथानुपपत्ति की सामर्थ्य से क्रिया करके काल का अनुमान होजाता है, इसी को अनुमान बनाकर यो स्पष्ट समझ लीजिये कि सम्पूर्ण द्रव्यो की युगपत् होरही क्रिया (पक्ष) वहिरग किसी साधारण कारण करके की जाती है (साध्यदल) कारणों की अपेक्षा रखने वाली कार्य होने से (हेतु) परिणाम के समान (अन्वय दृष्टान्त) अथवा सम्पूर्ण गतिमान् जीव, पुद्गल पदार्थों की युगपत् होरही गति और सम्पूर्ण स्थितिशील पदार्थों की एक ही वार मे होरही स्थिति तथा सम्पूर्ण पदार्थों का एक ही साथ होरहा अवगाह ये क्रियायें जैसे वहिरंग साधारण कारणो की अपेक्षा रखती हैं (अन्य तीन अन्वयदृष्टान्त) जो कोई यहा क्रियामे वहिरग साधारण कारण है वही काल पदार्थ है अन्य किसी पदार्थ की सम्भावना नही है।

अर्थात्-पदार्थों के परिणाम होने मे साधारण कारण काल (व्यवहार काल) निर्णीत कर दिया गया है पदार्थों की गति में साधारण कारण धर्म द्रव्य को बता दिया है, पदार्थों की स्थिति में उदासीन निमित्त अधर्म द्रव्य समझाया जा चुका है, आकाश द्रव्य को सब के अवगाह का हेतुपना प्रतीत करा दिया है। इसी प्रकार सभी परिस्पन्द-आत्मक क्रियाओंका वहिरंग कारण काल है। उदासीन कारण तथा च—प्रेरक कारण, निमित्त, उपादान कारण, प्रयोजक कर्ता, साधकतमकरण, अन्तरंग कारण, वहिरंग कारण, इत्यादि अनेक प्रकार कारणों में किसी को निर्बल दूसरे को सबल या किसी को छोटा बड़ा अथवा प्रधान अप्रधान, या मूल्यवान् नहीं कह देना चाहिये देखो पुत्र की उत्पत्ति में माता पिता निमित्त हैं, विद्या पढाने में गुरू जी निमित्त हैं, मोक्ष प्राप्ति मे देव, शास्त्र, गुरू भी निमित्त ही हैं, सिद्ध क्षेत्र,जिनालय,जिनविम्ब ये सब धर्मलाभके निमित्त ही तो हैं। इन सब निमित्तों की हम पूजा करते हैं। उपादान का उतना आदर नही है। हा उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणीमें

निज शुद्ध आत्माका ध्यान करनेपर उपादानका आदर बढ़ जाता है। उदासीन कारण रूप वृद्धाके पडे रहनेसे चोर या कुशील पुरुष घरमें नहीं घुस पाते हैं। अचेतन उपादान कारणोसे नाना कार्योंको चेतन कर्त्ता बना रहे हैं। यहाँ निमित्त कारण चेतन कर्त्ताओ की अपेक्षा, काठ, कुल्हाडी, छनी आदि का अधिक सम्मान नही है, हां सोने के कडो को गढते समय, हथोड़ा, चीमटा, आदि निमित्तो से उपादान मानेगये सोने का मूल्य अधिक है, जब कि काच को काटने वाली हीरा की कनी के मूल्य से काच का मूल्य अल्प है, मछली को चलाने में उदासीन निमित्त होरहे जलकी सामर्थ्य न्यून नही समझी जा सकती है।

उपादान कारण होरहे जीवो की अपेक्षा निमित्त कारण कर्मो की शक्ति प्रवल है तभी तो वे कर्म इस जीव को नाना गतियोमे नचाते फिरते है, हाँ स्वकीय पुरुषार्थद्वारा कर्मोंका ध्वस करते समय उपादान की शक्ति बढ़ जाती है। न्यायी राजा, इह लोकभय, पर लोकभय, सभ्यता, ये प्रेरक निमित्त नही होते हुये भी अनेक पुरुषो को पापक्रिया करने से बचा लेते हैं, गर्म कील का स्थान दे रहे काठकी अवगाह शक्ति की अपेक्षा सबको युगपत् अवकाश दे रहे आकाश को अवगाह शक्ति बढी चढी है, यहाँ वहाँ फुदक रहे जीव की गति मे प्रेरक कारण होरही शक्ति की अपेक्षा स्थिर कालाणु की वह शक्ति प्रबल है जो कि नित्य निगोदिया जीव के व्यवहार राशिमे आगमन का कारण है अत. झट मे विना विचारे ही किसी उदासीन कारण को अप्रधान और प्रेरक या उपादान का प्रधान नही कह बैठना चाहिये। कारणोका अपमान इससे अधिक और क्या होसकता है? पहिले कतिपय दृष्टान्तो मे लोहे को अल्प मूल्य और सोने को बहुमूल्य कह दिया गया है, यह कहना भी व्यावहारिक है, कोई लोहा भी सोने से अधिक मूल्य रखता है। अनेक धान्य, वनस्पतिओ को उपजाने वाली मिट्टी की प्रशंसा सोने से कम नही है, जल अग्नि, वायु भी बडे मूल्यवान् पदार्थ हैं। उक्त बातें केवल कारण तत्व की तह पर पहुंचाने के लिये कही गयी थी वस्तुत. विचारा जाय तो सभी कारण अपनी अपनी योग्यता अनुसार परिपूर्ण सामर्थ्यको रखते है, कोई छोटा बडा नही है। अन्न या जलमे अथवा माता या पितामे किसको छोटा बड़ा कह दिया जाय? कारणो की शक्ति पर किसी प्रकार का पर्यनुयोग नही चलाना चाहिये प्रकरण मे उदासीन कारण या साधारण कारणको छोटा मत समझो, अपेक्षा वश सभी कारण उच्च आसन पर विराजमान किये जा सकते है। यहा तक क्रियामे साधारण कारण होरहे काल की अनुमान द्वारा सिद्धि कर दी गयी है।

के पुनः परत्वापरत्वे ?

वर्तना, परिणाम, और क्रिया का विवेचन समझ लिया है। अब महाराज यह बताओ कि सूत्र मे कहे गये परत्व और अपरत्व भला क्या पदार्थ हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार परत्व और अपरत्व का लक्षण करते हैं—

विप्रकृष्टेतरदेशापेक्षाभ्यां प्रशस्तेतरापेक्षाभ्यां च परत्वापरत्वाभ्यामनेकांतप्रकरणात् अपरदिक्संबंधिनि निवेद्य वृद्धलुब्धके परत्वप्रत्ययकारणं परत्वं, परदिक्संबंधिनि च प्रशस्ते कुमारतपस्विन्यपरत्वप्रत्ययहेतुरपरत्वं न तद्धि गुणकृत नचाहेतुकमिति तद्धेतुना विशिष्टेन भवितव्यं स नः काल इति।

दूरदेश-वर्ती और उससे न्यारे निकटदेश-वर्ती पदार्थों की अपेक्षासे होनेवाले तथा प्रशंसनीय और अप्रशसनीय पदार्थोंकी अपेक्षाओ करके होने वाले दैशिक या गुणकृत परत्व, अपरत्व दोनों करके व्यभिचार हो जानेका प्रकरण आता है। अर्थात्-कालिक परत्वापरत्वके प्रकरणमे देश, दिशा या गुण, दोषकी अपेक्षासे होरहे परत्व.अपरत्वोमे वैपरीत्य होजाता है । देखिये निकट देश-वर्त्ती अपर दिशाका सम्बन्ध रखने वाले अप्रशस्त (चाण्डाल) लोभी वृद्ध मनुष्य मे परत्व (ज्येष्ठत्व) ज्ञान का कारण परत्व स्वभाव है। तथा दूर देश-वर्त्ती पर दिशाका सम्बन्ध कर रहे प्रशस्त कुमार अवस्थावाले तपस्वी मे अपरत्व ज्ञान का कारण अपरत्व धर्म विद्यमान है. वह बुड्ढे पुरुष मे वर्त रहा परत्व और कुमार मुनि मे पाया जा रहा अपरत्व धर्म जब कि गुणो के द्वारा किया गया तो नही है यानी गुण के द्वारा किया गया होता तो युवा तपस्वी को पर कहना चाहिये था और निकृष्ट लोभी वृद्ध को अपर कहा जा सकता था । इसी प्रकार वह परत्व, अपरत्व दिशाकृत भी नहीं है। दिशा कृत होते तो निकट देश मे वर्त रहे बुड्ढे को अपर कहना चाहिये और बुड्ढे की अपेक्षा बहुत दूर देश मे स्थित होरहे कुमार तपस्वी को पर कहना चाहिये था किन्तु यहा उल्टी ही, दशा है वृद्ध को पर कहा जा रहा है और युवा साधुको अपर कहा जा रहा है । उक्त परत्व, अपरत्व स्वभाव विचारे हेतु के विना ही किये जा रहे तो नही माने जा सकते है, क्योकि जो पहिले नही होता हुआ पुन उपजता है वह अवश्य कारणो से जन्य है। इस कारण उन परत्व, अपरत्वो का कारण दिशा या देश और गुण या दोष तो नही है। उनका कारण इन दिशा या गुण के अतिरिक्त कोई विशिष्ट पदार्थ होना चाहिये, बस वही पदार्थ हम स्याद्वादियो के यहा काल माना गया है, इस प्रकार काल की सिद्धि हो जाती है ।

काले तर्हि दिग्भेदगुणदोषानपेक्षे परत्वापरत्वे परः कालोऽपरः काल इति प्रत्यय-विशेषनिमित्ते किं कृते स्यातामिति चेत्, अध्यारोपकृते गौणे इति केचित् । स्वहेतुके मुख्ये एव स्वान्यप्रत्ययसमधिगमत्वादित्यन्ये ।

यहां किसी पण्डित का आक्षेप है कि ज्येष्ठ, कनिष्ठ, जीव आदि पदार्थों मे परत्व, अपरत्व, यदि काल कृत हैं तो फिर काल में "यह सौ वर्ष का काल पर है, यह दो वर्ष का काल अपर है" इस प्रकार ज्ञान विशेष कराने के निमित्त होरहे परत्व, अपरत्व भला किस पदार्थ के द्वारा किये गये होगे ? बताओ, दिशाओ के भेद या गुण दोषो की अपेक्षा से तो काल मे परत्व अपरत्व नही किये जा सकते है, कारण कि व्यवहार काल मे दिशा भेद का अथवा गुण दोषो का प्रकरण ही कोई नही है, यदि अन्य कालकी अपेक्षा इस कालमे परत्व अपरत्व किये जायगे तो उसमे भी परत्व,अपरत्वको करने के लिये अन्य कालोकी अपेक्षाको आकाक्षा बढ़ती जा रही होने से अनवस्था दोष आजावेगा । इस आक्षेप का उत्तर कोई उतावले पण्डित झट यो दे बैठते हैं, कि काल मे परत्व, अपरत्व तो केवल आरोप किये गये हैं। मूर्त द्रव्यो मे पाये जा रहे परत्व, अपरत्व के समान वे मुख्य नही है, गौण हैं। जैसे कि जपाकुसुम की लालिमा का आरोप स्फटिक मे कर लिया जाता है। इस समाधान मे अस्वरस है, अत: ग्रन्थकार दूसरे अन्य विद्वान् करके इसको योग्य समाधान कराये देते हैं, कि व्यवहार काल मे होरहे वे परत्व अपरत्व भी मुख्य ही है, और उनका कारण वह काल स्वय है। क्योकि स्व और अन्य के परत्व, अपरत्व, का कारण होरहेपन करके वह काल भले प्रकार जाना जा रहा है, आकाश भी तो स्व और पर को अवगाह देता है, सर्वज्ञका ज्ञान या सभी ज्ञान स्व-पर-ज्ञायक हैं, सूय स्व-पर-प्रकाशक है इत्यादि दृष्टान्तो अनुसार काल को भी स्व और पर के परत्व, अपरत्वो, का हेतुपना निर्णीत

होजाता है, इस अन्य विद्वानों के समाधान में ग्रन्थकार की भी शुभ सम्मति है।

न चैवं सर्वद्रव्येषु स्वहेतुके परत्वापरत्वे प्रसज्येते, निंबादौ स्वहेतुकस्य तिक्तत्वादे-र्दर्शनादोदनादावपि तस्य स्वहेतुकत्वप्रसंगात् निंबादिसंस्कारानपेक्षत्वापत्तेः।

यदि यहां कोई यों कहे कि जैसे काल में परत्व अपरत्व स्वयं कृत है, उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्यो मे भी स्वयं निज को हेतु मान कर परत्व अपरत्व होजायगे, व्यर्थ काल को मानने की आवश्यकता नही। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार प्रसंग नही उठाया जा सकता है, क्योंकि यों तो नीम, नीबू मिरच, लवण आदि मे स्वय को ही हेतु मान कर उपज रहे तिक्तपन (कडुआ) कटुपन (चरपरा) नुनखरा आदि रसो का देखना होने से भात, दाल, साग, आदि मे भी प्राप्त हुये उस कडुआपन आदि को स्व यानी भात आदि को ही हेतु मानकर उपज जानेका प्रसंग आवेगा, ऐसो दशा मे भात आदिको नीम, जीरा, मिरच, निबुआ आदि के सस्कार (छोक) की अपेक्षा नही रखने की आपत्ति आवेगी जो किसी को इष्ट नही है, दीपकका स्व पर प्रकाशकत्व धर्म मिट्टीके घड़मे नही धरा जा सकता है।

व्यवहारकालस्य परिणामक्रियापरत्वापरत्वैरनुमेयत्वाच्च न मुख्यकालापेक्षया चोद्यमनवद्यं। द्विविधो ह्यत्र कालो मुख्यो व्यवहाररूपश्च तत्र मुख्यो वर्तनानुमेयः, व्यवहारकालस्तु परिणामाद्यनुमेयः प्रतिपादितः सूत्रेऽन्यथा परिणामादिग्रहणानर्थक्यप्रसंगात् वर्तनाग्रहणेनैव पर्याप्तत्वात्।

एक बात यह भी है कि वर्तना करके मुख्य काल का अनुमान करा दिया गया था अब परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व करके व्यवहार कालका अनुमान कर लेना योग्य है, अतः मुख्य काल की अपेक्षा करके उठाया गया उक्त तर्क (कटाक्ष) निर्दोष नही है। देखो यहा प्रकरण मे एक मुख्य दूसरा व्यवहार रूप यों काल दो प्रकारका माना गया है। उन दो मे मुख्य काल आचार्य करके वर्तना के द्वारा अनुमान करने योग्य बताया जा चुका है, दूसरा व्यवहार काल तो परिणाम, क्रिया आदि करके अनुमान कर लेने योग्य है, यह सूत्र मे समझा दिया गया है। अन्यथा यानी सूत्रकार द्वारा दो मुख्य और व्यवहार काल का प्रतिपादन किया जाना यदि नही माना जायगा तो सूत्र मे परिणाम, क्रिया, आदि के ग्रहण के व्यर्थपन का प्रसग होगा क्योंकि निश्चय काल को सिद्धि के लिये तो केवल सूत्र मे वर्तना के ग्रहण करके ही परिपूर्ण कार्य का निर्वाह होजाता। अर्थात्—परिणाम आदिक व्यर्थ होकर ज्ञापन करते हैं, कि मुख्य काल से अतिरिक्त व्यवहार काल भी है। द्रव्य सग्रह मे कहा है कि "दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो। परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खोय परमट्टो" शुद्ध द्रव्य मानेगये मुख्य काल मे तो परत्व, अपरत्व, प्रत्यय उपजते ही नही हैं। वैशेषिको ने भी मूर्त द्रव्यो मे ही दैशिक या कालिक परत्व, अपरत्व स्वीकार किये हैं। फिर भी कोई यदि सुदर्शन मेरु की चोटी में बैठी हुई कालाणु की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि मे धरी हुई कालाणु को पर कहे या सौ वर्ष पहिले का कालाणु की पर्याय को दश वर्ष पूर्व की कालाणु अपर पर्याय अपेक्षा पर कहे तो हमको काल मे भी दिशा या व्यवहार काल करके किये गये परत्व, अपरत्व, मानने में कोई आपत्ति नही है, हा व्यवहार-कालमे ही यदि परत्व अपरत्व धरा जाय तो वह स्वयं व्यवहार काल करके सम्पादित होजाता है जैसे कि प्रभावशाली धार्मिक पुरुष स्वय धर्मको बढ़ाता हुआ दूसरे भद्र जीवोंको भी समीचान धर्मसे संस्कारित कर देता है, अतः व्यवहार काल की पुष्टि, करते समय मुख्य काल की अपेक्षा करके उठाया गया कुतर्क अच्छा नहीं है।

कः पुनरसौ मुख्यः कालो नाम ?

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि फिर भला वह मुख्य काल क्या पदार्थ सम्भवता है ? समझाओ तो सही। ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वार्तिको द्वारा समाधान करते हैं।

लोकाकाशप्रभेदेषु कृत्स्नेष्वेकैकवृत्तितः।
प्रतिप्रदेशमन्योन्यमबद्धाः परमाणवः ॥४४॥
मुख्योपचारभेदैस्तेऽवयवैः परिवर्जिताः।
निरंशा निष्क्रिया यस्मादवस्थानात्खदेशवत् ॥४५॥
अमूर्तास्तद्वदेवेष्टाः स्पर्शादिरहितत्वतः।
कालाख्या मुख्यतो येस्तिकायेभ्योन्ये प्रकाशिताः ॥४६॥

अखण्ड लोकाकाश के परमाणु बराबर कल्पित किये गये सम्पूर्ण प्रभेदो पर प्रत्येक प्रदेश मे एक एक कालद्रव्य की वृत्ति अनुसार परस्पर मे एक दूसरे से नही बंध रही काल परमाणुये हैं, भले ही निरन्तराल ठसाठस भर रही होने के कारण उन का परस्परमे सयोग बना रहे। वे कालाणुये मुख्य या उपचार इन भेदों वाले अवयवो करके रहित है। अर्थात्—पुद्गल परमाणु जैसे उपचरित अवयवो करके सहित है, और घट, पट, आदि स्कन्ध तो मुख्य अवयवो करके सहित है ही वैसे अवयवो से युक्त कालाणु नही है, कालाणुये निरवयव हैं, अत एव अंशो यानी अवयवो करके रहित होरही कालाणुये निरश कही जाती है, कालाणुये देश से देशान्तर होना स्वरूप क्रिया से रहित हैं, जिस कारण आकाश प्रदेशो के समान अवस्थित होने से वे क्रियारहित होरही है। अर्थात्—आकाश के प्रदेश जैसे जहाँ के तहाँ स्थित हैं, वैसे ही कालाणुये अवस्थित है, अथवा आकाश द्रव्य जैसे अपनी एक सख्या को नही छोड़ता है या आकाश के प्रदेश अपना नियत होरही जिनदृष्ट मध्यम अनन्तानन्त-संख्याका न्यून, अधिक-पना नही करते हुये उतने के उतने ही अवस्थित रहते है, उसी प्रकार कालाणुये भी अपनी नियत होरही मध्यम असख्यातासख्यात यह इतनी परिमाणवाली संख्या का अतिवर्तन नहीं करती हैं।

तथा उन्ही आकाश द्रव्य या आकाश प्रदेशो के समान वे कालाणुये भी अमूर्त इष्ट की गयी हैं,क्योंकि वे स्पर्श रस, गन्ध आदिसे रहित हो रही है हाँ कालाणुओंमें ठीक घन समचतुरस्र छह पैलू बरफीके आकार वाली पुद्गल परमाणु के समान आकृति अवश्य है। जगतमे ऐसी कोई वस्तु नही है, जिसकी कुछ न कुछ लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई नही होय, सम्पूर्ण द्रव्यो मे पाये जा रहे प्रदेशवत्वगुण के विकार होरही आकृति का होना अनिवार्य है, इस प्रकार सूत्रकार ने धर्म, अधर्म आकाश, द्रव्यो के लिये "नित्यावस्थितान्यरूपाणि" "निष्क्रियाणि च" सूत्रो करके जो विधान किया है वह विधान ग्रन्थकार ने काल द्रव्य में भी व्यवस्थित कर दिया है, हाँ "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" इस सूत्र द्वारा धर्म आदिकों में जो प्रदेश प्रचय होने से कायपन की विधि की है, वह सर्वदा परमाणु के

बराबर होरहे काल द्रव्य में लागू नहीं है, कारण कि जो मुख्य रूप से काल नामक द्रव्य हैं, वे श्रुत ज्ञान में पांच अस्तिकायों से न्यारे प्रकाशित किये गये हैं, काल द्रव्य में प्रदेशो का संचय कथमपि नहीं है।

व्यवहारात्मकः कालः परिणामादिलक्षणः।
द्रव्यवर्तनया लब्धकालाख्यस्तु ततोऽपरः ॥४७॥

मुख्य काल और अन्य पांचों द्रव्यों मे पाये जा रहे अनेक परिणाम जिसके ज्ञापक चिन्ह हैं वह व्यवहार-आत्मक काल है। तथा जीव पुद्गलो में पायी जा रही परिस्पन्दआत्मक क्रिया भी जिसका ज्ञापक लक्षण है वह व्यवहार काल है एवं जीव पुद्गलोंके विवर्तोंमे पाये जारहे कालिक परत्व अपरत्व भी जैसे व्यवहारके ज्ञप्तिकारक लिंग हैं। अर्थात्-धर्म,अधर्म,आकाश काल इन द्रव्यो का अनादि अनन्त अवस्थान का कोई छोटा या बड़ा नही है अतः इनमे कालिक परत्व,अपरत्व नही माना जा सकता है, हां धर्म आदिको के पर द्रव्य को निमित्त मानकर हुये कतिपय स्वभावो मे परत्व अपरत्व माना जा सकता है जैसे कि श्री ऋषभदेव भगवान् की मोक्ष के प्रति गतिहेतुत्वगुण के स्वभाव की अपेक्षा भगवान् श्री महावीर स्वामी का मोक्षगमनहेतुत्व नामक धर्म द्रव्य का स्वभाव अपर है एक वर्ष पूर्व नित्य निगोद से निकलने वाले व्यवहार राशि क जीव की मन्द कषाय परिणति के सम्पादक कालाणु के तत्कालीन उपजे स्वभाव की अपेक्षा सौ वर्ष पहिले नित्य निगोद से निकालने वाली किसी जीव की परिणति का सम्पादक हुआ सौ वर्ष पहिला कालाणु का स्वभाव पर है।

भगवान् शान्तिनाथ को सिद्धक्षेत्र मे अवगाह देने वाले आकाश के अवगाहकत्व स्वभाव की अपेक्षा श्री नेमिनाथ को सिद्धक्षेत्र मे अवस्थान देने वाला आकाश के अवगाहगुण का स्वभाव अपर (पुराना) था शुद्ध द्रव्यो मे भी भिन्न भिन्न समयो मे होने वाली अनेक द्रव्यो की परिणतियो के सम्पादक अनन्तानन्त उत्पाद विनाश-शाली स्वभाव माने जाते हैं उस द्रव्य के आत्मभूत होरहे विशेष स्वभाव को माने बिना उस द्रव्यके द्वारा किसी भी विशेष कार्यका सम्पादन नही हो सकता है। दर्पण मे हजारो,लाखों पदार्थों का प्रतिविम्ब पडता है इसका रहस्य भी यह है कि पुद्गल-निर्मित दर्पण नामक अशुद्ध द्रव्य के स्वच्छत्व या प्रतिविम्बकत्व नामक पर्यायशक्तिस्वरूप गुण के अनेक उत्पाद विनाशशाली स्वभाव है जो कि प्रतिविम्ब्य पदार्थों के योग,वियोग-अनुसार उपजते,विनशते,रहते हैं।

एक युवा मनुष्य अपने मुख करके पान, इलायची, सुपारी, रबड़ी,कडी रोटी,नरमपूरी,हलुआ भुंजेचना,दूध,मलाई,रसगुल्ला,इमर्ती,पेड़ा,सकलपारे,चिरवा,ककड़ी,भुरभुरा गजक,आदि का खाता है। यहा प्रत्येक के खाने मे मुख की क्रिया और जबडो का प्रयत्न न्यारा न्यारा है जिस प्रयत्न से हलुआ खाया जाता है उस प्रयत्न से चने नही चबे जा सकते हैं तथा जो देवदत्त बीस सेर वजन ले जाता है वह एक सेर बोझ को भी ढो लेता है किन्तु बीस सेर,पन्द्रह सेर,दस सेर,पाच सेर, बोझा ढोने के प्रयत्न न्यारे न्यारे हैं, पांच सेर को ढोनेके लिये किये गये पुरुषार्थ करके बीस सेर बोझा नही लादा जा सकता है यहाँ तक कि सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर सेर,छटाक,तोला,माशा,रत्ती,चावल,पोस्त, बालाग्र, तक के ढोने मे न्यारा न्यारा पुरुषार्थ तारतम्य मुद्रा से मानना पड़ेगा। कुर्सी, मूढ़ा, खाट, गदेला, तख्त, भूमि चौकी,पलंग,गाडी,हाथी,घोड़ा,ऊंट,खच्चर,टट्टू,अरबी घोड़ा आदि पर बैठने के स्वभाव न्यारे न्यारे हैं सीधे साधे टट्टू पर ही चढ़े रहनेवाले पण्डितजी महाराज तुर्की घोड़ा या ऊंट पर नहीं बैठ सकते हैं क्योंकि उनके पास वैसे उसके उपयोगी स्वभाव या पुरुषार्थ नही हैं।

बात यह है कि अल्प से अल्प कार्य के लिये भी कारण में न्यारा न्यारा स्वभाव मानना पड़ता है चाहे वह कारण शुद्ध द्रव्य हो अथवा अशुद्ध द्रव्य होय। पर निमित्त-जन्य ऐसे स्वभावोके उपजने या विनशजाने से शुद्ध द्रव्य के शरीर मे कोई क्षोभ नही पहुँचता है जैसे कि दर्पण मे पवित्र, अपवित्र,नरम कठोर,भक्ष्य अभक्ष्य,साधु, वेश्या,अग्नि जल,गोप्य अगोप्य,चल स्थिर,शास्त्र शस्त्र, आदि असख्य पदार्थों का प्रतिविम्ब के पड़ जाने से दर्पण के निज डील में कोई क्षति नही आजाती है हां दर्पण के स्वभावो का परिवर्तन अवश्य मानना पड़ेगा। एक छीके पर दस सेर,पाच सेर,एक तोला,आदि बोझके लटकाने की अवस्थाओं में उसकी रस्सी की परिणति न्यारी न्यारी अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी इसीप्रकार सभी द्रव्यों में भिन्न भिन्न छोटे बडे कार्यों की अपेक्षा उतने अनेक स्वभाव मानने पड़ते हैं, यह जैन न्याय का बहुत अच्छा परिष्कृत सिद्धान्त है।

इस प्रकार परिणाम आदि ज्ञापक लक्षणों करके अनुमित हो रहा व्यवहार-आत्मक काल है और द्रव्य की वर्तना करके जिसने काल इस संज्ञा को प्राप्त किया है वह मुख्य काल तो उस व्यवहार काल से निराला है। अर्थात्—द्रव्यो के पर्यायो की वर्तना करके मुख्य काल का अनुमान कर लिया जाय और परिणाम आदि करके व्यवहार काल की अनुमिति कर लो जाय जगत् का छोटे से छोटा भी कोई पूरा कार्य एक समयसे कमती कालमें नही हो पाता है, उस अविभागी कालांश समय के समुदायों की या सूर्योदय आदि की अपेक्षा अनेक व्यवहार काल मान लिये जाते हैं। द्रव्य के परिवर्तन रूप व्यवहार काल है।

कुतश्चित् परिच्छिन्नो ऽन्यपरिच्छेदनकारणम्।
प्रस्थादिवत्प्रपत्तव्योन्योन्यापेक्षभेदभृत् ॥४८॥
ततस्त्रैविध्यसिद्धिश्च तस्यभूतादिभेदतः।
कथंचिन्नाविरुद्धा स्यात् व्यवहारानुरोधतः॥४९॥

वह व्यवहार काल किसी एक पदार्थ करके परिच्छिन्न (नाप) कर लिया जाता है, और अन्य की परिच्छित्ति का कारण होजाता है, प्रस्थ अढइया, धरा, आदि के समान समझ लेना चाहिये। अर्थात्—जैसे दक्षिण देश मे आधा सेर, सेर, ढाई सेर आदि को नापने के लिये वर्तन बने हुये हैं, वे पहिले दूसरे नापने वाले पदार्थ करके ठीक मर्यादित कर दिये जाते हैं और पीछे अन्य गेंहू, चावल, आदिसे नापने या तोलने के कारण होजाते हैं, उत्तर प्रान्त मे भी दूध का पऊआ, अधसेरा, सेर, आदि के नियत वर्तनों करके परिच्छेद कर लिया जाता है अथवा लोहे, पथरा, पीतल, के बाट भी दूसरे बांटों से तोल नाप कर बना लिये जाते हैं, पुन वे सेर, दुसेरी, मनौटा आदि के बांट इतर, चना, गेंहू, घृत, खांड़, सुपारी आदिको तोलने के कारण होजाते हैं, इसी प्रकार गायो के दोहने के अवसर को गोदोहन वेला कह दिया जाता है, गायें धूल उडाती हुयीं चरागाह से जब घर को लौटती है, इस क्रिया अनुसार गो धूल समय नियत करलिया जाता है कलेऊ करने की क्रियासे कलेऊ का समय निर्धारित होजाता है, कलेऊ के समय तुम गांव को जाना, यों उस व्यवहार काल द्वारा गाव को जाने की परिच्छित्ति करा दी जाती है।

परमाणु की एक प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश तक होने वाली मन्दगति अनुसार सबसे छोटे कालांश होरहे समय को नाप लिया जाता है, जगत् का कोई भी पूरा कार्य एक समय से कमती काल में नहीं होसकता है। यह व्यवहार काल परस्पर की अपेक्षा से होरहे प्रभेदो को धार रहा है यानी भविष्यकाल कुछ देर पीछे वर्तमान होजाता है, वर्तमान काल थोडी देर पश्चात् भूत होजाता है, भूतकाल चिरभूत होजाता है, तथा भूत को पूर्व-वर्ती मान कर काल मे वर्तमानपन का व्यपदेश है, और वर्तमान को बीच मे डाल कर आगे पीछे के कालो को भूत, भविष्य-पन का व्यवहार कर दिया जाता है, तिस कारण परस्परापेक्ष होने से उस काल से भूत, वर्तमान आदि भेदों करके त्रिविधपन की सिद्धि होजाती है- लौकिक व्यवहारो के अनुसार काल मे किसी न किसी अपेक्षा से होरही भूत, वर्तमान भविष्यपन की व्यवस्था अविरुद्ध है, कोई भी वादी, प्रतिवादी इसका विरोधी नहीं है जो भी कोई पण्डित "वर्तमानाभाव-पततः पतित पतितव्य-कालोपपत्ते. ॥३७॥" तयोरप्यभावो वर्तमानाभावे-तदपेक्षत्वात् ॥ ३८ ॥" नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धिः ॥ ३९ ॥" गौतम न्यायसूत्र मे यो वर्तमान काल का खण्डन मण्डन करते है, उन सब को व्यवहार के अनुरोध से तीनो काल मानने पडते हैं।

यथा प्रतितरु प्राप्तप्राप्नुवत्प्राप्स्यदुच्यते ।
तरुपंक्ति क्रमादश्वप्रभृत्यनुसरन् मतं ॥५०॥
तथावस्थितकालाणूनां जीवाद्यनुसंगमात् ।
भूतं स्याद्वर्तमानं च भविष्यच्चाप्यपेक्षया ॥५१॥

काल के त्रित्व को आचार्य दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं, कि बाग मे गमन कर रहे घोडा, देवदत्त, आदि द्रव्य जिस प्रकार वृक्षो की पंक्ति का क्रम मे अनुसरण कर रहे सन्ते एक एक वृक्ष के प्रति प्राप्त होचुके, प्राप्त होरहे, प्राप्त होवेंगे, यो कहे जा रहे माने गये हैं, तिस प्रकार जहा तहा अवस्थित होरहे कालाणुओं का अनुगमन करने मे जीव आदि द्रव्य भी अपेक्षा करके भूत और वर्तमान तथा भविष्य कह दिये जाते हैं।

भूतादिव्यवहारोतः काले स्यादुपचारतः ।
परमार्थात्मनि मुख्यस्तु स स्यात् सांव्यवहारिके ॥५२॥

इस कारण यानी क्रियावान् द्रव्यों की अपेक्षा होने से अथवा व्यवहार काल के द्वारा किया गया होने से परमार्थ स्वरूप मुख्य काल में भूत आदि का व्यवहार तो उपचार से ही कहा गया माना जाता है। अर्थात्—निकट-वर्ती विवक्षित द्रव्य की वर्तना का अनुभव कर चुकी कालाणु भूत कही जाती है, और उस द्रव्य को वर्ता रही कालाणु वर्तमान मानी जाती है, तथा भविष्य मे उस द्रव्य की वर्तना का सम्बन्ध करने वाली कालाणु भी भविष्य कह दी जाती है। हां समीचीन व्यवहार काल में तो वह भूत, वर्तमान, आदि का व्यपदेश मुख्य ही होगा जैसे "यष्टिः पुरुषः", यहाँ लकड़ी में छड़ीपन का व्यवहार मुख्य है, और पुरुष में लकडीपनका व्यवहार लाक्षणिक होरहा गौण है, उसी प्रकार काल परमाणु में भूत आदि व्यवहार गौण है, हाँ व्यवहारकाल में भूत, वर्तमान, भविष्यपन मुख्य हैं।

एवं प्रतिक्षणादित्यगतिप्रचयभेदतः ।
समयावलिकोच्छ्वासप्राणस्तोकलवात्मकः ॥५३॥
नालिकादिश्च विख्यातः कालोनेकविधः सतां ।
मुख्यकालाविनाभूतां कालाख्यां प्रतिपद्यते ॥५४॥

इस प्रकार ढाई द्वीप मे प्रति क्षण होरही सूर्य की गति के समुदाय के भेद प्रभेदो से समय, आवलि, उत्श्वास, प्राण, स्तोक, लव स्वरूप और नाली, मुहूत. दिन, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष,पूर्व आदिक अनेक प्रकार व्यवहार काल सज्जन विद्वानों के यहाँ प्रसिद्ध होरहा है, जो कि मुख्य काल के विना नही होने वाले व्यवहार काल इस संज्ञा को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् मन्दगति से परमाणु का दूसरे प्रदेशपर गमन जितने काल मे हो वह एक समय नामका व्यवहार काल है।

जघन्य युक्तासंख्यात प्रमाण समयों का पिण्ड काल आवलि है, संख्यात आवलियो का समूह उच्छ्वास काल है, नीरोग पुरुष का एक वार मे श्वास चलना या नाडी की गति होना उच्छ्वास प्राण कहा जाता है,सात उच्छ्वास काल का समुदाय एक स्तोक होता है सात स्तोक काल का एक लव होता है,साढे अडतीस या साढे सेतीस लव कालका संघात एक नाली यानी घडी है,दो घडीका एक मुहूर्त होता है, तीसमुहूर्तका एक दिन रात, और पन्द्रह दिन रात का एक पक्ष दो पक्षका एक मास,दो मास की एक ऋतु, और तीन ऋतु का एक अयन होता है, दो अयन काल का एक वर्ष होता है, चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वाङ्ग होता है. चौरासी लाख पूर्वाङ्गो का एक पूर्व होता है. अथवा सात नील पांच खर्व साठ अरब ७०५६०००००००००० वर्षों का एक पूर्व होता है, असंख्याते पूर्वो का एक उद्धार पल्य होता है, दस कोटाकोटि उद्धार पल्यो का एक उद्धार सागर होता है असंख्याते उद्धार सागरो का एक अद्धासागर होता है, बीस कोटाकोटी अद्धासागरो का एक कल्प काल होता है, असंख्यात कल्प कालो का एक सूच्यंगुल काल होता है।

यानी एक प्रदेश लम्बे चौडे और आठ पडे जो प्रमाण उत्सेधांगुल परिमित ऊंचे आकाश मे परमाणु वरोबर उतने प्रदेश है, जितने कि असंख्याते कल्पकालो के समय है, यो अनेक प्रकार व्यवहार काल सज्जनो के यहा मान्य है । श्वेताम्बर भाई मुख्य काल को नही मान कर केवल व्यवहार काल को मान बैठे हैं, वे उचित मार्ग पर नही चल रहे है, व्यवहार काल मुख्य का अविनाभावी है जैसे कि देवदत्त में उपचार से आरोपा गया सिंहपना क्वचित् मुख्य सिंह को माने बिना नहीं घटित होपाता है।

परापरचिरक्षिप्रक्रमाक्रमधियामपि ।
हेतुः स एव सर्वत्र वस्तुनो गुणतः स्मृतः ॥५५॥

किसी बुड्ढे में परपने की बुद्धि, बालक में अपरपने की कनिष्ठ बुद्धि, देरी से किये गये कार्यं में चिरपने की बुद्धि, शीघ्र किये गये कार्य में शीघ्रता का ज्ञान, इसी प्रकार क्रम से होरहा अक्रम से होरहा इत्यादि ज्ञानों का भी बहिरंग कारण प्रधानतया वह व्यवहार-काल ही सर्वत्र माना गया

है। हाँ वास्तविक मुख्य कालको भी गौण रूप से परापर आदि बुद्धियों का कारण आचार्य परिपाटी अनुसार स्मरण किया गया है। अर्थात्-जहाँ व्यवहारकाल प्रधान कारण है, वहा भी गौण रूप से मुख्य काल कारण होरहा है, वैशेषिकों ने भी "अपरस्मिन्नपरं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काल-लिङ्गानि,, ॥६॥ इस कणाद सूत्र द्वारा काल की ज्ञप्ति करायी है।

क्रियैव काल इत्येतदनेनैवापसारितं।
वर्तनानुमितः कालः सिद्धो हि परमार्थतः ॥५६॥
धर्मादिवर्गवत्कार्यविशेषव्यवसायतः।
वाधकाभावतश्चापि सर्वथा तत्र तत्त्वतः ॥५७॥

कोई पण्डित कह रहे हैं कि काल केवल क्रिया स्वरूप ही है परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर मन्दगति अनुसार चलती है वह क्रिया समय कही जाती है, प्रातः कालसे सायकाल तक सूयका भ्रमण तो दिवस माना जाता है, गोदोहन क्रिया तो गोदोहन वेलासे प्रसिद्ध ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार किसी का कथन तो इस उक्त कथन करके ही दूर फेंक दिया गया है जब कि वर्तना करके अनुमान किये जा चुके मुख्य रूप से काल द्रव्य को सिद्ध कर दिया है जैसे कि गति, स्थिति, आदि कार्य-विशेषो का निर्णय होजाने से तथा सभी प्रकारो करके वास्तविक रूप से उन धर्मादिको मे (के) बाधक प्रमाणों का अभाव हो जाने से भी धर्म आदि द्रव्यो के समूह को सिद्ध कर दिया गया है। अर्थात्-धर्म आदि करके हुये गति आदि कार्यो के समान काल द्रव्य करके भी वर्तना नामक काय हो रहा है और "असम्भवद्बाधकत्वात् सत्वसिद्धिः,, काल द्रव्य का कोई वाधक भी नही है।

सांप्रत सर्वेषां धर्मादीनामनुमेयार्थानामानुमानिकी प्रतिपत्तिः सूत्रसामर्थ्यादुपजाता प्रत्यक्षार्थप्रतीतिवन्न वाध्यत इत्युपसंहरन्नाह।

जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से जाने हुये घट आदि अर्थों की प्रतीति का वाधक कोई नही है उसी प्रकार "गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकार." इस सूत्र से प्रारम्भकर "वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य" यहां तक के सूत्रो की सामर्थ्य से अनुमान करने योग्य धर्म, अधर्म आदि सम्पूर्ण पदार्थों की अनुमान प्रमाण से होने वाली प्रतिपत्ति उपज चुकी भी किसी प्रमाण से बाधी नही जाती है। इस अवसर पर इसी बात के प्रकरणको संकोचते हुये ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकको कहते हैं।

एवं सर्वानुमेयार्थप्रतिपत्तिर्न वाध्यते।
सूत्रसामर्थ्यतो जाता प्रत्यक्षार्थप्रतीतिवत्। ॥५८॥

यद्यपि धर्म, अधर्म, आकाश और कालाणुयें अत्यन्त परोक्ष हैं, हां कितने ही पुद्गलोंका प्रत्यक्ष होता है फिर भी पुद्गल का बहुभाग अस्मदादिकों को परोक्ष है, स्वयं अपने जीवका प्रत्यक्ष भले ही होजाय किन्तु सामान्य जीवो का सम्पूर्ण जीवो का प्रत्यक्ष होजाना अलीक है, हां बोलना, चेष्टा, आदि से कतिपय जीवो का अनुमान किया जा सकता है। यह अच्छी बात है कि श्रुतज्ञानसे सम्पूर्ण द्रव्यो की

प्रतिपत्ति हो जाती है तथापि प्रकाण्ड विद्वान् श्री उमास्वामी महाराज के इन सूत्रों की सामर्थ्य से अनुमान करने योग्य सम्पूर्ण छहों द्रव्यों की इस प्रकार होचुकी प्रतिपत्ति तो किसी भी प्रमाण करके बाधी नहीं जाती है जैसे कि हथेली पर रखे हुये आमलेके समान प्रत्यक्ष किये जारहे पदार्थोंकी प्रतीति निर्बाध है। अर्थात्-सूत्रकार महाराज ने बडी विद्वत्ता के साथ ज्ञापकलिंगो करके अतीव परोक्ष धर्मादिकोंका निर्बाध अनुमान करा दिया है। आस्तिक पुरुष थोड़ासाभी विचार करेंगे तो कुशलता पूर्वक वे धर्मादि द्रव्यो को बाधारहित समझ जायंगे।

यों स्थूल बुद्धि वाले जीव तो प्रत्यक्ष किये जा चुके पदार्थों का ही अपलाप कर दें तो कोई क्या कर सकता है? शरीर मे रक्त को सदा गतिमान् रखने वाली शक्ति अवश्य माननी पड़ेगी। हड्डी, मांस,आदिको स्थिर रखने वाले प्रयत्न भी स्वीकार करने पड़ते हैं। भोजन,पान,वायु,आदिको अवगाह देने वाले कारण भी शरीर मे विद्यमान हैं, पुद्गल पिण्ड-आत्मक तो शरीर है ही। जीवित शरीर में आत्म-द्रव्य को सभी इष्ट कर लेते हैं, अन्न आदि को पचाने या रस आदि को यहां वहां योग्य अवयवो में पहुंचाने अथवा अवयवो को जीर्ण कराने वाले पदार्थ भी इस शरीर में पाये जाते हैं। इसी प्रकार लोक मे छहो द्रव्य भरे हुये है यदि किसी को स्वबुद्धि की न्यूनता से उनका परिज्ञान नही होय तो इसमे पदार्थों का कोई दोष नही है खरहा(खरगोश) यदि कानो से आखो को ढुकाकर प्रत्यक्ष पदार्थों को नही देखे एतावता उन पदार्थो की असत्ता नही मानी जायगी,अथवा उष्णस्पर्श वाले और नाड़ी की क्रिया को रखने वाले शरीर को कोई कुवैद्य मृत शरीर कह रहा यदि उसमे चैतन्य का अनुमान नही कर सकता है इतने ही से उस शरीर-वर्त्ती जीव का अभाव नही मान लिया जाता है। सर्वज्ञ प्रणीत आगम और गति,उपग्रह,आदि लिंगों से उपजे अनुमानोंकरके अथवा सर्वज्ञ प्रत्यक्ष करके धर्म आदि द्रव्यो की निर्बाध प्रसिद्धि होरही है।

न हि धर्मास्तिकायाद्यनुमेयार्थप्रतिपत्तिरस्मदादिप्रत्यक्षेण बाध्यते तस्य तदविषयत्वात् न सति धर्मादयाऽनुपलब्धेः खरशृंगवदित्याद्यनुमानेन बाध्यते इतिचेन्न,तस्याप्रयाजकत्वात्। परचेतावृत्त्यादिना व्यभिचारात्। दृश्यानुपलब्धि. पुनरत्राऽसिद्धैव सर्वथा धर्मादीनामस्मदादिभिः प्रत्यक्षतोनुपलभ्यत्वात्। कालात्ययापदिष्टश्च हेतुः प्रमाणभूतागमाबाधितपक्षनिर्देशानंतर प्रयुक्तत्वात् एवमबाधितप्रतीतिगोचरार्थप्रकाशिनः सूत्रकारादयः प्रेक्षावतां स्तोत्रार्हा इति स्तुवंति।

अनुमान करने योग्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आदि अर्थों की होरही प्रतिपत्ति कुछ हम लोगो के प्रत्यक्ष करके बाधित नही होती है। क्योंकि हम लोगों का प्रत्यक्ष उन धर्म आदिको को विषय ही नहीं कर पाता है, जो ज्ञान जिस पदार्थको विषय ही नही कर पाता है। वह उसका साधक या बाधक क्या होगा? जैसे कि घास खोदने वाला गवार पुरुष किसी वैज्ञानिक के गूढ़ रहस्यो पर कोई उपपत्ति या अनुपपत्ति नहीं दे सकता है। कोई पण्डित यहा धर्म आदि द्रव्यो का बाधक अनुमान प्रमाण यों उपस्थित करता है, कि धर्म आदिक द्रव्य (पक्ष) नही हैं (साध्य) उपलब्धि नही होने से (हेतु) गधे के सींग समान (अन्वय दृष्टान्त)। अथवा धर्म आदि द्रव्य नहीं हैं, (प्रतिज्ञा) क्योंकि उनके द्वारा किये माने गये गति, स्थिति आदि कार्य सब प्रेरक निमित्त या उपादान कारणों करके ही

निष्पन्न होजायंगे, साधारण कारणों की आवश्यकता नही है। (हेतु) इत्यादिक अनुमानों करके धर्म आदि वाध डाले जाते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नही कहना क्योंकि वह अनुपलब्धि हेतु अपने साध्य का प्रयोजक नही है। अनुकूल तर्क नही होने से। अपने नियत गढ लिये गये नास्तित्व साध्य को नही साध पाता है। तथा दूसरे जीवोके चित्त की वृत्तिया, कृपणो के धन, गुप्त रोग, आदि करके व्यभिचार होजायगा कुटिल मायाचारियोकी चित्त वृत्तिका बड़े बड़े बुद्धिमानोको पता नही चलपाता है कृपण के धन का परिज्ञान दूसरे पुरुषो को नही होता है। कई भिखारियो के पास हजारो रुपये पाये गये सुने जाते हैं। अपने अपने छोटे छोटे रोग और दूसरो के गुप्त रोग नही दिखते हें, फिर भी इस अनुपलब्धि से उनका अभाव नही मान लिया जाता है।

हाँ देखने योग्य होरहे पदार्थों की अनुपलब्धि से उनका अभाव साधा जा सकता है, किन्तु वह दृश्य की अनुपलब्धि तो फिर यहा असिद्ध ही है। क्योंकि अस्मदादि जीवो करके धम आदिको की प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वथा उपलब्धि नही होसकती है। अत. देखने योग्य नही होने से दृश्यानुपलब्धि हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। तथा यह अनुपलब्धि हेतु वाधितहेत्वाभास भी है क्योकि प्रमाण भूत आगम से अबाधित होरहे धर्म आदि पक्ष के कथन हो चुकने के अनन्तर प्रयुक्त किया गया है "काला-त्ययापदिष्टः कालातीत." इस प्रकार वाधा रहित होरही प्रतीतियो के विषय--भूत अर्थों के प्रकाशने वाले सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज और श्री समन्तभद्र, श्री अकलंक देव, आदिक आचाय तो हित अहित, को विचारने वाले प्रेक्षावान् पुरुषो के स्तवन करने योग्य है। इस कारण ग्रन्थकार भक्ति वश होकर उन आचार्यों की स्तुति करते है। अतीन्द्रिय अनेक सूक्ष्म पदार्थों की निर्बाध प्रतिपत्ति कराने वाले ठोस आचार्यों के ऊपर कृतज्ञ विद्वानो की श्रद्धा होजाना और उन की स्तुति करना स्वाभाविक ही है।

निरस्तनिःशेषविपक्षसाधनैरजीवभावा निखिलाः प्रसाधिताः।
प्रपंचतो यैरिह नीतिशालिभिर्जयंति ते विश्वविपश्चितां मताः ।५६।

सम्पूर्ण विपक्ष यानी वाधको का निराकरण कर चुके समीचीन साधनो करके जिन नीति-न्याय-शाली सूत्रकार आदि महाराजो ने विस्तार के साथ सम्पूर्ण अजीवपदार्थों को यहाँ बाईसमे सूत्र तक पांचवे अध्याय मे भले प्रकार सिद्ध करादिया है, जगत् के सम्पूर्ण विद्वानो के यहा मान्य होरहे वे आचार्य महाराज जयवन्ते होरहे है। अर्थात्—धन्य हैं वे आचार्य महाराज जिन्होने न्याय पूर्वक समी-चीन युक्तियो करके धर्म आदि अजीव पदार्थो की प्रमाणो से सिद्धि करा दी है, ऐसे तत्वज्ञान के बोधक विद्वानो को सभी शिरसा मान्य करते हैं, वे महामनाः सद् गुरु इस सर्वदा सर्वहित--कारिणी क्रिया करके जयवन्ते होरहे हैं।

इति पंचमस्याध्यायस्य प्रथममाह्निकम्।

इस प्रकार पाचवें अध्याय का श्री विद्यानन्द स्वामी कृत पहिला प्रकरण-समूह-स्वरूप पहला आन्हिक यहांतक समाप्त हुआ।

इसके आगे अन्य प्रकरणों का प्रारम्भ किया जायगा।

अतिशयितमहत्वाणुत्वमात्रेण भिन्नं ।
समघनचतुरस्रं व्योमवत्पुद्गलाणुं ॥
अनुमितमुपकारैर्द्रव्यमात्मादि चाख्यान् ।
जयति विपुलविद्यानन्द्युमास्वामिसूरिः ॥ १ ॥

यहा कोई विनीत शिष्य श्री उमास्वामी महाराज के प्रति जिज्ञासा प्रगट करता है कि गुरु जी महाराज जो आपने धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल के उपकार बहुत अच्छे कहे हैं वे हमने समझ लिये है, किन्तु पुद्गल आपने नही कहा कृपा कर उसको समझाइये ऐसी शिष्य की नम्र जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महोदय अग्रिम सूत्र को कहते है।

स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण ये गुण जिन द्रव्योंमे पाये जाते है वे पद्गल है। अर्थात्—कोमल, कठिन, भारी, हलका, शीत, उष्ण, रूखा, चिकना, इन आठ पर्यायो वाला स्पर्श-गुण और कडुआ, चरपरा, कसायला, मीठा, आमला (खट्टा) इन पाच विवर्तो को धार रहा रस गुण है। मधुर मे नुनखरे का अन्तर्भाव होजाता है, दक्षिण मे नोन को मीठ कहते भी है। तथा सुगन्ध, दुर्गन्ध, दो पर्यायो को धार रहा गन्ध एवं काला, नीला, पीला, सफेद, लाल, इन पांच परिणामो का धारी वर्ण ये गुण पुद्गल के अनुजीवी गुणोमे से है। एक गुणकी एक समयमे एक हो परिणति होसकती है, न्यून, अधिक नही। स्पर्श गुण मे इतनी विशेषता समझी जाय कि कोमल, कठिन, भारी, हलका, ये चारो परिणाम पुद्गल स्कन्ध के है, परमाणु के नही। पुद्गल परमाणु मे स्पर्श नाम के दो गुण हैं, एक ही स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा उन दोनो गुणो के विवर्त ज्ञात होजाते है। इस कारण दोनो का नाम एक स्पर्शगुण रख दिया गया है, सहभावी नित्य होरहे प्रथम स्पर्श गुण की एक समय शीत या उष्ण इन दो पर्यायो में से किसी भी एक पर्याय स्वरूप परिणति होगी और दूसरे स्पर्श गुण का विकार एक समय मे चाहे चिकना अथवा रूखा कोई भी एक होगा, यो पुद्गल मे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, इन चार इन्द्रियो से जानने योग्य पांच गुणो के नानाकालवर्त्ती सोलह या वीस परिणतियो मे से एक समय मे पाच पायी जाती है। हा पुद्गल स्कन्धो मे सात परिणतिया युगपत् होरहीं माना जायगी जैसे कि सम्पूर्ण ससारी अशुद्ध जीवो मे अनादि काल से तेरहमे गुणस्थान तक योगशक्ति पायी जाती है, अथवा अनादि काल से चौदहमे गुणस्थान तक पर्याप्ति शक्ति पायी जाती है पश्चात् शुद्ध जीवमे उक्त दोनो पर्याय शक्तिया विनश जाती हैं, उसी प्रकार स्कन्ध अवस्था मे पुद्गल के दो पर्याय शक्तिया उपज जाती हैं एक का परिणाम एक समय मे हलका या भारी दोनो मे से कोई भी एक होगा और दूसरी का विवर्त एक समय नरम, कठिन दोनो में से एक कोई भी होगा पुद्गल का शुद्ध अवस्था होजाने पर परमाणुओं में वे दोनो पर्याय शक्तिया विघट जाती हैं।

स्पर्शग्रहणमादौ विषयबलदर्शनात् । सर्वेषु हि विषयेषु रसादिषु स्पर्शस्य बलं

दृश्यते स्पष्टग्राहिष्विन्द्रियेषु स्पर्शस्यादौ ग्रहणव्यक्तेः,सर्वसंसारिजीवग्रहणयोग्यत्वाच्चादौ स्पर्शस्य ग्रहणं ।

इस सूत्र मे सब की आदि में स्पर्श का ग्रहण किया गया है क्योंकि स्पर्श नामक विषय का बल अधिक देखा जाता है, सम्पूर्ण रस, गन्ध आदि विषयोमे स्पर्शका बल प्रधान देखा जा रहा है। छुये जा चुके पदार्थों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियो मे स्पर्श का ग्रहण आदि मे व्यक्त रूप से हो जाता है। अर्थात्— " पुट्ठ सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पुण पस्सदे रूवं । फासं रसं च गधं बद्धं पुट्ठं वियाणादि " इस क्रम अनुसार कतिपय इन्द्रियविषयो का शरीर के साथ स्पर्श होते ही आदि मे झट स्पर्श छू लिया जाता है। एक बात यह भी है कि यह स्पर्श सम्पूर्ण ससारी जीवोके ग्रहण करने योग्य है, रस आदिको केवल त्रस ही ग्रहण (सम्वेदन) कर सकते हैं। किन्तु त्रसो से असख्यात लोकगुणे पृथिवी, जल, तेज, वायु, काय के जीव और त्रसो से या उक्त चार धातु से अनन्तानन्त गुणे वनस्पति काय के जीव है, ये सभी संसारी जीव स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्श का ज्ञान कर लेते है, अतः आदि मे स्पर्शका ग्रहण किया गया उचित है।

रसग्रहणमादौ प्रसज्यते विषयबलदर्शनात् स्पर्शसुखनिरुत्सुकेष्वपि रसव्यापारद र्शनादिति चेन्न, स्पर्शे सति तद्व्यापारात् । तत एवानंतरं रसवचनं, स्पर्शग्रहणानंतरभावि हि रसग्रहणं ।

यहा कोई पण्डित कटाक्ष करता है कि यो तो आदि मे रस के ग्रहण करने का भी प्रसग आता है, कारण कि रसयुक्त पदार्थों के रस विषय की सामर्थ्य भी अधिक देखी जाती है। स्पर्शके सुख मे उत्कण्ठा रहित हो रहे भी जीवो मे रस का व्यापार देखा जाता है। मैथुन सज्ञा, कामपुरुषार्थ, अनुकूल छूना, इन क्रियाओ मे उदासीन होरहे अनेक जीव प्रेम के साथ रसीले पदार्थके रस का आस्वादन करते देखे जाते है, भले ही स्पर्श का जानने वाले जीव गिनती मे अधिक होय एतावता रस का बल न्यून नही होजाता है शक्तिशाली पदार्थों के भोक्ता जीव जगत् मे थोड़े ही हुआ करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्यो कि स्पर्श के हो चुकने पर ही उस रस का व्यापार देखा जाता है तिस ही कारण सूत्रकार ने स्पर्श के अव्यवहित पीछे रस का कहा है जिस कारण से कि स्पर्श-ग्रहण के अनन्तर होने वाला रस का ग्रहण है।

रूपात्प्राग्गन्धवचनमचाक्षुषत्वात् अन्ते वर्णग्रहणं स्थौल्ये सति तदुपलब्धेः । नित्ययोगे मतुब्विधानात् क्षीरिणो न्यग्रोधा इत्यादिवत् स्पर्शादिसामान्यस्य नित्ययोगात्पुद्गलेषु ।

रूपसे पहिले गन्धका निरूपण करना तो यो उचित है कि गन्धका चक्षु इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष नही हो पाता है। अन्त मे वर्ण का ग्रहण किया जाता है क्योकि स्थूलता होने पर उस रूप की उपलब्धि हो पाती है। प्रशस्त, नित्ययोग, पुष्कल, निन्दा, अतिशय, आदि अनेक अर्थो को मतुप् प्रत्यय कहता है किन्तु यहा सदा योग बने रहने के अर्थमे मतुप् प्रत्ययका विधान है जैसे कि नित्य ही क्षीरका योग रखने वाले वड के पेड है, यहा मत्वर्थीय इन प्रत्यय नित्ययोग अर्थमे हो रहा है, ज्ञानवान् आत्मा, गुणपर्यायवद्द्रव्य, इत्यादि स्थलो मे नित्य योग अर्थ को कह रहा मतुप् प्रत्यय है। इसी प्रकार अनादि काल से पुद्गलो मे स्पर्श आदि गुणो का सामान्य रूप से नित्य योग हो रहा है, अत. " स्पर्शरसगन्ध-

वर्णवन्तः पुद्गला" यह सूत्ररचना समीचीन हो रही समझ ली जाय।

अथ स्पर्शादिमंतः स्युः पुद्गला इति सूचनात्।
क्षित्यादिजातिभेदानां प्रकल्पननिराकृतिः॥ १ ॥

स्पर्श आदि गुणों वाले पुद्गल होते हैं इस प्रकार सूत्रकार द्वारा सूचना कर देने से अब पृथिवी, जल, आदि भिन्न भिन्न जातियों के द्रव्यों की बढ़िया मानो गयी कल्पना का निराकरण कर दिया जाता है। अर्थात्— वैशेषिकों ने एक पुद्गल तत्त्व को नहीं मानकर पृथिवी, जल, तेज, वायु, इन चार जाति के न्यारे न्यारे चार द्रव्य स्वीकार किये हैं "पृथिव्यपस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति नव द्रव्याणि ५।" वैशेषिक दर्शन के पहिले अध्याय का पांचवा सूत्र है। तत्त्वान्तर होने से इनका परस्पर में उपादान उपादेय भाव भी नहीं माना गया है किन्तु यह सर्वथा अलीक है। वायु से मेघ बन जाता है, मेघ जल से काठ पत्थर अन्न, आदि उपज जाते हैं। लक्कड़ जलाया गया अग्नि हो जाता है, दीप कलिका का उत्तर परिणाम काजल बन जाता है पेट में चनों की वायु बन जाती है, जल से मोती हो जाता है इत्यादि रूप से पृथिवी आदि का परस्पर में उपादान उपादेय भाव देखा जाता है अत. विज्ञान मुद्रा से भी एक पुद्गल तत्त्व की सिद्धि अनिवार्य हो जाती है।

पृथिव्यप्तेजोवायवो हि पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायाः स्पर्शादिमत्वात् ये न तत्पर्यायास्ते न स्पर्शादिमंतो दृष्टा यथाकाशादयः स्पर्शादिमंतश्च पृथिव्यादय इति तज्जातिभेदानां निराकरणं सिद्धं।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, ये (पक्ष) पुद्गल द्रव्य की पर्यायें है (साध्य) स्पर्श, रस, आदि गुण वाली होने से (हेतु) जो पदार्थ उस पुद्गल की पर्याय नहीं है वे स्पर्श आदि गुणों वाले भी नहीं देखे गये हैं जैसे कि आकाश, काल, आदिक हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त) पृथिवी आदिक जब कि स्पर्श आदि गुण वाले है (उपनय) अतः वे पुद्गल के पर्याय निर्णीत हो जाते है (निगमन)। इस अनुमान द्वारा उस पृथिवी आदिक जातियों के भेद से भिन्न भिन्न माने जा रहे पृथिवी आदि विशेष तत्त्वान्तरों का निराकरण सिद्ध हुआ।

नन्वयं पक्षाव्यापको हेतुः स्पर्शादिर्जले गंधस्याभावात्तेजसि गंधरसयोः वायौ गंधरसरूपाणामनुपलब्धेरिति ब्रुवाणं प्रत्याह।

यहां वैशेषिक का पूर्व पक्ष है कि आप जैनों का कहा गया स्पर्श आदि से सहितपना या "तद्वत्वं तदेव" इस नियम अनुसार स्पर्श आदि यह हेतु पूरे पक्ष मे नहीं व्याप रहा है, पक्ष के एक देश मे वृत्ति और पक्ष के दूसरे देशों में अवृत्ति होने से भागासिद्ध हेत्वाभास है, कारण कि पक्ष किये जा रहे पृथिवी, जल, तेज, वायुओं मे से पृथिवी मे तो स्पर्श आदि चारों रह जाते हैं किन्तु जल में गन्ध नहीं है, तेजो द्रव्य में गन्ध और रस इन दो का अभाव है। वायुमे गन्ध, रस, और रूप तीनों की उपलब्धि नहीं है। वैशेषिक मत अनुसार "वायोर्नव एकादश तेजसो गुणाः। जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश। दिक्कालयोः पंच षडेव चाम्बरे, महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च॥" पृथिवी में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिकद्रवत्व, वेग यों चौदह गुण माने गये हैं और जल मे रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व,

गुरुत्व, सांसिद्धिकद्रवत्व, वेग, स्नेह ये चौदह गुण वर्त रहे कल्पित किये गये हैं तथा तेजो द्रव्य में रूप स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग विभाग, परत्व, अपरत्व, नैमित्तिकद्रवत्व, वेग, ये ग्यारह गुण स्वीकार किये गये हैं एव वायु द्रव्य में स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, वेग ये नौ गुण वर्त रहे इष्ट किये गये है इस प्रकार कह रहे वैशेषिक पण्डित के प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान वचन को कहते हैं।

नाभावोऽन्यतमस्यापि स्पर्शादीनामदृष्टितः ।
तस्यानुमानसिद्धत्वात्स्वाभिप्रेतार्थतत्त्ववत् ॥ २ ॥

स्पर्श आदि चारो गुण एक दूसरे के अविनाभावी है स्पर्श आदि चारों में से किसी एक की भी अज्ञान-वश अनुपलब्धि होजाने से झट उसका अभाव नही कह दिया जाता है। (प्रतिज्ञा) जब कि उन मे से अन्तरग, वहिरग, कारणो के नही मिलने के कारण नही देखे जा रहे उस किसी एक (या दो, तीन) की अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्धि कर दी जाती है (हेतु) अपने अपने दर्शन शास्त्रो अनुसार अभीष्ट किये गये अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थो का जैसे तत्वरूपेण सद्भाव मानना पड जाता है। (अन्वय दृष्टान्त) अर्थात्—सभी पदार्थ तो किसी भी दार्शनिक पण्डित को प्रत्यक्ष गोचर नही है, आकाश, काल, परमाणु, स्वर्ग अपवर्ग, प्रेत्यभाव, महापरिमाण, ईश्वर, अनेक जीव आत्माये मन, विशेष पदार्थ. इनका वैशेषिको ने सर्वज्ञ के अतिरिक्त युष्मदादिको को प्रत्यक्ष होना नहीं माना है। किन्तु इनकी अनुमानो से सिद्धि कर दी जाती है। छिपे रखे हुये भी कस्तूरी या इत्र की गन्धका निकट देश मे घ्राण इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होजाता है, अपने आश्रय भूत पृथिवी को छोड कर अकेला गन्ध गुण तो घ्राण में घुस नही जाता है, गुण मे क्रिया भी नही मानी गयी है, द्रव्य के विना अकेला गुण ठहर नही पाता है। अतः गन्धगुण वाले पृथिवी के स्कन्ध ही शीशी से निकल रहे मानने पडेंगे अथवा जैन सिद्धान्त अनुसार शीशी मे से सुगन्धित पदार्थ नही भी निकले फिर भी उस सुगन्धित वस्तु को निमित्त पाकर दूर तक फैल रहे पुद्गल पिण्ड सुरभि होजाते हैं। किन्तु उन नासिका के निकटवर्ती सुगन्धित पुद्गलो की गन्ध का जैसा प्रत्यक्ष होजाता है, वैसा उनके रस, स्पर्श, या रूप का इन्द्रियों द्वारा उपलम्भ नही होपाता है। इस अवसर पर वैशेषिक जैसे उस सुगन्धित पृथिवी मे रूप आदि चारो को स्वीकार कर लेते हैं, नही दीखना होने से गन्धवान् द्रव्य मे तीन गुणो का अभाव नही कह दिया जाता है, उसी प्रकार जलमे गंध, तेज मे गन्ध, रस, तथा वायु मे गन्ध, रस, रूप, गुणो का अभाव नही कह कर सद्भाव स्वीकार करना अनिवार्य है।

किमिदं प्रत्यक्षनिवृत्तेरनुपलब्धिराहोस्वित्सकलप्रमाणनिवृत्तेः ? प्रथमा चेन्न ततः सलिलादिषु स्पर्शादीनामन्यतमस्याप्यभावः सिद्ध्येत्। स्वाभिप्रेतेनातीन्द्रियेण धर्मादिनानैकांतात् तस्यानुमानसिद्धत्वेप्सु गंधस्य, तेजसि गंधरसयोः, पवने गंधरसरूपाणामनुमानसिद्धत्वमस्तु। तथाहि आपो गंधवत्यस्तेजो गंधरसवद्वायुः गंधरसरूपवान् स्पर्शवत्वात् पृथ्वीवत्।

वैशेषिको को आचार्य पूछते हैं कि वायु आदि में स्पर्श, रस, आदिको की प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उपलब्धि नहीं होना यह यहां मानी गई अनुपलब्धि क्या भला अकेले प्रत्यक्ष प्रमाण की निवृत्ति

है अथवा क्या सम्पूर्ण प्रमाणों की निवृत्ति है ? बताओ । यदि पहिली प्रत्यक्ष प्रमाणकी निवृत्तिको अनुपलब्धि पकड़ोगे तब तो उस प्रत्यक्ष की अनुपलब्धि से जल आदि पदार्थों में स्पर्श आदिको में से किसी भी एक का भी अभाव सिद्ध नहीं होसकेगा। अनुमान को प्रमाण मानने वालो के प्रति अनुमान से जलादि में गन्धादि की सिद्धि करदी जायगी । तथा वह प्रत्यक्षानुपलब्धि हेतु स्वयं वैशेषिको के यहां अभीष्ट होरहे अतीन्द्रिय पुण्य, पाप, परमाणु, मन आदि करके व्यभिचारी होजायगा. असर्वज्ञ पुरुषोको धर्मादिको का प्रत्यक्ष नहीं होता है फिर भी उनका सद्भाव वैशेषिको ने स्वयं माना है। जैनों के यहा भी धर्म आदिक अतीन्द्रिय पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार की गयीहै। यदि उन पुण्य आदि अतीन्द्रिय पदार्थों की अनुमान से सिद्धि होना इष्ट किया जायगा तब तो जल मे गन्ध की, तेजो द्रव्य मे गन्ध और रस की, तथा वायु मे गन्ध, रस, रूप गुणो की भी अनुमान से सिद्धि करली जाओ, इसका अधिक स्पष्टीकरण यो समझ लिया जाय कि सम्पूर्ण जल (पक्ष) गन्ध वाले (साध्य) स्पर्शवाले होने से (हेतु पृथ्वी के समान (अन्वय दृष्टान्त) । तथा तेजो द्रव्य (पक्ष) गन्ध, रस, गुणो वाला है (साध्य) स्पर्शवान् होने से (हेतु पृथिवी के समान (अन्वयदृष्टान्त) । एवं वायु (पक्ष) गन्ध, रस, रूप, गुणो वाला है (साध्य) स्पर्श वाला होने से (हेतु) पृथिवी द्रव्य के समान (अन्वय-दृष्टान्त) ।

कालात्ययापदिष्टो हेतुः प्रत्यक्षागमविरुद्धपक्षनिर्देशानंतरं प्रयुक्तत्वात् तेजस्यनुष्णत्वे साध्ये द्रव्यत्ववदिति चेत् न नायनरश्मिष्वनुद्भूतरूपस्पर्शविशेषे साध्ये तैजसत्वहेतोः कालात्ययापदिष्टत्वप्रसंगात् ।

वैशेषिक कहते हैं कि जैनो की ओर से कहा गया यह स्पर्शवत्व हेतु बाधितहेत्वाभास है क्योकि प्रत्यक्ष प्रमाण और आगम प्रमाणसे विरुद्ध होरहे पक्षनिर्देश के पश्चात् वह हेतु प्रयुक्त किया गया है जैसे कि अग्नि मे अनुष्णपना साध्य करने पर प्रयुक्त किया गया द्रव्यत्व हेतु बाधित है इसीप्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से जल मे गन्ध नहीं सूंघी जा रही है, अग्निमें गन्ध या रस का इन्द्रियो से प्रत्यक्ष नही होरहा है, वायुमे गन्ध, रस, रूपो की घ्राण, रसना, और चक्षु से उपलब्धि नहीं होती है । तथा हमारे वैशेषिकदर्शन के द्वितीय अध्यायमें यह सूत्र है "रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी" ॥१॥ रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवा: स्निग्धाः ॥२॥ तेजो रूपस्पर्शवत् ॥३॥ स्पर्शवान् वायु ॥४॥"इस आगमसे भी जैनोका हेतु बाधित है ।

ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यो तो मनुष्य आदि के चक्षु की किरणों मे अप्रकट रूप और अव्यक्त उष्णस्पर्श विशेष को साध्य करने पर तैजसत्व हेतु से बाधित हेत्वाभासपन का प्रसंग आवेगा अर्थात्-वैशेषिको ने चक्षु का तेजो द्रव्य से निर्मित होना स्वीकार किया है और तेजोद्रव्य में उष्णस्पर्श और भासुर रूप गुण माने जा चुके है, दूरवर्ती पदार्थों के साथ प्राप्यकारी चक्षु इन्द्रिय की किरणे संयुक्त होरही मानी गई हैं ।

अब वैशेषिको के प्रति यह प्रश्न उठाया जाता है कि पांचसौ हाथ दूर रखे हुए पदार्थ को देख रही दोनो आखोंकी किरणें भला क्यो नहीं दीखती हैं ? रेलगाडी के एंजिन या मोटरकार मे लगे हुये विद्युत् प्रदीपों की किरणें तो स्पष्ट दीख जाती है, इसी प्रकार चक्षु की तैजस किरणों का उष्ण स्पर्श और चमकदार शुक्ल रूप का प्रत्यक्ष भी होना चाहिये आप वैशेषिको ने तेजो द्रव्य में रूप- स्पर्श,

दोनों का अनुदभूतपना स्वीकार नही किया है, उष्णजल में घुसे हुये तेजो द्रव्य के भास्वर रूप का भले ही प्रत्यक्ष नही होय किन्तु प्रविष्ट होरहे माने गये उस अग्नि द्रव्य के उष्ण स्पर्श का प्रत्यक्ष हो रहा है, हा तेजोद्रव्य माने गये सुवर्ण मे उष्ण स्पर्श के अनुदभूत होने पर भी भास्वर रूप अनुदभूत नही होरहा है। अब उस बात उत्तर दो कि आखो की दूरवर्ती पदार्थ तक पहुँच रही मध्यवर्ती तैजस किरणो के भास्वर रूप और उष्ण स्पर्श का प्रत्यक्ष क्यो नही होता है ?।

इस पर वैशेषिक यह अनुमान कह कर समाधान करते है कि चक्षु की किरणो मे रूप, रस स्पर्श, अवश्य हैं भले ही वे अनुदभूत होय, कारण कि वे चक्षुकी किरणें तेजोद्रव्यकी बनी हुई है। इस पर हम जैनों का कहना है कि जैसे जल मे गन्ध को साधने पर या तेजो द्रव्य मे गन्ध और रस गुण के साधने पर अथवा वायु मे रस, गन्ध, रूपो से सहितपना साध्य करने पर प्रयुक्त किये गये स्पर्शवत्त्व हेतु को आपने बाधित कह दिया है और प्रत्यक्ष या आगम मे विरोध दिखलाने का दुस्साहस किया है इसी प्रकार मनुष्य आदि के चक्षु की किरणो मे अनुदभूत रूप स्पर्शो के साधने पर कहा गया तुम्हारा तैजसत्व हेतु भी बाधित क्यो नही होजावे ? प्रथम तो मनुष्य कबूतर, चिड़िया आदि की आखो मे किरणें ही नही दीखती है यदि बिल्ली, व्याघ्र, कुत्ता, बैल आदि की आखो मे किरणें भी मान ली जाय तो उनका चन्द्रमा, तारागणो तक पहुँचना या बीसो कोस तक के पर्वतो तक पहुँचना तो प्रत्यक्षबाधित है ही और उन मध्यदेश मे से होकर जारही मानी गयी किरणो मे उष्ण स्पर्श या रूप का स्वीकार करना तो प्रत्यक्ष प्रमाण से नितान्त बाधित है।

जिनागम मे "मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा। आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोओ ॥३३॥(गोम्टसार कर्मकाण्ड), मूल मे उष्ण होरहे और उष्णप्रभा वाले पदार्थ को अग्निद्रव्य कहा है, सुवर्ण कथमपि अग्नि द्रव्य नही है तथैव आखें या उनकी किरण भी तेजोद्रव्यसे निर्मित नही हैं, ऐसी दशा मे चक्षुकी किरणो मे उष्णस्पर्श या भास्वररूप स्वीकार करना बाधित पड जाता है. यदि अपने तैजसत्व हेतुको अबाधित कहते हो तो हमारे स्पर्शवत्त्व हेतुको भी अबाधित कहना पडेगा। न्याय मार्ग समान होना चाहिये ॥

तत्रागमेन विरोधाभावात्तद्भावप्रतिपादनान्न दोष इति चेत्, तत एवान्यत्र दोषा माभूत। स्याद्वादागमस्य प्रमाणत्वमसिद्धमिति चेन्न, तस्यैव प्रामाण्यसाधनात्। यौगागमस्यैव सर्वत्र दृष्टेष्टविरुद्धत्वेन प्रामाण्यानुपपत्तेः।

यदि वैशेषिक यो कहै कि चक्षु.की किरणोमे अनुदभूत रूप या स्पर्शके मानने पर स्थूल प्रत्यक्ष से भले ही विरोध आवे किन्तु आगम प्रमाण से कोई विरोध नही आता है, अतः हमने नयन किरणो मे रूप या स्पर्श के सदभाव को अनुमान द्वारा कह कर भी समझा दिया है कोई दोष नही आता है अथवा उन जल आदिमे आगम से विरोध नही आनेके कारण उन गन्ध आदिका अभाव होरहा समझा दिया है। यो कहने पर तो हमजैन सिद्धान्तीभी आपको प्रतिपत्ति कराते है कि तिस ही कारणसे यानी आगमविरोध होने से अन्य स्थल पर भी कोई बाधा भागासिद्ध, व्यभिचार ये दोष नही प्राप्त होओ अर्थात्—जल आदि मे गन्ध आदि को साध्य करने पर भी किसी समीचीन आगम से विरोध नही आता है, अतः हमने पृथिवी, जल, तेज, वायु, चारो मे रूप, रस गन्ध, स्पर्श, गुणों का सदभाव साध दिया है।

यदि वैशेषिक या नैयायिक यो कहे कि जैनो के स्याद्वाद सिद्धान्त आगम का प्रमाणपन सिद्ध नही होसका। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना चाहिये क्योंकि सत्यबात यह है कि उस जिनागम को ही प्रमाणपन की सिद्धि होचुकी है ? पूर्वापर अविरोध, बाधकासम्भव, युक्तिसद्भाव, सम्बन्धाभिधेय, शक्यानुष्ठान इष्टप्रयोजन-सहितपन, तत्त्वोपदेश, आप्तोपज्ञता, अनुल्लघ्यता, दृष्टेष्टाविरोध आदि हेतुओं से जिनागम को ही प्रमाणपना सधता शोभता है प्रत्युत नैयायिक या वैशेषिको के आगम को ही सर्वत्र प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणो द्वारा विरोध आने का कारण प्रमाणपना नही बन पाता है भावार्थ–नवीन नैयायिक या प्राचीन नैयायिको के मन्तव्यो मे अनेक स्थलो पर विरोध आता है कोई वायु का प्रत्यक्ष मानते है अन्य पण्डित वायु का प्रत्यक्ष नही मानते है, वैशेषिक दर्शन के छठे अध्याय प्रथम आन्हिकमे "एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥१२॥ तथा विरुद्धाना त्यागः ॥१३॥ हीने परत्यागः ॥१४॥ समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥१५॥ इन सूत्रो द्वारा चोरी और हिसा का विधान पाया जाता है जा कि पण्डित शकरमिश्रकृत उपस्कार को देखने पर अधिक स्पष्ट होजाता है।

युक्त्यनुगृहीतत्वेन चागमस्य प्रामाण्यमनुमन्यमानः कथमितरेतराश्रयदोषं परिहरेत् ? सिद्धे ह्यागमस्य तत्प्रतिपादकस्य प्रामाण्ये तत्र हेतोरतीतकालत्वाभावसिद्धिः तत्सिद्धौ च तदनुमानेनानुगृहीतस्य तदागमस्य प्रामाण्यसिद्धिरिति। स्याद्वादिनां तु सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेनागमस्य प्रामाण्यसिद्धौ नायं दोषः। अत एव जलादिषु गंधाद्यभावसाधने सर्वस्य हेतोरतीतकालत्वं प्रत्येतव्यं, तस्य प्रमाणभूतजैनागमविरुद्धत्वात्। ततो न कालात्ययापदिष्टो हेतुः। नाप्यनैकांतिको विपक्षवृत्त्यभावात्।

तथा युक्तियो द्वारा अनुग्रह को प्राप्त होरहेपन करके आगम का प्रमाणपना स्वीकार कर रहा वैशेषिक अपने ऊपर आये हुये इस अन्योन्याश्रयदोष का परिहार भला कैसे कर सकेगा ? कि उस चक्षुरश्मियो के अनुद्भूत रूप, स्पर्श, सहितपन के प्रतिपादक आगम का प्रमाणपना सिद्ध होचुकने पर तो उन चक्षु रश्मियो के अनुद्भूत रूप, स्पर्श, सहितपन को साधने मे प्रयुक्त कियेगये तैजसत्व हेतु के बाधितपनेका अभाव सिद्ध होय और हेतुके उस अबाधितपनकी सिद्धि हो चुकने पर उस निर्बाध अनुमान करके अनुग्रहीत होरहे उस आगम के प्रमाणपन की सिद्धि होसके। यह वैशेषिको के ऊपर परस्पराश्रय दोष आरहा हैं। हां स्याद्वादियोके यहा तो बाधक प्रमाणोके असम्भवपनेका बढिया निश्चय होचुका है इस कारण जिनोक्त आगमके प्रमाणपनकी सिद्धि करनेमे यह इतरेतराश्रय दोष नही आता है, इस ही कारण से जल आदि मे गन्ध आदि का अभाव साधने मे कहे गये वैशेषिको के सम्पूर्ण हेतुओ के (मे) बाधित हेत्वाभासपन का विश्वास कर लेना चाहिये क्योंकि वह जल आदि मे गन्ध आदि का अभाव तो प्रमाणभूत जिनागमो से विरुद्ध पड़ता है तिस ही कारण स हमारा स्पर्शवत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधित) नही है और पूरे विपक्ष या विपक्ष के एक देश मे वृत्ति नही होने के कारण स्पर्शवत्व हेतु व्यभिचारी भी नही है तथा पृथिवी, जल, तेज, वायुओ को पुद्गल द्रव्य की पर्याय होना साधने में दिया गया स्पर्शादिमत्व हेतु भी निर्दोष है।

अन्वयाभावादगमक इति चेन्न, सर्वस्य केवलव्यतिरेकिणोऽगमकत्वप्रसंगात्

साध्याविनाभावनियमनिश्चयात् कस्यचित्प्रयोजकत्वे प्रकृतहेतोस्तत एव प्रयोजकत्वमस्तु । पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वाभावे क्षित्यादीनां स्पर्शवत्त्वाभावनियमनिश्चयात् ।

यहाँ कोई वैशेषिक आक्षेप करता है कि अन्वयदृष्टान्त नही मिलनेके कारण जैनोका स्पर्शादिमत्व हेतु अपने साध्य किये जा रहे पुद्गल द्रव्य की पर्याय होने को नही साध सकता है, अतः इस साध्य का ज्ञप्तिकारण नही है अन्वयदृष्टान्त मे साध्य के साथ जिनकी व्याप्ति ग्रहण करली जाती है, वे ही हेतु अपने नियत साध्य के गमक होते है ।

अब आचार्य कहते है, कि यह तो नही कहना क्योंकि यों तो प्रमेयत्व आदि केवलान्वयी या अन्वयव्यतिरेकी धूम आदि हेतु भले ही ज्ञापक होजाय किन्तु "जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात् लोष्ठवत्" "पृथिवी इतरजलादिभ्योदशभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात् जलादिवत्" इत्यादिक सम्पूर्ण केवल व्यतिरेकी हेतुओ की प्रयोजकता के रहितपन का प्रसंग आवेगा । नैयायिक या वैशेषिको ने त्रैविध्यमनुमानस्य केवलान्वयिभेदतः,द्वैविध्य तु भवेद् व्याप्तेरन्वयव्यतिरेकतः॥ अन्वयव्याप्तिरुक्तैव व्यतिरेकादथोच्यते" यों कह कर केवलव्यतिरेकी लिंग को इष्ट किया है । यदि साध्य के साथ अविनाभाव स्वरूप नियम का निश्चय हा रहने से किसी भी चाहे जिस केवल व्यतिरेकी हेतु को साध्य का प्रयोजक मान लिया जायगा तब तो तिस ही कारण यानी साध्यके साथ अपनी अन्यथानुपपत्ति का निश्चय होजानेसे प्रकरणप्राप्त स्पर्शादिमत्व हेतुका भी प्रयोजकपना स्वीकार कर लिया जाओ, कारण कि साध्य होरहे पुद्गल द्रव्य की पर्यायपन का अभाव होने पर पृथिवी आदिको को स्पर्शसहितता के अभाव रूप नियम का निश्चय होरहा है "साध्याभावे साधनाभावो व्यतिरेकः" ।

एतेन सर्वप्रमाणनिवृत्तिरनुपलब्धिरसिद्धा न तोयादिषु गन्धाद्यभावसाधिनीत्युक्तं वेदितव्यं, प्रवचनस्यानुमानस्य च तद्भावावेदिनः प्रवृत्तेः

इस सूत्र की दूसरी वार्त्तिक का विवरण प्रारम्भ करते हुये दो विकल्प उठाये गये थे कि यह अनुपलब्धि क्या प्रत्यक्ष प्रमाण की निवृत्ति है ? अथवा क्या सम्पूर्ण प्रमाणो की निवृत्ति स्वरूप है । पहिले विकल्प का अच्छा विचार कर दिया गया है, अब दूसरे विकल्प अनुसार ग्रन्थकार कहते है कि सम्पूर्ण प्रमाणो की निवृत्ति होजाना स्वरूप अनुपलब्धि तो असिद्ध ही है । नैयायिको का अनुपलब्धि हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, जब कि अनुमान प्रमाण या आगम प्रमाण ही जल आदि मे गन्ध आदि के साधक विद्यमान हैं । अतः जल आदि मे गन्ध के अभाव को साधने वाली वह सर्व प्रमाण की निवृत्ति सिद्ध नही होसकती है । यों यह दूसरा विकल्प भी इस उक्त कथन करके कह दिया गया समझ लेना चाहिये क्योंकि जल आदि मे उन गन्ध आदि के सद्भाव को निवेदन कर रहे आगम प्रमाण और अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति होरही है ।

अब पुद्गलो के सम्पूर्ण विशेष परिज्ञान के होचुकने पर भी पुद्गलों के निरूपण मे शेष रहे कुछ विकारो का परिज्ञान कराने के लिये सूत्रकार अगले सूत्र को कहते हैं ।

शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपो द्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

शब्द होना, बंधजाना, सूक्ष्मपना, स्थूलपना, आकृति होना, टुकडा होजाना, अन्धकार परिणति, छाया, आतप (घाम) उद्योत (अनुष्णप्रभा) इन दश स्वकीय विकारो वाले भी पुद्गल द्रव्य हैं। अर्थात्—स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गला इस सूत्र करके शुद्ध पुद्गल और अशुद्ध पुद्गलो की सहभावी या क्रमभावी पर्यायो का निरूपण किया गया है किन्तु इस "शब्दबंध" आदि सूत्र करके अशुद्ध द्रव्य होरहे पुदगल स्कन्धो के विकारो का प्रज्ञापन कियागया है ये शब्द आदि तो उपलक्षण है, इन के सिवाय संयोग, प्रकाश, ज्योतिः, वेग, झोक, आदि का भी ग्रहण कर लिया जाय। शब्द आदि में अनेक प्रवादियो को विप्रतिपत्ति है, अत. इनको कण्ठोक्त करदिया है।

पुद्गला इत्यनुवर्तते। तत्र शब्दादीनामभिहितनिर्वचनानां परिप्राप्तद्वंद्वानामेवाभिसंबंधः।

पहले सूत्र से "पुद्गला" इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती है जिनकी निरुक्ति की जा चुकी है और द्वन्द्व समास को परिप्राप्त होचुके ऐसे शब्द, बंध, आदि पदो का ही परस्परापेक्ष सम्बन्ध वहाँ पुद्गलोमे जोड लिया जाता है। अर्थात्–"शपति इति शब्द" बध्यते इति बन्धः, सूक्ष्यते सूक्ष्मनमात्र वा सूक्ष्म, स्थूल्यते य. स स्थूल, संस्थीयते संस्थितिर्वा संस्थान, भिद्यते भेदः, तम्यते अनेन तमः, छिद्यते इति छाया, आतप्यते इति आतपः, उद्योत्यते उद्योतनमात्रं उद्योतः, यो उक्त पदोकी व्युत्पत्ति कर पुनः "शब्दश्चबंधश्च,, इत्यादि रूप से द्वन्द्व समास कर दिया जाता है, वे शब्द आदिक जिनके विकार है, वे शब्द आदि वाले पुद्गल है।

शब्दो द्वधा भाषालक्षणो विपरीतश्च। भाषात्मको द्वेधा अक्षरात्मको अनक्षरात्मकश्च। प्रथमः शास्त्राभिव्यंजकः संस्कृतादिभेदादार्यम्लेच्छव्यवहारहेतुः, अनक्षरात्मको द्वींद्रियादीनामतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुश्च। स एषः प्रायोगिक एव।

उन दस विकारोमे शब्द नाम का विवर्त दो प्रकार है, द्वीन्द्रिय जीवो से प्रारम्भ कर पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस जीवो द्वारा बोला जा रहा वचन भाषास्वरूप है। दूसरा उससे विपरीत अभाषा-आत्मक है, पहिला भाषाआत्मक शब्द तो अक्षर-आत्मक और अनक्षर-आत्मक यो दो प्रकार है, पहला अक्षरात्मक शब्द तो शास्त्र के अर्थोंका प्रकट करने वाला है जो कि संस्कृत, प्राकृत, देशभाषा, अपभ्रंश, आदि भेदो से आर्य पुरुष या म्लेच्छ पुरुषो के व्यवहार का कारण है। दूसरा अनक्षर-आत्मक शब्द तो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि जीवोके अतिशय ज्ञानके स्वरूपकी प्रतिपत्ति करानेका हेतु है, अर्थात्–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, जीव भी कुछ बोलते है, मक्खी बर्र, ततैया, झीगुर, डाँस, भनभनाते रहते है, भले ही इनका बोलना मन नही होने से विचारपूर्वक नही है, फिर भी एकेन्द्रिय की अपेक्षा इनका ज्ञान कुछ अतिशय युक्त है, तभी तो विशेष विशेष संध्याकाल, ऋतु, विपत्ति, हर्ष, आदि का अवसर मिलने पर वे बोला करते हैं।

इस पंक्ति का अर्थ यह भी किया जा सकता है, कि अनेक अतिशयो से युक्त होरहे केवलज्ञान के स्वरूप या श्रुत के प्रतिपादन का कारण होरहा श्री अर्हन्त परमेष्ठी का शब्द भी अनक्षर-आत्मक है। प्राचीन विद्वानों द्वारा सुना जा रहा है, कि केवलज्ञानी महाराज की सर्वांगो से उपज रही भाषा अनक्षर-आत्मक है पीछे देवकृत अतिशयो द्वारा श्रोताओ के कानमे अक्षर-आत्मक परिणाम जाती है, अस्तु-इतना अवश्य कहना है कि केवलज्ञानी महाराज की भाषा को सर्वथा अनक्षर-आत्मक कहने में जी हिचकता है "देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद्देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात्। साक्षर एव च वर्ण-समूहान्नैवविनार्थगतिर्जगति स्यात्,, इस पर भी विद्वानो को विचार करना चाहिये, हाँ सयोगकेवली के "ण य सच्चमोसजुत्तो जो दुमणोसो असच्चमोसमणो,, यह अनुभय वचन सम्भवता है गोम्मटसार जीवकाण्ड में "मज्झिमचउमणवयणे सण्णिप्पहुदि दु जावखीणोत्ति। सेसाणं जोगित्ति य अणुभयवयणं तु वियलादो,, विकलेन्द्रियो से प्रारम्भ कर तेरहमे गुणस्थान तक अनुभय वचन स्वीकार किया है। सो ये अक्षर अनक्षर-आत्मक शब्द तो द्वीन्द्रिय आदि जीवो के कण्ठ तालु, आदि अवयवो द्वारा किये गये प्रयोग (पुरुषार्थ) को निमित्त पाकर ही उपजते है।

अभाषात्मको द्वेधा प्रयोगविस्रसानिमित्तत्वात्। तत्र प्रयोगनिमित्तश्चतुर्धा,ततादिभेदात्। चर्मतननात्ततः पुस्करादिप्रभवः, तंत्रीकृतो विततो वीणादिसमुद्भवः, कांस्यतालादिजो घनः, वंशादिनिमित्तः शौषिरः, विस्रसानिमित्तः शब्दो मेघादिप्रभवः।

दूसरा उस भाषात्मक शब्द से विपरीत होरहा अभाषात्मक शब्द तो दो प्रकार है पहिला प्रायोगिक तो जीव-प्रयोगो को निमित्त पाकर उत्पन्न होता है और दूसरा वैस्रसिक तो जीव प्रयत्न के अतिरिक्त अन्य सभी शब्द उत्पादक जड कारणो की निमित्तता अनुसार उपज जाता है, उन दो मे प्रयोग को निमित्त पाकर हुआ अभाषात्मक शब्द तत, वितत, आदि भेदो से चार प्रकार इष्ट किया गया है, चमडा के तनने से जो आघात पूर्वक शब्द उपजता है वह तत है, पुष्कर (ढप) नगाडा आदि वादित्रो से उपजा हुआ शब्द तत है। तात बजा कर किया गया शब्द वितत है जो कि वीणा, सारगी चिकाड़ा, आदि बाजो से सुन्दर उपज रहा है। जो कासे के बने हुये घड़ियाल, घण्टा, झाझरी, मंजीरा आदि बाजोके अभिघातसे जन्य है वह घन है. बासरी, बास, वैन, तुरई, शंख आदि को निमित्त पाकर उपजा हुआ शब्द शौषिर है। दूसरा अभाषात्मक शब्द वैस्रसिक तो मेघ, विजली, समुद्र आदि से उपज रहा माना जाता है।

बंधो द्विविधो विस्रसाप्रयोगभेदात् विस्रसा बधोऽनादिरादिमांश्च, प्रयोगबंधः पुनरादिमानेव पर्यायतः।

पुद्गल की बन्ध नामक पर्याय भी विस्रसा और जीव प्रयोग करके उपजने के अनुसार भेद से दो प्रकार है यहां प्रकरण मे विस्रसा शब्द का अर्थ जीव प्रयत्न के अतिरिक्त अन्य सभी कारण है। उनमे वैस्रसिक बन्धके दो भेद हैं, उनमे पहिला महास्कन्ध आदि का अनादि बन्ध है और चिकनापन या रूखापन को निमित्त पाकर बिजली मेघ इन्द्र धनुष आदि का बन्ध हुआ सादि बन्ध है। अर्थात्-इतनी लम्बी चौड़ी, विजली अनेक चमकीले पुद्गलो का पिण्ड है वे पुद्गल परस्पर मे एक दूसरे के साथ बध रहे हैं सूर्य की किरणो को निमित्त पाकर आकाश में भरे हुए बादल आदि पुद्गलों का इन्द्र धनुष स्वरूप परिणमन होजाता है। जैसे कि एक शुभ्र वर्ण, मोटे, पैलदार, कांच को या पैलदार

हीरा को घाम में रख देने से अथवा प्रकाश मे कांच या हीरा को आंख के पास लगा कर पार दृष्टि बनने पर कई रंग की किरणें पड़ती दीखती है, निमित्त, शक्ति अचित्य है , अभव्य मुनियो के उपदेश से भी असख्य जीवो ने मुक्ति प्राप्त की है। पीली हल्दी को शुक्ल चूना लाल कर देता है, जल अमृत है और घृत भी अमृत है किन्तु दोनोको कई बार घोट देने पर उनमे विष शक्ति उपज जाती है एक ही पदार्थ किसी को हानिकर होता हुआ दूसरे को लाभकर हाजाता है। अनेक धातुयें काच मे अपने रग से न्यारी जाति के रंगो को उपजा देती हैं, कसैली हरड़ खा चुकने पर पीया हुआ जल अधिक मीठा लगने लगता है, शुक्ल वर्ण सूर्य या हीरा मे कोई पांच या सात रगो का सम्मेलन नही है। तथा दूसरा प्रयोग-जन्य बन्ध तो फिर सादि ही है, आत्मा का मन, वचन, कायो के साथ सयोग होना रूप पर्याय से उपज रहा वह आदिमान् ही होसकता है।

सौक्ष्म्यं द्विविधमंत्यमापेक्षिकं च। तथा स्थौल्य संस्थानमित्थंलक्षणं चतुरस्रादिकमनित्थलक्षणं च अनियताकारं। भेदः षोढा उत्करश्चूर्णः खण्डश्चूर्णिका प्रतराणुचटनमिति। तमो दृष्टिप्रतिबंधकारणं केषांचित्। छाया प्रकाशावरण। आतप उष्णप्रकाशलक्षणः। उद्योतश्चंद्रादिप्रकाशानुष्णः। त एते शब्दादयः स्वरूपतो भेदतश्च सुप्रसिद्धा एव।

सूक्ष्मपना परिणाम तो अन्त मे होने वाला और अपेक्षा से होने वाला यो दो प्रकार है। उसी प्रकार अन्त मे होने वाला और अपेक्षा से होने वाला स्थूलपन भी दो प्रकार समझ लेना चाहिये सस्थान नामक पुद्गल परिणति तो एक इस प्रकार नियत आकार स्वरूप है और दूसरी नहीं नियत होरहे आकार स्वरूप है। चौकोर, गोल, तिकौना, लम्बा चौकोर, घन चौकोर, अण्डाकार आदि सस्थान तो इत्थलक्षण हैं, इनसे अन्य बादलो, वायुओ आदि का आकार अनित्थं-लक्षण है। पुद्गल की भेद नामक पर्याय तो उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर, अणुचटन, इन भेदो से छह प्रकार है, करोत (आरा) बरमा आदि करके काठ, लोहा, चादी, आदि का उत्कर नामक भेदन किया जाता है, जौ गेंहूँ, आदि का सतुआ, चून आदि स्वरूप से भिदना तो चूर्ण है, घट आदिको के टुकड़े, कपाल ठिकुचरी, आदि खण्ड कहे जाते है। उडद, मूंग, आदि के टुकडे चुनी कही जाती है, मेघपटल, आदि के छिन्न, भिन्न, होजाने पर किये गये टुकड़े प्रतर हैं, सतप्त लोह-पिण्ड आदि को हथौडा, घन, आदि करके ताडन करने पर जो फुलिगा उछलते है, वह अणुचटन नामका भेद होना है, यो भेद के छः विकल्प हैं।

पुद्गल की अन्धकार नामक पर्याय तो किन्ही दिवाचर जीवो के देखने का प्रतिबन्धक हेतु है। अर्थात्—बिल्ली, सिंह, कुत्ता उल्लू, चमगादर आदि रात्रिचर जीवो की दृष्टि को अन्धकार नही रोक पाता है, हा मनुष्य, कबूतर, चिडिया आदि के चाक्षुष प्रत्यक्षो को अन्धकार रोकदेता है। प्रकाश को रोकने वाले पदार्थों के निमित्त से पुद्गल की छाया नामक पर्याय उपज जाती है।

भावार्थ—जगत् में सर्वत्र पुद्गल स्कन्ध भरे हुये हैं। सूर्यका प्रकाश होजाने पर वे ही पुद्गल जैसे आतप रूप परिणाम जाते हैं। चन्द्रमा का निमित्त पाकर उद्योत स्वरूप चमकीले परिणाम जाते हैं। उसी प्रकार प्रकाशक पदार्थों का आवरण होजाने पर वे पुद्गल स्कन्ध ही काले काले अन्धकार या स्वल्प काली छाया अथवा अन्य जाति के प्रतिबिम्ब स्वरूप परिणाम जाते हैं। निमित्त, नैमित्तिक, कई प्रकार के होते हैं, अग्नि को निमित्त पाकर हुयी काली ईंट को लाल ईंट रूप पर्याय तो निमित्त के

नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती है। जल मे अग्नि के निमित्त से आगयी उष्णता घण्टे दो घण्टे पीछे विघट जाती है। वैशेषिक जो ऐसा मानते हैं कि उष्ण जल मे अग्नितत्त्व घुस आता है। उस अग्नि का ही उष्ण स्पर्श प्रतीत होता है. अग्नि के उद्भूत उष्ण स्पर्श से जल की गाठ का शीतस्पर्श छिप जाता है, यह वैशेषिको का सिद्धान्त असत्य है। वास्तविक सिद्धान्त यह है कि जल का शीत स्पर्श ही अग्नि का निमित्त पाकर उष्ण स्पर्श होकर बदल गया है, पानी जल पुद्गल के स्पर्श गुण का पहिले शीत परिणाम था अग्नि को निमित्त पाकर अब उस स्पर्श गुण की उष्ण पर्याय उपज गयी है जैसे कि भिन्न भिन्न वृक्षो को निमित्त पाकर उपादान हो रहे मेघ जल का उन उन वृक्षों के रस स्वरूप परिणाम होजाता है।

राजगृहीके कुण्डोका जल प्रथम मे ही उष्ण है, शीतकालमे अन्य कूपोका जल भी कुछ उष्ण रहता है हा पीछे वायु, वहिर्भूमि, को निमित्त पाकर शीतल होजाता है। तथा कोई नैमित्तिक कार्य तो नैमित्तिकके नष्ट होजाने पर झट नष्ट होजाते है,जैसेकि बिजलीका प्रकाश है। दर्पण स्वच्छ जल,चादी का थाल, आदि मे पड रही छाया, वर्ण आकृति आदि स्वरूप मे परिणामी है किन्तु घाम, चादनी, आदि के अवसर पर वृक्ष, मनुष्य, आदि की पड रही छाया तो केवल प्रतिविम्ब स्वरूप है वस्त्र के अनेक परत अथवा कई कागजो की तह के भीतर "ऐक्सरे" यत्र के द्वारा प्रकाश के पहुँचा देने पर उस तहो के भीतर रखे हुये पदार्थ का प्रतिविम्ब पड जाता है अतः छाया का लक्षण उचित है। आतप तो उष्ण प्रकाश स्वरूप है, तथा चन्द्र, पटवीजना, पन्ना आदि का अनुष्णप्रकाश तो पुद्गल की उद्योत पर्याय है।

अर्थात्—" मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा। आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोओ" (गोम्मटसार कर्मकाण्ड) इस गाथा अनुसार आतप का लक्षण तो मूल मे अनुष्ण और प्रभा में उष्ण होरहे पदार्थ का प्रकाश स्वरूप किया गया है, और मूल मे अनुष्ण होते हुये अनुष्ण प्रभा के उत्पादक पदार्थ का प्रकाश उद्योत है सूर्य का विमान अनुष्ण है वह उष्ण आतप का निमित्त होजाता है। जैसे कि मूल मे शीतल होरही पानी की वर्फ उदर मे दाह को बढा देती है, लाल वस्त्र आखों मे उष्णता का सम्पादक है, अनुष्ण होरहा मकरध्वज या अभ्रक भस्म रोगी के उदर मे आग फूंक देता है। इत्यादि दृष्टान्तो से निमित्तो की अचिन्त्य शक्तियो का प्रभाव प्रकट होरहा है। यो ये शब्द, बन्ध, आदिक पुद्गल परिणाम स्वरूप से और भेदो से भले प्रकार प्रसिद्ध हो हैं, विज्ञान भी इस सिद्धान्त का परिपूर्ण रीत्या पोषक है।

कुतः पुनः पुद्गलाः शब्दादिमन्तः सिद्धा इत्याह।

कोई शिष्य पूछता है कि ये पुद्गल फिर किस युक्ति से शब्द आदि पर्यायो वाले सिद्ध हैं ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अगली वार्तिक द्वारा समाधान को कहते हैं।

प्रोक्ताः शब्दादिमन्तस्तु पुद्गलाः स्कंधभेदतः।
तथा प्रमाणसद्भावादन्यथातदभावतः॥१॥

अणुस्वरूप पुद्गल तो केवल अनुजीवी गुण, प्रतिजीवीगुण, सप्तभगी-आत्मक अनेक स्वभाव तथा इतर धर्मों को धार रहे है किन्तु स्कन्ध नामक भेदो से प्रसिद्ध होरहे स्थूल पुद्गल ही शब्द आदि

विकारो वाले अच्छे कहे जाचुके हैं क्योंकि तिस प्रकार शब्द आदि पर्याय वाले पुद्गलो के साधक प्रमाणों का सद्भाव है। अन्यथा उन शब्द आदिको का अभाव होजावेगा अथवा पुद्गल की पर्याय नही ज्ञापन कर शब्द आदिको को दूसरे प्रकार साधने वाले प्रमाणों का अभाव है। अर्थात्—जैसे वैशेषिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। कोई बंध को संयोग विशेष स्वीकार करते हैं, स्थूलता, सूक्ष्मता, तो परिमाणत्व की व्याप्य जातिया है। आकृति भी परिमाण विशेष है, भेद को विभाग या ध्वंस में गर्भित कर लेते हैं। तेजोद्रव्य का अभाव स्वरूप अन्धकार माना गया है। आतप और उद्योत को दूरवर्त्ती सूर्य चन्द्रमा, पटबीजना, के निमित्त से यहा ही के फैले हुये पुद्गलो का विकार नही मानकर सूर्य या चन्द्रमा की चली आई किरणों स्वरूप अभीष्ट किया गया है जो कि तैजस या पार्थिव होसकेंगी किन्तु यह उन पण्डितों का मन्तव्य अप्रामाणिक है।

न हि परमाणवः शब्दादिमन्त: सन्ति विरोधात् स्कंधस्यैव शब्दादिमत्तया प्रतीतेः। शब्दस्याकाशगुणत्वान्न तद्वान् पुद्गलस्कंध इत्येके, तस्यामूर्तद्रव्यत्वादित्यन्ये। तान् प्रत्याह।

परमाणुयें तो शब्द आदि पर्यायो के धारी नही है क्योंकि विरोध आता है देखिये शब्द, बंध, आदिक परिणतियो का हम, तुम, आदि को बहिरंग इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता है सूक्ष्म परमाणु अतीन्द्रिय है यदि परमाणु के ये शब्द आदि परिणाम होते तो छद्मस्थ जीवो को इनका इन्द्रियप्रत्यक्ष ही नही हो पाता। हो अन्तिम सीमा को प्राप्त होरही सूक्ष्मता भले ही परमाणु मे पायी जाय यदि एक परमाणु का दूसरी परमाणु के साथ बध होगा तो वह बन्ध पर्याय द्वयणुक स्कन्ध की समझी जायगी। परमाणुओ का सयोग कहा जा सकता है जो कि अबद्ध पुद्गल परमाणुओमे, कालाणुओ मे, धर्म अधर्म मे भी पाया जाता है, अत सिद्ध है कि शब्द, बंध आदि विकारो से सहितपने करके स्कन्ध की ही प्रतीति होरही है। यहाँ कोई एक पण्डित यो आक्षेप कर रहे है कि आकाश द्रव्य का गुण शब्द है अत. शब्दवान् आकाश कहा जा सकता है, उस शब्दवाला पुद्गल स्कन्ध नही है तथा अन्य कोई मीमांसक पण्डित यो कह रहे है कि वह शब्द द्रव्य तो है किन्तु स्पर्श आदि या परिच्छिन्न परिमाण नही होने के कारण वह शब्द अमूर्त द्रव्य है और भी कई-पण्डितो की अनेक विप्रत्तिपत्तिया है। उन पण्डितो के प्रति ग्रन्थकार महाराज अग्रिम-वार्त्तिको द्वारा समाधान कहते है।

न शब्दः खगुणो बाह्यकरणज्ञानगोचरः।
सिद्धो गंधादिवन्नैव सोमूर्तद्रव्यमप्यतः ॥२॥

शब्द आकाश का गुण नही सिद्ध हो पाता है क्योंकि वह बहिरंग इन्द्रियों से जन्य हुये ज्ञान का विशेष होरहा है जैसे कि बहिरंग इन्द्रिय प्रत्यक्षो के विषय होरहे गन्ध आदिक पदार्थ आकाश के गुण नही हैं अर्थात्–जब कि आकाश अत्यन्त परोक्ष पदार्थ है तो उसके गुणों का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कथमपि नहीं होसकता है, केवलज्ञान या विशिष्ट श्रुतज्ञान के अतिरिक्त सर्वावधि और विपुलमति मनः पर्यय ज्ञानो की भी अरूपी आकाश या उसके ततोऽपि अधिक सूक्ष्म गुणो मे प्रवृत्ति नहीं है फिर बहिरिन्द्रिय प्रत्यक्ष का यहां क्या मूल्य होसकता है? तथा इस ही कारण से यानी बहिरंग इन्द्रियों का विषय होने से वह शब्द अमूर्त द्रव्य भी नही है मूर्त द्रव्य का विवर्त ही बहिरंग इन्द्रियों से जाना जा सकता है।

न स्फोटात्मापि तस्यैकस्वभावस्याप्रतीतितः।
शब्दात्मनस्सदा नानास्वभावस्यावभासनात् ॥ ३ ॥

यह सुना जा रहा शब्द तो स्फोटस्वरूप भी नहीं है अर्थात्-मीमांसकों ने वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, को अर्थ का वाचक माना है शब्द के समान स्फोट को भी मीमांसक नित्य और व्यापक स्वीकार करते हैं नियत अर्थ की प्रतीति का हेतु होरहा वह स्फोट अक्रम और निरंश माना गया है। आचार्य कहते हैं कि मीमांसकों के यहाँ स्फोट की कल्पना नहीं हो सकती है. स्फोट का नित्य-पना और व्यापकपना भी निराकृत होजाता है पूर्व के अप्रकट रूप का त्याग करने पर और उत्तर वर्त्ती प्रकट रूप का ग्रहण करने पर स्फोट का कूटस्थ नित्यपना बाधित होजाता है। व्यंजक कारणों करके स्फोट की अभिव्यक्ति यदि स्फोट से अभिन्न की गयी तो फिर स्फोट ही किया गया समझा जायगा, भिन्न पड़ी हुयी अभिव्यक्ति से स्फोटका स्वरूप पूर्ववत् अन्धेरेमें ही पडा रहेगा। यों स्फोटवाद में अनेक दोष आते हैं। तथा वह शब्द तीव्र, मन्द, खर, निषाद, धैवत, उदात्त, अपभ्रंश संस्कृत,सत्य आमन्त्रण, निष्ठुर, आदि अनेक स्वभावों वाला है एक ही स्वभाव वाले शब्द की प्रतीति नहीं हो रही है नाना स्वभावों वाले शब्द स्वरूप का सर्वदा प्रतिभास हो रहा है.किसी भी एक शब्दको दूरदेश-वर्त्ती, निकटदेश-वर्त्ती,अति समीप देशवर्त्ती, अनेक पुरुष न्यारे न्यारे ढंगों से सुनते है, यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकस्वभावभेदाः ,, इस नियम अनुसार वे सम्पूर्ण स्वभाव शब्द की आत्मा में प्रविष्ट होरहे माने ही जाते है,स्वचतुष्टयसे शब्द है परकीय चतुष्टयसे नहीं यों भी शब्द अनेक स्वभावों वाला है। शब्द में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, भी है, अतः अनेक युक्तियों से नाना स्वभाव वाला शब्द सिद्ध हो जाता है।

अतःप्रकाशरूपस्तु शब्दस्फोटोपरोध्वनेः।
यथार्थगतिहेतुः स्यात्तथा गंधादितोपरः ॥ ४ ॥
गंधरूपरसस्पर्शस्फोटः किं नोपगम्यते।
तत्राक्षेपसमाधानसमत्वात्सर्वथार्थतः ॥ ५ ॥

शब्दाद्वैतवादी पण्डित सम्पूर्ण ज्ञानों या अर्थों को शब्द-आत्मक स्वीकार करते हैं उनका अनुभव है कि यदि ज्ञानों में से शब्द स्वरूप को निकाल दिया जाय तो ज्ञान का पूरा शरीर मर जायगा, वाग्रूपता ही तो ज्ञान को प्रकाशती है, वही विचार करने वाली है, अनादि अनन्त शब्द ब्रह्म ही जगत् के अनेक पदार्थों स्वरूप परिणम जाता है वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और सूक्ष्मा ये चार वाणी हैं, इनमें सूक्ष्म वाणी अन्तरंग प्रकाशस्वरूप है, यह शब्दस्फोट भी कहा जा सकता है जो कि वायुस्वरूप ध्वनिसे निराला है, यही शब्दस्फोट वाच्यकी यथार्थ प्रतीति का कारण है। ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रथम तो शब्दाद्वैत ही प्रत्यक्षबाधित है अर्थ या ज्ञानों को यदि शब्द से अनुविद्ध माना जायगा तो बालक, गूंगे, मौनव्रती, आदि को पदार्थों का प्रतिभास नहीं हो सकेगा, पत्थर, अग्नि, तोपगोला, बिजली, आदि शब्दों के सुनते ही कान जलजाने, फूट जाने आदि का प्रसंग आवेगा जब कि शब्द केवल श्रोत्रइन्द्रिय का विषय है तो वह अन्य इन्द्रियों के विषयों या सम्पूर्ण ज्ञानों के साथ तादात्म्य

कथमपि नही रख सकता है अन्तःप्रकाशरूप तो चैतन्यपदार्थ ही है, वाणी या शब्दस्फोट अन्तर्ज्योती-रूप नही हैं, ध्वनि से निराला अन्तरंग प्रकाशस्वरूप शब्द स्फोट यदि न्यूनातिरिक्त अर्थो की ज्ञप्ति का हेतु समझा जायगा तब तो गन्ध, रूप, आदि से निराला गन्ध स्फोट रूपस्फोट, रसस्फोट, स्पर्श-स्फोट भी क्यों नहीं स्वीकार कर लिये जावें ? अर्थात्-प्रसिद्ध हो रहे गन्ध को अर्थ का प्रत्यापक नहीं मानकर गन्धमें एक नित्य व्यापक निरंश,गन्धस्फोट मान लियाजाय जैसे कि शब्दस्फोट गढ़ लिया गया है। यदि गन्धस्फोट पर कोई आक्षेप किया जायगा तो वही आक्षेप मीमासको के शब्दस्फोटपर भी लागू होगा। मीमांसक यदि शब्द स्फोट पर लगाये गये आक्षेप का कोई समाधान करेंगे वही समाधान गन्धस्फोट के लिये भी औषधी होजायगा, रसस्फोट आदि मे भी यही लगा लेना। सत्यार्थ रूप से विचार करने पर शब्दस्फोट के समान उन गन्धस्फोट आदि मे भी आक्षेप और समाधान सभी प्रकार तुल्यरूप से लागू होजाते हैं।

नाकाशगुण शब्दो बाह्येंद्रियविषयत्वाद्गंधादिवदित्यत्र न हेतुर्व्यभिचारी विपक्षावृत्तित्वात्। पटाकाशसंयोगेन व्यभिचार इतिचेन्न, तस्याकाशगुणत्वैकांताभावात् तदुभयगुणत्वात्। तत्र बाह्येंद्रियविषयत्वासिद्धेः संयोगिनो गगनस्यातीन्द्रियत्वात्। पटस्येंद्रियविषयत्वेपि तत्संयोगस्य तदयोगात्। तदुक्तमन्यैः। "द्विष्ठ (द्वय)। संबंधसंविचित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्। द्वयस्वरूपग्रहणे सति संबंधवेदनं" इति।

शब्द (पक्ष) आकाश द्रव्य का गुण नहीं है (साध्य) वहिरंग इन्द्रियो का विषय होने से (हेतु) गन्ध आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। यो इस अनुमान मे प्रयुक्त किया गया बाह्य इन्द्रियो का विषयपना हेतु व्यभिचार दोष वाला नही है क्योकि विपक्ष या विपक्ष के एक देश मे भी नही वर्त रहा है। यदि यहाँ कपडा और आकाश दोनो के सयोग करके व्यभिचार उठाया जाय कि भले ही आकाश अतीन्द्रिय है फिर भी आखों या स्पर्श इन्द्रिय से कपड़ा जान लिया जाता है, अतः कपडा और आकाश का संयोग वहिरंग इन्द्रियो से ग्राह्य तो है किन्तु उस संयोग मे "आकाश के गुण होने का अभाव" यह साध्य नहीं है, पटके समान आकाशका भी गुण "पट आकाश संयोग" हो रहा है

ग्रन्थकार कहते है कि यह व्यभिचार दोष तो नहीं उठाना क्योंकि उस पट-आकाश संयोग को एकान्तरूप से आकाश के ही गुण होजाने का अभाव है वह पट-आकाशसयोग तो वस्त्र और आकाश दोनों का गुण है, अतः उस वस्त्र-आकाश संयोग मे वहिरग इन्द्रियो का गोचरपना असिद्ध है, कारण कि वस्त्र आकाश संयोग का धारी माना गया आकाशद्रव्य तो अतीन्द्रिय है भले ही उस संयोग का धारक पट भी है और पट वहिरंग इन्द्रियो का विषय भी हो रहा है तथापि उन अतीन्द्रिय आकाश और इन्द्रियगोचर पटके संयोगको उस बाह्य इन्द्रिय की विषयता का अयोग है। अन्य वैशेषिक विद्वानों ने भी उस बात को यो अपने ग्रन्थों मे कहा है कि दोनो के या दो मे रहने वाले सम्बन्ध का परिज्ञान केवल एक ही पदार्थ के स्वरूप का सम्वेदन करने से नही होजाता है दोनो के स्वरूप का ग्रहण होने पर ही उन में रहने वाले सम्बन्ध का ज्ञान हो सकता है "द्वौ अवयवौ यस्य तद्द्वयं, द्वयोस्तिष्ठतीति द्विष्ठः।" बात यह है कि दोनो मे एकम एक होकर ठहर रहे सम्बन्ध की प्रतिपत्ति तो दोनो का परिज्ञान होजाने पर हो सकती है, अन्यथा नही। अतः वहिरग इन्द्रियो का विषय नहीं हो सकने के कारण उस वस्त्र-आकाश के संयोग करके हेतु मे व्यभिचार दोष नहीं लगता है।

एतेनैतदपि प्रत्युक्तं । यदुक्तं यौगैः— न स्पर्शवद्द्रव्यगुणः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सत्ययावद्द्रव्यभावित्वादकारणगुणपूर्वकत्वाद्वा सुखादिवदिति, पक्षस्य प्रकृतानुमानबाधितत्वात् । शब्दस्य द्रव्यार्थादेशादयावद्द्रव्यभावित्वासिद्धिश्च रूपादिवत् पर्यायार्थादेशादकारणगुणपूर्वत्वस्याप्यसिद्धिः शब्दपरिणतानां पुद्गलानामपरापरसदृशशब्दारंभकत्वात् । अन्यथा वक्तृदेशादन्यत्र शब्दस्याश्रवणप्रसंगात्

इस उक्त कथन करके इस बातका भी खण्डनकर दिया गया है जो कि वैशेषिकों या नैयायिक ने यों कहा था कि शब्द (पक्ष) स्पर्शवाले पृथिवी, अप, तेज, वायु द्रव्यों का गुण नहीं है (साध्य) क्योंकि हम आदि जीवों के प्रत्यक्ष का विषय होता सता शब्द अपने आश्रय माने गये द्रव्य के परिपूर्ण भागों में वृत्ति होरहा नहीं है (एक हेतु) । अथवा अपने कारण के गुणों को पूर्ववर्त्ती मान कर शब्द नहीं उपजता है, अर्थात्—घट रूप आदिक जैसे अपने कारणके कारण होरहे मृत्तिका के रूप या कपाल के रूप से उपज जाते हैं वैसा अपने कारणों के गुणों अनुसार शब्द की उत्पत्ति नहीं है (दूसरा हेतु) सुख, इच्छा, आदि से समान (अन्वयदृष्टान्त) ।

इस पर आचार्य कहते हैं कि इस प्रतिज्ञा की प्रकरण-प्राप्त अनुमान से बाधा प्राप्त होजाती है, भावार्थ-शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः, शब्दो न दिक्कालमनो गुणः विशेषगुणत्वात्, नात्मविशेष-गुणः शब्दो बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वात्, इन अनुमानों से परिशेष न्याय द्वारा शब्द को आकाश का गुण सिद्ध करने का वैशेषिकों ने प्रयत्न किया है, किन्तु शब्द आकाश का गुण नहीं है बहिरंग इन्द्रिय (कान) का विषय होने से गन्ध आदि के समान, इस निर्दोषअनुमान करके वैशेषिकों के अनुमान का हेतु बाधित हेत्वाभास होजाता है तथा द्रव्यार्थिक नय अनुसार कथन करने से शब्द के अयावद्द्रव्यभावीपन की असिद्धि है जैसे कि रूप, रस, आदिक पदार्थ अपने आश्रय होरहे द्रव्य में यावत्द्रव्यभावि हैं द्रव्य के कुछ भागोंमें रहे, कुछ भागोंमें नहीं रहें ऐसे नहीं है । इसी प्रकार जो द्रव्य शब्द होकर परिणत होगया है, उस उतने द्रव्य का शब्द नाम का विवर्त यावत्द्रव्यभावी है, अयावत्द्रव्यभावि नहीं है । वैशेषिकों का दूसरा हेतु अकारणगुणपूर्वकपना भी असिद्ध है क्योंकि पर्यायार्थिक नय अनुसार कथन करने से शब्द स्वरूप परिणत होरहे पुद्गलही उत्तरोत्तर सदृश शब्दोंका आरम्भ करने वाले माने जाते हैं, अतः शब्द कारण-गुण-पूर्वक ही है, अन्यथा यानी शब्दों को यदि कारणगुणपूर्वक नहीं माना जायगा तो वक्ता के मुख प्रदेश के सिवाय अन्य स्थलों में शब्द के नहीं सुने जाने का प्रसंग आवेगा अतः वैशेषिकों के दोनों हेतु स्वरूपासिद्ध हैं ।

ननु च वक्तृव्यापारात्पुद्गलस्कन्धः शब्दतया परिणमन्नेकोनेको वा परिणमेत् ? न तावदेकस्तस्य सकृत्सर्वदिक्षु गमनासंभवात् । यदि पुनर्नानादिक्कैः सर्वादिक्कैः श्रोतृभिः श्रूयते शब्दस्तावानेव वक्तृव्यापारनिष्पन्नः तच्छ्रोत्राभिमुखं गच्छतीति तमत, तदा सदृशशब्दकोलाहलश्रवणं श्रोतृजनस्य कुतो न भवेत् ? सर्वेषां शब्दानामेकश्रोतृग्राह्यत्वपरिणामाभावादिति चेत्, तर्ह्येकैकः शब्द एकैकश्रोतृग्राह्यत्वपरिणतः सर्वादिक्कं गच्छन्नेकैकेनैव श्रोत्रा श्रूयत इत्यायातं । तच्चायुक्तं,एकदिक्केषु सप्राणिषु श्रोतृषु स्थितेष्वन्यस्य सदृशश्रोतृश्रोत्रस्य परापरशब्दश्रवणविरोधात् ।

वैशेषिकोंकी ओर से बड़ा लम्बा यह आक्षेप उठाया जारहा है, कि जैनो के प्रति वैशेषिक प्रश्न करते हैं कि वक्ता के व्यापार से पुद्गल स्कन्ध ही शब्दस्वरूप करके परिणमन कर रहा जैनो ने माना है, वह क्या एक ही शब्द होके परिणमेगा ? अथवा क्या वह पुद्गल अनेक शब्द होकर परिणम जावेगा ? बताओ, पहिले विकल्प अनुसार एक ही शब्द तो परिणम नही सकता है क्योकि अकेले उस पौद्गलिक शब्द का एक ही बार सम्पूर्ण दिशाओ मे दशो ओर गमन करने का असम्भव है, एक छोटी वस्तु एक समय मे एक ही दिशा की ओर जा सकती है।

यदि फिर द्वितीय विकल्पअनुसार जैनो का यह मन्तव्य होय कि सम्पूर्णदिशाओ मे प्राप्त होरहे जितने भी श्रोताओ करके शब्द सुना जा रहा है, उतने ही शब्द उस वक्ता के व्यापारो से उपज रहे सन्ते उन उन श्रोताओके कानो के सन्मुख होते हुये चले जाते हैं। उन जैनो करके यो अभीष्ट किया गया होय तब तो हम वैशेषिक कहेगे कि ऐसी अवस्था मे श्रोताजनो को सदृश शब्दो के कोलाहल का सुनना भला क्यो नही होगा ?

यानी एक स्थल पर अनेक उपज रहे शब्द तो मिश्रित कोलाहल रूप से सुने जाने चाहिये इस पर जैन यदि यो कहै कि सम्पूर्ण शब्दो का एक ही एक श्रोता करके ग्राह्यपने का परिणाम उपजता है, अतः सम्पूर्ण श्रोताओ का कई शब्दो का कोलाहल सुनाई नही पडता है, तब तो हम वैशेषिको को कहना पडताहै कि एक ही एक शब्द एक एक श्रोता करके ग्रहण योग्यपन की परिणति से युक्त होकर सम्पूर्ण दिशाओ की ओर जा रहा सन्ता एक एक ही श्रोता करके सुना जाता है यह अभिप्राय आया किन्तु वह कथन अयुक्त है क्योकि एक ही दिशा मे वर्त रहे और कुछ समान दूरी पर विराज रहे श्रोताओ के स्थित होते सन्ते अति निकट-वर्त्ती श्रोताओ के कानो द्वारा उत्तरोत्तर शब्द के सुनने का विरोध आवेगा अर्थात्–जब शब्द तो एक ही श्रोता के सुनने योग्य उपजेगा तब उसी दिशा मे कुछ दूर बैठे हुये श्रोताओ ने जिन शब्दो का सुन लिया है उन शब्दो को उसी दिशा मे बैठे हुये निकट देश–वर्ती श्रोता नही सुन सकेंगे किन्तु जिसको दूर-वर्ती श्रोता सुनते है उस शब्द को निकटवर्त्ती श्रोता तो अवश्य ही सुनते हैं इस आक्षेप का समाधान करना कठिन पड़ेगा।

परापर एव शब्दः परापरश्रोतृभिः श्रूयते न पुनः सः एवेति चेत्, स तर्हि परापरशब्दः किं वक्तृव्यापारादेव प्रादुर्भवेदाहोस्वित्पूर्वश्रोतृशब्दात् ? प्रथमपक्षे कथममी परापरैः श्रोतृभिः श्रूयमाणाः पूर्वपूर्वैः सममाकाशश्रोत्रस्थैरपि न श्रूयंत इति महदाश्चर्यं। न चैवं कारणगुणपूर्वकः शब्दः सिद्ध्यत्। द्वितीयविकल्पे पर्यन्तस्थितश्रोतृश्रुतशब्दादिशब्दांतरोत्पत्तिः कथं न भवेत् ? पुद्गलस्कंधस्य तदुपादानस्य सद्भावात्। वक्तृव्यापारजनितवायुविशेषस्य तत्सहकारिणस्तत्राभावादिति चेत्,तर्हि वायवीयः शब्दोस्तु किमपरेण पुद्गलविशेषेण तदुपादानेन कल्पितेनादृष्टकल्पनामात्रहेतुना किं कर्तव्यं, तथोपगमे स्वमतविरोधस्ततः स्याद्वादिनो दुर्निवार इति कश्चित्।

वैशेषिक ही कहे जा रहे हैं, कि यदि जैन यो कहै कि अगले अगले देशो में वर्त रहे श्रोताओं करके फिर वह का वही शब्द थोड़ा ही सुना जाता है, किन्तु वक्ता के मुख से निकले हुये शब्द करके

उपज रहे अन्य अन्य अगले अगले शब्द ही उन श्रोताओं करके सुने जाते हैं। यों जैनों के कहने पर तब तो हम वैशेषिक पूछते हैं, कि वह उत्तरोत्तर उपज रहा शब्द क्या वक्ता के व्यापार से ही उत्पन्न होगा ? अथवा क्या पहिले पहिले श्रोताओं द्वारा सुने जा चुके शब्द से उपजेगा ? बताओ, जैनों द्वारा प्रथम पक्ष ग्रहण करने पर तो हम वैशेषिक कहते है, कि उत्तरोत्तर देश-वर्त्ती श्रोताओं करके सुना जा रहा वह शब्द भला उन आकाश श्रेणियों पर बैठे हुये अन्य श्रोताओं करके भी पहिले पहिले शब्दों के साथ क्यों नहीं सुना जाता है ? यह बहुत बड़ा आश्चर्य है।

एक बात यह भी है कि इस प्रकार वक्ता के व्यापार ही से शब्द की उत्पत्ति मानने पर जैनों का यह सिद्धान्त कि शब्द कारण-गुण-पूर्वक है, सिद्ध नहीं होपायेगा अर्थात्—वीचीतरंग न्याय से यदि पूर्व शब्द परिणत पुद्गलों करके ही अन्य शब्दों की उत्पत्ति मानी जाय तब तो कारण गुण पूर्वक शब्द सध पायेगा, अन्य प्रकारों से नहीं। यदि जैन दूसरा विकल्प लेवें कि श्रोताओं के पूर्व पूर्व शब्दों से उत्तर शब्दों की उत्पत्ति होती है, उस विकल्प में यहां वहां निकट स्थित होरहे श्रोताओं करके सुने गये शब्द से भी पुनः अन्य शब्दों की उत्पत्ति क्यों नहीं होजावेगी ? उन शब्दों के उपादान कारण माने जा रहे पुद्गल स्कन्धों का सर्वत्र सुलभतया सद्भाव पाया जाता है। यदि स्याद्वादी यों कहें कि शब्दों के उत्पादक उपादान कारण पुद्गल स्कन्ध तो हैं किन्तु उस शब्द का सहकारी कारण होरहा वक्ता के व्यापार से उत्पन्न हुये विशेष वायु का वहां अभाव है। अतः मन्द मन्द शब्द से दूर देश तक अन्य शब्दों की उत्पत्ति नहीं होसकी है, उपादान कारण मिट्टी तो खेतों मे असख्यों मन पड़ी हुई है। किन्तु थोड़े से बीज या ऋतु इन सहकारी कारणों के नहीं मिलने से हजारों, लाखों, मन अन्न नहीं उपज पाता है, यों जैन कहें तब तो शब्द वायु से निर्मित हुआ कह दिया जाओ उसके उपादानरूप से कल्पित किये जा रहे दूसरे पुद्गल विशेषों करके क्या करने योग्य कार्य शेष रह जाता है ? ऐसा असत् पुद्गल तो केवल प्रमाणों द्वारा नहीं देखे जा चुके पदार्थों की कल्पना का ही हेतु है, शब्द का उपादान माना गया पुद्गल कोई वस्तुभूत नहीं है। अवस्तु से क्या किया जासकता है ?

इस पर जैन यों इष्ट आपत्ति करें कि हम तिस प्रकार शब्द को वायु से उत्पन्न हुआ स्वीकार कर लेंगे वैशेषिकों के यहां माना गया आकाश का गुण शब्द नहीं होना चाहिये, यों मानने पर तो उस स्वीकृति से स्याद्वादी विद्वान के यहां आरहे अपने मत से विरोध का किसी भी प्रकार से निवारण नहीं किया जा सकता है। क्योंकि स्याद्वादियों ने शब्द को केवल वायुनिर्मित नहीं मान कर भाषा-वर्गणा या शब्दयोग्य पुद्गल स्कन्धों मे उत्पन्न हुआ माना है बांसरी, बैन, पीपनी, हारमोनियम, मे यद्यपि विशिष्ट छेदों में से निकल रही वायु ही शब्द स्वरूप होजाती है। किन्तु जैन मत मे वहां भी तिस जाति के पुद्गल स्कन्धों की ही शब्द परिणति हुई मानी जाती है, इस प्रकार ननु च से प्रारम्भ कर यहां तक कोई वैशेषिक पण्डित कह रहा है।

सोऽप्यनालोचितवचनः, शब्दस्य गगनगुणत्वेपि प्रतिपादितदोषस्य समानत्वात्। तथाहि—शंखमुखसंयोगादाकाशे शब्दः प्रादुर्भवन्नेक एव प्रादुर्भवदनेको वा ? प्रथमपक्षे कुतस्तस्य नानादिक्कैः श्रोतृभिः श्रवणं ? सकृत्सर्वदिक्कगगनासंभवात्। अथानेकस्तदा शब्दकोलाहलश्रुतिप्रसंगः समानः शब्दस्यानेकस्य सकृदुत्पत्तेः, सर्वदिक्काशेषश्रोतृश्रूयमाणस्य तावद्धा भेदसिद्धेः।

अब ग्रन्थकार कहते है कि वह कोई वैशेषिक भी विचारे जा चुके वचनो का बोलने वाला नही है जब कि शब्द को आकाश का गुण स्वीकार करने पर भी जैनो के ऊपर कहे जा चुके दोष उन्ही वैशेषिको के ऊपर समान रूप से लागू होजाते है इसी बात को स्पष्टरूप मे यो समझिये कि आप वैशेषिको के यहाँ शख और मुख के सयोग से आकाश मे उपज रहा शब्द क्या एक ही उत्पन्न होगा ? अथवा क्या अनेक शब्द उपज जावेंगे ? बताओ। पहिला पक्ष ग्रहण करनेपर उस एक ही शब्द का नाना दिशाओ मे विराज रहे अनेक श्रोताओ करके भला कैसे श्रवण हो सकता है ? एक ही अंगूर को भला सौ आदमी युगपत् कैसे खाय ? । वैशेषिको ने जैसे कहा था उसी प्रकार हम भी कहते हैं कि एक ही शब्द का सम्पूर्ण दिशाओ मे वृत्ति होजाने के लिये एक ही समय गमन करने का असम्भव है

अब द्वितीय कल्पना अनुसार यदि वैशेषिक यो कहे कि मुख से शंख को बजाने पर अनेक शब्द उपज जाते है तब तो शब्दो के कोलाहल के श्रवण का प्रसग समान रूप से उठाया जा सकता है जैसा कि आपने हमारे ऊपर उठाया था। दो सौ, चार सौ, गज दूर से मेला या हाट का शब्द जैसे कोलाहल रूप से सुनाजाता है उसी प्रकार एक ही बार मे अनेक शब्दो को उत्पत्ति होजाने से कोलाहल सुनाई पड़ेगा तथा सम्पूर्ण दशो दिशाओ मे बैठे हुये अशेष श्रोताओ करके सुने जा रहे शब्द के उतने परिमाण को लिये हुये प्रकार भिन्न भिन्न सिद्ध होजावेंगे। (प्रकारे धा)।

यदि पुनरेकैकस्यैव शब्दस्यैकैकश्रोतृग्राह्यस्वभावतयोत्पत्तेर्न समानशब्दकलकलश्रुतिरिति मतं, तदैकदिक्केषु समानप्रणिधिषु श्रोतृषु प्रत्यासन्नतमश्रोतृश्रुतस्य शब्दस्यांत्यत्वाच्छब्दांतरारंभकत्वविरोधाच्छेषश्रोतृणां तच्छ्रवणं न स्यात्। तस्यापरशब्दारंभकत्वे चांत्यत्वाव्यवस्थितिः। प्रत्यासन्नतमश्रोतृश्रवणमपि न भवेत् तदभावे चाद्य एव शब्दः श्रूयते नांत्य इति सिद्धांतव्याघातः।

यदि फिर हमारे ऊपर किये गये आपादन के समान वैशेषिको का यह मन्तव्य होय कि एक एक ही शब्द की एक एक श्रोता द्वारा ग्रहण करने योग्य स्वभाव रूप से उत्पत्ति होती है अतः अनेक समान शब्दो का कलकल रूप से सुनना नही होता है। तब तो हम जैन भी कह देंगे कि एक दिशा मे स्थितहोरहे समान निकटता वाले श्रोताओ मे भी अतीव निकट-वर्ती श्रोता द्वारा सुना जा चुका शब्द तो अन्तिम है, अन्तिम शब्द को अन्य शब्दो के आरम्भ करने का विरोध है जैसे कि चरम अवयवी पुनः अन्य अवयवी का उत्पादक नही माना गया है, इस कारण शेष श्रोताओ को उस मन्द शब्द का श्रमण नही हो सकेगा। यदि उस शब्द को अन्य उत्तरोत्तर शब्दो का आरम्भक माना जायगा तो उस शब्द के अन्तिमपन की व्यवस्था नही होसकेगी और अधिक निकटवर्ती श्रोता को भी उस शब्द का सुनना नही होसकेगा। टेलीफोन या टेलीग्राफद्वारा मन्द उच्चारित शब्द भी सैकडो हजारो कोस चला जाता है फिर भी अन्तिम जो कोई शब्द होगा वह पुनः शब्द का उत्पादक नही माना गया है। यदि वैशेषिक अतीव निकटवर्ती श्रोता को उस अन्तिम भी शब्द का सुनाई होजाना मानेंगे तो आदि में उपजा हुआ ही शब्द सुना जाता है अन्तिम शब्द नही सुना जाता है इस सिद्धान्त का व्याघात होजायगा। अर्थात्-सरोवर के मध्य मे डेल डाल देने से जैसे सब ओर को जल की लहरें उठती हुई फैल जाती हैं उसी प्रकार वीची-तरंग-न्याय करके अथवा कदम्ब-गोलक न्यायस

शब्द उपज रहा है यो फैलरहा शब्द पहिला हो पहिला जहाँ किसीके कान मे पडेगा वह उसको सुनाई देजायगा उससे पिछला शब्द तो आगे देशमे चला जायगा अतः आगे वाले श्रोताओ के प्रति वह पहिला पहिला होता हुआ सुनाई पडता जायगा। वक्ता, श्रोताओ मे साधारण रूप से बोला जारहा या टेलीफोन अथवा विना तार का तार आदि द्वारा फेंका गया जो सब से अन्त का शब्द होगा उसको कोई नही सुनसकेगा, उत्तरक्षण मे शब्द मर ही जायगा।

अथ प्रत्यासन्नतमश्रोतारं प्रत्यसौ शब्दोंऽत्यस्तेन श्रूयमाणत्वान्न प्रत्यासन्नतरं तेन तस्याश्रवणात् तेन च श्रूयमाणस्तमेव प्रत्यंतो न तु प्रत्यासन्नं प्रति तत एव सोपि तमेव प्रत्यन्यो न दूरश्रोतारं प्रतीतिमतिः, सापि न श्रेयसी, शब्दस्यैकस्यांत्यत्वानंत्यत्वविरोधात्तस्य निरंशत्वोपगमात्।

अब यदि स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय लेकर वैशेषिको का यों मन्तव्य होगया होय कि अत्यधिक निकटवर्ती श्रोता के प्रति वह मन्द शब्द बोला गया अन्तिम कहा जायगा क्योंकि धीरे से कहा गया शब्द उस करके सुना जा रहा है किन्तु कुछ थोडे निकट-वर्ती हो रहे पुरुष के प्रति वह मन्द शब्द अन्तिम नही है क्योंकि उस पुरुष ने उस शब्द को नही सुना है तथा उस थोडे निकटवर्ती पुरुष ने भी जिस कुछ तीव्र शब्द को सुन पाया है वह कुछ तीव्र शब्द उस कुछ अन्तर लेकर बैठे हुये निकट--वर्ती पुरुष के प्रति तो अन्तिम है किन्तु उससे अधिक अन्तर पर बैठे हुये निकट-वर्ती पुरुष के प्रति अन्तिम नही है क्योंकि इसने उस शब्द को सुना नही है तिस ही कारण से यानी उस करके सुना जा रहा होने से वह निकट-वर्ती पुरुष के लिये कहा गया शब्द उस ही के प्रति अन्तिम है, दूरवर्त्ती श्रोता के प्रति अन्तिम नही है।

भावार्थ—एक हाथ अन्तराल देकर बैठे हुये पुरुष के प्रति जो वक्ता का शब्द अन्तिम है वह चार हाथ दूर बैठे हुये श्रोता के लिये अन्तिम नही है और जो चार हाथ दूर बैठेहुये श्रोता के लिये अन्तिम है वह दस हाथ दूर वर्त रहे श्रोता के लिये चरम नही है, दस हाथ दूर के श्रोता द्वारा अन्तिम सुना जा रहा व्याख्याता का शब्द भी सौ हाथ दूर बैठे हुये श्रोता के प्रति अन्तिम नही है। वैशेषिको की ऐसी बुद्धि होजाने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि वह बुद्धि भी श्रेष्ठ नही है क्योंकि एकान्तवादी वैशेषिको के सिद्धान्त-अनुसार एक ही शब्द के अन्तिमपन और अनन्तिमपन का विरोध है क्योंकि वैशेषिकोने शब्दको अंशो या स्वभावोसे रहित स्वीकार किया है, यो आदिम शब्दके सुने जानेका सिद्धान्त बिगड़ता है।

अथ तस्यापि धर्मभेदोपगमाददोषः न तर्हि धर्मशब्दस्य जातिरेव भवितुमर्हति न गुणादिः शब्दस्य स्वयं गुणत्वात् तदाश्रयत्वासमवात्। न च तदंत्यत्वं तदनंत्यत्वं वा जातिरेकव्यक्तिनिष्ठत्वात् जातेरनेकव्यक्तिवृत्तित्वात्।

इसके अनन्तर वैशेषिक यदि यों कहे कि हम शब्द नामक धर्मी का भेद स्वीकार नही करते हैं हां शब्द के तीव्रपन, मन्दपन, मध्यमपन, आदि धर्मभेदो को मान लेते हैं, अतः हमारे ऊपर कोई दोष नही आता है। इस पर ग्रन्थकार प्रश्न उठाते हैं कि शब्द का वह अन्तिमपन या आद्यपन धर्म

सामान्यस्वरूप पदार्थ होसकता है नित्य होकर अनेको में समवाय सम्बन्ध से जाति ही ठहर सकती है अन्त्यत्व कोई गुण तो नही है जैसे कि पृथक्त्व, द्वित्व, आदि गुण है अथवा वह अन्त्यत्व कोई कर्मप दार्थ या विशेष पदार्थ, आदि स्वरूप भी नही है क्योकि शब्द स्वयं गुण माना गया है, वैशेषिको के यहा गुणों मे गुण, क्रिया, विशेष, ये भाव नही ठहर पाते हैं " गुणादिनिर्गुणक्रियः ,, जब कि शब्द स्वय गुण है, इस कारण शब्द को उन गुणादिको के आश्रय होजाने का असम्भव है, हा जाति, समवाय, और अभाव ये कुछ नियत पदार्थ शब्द गुण मे आश्रित होजाते हैं किन्तु वह अन्तिमपन अथवा अनन्तिमपन धर्म भला जाति तो नही होसकते है क्योकि भले ही लाखो, करोडो, अनन्ते भी पदार्थ क्यो न हो उनमे अन्तिम या आद्य एक ही होगा अतः एक व्यक्ति मे ही वृत्ति होने के कारण अन्तिमत्व या आदिमत्व सामान्य पदार्थ नहीं है " नित्यत्वे सत्यनेकसमवेत सामान्य ,, जाति को अनेक व्यक्तियो मे वृत्ति मानी गयी है " व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सकरोऽथानवस्थिति. । रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधक संग्रहः ,, । तभी तो आकाशत्व को जाति नही माना है ।

अथैकश्रोतृश्रवणयोग्यानेकः शब्दोंत्योऽनन्तश्चापरश्रोतृश्रवणयोग्योस्तीति मत, तदार्द्योपि शब्दोंत्यः स्यात् कस्यचिच्छ्रवणयोग्यत्वात् कर्णशष्कुल्यन्तः-प्रविष्टाकाशशब्दवत् वर्णघोषवद्वा तथा चाद्यः शब्दो न श्रूयते इति सिद्धान्तविरोधः ।

अब इसके पश्चात् वैशेषिको का यह मन्तव्य है कि एक श्रोता के सुनने योग्य हो रहा शब्द भी एक नही है, अनेक है अतः अनेक शब्दो मे अन्त्यपन, अनन्त्यपन ये जातिया ठहर जावेंगी इस कारण वह शब्द अन्तिम या अनन्तिम अथवा दूसरे श्रोताओ के सुनने योग्य है, अथवा शब्द के धर्म जाति न सही सखण्डोपाधि अवश्य है ग्रन्थकार कहते है कि तब तो आदि मे हुआ शब्द भी अन्तिम हो जाओ क्योकि वह आदिम शब्द भी किसी न किसी निकटवर्ती श्रोताके सुनने योग्य तो है ही । जैसे कि कचौडी के समान बहिरंग उपकरण को धार रही कर्ण इन्द्रिय के भीतर प्रविष्ट होचुका आकाश यह शब्द आदिम होताहुआ भी अन्तिम है कोई कोई एकान्त मे कहा गया शब्द एक ही के कान मे घुस जाता है अथवा किसी के कान के समीप मुख लगाकर बडेबल से बोला गया घोष आत्मक शब्द आद्य होता हुआ भी अन्त्य है और उस प्रकार होने पर वैशेषिको के यहां आद्य शब्द नही सुना जाता है,इस सिद्धान्तका विरोध होजावेगा अर्थात्-वैशेषिको ने अन्तिम शब्दका सुनना ही क्वचित् स्वीकार किया है, जो शब्द जिस व्यक्ति के प्रति अन्तिम होता जाता है यानी उसके कान में लीन हो जाता है वह उसी शब्द को सुन सकता है आदि के शब्द तो शब्दान्तरों के आरम्भक होते जाते है, दार्शनिको के सिद्धान्त भी अनेक अनुभवो के अनुसार विलक्षण होजाते है ।

अथ न श्रवणयोग्यत्वादन्त्यत्वं किं तर्हि ? आद्यापेक्षया शब्दान्तरानारभकत्वापेक्षया चेन्त्यमिमतिम्तदाद्यस्यांन्त्यत्वं तदन्त्यस्यानन्त्यत्वं कथमुमपद्यते? येनैकस्यांन्त्यत्मनन्त्यत्वं च स्यात् । ततः सूक्तं प्रत्यासन्नतमश्रोतृश्रुतशब्दाच्छब्दांतरस्याप्रादुर्भावादेकदिक्कप्रणिधिश्रोतृपंक्त्या शब्दश्रवणाभावप्रसंग इति ।

अब पुन वैशेषिकों का अभिमानपूर्वक यह मन्तव्य होय कि सुनने योग्य होने के कारण उस शब्द का अन्तिमपना नही है तो क्या है ? इसका उत्तर हम वैशेषिक यो कहते है कि आदि में हुये

शब्द की अपेक्षा करके और अन्य शब्दों का आरम्भक नहीं होने की अपेक्षा करके उस शब्द का अन्तिमपना व्यवस्थित है। आचार्य कहते हैं कि तब तो आदिम शब्द का अन्तिमपना और उस अन्तिम शब्द का अन्तिमपना भला किस प्रकार युक्तियों से घटित हो सकता है, जिससे कि एक ही शब्द का अन्तिमपना और अनन्तिमपना व्यवस्थित होसके, तिसकारण हमने बहुत अच्छा कहा था कि अत्यधिक निकट बैठे हुये श्रोता के द्वारा सुने गये मन्द शब्द से अन्य शब्दों का प्रादुर्भाव नहीं होता है, अतः एकदिशा में बैठे हुये निकट निकट वर्ती श्रोताओं की पंक्ति करके शब्द के सुने जाने के अभाव का प्रसंग उठाना यों ठीक है।

स्यान्मतं, शंखमुखसंयोगादाकाशे बहवः शब्दाः समानाः प्रत्याकाशप्रदेशकदम्बकं शंखादुपजायते ते च पवनप्रेरिततरंगात्मवच्छब्दान्तराण्यारभन्ते, ततो भिन्नदिक्कसप्रणिधिश्रोतृपंक्तेरिवैकदिक्कसप्रणिधिश्रोतृपंक्तेरपि प्रतिनियतसततिपतितस्यैव शब्दस्य श्रवणमेकस्यैव च श्रोतुर्न पुनरन्यस्य यतो निगदितदोषः स्यादिति तदप्यनालोचिताभिधानं शब्दसंततेः सर्वतोपर्यन्ततापत्तेः। समवायिकारणस्य गगनस्यासमवायिकारणस्य च शब्दस्य शब्दांतरहेतोः सद्भावात्। शंखमुखसंयोगजपवनाकाशसंयोगस्य शब्दकारणस्याभावान्नाभिमतः शब्दः शब्दान्तरमारभते यतः शब्दसंततेरपर्यन्तता स्यादिति चेत्, तर्हि वायवीयःशब्दोस्तु किमाकाशेन समवायिना कल्पितेनेति मतान्तरं स्यात्। शब्दाच्छब्दोत्पत्तिर्न स्यात्तस्यापि पवनसंयोजत्वात्।

यदि वैशेषिकों का यह मन्तव्य होय कि शंख और मुख का संयोग होजाने से समवायि कारण आकाश में बहुत से समान शब्द आकाश के प्रत्येक प्रदेशों पर सरसों या कदम्बकपुष्प की आकृति अनुसार शंख से उपज जाते हैं और वे शब्द तो पवन से प्रेरीगयी तरंगों के समान या दूसरी दूसरी तरंगों के समान शब्दान्तरोंकी उत्पत्ति करते चले जाते हैं तिस कारण भिन्न भिन्न दिशाओं में वर्त रहे समान-निकटता वाले श्रोताओं की पंक्ति के समान एक दिशा में बैठे हुये सन्निकट श्रोताओं की पंक्ति को भी प्रतिनियत होरही शब्द धारा की संतति में पड़े हुये ही शब्द का सुनना एक ही श्रोता को होसकता है, किन्तु फिर दूसरे श्रोताओं को वह शब्द सुनाई नहीं पड़ता है, जिससे कि जैनों के द्वारा पूर्व में कहा गया दोष हम वैशेषिकों के ऊपर लग बैठे।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वैशेषिकों का वह कथन भी नहीं विचार कर बकदेना मात्र है क्योंकि यों तो शब्द की संततिधारा के सब ओर से अपर्यन्तपने का प्रसंग आता है। यानी एक शब्द की धारा लाखों, करोड़ों, अनन्ते, योजनों तक चली जायगी जब कि अन्य शब्दों की उत्पत्ति के कारण माने जा रहे समवायिकारण आकाश और असमवायिकारण शब्द का सर्वत्र सब ओर सद्भाव पाया जाता है। यदि पहिले जैनों द्वारा कराये गये निवारण समान वैशेषिक शब्द के अनन्तपन का यों निवारण करें कि शब्द का कारण आकाश भले ही सर्वत्र व्यापक है, और असमवायिकारण शब्द भी अत्यधिक दूर तक शब्दों को उपजाने के लिये सन्नद्ध है। किन्तु शंख और मुख के संयोग से उपज रही वायु के साथ होरहा आकाश संयोग भी शब्द का प्रकृष्ट कारण माना गया है, उस कारणके नहीं होने

से अन्तिम माना गया शब्द पुनः अन्य शब्दोकी लहरो को नही उपजाता है, जिससे कि शब्द की संतति का पर्यन्तपना नही होसके।

यो कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं, कि यदि शब्द को उपजाने मे वायु को इतनी प्रधानता दी जाती है, तब तो शब्द को वायुतत्व से बनाहुआ मान लिया जाओ समवायिकारण होकर कल्पना किये गये आकाश तत्व से क्या लाभ है ? यो और कहने पर वैशेषिको को अन्यमतियो के मत को स्वीकार कर लेने का प्रसंग आवेगा। जैनमत अनुसार किसी किसी शब्द को वायुनिर्मित कहने मे कोई क्षति नही है, पीपनी बजाने, बासरी बजाने, डकार लेने, छीकने, आदि के शब्दो मे वायु ही शब्दस्वरूप से परिणम जाती है, जिसमे कि शब्दयोग्य वर्गणाये भरी हुई हैं। आहार करने योग्य या पेय पदार्थों मे भी तो अतीन्द्रिय वर्गणाये घुमी हुई हैं। शब्दानुविद्ध वादी पण्डित भी "स्थानेषु विवृत्ते वायौ कृत-वर्णपरिग्रहः, आदि स्वीकार करते है किन्तु शब्द को आकाश का गुण मानने वाले वैशेषिक कथमपि शब्द को वायु नामक उपादान कारण से बन रहा नही मानते है, अतः शब्द को वायवीय मानने पर वैशेषिकों के ऊपर मतान्तर दोष आता है, यहा वैशेषिको को लेने के देने पड जाते है। "दौज का बदला तीज" है। ऐसा लौकिक न्याय है, दूसरी बात यह है, कि वायु का अडंगा लगा देने पर अब शब्द से शब्द की उत्पत्ति नही होसकेगी क्योकि उस शब्द को भी वायुसंयोग से जन्य मान लिया जावेगा जब अत्यन्त परोक्ष आकाश की कल्पना करली जाती है, तो शब्दो के उत्पत्तिस्थल मे क्लृप्त (सब के यहा आवश्यक मानी जा रही) वायु की कल्पना करना तो अतीव सुलभ है।

सत्यकाशे शब्दस्योत्पत्तेस्तत्समवायिकारण न तत्प्रतिषेधहेतवो गमकाः स्युर्बाधितविषयत्वादिति मतं, तदा शब्दः स्पर्शवद्द्रव्यपर्यायो बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्स्पर्शादिवादित्यनुमानात्तस्य पुद्गलपर्यायत्वे सिद्धे तत्प्रतिषेधहेतवोनुमानबाधितविषयत्वादेव गमकाः कथमुपपद्यरन् ?

वैशेषिक कहते है, कि आकाश के होने पर ही शब्द की उत्पत्ति देखी जाती है अतः वह आकाश इस शब्द का समवायिकारण है, ऐसे उस आकाश का निषेध करने वाले हेतु अपने साध्य के ज्ञापक नहीं होसकगे क्योकि उनका विषय तो बाधित होजायगा, अतः आकाश की सिद्धि होचुकने पर साध्य को बाधा उपस्थित होजाने से वे हेतु कालात्ययापदिष्टहेत्वाभास होजायगे। यों वैशेषिकों का मत होगा। तब तो हम जैन कहते है, कि शब्द (पक्ष) स्पर्शवाले द्रव्यो का पर्याय है, (साध्य) बहिरंग इन्द्रियो से जन्य हुये प्रत्यक्ष का विषय होने से (हेतु) स्पर्श, गन्ध आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान से उस शब्द का पुद्गल द्रव्य का पर्याय होना सिद्ध होचुकने पर पुनः वैशेषिको की ओर से उस स्पर्शवान् द्रव्य की पर्याय होने का प्रतिषेध करने वाले हेतु भला अनुमानप्रमाण करके स्वकीयविषयभूत साध्य के बाधित होजाने से ही किसी प्रकार ज्ञप्तिकारक होसकेंगे ?। अर्थात्—हम आकाश द्रव्य का खण्डन नही करते हैं, किन्तु आकाश को शब्द का उपादान कारण नहीं मानते हुये स्पर्शवान् द्रव्यों के उपादेय होरहे शब्द को स्वीकार करते हैं। ऐसी दशा मे वैशेषिको के हेतु बाधितहेत्वाभास होजाते हैं।

एतेन यदुक्तं सौगतैः—एकद्रव्याश्रितः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रिय-

प्रत्यक्षत्वाद्रूपवदिति । तदप्यपास्तं, पुद्गलस्कन्धस्यैकद्रव्यस्य शब्दाश्रयस्योपपत्तेः सिद्धसाधनत्वात् गगनाश्रयत्वे साध्ये साध्यविकलो दृष्टान्तः, रूपादेर्हेतुश्च विरुद्धः । तथाहि—स्पर्शवदेकद्रव्याश्रितः शब्दः सामान्यविशेषत्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् रूपादिवत् । न च हेतोर्गगनेनात्मना व्यभिचारस्तस्यास्मदाद्यप्रत्यक्षत्वात् नापि घटादिना तस्य द्व्यक्ष(?)प्रत्यक्षत्वात् नापि रूपत्वेन तस्य सामान्यविशेषवत्त्वाभावात् नापि संयोगेन तस्य बाह्यानेकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् अङ्गुलिद्वयगुणसंयोगस्यानेकद्रव्याश्रितस्य स्पर्शनेन च साक्षात्करणात् । ततः सूक्तं न शब्दः खगुणो बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् गन्धादिवदिति तस्य पुद्गलपर्यायत्वव्यवस्थितेः ।

यहां बौद्ध बोलते हैं, इस बात को नैयायिक कहें तो और भी अच्छा लगेगा कि शब्द (पक्ष) एक ही द्रव्य के आश्रित हो रहा है । (साध्य) सामान्य विशेषवान् होते सन्ते बहिरंग एक इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किये जाने से (हेतु) रूप के समान (अन्वयदृष्टान्त) । आचार्य कहते हैं कि इसप्रकार जो बौद्धों ने कहा था इस उक्त कथन करके इसका भी खण्डन कर दिया गया है, क्योंकि इसमें सिद्धसाधन दोष है, बन जाने के कारण एक अशुद्ध द्रव्य हो रहे पुद्गल स्कन्ध को शब्द का आश्रयपना निर्णीत कर दिया गया है । अतः आप उसी को उसी सिद्ध हो रहे शब्द के एक द्रव्याश्रितपने सिद्धान्त को साध रहे हैं ।

यदि एक द्रव्य पद से नैयायिक या बौद्धों का यह अभिप्राय होय कि एक आश्रयभूत गगन-नामक द्रव्य के आश्रित हो रहे शब्द का साध्य किया गया है । तब तो तुम्हारे अनुमान का दृष्टान्त साध्य से विकल हो जायगा क्योंकि रूप तो आकाश के आश्रित नहीं है, कोई भी वादी आकाश में रूप गुण का वर्त रहा नहीं स्वीकार करता है, और तुम्हारा हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हुआ जाता है, कारण कि गगन के आश्रित होने से विरुद्ध हो रहे पृथिवी आदि के आश्रितपने के साथ हेतु की व्याप्ति है । इसी बात को यों स्पष्ट कर समझ लीजियेगा कि शब्द (पक्ष) स्पर्शवाले एक द्रव्य के आश्रित हो रहा है, (साध्य) क्योंकि सामान्य के विशेष हो रहे गुणत्व, शब्दत्व, आदि जातियों को धारण करते सन्ते बाह्य एकेन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का विषय वह है (हेतु) । रूप, रस आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)

हमारे इस हेतु का आत्मा करके व्यभिचार नहीं आता है, क्योंकि उस आत्मा का बहिरंग इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता है । अन्तरंग मन इन्द्रिय करके आत्मा का प्रत्यक्ष होना सब ने स्वीकार किया है, तथा घट, पट, आदि करके भी उस हेतु का व्यभिचार नहीं है, क्योंकि बहिरंग हो रहीं दो स्पर्शन और चक्षु इन्द्रियों करके घट आदि के प्रत्यक्ष होने की योग्यता है और हमारे हेतु में बहिरंग एक इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होना यह पद पड़ा हुआ है । तथा रूपगुण में रहने वाली रूपत्व जाति करके हमारे हेतु में व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि जाति में पुनः कोई साधारण सामान्य सत्ता द्रव्य या विशेष सामान्य पृथिवीत्व, घटत्व, आदि नहीं रहता है " जातौ जात्यन्तरानङ्गीकारात् " अतः रूपत्व जाति किसी भी सामान्य विशेष का धारने वाली नहीं है, हेतु का सत्यन्त विशेषण वहां नहीं घटा । तथा संयोग गुण करके भी हेतु का व्यभिचार नहीं आता है क्योंकि वह संयोग तो बहिरंग अनेक इन्द्रियों द्वारा हुये प्रत्यक्ष का गोचर है यद्यपि दो अंगुलियों का संयोग विचारा स्पर्श वाले अनेक द्रव्यों के आश्रित है किन्तु उस संयोग का चक्षु और स्पर्श इन्द्रिय करके भी साक्षात्कार होजाता है । तिस कारण हमने यों दूसरी वार्तिक में बहुत अच्छा कहा था कि शब्द (पक्ष) आकाश का गुण नहीं

है (साध्य) वहिरंङ्ग इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष कियागया होने से (हेतु) गन्ध, रस, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) । कारण कि उस शब्द को पुद्गल द्रव्य का पर्यायपना युक्तिपूर्वक व्यवस्थित कर दिया है, यहा तक पहिली वार्त्तिक के विवरण में एक विद्वान् करके उठाये गये शब्द को आकाश के गुण होने के आक्षेप का निराकरण कर दिया है । अब वही उठाये गये शब्द को अमूर्त द्रव्य कहने वाले किसी अन्य विद्वान् के कटाक्ष का ग्रन्थकार निवारण करते है ।

तथा नामूर्तिद्रव्यं शब्दः बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत् । न नभसा व्यभिचारः साधनस्य, नभसो बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वात् । ननु च शुषिरस्य चक्षुषा स्पर्शनेन च साक्षात्करणाच्छुषिरं तदाकाशमिति वचनाद्बाह्येंद्रियप्रत्यक्षमेवाकाशं तदिदं या प्ररूपणादिति चेत्, नैतत्सत्यं, शुषिरस्य घनद्रव्याभावरूपत्वादुपचारतस्तत्राकाशव्यपदेशात् घनद्रव्याभावस्य च द्रव्यान्तरसद्भावरूपत्वात् । तत्र चक्षुषः स्पर्शनस्य च व्यापारात् । परमार्थतस्तत्प्रत्यक्षत्वाभावाच्च नभसः तथा हि—नभो न बाह्येंन्द्रियप्रत्यक्षममूर्तद्रव्यत्वादात्मादिवत् यत्तु बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षं तन्नामूर्तद्रव्यं यथा घटादिद्रव्यं इति न नभसा व्यभिचारी हेतुः ।

तथा शब्द (पक्ष) अमूर्त द्रव्य नही है (साध्यदल) वहिरंग इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष का विषय होने से (हेतु) घट आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) । हमारे इस वाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व हेतु का आकाश करके व्यभिचार नही आता है । क्योकि अत्यन्त परोक्ष आकाश का वहिरग इन्द्रियो से प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होने पाता है । यहाँ कोई प्रश्न उठ ते है. कि छिद्रका चक्षु या स्पर्श इन्द्रिय करके प्रत्यक्ष किया जारहा है, और जो छेद है, वह आकाश है । ऐसा शास्त्रीय वचन है अत. आकाश भी वहिरंगइन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष का विषय है ही । उस आकाशका "यह छेद, यह कुआ, यह मुख,, आदि इस प्रकार "यह ये" ऐसे प्रत्यक्षसूचक इद शब्द की वाच्यता करके निरूपण किया जाता है । अर्थात्—यह मोरी बड़ी है, यह छेद छोटा है,यह कुआ गहरा है, मुखमे कौर धर दो, कान मे दवाई डाल दो, इसी प्रकार एंडा, गुदस्थान, तिखाल, घर, गुहा, ये सव आकाश स्वरूप ही पदार्थ है, चारो ओर के मिट्टी या ईंट के घेरे को मोरी नही कहते है, किन्तु घेरे के बीच मे आगये आकाश को मोरी कहा जाता है, चलनी मे से चून छनता है, कोलगली मे मनुष्य जा रहा है, पेट मे रोटी रखी है, यहा गली, पेट, आदि शब्दा से पोल ही समझो जाती है और जो पोल है, वह आकाश है, इस प्रकार आंखो या स्पर्शन से आकाशका प्रत्यक्ष भी स्पष्ट किया जा रहा है । अत: जैनो के हेतु का आकाश करके व्यभिचार दोष लगना तद-वस्थ रहा ।

इस प्रकार कह चुकने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना सत्य नही है. कारण कि छेद तो घने द्रव्यो का अभाव स्वरूप है, अत. उपचार मे उस छेद मे आकाशपने का वचनव्यवहार कर दिया जाता है । वस्तुतः विचारा जाय तो जैन सिद्धान्त में तुच्छ अभाव स्वीकार नहीं किया गया है,

घनद्रव्य का अभाव तो अन्य द्रव्यो के सद्भाव स्वरूप है. उस अन्य पौद्गलिक द्रव्य में चक्षुः या स्पर्शन इन्द्रिय का व्यापार होरहा है । अत परमार्थरूप से उस द्रव्यान्तर का प्रत्यक्षहोना तो आकाश का प्रत्क्षय हुआ नही कहा जा सकता है,आकाश द्रव्य अत्यन्त परोक्ष है । अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान की भी उस मे प्रवृत्ति नही है, इन्द्रियजन्य ज्ञान को कौन पूछे ? अन्धकार, उजाला, या चारो ओर घेरा, यहा वहां के चमडा आदि पौद्लिक पिण्ड पदार्थों को ही कूप, तिखाल, घर, गृद स्थान, कान आदि मानना चाहिये । आकाश का "इदम प्रत्यक्षकृते समीपतरनिष्ठ एतदो रूप, अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्,, इस नियम अनुसार प्रत्यक्ष होरहे अर्थ के वाचक इदम् शब्द द्वारा प्ररूपण नही होसकता है, किसी भी दार्शनिक ने आकाश का वहिरिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष हाना स्वीकार नही किया है । इसी बात का स्पष्टीकरण यो समझो कि आकाश (पक्ष) बहिरग इन्द्रियो से उपजे प्रत्यक्षज्ञान का विषय नही है, (साध्य) अमूर्तद्रव्य होने से (हेतु , आत्मा, काल, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) जो बाहरली इन्द्रियो द्वारा हुये प्रत्यक्ष का गोचर है वह तो अमूर्त द्रव्य नही है, जैसे कि घट, पट, आदि अशुद्ध द्रव्य है (व्यतिरेकदृष्टान्त) । इस कारण हमारा बाह्यइन्द्रियप्रत्यक्षत्व हेतु आकाश करके व्यभिचारी नही है ।

स्यादाकूत ते अमूर्तं द्रव्यं शब्दः परममहत्त्वाश्रयत्वादाकाशवदित्यनुमानबाधितः पक्ष इति । तदसम्यक परममहत्त्वाश्रयत्वस्यासिद्धत्वात । तथाहि—न परममहान् शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात पटादिवत् न पि मुख्यप्रत्यक्षेण नभसा,तस्यास्मदादिमनःप्रत्यक्षत्वासिद्धेः । संव्यवहारतोनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य स्वसंवेदनस्य सुखादिप्रतिभासिनश्चक्षुरादिपरिच्छिन्नार्थस्मरणस्य च विशदस्याभ्युपगमात् गगनादिष्वतींद्रियेषु मानसप्रत्यक्षानवगमात् ।

यदि तुम मीमासको की यह चेष्टा होय कि शब्द (पक्ष) अमूर्तद्रव्य है, (साध्य), परम महत्त्व नामक परिणाम का आश्रय होने से (हेतु), आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमान से जैनो की "शब्द अमूर्त है" यह प्रतिज्ञा बाधित होजाती है । ग्रन्थकार कहते है, कि यह कुतर्क करना समीचीन नही है, कारण कि शब्द को परम महापरिणाम का आश्रयपना असिद्ध है अतः तुम्हारा हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, इस बात को हम यो स्पष्ट रूप से समझाते है, कि शब्द (पक्ष) परममहान् नही है (साध्यदल) हम आदि छद्मस्थ जीवो के प्रत्यक्षज्ञान का विषय होने से (हेतु) पट आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमान के हेतु मे भी मुख्यप्रत्यक्ष का विषय होरहे आकाश करके व्यभिचार दोष नही आता है । क्योकि उस आकाश को हम आदि अनागदर्शी जीवो के मन से उत्पन्न हुये प्रत्यक्ष का गोचरपना असिद्ध है ।

साख्यों के यहां मानी गयी व्यापक प्रकृति करके भी हेतु का व्यभिचार नही आताहै, आकाश या साख्यो की प्रकृति अथवा वैशेषिको के काल द्रव्य का मन. इन्द्रिय मे प्रत्यक्ष नहीं होपाता है । बात यह है, कि "इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त देशतः सांव्यवहारिकम्,, समीचीन व्यवहार के अनुरोध से मनः

अनिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का, और स्वसंवेदन प्रत्यक्षका, तथा सुख आदि को प्रतिभास कर रहे ज्ञान का, एवं चक्षु आदि द्वारा ज्ञात किये अर्थों के स्मरणका, विशद प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया गया है।

भावार्थ-भले ही स्मरण,प्रत्यभिज्ञान,आदिक परोक्ष ज्ञान होय,सशय,विपर्यय,विचारे मिथ्याज्ञान होय किन्तु इनका स्वसवेदन तो प्रत्यक्ष ही होरहा है। "भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः। बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते" (देवागम)। सुख, इच्छा, वेदना, आदि को जानने वाले ज्ञान का स्वसम्वेदन सज्ञी जीव के प्रमाणात्मक हुआ मानस प्रत्यक्ष कहा जा सकता है, यद्यपि स्मरणज्ञान परोक्ष है फिर भी चक्षु आदि से जाने जाचुके अर्थ के स्मरण का पुनः मनः इन्द्रिय करके प्रत्यक्ष होना सब को अभीष्ट है, अतः इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से उत्पन्न हुये एक देश विशदज्ञान को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहदेते है, गगन,काल,आदि अतीन्द्रियपदार्थोमे मानस प्रत्यक्ष द्वारा अवगति होना कथमपि नही इष्ट किया गया है।

नचैवं मतिज्ञानस्य सर्वद्रव्यविषयत्ववचनं विरुध्यते, गगनादीनामतीन्द्रियद्रव्याणां स्वार्थानुमानमतिविषयत्वाभ्युपगमात्।

यहा कोई आक्षेप करता है कि "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" यह श्री उमास्वामी महाराज द्वारा निर्णीत हो चुका है "तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं" वह मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय को निमित्त पाकर उपजता है यह भी समझा दिया गया है आकाश मे भले ही वहिरंग इन्द्रियो की प्रवृत्ति नही होय, यह उचित है किन्तु अनिन्द्रिय मन से जन्य भी मतिज्ञान की विषयता यदि आकाश मे नही मानी जायगी तो इस प्रकार मतिज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण द्रव्यो का विषय होजाना यह सूत्रकार का कथन विरुद्ध पड जाता है, जैन आचार्यों को परस्पर-विरोधी वचन नही बोलना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि यह आक्षेप नही करना क्योंकि "मतिस्मृति संज्ञाचिन्ताभिनिरोध इत्यनर्थान्तरम्" इस सूत्र करके अनुमान ज्ञानको मतिज्ञान स्वरूप ठहराया है।

"अत्थादो अत्थतरमुवलभतं भणति सुदणाणं।

"आभिणिवोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं" (गोम्मटसारजीवकाण्ड)

इस लक्षण गाथा अनुसार अर्थ से अर्थान्तर का ज्ञान श्रुतज्ञान समझा जाता है। अर्थात् जहाँ साधन से साध्य का भेद दृष्टिगोचर होरहा है वहाँ न्यारे ज्ञापकहेतु से हुआ साध्य का ज्ञान तो श्रुतज्ञान कहा जायगा किन्तु साध्य और साधन में कथंचित् अभेद को विचारते हुये जो अनुमान प्रवर्तेगा वह मतिज्ञान कहा जायगा। स्वार्थानुमान और परार्थानुमान यों अनुमान के दो भेद हैं अभिनिबोधनामक मतिज्ञान स्वार्थानुमान है, परार्थानुमान तो श्रुतज्ञान में जायगा। आकाश, काल, धर्म आदि अतीन्द्रिय द्रव्यो को हम स्वार्थानुमान नामक मतिज्ञान का विषय होना स्वीकार करते हैं, अतः कोई पूर्वापर विरोध नहीं है। मन इन्द्रिय से सुख, वेदना, आत्मा आदि पदार्थों का सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष होजाता है तथा अनिन्द्रिय नामक मन को आलम्बन

करता हुआ नो-इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम स्वरूप लब्धि को पूर्ववृत्ति कर आकाश आदि द्रव्यों का अवग्रह आदि मतिज्ञान-स्वरूप उपयोग पहिले ही हो जाता है उसके पश्चात् झट उस मतिज्ञान से श्रुतज्ञान प्रवर्त जाता है, मतिज्ञान से जाने हुये अर्थ में अन्य विशेषों को जानने के लिये श्रुतज्ञान प्रवर्तता है, अतः आकाश, धर्म, आदि को मतिज्ञान कुछ जान लेता है पश्चात् श्रुतज्ञान उनका अधिक प्रतिभास कर लेता है "श्रुतं मतिपूर्वं"

आकाश की अवगति में श्रुतज्ञान का पूरा हाथ होते हुये भी कुछ मतिज्ञान का हाथ रह चुका है। मतिज्ञान कितने अंश का परिज्ञायक है ? इसके विवेक को विचक्षण विद्वान् ही कर सकते हैं जैसे कि ईहा मतिज्ञान-पूर्वक हुये ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान के विषय में ईहा का हाथ कितना है ? इसका भेद-विज्ञान करना साधारण बुद्धि वाले का कार्य नहीं है। मनःपर्ययज्ञान और श्रुतज्ञान के पहिले उस विषय के स्वल्प अंशों को जानने वाला मतिज्ञान प्रवर्त जाता है तभी तो इन दो ज्ञानों के प्रथम दर्शन होने की आवश्यकता नहीं। विभङ्ग ज्ञान के प्रथम भी दर्शन नहीं होता है, हाँ मतिज्ञान के पहिले महासत्ता का आलोचक दर्शन उपयोग अवश्य हो गया था, अतः आकाश के कुछ विषय अंश का मनःपूर्वक परोक्ष मतिज्ञान होते हुये भी आकाश का मानसप्रत्यक्ष होना स्वीकार नहीं किया गया है, जैसा कि सुख, दुःख, आत्मा आदि का मन इन्द्रिय से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हुआ इष्ट किया गया है, अतः हमारे हेतु का आकाश से व्यभिचार दोष नहीं लगता है।

अस्मदादिप्रत्यक्षया सत्तयानेकांत इत्यपि न स्याद्वादिना क्षम्यते, सत्तायाः सर्वथा परममहत्त्वाभावात्। परममहतो द्रव्यस्य नभसः सत्ता हि परममहती नामवगत-द्रव्यादिसत्ता। न च नभसः सत्तास्मदादिप्रत्यक्षा ततो न तया व्यभिचारः। न च सकल द्रव्यपर्यायव्यापिन्येकैव सत्ता प्रसिद्धा, तस्यास्तथोपचारतः प्रतिपादनात्। परमार्थतस्त्वेकत्वे विश्वरूपत्वविरोधात्। सत्प्रत्ययाविशेषादेकैव सत्तेति चेन्न सर्वथा सत्प्रत्ययाविशेषस्यासिद्धत्वात् संयुक्तप्रत्ययाविशेषवत्।

यदि वैशेषिक हमारे अस्मदादि प्रत्यक्षत्व हेतु का सत्ता जाति करके व्यभिचार उठावे कि द्रव्य, गुण, कर्मों, में वर्त्त रही सत्ता जाति का हमको प्रत्यक्ष होता है किन्तु वहाँ परम महत्वाभाव यह साध्य तो नहीं है क्योंकि सत्ता जाति सर्वत्र व्याप रही है। आचार्य कहते हैं कि स्याद्वादी विद्वान् करके यह व्यभिचार भी सहन करने योग्य नहीं है क्योंकि सत्ता जाति के सभी प्रकार परम महापरिमाण-धारीपन का अभाव है, एक तो वैसे ही वैशेषिकों ने सत्ता की द्रव्य, गुण, कर्मों, में ही वृत्ति स्वीकार की है, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव, इन चार पदार्थों में सत्ता जाति नहीं ठहरती कही है दूसरे परम महत्व परिमाण नामक गुण तो द्रव्य में ठहर सकता है, जाति में गुणों का निवास नहीं माना गया है। हाँ जिसी आकाश में परममहत्वगुण समवाय से रहता है उसी में सत्ता जाति भी समवाय सम्बन्ध से ठहर जाती है, इस कारण

सत्ता में परममहत्त्वगुण एकार्थसमवाय सम्बन्ध से पाया भी गया किन्तु आकाश की सत्ता का हम आदि को प्रत्यक्ष नही होपाता है, तिस कारण हेतु के नही ठहरने से उस आकाश की सत्ता करके व्यभिचार दोष नही आया । अव्यापक हो रहे घट, पट, आदि द्रव्यो की या अव्यापी रूप, रस, क्रिया आदि पदार्थों की सत्ता तो वृत्यनियामक हुये एकार्थ समवाय सम्बन्ध से भी परम महान नही है ।

एक बात यह भी है कि सम्पूर्ण द्रव्य अथवा पर्यायो मे व्यापरही और एक ही मानी जा रही सत्ता जाति प्रसिद्ध भी नही है । देवदत्त, घट, पट, कालाणु, आदि मे कोई भी एक व्यापक सत्ता की प्रतीति नही होती है । केवल अनेक पदार्थों मे न्यारी न्यारी वर्त रही अवान्तरसत्ताओ का कल्पित पिण्ड मान कर गढ लो गयी उस महासत्ता का तिस प्रकार उपचार से ही एकपन या व्यापकपन क्वचित् शास्त्र मे समझा दिया गया है यदि वास्तविक रूप मे उस सत्ता को एक माना जायगा तो वह जगत के सम्पूर्ण पदार्थों-स्वरूप नही हो सकेगी जगत का कोई भी एक पदार्थ विचारा जड चेतन, विषअमृत, परमात्मा अशुद्धात्मा आदि मे एक स्वरूप होकर नही ठहर सकता है, जड या चेतन द्रव्यो के सामान्य गुण का कहे जा रहे अस्तित्व, वस्तुत्व, आदिक स्वभाव भी प्रत्येक मे न्यारे न्यारे है । विष अमृत, अग्नि जल, आदि पर्यायो के विवर्तयिता माने गये पुद्-गलो के रूप रस, आदि आदि गुण भी प्रत्येक मे अलग अलग है किन्तु सत्ता को विश्वरूप माना गया है ।

" सत्ता सयलपयत्था सविस्सरूवा अणत पज्जाया ।
भगोप्पादधुवत्था सप्पडिवक्खा हवदि एगा" (पचास्तिकाय)

विश्वरूप वही पदार्थ हो सकता है जो सम्पूण विरुद्ध, अविरुद्ध, पदार्थों मे तन्मय होकर ओत प्रोत घुस रहा हो । परीक्षा-दृष्टि से विचारने पर निर्णीत हो जाता है कि ऐसा सब मे ओत पोत घुसने वाला कोई पदार्थ जगत मे नही है सब को न्यारी न्यारी अनन्तानन्त अवा-न्तर सत्तायें ही सग्रहनय की अपेक्षा महासत्ता नाम को पाजाती हैं जैसे कि न्यारे न्यारे अनेक वृक्षो का एक विशिष्ट सन्निकटपन हो जाने से उपवन या वन यह नाम पड जाता है, अत वैशेषिको को वस्तुत. एक ही व्यापक सत्ताजाति का आग्रह नही करना चाहिये ।

वैशेषिक कहते हैं " सदिति लिगाविशेशात् विशेषलिगाभावाच्चैको भाव " ॥ १७ । (वैशे-षिक दर्शन के पहिले अध्याय म द्वितीय आन्हिक का सूत्र है) तदनुसार घट सन् है, आत्मा सन् है, रूप सत् है, क्रिया सती है, इत्यादि सत् सत् इत्याकारक प्रत्ययों में कोई विशेषता नहीं देखी जाती है, इस कारण सत्ता जाति एक ही है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योंकि सत् सत् इन ज्ञानो का सभी प्रकारो से अन्तर रहित होजाना असिद्ध है, जैसे कि पट के साथ साथ घट संयुक्त है. आत्मा के साथ कर्म संयुक्त है. अधर्म द्रव्य के साथ धर्मद्रव्य सयुक्त है. आकाश का काल के साथ संयोग हो रहा है, इत्यादिक सयुक्तपने को विषय कर रहे ज्ञानो की अविशेषता असिद्ध है अर्थात्-स्थूल रूप से उक्त स्थलो पर सयुक्त हैं, संयुक्त हैं, ऐसे एक से ज्ञान

उपज जाते हैं किन्तु वस्तुतः विचारने पर वे संयोग गुण जैसे विशिष्ट हो रहे न्यारे न्यारे माने गये हैं उसी प्रकार समान आनुपूर्वी होते हुये भी सत्ता जाति न्यारी न्यारी माननी पडेगी अतः असिद्ध हेत्वाभास हो रहे "सत्प्रत्ययाविशेष" हेतु से सत्ता का एकपना सिद्ध नहीं होसकता है। समवाय भी एक नहीं सधपाता है। यहाँ तक निर्णय हुआ कि अस्मदादि करके प्रत्यक्षका विषय होने से शब्द परम महान नहीं है, भले ही लहरी प्रवाह से शब्द को हजारो कोस लम्बा मान लिया जाय किन्तु मीमांसको के अभिप्राय अनुसार शब्द का आकाश के समान व्यापक द्रव्यपना नही प्रतीत किया जा रहा है।

अत्रान्ये प्राहुः–न द्रव्यं शब्दः किं तर्हि ? गुणः प्रतिसिद्धमानद्रव्यकर्मत्वे सति सत्त्वाद् रूपवत्। शब्दो न द्रव्यमनित्यत्वे सत्यस्मदाद्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात्। शब्दो न कर्माचाक्षुषप्रत्यक्षत्वाद्रसवदिति। तदयुक्तं–मीमांसकान् प्रति तेषां वायुनास्मदाद्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वस्य व्यभिचाराद्वायोरस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्। अनित्यत्वविशेषणस्य चाप्रसिद्धत्वात् द्रव्यत्वप्रतिषेधानुपपत्तेः। कर्मत्वप्रतिषेधनस्याचाक्षुषप्रत्यक्षत्वस्य वायुकर्मणानैकान्तिकत्वात्।

यहां प्रकरण पाकर कोई दूसरे वैशेषिक विद्वान् अपने मन्तव्य को बहुत बढिया मानते हुये यो कह रहे हैं कि शब्द (पक्ष) द्रव्य नही है (साध्य)। तो शब्द क्या पदार्थ है ? इसका उत्तर यह है कि शब्द तो गुण है (प्रतिज्ञा) द्रव्यो और कर्मो से भिन्न होते सन्ते सत्तावाला होने से (हेतु) रूप के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्–सत्तावाले तीन ही द्रव्य, कर्म, गुण, पदार्थ हैं तिन मे से द्रव्य और कर्म से भिन्नपना यो विशेषण लगा देने पर सविशेषण सत्तावत्व हेतु से शब्द मे गुणत्व की सिद्धि होजाती है। वैशेषिक अपने हेतु के विशेषण को यो अनुमान द्वारा पुष्ट करते हैं, कि शब्द (पक्ष) द्रव्य नही है, (साध्य) अनित्य होते सन्ते अस्मदादिको के चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय नही होने से (हेतु) रस के समान (अन्वयदृष्टान्त)। हम आदि के चक्षुओ द्वारा नही जानने योग्य आकाश आदि नित्य द्रव्य हैं, अतः अनित्यत्वे सति इस विशेषण से आकाश, दिक्, काल, आत्मा, मन और पृथिवी आदि चारो धातुओ के परमाणुओ करके सम्भवने योग्य व्यभिचार की निवृत्ति होजाती है, शेष घट आदि अनित्य द्रव्यो द्वारा आपादन करने योग्य व्यभिचार का निवारण अस्मदादि अचाक्षुषप्रत्यक्षत्व से होजाता है। तथा शब्द (पक्ष) कर्म पदार्थ नही है, (साध्य) क्योंकि वह चक्षुरिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का विषय नही है (हेतु), रस के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार शब्दका द्रव्यपन और कर्मपन का अभाव साध दिया गया है।

आचार्य कहते हैं, कि मीमासको के प्रति या जैनों के प्रति वह वैशेषिको का कथन युक्ति रहित है क्योंकि उन मीमांसको के यहाँ वायु करके अस्मदादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष का नही गोचरपन हेतु का व्यभिचार आता है, वायु का हम आदि की स्पर्शन इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। वैशेषिको ने भी वायु का चक्षुः द्वारा प्रत्यक्ष होना अभीष्ट नही किया है, अतः वीजना की वायु, आधी, श्वास

लेना, आदि वायुयें अनित्य होरही सन्ती हम आदि के चक्षुओं द्वारा नही जानी जाती हैं, किन्तु वे वायुये द्रव्य तो है, यह व्यभिचार हुआ। एक बात यह भी है, कि मीमांसकोके प्रति कथन करने से शब्द का अनित्यपना विशेषण अप्रसिद्ध है जब कि मीमांसक शब्द का नित्यपना स्वीकार कर रहे हैं। अतः अस्मदादि अचाक्षुष प्रत्यक्षपन हेतु से शब्द मे द्रव्यपन का निषेध नही सध सकता है, तथा शब्द में कर्मपन का निषेध करने वाले अचाक्षुष प्रत्यक्षत्व हेतु का वायु की चलन क्रिया करके व्यभिचार आता है। अर्थात्-वायु की क्रिया चक्षुरिन्द्रिय से नही जानी जाती है किन्तु उस क्रिया में क्रियात्वाभाव नामक साध्य नही रहा, वायु क्रिया तो कर्म पदार्थ है।

द्रव्यं शब्दः क्रियावत्वाद्बाणादिवदित्यपरे । ते यदि स्याद्वादमतमाश्रित्याचक्षते तदापसिद्धान्तः शब्दस्य पर्यायतया प्रवचने निरूपणादन्यथा पुद्गलानां शब्दवत्वविरोधात् । द्रव्यार्थादेशाद्द्रव्यं शब्दः पुद्गलद्रव्याभेदादिति चेत् किमेवं गन्धादिरपि द्रव्यं न स्यात् ।

यहाँ कोई दूसरे पण्डित जी यो कह रहे है कि शब्द (पक्ष) द्रव्य है, (साध्य) क्रियावाला होने से (हेतु), बाण, गोली, वायु, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते है कि वे पण्डित जी यदि स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय लेकर कहरहे हैं तब तो उनके ऊपर अपसिद्धान्त नामक दोष है, क्योकि वे जैन सिद्धान्त से बाहर जा रहे है, जैन शास्त्रो मे शब्द को पर्यायरूप से कथन किया है "सद्दो बंधो सुहमो थूलो सठाण भेदतमछाया। उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया" यानी शब्दको पुद्गलकी पर्याय नही माना जायगा तो पुद्गलाको शब्द-सहितपन का विरोध होजावेगा द्रव्य ही सहभावी क्रमभावी पर्यायो को धारते है, हाँ स्याद्वाद सिद्धान्त के बल बूते पर द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से पुद्गल द्रव्यके साथ शब्द पर्याय का अभेद होजाने के कारण यदि शब्द को द्रव्य कहा जायगा तब तो इस प्रकार गन्ध आदिक भी क्यो नही द्रव्य होजावें पोली या चापलूसीको बाते हमको मनोहर नही भासती है, युक्तिसिद्ध निर्णीत जैन-सिद्धान्त का निभय होकर आश्रय लेना चाहिये। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि अनुसार गन्ध गुण, की सुगन्ध दुर्गन्ध, पर्याय नहीं ज्ञात हुयी केवल नित्य द्रव्य ही प्रतीत होता रहता है। अतः शब्द के समान गन्ध, रूप आदि भी द्रव्य हो जाओ किन्तु यह प्रामाणिक मार्ग नहीं है।

गन्धादयो गुणा एव द्रव्याश्रितत्वात् निर्गुणत्वाच्च "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" इति वचनान्निष्क्रियत्वाच्चेति चेत्,शब्दस्तत एव गुणोस्तु ।

शब्द को द्रव्य मानने वाले अपर विद्वान् कहते है। कि गन्ध, रूप, आदि तो गुण ही है, (प्रतिज्ञा), द्रव्य के आश्रित हारहे होने से और गुणो करके रहित होने से (दो हेतु)। देखो स्वयं सूत्रकार ने ऐसा कहा है, कि जो अधिकरण भूत द्रव्य के आश्रित होरहे सन्ते स्वय पुनः अन्यगुणो से रहित हैं, वे गुण हैं। एक बात यह भी है कि क्रियाओ से रहित होने के कारण (तीसरा हेतु) भी गन्ध आदिक तो गुण ही समझे जायेंगे। यो कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तिस ही कारण यानी

द्रव्य के आश्रित होने से तथा गुण रहित होने से और क्रिया रहित होने से, शब्द भी गुण होजाओ शब्द के द्रव्यपन का एकान्त बखाने जाना ठीक नही है।

सहभावित्वाभावान्न गुण इति चेत्, कथं रूपादिविशेषास्तत एव गुणा भवेयुः। सामान्यापेक्षायास्तेषां सहभावित्वात् पुद्गलद्रव्यस्य तद्गुणास्ते इति चेत्, शब्दसहभावित्वं समवायिकारणमस्तु भवत एव पृथिवीद्रव्याभावे गन्धस्याकाशे गन्धस्यानुत्पत्तेः पृथिवी द्रव्यमेव तस्य समवायिकारणमाकाशं तु निमित्तमिति चेत् नहि वायुद्रव्यस्याभावे शब्दस्यानुत्पत्तेः तदेव तस्य समवायिकारणमस्तु गगनं तु निमित्तमात्रं तस्य सर्वोत्पत्तिमतामुत्पत्तौ निमित्तकारणत्वोपगमात्। पवनद्रव्याभावे प मे रीदंडसंयोग च्छब्दस्योत्पत्तेः पवनद्रव्यं तत्समवायि पृथिव्यप्तेजोद्रव्यवदिति चेत् तर्हि शब्दपरिणामयोग्य पुद्गलद्रव्यं शब्दस्योपादानकारणमस्तु वाय्वादेरनियततया तत्सहकारित्वसिद्धेः।

यदि अपर विद्वान् यो कहे कि "सहभाविनो गुणा" अनादि से अनन्त काल तक द्रव्य के साथ विद्यमान रहने वाले गुण होते है, सहभावी नही होने से शब्द गुण नही होसकता है, यो कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि तिस ही कारण से यानी सहभावी नही होने से रूप, रस, आदि गुणो के काले, खट्टे, आदि विशेष विवत भला किस प्रकार गुण होसकेगे ? बताओ यदि आप यों कहो कि रूप, रस, आदि के विवर्तो में अन्वित होरहे सामान्य को विवक्षा करने से उन काले आदि विशेषो का पुद्गल द्रव्य के साथ सहभावीपना है, अत. वे उन पुद्गल के गुण कह दिये जाते हैं तब तो हम जैन कहते हैं, कि यो पुद्गल द्रव्य के साथ शब्द का भी सामान्य रूप से सहभावीपना है अतः शब्द का समवायीकारण भी पुद्गल द्रव्य होजाओ। केवल आप वैशेषिकों के यहाँ ही गन्ध का समवायी कारण पृथिवी और स्नेह का समवायी कारण जल तथा भास्वर रूप का समवायी कारण तेजो द्रव्य आदि मान रखे है, सामान्य की अपेक्षा से सहभावी होने के कारण आकाश के भी गन्ध आदि गुण होजाओ। सत्य बात तो यह है कि शब्द हो चाहे गन्ध, स्नेह रूप अनुष्णाशीत, आदि होवे इन सब का समवायी कारण पुद्गल द्रव्य ही प्रतीति सिद्ध है।

यदि तुम यो कहो कि पृथिवी द्रव्य के नही होने पर और आकाश द्रव्य के होते सन्ते भी गन्ध की उत्पत्ति नही होपाती है। अतः पृथिवी द्रव्य ही उस गन्ध का समवायी कारण होसकेगा आकाश द्रव्य तो केवल निमित्त कारण है, जैसे कि काल द्रव्य सब कार्यों का निमित्त माना गया है "जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः" यो कहो तब तो हम जैन आपादन करते हैं, कि वायु द्रव्य के नही होने पर कही भी शब्द नही उपज पाता है अतः वह वायु द्रव्य ही उस शब्द का समवायीकारण होजाओ, आकाश तो केवल निमित्तकारण मान लिया जाय क्योंकि सम्पूर्ण उपजने वाले कार्यों की उत्पत्ति मे उस आकाश का निमित्त कारण होजाना स्वीकार किया गया है।

यदि तुम यह कटाक्ष करो कि बड़े नगाड़े के साथ वेग युक्त दण्डका संयोग होजाने से शब्द की

उत्पत्ति होजाती है। बांस आदिके फटने पर विभाग से भी शब्द पैदा होता है,शब्द से भी शब्द उपज जाता है "संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः३१ (वैशेषिक दर्शनके द्वितीय अध्यायमें प्रथमआन्हिक का यह सूत्र है।) अतः वायु द्रव्य तो उस शब्द का समवायीकारण नही माना जाता है, जैसे कि अन्वय व्यतिरेक नही घटने से पृथिवी, जल, तेजो द्रव्य, ये शब्द के समवायी कारण नही हैं तुम्हारे यों कहने पर, तब तो यही जैन सिद्धान्त अच्छा जचजाता है, कि शब्द नामक पर्याय रूप से परिणमने योग्य पुद्गल द्रव्य ही शब्द का उपादान कारण मान लिया जाओ, वायु, आकाश, आदि तो अत्याव-श्यक होकर नियत कारण नही हैं, यानी वायु या आकाश ही शब्द स्वरूप होकर नही परिणमते हैं, हां वे शब्द की उत्पत्ति मे सहायक मात्र हैं, अतः उस शब्द के सहकारी कारण होकर प्रसिद्ध होजाते हैं।

कुतस्तत्सिद्धिरिति चेत्, पृथिव्यादेः कुतः ? प्रतिविशिष्टस्पर्शरूपरसगंधानामुपलं-भात्पृथिव्याः सिद्धिः, स्पर्शरूपरसविशेषाणामुपलब्धेरपां, स्पर्शरूपविशेषयोरुपलब्धे तेजसः। स्पर्शविशेषस्योपलंभाद्वायोः। स्वाश्रयद्रव्याभावे तदनुपपत्तेरिति चेत्, तर्हि शब्दस्य पृथिव्यादि-ष्वसंभविनः स्फुटमुपलंभात्तदाश्रयद्रव्यस्य भाषावर्गणापुद्गलस्य प्रसिद्धिरन्यथा तदनुपपत्तेः।

यदि वैशेषिको का पक्ष ले रहे अपर पण्डित यों विभीषिका दिखलावे कि बताओ उस शब्द परिणतियोग्य पुद्गल द्रव्य की किस प्रमाण से सिद्धि करोगे ? यो कहने पर तो हम जैन भी यों धोस देसकते हैं, कि तुम ही बताओ कि पृथिवी आदि च्यारे च्यारे चार तत्वों को आप कैसे किस ढंग से साधेंगे ? यदि वैशेषिक यो कहे कि अन्य द्रव्यो की अपेक्षा प्रत्येक पृथिवी तत्व मे विशिष्ट रूप से पाये जा रहे पार्थिव स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, गुणों की उपलब्धि होजाने से पृथिवी द्रव्य की सिद्धि होजाती है, विशिष्ट होरहे स्पर्श, रूप, रसो, की उपलब्धि होजाने से जल द्रव्य को साध लिया जाता है, उष्णस्पर्श और भास्वर रूप इन विशेषगुणो के देखने से तेजोद्रव्य की प्रसिद्धि होजाती है, योग-वाही अनुष्णाशीतस्पर्श विशेष काउपलम्भ होजाने से वायु द्रव्य को सिद्ध कर दिया जाता है, क्योंकि अपने आश्रय होरहे नियत द्रव्य के बिना उन स्पर्श आदि विशेषो का उपलम्भ होना नही बन पाता है, यों वैशेषिको के कथन करने पर, तब तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि पृथिवी, जल, आदि में कथ-मपि उपादेय होकर नहीं सम्भव रहे शब्द का विशदरूप से उपलम्भ होरहा है, अतः उस शब्द के उपादानरूप से आश्रय होरहे भाषावगणा स्वरूप पुद्गल द्रव्यकी प्रमाणोसे सिद्धि होजाती है, अन्यथा यानी भाषा वर्गणा या शब्द योग्यवर्गणा के विना उस शब्द को उत्पत्ति होना नही बन सकता है, उपादान कारण के बिना शब्द का उपजना असम्भव है।

न च परमाणुरूपः पुद्गलः शब्दस्याश्रयोस्मदादिबाह्येंद्रियग्राह्यत्वात् छायातपादि-वत् स्कंधरूपस्तु स्यादिति सूक्ष्मशब्दगुणात्मकान्यः सूक्ष्मभाषावर्गणापुद्गलोस्मदादिवा-

बोन्द्रियग्राह्यपुद्गलस्कंधात्मा शब्दः प्रादुर्भवन् कारणगुणपूर्वक एव पटरूपादिवत्। ततोऽकारण-पूर्वकत्वादित्यसिद्धो हेतुरयावद्द्रव्यभावित्वादिवत्।

रूप, रस, आदि का आश्रय भले ही परमाणु होजाओ किन्तु परमाणु स्वरूप पुद्गल द्रव्य सूक्ष्म स्थूल माने गये शब्द का आश्रय नही होसकता है, (प्रतिज्ञा) बाह्य इन्द्रिय करके ग्रहण करने योग्य होने से (हेतु) बादरसूक्ष्म, होरहे छाया, घाम, चांदनी, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) हां मोटा स्कन्धस्वरूप पुद्गल तो शब्दका आश्रय होसकेगा इसकारण सूक्ष्मरूप से शब्द गुण को तदात्मक होकर धार रहे सूक्ष्म भाषा वर्गणा नामक पुद्गलो से हम आदि की बाहरली इन्द्रियो करके ग्रहण करने योग्य पुद्गलस्कन्ध स्वरूप शब्द-पर्याय प्रगट होजाती है, जो कि कारण गुण-पूवक ही है, जैसे कि पटरूप,मोदकरस, आदि है। अर्थात्-सूतो के रूप अनुसार कपड़े मे रूप उपज जाता है, खाड या बूरे की मिष्टता अनुसार लड्डू मीठा होजाता है, इसी प्रकार सूक्ष्मरूप से शब्द गुण को धार रही यानी शक्ति रूप से झटिति शब्द होने की योग्यता का धार रही पुद्गलवर्गणाओ करके शब्द उपज जाता है, पूर्ववर्त्ती होरहे कारण के गुण काय मे आजाते है, तिस कारण वैशेषिको द्वारा कहा गया "अकारण-गुणपूर्वकत्वात्" यह हेतु असिद्धहेत्वाभास है जैसे कि अयावत्द्रव्य-भावित्व, द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सत्व, आदिक हेतु असिद्ध हैं। भावार्थ-यौगो ने शब्द मे स्पर्शवान् द्रव्यके गुण नही होने को साध्य करने पर अयावत् द्रव्यभावित्व और अकारणगुणपूर्वकत्व ये दो हेतु कहे थे उक्त विचारणा होचुकने पर वे दोनो हेतु सिद्ध नही होपाये है।

कश्चिदाह अकारणगुणपूर्वकः शब्दोऽस्पर्शद्रव्यगुणत्वात् सुखादिवदिति तस्यापि परस्पराश्रयः। सिद्धे ह्यकारणगुणपूर्वकत्वे शब्दस्यास्पर्शवद्द्रव्यगुणत्वं सिद्ध्येत् तत्सिद्धौ वाकारणगुणपूर्वकत्वमिति तथा नाकारणगुणपूर्वकः शब्दोऽस्मदादिबाह्येन्द्रियज्ञानपरिच्छेद्यत्वे-सति गुणत्वात् पटरूपादिवदित्यनुमानविरुद्धश्च पक्षः स्यात् नचात्र हेतोः परमाणुरूपादिना व्यभिचारः सुखादिना वा, बाह्येन्द्रियज्ञानपरिच्छेद्यत्वे सतीति विशेषणात्।

कोई वैशेषिक का एक-देशी पण्डित यो यहा कह रहा है कि शब्द (पक्ष) स्वकीय कारणो के गुणो को पूर्व-वृत्ति मानकर आत्म-लाभ कर रहे निज गुणो का धारी नही है (साध्य) स्पर्श गुण से रीते हो रहे किसी द्रव्य विशेष का गुण होने से (हेतु) सुख, इच्छा आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। ग्रन्थकार कहते हैं कि उस वैशेषिक के यहा भी अन्योन्याश्रय दोष आता है। शब्द को अकारणगुणपूर्वकपना सिद्ध हो चुकने पर विचारा नही स्पर्श वाले द्रव्य का गुण होना सिद्ध होय और शब्द को स्पर्शरहित द्रव्य का गुण होना सध चुकने पर तो शब्द का अकारण-गुण पूर्वकपना सध सके। अर्थात्-वैशेषिको ने पहिले " यदुक्त यौगैः" यहा से प्रारम्भ कर "न स्पर्शवद्द्रव्यगुणः शब्दः अकारणगुणपूर्वकत्वात्" इस

अनुमान द्वारा अकारणपूर्वकत्व हेतु से स्पर्शवद्द्रव्यगुणत्वाभाव को शब्द में साधा था और अब अस्पर्शद्रव्यगुणत्व हेतु से अकारण गुण पूर्वकत्व को साध रहे है, यह स्पष्ट इतरेतराश्रय दोष दीख रहा है, दोनो मे से यदि एक सिद्ध होय तब तो दूसरे असिद्ध साध्य को वह समझा सकता है किन्तु जब दोनो ही अंधेरे मे पड़े हुये है तो किस असिद्ध से कौन से असिद्ध की सिद्धि की जा सकती है ? एक अन्धे को दूसरे अन्धे द्वारा अज्ञात या अपरिचित पथ का प्रदर्शन नहीं कराया जा सकता है तथा एक बात यह भी है कि शब्द (पक्ष) कारणों के गुणों को पूर्व वर्ती स्वीकार कर उपज रहा नहीं है (साध्य) हम आदि असर्वज्ञ जीवों की बहिरंग इन्द्रियों से उपजे हुये ज्ञान द्वारा जाना जा रहा सन्ता गुण होने से (हेतु) घटरूप, पटरूप, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) ।

इस निर्दोष अनुमान करके भी तुम्हारा पक्ष विरुद्ध होजाता है अर्थात्-वैशेषिकों का अस्पर्शवद्द्रव्यगुणत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है । इस अनुमान मे कहे गये हेतु का परमाणुरूप, द्व्यणुकरूप, आदि करके अथवा सुख इच्छा, आदि करके व्यभिचार दोष नही आता है क्योंकि हेतु के शरीर मे बहिरंग इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से ज्ञेय होते सन्ते ऐसा विशेषण दे रखा है। भावार्थ- यदि केवल गुणत्व ही विशेष्य दल होता तो व्यभिचार अवश्य ही हो जाता, जब कि परमाणुरूप आदि या सुख आदि गुण तो हैं किन्तु वे अकारणगुणपूर्वक ही है, कारण गुणपूर्वकत्व या अकारण-गुणपूर्वकत्व का अभाव वाले वे नही हैं । वैशेषिको के यहाँ परमाणुरूप के कारण होरहे परमाणु का और सुख के कारण होरहे नित्य आत्मा का कोई कारण ही नही माना गया है । जैनसिद्धान्त अनुसार यद्यपि "भेदादणुः" भेदसे अणु पर्याय की उत्पत्ति और पर्यार्थिक नय अनुसार आत्मा के भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य माने गये हैं फिर भी परमाणु या आत्मा के गुणों का कारण-गुणपूर्वकपना नियत नहीं है । एक बात यह भी यहाँ विचार मे रखने की है वैशेषिको के मत की अपेक्षा यह विशेषण दिये जा रहे हैं, वैशेषिको की युक्तियों से ही यदि वैशेषिको के सिद्धान्त का निराकरण होजाय यह हमें प्रशस्त मार्ग जंचता है क्योंकि इसमे अधिक झंझटें नही उठानी पड़ती हैं ।

तथापि योगिबाह्येंद्रियप्रत्यक्षेण परमाणुरूपादिनानेकांत इति न शंकनीयमस्मदादिग्रहणात् । पृथिवीत्वादिसामान्येनानित्यद्रव्यविशेषेण समवायेन कर्मणा वा व्यभिचार इत्यपि न मतव्य गुणत्वादिति वचनात् न चैवं स्याद्वादिनामपसिद्धान्तः शब्दस्य पर्यायत्ववचनात् पर्यायस्य च गुणत्वात् तथा चाहुरकलंकदेवाः, शब्दः पुद्गलपर्यायः स्कंधः छायातपादिवदिति ।

तिस प्रकार बाह्य-इन्द्रिय इस विशेषण द्वारा परमाणुरूप या सुख आदि करके व्यभिचार की निवृत्ति होते हुये भी यदि वैशेषिकों के मन में यह आशंका होय कि जैनों के

अस्मदादि वाह्येन्द्रिय ज्ञान परिच्छेद्यत्वे सति गुणत्व हेतु का योगी की वहिरंग इन्द्रियों से उपजे हुये प्रत्यक्षज्ञान के विषय होरहे परमाणु रूप आदि करके व्यभिचार होजायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो वैशेषिको को शका नहीं करनी चाहिये क्योंकि तुम्हारे सिद्धान्त का विचार कर ही हेतु में " अस्मदादि " इस पद का ग्रहण है अर्थात् हम आदि लौकिक प्रत्यक्ष करने वाले जीवों की वहिरंग इन्द्रियों से परमाणु के रूप या आत्मा के सुख की ज्ञप्ति नहीं हो पाती है सन्निकर्ष को प्रत्यक्षप्रमाण मानने वाले वैशेषिको ने तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्षों में योगज सन्निकर्ष भी स्वीकार किया है। युक्त और युंजान स्वरूप दो योगियो के समाधि विशेष से उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान और चिन्ता की सहकारिता से उपजा सूक्ष्म, स्थूल, व्यवहित विप्रकृष्ट अर्थों का प्रत्यक्ष होजाता है वे योगी तो हम आदि से विलक्षण हो रहे जीव ही समझे जावेगे. जैन सिद्धान्त अनुसार यदि हेतु कहा जाता तो " अस्मदादि" पद व्यर्थ ही था क्योंकि चाहे सर्वज्ञ होय या अवधि ज्ञानी. मन पर्ययज्ञानी होय, वहिरग इन्द्रियो से ये अतीन्द्रिय पदार्थों को कथमपि नही जान पाते है तथा हमारे वाह्येन्द्रियज्ञानपरिच्छेद्यत्वे सति गुणत्व हेतु का पृथिवीत्व, घटत्व, आदि जातियों करके तथा नित्य द्रव्यवृत्ति अन्त्य विशेषो से नही किन्तु अनित्य द्रव्यों के विशेष करके अथवा अनित्य द्रव्यो के विशेषण हो रहे समवाय करके एवं हसन, चलन. आदि क्रिया करके व्यभिचार दोष आजाय यह तो नही मान लेना चाहिये क्योकि गुणत्वात् ऐसा हेतु का विशेष्य दल कहा गया है।

अर्थात्-मने ही " उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो, द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये। विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ॥ ५४ ॥ क्रिया जाति योग्यवृत्ति समवायं च तादृशं। गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥ ५५ ॥ (कारिकावली) इस नियम अनुसार पृथिवीत्व आदि जातियो का अनित्य द्रव्य, गुण. कर्मों, में वर्त रहे समवाय का और प्रत्यक्षयोग्य क्रिया ओका, वहिरग इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष हो जाना वैशेषिको के यहां मान लिया गया है, वे पृथिवीत्व आदिक कारणगुणपूर्वक नही है किन्तु गुण नही होने से उन करके व्यभिचार नही होपाता है वैशेषिको के सिद्धान्त अनुसार शब्द मे गुणपना मान लेने से इस प्रकार शब्द मे कारणगुणपूर्वक पन या अकारणगुणपूर्वकत्वाभाव का साधन करने पर स्याद्वादियो के यहां अपसिद्धान्त यानी सर्वज्ञ की आम्नाय करके प्राप्त होरहे स्वकीय सिद्धान्त से कोई विरोध नही आता है क्योंकि जैन सिद्धान्त में शब्द का पर्यायरूप से कथन किया गया है और पर्याय का गुणपना मान लिया गया है।

इसी बात को यो श्री अकलंकदेव महाराज तिस प्रकार कह रहे हैं कि छाया, आतप उद्योत, आदि के समान शब्द नामक स्कन्ध भी पुद्गल द्रव्य की पर्याय है अर्थात् " सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाः" यों गुणो को द्रव्य का सहभावी पर्याय अभीष्ट किया ही गया है तभी तो पुद्गल द्रव्य के अनादि से अनन्त काल तक साथ हो रहे रूप, रस, आदि गुण सहभावी पर्याय हैं और जीव के चेतना, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व. चारित्र, अस्तित्व. वस्तुत्व, आदि गुण सहभावी पर्याय माने गये हैं " गुणसमुदायो द्रव्य " गुणों का समुदाय द्रव्य है, नित्य गुणों का समुदाय जैसे नित्यद्रव्य है उसी प्रकार पर्याय शक्ति या अनित्य गुणों का तादात्म्यक पिण्ड होरहा अशुद्ध द्रव्य है। संसारी जीव में भावयोग, पर्याप्ति, आदि तो पर्यायात्मक गुण हैं, अग्नि

नामक पुद्गल मे दाहकत्व पाचकत्व, शोषकत्व, स्फोटकत्व आदि पर्याय-शक्तियां (अनित्यगुण) विद्यमान हैं। विष पुद्गल मे मारकत्व शक्ति है किन्तु विष की कालान्तर मे अमृत, औषधि दुग्ध, आदि परिणति होजाने पर उसमे जीवकत्व शक्ति उपज जाती है। सर्प के मुख मे दूध विष हो जाता है। शब्द नामक पुद्गल स्कन्ध या अशुद्ध द्रव्य भी अनेक पर्याय शक्तियों को धार रहा है। गाली के शब्दो से दुःख उपजता है, प्रशंसा-सूचक शब्दो से हर्ष उत्पन्न होता है, मंत्र आत्मक शब्दो से अनेक सिद्धियां होजाती है, सांप, बिच्छू, आदि के विष उतर जाते हैं तोपके या बिजली के शब्दो से गर्भपात हो जाता है भीते फट जाती है, हृदय को धक्का लगता है, किसी किसी के कान बहरे हो जाते है। यों शब्द में भी अनेक पर्यायात्मक शक्तियां विद्यमान हैं। शक्ति और शक्तिमान् का अभेद है, अतः शब्द को गुण कहने मे जैनो को कोई जैन सिद्धान्त से विरोध नही आता है। एक बात यह भी है कि इस प्रकरण मे वादी आचार्य महाराज ने प्रतिवादी वैशेषिको के प्रति उन्ही की युक्तियों से उन्ही के सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करना अपना ध्येय कर लिया दीखता है वैशेषिको ने शब्द को आकाश का गुण स्वीकार कर रक्खा है।

स्यान्मतं, न शब्दः पुद्गलस्कंधपर्यायोऽस्मदाद्यनुपलभ्यमानस्पर्शरूपरसगंधाश्रयत्वात्सुखादिवदिति। तदसत् द्वयणुकादिरूपादिना हेतोर्व्यभिचारात् शब्दाश्रयत्वेऽस्मदाद्यनुपलभ्यमानानामप्यनुद्भूततया स्पर्शादीनां सद्भावसाधनात् गन्धाश्रयत्वे स्पर्शरूपरसवत्। यथा हि कस्तूरिकादेर्गंधद्रव्याद्दूरे गंधे समुपलभ्यमाने घ्राणेंद्रिये सम्प्राप्तः स्वाश्रयद्रव्यरहित न संभवति, गुणत्वाभावप्रसंगात्। नापि तदाश्रयद्रव्यमस्मदादिभिरुपलभ्यमानस्पर्शरूपरसं न च तत्रानुद्भूतवृत्तयः स्पर्शरूपरसा न संति पार्थिवेप्यविरोधात्।

यदि वैशेषिकों ने यह मत ठान लिया होय कि शब्द (पक्ष) पुद्गलस्कंध की पर्याय नही है (साध्य) हम आदि अल्पज्ञ जीवो के द्वारा नहीं देखे जा रहे स्पर्श, रूप, रस, गन्धो का आश्रय होने से (हेतु) सुख आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-शब्द यदि पुद्गल का पर्याय होता तो उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, हमको इन्द्रियो द्वारा दीख जाते किन्तु नहीं दीखते हैं अथवा हम आदि करके स्पर्श, रूप, रस गन्धो का आश्रयपना शब्दों में नहीं देखा जाता है, यों हेतु मानकर अन्वयदृष्टान्त मे घटित करलो। अतः सुख ज्ञान आदि के समान शब्द भी पुद्गल की पर्याय नही है, गुण कारण भी पूर्वक शब्द नही है। आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकों का वह कथन प्रशंसनीय नही है क्योकि दो या तीन अणुओ के संयोग अथवा बन्ध से उपजे हुये द्वयणुक, त्र्यणुक आदि के रूप, रस, आदि गुणो करके तुम्हारे हेतु का व्यभिचार दोष आता है। द्वयणुक, त्र्यणुक आदि के रूप, रस, आदि का हमे, तुम्हें, प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु वे पुद्गल या पुद्गल-स्कन्ध के पर्याय माने गये हैं। अधिकरण भूत शब्द के आश्रित होते सन्ते उन हम आदि द्वारा अनुद्भूत होने के कारण नही भी देखे जा रहे स्पर्श रूप आदिकों का शब्द में

सद्भाव साध दिया जाता है।

अथवा शब्द गुण का आश्रयपना होते सन्ते पुद्गल में हम आदि द्वारा अप्रकट होने के कारण नहीं देखे जा रहे भी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णों का सद्भाव साध दिया जाता है जैसे कि उद्भूत गन्ध गुण का आश्रय होते हुये गन्धिल द्रव्य मे अनुद्भूत हो रहे स्पर्श, रूप, रसो, का सद्भाव सिद्ध किया जा चुका है, देखिये कस्तूरी, इत्र, आदिक गन्धयुक्त द्रव्यो से कुछ दूर प्रदेशो में सुगन्ध को भले प्रकार प्रत्यक्ष कर रही नासिका इन्द्रिय मे अच्छा प्राप्त हो रहा गन्ध बेचारा अपने आश्रय-भूत द्रव्य से रहित हो रहा तो नही सम्भवता है, गुण या पर्याय बेचारे द्रव्य के बिना अकेले तो कथमपि नही ठहर सकते हैं आश्रय हो रहे द्रव्य के विना यदि गुण ठहर जाय तो गुणपन के अभाव का प्रसंग आजायगा " द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः " यह गुणो का सिद्धान्त लक्षण है, अतः नाक में आया हुआ गन्ध अपने आधार होरहे द्रव्य के साथ ही आया वह गन्ध का आश्रयभूत द्रव्य भी हम तुम आदि करके देख लेने योग्य स्पर्श रूप रसो का धारी नही है और उस गन्ध द्रव्य मे अप्रकट होकर वर्त रहे स्पर्श, रूप रस नही होय यह तो आप वैशेषिक नही मान सकते हैं क्योकि पृथिवी मे गन्ध के साथ रूप, रस, स्पर्शों का अनिवार्य अविनाभाव सम्बन्ध है पृथिवो द्रव्य से निर्मित हाते सन्ते गन्ध युक्त माने गये कस्तूरी आदि मे स्पर्श, रूप, रसो के भी ठहरने का कोई विरोध नही है।

यथा वायोरनुपलभ्यमानरूपरसगन्धस्य तेजसश्चानुपलभ्यमानरसगंधस्य सलिलस्य चानुपलभ्यमानगंधस्य पर्याया अनत्यनुमानागम स्पर्शरूपरसगन्धाः प्रसिद्धास्तथानुपलभ्यमानस्पर्शरूपरसगंधस्यापि भाषावर्गणापुद्गलस्य पर्यायः शब्दा निस्संदेहं प्रसिद्धस्येव।

आचार्य महाराज अभी वैशेषिको को समझा ही रहे हैं कि जिस प्रकार अनुद्भूत होने के कारण नही देखे जा रहे रूप, रस, गन्धो को धार रही वायु के और इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा नही देखे जा रहे अप्रकट रस, गन्धो को धारने वाले तेजोद्रव्य के, तथा नासिका द्वारा नही जानी जा रही अव्यक्त गन्ध के धारी जल के, पर्याय हो रहे स्पर्श, रूप, रस गन्ध गुण प्रसिद्ध हैं, इस प्रसिद्धि मे अनुमान प्रमाण या समीचीन आगम का कोई प्रतिक्रमण नही होता है तिसी प्रकार अप्रकट होने के कारण हम तुम आदिको को नही भी दीख रहे स्पर्श, रूप, रस, गन्धो को धारनेवाले भाषावर्गणा स्वरूप पुद्गल की पर्याय होरहा शब्द संदेह-रहित प्रसिद्ध हो जाता ही है। अर्थात्-भाषावर्गणा नामक पुद्गल के परिणाम होरहे अकेले शब्द का ही वहिरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, भाषावर्गणा की या उससे बने हुये शब्द की रूप, रस, गन्ध,स्पर्श परिणतियो का वहिरग इन्द्रियो से प्रत्यक्ष नही होता है जैसे कि वायु की पर्यायो में यद्यपि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, चारो हैं फिर भी वायु के प्रकट स्पर्श का त्वचाइन्द्रिय से प्रत्यक्ष होजाता है अप्रकट रूप, रस, गन्ध का नहीं।

कथमन्यथैवमाचक्षाणः प्रतिक्षिप्ते परैः । न वायुगुणोनुष्णाशीतस्पर्शोऽपाकजः उपलभ्यत्वे सत्यस्मदाद्यनुपलभ्यमानगन्धाश्रयत्वात्सुखादिवत् । तथा न भासुररूपोष्णस्पर्शास्तेजोद्रव्यगुणा उपलभ्यत्वे सत्यस्मदाद्यनुपलभ्यमानगन्धाश्रयत्वात् तद्वत् । तथा न शीतस्पर्शनीलरूपमधुररसाः सलिलगुणाःउपलभ्यत्वे सत्यस्मदाद्यनुपलभ्यमानगन्धाश्रयत्वात्तद्वदेवेति ।

आचार्य ही समझा रहे हैं कि अन्यथा यानी उन उन द्रव्यो में आवश्यक होरहे वे वे विशेषगुण नही दीखने मात्र से यदि नहीं माने जायगे तो इस वक्ष्यमाण प्रकार कह रहा कोई आक्षेपकर्ता तो इन दूसरे वैशेषिक विद्वानो करके भला कैसे निराकृत कर दिया जाता है ? आक्षेपकर्त्ता का वैशेषिको के प्रति यह वचन है कि वैशेषिको करके "अपाकजोऽनुष्णाशीतः स्पर्शस्तु पवने मतः,, वायु मे अनुष्णाशीत होरहा अपाकज (अग्निपाक से नही उपजा) स्पर्श मानागया है, किन्तु अनुष्णाशीत होकर अपाकज होरहा स्पर्श (पक्ष) वायु का गुण नही है । (साध्य) उपलम्भ करने योग्य होते सन्ते हम आदि करके नही देखेजारहे रूप, रस, गन्धो, का आश्रय होजाने से (हेतु) सुख आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) । तथा दूसरा अनुमान यों है । कि "स्पर्शउष्णस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरं' इस प्रमाण अनुसार माने गये चमकीला शुक्लरूप और उष्णस्पर्श (पक्ष) तेजो द्रव्य के गुण नही है । (साध्य) दीखने योग्य होते सन्ते हम आदि करके तेजाद्रव्य मे गन्ध का आश्रयपना नही देखा जा रहा होने से (हेतु) उसी के समान यानी जैसे कि तेजो द्रव्य के गुण ये सुख, ज्ञान, आदिक नही हैं, (अन्वयदृष्टान्त) ।

तिसी प्रकार तीसरा अनुमान यों कहा जा रहा है कि शीत स्पर्श और नील रूप या अभास्वर शुक्ल तथा मीठा रस ये (पक्ष) जल के गुण नही समझे जा सकते है । (साध्य) क्योंकि इनके आश्रय माने गये जल द्रव्य मे उपलम्भ होते सन्ते हम आदि करके गन्ध का आश्रयपना नहीं देखा जाता है । जैसे कि वे ही सुख आदिक जल के गुण नही माने गये है, केवल पृथिवी के ही तो अभीष्ट किये गये गुण रूप आदि प्रसिद्ध होजाते है । भावार्थ—वैशेषिक जैसे यों कह बैठते है, कि जिस भाषावर्गणा नामक पुद्गल के स्वकीय गुण मान लिये गये रूप, रस, गन्ध, स्पर्शों, की हमे उपलब्धि नही होती है, अत. शब्द उस भाषावर्गणा पुद्गल की पर्याय नही माना जा सकता है । उसी प्रकार दूसरा प्रतिवादी भी वैशेषिको को यो उलाहना दे सकता है, कि जिस वायु के रूप, रस, गन्ध हमे उपलम्भ होने योग्य होते सन्ते भी नही दीख रहे है, उस वायु का गुण अनुष्णाशीत स्पर्श नही होसकता है इसी प्रकार जिस जल का प्रत्यक्ष करने योग्य गन्ध हमे नही दीखता कहा जाता है उस जल के शीत स्पर्श अभास्वर शुक्ल रूप और मधुर रस ये भी गुण नही कहे जा सकते हैं । जैसे कि जिस शरीर में प्रत्यक्ष करने योग्य सिर नही दीखता है । उसका धड़ जीवित नही माना जा सकता है, फिर वैशेषिको ने "वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ" क्यो कहा था अपने ऊपर पक्षपात करते हुये दूसरे पर उसी आक्षेप को करना उचित मार्ग नही है, पर विद्वान् वैशेषिक जैसे

बखानने वाले अन्य पण्डित का प्रतिक्षेप कर देते हैं, उसी प्रकार वैशेषिकों का भी प्रतिक्षेप किया जा सकता है। वैशेषिक जो समाधान करगे वही समाधान शब्द को भाषावर्गणा नामक पुद्गल की पर्याय मानने मे किया जा सकता है, कोई अन्तर नही है।

नदी, सरोवर, बावड़ी मे भरा हुआ स्वच्छ जल कुछ नीला दीखता है यह सूर्य प्रकाश के निमित्त से हुआ गम्भीर जल का औपाधिक रूप है, उसी जल को यदि आकाश मे उछाला जाय तो धौला प्रतीत होता है। जल मे घुस गये कुछ प्रकाश और कुछ अन्धकार के अनुसार जल नीला दीख जाता है, जैसे कि कथैली हर्र आदि को खा लेने के पश्चात् पीये गये जल का स्वाद पहिले से अधिक मीठा भासता है, नील आकाश का प्रतिविम्ब पडना भी स्वच्छ जल को नील दिखाने मे सहायक होजाता है। वस्तुत: विचारा जाय तो आकाश अत्यन्त परोक्ष है, आखो से नहीं दीख सकता है। यहां से हजारो कोसों ऊपरले प्रदेश मे पाई जा रही सूर्यकान्ति और अन्धकार का सम्मिश्रण होजाने से नीले नीले देखे जा रहे अभ्र मण्डल को व्यवहारीजन आकाश कह देते हैं। सच पूछो तो वह अन्धकार या प्रभा का अथवा दोनो का मिल कर बन गया काई रूप है, तभी तो रात्रि मे अन्धकारवश वह नभोमण्डल काला काला दीखता है, उद्योत, विजली, की चमक आदि से भी बादलो में कतिपय वर्ण दीखने लग जाते है, ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें है।

यदि पुनः स्पर्शादयो द्रव्याश्रया एव गुणत्वात्सुखादिवत यत्तद्द्रव्यं तदाश्रयः स वायुरनलः सलिलं क्षितिरित्यनुमानसिद्धत्वात्स्पर्शविशेषादीनां वाय्वादिगुणत्वे शब्दोपि सामान्यार्पणया किं न भाषावर्गणापुद्गलद्रव्येण सहभावीष्टो येन तद्गुणो न स्यात्। विशेषार्पणात् यथा रूपादयः पर्यायास्तथा शब्दोपि पुद्गलपर्याय इति कथमसौ द्रव्य स्यात्? षड्द्रव्यप्रतिज्ञानविरोधाच्च।

यदि फिर वैशेषिक यो कहें कि स्पर्श आदिक तो पक्ष) द्रव्य के आश्रय पर ही ठहर सकते हैं। (साध्य) गुण होने से (हेतु) सुख आदि के समान (अन्वय दृष्टान्त)। जो कोई उनका अधिकरण होरहा द्रव्य है, वह वायु, अग्नि, जल, अथवा पृथिवी होसकेगा। इस प्रकार अनुमान के सिद्ध होजाने के कारण अनुष्णाशीत नामक स्पर्शविशेष या भास्वररूपविशेष, सांसिद्धिक द्रवत्व आदि को वायु, अग्नि, आदि का गुणपना है यो कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि शब्द की सामान्य धर्म की विवक्षा करने से भाषावर्गणा नामक पुद्गलद्रव्य का सहभावी क्यो नहीं इष्ट करलिया जाय? जिससे कि शब्द उस भाषावर्गणा का गुण नही होसके।

अर्थात्—द्रव्य के सहभावी गुण होते हैं। "सहभाविनो गुणा." क्रमभाविन: पर्याया:,, सामान्य अंशों के अनुसार रूप, रस, आदि भी तो पुद्गल द्रव्य के गुण माने गये हैं, तद्वत् सामान्य रूप से भाषावर्गणा का सहभावी शब्द है, कण्ठ, तालु, आदि निमित्तों के मिलने पर कोई भी भाषावर्गणा किसी भी आकार आदि शब्द होकर परिणम सकती है, हां विशेष अंशो की अर्पणा करने से तो शब्द

प्रकार रूप आदिक पर्याय है, उसी प्रकार शब्द भी पुद्गल का पर्याय है, इस कारण वह शब्द भला किसप्रकार द्रव्य होसकेगा ? । अर्थात्--शब्द कोई द्रव्य नहीं है. हां किसी पुद्गल द्रव्यका गुण या पर्याय अवश्य सध जाता है, दूसरी बात यह है, कि "शब्दो द्रव्य क्रियावत्त्वात् वाणादिवत्" इस दूसरों के अनुमान अनुसार शब्द को द्रव्य मानने पर जीव आदि छः द्रव्यों की नियत संख्या अनुसार की गयी प्रतिज्ञा से विरोध आता है, शब्द को मिला कर जीव आदि द्रव्य सात हुये जाते हैं, द्रव्यों की सात संख्या इष्ट नहीं ।

शब्दद्रव्यस्य पृथिव्यादिवत्पुद्गलद्रव्येंतर्भावान्न तद्विरोध इति चेत्, गंधद्रव्यादीनामपि तद्वत्तत्रान्तर्भावात्तद्विरोधासिद्धेर्गुणत्वं किमभिधीयते, ज्ञानादीनां च द्रव्यत्वमस्तु जीवद्रव्येंतर्भावप्रसक्तेः द्रव्यसंख्यानियमाविघातात् । तथा च न कश्चिद्गुण इति द्रव्यस्याप्यभावः तस्य गुणवत्त्वलक्षणत्वात् । ततो द्रव्यगुणपर्यायव्यवस्थामिच्छता ज्ञानादिरूपादीनामिव शब्दस्य सहभाविनो गुणत्वं क्रमभुवस्ते पर्यायत्वमभ्युपगंतव्यं । क्रियावत्त्वं च शब्दस्यासिद्धं गंधादिवत् तदाश्रयस्य पुद्गलद्रव्यस्य क्रियावत्त्वोपचारात् ।

शब्द को द्रव्य कहने वाले वादी यदि यों कहैं कि आप जैन भाई पृथिवी, जल अग्नि, वायु को पुद्गल द्रव्य में ही गर्भित करोगे, शब्द को द्रव्य मानने पर भी पृथिवी, जल आदि के समान उसका पुद्गल द्रव्य में अन्तर्भाव होजायगा, अतः द्रव्यों की छह संख्या के अतिक्रमण की शंका करते हुये जैनों को कोई उस प्रतिज्ञा में विरोध नहीं आता है । अर्थात् जाति की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य एक है किन्तु व्यक्तियों की अपेक्षा तो जीव द्रव्य से भी अनन्तानन्त गुणे पुद्गल द्रव्य हैं । अतः शब्द को द्रव्य होजाने दो, कोई भय नहीं है । यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं, कि इसी प्रकार उन पृथिवी आदिकों के समान गन्धवान् द्रव्य के गुण होरहे गन्ध आदि का भी उस पुद्गल द्रव्य में अन्तर्भाव होजाने से उस प्रतिज्ञात से विरोध आजाना असिद्ध है, अतः क्यों फिर गन्ध, रूप, आदि के गुणपन का समर्थन किया जाता है ? । तथा इसी ढंग से ज्ञान, सुख आदि को भी द्रव्यपना सध जाओ ज्ञान आदि द्रव्यों का जीव द्रव्य में अन्तर्भाव होजाना प्रसंगप्राप्त होजाने में द्रव्यों की संख्या के नियम का कोई विघात नहीं होपाता है, और तिस प्रकार दशा होने पर कोई भी अस्तित्व, वस्तुत्व, रूप, रस, ज्ञान, सुख, आदि गुण बेचारे स्वकीय स्वरूप से नहीं ठहर पायेंगे, सभी गुण द्रव्य बन बैठेंगे । तथा यों द्रव्यों का भी अभाव होजायगा क्योंकि गुण-सहितपना उन द्रव्यों का लक्षण माना गया है, जब गुण ही नहीं रहे तो गुणवान् की सिद्धि कैसे होसकती है ? । तिस कारण यदि अनिष्ट प्रसंगों को निवारण करने की आशा है, तो बने बनाये सिद्धान्त को मत बिगाड़ो । द्रव्य और गुण तथा पर्यायों की सुव्यवस्था को चाहने वाले विद्वानों करके सहभावी होरहे ज्ञान सुख, आदि अथवा रूप, रस, आदिकों के गुण होजाने-समान सहभावी होरहे शब्द का भी

गुणपना और क्रमभावी होरहे ज्ञान आदि या रूप आदि के पर्यायपन-समान इस क्रमभावी शब्द का तो पर्यायपना बडी प्रसन्नता के साथ स्वीकार कर लेने योग्य है।

एक बात यह भी है, कि शब्द को द्रव्य साधने पर प्रयुक्त किया गया क्रियावत्व हेतु तो स्वरूपासिद्धहेत्वाभास है (पक्ष) मे हेतु नही वर्तता है, गन्ध आदि के समान उस शब्द के आधार होरहे पुद्गलद्रव्य के मुख्य क्रिया-सहितपन का शब्द मे उपचार कर दिया गया है. अर्थात्-दूर-वर्त्ती कस्तूरी के छोटे छोटे कण नासिका के निकट आगये है। अथवा कस्तूरी के निमित्त से गन्ध युक्त होगये यहाँ वहां के दूसरे वायु, धूल. आदि अशुद्ध द्रव्य क्रियावान् होकर घ्राण मे आगये है गन्धगुण बेचारा आश्रयरहित होकर अकेला नही आसकता है. अतः गन्धवान् की मुख्यक्रिया का जैसे गन्ध मे उपचार कर लिया जाता है, उसी प्रकार शब्द के आश्रय होरहे पुद्गल की मुख्य क्रिया का शब्द मे उपचार से कथन कर दिया जाता है. आधार का धर्म आधेय मे रख दिया जाय इसमे आश्चर्य नही। अतः मुख्यतया क्रियावान् नहीं होने से शब्द का द्रव्यपना नही सिद्ध होसकता है. असिद्ध हेत्वाभास से प्रकृत साध्य की सिद्धि नही होपायगी।

स्यान्मत, न शब्दपर्यायः श्रोत्रग्राह्यो द्रव्य साध्यते किं तु तदाश्रयः पुद्गलविशेष इति, तर्हि क्रियावद्द्रव्यपर्यायः शब्दः परमार्थतः साध्यः।

सम्भवत मीमासको का मन्तव्य यह होवे कि हम कान से ग्रहण करने योग्य शब्द नामक पर्याय को द्रव्य नही साध रहे है, किन्तु उस शब्द के आश्रय होरहे पुद्गल विशेष को द्रव्य सिद्ध करते है, तब तो हम जैन कहते है। कि यो तो क्रियावान् द्रव्य का पर्याय होरहा शब्द ही वास्तविक रूप से साधने योग्य हुआ, चलो अच्छी बात है, जैन सिद्धान्त भी ऐसा ही है, कि पुद्गल द्रव्य का विवर्त यह शब्द है, जो कि पुद्गलद्रव्य भाषावर्गणा स्वरूप होरहा सन्ता क्रियावान् भी है। तभी तो पुरुषप्रयत्न से अथवा वायु, विजली, आदि शक्ति से शब्द बहुत दूर तक फेका हुआ चला जाता है. आघात, प्रतिघात, प्रतिवायु करके शब्द लौट भी आता है. अतः द्रव्य गुण, पर्यायो मे से शब्द को पुद्गल द्रव्य का पर्याय मान लेना अच्छा जचता है शब्द कहने से पर्याय ही पकडी जाती है। जैसे कि मतिज्ञान कहने से चेतना गुण की विशेषपर्याय का झटिति बोध होजाता है, चेतनागुण या जीव द्रव्य की मतिज्ञान से उपस्थिति होजाना कठिन है।

स्यादाकूतं ते, न द्रव्यं शब्दः साध्यते, नापि सर्वथा पर्याया किं तर्हि? द्रव्य-पर्यायात्मा, ततो न कश्चिद्दोषः क्रियावत्त्वस्य हेतोरपि परमार्थतस्तत्र सिद्धेः अनुवातप्रतिवात-तिर्यग्वातेषु शब्दस्य प्रतिपत्त्यप्रतिपत्तीषत्प्रतिपत्तिदर्शनात् क्रियाक्रियावत्त्वसाधनादिति। किमेव गन्धादिद्रव्यपर्यायात्मा न साध्यते? 'द्रव्यपर्यायात्मा च' इत्यकलङ्कदेवैरभिधानात् स्पर्शादीनां चेन्द्रियार्थत्वकथनात्, स्पर्शरसरूपगन्धशब्दास्तदर्था इति सूत्रसद्भावात्।

यदि तुम प्रतिवादियों की यह भी चेष्टा होय कि हम शब्द को कोरा द्रव्य नहीं साध रहे है, और सभी प्रकारो से शब्द को केवल पर्याय भी नही साधते है, फिर हम शब्द को कैसा स्वीकार करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि यह शब्द तो द्रव्य और पर्याय इनका उभयआत्मक है, तिस कारण द्रव्यपर्याय-आत्मक होने से शब्द के विचार मे हमारे ऊपर कोई दोष नहीं आता है, उस द्रव्य पर्याय स्वरूप शब्द मे क्रिया-सहितपन हेतु की भी परमार्थ रूप से सिद्धि होजाती है जो कि "द्रव्य शब्दः क्रियावत्वात् बाणादिवत्" इस अनुमान मे अपर विद्वान् ने हेतु कहा था। शब्द मे क्रिया का होना प्रसिद्ध ही है, देखिये अनुकूल वायु चलने पर शब्द की अच्छी प्रतिपत्ति होती दीखती है, अर्थात्–जिस ओर से वायु आरही है उसी ओर से बोला जा रहा यदि शब्द सुनाई देवे तो शब्द अच्छा विशदरूप से सुन लिया जाता है। हा यदि वायु पश्चिम से पूर्व की ओर वेग से बह रही है, और वक्ता पूर्व की ओर से पश्चिम दिशा मे बैठे हुये श्रोता को कोई शब्द कह रहा है तो ऐसी प्रतिकूल वायु की दशा मे वक्ता के शब्द की श्रोता को प्रतिपत्ति नहीं होपाती है, तथा तिरछी वायु चलने पर तो शब्द की कुछ थोडी सी प्रतिपत्ति होजाती है, यानी पूर्व, पश्चिम, दिशा मे वक्ता श्रोता बैठे होय और उत्तर से दक्षिण या दक्षिण से उत्तर की ओर वायु चल रही होय तो शब्द की थोडी श्रुति यानी कुछ प्रतिपत्ति कुछ अप्रतिपत्ति होरही देखी जाती है, अत. शब्द के क्रिया या क्रियासहितपन को यो साध दिया जाता है।

यहां तक कह चुकने पर आचार्य कहते हैं. कि क्यो जी इस प्रकार गन्ध, रस, आदि को द्रव्यपर्याय-आत्मक क्यो नही साधा जाता है ? बताओ। श्री अकलंकदेव महाराज ने भी 'अर्थ तो द्रव्य-पर्याय–आत्मक है।" इस प्रकार निरूपण किया है, तथा स्पर्श गन्ध, आदिको को इन्द्रियों के गोचर पदार्थ होजाना कहा जा चुका है. क्योंकि इसी तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय में स्पर्श, रस, रूप. गन्ध शब्द, ये उन इन्द्रियो के विषयभूत अर्थ हैं, ऐसे तत्व-सूचक सूत्र का सद्भाव है।

अथ पर्यायार्थप्राधान्यात् पर्याय एव गंधादयः शब्दस्तथा किमपर्यायः ? शब्दो द्रव्यार्थादेशात् द्रव्यमिति चेत्, तर्हि तथा विशेषणं कर्तव्यं। स्याद्द्रव्यं शब्द इति तदप्रयुक्तमपि वा तत्रैषितव्यं। ततो नैकांतेन द्रव्यं शब्दः स्याद्वादिनां सिद्धो यतस्तस्य द्रव्यत्वप्रतिषेधेऽपसिद्धांतः तस्यामूर्तद्रव्यत्वप्रतिषेधाद्वा न दोषः कश्चिदवतरति

अब यदि पूर्वपक्ष को धारने वाले यों कहैं कि पर्याय को अपना ज्ञातव्य समझ रही पर्यायार्थिकनय के अनुसार पर्याय अर्थ की प्रधानता होजाने से गन्ध आदिक तो पर्याये ही हैं, द्रव्य नही। तब तो हम जैन कहेंगे कि तिस प्रकार पर्याय अर्थ की प्रधानता से शब्द को क्या पर्याय नही समझ रखा है ? यानी शब्द भी पर्याय मे भिन्न नहीं है. यदि तुम यों कहो कि द्रव्यार्थिकनय अनुसार कथन करने से शब्द को द्रव्य कह दिया जाता है, तब तो हम स्याद्वादवादी कहदेगे कि शब्द को द्रव्य कहते हुये तिस प्रकार 'द्रव्य अर्थ पर दी गयी दृष्टि अनुसार, यों विशेषण करना चाहिये "शब्द कथं-

चित् द्रव्य है" इस प्रकार 'द्रव्यं शब्दः, वहां नही भी प्रयुक्त किया गया-'स्यात्' शब्द ढूढ लेना चाहिये अर्थात्-"स्यात् द्रव्यं शब्दः, स्यात्पर्याय शब्दः" यो जैन सिद्धान्त अनुसार द्रव्य-पर्याय-आत्मक ही शब्द सिद्ध हुआ। तिस कारण स्याद्वादी विद्वानो के यहा एकान्तरूप से शब्द को द्रव्य नही सिद्ध किया गया है, जिससे कि उस शब्द को द्रव्यपन का निषेध करनेपर स्याद्वादियो के यहा अपसिद्धान्त दोष आजाता।

अथवा शब्द को अमूर्तद्रव्यपन का प्रतिषेध करने से भी जैनो के यहा कोई दोष नही उतर पाता है अर्थात्-एकान्त रूप से शब्द जब द्रव्य नही सध चुका तो शब्द को गुणपना साधते हुये अन्य विद्वानो ने जो द्रव्यपन का निषेध ध्वनित किया था उस द्रव्यपन का निषेध करने मे स्याद्वादसिद्धान्त से कोई विरोध नही आता है। तथा 'नामूर्तद्रव्य शब्दः वाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत्' इस अनुमान करके शब्द के अमूर्तद्रव्यपन का निषेध करने मे भी हमें कोई जिनागम से विरोध प्राप्त नही होता है, जब शब्द के एकान्त रूप से द्रव्यपन का निषेध किया जा चुका है, तो अमूर्त द्रव्यपन का निषेध तो सुतरां होगया परिश्रम नही करना पडा। इस सूत्र की दूसरी वार्तिक का विवरण होचुका अब तीसरी वार्तिक का व्याख्यान प्रारम्भ होता है।

कश्चिदाह-स्फोटोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुर्न ध्वनयस्तेषां प्रत्येकं समुदितानां वार्थप्रतिपत्तिनिमित्तानुपपत्तेः। देवदत्तादिवाक्ये दकाराच्चारणादेव तदर्थप्रतिपत्तौ शेषशब्दोच्चारणवैयर्थ्यात्प्रत्येकं तन्निमित्तत्व युक्तं, दकारस्य वाक्यांतरेपि दर्शनात् संश निरासार्थं शब्दांतरोच्चारणमुचितमेवेति चेन्न, आवृत्त्या वाक्यार्थप्रतिपत्तिप्रसंगात्। वर्णान्तरेपि तस्यैवार्थस्य प्रतिपादनात्।

कोई मीमासकों के एकदेशी वैयाकरण पण्डित यहां स्फोट को सिद्ध करते हुये अपना लम्बा चौडा पूर्व-पक्ष रखते है कि जिससे वाच्यार्थ स्फुटित होता है, वह शब्दो मे वत रहा नित्य-स्फोट ही अर्थ की प्रतिपत्ति कराने का हेतु है, ध्वनिया यानी वर्ण, पद, वाक्य, या गर्जन, हुँकार, चीत्कार आदि शब्द तो वाच्यार्थों के प्रतिपादक नही हैं क्योकि प्रत्येक प्रत्येक होरहे उन शब्दो को या समुदाय प्राप्त होरहे भी शब्दो को शाब्दबोध कराने का निमित्तकारणपन बन नही सकता है, देखिये 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लादण्डेन' इत्यादि शब्द मे सब से पहिले के केवल दकार वर्ण का उच्चारण करदेने से ही उस पूरे वाक्यार्थ की यदि प्रतिपत्ति होजायगी तो शेष दशो शब्दो का उच्चारण करना व्यर्थ पडता है। किन्तु अकेले वर्ण से पूरे पद, वाक्य या श्लोक के अर्थ की प्रमिति नही होपाती है, अतः युक्तियो से यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक प्रत्येक वर्ण तो उस अर्थज्ञप्ति का निमित्त नही होसकता है

यदि कोई यो कहे कि दकार का तो 'दधि भोजय दिवा भुंजीत, आदि अन्य वाक्यो में भी दर्शन होरहा है। अतः देवदत्त गामभ्याज का अर्थ क्या देवदत्त करके गाय का घेर लाना या दही को खवाना अथवा क्या दिन मे खाना आदि अर्थ हैं ? तथा गकार से गाय की प्रतीति होती है, तो

औकार इस पद से औदधि इस पद का अर्थ भी जान लिया जाओ, ऐसे संशयों का निराकरण करने के लिये दकार के अतिरिक्त अन्य शब्दों का उच्चारण करना उचित ही है। वैयाकरण कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो कई वार आवृत्ति करके वाक्यों के अर्थ की प्रतिपत्तियों के होजाने का प्रसंग आवेगा जबकि अन्य वर्णों में भी उस ही अर्थ का प्रतिपादन किया जा चुका है।

अर्थात्–एक शब्द कई वाक्यों में आकर सुना जाता है। जब अनेक वाक्यों में प्रत्येक वर्णों का साकर्य होरहा है, तो अनेक वार कई वाक्यार्थों की प्रतिपत्ति होजाना अनिवार्य है। 'देवमर्चयेत्, कुदेवम् नार्चयेत्, तिष्ठति प्रतिष्ठते, पण्डितानां मतं पण्डितमन्य, अभिनन्दन नाभिनन्दन, गौ (पशु) गौः (वाणी) आदि अनेक समान अनुपूर्वी वाले शब्दों करके कई वार उन उन अर्थों की प्रतिपत्ति होना बन बैठेगा जो कि इष्ट नहीं है। अतः प्रत्येक वर्ण तो अर्थ का प्रत्यायक नहीं होसकता है।

न च समुदितानामेव वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं प्रतिक्षणं विनाशित्वे समुदायासंभवात्। कल्पितस्य समुदायस्य तद्धेतुत्वेऽतिप्रसंगात्।

वैयाकरण ही अभी आक्षेप किये जा रहे हैं कि पद या वाक्य में समुदित हो रहे ही शब्दों को भी वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति का निमित्तपना नहीं बन पाता है क्योंकि नैयायिक, बौद्ध या जैनों के यहां भी प्रत्येक क्षणमें शब्द का विनाश होजाना मानने पर उन नष्ट होचुके शब्दों का उस क्षण-वर्ती एक शब्द के साथ समुदाय नहीं बन सकता है देखिए समुदाय बनाने के लिये एक समय में सजातीय अनेक पदार्थों का विद्यमान रहना आवश्यक है जब कि बौद्धों ने " द्वितीयक्षणवर्तिध्वंस प्रतियोगित्वं क्षणिकत्व " पहिले क्षण में आत्म–लाभ होकर दूसरे क्षण में विनश जाना क्षणिकत्व माना है और नैयायिकों ने "तृतीयक्षणवर्तिध्वंस-प्रतियोगित्व क्षणिकत्व,, पहिले क्षण में उपज कर दूसरे क्षण में विद्यमान रहते हुये शब्द का तीसरे क्षण में विनशजाना क्षणिकपन स्वीकार किया है हां जैनों ने शब्द का कतिपय आवलि कालों तक ठहरना स्वीकार किया है, वस्त्रों को धो रहे धोबी के मोगरा का शब्द कई आवलि के पश्चात् सौ हाथ दूर खडे हुये श्रोता को सुनाई पडता है, रात के समय तोप दगने पर प्रकाश दर्शन के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् कोस दो कोस दूरवर्त्ती श्रोता को उसका शब्द सुनाई देता है भले ही यहां शब्द की लहरों की कल्पना कर उत्पाद, विनाश–शाली अन्य ही शब्दों का श्रोता के कान तक पहुँचना माना जा सकता तथापि सुगन्धित पदार्थ का निमित्त पाकर दूर तक के सुगन्धित बन गये लम्बे, चौडे, पिण्ड के समान अथवा अग्नि को निमित्त पाकर चारों ओर फैल रहे उपादान कारण पुद्गल स्कन्धों की उष्णपरिणति होजाने के समान दूर तक उसी शब्द का सुनना निर्णीत किया जाता है अन्यथा गोम्मटसार जीवकाण्ड में "अट्ठसहस्स धणूण विसया दुगुणा असण्णित्ति,, और " सण्णिस्स वार सोदे,, इस प्ररूपण अनुसार असंज्ञी जीव के कर्ण इन्द्रिय का विषय आठ हजार धनुष दूर तक का शब्द कहा गया है तथा संज्ञी जीव का कान बारह योजन तक के शब्द को सुन लेना माना गया है, यह सिद्धान्त भला रक्षित कैसे रह सकेगा ?

बताओ शब्द-धारायें तो बारह योजनों से भी अधिक दूर तक पहुँचती होंगी किन्तु चक्रवर्ती की भी कर्ण इन्द्रिय का विषय इससे अधिक दूर वर्त रहा शब्द नही है, अत शब्द के सुने जाने की प्रकृष्ट मर्यादा केवल बारह योजन की नियत करदी गयी है शब्द की धारायें तो सैकडो योजन तक पहुँच जाती होगी। आजकल भी रेडियो, वायर लैस, आदि अनेक यन्त्रो के सहारे हजारो मीलो के दूरवर्ती शब्द को यहाँ सुन लिया जाता है। प्रकरण मे यह कहना है कि नष्ट हो चुके पदार्थो का दैशिक समुदाय नही बन सकता है यदि बौद्ध या नैयायिक यो कहें कि भले ही पूर्व उच्चारित शब्द नष्ट हो चुके हैं फिर भी उनके सद्भाव की कल्पना कर उनका समुदाय गढ लिया जाता है जो कि वाच्य अर्थ का प्रतिपादक हो जाता है, यो कहने पर तो हम वैयाकरण कहते हैं कि यदि उन मरे हुये शब्दों के कल्पित किये गये समुदाय को वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति का निमित्तकारणपना माना जायगा तो अति प्रसग होजायगा अर्थात्-महीनो पहिले सुने जा चुके विनष्ट शब्दो द्वारा भी अर्थप्रतिपत्ति होने लग जायगी ऐसी दशा मे अनेक शब्दबोधो के होजाने का प्रसग आ जाने पर व्यर्थ में उन्मत्तता छा जायगी जो कि किसी को अभीष्ट नही है. अतः प्रत्येक शब्द या समुदित शब्द तो वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति को नही करा सकते हैं।

नित्यत्वाद्वर्णानां समुदायः संभवतीति चेत् न, अभिव्यक्तानां तेषां क्रमवृत्तित्वात्तदभिव्यंजकवायूनामनित्यत्वात् क्रमभावित्वात् क्रमशस्तदभिव्यक्तिसिद्धेः। तेषामनभिव्यक्तानामर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वे तदभिव्यंजकव्यापारवैयर्थ्यादतिप्रसंगाच्च नत एवाभिव्यक्ताभिव्यक्तशब्दसमूहादर्थप्रतिपत्तिरिति प्रतिव्यूढं।

वैयाकरण ही कह रहे है कि यदि कोई मीमांसक यो कहे कि शब्द क्षणिक या कालान्तरस्थायी नही है किन्तु सभी अकार आदि वर्ण नित्य हैं, अत नित्य वर्णों का समुदाय होजाना अक्षुण्ण सम्भव जाता है. यो कहने पर तो हम वैयाकरण कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि शब्द को नित्य मानने वालो के यहाँ भी उन शब्दो की अभिव्यंजको द्वारा होरही अभिव्यक्तियो की प्रवृत्ति क्रम से मानी गयी है। अत. अभिव्यक्त होरहे उन नित्य भी वर्णो की क्रम से वृत्ति मानी जायगी क्योकि उन शब्दो की अभिव्यक्ति करनेवाली वायुये अनित्य हैं इस कारण उन वायुओ का क्रम करके उपजना होने से उन शब्दो की भी क्रम से अभिव्यक्ति सिद्ध हुयी, अतः अभिव्यक्त वर्णों का समुदाय नही बन सका। यदि नही भी अभिव्यक्त होरहे उन वर्णों को अर्थ की प्रतिपत्ति कराने मे हेतु मान लिया जायगा तो उन वर्णों के अभिव्यजक होरहे वायु, कण्ठ, तालु, वशविभाग, दो हथेलियो का सयोग, तार, तात, आदि के व्यापारो का व्यर्थपना हुआ जाता है।

एक बात यह भी है कि शब्द को नित्य मानने वाले वादी के यहाँ अनेक शब्द अनभिव्यक्त पड़े हुये इष्ट किये गये हैं, वे शब्द भी अर्थ की प्रतिपत्ति को करा देवेगे, यह अति प्रसंग दोष आजायगा। इस शब्दो की अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति के पुण्य से पाये हुये अवसर को हाथ से

नहीं खोदेना । विचार कर कोई यों कह बैठता है कि कुछ अभिव्यक्त हो रहे उच्चारित शब्द और नही प्रकट हुये आगे, पीछे, के शब्दों का समूह होजाने से वाच्य अर्थ की प्रतिपत्ति होजायगी। उत्तर पक्ष पर बैठे हुये वैयाकरण कहते है कि तिस ही कारण से यानी अभिव्यजकों के व्यापार का व्यर्थ पना आजाने से और अतिप्रसग होजाने से उक्त सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है अर्थात् जैसे मरे हुये और जीवित पुरुषो का कोई सम्मेलन नही बन सकता है उसी प्रकार अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त शब्दो का समूह बन जाना अलीक है :

पूर्वपूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारापेक्षादंत्यवर्णश्रवणाद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति चेत् न,तत्संस्काराणामनित्यत्वेनान्त्यवर्णश्रवणकाले सत्त्वविरोधादसतोपेक्षानुपपत्तेः ।

यदि नैयायिक या वैशेषिक यो कहैं कि भले ही पहिले पहिले वर्ण नष्ट हो जाते है फिर भी वे पहिले पहिले वर्ण अगले अगले वर्णों मे संस्कार को प्रविष्ट करते जाते है अर्थात् जैसे कि ऋण देने वाला वणिक् अपने अधमर्ण होरहे किसान से ब्याज के ऊपर ब्याज लगाता हुआ प्रति तीसरे वर्ष सरकारी स्टाम्पो को बदलवाता रहता है अथवा रसायन को बनाने वाला वैद्य उसी औषधि में अनेक भावनाये देता रहता है, वनस्पति शास्त्र का वेत्ता फूल या फलों को उत्तरोत्तर वृक्ष या बेलो की सन्तान अनुसार बहुत बडा कर लेता है, विशेष बलधारी जीव एक गाय के दूध को दूसरी गाय को पिलाकर और दूसरी गाय के दूध को तीसरी गाय को पिलाकर यो चौथी, पाचवी आदि सौ गायो तक प्रक्रिया करके सौवी गाय के दुग्ध का मावा बना कर पौष्टिक मोदक बनाते सुने जाते है एक निकृष्ट हिंसक हकीम ने किसी कामातुर यवन को यो पुष्टि-कर प्रयाग बताया था कि कितने ही साढो यानी सरपट चलने वाले विशेष विषधर जन्तुओ को प्रथम चालीस मुर्गे खाय पुनः चालीसवें मुर्गे को वे उनतालीस मुर्गे खाजाय यो उनतालीसवे को शेष अड़तीस और अड़तीसमे को शेष सेतीस आदि क्रम से भक्षण करते हुये जब एक मुर्गा शेष रहे उसका मांस भक्षण करने से बड़ा भारी काम विकार हो जाता है ।

इस प्रयोग को धिक्कार है, वक्ता और श्रोता दोनो ने तीव्र पाप से अनन्त कामवासना के महापापो को उपजा कर अनन्त नरक निगोद को बढ़ाया है (धिक्, मोह) इसी प्रकार पहिले शब्द का ज्ञान दूसरे शब्द के ज्ञान मे अपने सस्कार को धर देता है और तीसरे शब्द के ज्ञान में पहिले शब्द से संस्कृत द्वितीय शब्द के ज्ञान का सस्कार धर दिया जाता है यो पहिले, दूसरे, तीसरे, आदि के सस्कारो को क्रम क्रम से लेरहे चोथे, पाचमे, आदि शब्द ज्ञानो के सस्कारो से युक्त होरहा अन्तिम शब्द का श्रावणप्रत्यक्ष झटिति वाक्य अर्थ को प्रतिपत्ति करा देता है वैयाकरण कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि शब्द या ज्ञान के समान उनके सस्कार भी तो अनित्य हैं, ऐसी दशा मे अन्तिम वर्ण के सुनने के अवसरपर उन संस्कारो के विद्यमान रहनेका विरोध है जो वस्तु विद्यमान ही नही है उसकी "वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति करना" आदि किसी भी कार्य में अपेक्षा करते रहना उचित नहीं पड़ता है ।

कल्पनारोपितसंस्कारापेक्षायां कल्पनारोपितादेव वाक्यार्थप्रतिपत्तिप्रसंगात् तत्संस्काराणां कालांतरस्थायित्वेंऽन्यवर्णश्रवणाहितसंस्कारस्य पूर्ववर्णश्रवणाहितसंस्कारैः सहार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वमिति तत्संस्कारसमूहोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुर्न शब्द इत्यायातं । न चैतद्युक्तं, वर्णश्रवणाहितसंस्कारेभ्यो वर्णस्मरणमात्रस्यैवोत्पत्तेः पदश्रवणाहितसंस्कारेभ्यः पदस्मरणमात्रवत् ।

वैयाकरण के प्रति वैशेषिक कह रहे हैं कि भले ही पूर्व शब्दो या उनके पूर्व-वर्ती ज्ञानों के समान उन ज्ञानो के सस्कार भी मर चुके है फिर भी कल्पना मे आरोपे जा चुके उन संस्कारो की अपेक्षा करना वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति मे मान लिया जाता है, मरे हुयेकी मूर्तिया या चित्र कुछ कार्य को कर ही देते है " यो लुप्यते स लुप्यमानार्थ-विधायी" । यों कहने पर तो हम वैयाकरण कहेगे कि तब तो कल्पना करके आरोपे गये ही संस्कार से वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होने का प्रसंग प्राप्त हुआ मर गयीं गाय, भैंसो की तस्वीरे या खिलोने दूध नही देते है, कल्पित कारणो मे झूठ मूठ कल्पित ही कार्य होसकते हे जैसे कि बच्चे खेला करते है, किन्तु यह कार्यकारण भाव कोई बच्चो का खेल नही है, वस्तुभूत भाव-आत्मक कारण का यथार्थ कार्य की उत्पत्ति मे व्यापार करना पडता है झूट मूठ कल्पित कर लिये गये सस्कार कुछ भी कार्यकारी नही हैं ।

हॉं उन सस्कारो को क्षणिक नही मान कर यदि देर तक कालान्तर-स्थायी माना जायगा तब तो अन्तिम वर्ण के सुनने से धार लिये गये सस्कार को पहिले पहिले वर्णों के सुनने द्वारा आधान किये जा चुके सस्कारो के साथ अर्थ की प्रतिपत्ति का कारणपना आया और यो उन सस्कारो का समूह ही अर्थ की प्रतिपत्ति कराने का हेतु हुआ शब्द तो वाच्य अर्थ का प्रतिपादक नही होसका यह अनिष्ट आपत्ति आई किन्तु यह शब्द को पदार्थ का प्रतिपादक नही मानते हुये सस्कारो को अर्थ की प्रतिपत्ति का कारण मान लेना वैशषिकों को कथमपि उचित नही है, दे-व-द-त्त आदि वर्णों के सुनने से जमालिये गये संस्कारो से केवल वर्णों का ही स्मरण होना बन सकता है, जैसे कि देवदत्त-गा-मभ्याज शुक्लाम् दण्डेन इत्यादि पदों के श्रावण-प्रत्यक्ष द्वारा जड लिये गये संस्कारो से केवलपदो का ही स्मरण हो सकता है वाक्य के अर्थ की या प्रकरण के अर्थ की अखण्ड प्रतिपत्ति नही होसकेगी ।

अथ संकेतबलोपजातपदाभिधेयज्ञानाहितसंस्कारेभ्योऽर्थप्रतिपत्तिरिष्यते तथापि पदार्थप्रतिपत्तिरेव स्यान्न वाक्यार्थप्रतिपत्तिः । न च पदार्थसमुदायप्रतिपत्तिरेव वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति युक्तं वर्णार्थसमुदायप्रतिपत्तिरेव पदार्थप्रतिपत्तित्वसंगात् । न च वर्णानामर्थवत्त्वाभावे पदस्यार्थवत्त्वं घटते, तस्य प्रकृतिप्रत्ययादिसमुदायात्मकत्वात् प्रकृत्यादीनां च अर्थवत्त्वोपगमात् ।

वैयाकरण ही कहे जा रहे है कि अब यदि वैशेषिक यो इष्ट करें कि भले ही वर्णों के संस्कार से वर्णों का स्मरण होसके किन्तु जो वृद्धव्यवहार से हमने पूर्व मे यो सकेत ग्रहण कर रखा है

कि गम् डोस् सु गकार के उत्तरवर्ती ओकार वर्ण वाले गो पद मे सीग सासना वाला पशु समझा जाता है, घट शब्द से शंख की सी ग्रीवा और बडे पेट वाला पदार्थ कहा जाता है, इत्यादिक रूप से पदो के संकेतो की सामर्थ्य मे उत्पन्न होचुके अभिधान करने योग्य अर्थों के ज्ञान द्वारा धरदिये गये संस्कारों करके वाच्य की प्रतिपत्ति होजायगी। इस पर हम वैयाकरण कहते हैं कि तो भी पदो के अलग अलग अर्थों की ही प्रतिपत्ति होसकेगी वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति नही होसकेगी। वही वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नही होसकना, दोष खडा रहा। यदि वैशेषिक यो कह बैठें कि पदार्थों के समुदाय की प्रतिपत्ति ही वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति है, इस पर हम वैयाकरण कहते हैं कि यह कहना युक्तिपूर्ण नही है, इस ढंग से तो प्रत्येक वर्णों करके कहे गये अर्थों के समुदाय की प्रतिपत्ति को ही पदार्थ की प्रतिपत्ति स्वरूप होजाने का प्रसग आजावेगा क्योकि गकार, ओकार आदि वर्णों के अर्थसहितपन का अभाव हो जाने पर गो आदिक पद को गाय अर्थ करके सार्थकपना नही घटित हो पाता है।

बात यह है कि प्रकृति, प्रत्यय, विकरण, आगम आदि का समुदाय स्वरूप वह पद है और व्याकरण शास्त्र मे प्रकृति आदि को अर्थसहित स्वीकार किया गया है अर्थात् जिससे प्रत्यय लाया जाता है वह प्रकृति है भू गम, दिव, जिन, आदि प्रकृतिया है प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः प्रकृतियो से जो लाया जाता है वह प्रत्यय है जो कि तिप्,तस्, झि, सु, औ, जस् आदि है और प्रकृति तथा प्रत्यय के बीच मे शप्, श्नु, शनु, आदि विकरण आजाते है नुम, कुक्, टुक्, धुट् आदि आगम होजानेके वर्ण है। प्रकृतियोके अर्थ सत्ता गमन, आदि न्यारे न्यारे है, प्रत्ययो के भी, कर्ता, एकत्व, वर्तमान काल आदि अनेक अर्थ है यो अर्थवान् होरहे प्रकृति, प्रत्यय, आदि वर्णो का समुदाय ही पद है, अत वर्णों के अर्थों का समुदाय ही पदार्थ मान लिया जाओ।

यदि पुनः प्रकृत्यादयः स्वार्थापेक्षयार्थवंतोपि पदार्थापेक्षया निरर्थका एवेति मतं तदा पदान्यपि स्वाभिधेयापेक्षयार्थवंत्यपि वाक्यार्थापेक्षया निरर्थकानि किं न भवेयुः! तदुक्तं— "ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद्ब्राह्मणकंबले देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः। इति।

वैयाकरण ही कहे जा रहे है, कि नैयायिको का फिर यदि यह मन्तव्य होय कि प्रकृति, प्रत्यय, आदिक यद्यपि अपने अपने नियम होरहे अर्थ की अपेक्षा सार्थक हैं। फिर भी वर्णों के समुदाय होरहे पद के स्वकीय अर्थ की अपेक्षा करके वे निरर्थक ही है। यो मन्तव्य होने पर तब तो हम वैयाकरण कहेगे कि यो तो वाक्य रूप समुदाय मे पड़े हुये अनेक पद भी अपने अपने कथन करने योग्य अर्थों की अपेक्षा सार्थक होते हुये भी वाक्य के अर्थ की अपेक्षा करके क्यो नही निरर्थक होजाओ? कोसो दूर पड़े हुये एक एक मनुष्य की अपेक्षा अनुसार दस, बीस मनुष्यो का मिल जाना मेला नही कहा जा सकता है, अतः देवदत्त, गाय, आदि पद केवल स्वार्थ का ही कह सकेगे समुदित वाक्यार्थ को नही, वही हमारे ग्रन्थ मे यो कहा गया है कि जिस प्रकार ब्राह्मण करके आढ्य जा रहे

कम्बल में कोई ब्राह्मणता का सूचक अर्थ नही है, उस ही प्रकार "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डन,, इस वाक्य में देवदत्त आदि पद भी निरर्थक हैं।

तथा च न पदार्थसमुदाय एव वाक्यस्यार्थस्तस्य ततोन्यत्वादेकत्वेनाप्रतीयमानत्वादभ्याजनक्रियादेर्देवदत्तादिवाक्यार्थत्वात्। न च तस्य वर्णेभ्य इव पदेभ्योपि प्रतिपत्तिः समवतीति तत्प्रतिपत्तिहेतुर्वर्णपदव्यतिरिक्तः कश्चिदभ्युपगम्यः। स च स्फोट एव, स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोट इति तस्यैकरूपता पुनरेकाकारप्रतिभासादवसीयते नानाकारेभ्यो हेतुभ्यस्तदयोगादहेतुकत्वप्रसंगादिति।

व्याकरणवेत्ता ही अपना सिद्धान्त कह रहे है कि और उक्त ढंग से तिस प्रकार दशा होजाने पर पदों के अर्थों का समुदाय ही वाक्य का अर्थ नही होसका क्योंकि उस वाक्य का अर्थ उन पदों के न्यारे न्यारे तितरे वितरे अर्थों से भिन्न है. पदो के अर्थ और वाक्य के अर्थ की एकपन करके प्रतीत नही होरही है, अभ्याजन यानी घेर लाना क्रिया आदिक तो देवदत्त गा इत्यादिक वाक्य का अर्थ है!

"एकतिङ् वाक्यं" उस वाक्य के अर्थ की न्यारे न्यारे वर्णों से जैसे प्रतिपत्ति नही होती है, उसी प्रकार पुष्पप्रकीर्ण समान यहा वहा बिखर रहे स्वतन्त्र पदो से भी वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होना नही सम्भवता है। इस कारण उस वाच्य अर्थ की प्रतिपत्ति को कराने का कारण कोई वर्णो और पदो से व्यतिरिक्त होरहा वस्तुभूत-आत्मक पदार्थ स्वीकार कर लेना चाहिये और मीमासको के साथ स्वल्प मतभेद को धार रहे हम वैयाकरणो के यहा वही वस्तु स्फोट माना गया है।

स्फोट शब्द की निरुक्ति से भी यही अर्थ निकलता है, कि जिससे वाच्य अर्थ स्फुट होजाता है, इस कारण वह स्फोट माना गया है।

यो उस स्फोट का एक-रूपपना तो फिर एक आकार वाले होरहे प्रतिभास से निर्णीत कर लिया जाता है, क्योकि अनेक आकार वाले हेतुओ से एक अखण्ड वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होजाने का अयोग है. यदि शब्द मे ठहर रहे स्फोट को एक स्वरूप नही माना जायगा तो वाच्यार्थ की एक अखण्ड प्रतिपत्ति को निर्हेतुकपन का प्रसग होगा किन्तु प्रतिनियत देश, काल, आकारो वाली यह समीचीन प्रतिपत्ति तो बिना कारणोंके नही होसकती है। यहा तक मीमासक पण्डित अपने स्फोटवाद के पूर्व पक्ष को पूर्ण कर चुके हैं।

सोप्ययं स्फोटवादी प्रष्टव्यः, किमयं स्फोटः शब्दात्मकोऽशब्दात्मको वा? इति। न तावदाद्यः पक्षः श्रेयान्, तस्य स्फोटस्य शब्दात्मनः सदैकस्वभावस्याप्रतीतेः वर्णपदात्मनो नानास्वभावस्यावभासनात्, वर्णपदेभ्यो भिन्नस्यैकस्वभावस्येव शब्दस्य श्रोत्रबुद्धौ प्रतिभासनादसिद्धा स्वभावानुपलब्धिः स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्वा न स्फोटाभावमावेदयतीति चेत् न, तस्य वर्णपदश्रवणकाले पश्चाद्वा प्रतिभासाभावात्।

अब आचार्य महाराज समाधान करते हैं, कि इस प्रकार कह रहा यह प्रसिद्ध विद्वान् स्फोट-वादी भी यों प्रश्न करलेने योग्य है, कि क्योंजी यह तुम्हारा स्फोट क्या शब्द-आत्मक है ? अथवा क्या शब्द स्वरूप नही होरहा किसी अन्य पदार्थ स्वरूप है ? बताओ, आदि का पक्ष ग्रहण करना तो श्रेष्ठ नही है, क्योकि शब्द स्वरूप मान लिये गये उस स्फोट की सर्वदा एक स्वभाव वाले होरहे की प्रतीति नही होती है, वर्णों, पदो, स्वरूप होरहे अनेक स्वभाववाले शब्दका सदा प्रतिभास होरहा है।

यदि वैयाकरण यो कहैं कि वर्ण और पदों से भिन्न होरहे एक स्वभाव वाले ही शब्द का कर्ण इन्द्रिय-जन्य ज्ञान मे प्रतिभास होरहा है। अतः स्फोट के अभाव को साधने वाली स्वभाव अनुपलब्धि अथवा स्वभावविरुद्धोपलब्धि तो असिद्ध है। अर्थात्- "स्फोटो नास्ति अनुपलब्धेः अथवा स्फोटो नास्ति अनेक स्वभावात्मकशब्दस्यैवोपलब्धेः" इन अनुमानों मे पडे हुये दोनो हेतु बेचारे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हैं। असत् हेतु तो स्फोट के अभाव को नही साध सकते हैं। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि शब्द और वाच्यार्थ के मध्य में व्यर्थ गढ लिये गये उस स्फोट का वर्ण और पदो के श्रावण प्रत्यक्ष के अवसर पर अथवा पीछे भी प्रतिभास नहीं होता है। जिस उपलम्भ योग्य माने गये पदार्थका ज्ञान नही होय फिर भी उसका सद्भाव माने चले जाना केवल बालाग्रह मात्र है।

स हि यदि तावदाख्यातशब्दः प्रतिभासत एव वाक्यात्मा तदा नैकस्वभावोऽनेकवर्णात्मकत्वात् भिन्न एवाख्यातशब्दोऽभ्याजेत्यादिवर्णेभ्य इत्ययुक्तं, तथा प्रतीत्यभावात्।

वैयाकरणो का विचार है-

"आख्यातशब्द सङ्घातो जातिः संघात-वर्त्तिनी। एकोऽनवयवः शब्दःक्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः ॥ १ ॥
पदमाद्य पद चान्त्य पद सापेक्षमित्यपि। वाक्य प्रतिमतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम् ॥ २ ॥"

न्याय को जानने वाले विद्वानो की वाक्य के लक्षण प्रति अनेक प्रकार भिन्न भिन्न मतियां हैं। कोई भवति, पचति, इत्यादि आख्यात शब्द को वाक्य मानते हैं। एक तिङ् वाक्यं,,।

अन्य पण्डित तो वर्णों या पदो के संघात यानी समुदाय को वाक्य कहते हैं. कोई संघात में वर्त रही जाति को वाक्य कहते है, इतर पण्डित बेचारे अवयवो से रहित होरहे एक अखण्ड स्फोट-आत्मक शब्द को वाक्य मान रहे हैं, वर्णों के क्रम को वाक्य कोई कोई मान बैठे हैं. चारो ओर से संकोच कर बुद्धि का एक शब्द पिण्ड द्वारा परामर्श किया जाना वाक्य भी क्वचित् माना जा रहा है, तथा अन्य पदो को अपेक्षा रखने वाला आद्यपद अथवा अन्य पदो की अपेक्षा रखने वाला अन्तिम पद भी वाक्य होसकता है, यों वाक्य के लक्षण में कई सम्मतियां हैं तदनुसार आचार्य महाराज एक एक मन्तव्य पर क्रम से विचार चलाते हैं।

वाक्य के लक्षणो में सब से पहिले तिङन्त आख्यात शब्द को वाक्य मानने वाले वैयाकरण यदि यों कहैं कि वह आख्यात शब्द तो वाक्यस्वरूप होता हुआ सब को प्रतिभासता ही है, तब तो हम

जैन कहेंगे कि वह आख्यातशब्दस्वरूप वाक्य बेचारा (पक्ष) एक स्वभाव वाला हो नहीं है। अनेक वर्ण-आत्मक होने से (हेतु) देखो पचति, करोति, आदि वाक्य अनेक स्वभाव वाले है, पच् धातु का अर्थ पाक स्वभाव है, तिप् प्रत्यय के अर्थ तो वर्तमानकाल, स्वतन्त्रकर्तृत्व, एकत्व संख्या आदि स्वभाव है, अत एक स्वभाव वाला आख्यात शब्द नही होसका जोकि स्फोट माना गया है। यदि वैयाकरण यो कहे कि अभ्याज, पचति, आदि आख्यातो मे पडे हुये अभि × आ × अज × शप् × हि। पच् × शप् + तिप् इत्यादि वर्णों से आख्यात शब्द भिन्न ही है। जोकि स्फोट माना गया है, आचार्य कहते हैं कि यह वैयाकरण का कहना अयुक्त है, क्योंकि तिस प्रकार की प्रतीति नही होती है, अभ्याज में पड़े हुये वर्णों के सिवाय या पचति मे पडे हुये वर्णों के अतिरिक्त किसी आख्यात शब्द की प्रतीति नहीं होरही है।

वर्णव्यङ्ग्योंत्यवर्णश्रवणानतरमेकः प्रतीयत एवेति चेन्न, वर्णानां प्रत्येकं समुदितानां वा स्फोटाभिव्यक्तौ हेतुत्वाघटनादर्थप्रतिपत्ताविव सर्वथा विशेषाभावात्। यदि पुनः कथंचिद्वर्णाः स्फोटाभिव्यक्तिहेतवः स्युस्तदा तथैवार्थप्रतिपत्तिहेतवः संतु किमनया परम्परया? वर्णेभ्यः स्फोटस्याभिव्यक्तिस्ततोभिव्यक्तादर्थप्रतिपत्तिरिति। कथंचिद्व्यतिरिक्तः स्फोटो वर्णेभ्य इति तस्य श्रोत्रबुद्धौ प्रतिभासनोपगमे कथमेकानेकस्वभावोसौ न स्यात्? सुखदुःखादिपर्यायात्मकात्मवत् नवपुराणादिविशेषात्मकस्कंधवद्वा।

यदि वैयाकरण यो कहैंकि वर्णों से प्रगट होने योग्य और अन्तिम वर्णके सुनने के पश्चात् एक स्वभाववाला आख्यात शब्द प्रतीत हो ही जाता है। आचार्य कहते है, कि यो तो नही कहना क्योंकि प्रत्येक प्रत्येक होरहे वर्णों को अथवा समुदाय प्राप्त होरहे वर्णों को स्फोट की अभिव्यक्ति मे कारण-पना घटित नही होता है, जैसे कि मीमासको ने अर्थ की प्रतिपत्ति कराने मे प्रत्येक ध्वनियो या समुदित ध्वनियो को निमित्त कारण नही होने दिया था। हमारे यहा अर्थ की प्रतिपत्ति कराने मे और तुम्हारे यहा स्फोट की अभिव्यक्ति कराने मे प्रत्येक शब्द या समुदित शब्दो की कारणता की सभी प्रकारो से कोई विशेषता नही है। अर्थात्–"स्फोटोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुर्न ध्वनय ,. इत्यादि ग्रन्थ द्वारा जैसे आप वैयाकरण प्रत्येक शब्द या समुदित शब्दो को अर्थ की प्रतिपत्ति का निमित्त-पना उडा देते हैं, उसी प्रकार हम जैन भी स्फोट की अभिव्यक्ति करने मे प्रत्येक या समुदित शब्द को कारण होजाने का खण्डन कर देवेंगे, आप जो अपने लिये समाधान करेंगे वही समाधान हमारे लिये लागू होजायगा हमारे सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करना तुम्हारे सिद्धान्तपर भी चरितार्थ कर दिया जायगा, इस विषय का हम, तुम, में कोई रेफ मात्र भी अन्तर नही है, आपके यहां मीमांसा-श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थ है, तो हमारे यहाँ तत्वार्थश्लोकवार्त्तिक महान् ग्रन्थ है, वार्त्तिकों की चिकित्सा वार्त्तिको से कर दी जायगी।

यदि सम्हल कर आप फिर यों कहैं कि अनेक वर्ण ही कथंचित् स्फोट की अभिव्यक्ति

कराने में हेतु होसकेंगे तब तो हम जैन कह सकेंगे कि तिस ही प्रकार कथंचित् एकपन और अनेकपन धार रहे वे वर्ण ही अर्थ की प्रतिपत्ति कराने मे निमित्त कारण होजाओ, इस व्यर्थकी लम्बीपरम्परा से क्या लाभ है ? कि प्रथम तो बहुत से वर्णों से नित्य स्फोट को प्रगट किया जाय पश्चात् उस अभिव्यक्त हुये स्फोट से अर्थ की प्रतिपत्ति की जाय, दार्शनिकों के यहां ऐसी निरर्थक परम्परा नहीं मानी जाती है। इस कारण सिद्ध होता है कि आपका माना हुआ वह स्फोट वर्णों से कोई भिन्न नहीं है, कथंचित् अभिन्न है यों वर्णों से अभिन्न होरहे उस स्फोट का यदि श्रोत्र-जन्य ज्ञान मे प्रतिभास जाना स्वीकार किया जायगा तो मीमांसकों के यहां वह स्फोट भला एक अनेक स्वभाव वाला क्यों नहीं हो सकेगा ? यानी-शब्दआत्मक स्फोट एक, अनेक स्वभाव वाला है। जैसे कि सुख, दुख, ज्ञान, पुरुषार्थ (प्रयत्न) आदि अनेक पर्यायों के साथ तदात्मक होरहा आत्मा वेचारा एक अनेक स्वभाव वाला है देखिये स्वयं आत्मा द्रव्य एक है। उसमें अभिन्न होरहे सुख दुःख आदिक अनेक विवर्त है, अतः आत्मा यह एक-अनेक-आत्मक है।

अथवा दूसरा दृष्टान्त यों समझिये कि नवीन, पुरानी, अर्धजीर्ण, आदि अवस्था विशेषों के साथ तदात्मक होरहा वस्त्र, गृह, आदि पुद्गल स्कन्ध जैसे एक अनेक आत्मक है, अनेक पुद्गल द्रव्यों का पिण्ड होरहा स्कन्ध नामक अशुद्ध पुद्गल द्रव्य एक है, उसकी अभिन्न होरही नयी, पुरानी, आदि अवस्थायें न्यारी न्यारी अनेक है, इसी प्रकार शब्द भी एक-अनेक स्वभाव वाला है, भले ही शब्द की किसी एक शक्ति या पूरे शब्द का नाम स्फोट कर लिया, इस अर्थ के बिना हुये कोरे शब्द मात्र के भेद से हम वैयाकरणों के साथ कोई विवाद नहीं करते है "अर्थे तात्पर्यं न तु शब्दजाले,,

भाषावर्गणापुद्गलद्रव्यं हि स्वसहकारिविशेष-वशादकाररूपतामासाद्य भकारादि-रूपतामासादयत् क्रमशः प्रतिनियतवक्तृविशेष दंभ्याजेत्यादिराख्यातशब्दः प्रतिभासते न चासौ वाक्यं देवदत्तादिपदानिरपेक्षस्तदुच्चारणवैयर्थ्यापत्तेः। सत्तापेक्षस्य तु वाक्यत्वे देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेनेत्यादि कथंचित्पदात्मकं वाक्यमेकानेकस्वभावमाख्यातशब्दवदभिधातव्यं, तत्तिरस्कृतौ च सर्वथैकान्तावलंबनप्रसंगात्।

भाषा वर्गणा स्वरूप पुद्गल द्रव्य तो नियत होरहे अपने विशेष विशेष सहकारी कारणों के वश से ' अभ्याज" यहां अकार स्वरूप को प्राप्त कर भकार, यकार आदि-पन को धार रहा सन्ता क्रम क्रम से प्रति-नियत होरहे वक्ता विशेष या श्रोता विशेष आदि को अभ्याज, पच, गच्छ, आदिक आख्यात शब्द स्वरूप करके प्रतिभास जाता है किन्तु वह अकेला आख्यात शब्द तो देवदत्त, गो, आदि पदों की नहीं अपेक्षा रखता हुआ कथमपि वाक्य नहीं होसकता है, वैयाकरणों के यहां यदि केवल तिङन्त आख्यात शब्द ही पूरा वाक्य मान लिया जायगा तो उन देवदत्त, गा, आदि पदों के उच्चारण करने के व्यर्थपन का प्रसंग आजावेगा। यदि उन देवदत्त आदि पदों के सद्भाव की अपेक्षा रखने वाले आख्यात शब्द को वाक्यपना इष्ट करोगे तबतो " हे देवदत्त तू धौली गाय

को डण्डे करके घेरला " इत्यादि पदों के साथ कथंचित् तादात्म्य को धार रहा वाक्य एक अनेक स्वभाव वाला ही कथन करने योग्य उचित पडा जैसे कि पहिले अभि, आङ्, अज्, शप् हि, आदिक शब्दो के साथ कथंचित् तदात्मक होरहा आख्यात शब्द बेचारा एक और अनेक स्वभाव वाला मान लिया जा चुका है यदि वाक्य के एक अनेक स्वभावो का निराकरण किया जायगा तो वैयाकरणों को बौद्धो के क्षणिकत्व एकान्तके अवलम्बन करने का प्रसग आजायगा। शब्द को नित्य मानने वाले वैयाकरण उन क्षणिकवादी बौद्धो का सहारा लेने के लिये कथमपि उत्कण्ठित नही होगे।

क्रमभुवां केषांचिद्वर्णानां वास्तवैकपदत्वाभावे क्षणिकवर्णभागानामपि पारमार्थिकैकवर्णत्वासिद्धेस्तथोपगमे वांतर्बहिश्चात्मनो घटादेश्च क्रमभाव्यनेकपर्यायात्मकस्याभावानुषंगात् । तावस्तत्सद्भावमभ्युपगच्छता क्षणिकानेकक्रमवृत्तिवर्णभागात्मकमेकं वर्णमभ्युपेयं, तद्वदनेकक्रमवर्तिवर्णात्मकमेकं पदं तादृशानेकपदात्मकं च वाक्यमेषितव्यं । ततो नाख्यातशब्दो वाक्यात्मैकस्वभाव एव कथंचिदनेकस्वभावस्य तस्य प्रतीतेः।

क्रम क्रम से हुये देखे जा रहे नियत किन्ही किन्ही वर्णों का यदि वास्तविक रूप से एक पदपना नही माना जायगा तो एक वर्ण के क्षणिक अंशो का भी समुदित होकर वास्तविक एक वर्ण होजाना नही सिद्ध होसकेगा और तैसा स्वीकार कर लेने पर यानी क्रमभावी अनेक अंशो का एक पिण्ड होजाना नही मानने पर तो अन्तरंग आत्म तत्व को और वहिरंग घट, पट, आदि पदार्थों को क्रमभावी अनेक पर्यायो के साथ तदात्मक होरहेपन के अभाव का प्रसग आजावेगा। अर्थात् एक आत्मा अनेक सुख, दुख, राग, द्वेष, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, दान, लाभ, आदि परिणति-आत्मक नही होसकेगा। तथा एक घट अनेक कपाल, कपालिका आदि अवयव-आत्मक और कपडे का एक थान अनेक तन्तु-आत्मक नही बन सकेगा तिस कारण उन आत्मा घट, पट, आदि अंशी पदार्थों के सद्भाव को स्वीकार करने वाले वैयाकरण करके क्रम से वर्त रहे और क्षणिक होरहे अनेक वर्ण भागो के साथ तदात्मक होरहा एक वर्ण प्रसन्नता-पूर्वक मान लेना चाहिये अर्थात्-आठ अंशो की एक खाट, या दो हाथ, दो पाँव, नितम्ब, पीठ, उरःस्थल, सिर, इन आठ अंगो का एक शरीर माना ही जाता है, प्रत्येक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अंग भी आठ इष्ट किये गये हैं, इसी प्रकार अ का स्वर पूर कर गाने वाले गन्धर्व देर तक अलापते रहते हैं वहां अवर्ण के कितने ही अंश स्पष्ट सुने जा रहे हैं, शीघ्र बोल दिये गये अकार मे भी अनेक उसके अवयव भूत अंश है उनका समुदाय एक " अ " अक्षर है।

बस उसी " अ " के समान क्रम से वर्त रहे अनेक अ, भ, आदि वर्णों के साथ तदात्मक को धार रहा एक पद होता है और पिण्ड होरहे तिन्हीं वर्णों या पदो के समान अनेक पदो के साथ तदात्मक होरहा वाक्य इष्ट कर लेना चाहिये देखिये फूली पौनी मे पाये जा रहे छोटे छोटे रूआंओं

से मिलकर लम्बा सूत उपजता है, सूत से अंडिया और अंड़ियो से आटे और आंटों से थान होजाता है उसी प्रकार अक्षर के छोटे छोटे अंशों से एक अक्षर और अनेक अक्षरो से एक पद, तथा अनेक पदो से एक वाक्य होजाता है तिस कारण वाक्य स्वरूप माना गया आख्यात शब्द बेचारा एक स्वभाव वाला ही नही है जो कि वैयाकरणो ने मान रखा है किन्तु कथंचित् अनेक स्वभावो वाले उस आख्यात शब्द की प्रतीति होरही है प्रतीति-सिद्ध पदार्थ को सहर्ष स्वीकार करलेना चाहिये। यहाँ तक वैयाकरणो के मत में वाक्य माने गये आख्यात शब्द का विचार कर दिया गया है।

एतेन पदमाद्यमन्त्यं चान्यद्वा पदांतरापेक्षं वाक्यमेकस्वभावमिति निरस्तं तस्या स्याख्यातशब्दवत्कथंचिदनेकस्वभावस्य प्रतिभासनात्।

इस उक्त कथन करके "देवदत्तः ओदन पचति" देवदत्त भात को पकाता है यहाँ आदि का पद देवदत्त अथवा अन्त का पद पचति एव और भी कोई मध्य का पद तो अन्य पदो की अपेक्षा रखता हुआ एक स्वभाव वाला वाक्य है, इस वैयाकरणो के मन्तव्य का भी आचार्य ने निराकरण कर दिया है क्योकि अन्य पदो की अपेक्षा रखते हुये उस आद्य पद या अन्तिम पद का आख्यात शब्द के समान कथंचित् अनेक स्वभाव वाले का ही प्रतिभास होरहा है। बात यह है कि जितने भी कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, विशेषण, क्रिया इत्यादिक अर्थों के वाचक पदो करके शब्दबोध होता है परस्पर-अपेक्षा रखते हुये उन पदो के निराकाक्ष होरहे समुदाय को वाक्यपना प्रसिद्ध है, अतः वह वाक्य आख्यात शब्द के समान अनेक स्वभावो वाला है।

एकांत यवः शब्दो वाक्यमित्ययुक्तं, तस्य सावयवस्य प्रतिभासनात्। तस्य चावयवेभ्योनर्थान्तरत्वेऽनेकत्वमेव स्यात्, तदर्थान्तरत्वे संबंधासिद्धिः उपकारकल्पनायां वाक्यस्यावयवकार्यत्व प्रसंगस्तैरुपकार्यत्वादवयवानां वा वाक्यकार्यता तेनोपक्रियमाणत्वात् उपकारस्य ततोर्थान्तरत्वे संबंधासिद्धिरनुपकारात् तदुपकारांतरकल्पनायामनवस्थाप्रसंग इति वाक्यतदवयवभेदाभेदैकांतवादिनामुपालम्भः। स्याद्वादिनां यथाप्रतीतिकथंचित्तदभेदोपगमात् एकानेकाकारप्रतीतेरेकानेकात्मकस्य जात्यंतरस्य व्यवस्थितेः।

अंशो से रहित होरहा एक निरवयव शब्द तो वाक्य है यह न्यायवेदियो का कथन भी युक्तियो से रीता है क्योकि उस अवयवो से सहित होरहे वाक्य का सभी विद्वानो को परिज्ञान होता है कर्ता, कर्म, क्रिया, करण आदि सभी तो अपने अपने अर्थों को लिये हुये वाक्य के अवयव होरहे हैं जैसे कि एक थान के अनेक तन्तु अवयव होरहे है, यदि उस वाक्य को अपने कर्ता, कर्म, आदि वाक्यो से अभिन्न माना जायगा तो वह वाक्य अनेक अनेक स्वभाव वाला ही होगा। अनेको से अभिन्न अनेक पदार्थ हैं या अनेक स्वभावों वाला ही है। हाँ यदि वाक्य का उन अवयवों से भेद माना जायेगा तो वाक्य और अवयवो के परस्पर हो रहे संम्बंन्ध की सिद्धि नहीं बन सकेगी और

तब तो सम्बन्ध के विना "इन अवयवों का यह वाक्य है" अथवा उस वाक्य के ये अवयव हैं यों सम्बन्ध का निरूपण करने वाली षष्ठी विभक्ति नहीं उतर सकती है, उपकार किये जाने पर ही सम्बन्ध की व्यवस्था मानी गयी है, पिता पुत्र सम्बन्ध, गुरु शिष्य सम्बन्ध, पति पत्नी सम्बन्ध, स्व-स्वामी सम्बन्ध, कार्य कारण भाव, आदि में परस्पर उपकार द्वारा नाता जुडा हुआ है, शिष्य का उपकार गुरु पढा कर कर देता है और शिष्य भी गुरु जी की सेवा, अनुकूल व्यवहार, श्रद्धा, करता हुआ उपकार करता है। इत्यादि प्रकार अनुसार यदि यहां वाक्य और उसके अवयव होरहे पदों मे सम्बन्ध की स्थिरता के लिये उपकार की कल्पना की जायगी, तब तो वाक्य को अवयवों के कार्य होजाने का प्रसग होजायेगा क्योकि उन अवयवो ने वाक्य के ऊपर उपकार किया है जो कि उपकार उस उपकृत हुये वाक्य से अभिन्न है, अत: अवयवो ने उपकार क्या किया मानो वाक्य को ही बनाया। अथवा यदि वाक्य की ओर से अवयवो के ऊपर उपकार कियाजाना माना जायेगा तो अवयवों को वाक्य के कार्य होजाने का प्रसग आवेगा क्योंकि उस वाक्य करके अनेक अवयव उपकार को प्राप्त किये जा रहे है, वाक्य ने अवयवों से अभिन्न होरहा अवयवो का उपकार किया मानो अवयवो को ही बनाया, शब्द को नित्य मानने वाले मीमासक या वैयाकरण उन पद या उन वाक्यों का बनाया जाना इष्ट नही कर सकेंगे।

शब्द अनित्य नही होजाय इसलिये वैयाकरण यदि अवयवों की ओर से वाक्य पर किये गये उपकार को वाक्य से भिन्न पडा रहा स्वीकार करगे अथवा वाक्य की ओर से किये गये अवयवो के ऊपर उपकार को अवयवो से निराला पडारहा मान बैठेंगे तब तो उपकृत से उपकार को भिन्न मानने पर उन उपकृत और उदासीन होकर भिन्न पडे हुये उपकारो के परस्पर सम्बन्ध की सिद्धि नही हो सकी क्योंकि उपकार होने से सम्बन्ध व्याप्य होरहा है जहां उपकार कोई नही है वहां सम्बन्ध भी नही है। जगत मे स्वार्थ का नाता है, साक्षात् या परम्परा प्रयोजन सिद्धि के विना कोई किसी से सम्बन्ध ही नही रखता है, अत: अवयव और वाक्यो मे उपकार हुये विना जैसे सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकी थी उसी प्रकार उपकृत और भिन्न पडे हुये उपकारो मे परस्पर उपकार हुये विना सम्बन्ध (गठ बन्धन) नही हो सकता है, अतः इन उपकृत वाक्य या पदो को न्यारे उपकार के साथ जोड़ने के लिये यदि उनके अन्य उपकारों की कल्पना की जायगी तो अनवस्था दोष होजाने का प्रसग आता है, कारण कि भेदपक्ष मे वे उपकार भी भिन्न ही पड़े रहेंगे उनके जोड़ने के लिये पुनः अनेक उपकारो को मध्य मे लाने की आकाक्षा बढती ही चला जायगी, हाँ किये गये उपकारो को यदि उपकृत से अभिन्न मान लिया जाय तो अनवस्था टल सकती है किन्तु यो मान लेने पर उपकृत वाक्य या पद अनित्य हुये जाते हैं, शब्द को नित्य मान रहे पण्डित अनवस्था को भले ही सहन करले परन्तु शब्द का अनित्यपना उनको सह्य नही है।

इस प्रकार वाक्य और उसके अवयवों का भेद-एकान्त अथवा अभेद एकान्त को पकड़ान

रहे वादी पण्डितों के ऊपर ये उपर्युक्त उलाहने आते हैं भेदैकान्त-वादी जैसे वाक्य और अवयवों के अथवा उपकृत या उपकारो के अभेद होने को बखान रहे अभेद-वादी को उक्त उलाहना दे देता है तथा अभेदैकान्तवादी सांख्य पण्डित जैसे वाक्य और अवयवो या उपकृत और उपकारो के सर्वथा भेद को बखान रहे भेदैकान्तवादी के ऊपर उक्त उपालम्भ उठादेता है, उसी प्रकार स्याद्वादी विद्वान दोनो भेदवादी या अभेदवादी पण्डितो के ऊपर दोनो उपालम्भ धर देते हैं। हाँ स्याद्वादियो के ऊपर कोई उलाहना नही आता है क्योकि स्याद्वादियो के यहाँ प्रतीतियो का अतिक्रमण नही कर उन वाक्य या उसके अवयवो मे कथंचित् अभेद होना स्वीकार किया गया है। घट, पट, वाक्य, गृह, आदि अर्थो की एक और अनेक आकारो के साथ तदात्मकपने करके प्रतीति होरही है, सर्वथा एक और सर्वथा अनेक से निराली तीसरी ही जातिका एक-अनेक-आत्मकपना व्यवस्थित होरहा है, अत. कथंचित् भेद अभेद को मानने वाले अनेकान्त-वादियो के यहाँ कोई उलाहना नही आता है, स्याद्वादी ही प्रत्युत एकान्तवादियो के ऊपर अनेक उलाहने लाद देते है।

न हि वाक्यश्रवणानंतरमनेकाकारप्रतीतिः सर्वदा सर्वत्र सद्भावप्रसंगात् । नापि वर्णपदमात्रहेतुका तदाकारत्वप्रसंगाद्वर्णादप्रतीतिवत् । ततो वाक्याकारपरिणतशब्दद्रव्यहेतुकवाक्यप्रतीतिश्च तथा परिणतशब्दद्रव्यमेकानेकाकारं परमार्थतः सिद्धं बाधकाभावात् ।

"नम श्री वर्द्धमानाय देवदत्तो गच्छति, देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन,, इत्यादि वाक्यों को सुनने के पश्चात् अनेक आकारो की ही प्रतीति नही होती है ? यदि ऐसा होता तो सभी कालो मे और सभी देशो मे अनेक आकार वालो प्रतीति होने के ही सद्भाव का प्रसंग आजावेगा अर्थात्-वाक्य या श्लोक ही क्या बडे बडे प्रकरणों' व्याख्यानो मे भी पीछे एक अखण्ड शाब्दबोध का होना अनुभूत होरहा है, तभी तो बडे बडे व्याख्यानो या ग्रन्थो का सार एक वाक्य मे सामान्य रूप से कह दिया जा रहा है। इतने बडे महान् तत्वार्थ-सूत्र ग्रन्थ मे जीव आदि सात तत्वो का अधिगम कराते हुये मोक्षमार्ग का प्रदर्शन किया गया है। देखिये जैसे एक महा काव्य मे अनेक सर्गों का एकीकरण है। एक सर्ग मे कतिपय प्रकरणा का अन्वित अभिधान है एक प्रकरण मे कतिपय श्लोका का समवाय किया गया अर्थ परस्पर जुड रहा है, एक श्लोक मे कई वाक्य गुंथ रहे है, एक वाक्य मे कई पद और एक पद मे कई वर्ण समुदित होरहे है। अथवा जैसे कई सिपाहियो के उपर एक जमादार और कई जमादारो के ऊपर एक थानेदार तथा कई थानेदारो को स्वाधिकार वृत्ति कर रहा एक सुपरिटेन्डेन्ट है, एव इनके ऊपर भी अधिकारी-वर्ग इसी क्रम से नियत है, इसी प्रकार वाक्यो के सुने जाने के पश्चात् एक आकार वाली भी प्रतीति होजाती है, बडे से बड़े ग्रन्थो की सक्षेप से एक वाक्यता कर ली जाती है। ऋद्धिधारी मुनि अन्तमुहूर्तमे द्वादशाङ्गका पाठ कर लेते है, द्वादशाङ्गके प्रमेय अर्थ का तो उससे भी अल्पकाल मे अध्यवसाय कर लेते हैं। परीक्षार्थी छात्र अपने स्वभ्यस्त

ग्रन्थ का दो मिनट में सङ्कलनात्मक पारायण कर जाता है ।

तथा वाक्य को सुनने के अनन्तर केवल वर्ण या पद को ही हेतु मान कर कोई प्रतीति नही होती है, यदि ऐसा माना जायगा तो वाक्य द्वारा उन वर्णों या पदो के एक आकार को धारने वाली ही प्रतीति होने का प्रसग आवेगा जैसे कि वर्ण को या पद को सुन कर वर्ण की प्रतीति हुआ करती है,तिस कारण सिद्ध होता है कि वाक्यके आकार होकर परिणम गये शब्द द्रव्यको हेतु मानकर उपजी वाक्यकी प्रतीति जैसे एकाकार और अनेकाकार वाली है,उसी प्रकार तिस तिस पद या वाक्यस्वरूप से परिणमने योग्य शब्द द्रव्य भी एक,अनेक-आकारो वाला वास्तविक रूप मे सध जाता है, इसको बाधने वाले प्रमाणो का अभाव है । जब शब्द द्रव्य मे कथचित् एक और कथचित् अनेक आकार विद्यमान है तो उसके अनुसार हुई वाक्य की प्रतीति भी एक, अनेक आकारो को धारेगी ही । अथवा वाक्य-प्रतीति को भी दृष्टान्त बना कर शब्द-योग्य द्रव्य मे एक अनेक आकारो को साध लिया जाय, जैन सिद्धान्त अनुसार सभी पदार्थों मे एकत्व और अनेकत्व धर्म विद्यमान है । जो एकत्व को ही पदार्थ मे मानते है, वे अनेकत्व का निषेध करते हैं, तो भी पहिला एकत्व धम और दूसरा अनेकत्व का अभाव, यो ही सही, दो धर्म तो पदार्थों मे ठहर ही गये, झगडा बढाना व्यर्थ है ।

कथं नानाभाषावर्गणापुद्गलपरिणामवर्णानामेकद्रव्यत्वमिति चेत् तत्रोपचारान्नानाद्रव्यादिसंतानवत । किं पुनस्तदेकत्वोपचारनिमित्तमिति चेत्, तथा सदृशपरिणाम एव तद्वत् ।

यहाँ किसी की शका है, कि भाषावर्गणा स्वरूप अनेक पुद्गल द्रव्यो के पर्याय होरहे वर्णों का भला एक द्रव्य का ही परिणाम होना किस प्रकार बन सकता है ? यो कहने पर आचार्य समाधान करते है, कि उन वर्गणाओ मे एक अशुद्धद्रव्य-पने का उपचार है । जैसे कि अनेक द्रव्य, गुण, अविभागो प्रतिच्छेद आदि की संतान को एक कह दिया जाता है । अर्थात्-जैसे दैशिक समुदायवाली धान्यराशि बेचारी अनेक धान्यो म अभिन्न है, उसी प्रकार कालसम्बन्धी प्रत्यासत्ति को धार रहे अनेक संतानियो से सन्तान भी अभिन्न है, एक द्रव्य की नाना पर्यायो को सुलभतया एक कहा जा सकता है, क्योकि उन सहभावी या क्रमभावी पर्यायो मे एक द्रव्य का अन्वित होना प्रसिद्ध है । अत: एक द्रव्य की असख्यात या अनन्त पर्यायो मे मुख्य रूप से भी एकत्व धरा जा सकता है । किन्तु नाना, द्रव्यो की सन्तानो में तो एकपना उपचार न ही आरोपा जा सकता है ।

यहाँ शकाकार पुन. पूछता है, कि उपचार तो निमित्त या प्रयोजन के विना नही प्रवर्तता है,अत. अनेक भाषा वर्गणाओमे एकपनके उपचार करनेका निमित्त क्या है ? इसका उत्तर आचार्य यों कहते है कि तिसप्रकार अनेक भाषावर्गणाओ की सदृश परिणति ही एकपन के उपचार का निमित्त कारण है, जैसे कि अनेक द्रव्य या गुणो की सन्तानो मे एकपने के उपचार का निमित्त कारण तिस तस प्रकार उनका सदृश परिणमन होना है । अर्थात्-जीवकाण्ड गोम्मटसार मे अणु सखा सखेज्जा-

गांताय अगेज्जगेहि अन्तरिया । आहारतेजभासामरा-कम्मइया धुवक्खंधा ॥ अणु आदि पुद्गल के तेईस भेदो को दिखलाते हुये "सिद्धाणंतिमभागो पडिभागो गेज्झगाण जेट्ठं,, इस प्रतिभाग अनुसार भाषावर्गणाओ का बनना समझाया है ।

कण्ठ तालु आदि के निमित्त अनुसार उन भाषावर्गणाओ की समान रूप से किसी भी अकार, चकार आदि शब्द बन जाने की योग्यता है, जैसे कि मेघ जल उन उन वृक्षो मे वैसा वैसा रस होकर परिणम जाता है । अतः "सदृशपरिणामस्तिर्यक् सामान्य,, समान परिणति वालों मे सामान्य (जाति) रहता है 'सामान्ये एकत्वं,, जाति की अपेक्षा एकवचन कह देने मे कोई क्षति नही पडती है, अतः भाषावर्गणा स्वरूप अनेक अशुद्धपुद्गल द्रव्यो को उपचार से कह दिया गया है, अनेक तन्तुओ मे जैसे एक अवयवी थान बन जाता है । उसी प्रकार अनन्त भाषावर्गणाओ से एक एक क, ख, गौः, आदि शब्द बन जाते है, यह एकत्व के उपचार करने का प्रयोजन भी है।

वर्णक्रमो वाक्यमित्यपरः । सोऽपि वर्णेभ्यो भिन्नमेकस्वभावं क्रमं यदि ब्रूयात्तदा प्रतीतिविरोधः तस्य श्रोत्रबुद्धावप्रतिभासनात् । सम्बन्धानुपपत्तेश्चानवयववाक्यवत् । वर्णेभ्यो-नर्थांतरत्वे तु क्रमस्य वर्णा एव न कश्चित्क्रमः स्यात् ।

अब व्याकरण का एक देशी दूसरा विद्वान् यो कह रहा है। कि वर्णो का क्रम ही वाक्य है अर्थात्- पहिले एक वर्ण सुनाई दिया पुन दूसरा वर्ण, पश्चात् तीसरा वर्ण सुनने मे आया इत्यादि प्रकार करके वर्णोका क्रम होजाना ही वाक्य है । आचार्य कहते है कि वह वर्ण क्रम को वाक्य कह रहा विद्वान् भी क्रम को यदि वर्णो से भिन्न ही या एक स्वभाव वाला ही कहेगा तब तो प्रतो-तियो से विरोध आता है, क्योंकि उन वर्णो से सर्वथा भिन्न और एक स्वभाव वाले मानेजारहे क्रम का कर्णेन्द्रियजन्य ज्ञान मे प्रतिभास नही होता है । दूसरी बात यह है, कि सर्वथा भिन्न होरहे क्रम का और उन वर्णो का सम्बन्ध भी तो नही बन सकता है । जैसे कि अनवयव एक शब्द को वाक्य कहने वाले पण्डित के यहाँ निरश वाक्य का अपने भिन्न पडे हुये अवयवो के साथ सम्बन्ध नही बन पाता है, इस बात को ग्रन्थकार अभी पूर्व प्रकरण मे सिद्ध कर चुके हैं ।

हाँ वर्णो से क्रम का अभेद मानने पर तो सम्बन्ध नही बन सकने का दोष टल गया किन्तु सर्वथा अभेद पक्ष लेने पर अनेक वर्ण ही ठहरते है, कोई क्रम नही ठहर पायेगा ऐसी दशा मे क्रम को वाक्य कहे चले जाना उचित नही जंचता है ।

मन्यमेतदेवं यावंतो यादृशा ये च पदार्थप्रतिपादने वर्णा विज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैव बोधका इति वचनात ततोन्यस्य वाक्यस्य निराकरणादितीतरः । सोपि यदि वर्णानां क्रम प्रत्याचक्षीत तदाग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्याकारादयो ये यावंतश्च वर्णाः स्वेष्टवाक्यार्थ-प्रतिपादने विज्ञातसामर्थ्यास्ते तावंत एव वैरयुद्गमेनापि समुच्चार्यमाणास्तथा स्युर्विशेषाभावात् ।

अथ येन क्रमेण विशिष्टास्ते तथा दृष्टास्तादृशा एव तदर्थस्यावबोधका इति मत, तर्हीष्टः क्रमो वर्णानामन्यथा तेन विशेषणाघटनात् ।

वर्णक्रम को वाक्य मानने वाले विद्वान् पर ठेस जमा रहा कोई इतर पण्डित यो कहता है, कि यह कथन इस प्रकार सत्य होसकता है कि जितने और जिस जिस प्रकार के जिन जिन वर्णों की पदार्थ के पतिपादन करने मे सामर्थ्य जानी जा चुकी है, वे वर्ण उस ही प्रकार मे वाच्यार्थ का बोध करा देते हैं, इसप्रकार हमारे शास्त्रोमे निरूपण है. उन वर्णों से न्यारे वाक्य का निराकरण करदिया जाता है । अर्थात् – योग्य अनुपूर्वी को लिये हुये वर्ण ही वाक्य है, उनमे न्यारा कोई क्रम वाक्य नही है ।

आचार्य कहते हैं कि वह मीमासक पण्डित भी वर्णों के क्रम का यदि निराकरण करेगा तब तो स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाला पुरुष अग्निष्टोम नामक यज्ञ करके याग करे इस मत्र के आकार, गकार आदिक जितने भी जो जो वर्ण हैं, जिनकी कि अपने इष्ट वाक्यार्थ का प्रतिपादन करनेमे शक्ति जानी जा चुकी है, वे वर्ण उतने ही यानी न्यून, अधिक, नही होरहे ही वाक्यार्थ को कहेगे तब तो उद्गम यानी क्रम भंग होजाने से भी उच्चारण किये जारहे तिस प्रकार वाक्यार्थ के प्रतिपादक होजाओ क्योकि वर्णों के क्रम को नही मानने वाले के यहा चाहे वर्ण ठीक क्रम से बोल दिये जाय ? अथवा अक्षरो को आगे पीछे कर विपरीत क्रम मे भी बोल दिया जाय वे अपने अर्थ को कहतेही रहने चाहिये कोई अन्तर नही है । ऐसी दशा मे घट को टघ या साधन को नधसा कहने वाले व्युत्क्रमभाषी के शब्दो करके भी अर्थ प्रतिपत्ति बन बैठेगी, अशुद्धिया भी नष्ट प्राय होजायगी ।

अब यदि तुम यो कहो कि वे वर्ण जिस क्रम करके विशिष्ट होरहे तिस प्रकार सकेत काल मे देखे जा चुके है, उनके समान जातीय वर्ण ही उस वाच्य अर्थ का परिज्ञान कराते है । आचार्य कहते है, कि यो मन्तव्य होय तब तो वर्णों का क्रम तुमने इष्ट ही कर लिया अन्यथा यानी वर्णों के क्रम का प्रत्याख्यान करते ही चले जाते तो उस क्रम करके सहित पना यह वर्णों का विशेषण घटित नही होसकता था इससे सिद्ध है, कि वर्णों के क्रम को वाक्य मानना कोई बुरा पक्ष नही है ।

वर्णाभिव्यक्तेः क्रमो न वर्णानां तेषामक्रमत्वात् । उपचारात्तु तस्य तत्र भावात्तद्विशेषणत्वमुपपद्यत एवेति चेन्न, एकांतनित्यत्वे वर्णानामभिव्यक्तेः सर्वथानुपपत्तेः, उपपादितम र्थनात्तत्र मुख्यक्रमस्य प्रसिद्धेः ।

वर्णों के क्रम को वाक्य नही चाहने वाले मीमासक यदि यो कहैं कि वर्ण तो नित्य हैं, व्यापक हैं, नित्य विद्यमान होरहे पदार्थ का काल-सम्बन्धी क्रम और व्यापक होरहे पदार्थ का देशिक क्रम बन नही सकता है, हां कण्ठ. तालु. ध्वनि, आदि अभिव्यजको द्वारा होरही वर्णों की अभिव्यक्ति का क्रम तो माना जा सकता है, किन्तु वर्णों का क्रम नही है, क्योकि उन वर्णों का क्रम–रहितपना निर्णीत है, हां उपचार से तो उस क्रम का उन वर्णों मे सद्भाव मान लियाजाता है, अत. क्रम स वर्ण

सुनाई देरहे है, यों क्रम को उन वर्णों का विशेषण होजाना बन जाता ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योंकि वर्णों को एकान्त रूप से सर्वथा नित्य मानने पर वर्णों की अभिव्यक्ति की सभी प्रकारो से असिद्धि होजाने का युक्तियो द्वारा समर्थन किया जा चुका है। अर्थात्–अनभिव्यक्त स्वभाव को छोड कर अभिव्यक्त परिणति को ग्रहण कर रहे वर्ण सर्वथा नित्य नही कहे जा सकते है, नित्य पक्ष मे सभी वर्णो की सकीर्ण श्रुति होने लग जायगी, आदि अनेक दोषो की सम्भावना है, अतः वर्णों की अभिव्यक्ति का पक्ष सर्वथा निर्बल है. युक्तियो मे वर्णो मे मुख्य क्रम की ही प्रसिद्धि होरही है, अत वर्णों के क्रम को वाक्य कहने वाले का मत अनेकान्त पक्ष का अवलम्ब करते हुये हमे अच्छा जचता है, व्यर्थ ही चाहे जिस सन्मुख आये हुये का निराकरण या तिरस्कार करने की टेव हमे अच्छी नही जचती है।

क पुनरयं क्रमो नाम वर्णानामिति चेत्, कालकृता व्यवस्थेति ब्रूमः। कथमसौ वर्णानामिति चेत्, वर्णोपादानादुदात्ताद्यवस्थावत्। तर्ह्यौपाधिकः क्रमो वर्णानामिति चेन्न, उदात्ताद्यवस्थानामप्यौपाधिकत्वप्रसंगात्। औपाधिक्युदात्ताद्यवस्था एव वाचो वर्णत्वात् ककारादिवदिति चेन्न, तेषां स्वयमनंशत्वासिद्धेः स्वभावतस्तथात्वोपपत्तेरन्यथा ध्वनीनामपि स्वाभाविकोदात्तत्वाद्ययोगात्।

ग्रन्थकार के प्रति कोई पूछता है, कि आप क्रम को वाक्य मानने वाले का इतना अधिक पक्षपात कर रहे है, तो बताओ जैन सिद्धान्त अनुसार यह वर्णोंके क्रमका लक्षण भला फिर क्या है? न्यायवेदियो के यहा जो भी कुछ क्रम का लक्षण किया जायगा उसमे न्यून, अधिक, करते हुये आप अवश्य ही अनेकान्तप्रक्रिया को जड देगे।

यो कहने पर इसके उत्तर मे ग्रन्थकार कहते हैं, कि व्यवहारकाल करके की गई वर्णों की व्यवस्था ही क्रम है. ऐसा हम स्पष्ट निरूपण करते है। इस पर पुन. प्रश्न उठाया जाता है कि वह कालकृत व्यवस्था भला वर्णों का क्रम कैसे कही जा सकती है? बताओ, यानी यह तो वही कथन हुआ कि "पेट मे पीडा और आंख मे औषधि लगाई गयी"।

यो आक्षेप प्रवर्तने पर तो आचार्य कहते हैं, कि वर्णों करके व्यवहारकाल को निमित्त पाकर हुई परिणतियो का ग्रहण कियाजाता है, जैसे कि उदात्त, अनुदात्त, प्लुत, अनुनासिक, निरनुनासिक ह्रस्व, आदिक अवस्थाओ का उपादान वर्ण कर लेते है, अतः पहिले, पिछले, समयो मे क्रम से होरही वर्णों की उत्पत्ति अनुसार वर्णों का क्रम माना जाताहै। "कालो न यातो वयमेव याताः" इसका अभिप्राय भी वही है कि समय नही गया उन उन समयो मे हुई हमारी अमूल्य अवस्थाये व्यर्थ निकल गयी, समय बेचारा चला भी जाय तो हमे कोई अनुताप नही है।

पूर्व पक्ष वाला पण्डित कहता है कि तब तो वर्णों का क्रम वास्तविक नही होकर केवल उपाधि के अनुसार कियागया औपाधिक हुआ जैसे कि जपापुष्प के सन्निधान से स्फटिक को लाल

कह दिया जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो नहीं कहना क्योंकि वर्णों के क्रम को यदि औपाधिक माना जायगा तो वर्णों की स्व शरीर होरही उदात्त स्वरित, आदि अवस्थाओ के भी औपाधिक पने का प्रसग आजावेगा जो कि इष्ट नही है। पुन: यदि तुम कहो कि वचन की उदात्त, अनुदात्त, आदि अवस्था तो उपाधियो से जन्य ही है यानी वर्णों की गाठ का स्वरूप नही है (प्रतिज्ञा) वर्ण होने से (हेतु) ककार चकार, आदि वर्णो के समान (अन्वय दृष्टान्त)। अर्थात्–न्यारे न्यारे अभिव्यजको अनुसार वाचाओ की क, च, ट, आदि वर्ण व्यवस्था प्रकट हो जाती है, उच्च उच्चारण नीच उच्चारण, आदि अभिव्यजको द्वारा उदात्त आदि अवस्था गढ ली जाती है किन्तु ये अवस्थायें शब्द का मूल शरीर नही हैं।

ग्रन्थकार कहते हैं यह तो नही कहना क्योकि उन वर्णो का स्वय मूल शरीर से अंश रहितपना असिद्ध है, यथार्थरूप से विचारा जाय तो वर्णों के स्वकीय स्वभाव मे ही तिसप्रकार ककार, चकार, उदात्त, अनुदात्त, आदि अवस्थाये गाठ की बन रही है अन्यथा यानी ककार, उदात्त आदि अवस्थाओ को अभिव्यञ्जक कारणोका ही स्वरूप मानते हुये यदि शब्दोकी मूल पूजी नही माना जायेगा तो हम कह सकते है कि ध्वनियो के भी अपने गाठ की स्वाभाविक उदात्तपन आदि अवस्थाओ का योग नहीं बन सकेगा यानी ध्वनियो में भी उदात्तपन गाठ का नही है किसी दूसरे पदार्थ से ऋण लिया गया है और दूसरे पदार्थ मे भी कही अन्य स्थल से उधार लियागया होगा यो कहने वाले का मुख कोई पकडा नही जा सकता है। एक बात यह भी है कि ककार, अकार, उदात्त, आदि अवस्थाओं को यदि वाचाओ का औपाधिक स्वरूप माना जायगा तो फिर वाचाओ की गाठ का कोई निज शरीर ठहरता ही नही है, जब गाठ का कोई शरीर नही तो औपाधिक धर्म किस पर चढ बैठे ? बात यह है कि जगत् के सभी पदार्थ अनेक अंशो से सहित हैं जो जिसका स्वरूप, प्रमाणो से सिद्ध है वह उसी का अंग माना जाता है, वर्णों के ककार, उदात्त, आदि निज अंश प्रतीत-सिद्ध हैं, अत. वे औपाधिक नही कहे जा सकते है। खाड का मीठापन, जल का द्रवपन, अग्नि की उष्णता वायु का बहना, पत्थर का गुरुत्व, ये सब गाठ के अंश हैं, औपाधिक नही है।

ततः स्वकारणविशेषवशात् क्रमविशेषविशिष्टानाम कारादिवर्णानामुत्पत्तेः कथंचिद्-नर्थान्तरं क्रमः। स च सादृश्यसामान्यादुपचारादेकः प्रतिनियतविशेषाकारतया त्वनेक इति स्या-द्वादिनामेकानेकात्मकः क्रमोपि वाक्यं न विरुध्यते।

तिस कारण सिद्ध हुआ कि अपने अपने उत्पादक विशेष कारणों के वश से हुये क्रम विशेष करके विशिष्ट होरहे ही आकार आदि वर्णों की उत्पत्ति होरही है, अत. वह काल-सम्बन्धी क्रम वर्णो से कथंचित् अभिन्न है जैसे कि यथाक्रम आतान, वितान, स्वरूप किये गये तन्तुओं का दैशिक क्रम थान से अभिन्न है और वह अनेक वर्णो से अभिन्न होरहा क्रम यद्यपि वस्तुत: अनेक है तो भी सदृशपरिणाम-स्वरूप सामान्य के पाये जाने से वह क्रम उपचार से एक कह दिया जाता है प्रत्येक

वर्णों में आनुपूर्वी–अनुसार नियत होरहे स्वकीय विशेष आकारो करके तो वे क्रम अनेक ही है। इस प्रकार स्याद्वादियो के यहा एक-आत्मक और अनेक–आत्मक होरहा क्रम भी वाक्य होजाय तो कोई जैन सिद्धात से विरोध नही आता है "बालादपि हित ग्राह्य",, शत्रोरपि गुणा वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि,. परीक्षा–प्रधानियो को उक्त दोनो नीतिया पालनी पडती है, हाँ वर्णो से सर्वथा भिन्न या एक स्वभाव वाला ही मान लिये गये क्रम का तो हम स्याद्वादी भी निराकरण कर देते है "सार ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथाक्षीरमिवाम्बुमध्यात्" इस नीति अनुसार वाक्य के लक्षण माने गये क्रम को सम्हालते हुये हमे वाक्यो से अभिन्न और एकानेकात्मक होरहे क्रम को वाक्य कह देना उचित जान पडता है।

वर्णसंघातो वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुर्वाक्यमित्यन्य, तेषामपि न वर्णेभ्यो भिन्नः संघातोनंशः प्रतीतिमार्गावतारी, संघातत्वविरोधाद् वर्णान्तरवत। नापि ततोऽनर्थान्तरमेव संघातः प्रतिवर्ण–संघातप्रसंगात्। न चैको वर्णः संघातो भवेत्। कथंचिदन्यानन्यश्च वर्णेभ्यः संघात इति चेत्, कथमेकानेकस्वभावो न स्यात्? कथंचिदनेकवर्णादभिन्नत्वादनेकस्तत्स्वात्मवत्। संघातत्वपरिणामादेशात्ततो भिन्नत्वादेकः स्यादिति प्रतीतिसिद्धेः।

अब कोई अन्य पण्डित वाक्य का लक्षण यो कहते है कि वर्णों का संघात ही वाक्य है जो कि वाक्य द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ की प्रतिपत्ति का ज्ञापक कारण है। आचार्य कहते हैं कि उनके यहा भी वर्णो से सर्वथा भिन्न होरहा और अंशो से रहित माना गया ऐसा कोई सघात तो प्रतीतियो के निश्चित मार्गपर नही उतरता है क्योकि सघातपने का विरोध होजायगा जैसे कि अन्य वर्णो का समुदाय न्यारा पड़ा हुआ उन वर्णोंका सघात नही है। भावार्थ–जैसे अन्य वर्णों का सघात कर दिया गया इन प्रकृत वर्णों का सम्मेलन नही कहा जा सकता है उसी प्रकार इन प्रकृत वर्णों से भिन्न पड़ा हुआ सघात भला इन वर्णों का कैसे भी नही होसकता है, चावलो के समुदाय को गेहूँ का ढेर कोई नही कहता है भेड़ो का झुण्ड भी मनुष्यो का मेला नही कहा जासकता है, उसी प्रकार देवदत्त इस पद मे एकत्रित होरहे वर्णों का समुदाय बेचारा महावीरदास इस पद स्वरूप सघात नही हो सकता है। यो उन वर्णों से भिन्न पड़ा हुआ सघात भी उन्हीं वर्णो का अविष्वग्भाव नही कहा जायेगा। तथा उन वर्णों से संघात अभिन्न ही होय ऐसा भी एकान्त करना ठीक नही है क्योकि यो तो प्रत्येक वर्ण अनुसार संघात होजाने का प्रसंग आजावेगा किन्तु एक वर्ण तो सघात हो नही सकता है।

अर्थात्–चार वर्णो से सर्वथा अभिन्न यदि सघात माना जायगा तो चार सघात अनायास ही बन बैठगे कोरे एक को संघात कहना विरुद्ध है, सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद पक्षो मे आये हुये दोषों को टालते हुये आप यदि वर्णों से कथंचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न होरहा सघात मानो तब तो जैन मत का अनुसरण करते हुये आपके यहां वह संघात–स्वरूप वाक्य बेचारा एक अनेक स्वभावों को धारनें वाला किस प्रकार नही होजावेगा? देखिये अनेक वर्णों के साथ कथचित् अभेद

होजाने से वह संघात अनेक हैं जैसे कि उन वर्णों के निज निज स्वरूप न्यारे न्यारे होरहे अनेक हैं तथा निराले पड़े हुये पृथक पदार्थों का एकी भाव होना-स्वरूप सघातपन परिणति की अपेक्षा कथन करने से उन अनेक वर्णों मे भिन्न होने के कारण वह सघात एक समझा जायेगा, यह प्रतीतियो मे सिद्ध विषय है। अत: परस्पर अपेक्षा रखने वाले वर्णों के निरपेक्ष समुदाय रूप पद को प्राप्त हुये वर्णों का काल प्रत्यासत्ति स्वरूप संघात है जो कि वर्णों मे कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न है। शब्दो के उच्चारण अनुसार वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति कराने मे कालकृत प्रत्यासत्ति अभीष्ट है, हां पुस्तक मे लिखे हुये उपचरित वर्णों की देश प्रत्यासत्ति से किया गया सघात भी चोखा माना जा सकता है, यो जैन सिद्धान्त अनुसार सघात का विवेचन करने पर वर्णों के सघात को वाक्य कह देने मे कोई अनिष्टापत्ति नहीं है।

एतेन सघातवर्तिनी जातिर्वाक्यमिति चिंतितं, तस्याः सघातेभ्यो भिन्नायाः सर्वथानुपपत्तेः। कथंचिदभिन्नायास्तु संघातवदेकानेकस्वभावत्वसिद्धेर्नानंशः शब्दात्मा कश्चिदेको वाक्यस्फोटोस्ति श्रोत्रबुद्धौ जात्यंतरस्यार्थप्रतिपत्तिहेतोः प्रतिभासनात् एकानेकात्मन एव सर्वात्मना वाक्यस्य सिद्धेः।

जैन मत अनुसार उक्त प्रकार का सघात वाक्य हो सकता है, इस विवरण करके सघात में वर्त रही जातिको वाक्य कहने का भी चिन्तन (चिन्तवन) करदिया जा चुका समझ लेना चाहिये सघातो से सर्वथा भिन्न हो रही उस जाति की तो सभी प्रकारो से सिद्धि नही होसकती है जैसे घट से सवथा भिन्न घटत्व जाति नही सध पाई है तथा जातिवान् से सवथा अभिन्न भी कोई जाति नही सिद्ध होपाती है। हां अभी बखान किये गये सघात के समान उस सघात मे वर्त रही कथचित् अभिन्न होरही जाति के तो एक अनेक स्वभाव मे सहितपने की सिद्धि होजाती है, परस्पर अपेक्षा रखते हुये पदोके निराकाक्ष सघात मे वर्त रही सदृश परिणाम स्वरूप और उन वर्णों या पदो से कथचित् अभिन्न होरही जाति को वाक्यपना सुघटित है। उचित निर्णयो का मानने के लिये हम सर्वथा सन्नद्ध बैठे रहते है, अत. अंशोसे रहित होरहा नित्य एकस्वभाव वाला कोई भी एक वाक्य स्फोट नही है। आख्यात शब्द, आद्यपद, अन्त्यपद, एक अन्वय शब्द, वर्णक्रम, वर्णसघात, सघातवर्तिनी जाति, इनको यदि वाक्य स्फोट कहा जायगा तो आपके मन्तव्य अनुसार इनका एक स्वभाव और अंश रहित स्वरूप से किसी को भी प्रतिभास नही होरहा है किन्तु साश, अनित्य, एक स्वभावी, कथचित् अनेक-स्वभावी, स्वरूप से ये जाने जारहे है। वाच्य अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के कारण होरहे उक्त वाक्यो का श्रोत्र इन्द्रिय जन्य श्रावणप्रत्यक्ष मे तो ऐसो का तो परिज्ञान होरहा है जो कि सर्वथा एक और सर्वथा अनेक यानी अभेद और सर्वथा भेद इन दोनो पक्षो से निराली जाति के अनेक तीसरे कथचित् भेदाभेद स्वरूप को धार रहे है, अपने सम्पूर्ण निज स्वरूप करके एकात्मक, अनेकात्मक हो रहे ही वाक्य की सिद्धि होरही है, विवाद बढ़ाना व्यर्थ है। तीसरी वार्तिक का विवरण होचुका, अब

इस सूत्र की चौथी वार्त्तिक का विवरण किया जाता है।

यदि पुनरंतःप्रकाशरूपः शब्दस्फोटः पूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनोन्त्यवर्णश्रवणानंतरं वाक्यार्थनिश्चयहेतुर्बुद्ध्यात्मा ध्वनिभ्योऽन्योभ्युपगम्यते, स्फुटत्यर्थोस्मिन् प्रकाशत इति स्फोट इत्यभिप्रायात्, तदाप्येतस्यैकानेकात्मकत्वे स्याद्वादसिद्धिरात्मन एव वाक्यार्थग्राहकत्वपरिणतस्य भाववाक्यस्य संप्रत्ययात्, तस्य स्फोट इति नामकरणे विरोधाभावात् । तस्य निरंशत्वे तु प्रतीतिविरोधः, सर्वदा तस्यैकानेकस्वभावस्य त्रिधांशकस्य प्रतिभासनात् ।

आख्यात शब्द, संघात, आदि को वाक्य कहने वाले न्यायवेदी पण्डित बुद्धि को भी वाक्य मानते है वहिरंग वाक्य को शब्दस्फोट मानने मे कुछ अवधीरणा पाकर अब वैयाकरण विद्वान् अन्तरग ज्ञान को स्फोट मानते हुये पूर्व पक्ष कहते है। स्फोट वादी के ऊपर विचार चलाते हुये आचार्य महाराज ने सबसे प्रथम दो विकल्प उठाये थे कि वह स्फोट शब्द स्वरूप है ? अथवा क्या शब्द से किसी न्यारे पदार्थ स्वरूप है ? प्रथम विकल्प का विचार होचुका है, अब दूसरे अशब्दात्मक स्फोट के विकल्प का विचार चलाते हैं।

अन्तरग मे ज्ञानप्रकाशरूप होरहा बुद्धिस्वरूप स्फोट है, जोकि पूर्व पूर्व मे सुने जा चुके वर्णों के ज्ञान के धारे गये संस्कारोवाले आत्मा को अन्तिम वर्ण के श्रावण प्रत्यक्ष अनन्तर हुई वाक्य के अर्थ की निश्चय प्रतिपत्ति करा देने का हेतु है, यह बुद्धि-स्वरूप शब्द स्फोट उन वायु स्वरूप या शब्दस्वरूप ध्वनियो से निराला स्वीकार किया गया है। जिस ज्ञान मे वाक्यार्थ स्फुट होकर भास जाता है, यानी शाब्दबोध प्रकाश जाता है, यो इस निरुक्ति करने के अभिप्राय से यह बुद्धि स्वरूप स्फोट माना गया है। आचार्य कहते हैं,कि यदि द्वितीयपक्ष अनुसार फिर यो कहोगे तब भी इस बुद्धिस्वरूप शब्द-स्फोट को एकआत्मक अनेकात्मकपना मानने पर स्याद्वाद सिद्धान्तकी ही सिद्धि होती है, क्योकि आत्मा के ही वाक्यार्थ के ग्राहक होकर परिणम गये ज्ञान-स्वरूप भाववाक्यपन का इस तुम्हारे स्फोट करके समीचीन ज्ञान होता है, उस भाववाक्य-स्वरूप आत्मा का स्फोट ऐसा नाम कर देने मे हमे कोई विरोध नही करना है। पदार्थ ज्ञान का आवरण करने वाले ज्ञानावरण कर्म और तदनुकूल वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से विशिष्ट होरहा आत्मा पदस्फोट है, तथा वाक्यार्थ ज्ञान को रोकने वाले ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से सहित होरहा आत्मा वाक्यस्फोट है वाक्य या वाक्यार्थ ज्ञान के उपयोगी विशेषपुरुषार्थ से युक्त होरहे आत्मा की विशेषबुद्धि ही भाववाक्य या स्फोट है, हाँ उस बुद्धिस्वरूप शब्दस्फोट को यदि अंशो से रहित माना जायगा तब तो प्रतीतियो से विरोध आवेगा क्योकि एक स्वभाव,अनेक स्वभाव, एकानेकस्वभाव, यो तीनप्रकार अंशो के धारी उस भाववाक्य का सदा प्रतिभास होता रहता है।

भावार्थ–जैन सिद्धान्त अनुसार भावमन, भाव इन्द्रियां, भाव वाक्य, ये सब आत्मा की परि-

णतियाँ ज्ञान स्वरूप पडती हैं, वीर्यान्तराय कर्म, ज्ञानावरण कर्म, श्रुतज्ञानावरण कर्म, इनके क्षयोपशम से उत्पन्न हुयी आत्मा की ज्ञान-शक्ति भाव-वाक्य है, कण्ठ, तालु, आदि मे व्यापार कर रहे क्रियावान या क्रिया सम्पादक आत्मा की वह शक्ति पौद्गलिक वचनों को बनाने मे भी सहायक होजाती है। सप्तभगी के पहिले तीन भगो अनुसार वह भाव-वाक्य-स्वरूप आत्मा कथचित् एक स्वभाव, अनेक स्वभाव, और एकानेकस्वभावो को धार रहा है, प्रत्येक ज्ञान मे सम्वेदक, सम्वेद्य सम्वित्ति, ये तीन अश पाये जाते है सम्पूर्ण सत् पदार्थो मे उत्पाद व्यय, ध्रौव्य, ये तीन अंश भी पाये जाते है। श्री समन्तभद्राचार्य भगवान् तो "बुद्धि-शब्दार्थसज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचकाः। तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बका." इस देवागम की कारिका अनुसार प्रत्येक अर्थ को तीन प्रकार से विभाजित करते है, घट शब्द, घटअर्थ, घटज्ञान, इन स्वरूपो से 'घट" माना जा सकता है, व्याकरण पढ़ने वाले विद्यार्थी को घट कह देने से वह घट घटौ घटा.। घट घटौ घटान् इत्यादि शब्द रूपो को सुनाने लग जाता है, यह शब्द हुआ। कुम्हार के प्रति घट कहदने से वह मिट्टी के घड़े को सोप देता है, यह अर्थ है। न्याय को पढने वाले छात्र के सन्मुख कहे गये घटद्वारा घटज्ञान करा दिया जाता है, यह ज्ञान-परक है, यो सभी अभिधेय अर्थो की त्रिधा अंश कल्पना होसकती है, अतः चाहे शब्द-आत्मक वाक्य को स्फोट माना जाय अथवा भले ही बुद्धिस्वरूप शब्द को स्फोट कहा जाय प्रतीतियो अनुसार इनको साश और एकानेक स्वभाववान् मान लेने पर तो हमे कोई प्रसग नहीं उठाना है। सज्ञा मात्र से भेद होजाने पर हमारा तुमसे कोई विरोध नही है हाँ अर्थभेद तो अवश्य खटका उत्पन्न करता है। उसके लिये जैन सिद्धान्त अनुसार समीचीन युक्तियो के मिल जाने पर स्फोट-वादी वैयाकरणो को सतोष कर लेना चाहिये।

न चायमभिनिवेशः शब्दस्फोट इति श्रेयान् गन्धादिस्फोटस्य तथाभ्युपगमार्हत्वात्। यथैव शब्द. वक्तृगृहीतसंकेतस्य कचिदर्थप्रतिपत्तिहेतुस्तथा गंधादयोपि, विशेषाभावात्। एवंविधमेकं गंध समाघ्रायत्यमविचार्यः प्रतिपत्तव्य स्पर्श संस्पृश्य,रसं चास्वाद्य, रूपं वालोक्येत्थभूतमीदृशो भावः प्रत्येतव्य इति समयग्राहिणां पुनः कश्चित्तादृशगंध युपलभमानस्याविचार्यार्थनिर्णयप्रसङ्गेगंधादिज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनस्तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतोर्गंधादिस्फोटतोत्पत्तेः। पूर्वपूर्वगंधादिविशेषज्ञानाहितसंस्कारस्यान्त्यगंधादिविशेषोपलम्भानन्तरं गंधादिविशेषसमुदायगम्यार्थप्रतिपत्तिहेतोर्गंधादिवाक् स्फोटत्वघटनात्।

हमे वैयाकरणो के प्रति एक बात यह भी कहनी है कि आप को केवल शब्दस्फोट का ही आग्रह किये चले जाना श्रेष्ठ मार्ग नही पडता है क्योकि यो तुम्हारे यहा माने गये शब्दस्फोट की प्रक्रिया अनुसार तिसप्रकार गन्धस्फोट, रसस्फोट, हस्तस्फोट आदि का स्वीकार कर लेना भी उचित पड़ जायगा देखिये जैसे ही आप वाक्यस्फोट को मानते हुये "जिससे अर्थ स्फोट होता है वह स्फोट है,, यों निरुक्तिकरके शब्दस्फोटको इस प्रकार पुष्ट करते है कि इस घट शब्दको सुन कर कम्बु-

ग्रीवा आदि वाला अर्थ समझ लेना चाहिये, यों सकेत ग्रहण कर पुन वक्ता के शब्द से आत्मा को शब्दस्फोट द्वारा घटार्थ की प्रतिपत्ति होजाना स्वीकार करते है क्योंकि संकेत किया गया शब्द कही न कही अर्थ की प्रतिपत्ति कराने का हेतु है, उसी प्रकार गन्धस्फोट आदि मे भी ये ही युक्तिया चरितार्थ होजाती है,कोई अन्तर नही है, उनको सुनिये, जैसे पदस्फोट या वाक्यस्फोटका संकेत ग्रहण करलिया जाता है उसी प्रकार गन्ध आदि स्फोट का भी संकेत ग्रहण यों कर लिया जाता है कि इस प्रकार के एक गन्ध को भले प्रकार सूंघ कर इस प्रकार इस जाति का अर्थ समझ लिया जाय और इस प्रकार के स्पर्श को अच्छा छू कर इसके समानजातीय अन्य ऐसे स्पर्श वाले अर्थों को समझ लिया जाय एव इस ढग के रस का आस्वादन कर इस प्रकार के रस वाले इतर पदार्थों को जान लिया जाय अथवा ऐसे रूप का अवलोकन कर इस जाति के अन्य रूपवान पदार्थों की प्रतीति कर ली जाय, यों संकेतों को ग्रहण कर चुके जिज्ञासुओं को पुनः कहीं पर तिस जाति के गंध आदि का उपलम्भ होजाने से जैसा पहिले देखने सुनने मे आया था उसी प्रकार के अर्थ का निर्णय होजाना प्रसिद्ध होरहा है।

अर्थात्-" घटपदात् घटरूपोऽर्थो बोद्धव्य', आनय-पदात् आनयन–क्रिया प्रत्येतव्यः ,, घट पद से घट अर्थ समझ लिया जाय और आनय पद से आनयन क्रिया जान ली जाय, ऐसा सकेत ग्रहण हो जानेपर पुन उन शब्दो के श्रवण अनुसार वैसे अर्थ कि प्रतिपत्ति होजाने को देखते हुये जैसे वैयाकरण पदस्फोट या वाक्यस्फोट की उत्पत्ति कर लेते है उसी प्रकार वेला, मौलश्री, चम्पा, चमेली, जुही के फूलो की गन्ध को एकवार सूघ कर वृद्ध वाक्य द्वारा सकेत ग्रहण कर चुका कुमार पुनः वैसी गध को सूघता हुआ उन वेला आदि के फूलो की प्रतिपत्ति कर लेता है तथा आग, मकराना, मखमल, आदि को छूकर उनमे सकेत कर चुका पुरुष पुन. अंधेरे मे भी कही उन पदार्थों का स्पर्श होजाने पर वैसे उन अग्नि आदि अर्थो का परिज्ञान कर लेता है और आम, केला, पेडा, इमरती, अंगूर, अनार आदि के रसो को चाटकर सकेत ग्रहण कर चुका बालक पुनः कही अंधेरे मे भी उन रसो का स्वाद लेता हुआ उन आम, अमरूद आदि का परिज्ञान कर लेना है एवं कामिनी, रत्न, सुवर्ण, पशु पक्षी, आदि के रूपो को देख कर उन रूपवान पदार्थों मे संकेत ग्रहण कर रहा निकट बैठा हुआ युवा पुरुष पुनः अन्यत्र वैसे वैसे रूपो को देख कर कामिनी, रत्न आदि पदार्थों की ज्ञप्ति कर लेता है, रोगी की नाडी गति अनुसार वैद्य भूत, भविष्य के परिणाम को कह देता है, गणित ज्योतिष या फलित ज्योतिषशास्त्र के वेत्ता विद्वान भूत, भविष्य, वृत्तान्तो को जान लेते हैं।

अत' गन्ध आदि के द्वारा पूर्व मे धार लिये गये धारणा नामक सम्कार को प्राप्त कर चुके और उन उन सकेत ग्रहीन वाक्यार्थों की प्रतिपत्ति के हेतु होरहे आत्मा के बुद्धि-स्वरूप गन्ध पदस्फोट, स्पर्श पद स्फोट, आदि होना युक्ति सिद्ध हो जाता है जैसे कि शब्दो का बुद्धि स्वरूप पदस्फोट मान लिया गया था। तथा पहिले पहिले संकेत ग्रहण करते समय गन्ध आदि के विशेष ज्ञानो के सस्कार को धार रहे आत्मा को अन्तिम गन्ध, स्पर्श आदि विशेषो की उपलब्धि पश्चात् गध आदि

विशेषों के समुदाय करके जाने गये अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु होरहे गंध वाक्य स्फोट, स्पर्शवाक्य-स्फोट, होना भी सुघटित है।

अर्थात्-आत्मा "देवदत्त घटमानय" इस शब्द पंक्ति के देवदत्त पद को सुनाता है इस पद का संस्कार जमा लेता है पुन " घट , पद को सुन कर इसकी धारणा कर लेता है, पुनः अन्तिम आनय पद को सुन कर झट वाक्य प्रतिपत्ति कर लेता है यों होते देखकर वाक्यस्फोट को जैसे वैयाकरण मान लेते हैं उसी प्रकार पहिले गन्ध को सूंघ कर उसका संस्कार धार लिया गया पश्चात्-दूसरी गन्ध को सूंघा उसकी भी धारणा को आत्मा मे जमा लिया, यों पहिले पहिले गंध ज्ञानो के संस्कारों का आधान कर रहा आत्मा अन्तिम गन्ध का घ्राणज प्रत्यक्ष कर पूरी गंध धाराओ के समुदाय की प्रतिपत्ति कर लेता है, अत. इस प्रतिपत्ति का कारण गन्ध वाक्य स्फोट भी घटित हो जाता है, इसी ढंग से स्पर्श, रस, रूपों, के पहिले पहिले धार लिये गये संस्कारो वाले आत्मा को अन्तिम स्पर्शादि की उपलब्धि होजाने पर उन उन स्पर्श समुदाय आदि की हुई प्रतिपत्ति के कारण माने जाने योग्य स्पर्श वाक्य स्फोट, रसवाक्यस्फोट, रूपवाक्यस्फोट, भी गढ़े जा सकते है। नाडीगति स्फोट आदि अनेक बुद्धि-स्वरूप स्फोटो को मानने मे वैयाकरणो के यहा कोई क्षति नही पड जायगी " संग्रहःखलु-कर्त्तव्यः परिणामे सुखावहः ,, इस नीति से भी कथञ्चित् लाभ होजाता है।

तथा लोकव्यवहारस्यापि कर्तुं सुशकत्वात् कायप्रज्ञप्तिवत्। हस्तपादकरणमात्रिकांगहारादिस्फोटवद्वा पदादिस्फोट एव घटते न पुनः स्वावयवक्रियाविशेषाभिव्यंग्यो हंस-पक्ष्मादिहस्तस्फोटः स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तिहेतुरिति स्वल्पमतिसंदर्शनमात्रम्।

गंध पद स्फोट, गंधवाक्य स्फोट, आदि को साधने के लिये तिस प्रकार लोक व्यवहार सुलभता से किया जा सकता है। जैसे कि शरीर के द्वारा भूख, प्यास, आदि का प्रज्ञापन करने वाले सूचक चिन्ह कर दिये जाते हैं अर्थात् कोई पथिक उस देश की भाषा का नहो जानता हुआ पानी पीने के लिये अपने होंठ के साथ तिरछी अर्धमग्न जली का चिपटा कर ओक द्वारा संकेत कर देता है इतने से ही विभिन्न देश के मनुष्य को प्यासा जानकर पानी पिला देते है, घोडे का संकेत कर देने पर चढ़ने या बेचने के लिये घोड़ा ला देते है, आख मीच कर या मटका कर भी कई व्यंग कर दियेजाते हैं अथवा हस्तस्फोट, पादस्फोट, करणस्फोट, मात्रिकास्फोट, अंगहारस्फोट नितम्बचालनस्फोट आदि के समान सुलभता से लोक व्यवहार को करते हुये गन्ध स्फोट, स्पर्शस्फोट, आदि मान लेने चाहिये। यदि यहां वैयाकरण यों कहैं कि पदस्फोट, वाक्यस्फोट, आदि ही सुघटित हैं किन्तु फिर नाचते समय नर्तक के अपने अपने हाथ, पैर, अंगुली, आदि अवयवो की क्रिया विशेष से प्रगट होने योग्य हंस, पक्ष्म, आदि हस्तस्फोट तो अपने निर्देश्य या अभिनय करने योग्य अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु नहीं घटित होपाता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार किसी का कहना तो अपनी बुद्धि की अत्य-ल्पता को दिखलाना मात्र है।

भावार्थ-नर्तक या नर्तकी गायन के अनुसार शारीरिक भावो को करते हैं, कोई कोई तो दक्ष नत्यकार मुख से एक अक्षर भी नही बोलता हुआ उस गीत के सभी भावों को नृत्य द्वारा शरीरकी चेष्टाओं से ही समझा देता है । नृत्य कला मे हस, पक्ष्म आदि सांकेतिक क्रियाओं को हस्त स्फोट सिखाया जाता है, कदाचित् हस जैसे अपनी रोमावली को फुरफुरा देता है, उसी प्रकार नर्तक को अपने अवयवो की क्रिया करनी पडती है, ये क्रियाये कभी कभी शब्दो से भी अधिक प्रभाव उत्पन्न करा देती है । यदि कोई यो कहे कि वर्ण तो अनित्य हैं, अतः वे लम्बे, चौडे, अर्थ के प्रतिपादक नही होसकते है इस कारण अर्थों की प्रतिपत्ति कराने का हेतु शब्द-स्फोट मान लिया जाता है, तब तो हम जैन भी कह देगे कि क्रिया भी तो अनित्य है, कोई भी क्रिया बड़ी देर तक होने योग्य अभिनेय अर्थ की प्रतिपत्ति नही करा सकती है, अतः वाक्यस्फोट के समान हस्त स्फोट या गन्ध स्फोट आदि भी वैयाकरण को अभीष्ट कर लेने चाहिये, ऐसा आचार्योंकी ओर से आपादन किया जारहा है ।

एतेन विकुटिनादिः पादस्फोटो हस्तपादसमायोगलक्षणः करणस्फोटः, करणद्वय-रूपमात्रिका स्फोटो, मात्रिका समूहलक्षणोंगहारादिस्फोटश्च न घटत इति वदन्नभिधेयवचनः प्रतिपादितो बोद्धव्य, तस्यापि स्वस्वावयवाभिव्यंग्यस्य स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तिहेतोरशक्यनिरा-करणात् ।

इस उक्त गध स्फोट आदि या हस्तस्फोट के आपादन करके वैयाकरण के ऊपर पादस्फोट आदि का भी आपादन कह दिया गया समझ लेना चाहिये । देखो यदि वैयाकरण यो कहैं कि विकुट्टित यानी शरीर को घुमाना आदि क्रिया स्वरूप पाद स्फोट और हाथ, पावों, का युगपत् व्यापार करते हुए समायोग कर लेना स्वरूप करण स्फोट तथा दोनों करण स्वरूप होरहा मात्रिका स्फोट एवं सहस्रमात्रिकाओ का समूह स्वरूप अंगहार आदिक स्फोट तो घटित नही होपाते हैं, क्योंकि इनमें नियम रूप से ज्ञातव्य अर्थ की प्रतिपादकता नही देखी जाती है । ग्रन्थकार कहते है कि इसप्रकार कह रहा वैयाकरण तो प्रामाणिक वचन कहने वाला नही माना जा सकता है, यो कह दिया गया समझ लेना चाहिये । जब कि नर्तक या नर्तकी जनो के अपने अपने अवयवों द्वारा अभिव्यक्त करने योग्य उन पादस्फोट आदि का अपने अपने कहने योग्य या अभिनय करने योग्य अर्थों की प्रतिपत्ति के कारण होरहे स्वरूप करके निराकरण नही किया जा सकता है ।

अर्थात् गाना, बजाना, नाचना, ये तीन तौर्यत्रिक हैं, नाच द्वारा अभियन जो द्रष्टा के हृदय मे प्रभाव उत्पन्न करता है, वह शब्दो द्वारा साध्य कार्य नही है, तभी तो गीतो या अन्य गद्य, पद्यो की मुद्रित पुस्तकों के निकट होने पर भी रुपयो का व्यय कर रसीले पुरुष नाटकों को देखते हैं, बडी बडी सभाओ मे हुये श्रेष्ठ वक्ताओ के व्याख्यान यद्यपि पुस्तकाकार छप कर वितीर्ण होजाते है । फिर भी श्रोताजन अधिक रुपया व्यय कर वक्ताओं के व्याख्यानों को सुनते हैं, इसका यही रहस्य है,

कि उनकी सूरतें मूरतें, वेगवती चेष्टायें, हाव, भाव, विभ्रम, विलास, आदि सभी क्रियायें तो पत्रों या पुस्तकों मे नहीं मुद्रित होसकती हैं, अत. वैयाकरण विद्वानों को हस्त स्फोट आदि भी स्वीकार कर लेना चाहिये अन्यथा वे शब्द स्फोट से भी हाथ धो बैठेंगे।

न चैवं स्याद्वादसिद्धांतविरोध श्रोत्रमतिपूर्वस्येव घ्राणादिमतिपूर्वस्य श्रुतज्ञानस्येष्टत्वात् तत्परिणतात्मनस्तद्धेतोः स्फोट इति संज्ञाकरणात्

आपादन करने वाले जैनों के प्रति यदि वैयाकरण यों आक्षेप करें कि जैसे जैनों ने आख्यात शब्द वर्णक्रम आदि को कुछ न्यून, अधिक करते हुये जैन सिद्धान्त की प्रक्रिया अनुसार आदेश मान्य कर लिया था और बुद्धिस्वरूप शब्द स्फोट को आत्मा की ग्राहकत्व परिणति मान कर भाववाक्य कहते हुये स्याद्वाद सिद्धि इष्ट कर ली थी उसी प्रकार यदि कुछ जैनत्व का रंग चढा कर गन्ध स्फोट आदि को भी इष्ट कर लिया जायगा ऐसी दशा मे यदि स्याद्वादसिद्धान्त मे विरोध आगया तो तुम जैन फिर कहां शरण लोगे ? दूसरों से भी गये और अपनों मे भी गये।

ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार स्याद्वाद नीति अनुसार गन्ध स्फोट आदि माननेपर हमको सर्वज्ञोक्त स्याद्वाद सिद्धान्त के कोई विरोध नहीं पडता है क्योंकि शब्दों के श्रोत्र इन्द्रिय-जन्य मतिज्ञान को कारण मान कर हुये श्रुतज्ञान के समान हमने नासिका, स्पर्शन, आदि इन्द्रियों से उपजे गन्ध का सूंघना, स्पर्श का छू लेना, आदि मतिज्ञानों को भी पूर्ववर्ती मान कर हुये श्रुतज्ञानों को इष्ट किया गया है, उस ज्ञेय अर्थ की प्रतिपत्ति के हेतु होरहे और सदृशगंधवान् या अभिनेय अर्थों के ग्राहकपन परिणाम से युक्त होरहे आत्मा की गन्ध-स्फोट, हस्तस्फोट ऐसी संज्ञायें कर ली जाती हैं, चाहे शब्द स्फोट हो अथवा गन्ध-स्फोट हो बुद्धिस्वरूप ग्राहकत्व परिणति कोई आत्मतत्त्व मे निराला पदार्थ नहीं है।

गंधादिभिः कस्यचिदर्थस्य सबंधाभावात् तत्र तदुपलंभनिमित्तकप्रत्ययानुपपत्तेर्न तथा परिणतो बुद्ध्यात्मा स्फोटः सभवतीति चेत्, तत एव शब्दस्फोटोपि मास्म भूत् शब्दस्यार्थेन सह योग्यतालक्षणसंबंधसद्भावात् तत्संभवे तत एवेतरस भवः। गंधादीनामर्थेन सह योग्यताख्यसम्बन्धाभावे संकेतसहस्रेपि ततस्तत्प्रतीत्ययोगाच्छब्दतः शब्दवत्।

वैयाकरण अपने ऊपर आये हुये आपादनों का निराकरण यों करते हैं, कि गंध, स्पर्श, हंसपक्ष्म, वित्कुटित आदि के साथ किसी भी अविनाभावी होरहे अर्थ का सम्बन्ध नहीं है। अत. " स्फुटति अर्थः अस्मिन् आत्मनि, इस निरुक्ति अनुसार उस आत्मा मे स्फोट सम्पादक माने गये उन पूर्व पूर्व के गन्ध आदि विशेषों के उपलम्भ को निमित्त पाकर हुयी मानी जा रही उन सदृश गन्ध वा अभिनेय (शरीर क्रियाओं द्वारा दिखाने योग्य प्रमेय) अर्थों की प्रतीति नहीं बन पाती है। अतः तिस प्रकार ग्राहकत्व परिणति से युक्त होरहा बुद्धिस्वरूप आत्मा स्फोट नहीं सम्भवता है। यों कहने पर तो

हम जैन कहेंगे कि तिस ही कारण से अतीत में कहा गया शब्द स्फोट भी मत होओ, भैंस के सन्मुख वीणा बजाने या श्लोक सुनाने के समान बहुत से शब्दो करके भी तो नियत अर्थों की प्रतीति नही होपाती है। पुनः यदि वैयाकरण यो कहै कि शब्द का तो अर्थ के साथ योग्यता-स्वरूप सम्बन्ध विद्यमान है, अतः वह शब्द स्फोट सम्भव जाता है, तब तो हम स्याद्वादी कहेंगे कि तिस कारण यानी गन्ध, हस पक्ष्म आदि का भी अपने अर्थ के साथ योग्यता नामक सम्बन्ध होजाने के कारण दूसरे गन्धस्फोट आदि भी सम्भव जायगे, आक्षेप और समाधान दोनो स्थलो पर समान हैं। गन्ध, रूप आदिको का यदि उनके द्वारा ज्ञेय अर्थों के साथ योग्यता नामक सम्बन्ध नही माना जायगा तो हजार संकेत करने पर भी उन गन्ध आदिको से उन पुष्प, अग्नि, आम्रफल, कामिनी, आदिक अर्थों की प्रतिपति नही होसकेगी। जैसे कि अपरिचित भिन्न भाषाओ के शब्दो से अथवा पशु पक्षियो के शब्दो से संकेत किये बिना शब्दो के उन वाच्यार्थों की प्रतीति नही होपाती है।

प्रतिपत्तुरगृहीतसंकेतस्य शब्दस्य श्रवणात् किमयमाहेति विशिष्टार्थे संदेहेन प्रश्नदर्शनादर्थसामान्यप्रतिपत्तिसिद्धेः शब्दसामान्यस्यार्थसामान्येन योग्यतासंबंधसिद्धिरिति चेत्, तत एव रूपादिसामान्यस्य स्वदृश्यार्थसामान्येन योग्यतासिद्धिरस्तु स्वयमप्रतिपन्नसंकेतस्यांगुल्यादिरूपदर्शने केनचित्कृते किमयमाहेति विशिष्टार्थे संशयेन प्रश्नोपलंभादर्थसामान्यप्रतिपत्तिसिद्धेरविशेषात्।

वैयाकरण कहते है कि शब्द चाहे कैसा भी हाय बुद्धिमान पुरुष को सामान्य रूप से उसका अर्थ स्वल्प भास ही जाता है। जिस शब्द के साथ संकेत ग्रहण नही भी किया गया है, उस शब्द का श्रवण करने से "यह शब्द किस अर्थ को कह रहा है" यो विशिष्ट अर्थ मे संदेह होजाने से प्रश्न उठाना देखा जाता है। अत अर्थापत्त्या सिद्ध होजाता है, कि प्रतिपत्ति करने वाले ज्ञाता को शब्द के सामान्य अर्थ की प्रतिपत्ति हो चुकी है, इस कारण सामान्य रूप से शब्दों की सामान्य रूप से अर्थों के साथ योग्यता नामक सम्बन्ध की सिद्धि होरही समझ ली जाती है। सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः (गौतम न्याय सूत्र) अर्थात् –दूर मे किसी गाम या नगर को देख कर यो विशेषो मे संशय उपजता है कि यह कौनसा नगर है? कानपुर है या प्रयाग है? यो विशेषांशो मे प्रश्न करना देखा जाने से प्रश्न-कर्त्ता पुरुष को सामान्य नगर का ज्ञान होचुका निर्णीत कर लिया जाता है। उसी प्रकार दूर से शब्द को या गायन को अथवा भूख या प्यास, काम-पीडा, अनुसार प्रयुक्त की गई गाय भैंस की रेंक को सुन कर भी विशेषांशो मे संशय होरहा देखा जाता है। अतः अर्थापत्त्या जान लिया गया कि प्रतिपत्ता को उन शब्दो के सामान्य अर्थ की प्रतिपत्ति होचुकी है, किन्तु गंध आदि का ज्ञान कर तो किसी भी सामान्य या विशेष अर्थ की प्रतिपत्ति नही होपाती है, अतः गन्ध स्फोट आदि का मानना अनावश्यक है, वैयाकरणो के यो कहने पर तो हम जैन कहते हैं। कि तिस ही कारण से यानी गन्ध आदि सामान्य को भी स्वकीय ज्ञातव्य अर्थ के साथ सामान्यरूप से

ज्ञापकपन की योग्यता होने से ही रूप आदि सामान्य के अपने द्वारा देखने योग्य सामान्य रूप से अन्य अर्थों के साथ भी योग्यता नामक सम्बन्ध की सिद्धि होरही मान ली जाओ तथा हस्त पाद आदि क्रियाओं की भी अपने अभिनेय अर्थ के साथ सामान्य रूप से प्रतिपादनार्थ योग्यता नामक सम्बन्ध बन रहा भी मान लिया जाय किसी पुरुष ने अंगुली आदि के रूप या अवयव-सचालन का किसी विशेष अर्थ के साथ स्वयं संकेत ग्रहण नहीं किया है, ऐसी दशा मे किसी स्वामी या नतक ने अंगुली आदि के रूप का दिखलाना किया उसको देख कर उस पुरुष द्वारा ' यह चिन्ह किस अर्थ को कह रहा है ?" यो विशिष्ट अर्थ मे संशय करके प्रश्न उठाना देखा जाता है, अतः सिद्ध होजाता है, कि उस पुरुष को अगुली आदि के रूप के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ की सामान्य रूप से प्रतिपत्ति प्रथम से ही थी तभी तो विशेष अंशो मे संशय उठाया गया है। शब्दसामान्य और गन्ध सामान्य या अवयव क्रिया सामान्य मे कोई विशेषता नही है।

अर्थात् तुम्हारे परामर्श अनुसार सभी पदार्थ कुछ न कुछ अर्थों को कह ही रहे है, अलङ्कार की रीति से भूमि भी यह शिक्षा देती है कि मेरे समान सबको सहनशील होना चाहिये चाहे खोदले भले ही कूडा करकट डाल दे, हमे क्षमा है। खम्भ सिखा रहा है, कि अपने ऊपर आये हुये बोझ को सहर्ष झेल लेना चाहिये। काटने वाले को भी गंध दे रहा चन्दन वृक्ष सिखाता है, कि मित्र, शत्रु, किसी के भी साथ राग द्वेष मत करो वात्सल्य भावों को बढाओ। आकाश समझाता है, कि मेरे समान सम्पूर्ण जीव अलिप्त होजावे यही द्रव्यों का स्वाभाविक स्वरूप है। अग्नि से पापो के ध्वंस करने की शिक्षा लो। घडी यन्त्र कह रहा है कि व्यर्थ मे समय को मत खोओ, मेरे समान सदा शुभ कार्य करने मे लगे रहो। इत्यादि प्रकारो से कुत्ता, हंस, हाथी, वेश्या, गधा, कौआ, आदि से भी स्वामिभक्ति स्वल्पनिन्दा, नीरक्षीरविवेक समान न्याय करना, गमन, लोकचातुर्य, संतोष पूर्वक लोलुपताके बिना उदर भर लेना, चेष्टा, आदि कृत्य सीखे जा सकते है, ऐसी अवस्था मे शब्दस्फोट के समान तुम गंध स्फोट आदि का प्रत्याख्यान नहीं कर सकते हो।

तदेवं शब्दस्यवार्थे गन्धादीनां प्रतिपत्तिं कुर्वतामाक्षेपसमाधानानां समानत्वादंतः प्रकाशरूपे बुद्ध्यात्मनि स्फोटे शब्दादन्यस्मिन्नुपगम्यमाने गन्धादिभ्य. परं स्फोटार्थप्रतिपत्ति-हेतुर्घ्राणादीन्द्रियमतिपूर्वश्रु तज्ञानरूपोऽभ्युपगन्तव्योऽन्यथा शब्दस्फोटाव्यवस्थितिप्रसंगात् स च। नैकस्वभावो नानास्वभावतया सदावभासनात्।

तिस कारण इस प्रकार शब्द के द्वारा जैसे वाच्यार्थ मे प्रतिपत्ति करली जाती है अत: बुद्धि स्वरूप शब्द स्फोट मान लिया जाता है उसी प्रकार गंध, हाथ, पाव, अंगुली आदि से भी अपने अपने ज्ञेय अर्थों की प्रतिपत्ति होजाने को करने वाले विद्वानो के यहा आक्षेप और समाधान करना समान रूप से लागू होता है, अतः गन्ध स्फोट, अंगहारस्फोट, भूमि स्फोट, आदि भी मान लिये जाओ, अन्त-रंग में प्रकाश स्वरूप होरहे बुद्धि आत्मक स्फोट को वैयाकरणो के यहाँ यदि शब्द से निराला स्वीकार

किया जायगा। ऐसा होने पर तो गंध आदि द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति का कारण होरहा गंध आदि से भिन्न वह स्फोट भी स्वीकार कर लेना चाहिये जो कि जैन सिद्धान्त अनुसार नासिका, चक्षु, आदि इन्द्रियों से जन्य मतिज्ञान को पूर्ववर्ती मान कर हुये श्रुतज्ञान स्वरूप है। अन्यथा यानी आक्षेपों या समाधान के समान होने पर भी यदि पक्षपात-वश केवल शब्दस्फोट को ही मान कर गंध स्फोट आदि को नहीं स्वीकार किया जायगा तो तुम्हारे शब्द स्फोट की व्यवस्था नहीं बन सकने का प्रसंग आजावेगा जो कि तुम वैयाकरणों को इष्ट नहीं है। यदि सभी स्फोटों को मानते हुये वैयाकरण इष्टापत्ति कर ले तो इतना ध्यान रहे कि वे शब्दस्फोट, गन्धस्फोट, स्पर्शस्फोट, रस स्फोट रूप स्फोट, अथवा हस्त आदि स्फोट भी एक ही स्वभाव को नहीं धार रहे हैं किन्तु अनेक स्वभावों से समवेत होरहे उन श्रुतज्ञान स्वरूप स्फोटों का सदा प्रतिभास होरहा है।

बात यह है कि वैयाकरणों के यहां माने गये नित्य, निरंश, शब्दस्फोट के साथ हमें कोई इष्टापत्ति नहीं है क्योंकि ऐसे स्फोट में कोई युक्ति नहीं है, तथा स्याद्वाद प्रक्रिया अनुसार शब्दस्फोट, गन्धस्फोट, आदि को श्रुतज्ञान स्वरूप मान लेने पर हमें कोई द्वेष भी नहीं है। सयुक्त विषय में द्वेष काहे का ? श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई अन्त:प्रकाश स्वरूप जिस लब्धि से शब्द द्वारा अथवा गन्ध, अवयव क्रिया आदि द्वारा अन्य सम्बन्धी अर्थोंकी स्फुटरूप से प्रतिपत्ति कर ली जाती है उस लब्धि को स्फोट कह देने में जैन सिद्धान्त का कोई अतिक्रमण नहीं होजाता है असम्भवद्बाधकत्व, और युक्तियों से भरपूर होरहा सिद्धान्त ही जिनोक्त निर्णय है।

एतेनानुसंहृतिर्वाक्यमित्यपि चिंतितं, पदानामनुसंहृतेर्बुद्धिरूपतया प्रतीतेरनुसंधीयमानानामेकपदाकारायाः सर्वथैकस्वभावत्वाप्रतीतेः।

इस आख्यात शब्द, आद्यपद, अन्त्यपद, वर्णक्रम, वर्णसंघात, संघातवर्तिनी जाति, बुद्धि-आत्मक स्फोट, इनके उक्त निरूपण करके अनुसंहृति को वाक्य मानने वाले के मन्तव्य का भी चिन्तन कर दिया गया समझ लेना चाहिये अथवा बुद्धि का वाक्यपन का निराकरण करने वाले इस प्रकरण करके अनुसंहृति के वाक्यपन का प्रत्याख्यान कर दिया गया भी यों विचार लो कि वर्णों का या पदों का अनुसंहार यानी परामर्श करना तो बुद्धि-स्वरूप हो करके प्रतीत होरहा है। पदों को सुनकर संकेतगृहीता पुरुषके चित्त में स्फुरायमान होरहे परामर्श को जैन सिद्धान्त में भाव वाक्य अभीष्ट किया गया है अनुसंधान यानी अन्वित रूपसे विचार करने योग्य पदों या वर्णों की एक पद या एक आकार वाली प्रतीति होरही है जो कि एक अनेक-आत्मक है, सर्वथा एक स्वभाव वाली ही अनुसंहृति की प्रतीति नहीं होपाती है।

अत्रापरे प्राहुः न पदेभ्योऽर्थान्तरमेकस्वभावमेकानेकस्वभावं वा वाक्यमाख्यातशब्द-

रूपं पदान्तरापेक्षं, नापि पदसंघातवर्तिजातिरूपं वा, न चैकानवयवशब्दरूपं क्रमरूपं वा नापि बुद्धिरूपमनुसंहृतिरूपं वा, न चाद्यपदरूपमन्त्यपदरूपं वा, पदमात्रं वा पदांतरापेक्षं यथा व्यावर्ण्यतेऽन्यैः 'आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी । एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्धयनुसंहृती ।। पदमाद्यपदं चांत्यं पदसापेक्षमित्यपि । वाक्यं प्रतिमतिभिन्ना बहुधा न्यायवेदिना।।" मिति ।। किं तर्हि ? पदान्येव पदार्थप्रतिपादनपूर्वकं वाक्यार्थावबोधं विदधानानि वाक्यव्यपदेशं प्रतिपद्यन्ते तथा प्रतीतेरिति ।

यहा कोई दूसरे अभिहितान्वयवादी प्राचीन नैयायिक और भाट्ट मीमासक तथा अन्विताभिधानवादी प्राभाकर मीमासक पण्डित यो बढ कर कह रहे है कि पदो से भिन्न होरहा एक स्वभाव वाला अथवा अनेक स्वभाव वाला आख्यात शब्द-स्वरूप वाक्य नही है जो कि जैनो ने पदान्तरो की अपेक्षा रखता हुआ और अन्य आख्यात शब्द-स्वरूप वाक्य की नही अपेक्षा रखता हुआ वर्ण समुदाय वाक्य मनवा दिया है । तथा वर्णों या पदो का सघात अथवा सघातवर्त्तिनी जाति-स्वरूप भी वाक्य नही है जैसा कि जैनो ने कथचित् भेदाभेदात्मक होरहे एकानेक स्वभाव वाले सघात अथवा सघातो मे वर्त रही सदृश परिणाम लक्षण जाति को वाक्य ठहरा दिया था । तथा एक निरवयव शब्दस्वरूप अथवा वर्णों का क्रम-स्वरूप भी वाक्य को हम मीमासक नही मानते है जो कि जैनो ने अनवस्था का भय दिखाते हुये अपने ऊपर आये हुये उपालम्भो को दूसरे के सिर टाल कर जात्यन्तर एकानेकाकार शब्द को वाक्य सधवा दिया था, वर्ण क्रम मे भी व्युत्क्रम का डर दिखाकर कालकृत साश वर्णक्रम को वाक्य सिद्ध कर दिया था । एव बुद्धि-स्वरूप अथवा अनुसहृति स्वरूप भी वाक्य नही बन पाता है जैसा कि जैनो ने अपने भाव-वाक्यो मे वैयाकरणो का घसीट कर स्वानुकूल बना लिया था ।

अन्य पदो की अपेक्षा रखने वाला आद्य पद और इतर पदोकी अपेक्षासहित होरहा अन्तिम पद ये भी वाक्य नही हो सकते है या अन्य आगे पीछे के पदोकी अपेक्षा रखरहा कोई भी मात्र मध्य वर्त्ती पद वाक्य नही हो सकता है जो कि एकानेकस्वभाव वाला नियत कर जैनो ने भी वाक्य मान लिया था । सच पूछो तो ये कोई वाक्य नही है,यह केवल सब फटाटोप है जिस प्रकार कि अन्य विद्वानोने अपने सिद्धान्त मे यो वाक्य का लक्षण बखाना है कि " भवति, पचति " ऐसा आख्यात शब्द वाक्य है, वर्णों का सघात वाक्य है, सघातो मे वर्त रही जाति वाक्य है, निरश एक शब्द वाक्य है, वर्णों का क्रम वाक्य है, बुद्धि वाक्य है, अनुसहृति को वाक्य कहा जा सकता है, आद्य पद और पदो की अपेक्षा रखने वाला अन्तिम पद ये भी वाक्य होसकते हैं यो न्याय को जानने वाले विद्वानो के यहा वाक्य के प्रति बहुत प्रकार भिन्न भिन्न मतिया होरही है । मीमासक ही कहे जा रहे हैं ये कोई भी वाक्य नही सम्भवते हैं तो वाक्य क्या है ? इसका उत्तर यह है कि पद ही पूर्व मे अपने पदार्थों का प्रतिपादन करते हुये वाक्यार्थ के ज्ञान को कर रहेसन्ते वाक्य इस नाम को प्राप्त कर लेते हैं लोक और शास्त्र मे तिसी प्रकार प्रतीति होरही है यहां तक मीमासक कह चुके हैं । मीमासकों का अनुभव

है कि वाक्य अर्थकी प्रतिपत्ति करते समय उन पदो की भावना (धारणा नामक सस्कार) को रखने वाले पुरुष के उस प्रतिपत्ति करने मे मूल कारण तो पदो के अर्थ माने गये है, अत. पदार्थ-प्रतिपत्ति पूर्वक वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होजाना इष्ट कर लिया गया है ।

तेषामपि यदि पदांतरार्थैरन्वितानामेवार्थानां पदैरभिधानात् पदार्थप्रतिपत्तेर्वाक्यार्थावबोधः स्यात्तदा देवदत्तपदाद्देवदत्तार्थस्य गामभ्याजेत्यादिपदवाक्यार्थैरन्वितस्याभिधानात् तदुच्चारणवैयर्थ्यमेव वाक्यार्थावबोधसिद्धेः ।

वाक्य को कहकर वाक्यार्थ की भी परिभाषा कर रहे मीमासको के प्रति अब आचार्य महाराज कहते हैं कि उन मीमासको के यहा भी "देवदत्त गामभ्याज शुक्ला दण्डेन " इस वाक्य मे यदि अन्य पदो के अर्थ के साथ अन्वय प्राप्त होरहे ही अर्थो का पदो करके कथन कर देने से पदार्थ प्रतिपत्ति से ही वाक्यार्थ ज्ञान हुआ माना जायेगा अर्थात्-देवदत्त पद को देवदत्त अर्थ तो गा, अभ्याज आदि पदो के गाय, घेर लाना, आदि अर्थो के साथ अन्वित होरहा है और गा आदि पदो के अर्थ तो पहिले पिछले पदो के अर्थो के साथ अन्वित होरहे है, ऐसा प्राभाकरो का अन्विताभिधानवाद का पक्ष है अशेष पूर्व पदो के अभिधेय अर्थों करके अन्वित होरहे अन्तिम पदार्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ ज्ञान होजाता है । तब तो अकेले देवदत्त पदमे ही "गामभ्याज शुक्ला" इत्यादि पद पूवक हुये वाक्यार्थ से अन्वित होरहे देवदत्त इस अर्थ का कथन होजायगा, अतः उन गा आदि शेष पदो का उच्चारण करना व्यर्थ ही पडेगा जब कि एक ही पद से पूरे वाक्य के अर्थ का चारो ओर से ज्ञान होजाना सिद्ध है "अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' अर्थात्-कर्ता,कर्म,क्रिया ये सब पद जब अन्वित ही होरहे है तो एक पद के उच्चारण से ही पूरे वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होजानी चाहिये, शेष पद व्यर्थ पडजायगे एक किसी अवयवमे कम्पादिया गया बास सभी पंगोलियो मे कम्प जाता है । एक बात यह भी है कि यो वाक्यो का अखण्ड अन्वय मानने पर प्रथम पद को ही जैसे पूरा वाक्यपना आजाता है उसी प्रकार जितने पद हैं उतने वाक्य बन बैठेगे अथवा जितने पदो के अर्थ हैं उतने वाक्यो के अर्थ हो जायेंगे, अतः मीमासको को कथचित् भेदाभेद या एकानेक स्वभाव की शरण लेना अनिवार्य होजाता है । अन्य पदोके अर्थों से अन्वित होरहे ही अर्थोंका पदो करके कथन मानने वाले अन्विताभिधान-वादी प्रभाकर गुरु की मीमांसा ठीक नही है ।

स्वयमविवक्षितपदार्थव्यवच्छेदार्थत्वान्न गामित्यादिपदोच्चारणवैयर्थ्यमिति चेत्, किमेवं स्फोटवादिनः प्रथमपदेनानवयवस्य वाक्यस्फोटस्याभिव्यक्तावपि व्यक्त्यंतराहितव्यंजकपदव्यवच्छेदार्थस्य पदांतरोच्चारणमनर्थकमुच्यते ? यतस्तदेव पदैरभिव्यक्तं ततोऽन्यदेवार्थप्रतिपत्तिनिमित्तं न भवेत् । तथा सत्यवृत्त्या सत्या वाक्याभिव्यक्तिप्रसगः पदांतरैस्तस्याः पुनः प्रकाशनादितिचेत्, तवाप्यावृत्त्या वाक्यार्थावबोधः. स्यात् । प्रथमपदेनाभिहितस्यार्थस्य द्वितीयादिपदार्थाभिधेयैरन्वितस्य द्वितीयादिपदैः पुनः पुनः प्रतिपादनात् ।

यदि प्रभाकर मीमांसक यों कहे कि "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" यहां देवदत्त पद को गां, अभ्याज, इन पदों की आकांक्षा होरही है, अतः गां, अभ्याज, ये तो विवक्षित पद हैं और पढो जाओ, सो ओ, पीओ, आदि क्रियापद या घडे को, पुस्तक को, आदि कर्म पद अविवक्षित पद हैं अतः स्वयं को विवक्षित नहीं होरहे ऐसे निठल्ले पदार्थों का व्यवच्छेद करना प्रयोजन होने से गा, अभ्याज, आदि पदोके उच्चारणको व्यर्थपना नहीं है। यो कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तुम प्राभाकर मीमासको ने इस प्रकार स्फोट वादी वैयाकरण के ऊपर अन्य पदो के उच्चारण करने का व्यर्थपना दोष क्यों कहा था ? जो कि पहिले पद करके ही निरश वाक्यस्फोट की अभिव्यक्ति होजाने पर भी अन्य शब्द व्यक्तियो से धारे गये व्यंजक पद का व्यवच्छेद करने के लिये अन्य पदो का उच्चारण वैयाकरणोने सफल माना था अर्थात्-वैयाकरणोके प्रति जैसा तुमने वैयर्थ्य दिया था उसी प्रकार अन्य पदो के उच्चारण का व्यर्थपना तुम मीमासको के ऊपर भी लागू होता है जिससे कि वहा पद अन्य पदो करके अभिव्यक्त होरहा सन्ता और उन पदो से भिन्न होरहा ही पद अकेला अर्थ की प्रतिपत्ति कराने का निमित्त कारण नही होसके।

मीमासक गुरु यदि वैयाकरणो पर यो आक्षेप करे कि तिस प्रकार होतेसन्ते तो होरही पदो की प्रावृत्ति करके वाक्य की अभिव्यक्ति होजाने का प्रसग आजावेगा क्यो कि वाक्य की उसी अभिव्यक्ति को अन्य पदो ने फिर प्रकाशित कर दिया है अर्थात्-देवदत्त गामभ्याज शुक्ला दण्डेन यहा देवदत्त ने ही जिस अन्वित होरहे वाक्य को प्रकट कर दिया था उसी को "गा" पदने भी दोहराया पुनः "अभ्याज" आदि पद ने भी तिहराया यो पाच बार उसी प्रकार के वाक्य प्रकट होते जायंगे यो कहने पर ग्रन्थकार वैयाकरण की ओर से आक्षेप का निवारण कर देते है कि इस प्रकार जो तुम प्राभाकर मीमासको के यहा भी कई बार आवृति करके वाक्यार्थ का ज्ञान होता रहेगा, कारण कि लम्बे वाक्य मे पडे हुये पहिले पद करके कहे जा चुके उस द्वितीय तृतीय आदि पदो के अभिधान करने योग्य अर्थों से अन्वित होरहे वाक्यार्थ का पुन पुनः द्वितीय, तृतीय, आदि पदो करके कथन किया जारहा है, यही आवृत्ति है।

अथ द्वितीयपदेन स्वार्थस्य प्रधानभावेन पूर्वोत्तरपदाभिधेयार्थैरन्वितस्याभिधानात् प्रथमपदाभिधेयस्य तथानभिधानात् नावृत्त्या तस्यैव प्रतिपत्तिरिति मतं, तर्हि यावंति पदानि तावतस्तदर्थाः पदांतराभिधेयार्थान्विताः प्राधान्येन प्रतिपत्तव्या इति तावन्त्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तयः कथं न स्युः ?

अब यदि प्राभाकर मीमांसक यों कहे कि द्वितीय पद करके स्वकीय अर्थ का प्रधान रूप से कथन किया जाता है यह स्वार्थ अपने से पहिले और पिछले पदों के द्वारा कहे जाने योग्य अर्थों करके अन्वित होरहा है, द्वितीय पद करके प्रथम पद के अभिधेय अर्थ का तिस प्रकार प्रधान रूप से कथन नहीं हो पाता है, अतः पुनः पुनः आवृत्ति करके उस ही वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी।

मीमांसकों का यो मत हो, तब तो हम जैन कह देंगे कि जितने भी पद है उतने ही प्रधान रूपसे उनके वाक्यार्थ समझ लेने चाहिये जो कि अन्य पदों द्वारा कथन करने योग्य अर्थों से अन्वित होरहे हैं उसी प्रकार पदों की संख्या अनुसार वाक्यार्थों की प्रतिपत्तिया भी उतनी ही संख्या में क्यों नही हो जावे गी ? ।

अर्थात्–गौण रूप से गा, अभ्याज आदि पदों के अर्थों करके अन्वित होरहे देवदत्त अर्थ को प्रधान रूप से देवदत्त यह कह देवेगा और देवदत्त, अभ्याज, आदि पद के अर्थों से अन्वित होरहे गाय अर्थ को प्रधान रूप से गा पद कह देगा अथवा अभ्याज पद भी स्वकीय अर्थ को प्रधान रूप से कह रहा सन्ता गौण रूप से देवदत्त गा, आदि पदों के अर्थों से अन्वित होरहे वाक्यार्थ को अभिव्यक्त कर देवेगा, शुक्ला पद या दण्डेन पद में भी यही प्रक्रिया दर्शा दी जावेगी । एक लखपति सेठ के चारो बेटे, तीनो बेटिया, छैऊ नाती, अपने अपने को लक्षाधिपति मान बैठते हैं । सच पूछो तो यह उनका अभिमान करना एक प्रकार से कदाग्रह है । हाँ इतना बड़ा तो यह असत्य भी नही है जैसा कि कोई दम्भ करने वाला बनिया भोले ऋणी से कई वार रुपया प्राप्त करने की कुचेष्टा करता है । बात यह है कि सन्मुख रक्खा हुआ एक घडा चाहे एक आख को मीच कर दूसरी अकेली आख से देखा जाय अथवा दोनो भी आखो से देखा जाय, एक ही घडा दीखेगा दो नही । इसी प्रकार साकाक्ष अनेक पदों का एक ही वाक्यार्थ और वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति भी एक ही होनी चाहिये ।

न ह्यंत्यपदोच्चारणात्तदर्थस्याशेषपूर्वपदाभिधेयैरन्वितस्य प्रतिपत्तिर्वाक्यार्थावबोधो भवति, न पुनः प्रथमपदोच्चारणात्तदर्थस्योत्तरपदाभिधेयैरन्वितस्य प्रतिपत्तिर्द्वितीयादिपदोच्चारणाच्च शेषपदाभिधेयैरन्वितस्य तदर्थस्य प्रतिपत्तिरित्यत्र किंचित्कारणमुपलभामहे । एतेनावृत्त्या पदार्थप्रतिपत्तिप्रसंग उक्तः द्वितीयादिपदेन स्वार्थस्य च पूर्वोत्तरपदार्थानामपि प्रतिपादनादन्यथा तैस्तस्यान्वितत्वायोगात् ।

आचार्य महाराज वैयाकरणो की ओर से दिये गये प्रभाकर मीमासक के ऊपर आक्षेप का ही समर्थन कररहे हैं कि अन्तिम पद के उच्चारण से तो शेष सम्पूर्ण पूर्वपदो के अभिधेय अर्थों करके अन्वित होरहे अन्तिम पदार्थ की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ का ज्ञान होजावे किन्तु फिर प्रथम पद के उच्चारण करके उसके उत्तर-वर्ती अशेष पदों के अभिधेय होरहे अर्थों से अन्वित होरहे उस प्रथम पदार्थ की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नही होय । तथा द्वितीय पद, तृतीय पद, आदि के उच्चारण से उनसे शेष सम्पूर्ण पदो के अभिधेय अर्थों करके अन्वित होरहे उस प्रथमपदार्थ की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नही होय । तथा द्वितीय पद तृतीय पद आदि के उच्चारण से उनसे शेष सम्पूर्ण पदों के अभिधेय अर्थों करके अन्वित होरहे उस द्वितीय, तृतीय, आदि पद के अर्थ की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ ज्ञान नही होय, इस अयुक्त पक्षपात पूर्वक आग्रह करने मे किसी भी कारण को हम नहीं देख रहे हैं ।

अर्थात्–अन्तिम पद से जैसे अन्य शेष पदार्थों से अन्वित होरहे वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति कर ली जाती है उसी प्रकार अन्य आदिम या मध्य पदो द्वारा भी उतनी वाक्यार्थ प्रतिपत्तिया बन बैठेंगी मनुष्यता या स्वाभिमान की अपेक्षा पण्डित और उसके स्वामी मे कोई अन्तर नही है यदि अविचारी प्रभु कदाचित् विद्वान् पर अकारण क्रोध करे या अत्यल्प अपराध के वश होकर अधिक कोप करे तो मनस्वी विद्वान् भी अपने प्रभु पर अरुचि या भर्त्सना कर सकता है, पचायत के भी सदाचारी मनुष्यो मे कोई अन्तर नही मानना चाहिये । प्रकरण मे जब आगे पीछे के सभी वाक्य एक मे है, तो कोई हेतु नही है, कि अन्तिम पदसे ही वाक्यार्थ ज्ञान होसके, अन्य पदो से नही । कोई भोक्ता आदि अवस्था में उत्तम मिष्टान्न को खाते हैं, अन्य जीमने वाले मध्य मे बढिया मिठाई का परत लगाते है तीसरा जाति के लोलुपी सेत मत मे खा लेने का लक्ष्य रख कर मिष्टान्न का सत्रमे पीछे भोग लगाते है, इसी प्रकार कोई पुरुष गीत या श्लोक के पहिले पद्य को ही सुन कर पूरे गीत के अर्थ को समझ लेते है । अन्य जन गीत के मध्यम अंश को सुन कर पूरे प्रमेय की प्रतिपत्ति कर लेते है, तीसरे प्रकार के मनुष्य अन्तिम पद को लक्ष्य कर बाजा बजाना लय, तान, स्वरावरोह, स्वरउतारना, आदि ज्ञातव्य अर्थों को जान लेते हैं ।

इस उक्त निर्णय करके प्राभाकर मीमासको के ऊपर वैयाकरण द्वारा पुन. पुन आवृत्ति करके कई बार पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाने का प्रसग भी कह दिया गया समझ लेना चाहिये कई पदो के साथ एक एक वाक्य का जो सम्बन्ध है, वैसे ही अनेक वर्णों के साथ एक पद का भी सम्बन्ध है । अतः वाक्यार्थ के ऊपर जो आक्षेप है, वही कई बार पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाने का आपादन किया जाना पद के लिये भी लागू होजाता है, कारण कि एक वाक्य मे पड़े हुये दूसरे, तीसरे आदि पदो करके अपने निज अर्थ का तो प्रतिपादन किया ही जाता है, साथ मे पहिले और उत्तर-वर्त्ती पिछले पदो के अर्थों का भी प्रतिपादन होरहा है। अन्यथा यानी दूसरे आदि पदो करके पहिले, पिछले, पदार्थों की प्रतिपत्ति करा देना यदि नही माना जायगा तो उन पहिले पिछले, पदार्थों करके उस दूसरे या तीसरे पदार्थका एकान्वय होजाना नही बन सकेगा जैसा कि आप प्रभाकर मीमासको ने कहा था, अत. कई बार पदार्थोंकी प्रतिपत्ति होजाने का प्रसग डट गया । फिर अपने ऊपर भी आये हुये दोष को भोले वैयाकरणो पर ही क्यो लगाया जाता है ? यानी अपने और दूसरो के ऊपर भी आये हुये दोष तो गुण स्वरूप होजाते हैं, यदि मुख के ऊपर ऊची उठी हुई नाक सब मनुष्यो के उभर रही है, तो नाक का ऊंचा उठा रहना गुण ही समझा जायेगा, तभी तो लोक मे नाक उठी रहने को बड़ाई या प्रतिष्ठा का बीज समझा गया है ।

गम्यमानैस्तैस्तस्यान्वितत्वं न पुनरभिधीयमानैरिति चेत्, स किमिदानीमभिधीयमान एव पदस्यार्थो न गम्यमानः ? तथोपगमे कथमन्विताभिधानं ? विवक्षितपदस्य पदांतराभिधेयानां गम्यमानानामविषयत्वात् तैरन्वितस्य स्वार्थस्य प्रतिपादने सामर्थ्याभावात् ।

अब यदि गुरु मीमांसक यों कहे कि अभिधा-वृत्ति से नही कहे जा रहे किन्तु अर्थापत्त्या सम्बन्ध मिला कर यों ही जान लिये गये उन पहिले पिछले पदार्थों करके उस उच्चारित दूसरे, तीसरे, आदि पद के अभिधा वृत्ति से किये गये अर्थका अन्वय होजाना हम मानते है, किन्तु फिर कहे जा रहे पहिले, पिछले, पदो के शक्यार्थों के साथ द्वितीय पद का अन्वय नही है, क्योंकि द्वितीय पद का उच्चारण करते समय पहिले पिछले पद नही बोले जा रहे हैं, तिस कारण कई बार पदो के अभिधावृत्ति द्वारा किये जा रहे अर्थों की प्रतिपत्ति का प्रसग यह दोष हम प्राभाकर मीमासको के ऊपर नही लगता है, यो कहने पर तो आचार्य कहते है, कि क्यो जी ! क्या शब्दो से इसी अवसर पर कहा जा रहा वह अर्थ ही क्या पद का अर्थ समझा जायेगा ? शक्यार्थ सम्बन्ध रूप लक्षणावृत्ति से या साहित्य वालो के यहा मानी गयी व्यजना वृत्ति मे अथवा अन्य ज्ञापक चिन्हो करके अव्यभिचरित समझा दिया गया गम्यमान भला पद का अर्थ नही माना जायगा ? बताओ।

यदि उक्त प्रसग को टालने के लिये मीमासक तिस प्रकार पोच सिद्धान्त को स्वीकार कर लेंगे तब तो पहिले पिछले होरहे अन्य पदो के अर्थों के साथ अन्वित होरहे स्वकीय अर्थ का उच्चार्यमाण पद करके कथन किया जाता है, यह प्रभाकरो का सिद्धान्त कैसे रक्षित रह सकेगा ? क्योकि अब तुम्हारे विचार अनुसार वर्तमान काल मे बोला जा रहा विवक्षित दूसरा पद बेचारा अन्य पहिले तीसरे आदि पदो के अभिधेय होरहे किन्तु इस समय अर्थापत्त्या जाने जा रहे स्वकीय अनभिधेय अर्थों को कथमपि विषय नही करता है। अत द्वितीय पद के अर्थ की उन पहिले पिछले पदार्थों के साथ अभिधेय होकर अन्वय प्राप्ति ही नही है अभिधेय पदार्थ को अनभिधेय अर्थों के साथ स्वकीय अर्थ का प्रतिपादन करने मे सामर्थ्य नही मानी गयी है, शक्ति से बाहर कोई पदार्थ किसी छोटे से छोटे कार्य को भी नही कर सकता है। अब बताओ अन्वित का अभिधान कहा रहा ?।

यदि पुनः पदानां द्वौ व्यापारौ स्वार्थाभिधाने व्यापारः पदार्थान्तरे गमकत्वव्यापारश्च तदा कथं न पदार्थप्रतिपत्तिरावृत्त्या प्रसज्यते ? पदव्यापारात् प्रतीयमानस्य गम्यमानस्यापि पदार्थत्वादभिधीयमानार्थवत् । न च पदव्यापारात् प्रतीयमानोर्थो गम्यमानो युक्तः कश्चिदेवाविशेषात् ।

यदि प्राभाकर मीमासको का फिर यह मन्तव्य होय कि पदो के दो व्यापार हुआ करते हैं एक स्वकीय अर्थों को कहने मे अभिधान व्यापार है और दूसरा अन्य अगले, पिछले, पदो के अर्थों मे गमक होजाने का व्यापार है तब तो हम जैन कहते है कि इस प्रकार वाचकत्व और गमकत्व दो व्यापारों के होते सन्ते वही दोष यानी आवृत्ति से पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाने का प्रसग भला क्यों नही लग बैठेगा ? क्योकि अन्य पदो का अभिधेय और इस पद के व्यापार से प्रतीयमान हो रहा सन्ता गम्यमान भी तो इसी पद का अर्थ है जैसे कि उच्चार्यमाण पद का अभिधावृत्ति द्वारा कहा गया अर्थ इस विवक्षित पद का अर्थ माना जाता है जब कि पद के व्यापार से दोनो अर्थ समान रूप

से प्रतीत किये जा रहे है तो किसी ही अर्थ को अभिधावृत्ति द्वारा कहा जा रहा मानना और दूसरों को यों ही गम्यमान मान बैठना यह विना कारण विभाग कर देना उचित नही है क्योकि दोनों अर्थों मे कोई अन्तर नही दीखता है। जो जिस पद से अर्थ प्रतीत होता है वह निर्विशेष होकर उसका अर्थ मान लिया जाय, ऐसी दशा मे मीमासको के ऊपर वही कई बार पदार्थो की प्रतिपत्ति होजाने का दोष तदवस्थ रहा।

स्यान्मतं, पदप्रयोगः प्रेक्षावता पदार्थप्रतिपत्त्यर्थो वाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थो वा क्रियेत् ? न तावत्पदार्थप्रतिपत्त्यर्थस्तस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभावात्। कः पिकः ? कोकिल इत्यादि केवलपद-प्रयोगस्यापि वाक्यार्थप्रतीतिनिमित्तत्वात् कः पिक उच्यते ? कोकिल उच्यते इति प्रतीतेः। यदि तु वाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थः पदप्रयोगस्तदा पदप्रयोगानन्तरं पदार्थं प्रतिपत्तिः साक्षाद्भवतीति तत्र पदस्याभिधानव्यापारः पदांतरार्थस्यापि प्रतिपत्तये तस्य प्रयोगात् तत्र गमकत्वव्यापार इति।

यदि कोई प्रभाकर अनुयायी मीमासक वादी अपने मन्तव्य को स्थिर रखने के लिये यो विचार चलावे कि हिताहित विचार का रखने वाले प्रयोक्ता पुरुष करके किया गया पदो का प्रयोग क्या केवल पदो के अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये किया जाता है ? अथवा क्या पदो का प्रयोग भला वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये किया गया है ? बताओ प्रथम पक्ष अनुसार पदार्थ की प्रतिपत्ति के लिये तो पद का प्रयोग करना सार्थक नही है क्योकि प्रयोजनार्थी पुरुष के प्रति केवल देवदत्त पद या अकेले अग्न्याज पद का अर्थ ज्ञात हो जाना प्रवृत्ति का हेतु नही होपाता है, केवल गो पदको सुनकर उसके अर्थका जानने वाले पुरुषका कहीं भी प्रवृत्ति या निवृत्ति होना नहीं देखा जाता है पिक क्या है ? कोकिल है, "पचति, पाक करोति" इत्यादि स्थलोपर केवल पदका प्रयोग किया गया है वह भी वाक्यार्थ को प्रतिपत्ति कराने का निमित्त है तभी भले ही कुछ प्रवृत्ति करलो जब कि पिक क्या है ? यों प्रश्न कहा जाता है तो पिक का अर्थ कोयल कह दिया जाय, इस प्रकार प्रतीति हो रही दीखती है।

भावार्थ—"वनप्रियः परभृत. कोकिलः पिक इत्यपि" इस अमरकोष की कारिका को सुनने पर अथवा कोकिल. पिक-पदवाच्यः या, इह सहकारतरौ मधुर पिको रौति इत्यादि स्थलो पर कोष, आप्तवाक्य, प्रसिद्ध पद सन्निधान, इनसे पिक पदका कोयल अर्थमे शक्ति ग्रह होजाता है जो कि 'शक्ति ग्रह व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च, वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपद-स्य वृद्धाः।' ऐसा ग्रन्थो मे कहा गया है अतः अकेले पद की अवस्था मे भी उपस्कारो द्वारा वाक्यार्थ बना लिया जाता है, केवल पद तो किसी काम का नही है। अब द्वितीय पक्ष अनुसार पद का प्रयोग करना यदि वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये माना जाय तब पद के प्रयोग के अनन्तर ही पद के अर्थ मे तो साक्षात् यानी अव्यवहित रूप से प्रतिपत्ति होजाती है इस कारण पदके उस अर्थ मे तो पद का अभिधान व्यापार है और दूसरे जानने योग्य पदार्थान्तर को भी प्रतिपत्ति कराने के लिये

उसका प्रयोग किया गया है अतः उस पदान्तर के अर्थ मे गमकपन का व्यापार है यो अनेक पदों से अन्वित होरहा हो शब्दार्थ हुआ अर्थात्-हमारे मत अनुसार जो प्रत्येक के दो व्यापार माने गये हैं वही बात सिद्ध होगई । पद अपने निज अर्थ को अभिधावृत्ति से कहता है और दूसरे पदो के गम्यमान अर्थ को अर्थापत्त्या समझाता रहता है यहा तक प्राभाकर मीमासक अपने मत को कहकर समाप्त कर चुके हैं ।

तदप्यसत्, पादप इति पदस्य प्रयोगे शाखादिमदर्थस्यैव प्रतिपत्तिस्तदर्थाच्च प्रतिपन्नात्तिष्ठन्त्यादिपदवाच्यस्य स्थानाद्यर्थस्य सामर्थ्यतः प्रतीतेस्तत्र पदस्य साक्षाद्व्यापाराभावाद्गमकत्वायोगात् तदर्थस्यैव तद्गमकत्वात् । परंपरया तस्य तत्र व्यापारे लिंगवचनस्य लिंगिप्रतिपत्तौ व्यापारोस्तु । तथा सति शब्दमेवानुमानज्ञानं भवेत् ।

अब आचार्य कहते है, कि वह मीमासको का मन्तव्य भी प्रशसनीय नही है क्योकि "पादाभ्या पिबतीति पादप.' पादप इस पद का प्रयोग करने पर शाखा, डाली, पत्ता आदि के धारी अर्थ की ही प्रतिपत्ति होजाती है, पुनः जान लिये गये उस शाखादि वाले अर्थ से तिष्ठति, कम्पते, आदि पदो से कहे गये "ठहर रहा है" या "कम्प रहा है" इत्यादिक अर्थों की तो कहे बिना यो ही सामर्थ्य मे प्रतीति कर ली जाती है, उस ठहरने आदि अर्थों मे वृक्ष इस पद का कोई साक्षात् रूप से व्यापार नही है अतः पादप पद उस ठहर रहा आदि अर्थ का गमक नही होसकता है, वस्तुतः वह पादप शब्द तो उसके वाच्यार्थ होरहे वृक्ष अर्थ का ही गमक होसकता है अथवा उन स्थान या कम्प स्वरूप अर्थों के लिये तिष्ठति कम्पते, आदि पद ही उपयोगी है, शाब्दबोध की प्रक्रिया मे अनुमान प्रमाण क विक्रिया का प्रवेश करना उसी प्रकार शोभा नही देता है जैसे कि खीर मे दाल का चमचा डुबा देना नही रुचता है. अतः पदो के दो व्यापार मानना अयुक्त है ।

यदि मीमासक उस स्थानादि अर्थ मे इस वृक्ष पद का परम्परा करके व्यापार मानेंगे यानी वृक्ष शब्दसे शाखा आदि वाले अर्थकी प्रतिपत्ति होजाती है.पुनः वृक्षकी प्रतिपत्ति से कम्प,ठहरना आदि अर्थों की प्रतिपत्ति कर लो जाती है, यो कहने पर हम जैन कहते है, कि तब तो हेतु के प्रतिपादक वचन का भी लिंग से ज्ञेय होरहे साध्य की प्रतिपत्ति कराने मे व्यापार होजाओ और तैसा होते सन्ते सभी परार्थानुमान स्वरूप ज्ञान बेचारे शाब्दबोध बन बैठेंगे जो कि इष्ट नही हैं । वैशेषिक भी "शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिष्यते. अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिक मत', इस प्रकार शाब्द बोध का अनुमान मे अन्तर्भाव भले ही कर लें किन्तु शाब्दबोध मे अनुमान का गर्भ होना कथमपि नही मानते हैं, पांच या छः प्रमाणो को मानने वाले मीमांसक तो शाब्द प्रमाण मे अनुमान का अन्तर्भाव कभी नहीं करेंगे, अतः भिन्न भिन्न वाचक पदो की ही न्यारे २ स्थान आदि अर्थों को कहने में शक्ति मानी जाय । प्राभाकरों के यहां अन्वित पदों का अभिधान करना वाक्य माना गया किसी को ठीक जँचा नहीं ।

लिंगवाचकाच्छब्दाल्लिंगस्य प्रतिपत्तेः सैव शाब्दी न पुनस्तत्प्रतिपन्नेषु लिंगादनुमेयप्रतिपत्तिरतिप्रसंगादिति चेत्, तत एव पादपशब्दात्स्थानाद्यर्थप्रतिपत्तिर्भवंती शाब्दी मा भूत, तस्याः स्वार्थप्रतिपत्तावेव पर्यवसितत्वाल्लिंगशब्दवत् ।

यदि पूर्व पक्ष वाला यहाँ यो कहे कि लिंग को कहने वाले शब्द से तो ज्ञापक हेतु की ही प्रतिपत्ति होती है, अतः वह केवल लिंग की ही प्रतिपत्ति शाब्दबोध कही जायेगा किन्तु फिर परार्थानुमान करने वाले पुरुष के उस प्रतिपत्ति हो चुके लिंग से अनुमान करने योग्य साध्य की प्रतिपत्ति तो शाब्दबोध नही होसकती है, क्योंकि अतिप्रसंग होजायगा। यानी चक्षु आदि इन्द्रियों से उपज रही प्रत्यक्ष प्रतीति भी शाब्दबोध बन बैठेगी ।

यो कहे तब तो हम जैन कहते है, कि तिस ही कारण से यानी अपने नियत वाचक शब्द करके नियत अर्थ का ही शाब्द बोध मान लेने से पादप शब्द से वृक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति तो शाब्दबोध होवे किन्तु वृक्ष शब्दसे स्थान,कम्प,आदि अर्थोकी प्रतिपत्ति होरही शब्दजन्या नही मानी जाओ क्योकि वृक्ष पद तो अपने निज अर्थकी प्रतिपत्ति करानेमे ही चारो ओरसे भिडरहा चरितार्थ होरहा है,जैसेकि परार्थानुमान करने वाले श्रोता को लिंग का वाचक शब्द केवल ज्ञापक हेतु का ही कहेगा साध्य को नही। हाँ पुनः व्याप्ति को ग्रहण कर चुका या नही ग्रहण कर चुका पुरुष भले ही अनुमान ज्ञान को उठावे अथवा नही उपजावे, लिंग वाचक शब्द को इससे कोई प्रयोजन नही है, अत अर्थापत्त्या गम्यमान होरहे अर्थ को शब्द का वाच्यार्थ मत कहो "वृक्षस्तिष्ठति कानने कुसुमिते वृक्ष लता सश्रिता, वृक्षेणाभिहतो गजो निपतितो वृक्षाय देह्यञ्जलि । वृक्षादानय मञ्जरी कुसुमिना वृक्षस्य शाखान्नता, वृक्षे नीडमिद कृत शकुनिना हे वृक्ष कि कम्पसे ।" यहा स्वकीय अर्थो को कहने के लिये सभी वाचक पदो के कण्ठोक्त करने की आवश्यकता है। अत जब उपज रहे विनश रहे पूर्वापर पदो का अन्वय ही नही होसका तो अन्विताभिधान पक्ष कहा ठहरा ? ।

कथमेव गम्यमानः शब्दस्यार्थः स्यादिति चेत्, न कथमपीति कश्चित्, तस्यापि वाक्यार्थावसायो न शाब्दः स्यात् गम्यमानस्याशब्दार्थत्वात् वाच्यस्यैव शब्दार्थत्वज्ञानात् ।

अन्विताभिधान वादी प्राभाकार पण्डित पूछता है, कि इस प्रकार स्वकीय अर्थ की प्रतिपत्ति कराने मे ही शब्द यदि तत्पर रहेगा तो बिना कहे ही उपस्कार या अर्थापत्त्या जान लिया गया अर्थ भला शब्द का ज्ञेय अर्थ किस प्रकार होसकेगा ? बताओ । यो कह चुकने पर इस तर्क का कोई मध्य में कूद कर यो उत्तर दे देते है कि वाचक शब्द से किसी भी प्रकार गम्यमान अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होसकती है। आचार्य कहते है, कि शीघ्र उत्तर देने वाले उस विद्वान् के यहा भी पूरे वाक्य के अर्थ का निर्णय करना बेचारा संकेत ग्रहण-पूर्वक शब्दो से ही उपजा नही हो सकेगा क्योकि गम्यमान होरहे अर्थ तो शब्द का वाच्यार्थ नहीं माना गया है। शब्द के द्वारा अभिधान वृत्ति से वाच्य किये गये अर्थ का ही शब्द कर के ज्ञेय होरहे अर्थ रूप से परिज्ञान किया गया है।

अर्थात्-वाक्य के क्रम से उच्चारे गये या मीमासकों के मत अनुसार क्रम से प्रकट किये गये शब्द सभी एक ही काल में तो सुने नही जा सकते है। आगे पीछे के उच्चारे गये शब्दो का अन्वय करना ही पडता है, कहीं कही तो "पुष्पेभ्य:" कह देने से ही स्पृहयति क्रिया को विना कहे ही जान लेना पड़ता है "गंगाया घोप:" का अर्थ तीर शब्द के विना ही 'गगा के तीरमे' घोष करना पडता है, किसी श्लोक में क्रिया का उच्चारण नही मिलने पर क्रिया से कर्त्ता का आक्षेप कर लिया जाता है, क्वचित्-कर्त्ता से क्रियाको गम्यमान कर लेते है, 'द्वारं' कहने पर पिधेहि पद का अध्याहार होजाता है, "गौ र्वाहीक:, अन्नं वै प्राणा:, पितरौ, श्वसुरौ,, अथवा "गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थान. सन्तु ते शिवा:। ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्" आदि स्थलोपर लक्षणा, आसत्ति, व्यंजना, उपचार आदि प्रक्रिया अनुसार जो गम्यमान अर्थ किये जाते हैं,वे कश्चित् विद्वान्के मत अनुसार वाक्यार्थ नहीं समझे जासकेंगे।

द्योत्यविषयभूतयोरपि वाच्यत्वात् शब्दमूलत्वात् वाक्यार्थावबोधः। शाब्द इति चेत्, तत एव गम्यमानोर्थः शब्दस्यास्तु, पादपशब्दोच्चारणानंतर शाखादिमदर्थप्रतिपत्तिवत्स्थानाद्यर्थस्यापि गतेरिति स एवावृत्त्या पदार्थप्रतिप त्तप्रसंगोन्विताभिधानवादिनः पदस्फोटवादिवत्।

यदि कोई विद्वान् यो कहे कि स्यात्, एव, च, चेत्, आदिक निपात शब्दो को कोई कथंचित् अवधारण, समुच्चय, पक्षान्तर आदि अर्थों का वाचक नही मानकर उन अर्थो का द्योतक स्वीकार करते है, "द्योतकाश्च भवन्ति निपाता:" ऐसा वचन है। "स्यादस्ति जीव." यहाँ अस्ति शब्द का अर्थ ही कथचित् अस्ति है फिर भी स्याद्वाद नीति में कुशल नही होरहे प्रतिपाद्य के लिये प्रयोक्ता को स्यात् शब्द कहना ही पडता है यो द्योत्य भी शब्द का अर्थ माना जाता है, इसी प्रकार कही विषय भूत यानी साध्य हो चुका अर्थ भी शब्द का वाच्य मान लिया जाता है, जैसे कि अनुक्त मतिज्ञान मे विना कहे ही शब्दो के अर्थ ज्ञात कर लिये जाते हैं। लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ भी शब्दों द्वारा कहे गये हैं:, अत: वाक्य के अर्थ मे पडे हुये द्योत्य और विषय-भूत अर्थ भी शब्द को मूल कारण मान कर ज्ञात हुये होजाने से शब्द के वाच्य समझे जायेंगे तब तो उच्चार्यमाण शब्दो से ही अध्याहार, उपस्कार, स्मरण, लक्षणा, व्यंजना, सकेत-स्मरण, आकांक्षा, आदि अनुसार हुआ वाक्यार्थज्ञान शाब्द ही कहा जायेगा।

यों कहने पर तो अन्विताभिधान-वादी प्राभाकर कहते हैं, कि तिस ही कारण यानी द्योत्य या विषयभूत को भी शब्द का वाक्य मान्य कर लेने से अर्थापत्त्या या उपस्कार द्वारा जाना गया गम्यमान अर्थ भी शब्द का वाच्यार्थ होजाओ ऐसी दशा मे पादप शब्द के उच्चारण पश्चात् हुई शाखा पत्ता आदि वाले अर्थ की प्रतिपत्ति के समान ठहर रहा, कम्प रहा, आदि अर्थों की भी विना कहे ही ज्ञप्ति होजायगी। अब आचार्य कहते है, कि यो इस कारण अन्विताभिधानवादी पण्डित के ऊपर

वही दोष कई वार आवृत्ति से पदार्थों की प्रतिपत्ति होते रहने का प्रसग आजावेगा जैसे कि वर्णों से अभिव्यग्य होरहे पद-स्फोट, को कहने वाले वादी वैयाकरण पण्डित के यहा आवृत्ति से पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाने का प्रसग पूर्व मे मीमासको द्वारा दिया जा चुका है। अर्थात्—तथा सत्यावृत्या सत्या पदार्थ प्रतिपत्तिप्रसंगः आदि ग्रन्थ से जो आपने कहा था उसका प्रतिफल तुम भी झेलो।

किं च, विशेष्यपदं विशेष्यविशेषणसामान्येनान्वितं विशेषणविशेषेण वाभिधत्ते तदुभयेन वा ? प्रथमपक्षे विशिष्टवाक्यार्थप्रतिपत्तिविरोधः। परापरविशेषणविशेष्यपदप्रयोगाददविरोध इति चेत्, तर्हि-अभिहितान्वयप्रसंगः।

अन्विताभिधान-वादी प्राभाकर को दूषण देते हुये हम जैनो को एक बात यह भी कहनी है कि "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" ऐसे प्रयोगो मे शुक्लां विशेषण से युक्त होरहा गां यह विशेष्य पद क्या सामान्य रूप से शुक्ल विशेषण से अन्वित होरहे गाय नामक विशेष्य को कह देता है ? अथवा गा यह विशेष्य पद क्या विशेष (खास) विशेषण से अन्वय प्राप्त होचुके गाय विशेष्य को कह रहा है ? कि वा विशेष्य पद उन सामान्य स्वरूप और विशेष स्वरूप दोनो रूप विशेषणो करके अन्वित होरहे विशेष्य गाय का कथन करता है ? बताओ। अन्विताभिधान-वादी यदि पहिला पक्ष ग्रहण करेगे तब तो वाक्य द्वारा सामान्य विशेषणसे युक्त होरहे विशेष्यकी प्रतीति होगी। उस वाक्य के द्वारा किसी प्रतिनियत विशेषण से विशिष्ट होरहे अर्थ की प्रतिपत्ति होने का विरोध होजायेगा जैसे कि सूखा, रूखा, सामान्य भोजन करने वाला पुरुष विशिष्ट होरहे छत्तीस भोजनो का भोगी नही कहा जा सकता है।

यदि वे प्राभाकर पण्डित यो कहे कि विशेषणो के उत्तरोत्तर विशेष अंशो को कहने वाले विशेषण वाचक पदो और इनसे भिन्न पर अपर विशेष्य को कहने वाले विशेष्य पद का प्रयोग कर देने से उस विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होजाने का विरोध नही आता है। यो कहने पर तो हम जैन कहेगे कि तब तो तुमको शब्दो करके अभिधावृत्ति द्वारा कहे जा चुके ही अर्थों के साथ अन्य पदार्थों के अन्वय करने का प्रसग आवेगा, ऐसी दशा मे प्राभाकरो के यहा स्वार्थ के साथ शब्द का अभिधान व्यापार होरहा और पदान्तरो के अर्थ के साथ गमकत्व व्यापार होरहा सन्ता अन्वितपना रक्षित नही रह सका प्रत्युत भाट्टो का अभिहितान्वय-वाद सिद्ध होगया।

द्वितीयपक्षे पुनः निश्चयासंभवः प्रतिनियतविशेषणस्य शब्देनानिर्दिष्टस्य स्वोक्तविशेष्येनान्वयसंप्रतीतेर्विशेषणांतराणामपि सम्भवात्। वक्तुरभिप्रायात् प्रतिनियतविशेषणस्य तत्रान्वयनिर्णय इति चेन्न, यं प्रति शब्दोच्चारणं तस्य तदनिर्णयादसमानमेव प्रतिवक्तुः शब्दोच्चारणानर्थक्यात्।

आचार्य कहते हैं कि वे प्राभाकर पण्डित यदि दूसरा पक्ष ग्रहण करेंगे यानी किसी विशेष विशेषण से अन्वित होरहे विशेष्य वाचक शब्द द्वारा कहा जाना इष्ट करेंगे, तब तो फिर वाक्यार्थ

का निर्णय करना असम्भव है क्योंकि "वृत्तिर्वाचामपरसदृशी" (एकीभाव स्तोत्र) वचनो की वृत्ति दूसरो के सदृश हुआ करती है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे दृष्टान्तमे हेतु के साथ साध्य की व्याप्ति को ग्रहण कर अनुमाता पुरुष अन्य स्थानो पर उस हेतु के सदृश दूसरे हेतुओ को देखकर पुन: उस दृष्टान्त मे वर्त रहे साध्य के सदृश होरहे सजातीय साध्य का परिज्ञान कर लेता है "व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिः (परीक्षामुख)। इसी प्रकार व्यवहार कालमें शब्दके साथ वाच्यार्थ का सकेत ग्रहणकर शब्दबोद्धा पुरुष अन्य स्थलोपर तत्सदृश शब्दोको सुनकर उस सकेत-गृहीत वाच्यार्थ के सजातीय वाच्यार्थों की प्रतिपत्ति कर लिया करता है हेतु द्वारा यदि विशेष साध्य का अनुमान हो जाना माना जायेगा तो तृण-सम्बन्धी या पत्तो-सम्बन्धी अग्नि विशेष को साधने वाले सामान्य धूम हेतु के समान वह हेतु भी व्यभिचारी बन बैठेगा इसी ढंग अनुसार सामान्य निरूपक शब्द करके भी यदि विशेष वाच्यार्थों की प्रतिपत्ति की जायेगी तो शुक्ल घोडा कहने के लिये प्रयुक्त कर दिये अश्व शब्दके समान वह शब्द भी अतिप्रसग दोषवाला होजायगा। अश्व शब्दसे कर्क (श्वेताश्व) नही कहा जाना चाहिये, विशेष वाचक शब्द यदि विशेष को भी कहे तो सामान्य रूप से ही कहते हैं।

बात यह है कि शब्द की वाचकत्व वा सूचकत्व शक्ति का उल्लघन नही किया जा सकता है श्री अकलक देव महाराज ने अष्टशती मे कहा है कि शब्दस्य वचन-सूचनसामर्थ्य-विशेषानतिलङ्घनात् संकेतानभिधानेपि कर्तृकर्मणो: शक्त्यशक्त्योरन्यतरव्यपदेशार्हत्वादयोदारुवज्रलेखनवत्, अत.द्वितीय पक्ष अनुसार विशेष का निर्णय करना असम्भव कहा गया है क्योंकि प्रतिनियत होरहे विशेषण का जब शब्द के द्वारा निरूपण ही नही किया जा चुका है तो स्वय विशेषवाचक गो इस शब्द से कहे जा चुके सास्नादि वाले गोपिण्ड नामक विशेष्य मे अन्वय होने का सशय खड़ा रहता है कि जो गौ कही जा रही है वह धौले रग से विशिष्ट है? अथवा क्या काले, पीले, आदि रगो से युक्त है? कुछ निर्णय नही हो पाता है जबकि अन्य काले, पीले, कपिलत्व, मुंडत्व, आदि विशेषणो की भी सम्भावना पायी जाती है जैसे कृष्ण, नील, पीत, आदि विशेषण किसी भी शब्द से निर्दिष्ट नही किये गये है उसी प्रकार विशेष होरहे किसी (खास) शुक्ल विशेषण का भी किसी शब्द से कण्ठोक्त नहीं किया गया है। यदि तुम यो कहो कि वक्ताके हार्दिक अभिप्राय से वहा विशेष्य-वाचक पद मे अन्वय कर वाक्यार्थ का निर्णय कर लिया जाता है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि जिस श्रोता के प्रति शब्द का उच्चारण किया गया है उस मन:-पर्यय ज्ञानी नही होरहे श्रोता को वक्ता के उस अभिप्राय का निर्णय नही होपाता है यद्यपि वक्ता को स्वय अपने अभिप्राय का प्रत्यक्ष ज्ञान है किन्तु स्वय अपनी आत्मा के प्रति ही तो वक्ता के द्वारा शब्द का उच्चारण किया जाना व्यर्थ है।

स्वय अपना गाना या स्तोत्र पाठ या मत्रपाठ का श्रावणप्रत्यक्ष करने के लिये भले ही कोई रसिक या पुण्यार्थी पुरुष शब्द का उच्चारण करे किन्तु स्वय को शब्दबोध करने के लिये कोई ठलुआ नही बैठा है जो कि वाचक शब्दो का उच्चारण करता फिरे, प्रत्युत वक्ताका ज्ञान तो वक्ता के उच्चारे

ग ये शब्दों का कारण है अपने बाप कोही बेटा बनाना अनुचित है. हाँ वक्ता के शब्द श्रोता के ज्ञान में निमित्त कारण पड जाते हैं, अत विशेष होरहे विशेषणो से अन्वित हुये विशेष्य को विशेष्य वाचक पद नही कह सकता है, अन्विताभिधानवादी अपने पक्ष को लौटा लेवें।

तृतीयपक्षे तु उभयदोषानुषंग ।

तीसरे पक्ष मे तो दोनो दोषो के होजाने का प्रसग आता है "प्रत्येक यो भवेद् दोष उभय. स कथं नहि" अर्थात्-सामान्य और विशेष दोनो होरहे विशेषण से अन्वित विशेष्य को यदि विशेष्य पद का वाच्य माना जायेगा तो विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होनेका विरोध और निश्चयासंभव ये दोनो दोष आकर खडे होजाते है, अत. अन्विताभिधान-वादी के यहाँ गा इस विशेष्य पद के शुक्ल इस विशेषण की विशेष अवस्था या सामान्य अवस्था-अनुसार अन्वितपन का प्रयोग निर्णय नही होसका है ।

एतेन क्रियासामान्येन क्रियाविशेषेण तदुभयेन वान्वितस्य साधनसामान्यस्याभिधानं निरस्तं ।

विशेष्यके ऊपर तीन ढगो से उठाये गये विशेषण के अन्वित होने के इस खण्डन ग्रन्थ करके अन्विताभिधान-वादी प्राभाकारो के इस निरूपण का भी निराकरण कर दिया गया समझ लो कि जैसे गा इस पद को शुक्ला इस विशेषण की आकाक्षा होने पर अन्वित करने के लिये तीन विकल्प उठा कर अन्वित होजानेका खण्डन कर दिया गया है उसी प्रकार गा इस साधन-सामान्यका अभ्याज क्रिया के साथ अन्वय करने के लिये आकाक्षी होने मे तीन विकल्प उठाये जाते है, गा इस कर्मकारक के वाचक पद करके क्या क्रिया सामान्य से अन्वित हो रहे गाय कर्म का अभिधान किया जाता है ? या गां पद करके क्रिया-विशेषसे अन्वित होरहे साधन-सामान्य का निरूपण किया जाता है ? अथवा क्या क्रिया के आकाक्षी माने गये गां इस कर्म--कारक द्वारा क्रिया-सामान्य गाय का निरूपण किया जाता है ? बताओ । प्रथम पक्ष अनुसार क्रिया सामान्य से अन्वय मानने पर विशेष क्रिया मे सहित होरहे विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नही होसकेगी क्योकि क्रिया-वाचक पद करके सामान्यक्रिया की ही प्रतिपत्ति हुई थी ऐसी दशा मे विशेष ढगसे घेरलेना रूप क्रिया की प्रतिपत्ति कथमपि नही हो सकती है । सामान्य रूप वस्त्र कह देने से ऊन का अंगरखा या लाल पगड़ी नही समझ ली जाती है सामान्य गमन कह देने मात्र से नाचना, उछलना, दौडना, नही उक्त हो जाता है "भ्रमण रेचन स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च , तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ।" यह प्रमाण देना व्यर्थ है। द्वितीय पक्ष ग्रहण करने पर वही विशेषण विशेष्य से विशेष्य का अन्वय मानने पर आया हुआ निश्चय के असम्भव होजाने का दोष यहां भी लग बैठता है जब कि क्रिया-वाचक शब्द ने शब्द--शक्ति का अतिक्रमण नही करते हुये क्रिया-विशेषको कहा ही नही है । दो मल्लो की केवल लडाई का निरूपण करने पर यदि श्रोता उनके दाव, पेच, या अन्य शारीरिक विशेष क्रियाओ को विना कहे यो ही समझ बैठे

तो यह श्रोता की अनधिकार चेष्टा है। व्यर्थ अधिक बोल कर दूसरे का माथा पचाना जैसे दोष है उसी प्रकार नही कही गयी यहा वहा की व्यर्थ या असद्भूत बातोको समझ कर अपना मस्तिष्क नष्ट करना उससे भी बढा हुआ दोष है। जैन सिद्धान्तमे द्रव्यहिंसासे भावहिंसाका तीव्र पाप माना गया है। तृतीय पक्ष अनुसार दोनो दोष लागू होजाते हैं अतः कारक--सामान्य का तीनो विकल्पो मे क्रिया से अन्वितपना नही ज्ञात किया जा सकता है,ऐसी दशा मे प्राभाकरोके अन्विताभिधानवादकी पुष्टि नही होसकी, पदो का परस्पर मे अन्वय होचुकना कष्ट-साध्य विषय होगया।

क्रियायाश्च साधनसामान्येन साधनविशेषेण तदुभयेन वान्वितायाः प्रतिपादनमाख्याते न प्रत्याख्यातं ततो न प्रतिपाद्यबुद्धावन्वितानां पदार्थानामभिधानं प्रतीतिविरोधात्। प्रतिपादकबुद्धौ तु तेषामन्वितत्वप्रतिपत्तावपि नान्विताभिधानसिद्धिस्तत्र तेषां परेणाभिहितानामनन्वयात्।

तथा इसी प्रकार क्रिया-वाचक "अभ्याज,, इस आख्यात पद करके भी साधन-सामान्य या साधन-विशेष अथवा उन दोनो ही करके अन्वित होरही मानी गई क्रिया का प्रतिपादन किया जाना तीनो विकल्पो मे निराकृत कर दिया गया है। अर्थात्–अभ्याज इस क्रिया-पद को गा या देवदत्त इन कर्म–कारक या कर्तृकारक पदो का आकांक्षी होने पर प्रथम पक्ष अनुसार साधन-सामान्य करके अन्वित होरही क्रिया का आख्यात शब्द द्वारा प्रतिपादन करने मे विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होने का विरोध दोष उपस्थित होजाता है। द्वितीय पक्ष अनुसार साधन-विशेष करके अन्वित होरही क्रिया का आख्यात शब्द द्वारा प्रतिपादन मानने पर वाक्यार्थके निश्चय का असम्भव होजाना दोष तदवस्थ है तथा साधनसामान्य और साधन-विशेष इन दोनो से अन्वित होरही क्रिया का आख्यात शब्द करके प्रतिपादन करना इस तीसरे पक्ष मे उभय दोष का प्रसंग आता है, यो आख्यात पद करके तीनो विकल्पो मे क्रिया के प्रतिपादन होते रहने का प्रत्याख्यान कर दिया जा चुका है।

तिस कारण सिद्ध हुआ कि प्रतिपादन करने योग्य श्रोता की बुद्धि मे अन्वित होरहे पदार्थों का अभिधान नही होसकता है जैसा कि प्राभाकरोने मान रक्खा है क्योंकि इसमे प्रतीतियो से विरोध आता है, हाँ प्रतिपादक वक्ता की बुद्धि मे तो उन अन्वित होरहे पदार्थों के अन्वित होने की प्रतिपत्ति होनेपर भी कोई प्राभाकरो के अन्विताभिधान की सिद्धि नही होपाती है, कारण कि प्रतिपादक की उस बुद्धि मे दूसरे से कहे जा चुके उन पदार्थो का अन्वय नही होरहा है। प्रतिपादकके लिये किसीने शब्द बोले ही नहीं हैं दूसरी बात यह है कि प्रतिपादक की बुद्धि मे पदो का अन्वय होते भी वह श्रोता के काम का नही है। एक बात यह भी है कि पद के अर्थमें उत्पन्न हुआ ज्ञान यदि वाक्य के अर्थ का निर्णय करा देवेगा तो चक्षु, रसना, आदि इन्द्रियो से उत्पन्न हुआ रूप, रस, आदि का ज्ञान भला गन्ध का अध्यवसायी क्यो नही होजाय ?।

अब इस पर तुम यों कहो कि गंध, स्पर्श आदि का साक्षात्-कर्त्ता न होने से रूप ज्ञान गंध की ज्ञप्ति नहीं करा पाता है, अतः कोई दोष नहीं है, तब तो पदों से उत्पन्न हुआ पदार्थ का ज्ञान भी वाक्यार्थका प्रकाशक नहीं होओ, ऐसी दशामें अन्विताभिधान-वादियों के यहां पदार्थज्ञान किस प्रकार वाक्यार्थ का अध्यवसायी होगा ? । चक्षु आदि का जैसे गन्ध आदि में ज्ञापकत्व सम्बन्ध निर्णीत नहीं है उसी प्रकार पद का वाक्यार्थ के साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध नहीं निर्णीत होने से पद भी वाक्यार्थ को कहने में सामर्थ्य नहीं है, अतः प्राभाकरों का अन्विताभिधान पक्ष ठीक नहीं है इससे तो भाट्टों का अभिहितान्वयवाद ही कुछ अच्छा जचता है ।

अत एवाभिहितान्वयः श्रेयानित्यन्य, तत्राप्यभिहिताः पदार्थाः शब्दांतरेणान्वी- यन्ते बुद्ध्या वा ? न तावद् द्यः पक्षः, शब्दान्तरस्याशेषपदार्थविषयस्य कस्यचिदप्रतीतेः । द्वितीय- पक्षे तु बुद्धिरेव वाक्यं स्यान्न पुनः पदान्यैव, ततो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः ।

इस ही कारण से यानी प्राभाकरों के अन्विताभिधान पक्ष में कुछ अरुचि होने के कारण यह अभिहित पदार्थों का अन्वय होजाने से ही हमारा अभिहितान्वय-वाद श्रेष्ठ है प्रथम ही पदों करके स्वकीय स्वकीय पदार्थ कह दिये जाते है, पश्चात्—उनका अन्वय कर वाक्यार्थ बोध कर लिया जाता है, इस प्रकार कोई अन्य विद्वान् भट्टमतानुयायी कह रहे है । भावार्थ—मीमांसकों के भट्ट, प्रभाकर, और मुरारि, ये तीन भेद है, शाब्दबोध के विषय में भट्ट और प्रभाकरों का मन्तव्य न्यारा न्यारा है । अभिहितान्वय-वादी भट्ट हैं , और अन्विताभिधान-वादी प्रभाकर हैं, रोटी से दाल खाना या दाल से रोटी खाना और खाकर पढ़ना या पढ़ कर खाना तथा धर्म के लिये जीवित रहना या जीवित रहने के लिये धर्म सेवन एवं आरोग्य लाभ कर चुका पुरुष व्यायाम करता है, या व्यायाम कर चुका पुरुष आरोग्य लाभ करता है, तथैव द्रव्य कर्मोंका उपार्जन कर चुका जीव भाव-कर्मों को करता है, या भाव-कर्मों को कर चुका जीव द्रव्य-कर्मों का उपार्जन करता है । इन विषयों में जैसा स्वल्प या अधिक अन्तर है, उसी प्रकार अभिहितान्वय और अन्विताभिधानमे थोड़ी विशेषता है,कहे जाचुके पदों करके अभिधावृत्ति या अपनी अपनी योग्य लक्षणावृत्ति द्वारा उपस्थित किये गये अर्थोंका अन्वयकर जो वाक्यार्थ-बोध होना मानते है वे प्राचीन नैयायिक या भाट्ट तो अभिहितान्वय-वादी है । प्रथम "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" इस वाक्य के प्रत्येक पद का अर्थ पदों करके कह दिया जाता है, पश्चात् तात्पर्य नामक वृत्ति के वश से उन अभिहित अर्थों का ठीक ठीक अन्वय कर श्रोता को वाक्यार्थ का शाब्दबोध होजाता है । तात्पर्य वृत्ति को मानने वाले नैयायिक पुनः तीसरी व्यजना वृत्ति को अभीष्ट नहीं करते हैं, "घट करोति" इस वाक्य का अर्थ तो घट में रत रहे कर्मपन के अनुकूल क्रिया करना समझा जाता है, तहां घट पद का अर्थ घड़ा है और अम् प्रत्ययका अर्थ कर्मपना है, यतना यद्यपि किसी का अर्थ नहीं है, फिर भी तात्पर्य-वश से इन घट और कृति के संसर्ग-मुद्रा करके वह प्रतिभास-जाता है ।

अतः अभिधा या लक्षणा द्वारा पदो करके पहिले कहे जा चुके पदार्थों का पुनः आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा, तात्पर्य अनुसार अन्वय कर शाब्दबोध करना यह भाट्टों या जरन्नैयायिकों के यहा अभिहितान्वय की अन्वर्थ संज्ञा की गयी है। दूसरे गुरु जी माने गये प्रभाकरों का यह अभिप्राय है, कि अन्वय स्वरूप वाक्यार्थों को समझाने मे भी पदो की शक्ति मानी जाय जैसे कि अभिधा या लक्षणा वृत्ति द्वारा पदों की स्वकीय स्वकीय अर्थ का कथन करने मे शक्ति मानी गयी है, क्योंकि व्यवहार करके अन्वित होरहे ही वाक्यार्थका पदो करके उपस्थापन किया जाता है, पदार्थों के अन्वित अर्थ मे ही सकेत-ग्राही पुरुष को शक्तिग्रह हुआ है.

उसको स्पष्ट यो समझिये कि एक स्थल पर उत्तम प्रयोजक वृद्ध और मध्यम प्रयोज्य बुड्ढा तथा तीसरा दो वर्ष का बालक बैठा हुआ है, आज्ञा देने वाले उत्तम वृद्ध ने देवदत्त नामक मध्यम बुड्ढे को कहा कि 'हे देवदत्त गाय को लाओ" उस वाक्य को समझ कर देवदत्त बुड्ढा बेचारा सीग सासना वाली व्यक्ति का उपनियन करदेता है। निकट बैठा हुआ बालक उस चेष्टा करके उस वाक्य की गाय को ले आना है, इस अर्थ मे बोधकता को ज्ञात कर लेता है। पश्चात्– उत्तम बुड्ढे ने देव दत्त को कहा कि 'गौ को ले जाओ और घोडे को ले जाओ" ऐसा प्रयोग होने पर गाय का ले जाना और घोडे का ला देना देख कर वह बालक अन्वय व्यतिरेकों करके ऐसी पद-शक्ति का निर्णय कर लेता है कि कारक पदकी शक्ति तो क्रिया पदके अर्थसे अन्वित होरहे कारक अर्थको समझानेमे है, और क्रिया पद की वाचकत्व शक्ति उन कारक पदोके अर्थोसे अन्वित होरही क्रिया को समझाने मे है। तिस ही कारण सकेत ग्रहण कर चुके बालक या किसी भी अन्य भाषा का अध्ययन करने वाले जीव को प्रयोग काल में पहिले से ही परस्पर अन्वय प्राप्त कर चुके पदार्थों को बुद्धि उपज जाती है, क्योंकि शाब्द बोध के प्रधान बीज होरहे सकेत ग्रहण को करते समय परस्पर अन्वित होरहे पदो के कथन अनुसार ही शक्तिग्रह हुआ था, उस सतान प्रतिसन्तान से प्राप्त होरही टेव का परित्याग नही किया जा सकता है, अत गौरव भले हो होजाय अन्वय (वश) के अंश छुटते नहीं हैं, पहिले से ही अन्वित होरहे क्रिया कारको का बोध उपजता है, पश्चात् शक्तिग्रह होता है। व्यवहार काल मे विशेष पदो की निकटता होजाने से तात्पर्य वृत्ति अनुसार अगले, पिछले, पदो की स्मृति कर अन्वित होरहे पदो के अभिधान अनुसार शाब्दबोध होजाता है। पहिले पद अन्वित होकर अन्वित पदार्थों को कहते हुये वाक्यार्थ को समझा देते है, इस कारण अन्विताभिधान-वादी प्राभाकारोका अन्विताभिधान अन्वर्थनामा है।

इस प्राभाकारों के सिद्धान्त में भट्टों को यह अस्वरस दीखता है कि अन्वित होकर शक्ति मानने पर भी प्राभाकारो को अन्वय विशेष की अवगति करने के लिये आकांक्षा, योग्यता, आदि कारण अवश्य स्वीकार करने पडेंगे। उन ही क्लृप्त होरहे आकांक्षा आदि से कार्य चल जाता है, अतः

अन्वित होरहे ही पदार्थों का अभिधान किया जाना पक्ष सुन्दर नही है। प्रकरण में यह कहना है, कि प्रतिपाद्य या प्रतिपादक की बुद्धि मे अन्वित होरहे पदार्थो का अभिधान प्रतीत नही होरहा है, हा अभिहितों का अन्वय कुछ प्रतीत होता है, इस अवसरको अच्छा पाकर झट अन्य विद्वान् भट्ट बोल उठे हैं कि आपको धन्यवाद है, अभिहितान्वय पक्ष अच्छा है।

अब आचार्य कहते है, कि उन भट्टानुयायी पण्डितो के यहाँ भी 'देवदत्त गामभ्याज शुक्ला दण्डेन" इस प्रयोग मे देवदत्त आदि पदो करके कहे जा चुके पदार्थ क्या अन्य किसी एक शब्द करके परस्पर अन्वित कर दिये जाते है ? अथवा क्या वे पदर्थ श्रोता की बुद्धि करके ही परस्पर मे अन्वित यानी शृङ्खलाबद्ध कर लिये जाते है ? बताओ इन मे पहिला पक्ष तो ठीक नही है क्योकि सम्पूर्ण पदार्थों को विषय करने वाले किसी एक अन्य शब्द को इष्ट नही किया गया है, अर्थात्-वाक्य मे पड़े हुये सभी कारकवाची या क्रिया वाची शब्द नियत जड़े हुये है, अभिहित पदार्थों के अन्वय मिला देने का कारण होरहा कोई शब्द जाना नहीं जाता है, हाँ द्वितीय पक्ष का अवलम्ब लेने पर तो बुद्धि ही वाक्य पड़ता है, अनेक पद तो फिर कथमपि वाक्य नही हो सकते हैं, क्योकि उस बुद्धि से ही वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति हुई है, पदो से नही। भाट्टो के यहा अभिहितान्वय करने वाला पदार्थ तो बुद्धि ही नियत रहा।

ननु पदार्थेभ्योपेक्षाबुद्धिसंनिधानात्परस्परमन्वितेभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः परंपरया पदेभ्य एव भावान्न ततो व्यतिरिक्तं वाक्यमस्तीति चेत्, तर्हि प्रकृतिप्रत्ययेभ्य. प्रकृतिप्रत्ययार्थाः प्रतीयंते तेभ्यापेक्षाबुद्धिसंनिधानादन्यान्यमन्वितेभ्यः पदार्थप्रतिपत्तिरिति प्रकृत्यादिव्यतिरिक्तं पदमपि मा भूत्, प्रकृत्यादीनामन्वितानामभिधाने वाभिहितानामन्वये पदार्थप्रतिपत्तिसिद्धेः।

भाट्टो की ओर से स्वपक्ष का अवधारण किया जाता है, कि आसत्ति, योग्यता, आकाक्षा, तात्पर्य, अनुसार परस्पर अपेक्षा रखरहे पदो को अपेक्षाबुद्धि का सन्निधान होजाने से परस्पर मे अन्वित होरहे पदार्थों से जो वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति हुई है, उस वाक्यार्थ ज्ञान की उत्पत्ति सच पूछो तो परम्परा करके पदों से ही हुई है, क्योकि पदो से ही पदार्थो की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ ज्ञान हुआ था अतः उन पदो से अतिरिक्त कोई बुद्धि या अन्य पद वाक्य नही समझा जाय। यो कहने पर हम जैन कहेगे कि तब तो प्रकृति या प्रत्ययो से जो प्रकृति और प्रत्ययो के अर्थ प्रतीत होरहे है वे ही तो अपेक्षा बुद्धि का सन्निधान होजाने से परस्पर मे अन्वित होरहे उन प्रकृति और प्रत्ययो से उपज रहे पदार्थ की प्रतिपत्ति हैं, इस कारण प्रकृति, प्रत्यय, आदि से भिन्न कोई पद भी नहीं होओ क्योकि प्राभाकरो के मतानुसार प्रथम से ही अन्वित होचुके प्रकृति आदिको के अभिधान करने पर अथवा भट्ट मतानुसार प्रथम से ही स्वकीय अर्थ सहित कहे जा चुके प्रकृति आदिको का अन्वय कर लेने पर पदार्थ की प्रतिपत्ति होना प्रसिद्ध है।

अर्थात्-भाट्टो द्वारा बुद्धि से अतिरिक्त पदो को ही वाक्य मानने की रक्षा की जायेगी तो

प्रकृति आदिक से भिन्न पद की भी रक्षा नहीं होसकेगी साथमे मीमासको मे गुरु मान लिये गये प्रभाकर जी का मत भी अच्छा जंचने लग जायेगा। यहा पर वही किंवदन्ती चरितार्थ होजाती है, कि गुरू बन कर बिल्ली ने सिंह को कई विद्याये या कलाये सिखाईं किन्तु अवसर पडने पर शिष्य मे अपनी रक्षा करने के लिये वृक्ष पर चढ जाने की कला नही सिखाई। परिशेष मे प्रभाकर तो मीमासको के गुरु ही ठहरे जब पदो से भिन्न कोई वाक्य नही तो प्रकृति, प्रत्ययो से भिन्न कोई पद भी कैसे माना जा सकता है ?

पद के अंश होरहे प्रकृति और प्रत्यय भी तो अपने न्यारे न्यारे अर्थ को कहते हैं, अपत्य, भव, आदि अर्थों को अण् प्रत्यय कहता है, सु का अर्थ कर्ता या एकत्व होजाता है, भू, पच्, आदि प्रकृतिया, भवन, पाक आदि अर्थों मे प्रवर्त्त रही है, अत. भट्टो का सम्प्रदाय श्रेष्ठ नही जचता है। जिससे प्राभाकरो के सम्प्रदाय को ठेस दी जा सके।

बात यह है,कि वैशेषिको के यहा आसत्ति ज्ञान,योग्यता ज्ञान,आकाक्षा ज्ञानो को शाब्दबोध का कारण माना है, कोई कोई तात्पर्य ज्ञान को भी शाब्द-बोध मे कारण स्वीकार कर लेते है. मीमासक और साहित्यज्ञ विद्वानो का भी कुछ न्यून अधिक ऐसा ही अभिप्राय है, मम्मट भट्ट कवि ने स्वकीय काव्य प्रकाश ग्रन्थ मे "तात्पर्यार्थोपि केषुचित्', इसके विवरण में अभिहितान्वय वादी और अन्विताभिधानवादियो का यो मत दिखलाया है, कि आकाक्षा, सन्निधि, और योग्यता के वश से अभिधावृत्ति या लक्षणावृत्ति द्वारा कहे चुके पदार्थों का समन्वय करने पर वाक्यार्थ प्रतीत किया जाता है, यह अभिहितान्वयवाद है. और प्रथम से ही अन्वित होरहे पदो का वाच्य ही वाक्यार्थ है, यह अन्विताभिधान वाद है, "आकाक्षासन्निधियोग्यता-वशात् वक्ष्यमाणरूपाणा पदाना समन्वये तात्पर्यार्थ विशेषवपुः अपदार्थः अपि वाक्यार्थः समुल्लसति इति अभिहितान्वयवादिना मत वाच्य एव वाक्यार्थः इति अन्विताभिधानवादिनः"

अभिप्राय वही है, कि आकाक्षाज्ञान आदि को कारण मानतेहुये अभिधा या लक्षणावृत्ति करके पहिले कहे जा चुके पदो का अन्वय करना भट्टो का मत है। और उक्त क्रम अनुसार पहिले अन्वित होचुके पदो का अभिधान होना प्राभाकारो का मन्तव्य है। खाये जा चुके को चाबना या चाबे जा चुके को खाना अथवा श्रद्धान किये जा चुके अर्थ का तत्व ज्ञान करना या तत्व-ज्ञान किये जा चुके अर्थ का श्रद्धान करना इसी ढंगो से उक्त मतो मे थोड़ासा अन्तर है, जो कि गम्भीर पर्यवेक्षण करने वालो को भास जाता है ।

वैशेषिकोके यहां इन आकाक्षा आदिके लक्षण यो किये गये हैं,आसत्तिका लक्षण "सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते" है, जिस पद के अर्थ को जिस पद के अर्थ के साथ अन्वय होना अपेक्षित होरहा है, उन दोनों पदो की अन्तराल रहित होकर उपस्थिति होजाना आसत्ति है, "पदार्थे यत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता" एक पदार्थमे दूसरे योग्य पदार्थ का अविरोधी सम्बन्ध योग्यता कहा जाता है "यत्-

येन विना यस्याननुभावकता भवेदाकांक्षा" जिस पद के बिना जिस पद को अन्वयबोध कराने की अनुभावकता नहीं होपाती है, उस पद की उस पद के साथ आकांक्षा मानी जाती है, जैसे कि कारक पद को क्रिया पद की आकांक्षा है. "वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तित" वक्ता की इच्छा तो तात्पर्य माना गया है। तथा जाति और आकृति से विशिष्ट होरही व्यक्ति स्वरूप पदार्थ के साथ पद का वाच्य वाचक सम्बन्ध तो अभिधा शक्ति है, अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति से सम्भाव्य अर्थ का शक्य अर्थ के साथ सम्बन्ध होजाना लक्षणा है।

प्रकरण मे यह कहना है, कि पदो से भिन्न यदि कोई वाक्यार्थ नही है, तो प्रकृति प्रत्ययो से निराला कोई पद भी नही है, भट्ट और प्रभाकर दोनो के विचार अनुसार पदार्थ की प्रतिपत्ति होजाना सध जाता है भिन्न भिन्न श्रोताओ को अनेक प्रकार शाब्दबोध होरहे है, कहा तक सूक्ष्मता को विचारोगे, व्यर्थ का अड़वगा लगाना अनुचित है।

स्यान्मतं पदमेव लोके वेदे वार्थ-प्रतिपत्तये प्रयोगार्हं न तु केवला प्रकृतिः प्रत्ययो वा पदादपोद्धृत्य तद्व्युत्पादनार्थं यथाकथंचित्तदभिधानात्तस्वतस्तदभावः । तदुक्तं । अथ-गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्ष इति । यथैव हि वर्णानंशः प्रकल्पितमात्राभेदस्तथा गौरिति पदमप्यनशमपोद्धृत्य गकारादिभेदं स्वार्थप्रतिपत्तिनिमित्तमव-सीयते इति ।

यदि मीमासको का यह भी मन्तव्य होय कि लोक मे अथवा वेद मे अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये पद का ही प्रयोग करना योग्य है, केवल भू पच्, देव, घट, आदि कोई प्रकृति अथवा सु, तिप्, अण्, आदि कोई भी प्रत्यय तो अकेली नही बोली जा सकती है, हा पद मे वे प्रकृति, प्रत्यय, विकरण, उपसर्ग, आदिक यद्यपि अभिन्न है फिर भी उस पद को व्याकरण शास्त्र द्वारा निष्पत्ति कराने के लिये या बालकों को व्युत्पत्ति कराने के लिये जिस किसी प्रकार उन केवल प्रकृतियो या केवल प्रत्यय को कह दिया जाता है। अर्थात्–पच् धातु से तिप् प्रत्यय लगाकर शप् विकरण करने पर पचति पद साधु बन जाता है। "राज्ञः पुरुष " ऐसा विग्रह किया पुन. षष्ठी तत्पुरुष समास करते हुये विभक्तियों का लोप कर पश्चात् मृत् संज्ञा कर सु विभक्ति लाकर राजपुरुषः बना लिया जाता है । "स्त्यै शब्द संघातयोः" या स्तृञ् आच्छादने धातुसे ड्रट प्रत्यय कर पुनः टित्वात् ङी प्रत्यय कर स्त्री शब्द निष्पन्न होजाता है। इत्यादि व्यवस्थायें व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया अनुसार मात्र व्युत्पत्ति करा देने के लिये हैं, वस्तुतः विचारा जाय तो शब्द प्रथमसे ही अखण्ड होकर सिद्ध हैं पाषाणमे उकेरी गई प्रतिमा के अंगोपांग कोई न्यारे न्यारे बना कर नहीं जोड़ दिये जाते हैं।

आप जैनों के यहां भी गुणनन्दि आचार्य ने जैनेन्द्र प्रक्रिया मे सिद्धधिकार का प्रारम्भ करते हुये " अथ भवामीत्येवमादिकस्य सामान्याकारेण लोके प्रसिद्धेरनुत्पादविगमात्मकत्वादनित्यतामवल-म्बमानस्यान्वाख्यानाय विशेषाकारेण करणसन्निपातोपनीतोत्पादविगमात्मकत्वादनित्यतामादधान-

स्योत्पत्तये च प्रकृत्यादिप्रक्रियावतारो व्यवहाररूपार्थकालकारकसम्प्रतिपत्तये व्याख्येय:" यह बहुत अच्छा कह दिया है। बौद्धो या नैयायिकोके एक क्षण और दो क्षण तक वर्त रहे क्षणिकत्व तथा मीमांसको के नित्यत्व एकान्त का प्रत्याख्यान कर शब्दो मे कथंचित् नित्यत्वानित्यत्व को घटित कर दिया है। अव्युत्पत्ति पक्ष और व्युत्पत्ति पक्ष मे वस्तुत विचार करने पर पहिला पक्ष ही प्रधान माना गया है, फिर भी अन्त प्रवेश रूप व्युत्पत्ति कराने के लिये वैयाकरणो ने प्रकृति, प्रत्यय, आदि की प्रक्रिया को दर्शाया है अनादिसिद्ध बीजमत्र मे अनन्त शक्ति है, उतनी शक्ति कृत्रिम मत्रो मे शब्दो के नही है। पाणिनि आदि वैयाकरणो ने भी " रमन्ते योगिनोऽस्मिन् रमु-घञ्-सु " यो व्युत्पन्न किये गये राम शब्द की अ क्षा अव्युत्पन्न राम शब्द की अत्यधिक शक्ति स्वीकार की है।

कृत्रिम सौन्दर्य को अकृत्रिम सौन्दर्य की छटा जीत लेती है, वन की शोभा उपवन मे नही है देवदत्त का निष्प्राण चित्र गृहस्थोचित स्नेह या पुत्रोत्पत्ति का कारण नही होसकता है। प्रकरण मे यह कहना है कि बालकों को केवल व्युत्पत्ति कराने के लिये अखण्ड पद मे प्रकृति, विकरण, प्रत्यय, आदिकी खण्डश: कल्पना कर ली जाती है, वस्तुत देखा जाय तो उस सामान्य दृष्टि अनुसार उत्पाद विगम से रहित होरहे " भवति, देव मुनि " आदि अव्युत्पन्न अखण्ड पूर्ण स्वरूप शब्दो की उस प्रकृति प्रत्यय आदि द्वारा व्युत्पत्ति कर देने का अभाव है, वही हमारे य ां जैमिनिऋषि प्रणीत मीमासादर्शन के पाचवे सूत्र के श्री शवर स्वामी विरचित भाष्य मे यो कह दिया है कि अब यह बताओ कि गौ. यो इस अनुपूर्वी मे क्या शब्द विशिष्ट होरहा है इसके उत्तर में भगवान् उपवर्ष नामक ऋषि महाराज यो उत्तर कहते है कि गकार औकार, और विसर्जनीय ये शब्द हैं ये उपवर्ष ऋषि पाणिनीय महाराजके गुरु थे ऐसा कई विद्वानो का मत है अस्तु। बात यह है कि जिसही प्रकार एक अकार या ककार वर्ण नियम करके अशो से रहित है, मात्रा, उदात्त अनुदात्त, ये सब भेद कल्पित हैं इसी प्रकार कई वर्णो का अखण्ड पिण्ड गौ यह पद भी निरंश है केवल कल्पना द्वारा गकार आदि भेद का अपोद्धार कर यानी पृथग्भाव विचार कर स्वकीय सीग, सास्ना, आदि वाले अर्थ की प्रतिपत्ति का निमित्त हो रहा जान लिया जाता है। यहा तक मीमासक कह चुके है।

तदप्यनालोचितवचनं, वाक्यस्यैवं तात्त्विकत्वसिद्धेस्तद्व्युत्पादनार्थं ततोपोद्धृत्य पदानामुपदेशाद्वाक्यस्यैव लोके शास्त्रे चार्थप्रतिपत्तये प्रयोगार्हत्वात्। तदुक्तं। " द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा अपद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्" ततः प्रकृत्यादिभ्योवयवेभ्यः कथंचिद्भिन्नमभिन्नं च पदं प्रातीतिकमभ्युपगंतव्यं न पुनः सर्वथा निरंशं तथा तद्ग्राहकाभावात्। तद्वत्पदेभ्यः कथंचिद्भिन्नमभिन्नं च वाक्यं प्रतीतिपदमास्कंददुपगम्यतां।

अब आचार्य कहते हैं कि मीमासकों का कथन भी नहीं विचारा जा चुका निरूपण मात्र है क्योकि इस प्रकार तो वाक्य का ही वास्तविकपना सिद्ध होता है, उस वाक्य के अर्थकी ही व्युत्पत्ति कराने के लिये उस वाक्य से अपृथक पदों के पृथग्भाव की कल्पना कर पदों का उपदेश कर दियागया

है। सत्य बात यह है कि लोक में अथवा शास्त्र में अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये वाक्य ही प्रयोग करने योग्य है, अकेला पद कुछ भी व्युत्पत्ति नही करा पाता है। मीमासक जैसे वर्णो को अनश मानते हुये पद को भी निरंश स्वीकार कर लेते हैं इसकी अपेक्षा वाक्य को ही निरश स्वीकार कर लेना अच्छा जंचता है अर्थमे प्रवृत्ति या निवृत्ति होजाना वाक्य द्वाराही सपाद्य कार्य है वही ग्रन्थोमे यो कहा जा चुका है कि किन्ही पण्डितो ने पद के दो भेद कर दिये है " सुप्तिङन्त पद " देव, सर्वस्मै, नद्या, आदि सुबन्त विभक्ति वाले और पचति गमिष्यति, पिपठिषतु, आदि मिङत या तिङन्त विभक्ति वाले यों दो प्रकार पद हैं किन्ही विद्वानो ने पदो के चार प्रकार भेद किये हैं नाम, आख्यात, निपात, कर्मप्रवचनीय, ये चार भेद हैं जिन, चन्द्र, गगा, ज्ञान विद्रुम्, स्रज, आयुष्, नदी, नीलोत्पल, सौध, आदि शब्द तो नाम पद हैं।

पचति, क्रीणाति, पिपतिषति, रोरूच्यते, बोभोति पुत्रीयति कण्डूयति पराजयते, उपरमति उच्यते, नीयते, स्थालीपचति आदिक शब्द आख्यात पद हैं। अहो ई उच्चैस् नञ्, आदिक निपात पद हैं, लक्षणद्योतक अनु, अधिकद्योतक उपलक्षणद्योतक प्रति, परि आदिक निपात ही कर्मप्रवचनीय इस संज्ञा को धार लेते हैं। अथवा कोई कोई पद को पाच प्रकार भी स्वीकार करते है पदो के उक्त चार भेदो मे प्र, परा उप, सम्, आदि उपसर्ग नामक भेद को बढा देने पर पाच प्रकार के पद समझ लिये जाते हैं, जाति शब्द गुणशब्द, क्रियावाचक शब्द, सयोगी द्रव्य शब्द, समवायी द्रव्य शब्द, कोई यो भी वाचक शब्द के पांच भेद कर लेते है पदो के प्रकार कितने भी मान लिये जाओ सिद्धान्त का विरोध नही आना चाहिये।

बात यह है कि कि जैसे अखण्ड पद मे से प्रकृति, प्रत्यय, विकरण, आदि का पृथग्भाव कल्पित कर लिया जाता है उसी प्रकार अखण्ड वाक्य से पृथग्भाव की कल्पना कर ही क्रियापद, कारकपद, न्यारे न्यारे गढ लिये जाते हैं तिस कारण सिद्ध होजाता है कि पद जैसे स्वकीय अवयव होरहे प्रकृति, प्रत्यय, आगम,आदि कल्पित खण्डोसे कथचित् भिन्न है कथचित अभिन्न है,प्रतीतियोके अनुसार निर्णीत कर लिया गया ऐसा पद स्वीकार कर लेना चाहिये किन्तु फिर अकार आदि वर्णके समान सर्वथा अंशोसे रहित पद नही माना जाय क्योकि सभी प्रकारोसे अंश रहित पदके ग्राहक प्रमाणोका अभाव है तथा उसी पद के समान वाक्य भी अपोद्धृत पदो से कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न होरहा ही प्रतीतियो के समुचित स्थान पर आरूढ़ होरहा स्वीकार कर लेना चाहिये, व्यर्थका वाग्जाल उपयोगी नहीं है।

तच्च द्रव्यरूपं भावरूपं वा एकानेकस्वभावं चिंतितप्रायमिति स्थितमेतच्छब्दवंतः पुद्गला इति। शब्दस्य वर्णपदवाक्यरूपस्यान्यस्य च पुद्गलस्कन्धपर्यायत्वसिद्धेराकाशगुणत्वे नामूर्तद्रव्यत्वेन स्फोटात्मतया वा विचार्यमाणस्यायोगात्।

तथा वह वाक्य द्रव्य स्वरूप और भावस्वरूप यो दो प्रकार का है जो कि एक स्वभाव और अनेक स्वभावोके साथ तदात्मक होरहा है। पूर्व प्रकरणो मे बहुत बार हम इसका चिन्तन कर चुके हैं यहां प्रकरण बढाना द्विरुक्त, त्रिरुक्त पडेगा, इस कारण युक्तियो से यह सिद्धान्त अब तक व्यवस्थित हो चुका है कि शब्द पर्यायवाले पुद्गल द्रव्य है। अकार, इकार, टकार, आदि वर्णस्वरूप शब्द या शीतल श्रेयान्, जानाति, आदि पदस्वरूप तथा देवदत्तः पठति, जिनदत्तो ग्राम गच्छति, आदि वाक्य स्वरूप अथवा अन्य भी मेघध्वनि, समुद्रगर्जन, वादित्रनाद, आदि कोई भी शब्द क्यो न होय उन सभी शब्दो को स्कन्ध-आत्मक पुद्गल द्रव्य का पर्यायपना सिद्ध हो जाता है, आकाश का गुण होकरके अथवा अमूर्त्त द्रव्यपने करके तथा स्फोट-आत्मक स्वरूप करके शब्द के विचार किये जाने पर आकाशगुणत्व आदि स्वरूप की घटना नही होपाती है अर्थात्-वैशेषिका के मन्तव्य अनुसार शब्द आकाश का गुण नही सध पाया है। शब्दाद्वैतवादो या वैयाकरणा के अभिप्राय अनुसार शब्द अमूर्त द्रव्य भी नही सध सका है, एवं वैयाकरणो के विचार अनुसार शब्द बेचारा नित्य निरश, स्फोट-आत्मक भी नही सिद्ध होसका है।

परमार्थ रूप मे विचार होचुकने पर भाषा वर्गणाये या शब्दयोग्य पुद्गल वर्गणाये इन विशेष पुद्गल स्कन्धो को पर्याय होरहा शब्द सिद्ध होजाता है, जैसे कि मनुष्य, तिर्यंच, आदि जीवो का शरीर आहार वर्गणाओ से बनजाता है। तीन लोक मे भरी हुई पुद्गल की सख्यातवर्गणा आदि बाईस वर्गणाये और अणुऐ इनमे से किसी का भी वहिरंग इन्द्रियोसे प्रत्यक्ष नही होपाता है, फिर भी कौर, दूध, वायु, जल, इन मे दृश्यमान आहार्य पदार्थो मे बहुभाग अनीन्द्रिय आहार वर्गणाये पायी जा रही मानी जाती है, इसी प्रकार जगत् मे सर्वत्र शब्द-परिणति-योग्य वर्गणाये भर रही है, फिर भी वक्ता के मुख प्रदेश या फोनोग्राफ की चूडा विशालप्रासाद, विद्युत्तारवाह द्वारा शब्दो को ले जाने वाले तारो के आधार होरहे पोले खम्भे आदि स्थानो पर बहुभाग शब्द योग्य पुद्गल स्कन्धो का सद्भाव माना जाता है, द्रव्यवाक्य और भाव-वाक्य दोनो पौद्गलिक है, उपादान पुद्गल स्कन्धो से द्रव्य वाक्य बनाने का निमित्त कारण होरहे तथा उस वीर्यान्तराय, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम और अंगोपाग नामकर्म के उदय से आविष्ट होरहे क्रियावान् आत्मा के प्रयत्न-विशेष या लब्धि विशेषको भाववाक् या भाववाक्य मानते हुये पौद्गलिक कह सकते है,यहा तक विस्तार-पूर्वक पौद्गलिक शब्द का अच्छा समर्थन कर दिया है।

कः पुनर्बन्धः ? पुद्गलपर्याय एव प्रसिद्धो येन तद्वन्तः पुद्गला एव स्युरित्यारेका-यामिदमाह।

"शब्दबध" आदि इस सूत्र के "शब्द" का विवरण हो चुका है, अब विनीतशिष्य क्रम अनु-सार प्राप्त हुये बध की ज्ञप्ति करने के लिये आचार्य महाराज के प्रति प्रश्न उठाता है, कि महाराज यह बताओ कि वह इससे अगला फिर बन्ध क्या है ? जो कि पुद्गल पर्याय हो प्रसिद्ध मान लिया जाये

जिससे कि बंध पर्याय वाले पुद्गल द्रव्य ही होसके ऐसी शिष्य को आकांक्षा प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द स्वामी इस अगली वार्त्तिक को कहते है।

बन्धो विशिष्टसंयोगो व्योमात्मादिष्वसंभवी।
पुद्गलस्कंधपर्यायः सक्तुतोयादिबन्धवत्॥

आकाश, आत्मा, कालाणुयें, आदि द्रव्यो मे नही सम्भव रहा ऐसा जो विशिष्ट संयोग है। जो कि अनेक पुद्गलो मे कथंचित् एकत्व बुद्धि का जनक संसर्ग है, वह बंध तो पुद्गल स्कन्ध की पर्याय है, जैसे कि पिसे हुये सतुआ, पानी या दूध बूरा आदि का बन्ध होरहा पुद्गल की पर्याय है।

द्रव्ययोरप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः स चाबाधितसंयुक्तप्रत्ययात्प्रसिद्धः, संयोगमंतरेण तस्यानुपपत्तेः। प्रत्यक्षतः क्वचित्संयुक्तप्रत्ययोऽसिद्धस्तस्य तत्पृष्ठभाविविकल्परूपत्वादिति चेत् न, अगृहीतसंकेतस्यापि प्रतिपत्तुः शब्दयोजनामन्तरेण स्वार्थव्यवसायात्मनि प्रत्यक्षे संयुक्तप्रत्ययप्रसिद्धेर्निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य सर्वथा निराकृतत्वात्। तथा दृष्टे क्वचित्संयोगे संयुक्तविकल्पो युक्तो नीलप्रत्ययवत् तस्यासत्यत्वप्रसंगात्। न चासावसत्यो बाधकाभावात्।

परस्पर नही मिल रहे दो द्रव्यो की अप्राप्ति-पूर्वक प्राप्ति होजाने को संयोग कहते हैं। शरीर के साथ वस्त्र संयुक्त है, दाल मे घृत संयुक्त है, आदिक संयुक्त द्रव्यो को जानने वाली निर्बाध प्रतीतियो से वह संयोग सभी लौकिक या शास्त्रीय जनो मे प्रसिद्ध होरहा है, क्योंकि संयोग के बिना उस संयुक्त इत्याकारक ज्ञान की उत्पत्ति नही होसकती है। यहां संयोग क्या किसी भी संसर्ग को वास्तविक नही मानने वाले बौद्धो का आक्षेप है, कि कही भी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा संयुक्त ऐसे ज्ञान होने की सिद्धि नही होरही है, अतः संयोग पदार्थ असिद्ध है, हां वस्तुभूत स्वलक्षण अर्थ को ग्रहण कर रहे उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान के पीछे होने वाले अवस्तु-भूतार्थग्राही विकल्पज्ञान स्वरूप वह संयुक्त प्रत्यय है, एतावता संयोग वास्तविक पदार्थ नही बन। ग्रन्थकार कहते है,कि यह तो नही कहना क्योंकि जिस पुरुष ने संकेत नही भी ग्रहण किया है, उस प्रतिपत्ता पुरुष को भी शब्द की योजना के बिना होरहे स्व और अर्थ के निर्णय-आत्मक प्रत्यक्ष मे संयुक्त प्रतीति होना प्रसिद्ध होरहा है, बौद्धो के यहां माने गये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का सभी प्रकारो से पूर्व प्रकरणो मे निराकरण किया जा चुका है।

अर्थात्—प्रत्यक्ष के पीछे हुये निर्विषय या कल्पित विषय-वाले माने गये विकल्पज्ञान द्वारा यदि संयोग की प्रतीति मानी जाती तो संकेत ग्रहण करना और संकेत गृहीत हुये शब्दो का सुनना आवश्यक था, संकेत-गृहीता पुरुष को ही शब्दो के सुने जाने पर शाब्दबोध-आत्मक विकल्पज्ञान हुआ करता है। किन्तु पुरुष मे दण्ड का संयोग स्पर्शन प्रत्यक्ष से और अन्य इन्द्रियो से भी संयोग प्रतीत होरहे हैं। यहां संकेत ग्रहण या शब्द की योजना करना नही है। अन्य अर्थो को विकल्पना कर रहे

सभी ज्ञान सविकल्पक हैं । तथा बौद्धोके यहा निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा देखे जा चुके पदार्थ में ही पश्चात् कल्पनाओ को उठा रहे विकल्प ज्ञान होते माने गये हैं, जब कि कही पर सयोग प्रत्यक्ष द्वारा देख लिया जाता तब तो उस सयोगवाले मे "सयुक्त है" यह विकल्प करना युक्त होसकता था जैसे कि नील स्वलक्षण को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से देखे जा चुकने र पश्चात् "नीलमिद नीलउत्पलं" ऐसे विकल्प ज्ञान उठ बैठते है, यदि विना देखे ही नील का विकल्प ज्ञान उपज जायगा तो उस नील ज्ञान के असत्यपन का प्रसग आजावेगा किन्तु वह नील ज्ञान असत्य तो नही है क्योकि इस नील ज्ञान का कोई बाधक प्रमाण नही है ।

अर्थात्—बौद्धो ने तदध्यवसाय करके पूर्व ज्ञान का प्रामाण्य व्यवस्थापित किया है । नील स्वलक्षणको जानने वाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षको प्रामाण्य तभी व्यवस्थित होता है । जब कि उस प्रत्यक्ष के पीछे उसी विषय का अध्यवसाय करने वाला विकल्पज्ञान उपज जाय, एक चन्द्रमामे दो चन्द्रमाको जान रहे मिथ्या प्रत्यक्ष के पश्चात् हुये विकल्प ज्ञान करके पहिले प्रत्यक्ष का सत्यपना नही व्यवस्थित होपाता है । अत: अबाधित यानी सत्य सयुक्त प्रत्यय से सयोग पदार्थ वस्तुभूत सध जाता है ।

ननु च न संयुक्तप्रत्ययः सत्यस्तद्विषयस्य वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषदूषितत्वाद-वयविप्रत्ययवदित्येतदस्ति तद्बाधकं । तथाहि—संयोगः स्वाश्रये वर्तमानो यद्येकदेशेन वर्तते तदा सावयवः स्यात्, स्वावयवेषु च स्वतो भिन्नेषु तस्यैकदेशांतरेण वृत्तौ परापरदेशकल्पनेऽनवस्था सर्वात्मना प्रत्येकं तत्र तस्य वृत्तौ संयोगानेकत्वप्रसंगस्तथा सत्येकस्मिन् संयोगे संयोगप्रत्ययप्रसंगः । सकृदनेकसंयुक्तप्रत्ययप्रसंगश्च ।

"परतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतंत्रता । तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः" इस अभिप्राय अनुसार सम्बन्ध को परमार्थ नही मान रहे बौद्ध अपने पक्ष का अवधारण करते है । कि संयोग सम्बन्ध से विशिष्ट होरहे पदार्थ का ज्ञान (पक्ष) सत्य नही है, (साध्य) उस ज्ञान के विषयभूत होरहे संयोग की वृत्ति विकल्प, अनवस्था, द्रव्यस्थूलता, साधारणत्व, उपकार्य उपकारक भावधारा आदि दोषो करके दूषित होजाने से (हेतु) अवयवी के ज्ञान समान (अन्वयदृष्टान्त) ।

यो यह अनुमान उस सयुक्तप्रत्यय का बाधक है अर्थात्—अवयवो मे अवयवी की वृत्ति एक देश से मानने पर वह प्रथम से ही सावयव होरहा माना जायेगा अपने उन अवयवो मे भी पुन: एक देश करके वृत्ति मानने पर परापर अवयव देशो की कल्पना करते करते अनवस्था होजायगी । एक एक अवयव में सम्पूर्ण रूप से अवयवी की वृत्ति मानने पर बहुत से अवयवी हुये जाते हैं । इसी प्रकार संयोग मे भी उक्त दोष आ जाते हैं । इस बात को यो स्फुटरूप से समझ लीजियेगा कि अपने आश्रय संयुक्त मे वर्त रहा संयोग यदि एक देश करके वर्तरहा है । तब तो सयोग सावयव हुआ क्योंकि जो अवयव सहित है, उसी के एक देश या अनेक देश होसकते हैं । और अपने से भिन्न होरहे उन स्वकीय

अवयवों में पुनः उस संयोग की अन्य एक देश करके वृत्ति मानी जायेगी तो यों ही उत्तरोत्तर देशों की कल्पना करते करते अनवस्था दोष आजायेगा. हां अपने प्रत्येक आश्रय मे उस सयोग की वहां सम्पूर्ण अपने शरीर से वृत्ति मानी जायेगी तो सयोगों के अनेकपन का प्रसग आजावेगा कम से कम दो, तीन, आदि जितने भी सयोगी हैं। उतने ही सयोग बन बैठेगे और तिस प्रकार होते सन्ते एक एक संयोग मे एक एक संयोग ज्ञान के होजाने का प्रसग आवेगा, साथ ही एक ही वार मे उन सयोगो से संयुक्त होरहे पदार्थों को विषय करने वाले अनेक सयुक्त प्रत्ययो के होजाने का भी प्रसग आजावेगा सम्बन्ध-वादी पण्डित इन अनिष्ट प्रसगो का निराकरण नही कर सकते है।

एक बात यह भी है कि एक द्रव्य का दूसरी द्रव्य के साथ आत्मभूत सयोग होजाना मान लेने पर द्रव्य का अणु शरीर स्थूल हुआ जाता है। द्रव्य की असाधारणता पर साधरणता का अधिकार होजायगा, क्षणिक पदार्थ को स्थिर बनने का अवसर दिया जाता है, सम्बन्ध को मान रहे जैनो के यहां अगुरुलघु गुण स्वरूपनिष्ठ हो रहे पदार्थों का उपकार्य उपकारकभाव की कीच मे डालकर कैवल्य से वंचित किया जाता है,अतः अवयवी के समान सयोग भी सिद्ध नही होसका।

नैकदेशेन वर्तते नापि सर्वात्मना किं तर्हि वर्तत एवेति वायुक्त प्रकारांतरेण क्वचित्कस्यचिद्वर्तनस्यादृष्टेः। स्वाश्रयाभिन्नरूपस्तत्संयोगिनां चैव प्रत्यासन्नतयोत्पत्तौ न ततोर्थान्तरं किंचिदित्येकांतवादिनामुपालंभो न पुनः स्याद्वादिनां, तेषां स्वाश्रयात्कथंचिद्भिन्नस्य संयोगस्याभिमतत्वात्। सयोगिव्यतिरेकेणानुपलब्धेः सयोगस्यातद्भिन्नत्वसिद्धः, प्राक् पश्चाच्च तदाश्रयद्रव्यसद्भावेपि सयोगस्याभावात्ततो भेदस्यापि प्रतीतिविरोधाभावात्।

संयोग सम्बन्ध का प्रत्याख्यान कर रहे बौद्ध ही कहे जारहे हैं कि यदि कोई ससर्गवादी यो व्यर्थ आग्रह करे कि संयोग अपने आश्रय मे न तो एक देशसे वर्तता है और सर्व आत्मा करके भी नही वर्तता है जैसा कि तुम बौद्धोने दो विकल्प उठा कर खण्डन किया है तो फिर क्या कैसे वर्तता है। इसका उत्तर राजाज्ञा के समान यही है कि सयुक्त मे ससर्ग वर्तता ही है भले ही इन दो के अतिरिक्त तीसरा ढंग होय। बौद्ध कहते है कि इस प्रकार ससर्ग-वादियो का कहना युक्ति रहित है क्योकि एक देश करके या सर्व देश करके इन दो प्रकारों से अतिरिक्त किसी तीसरे प्रकार करके कही भी किसी भी पदार्थ का वर्तमान नही देखा गया है।

बात यह है कि पूर्व मे दण्ड अपने स्थान पर क्षण क्षण मे उपज रहा था और पुरुष स्वकीय स्थल पर अपने उत्पाद विनाशो मे लवलीन होरहा था पुरुष करके हाथ मे दण्ड थाम लेने पर दोनो की प्रत्यासन्न देशों मे क्षणिक धारा अनुसार निज निज परिणति होने लगी है और कोई नई बात नही हुई है, इधर उधर अस्त व्यस्त बैठे हुये विद्यार्थियो को श्रेणी अनुसार निकट बैठा देने पर उनमे कोई नई परिणति नही होजाती है,हुण्डो द्वारा रुपयो के यहा वहा दूर, निकट, चले जाने या चले आने से कोई चांदी के रुपये सोने के नही हो जाते है, तभी तो वैराग्य भावना का भावने वाले तत्वज्ञानी

पुरुष इन माता, पिता, बन्धुजन, पुत्र, कलत्र, मित्र, धन, शरीर आदि के सम्बन्धो को झूठा विचारते हैं "हम न किसी के कोई न हमारा, झूठा है जग का व्योहारा" "जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थं पन्थे पहिय जणाण जह संजोगो हवेइ खणमित्तं, बंधुजणाणं च तहा संजोगो अद्भुवो होदि" ये वचन जैनो के प्रमाण माने गये है।

कहना यह है कि उन सयोग वाले सयुक्त पदार्थों की निकटवर्ती होकर उत्पत्ति होजाने की दशामे संयोग कल्पित कर लिया जाता है वह सवृति रूप संयोग अपने आश्रयो से अभिन्न है उन सयोगियो से कोई सवथा भिन्न पदार्थ नही है जैसा कि वैशेषिको या नैयायिको ने मान रक्खा है। अब आचार्य कहते हैं कि इस उक्त प्रकार एकान्त-वादियो का उलाहना उन्ही एकान्तवादी बौद्धो के ऊपर पडता है किन्तु फिर स्याद्वादियो पर कोई उपालम्भ नही आता है क्योकि उन स्याद्वादियो के यहा अपने आश्रय होरहे सयुक्त पदार्थोंसे कथचित् भिन्न होरहा संयोग पदार्थ अभीष्ट किया गया है सयोगियो से अतिरिक्त होकर के सयोग की उपलब्धि नही होती है, अतः सयोग का उनसे अभिन्नपना सिद्ध होजाता है। हॉ सयोग होने से पहिले और पीछे अवस्थाओ मे उस सयोग के आश्रय होने वाले या होचुके पृथक् पृथक् द्रव्यो का सद्भाव होने पर भी सयोग का अभाव है। अतः उन संयोगके भेद की भी प्रतीति होजाने मे कोई विरोध नही आता है यो सयुक्तोसे सयोग कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है, यह जैन सिद्धान्त है।

नन्वसंयुक्त द्रव्यलक्षणाभ्यामुपसर्पणप्रत्ययवशात्संयुक्तयोस्तयोरुत्पत्तेर्नापरः संयोगोऽवभासत इति चेन्न, तयोरसंयुक्तपरिणामत्यागेन सयुक्तपरिणामस्य प्रतीतेः। संयुक्तयोः पुनर्विभागपरिणामवत्। यावेव सयुक्तौ तावुभयापलब्धौ तावेव च सम्प्रति विभक्तौ दृश्येते इति प्रत्यभिज्ञानात् संयोगविभागाश्रयद्रव्ययोरवस्थितत्वसिद्धेः। न च प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणं तस्य प्रत्यक्षवत्स्वविषये प्रमाणत्वेन पूर्वं समर्थनात्।

ससर्ग को नही मानने वाले बौद्ध अनुनय करते है कि प्रथम नही सयुक्त होरहे द्रव्य स्वरूपों से सरपट गमन कराने वाले कारणो के वश द्वारा उन दोनो संयुक्त होचुके द्रव्यो की नवीन उत्पत्ति होजाती है, इस व्यवहित द्रव्यो का निकट होकर उपज जाने से निराला कोई संयोग पदार्थ नही प्रतिभासता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योकि पहिले के असंयुक्त परिणाम का त्याग करके पुनः उन द्रव्यो के होरहे सयुक्त परिणामकी प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा प्रतीति होरही है.पृथक् धरे हुये भोजन, वस्त्र, भूषण, इष्टजन, की अपेक्षा भोजन, वस्त्र आदि के संयुक्त होजाने पर देवदत्त की अवस्था अन्य ही होजाती है जैसे कि पहिले सयुक्त होरहे पदार्थों का पुनः विभाग होजाने पर न्यारी परिणति होरही देखी जाती है, वस्त्र या पुत्र, कलत्र, आदि की वियोग अवस्था मे उस संयुक्त अवस्था के परिणामो से न्यारी ही जाति के परिणमन होते हैं, यह बात किसी सहृदय व्यक्ति से छिपी हुई नहीं है,जब संयोग या विभाग न्यारी न्यारी अविभाग प्रतिच्छेदो वाली पर्यायोको उपजाते हैं तो संयोग

या विभाग को पदार्थोंका वस्तुभूत परिणाम कहना ही पड़ता है। देखिये ऐसा प्रमाण-आत्मक प्रत्यभिज्ञान होता है कि दोनों की उपलब्धि होने पर जो ही दो द्रव्य पहिलेसे सयुक्त थे वे ही दोनों द्रव्य वर्तमान समय में तो विभक्त होरहे देखे जा रहे हैं,इस स्थान पर जो कोई नवीन परिणति है वे ही वास्तविक सयोग या विभाग परिणाम हैं। संयोग या विभाग अवस्था मे संयोग और विभाग के आश्रय होरहे पति पत्नी, या माता पुत्र, आदि द्रव्यो की तो अवस्थिति पूर्ववत् सिद्ध है तभी तो एकत्व प्रत्यभिज्ञान होसकता है, अतः हर्ष या विषाद के उत्पादक सयोग या विभागके पर्यायों की विशिष्टता उन द्रव्यों में माननी पड़ती है।

यह प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष जैसे अपने विषय में प्रमाण माना गया है उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान का भी अपने नियत विषय में प्रमाणपने करके पहिले समर्थन किया जा चुका है "मतिःस्मृतिः सञ्ज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" इस सूत्र का विवरण देख लिया जाय।

नन्वेवं प्रसिद्धोपि संयोगः कथं व्योमात्मादिष्वसम्भवी विशेषपुद्गलेषु सिद्ध्येद्यतो बन्धः पुद्गलानामेव पर्यायःस्यादिति चेत्,तदेकत्वपरिणामहेतुत्वात्तस्य विशिष्टत्वसिद्धिः सक्तु-तोयादिबंधवत्। नहि यथा सक्तुतोयादीनां संयोगः पिण्डैकत्वपरिणामहेतुस्तथा व्योमात्मादीनां तेषामेकद्रव्यत्वप्रसंगात्। संयोगमात्रे तु सत्यपि न तत्प्रसंगः। पुरुषतद्दस्तरणवत्। ततोस्ति पुद्गलानां बंधस्तदेकत्वपरिणामान्यथानुपपत्तेः।

यहां कोई प्रश्न करता है, कि इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण या समीचीन युक्तियो से प्रसिद्ध कर दिया गया भी सयोग भला आकाश, आत्मा, आदि मे नही सम्भव होरहा केवल विशिष्ट पुद्गलो मे ही किस प्रकार सिद्ध होसकेगा ? बताओ जिससे कि वह संयोग दोनो की गुणाच्युति स्वरूप अवस्था को प्राप्त होकर बन्ध नाम को पा रहा सन्ता पुद्गलो की ही पर्याय होके जो कि सूत्रकार द्वारा कहा गया है। अर्थात्- सयोग तो आकाश और आत्मा का भी है, काल अणुओ का भी परस्पर संयोग है, पुद्गल का भी शुद्ध द्रव्यो के साथ संयोग होरहा है, एतावता ही किसी चमत्कार पर सयोग विशेष को बन्ध मान लेना और उस बन्ध को पुद्गल द्रव्यो का ही परिणाम कहे जाना, ये दोनो बातें कैसे सिद्ध करोगे ?

ग्रन्थकार कहते है, कि यो कहने पर तो हम कहेगे कि एकम-एक होजाना स्वरूप परिणाम का हेतु होजाने से उस संयोग की विलक्षणता सिद्ध है, जैसे कि दो बतनो मे न्यारे न्यारे रक्खे हुये सतुआ और जल का पुनः एक कटोरे में सयोग होजाने पर पश्चात् दोनो का एक रस होजाने के कारण घोले गये सतुआ और पानी की बन्ध परिणति ही संयोग की विशिष्टता है, दाल और उसमे डाले हुये मसाले या खोआ और बूरा का संयोग कर बने हुये पेड़ा एवं शोशी मे संयुक्त होरहे विष और पी लिये गये विष आदिमें संयोग परिणतिसे हुई बन्ध परिणति न्यारी प्रतीत होरही है,वहबन्ध पर्याय वन आत्मा, आकाश,आदि द्रव्योमें नहीं पायी जाती है,देखिये सतुआ पानी,या दूध,बूरा,आदिका संयोग जिस प्रकार

दोनों के पिण्ड की एकत्व परिणति कराने का हेतु होरहा है, उस प्रकार आकाश, आत्मा, या कालाणुओं का मिथः होरहा संयोग बेचारा उनकी पिण्ड बन्ध जाना-स्वरूप एकत्व परिणति का कारण नहीं है, अन्यथा उन आकाश, आत्मा आदि द्रव्यों का भी मिल कर एक द्रव्य होजाने का प्रसग आजायगा जैसे कि दो परमाणुओं का मिल कर एक अशुद्ध द्रव्य द्वयणुक स्कन्ध बन जाता है। हा आकाश, आत्मा, आदिको का केवल कोरा सयोग भले ही होजाय तो भी उस एक द्रव्यपन का प्रसग नही आता है, जैसे कि पुरुष और उसके बिछाने के बिछौना या आसन का केवल संयोग बन्ध नही है।

अर्थात्-बन्धपरिणति में दोनो या इससे अधिक द्रव्यों का एक रस होजाता है, जैसे कि कर्मों का ससारी जीव के साथ कथंचित् एकीभाव होरहा है, हा कोरा संयोग होजाने पर आत्मा आत्मा का सिद्धों सिद्धों का अथवा काल अणुओं का मिथः एक रस नहीं होपाता है। इतना अवश्य है, कि सयोग मे भी अनेक विशेषतायें दृष्टि-गोचर होरही हैं, देवदत्त के साथ होरहे भूषण के सयोग से वस्त्र का सयोग विलक्षण है, वस्त्र के निमित्त से शरीर मे उष्णता उपज जाती है, उष्ण वस्त्र के पहन लेने से और सौड के ओढ लेने से तो शरीर अधिक उष्ण होजाता है, भूषणों से आभिमानिक सुन्दरता की कल्पना या धनिक-पन का गर्व भले ही उपज जाय किन्तु वह भूषण के सयोग में पारिणामिक निमित्तता का ज्ञापक नही है और यदि किसी स्त्री को भूषणों से ही उक्त परिणाम उपज जाय तो चलो अच्छा हुआ वह भूषणसयोग भी विशिष्ट परिणतिका निमित्त समझा जायगा, मागे हुये गहने या मुलम्मा के भूषणों का सयोग वैसी परिणति का कारण नही है।

तथा मकराने की शिलाओं पर बठने से या स्फटिक के स्पर्श से शीतलता उपजती है। हां मकराने के चौको पर डाभ या पराल का आसन बिछा कर बैठने से शैत्य का प्रभाव अत्यल्प रह जाता है, ऊन या रूई के बने हुये वस्त्रो या आसनो से तो शरीर मे उष्णता बढ जाती है। तथा कच्ची काली ईट को पक्का और लाल कर देने वाला अग्नि-सयोग विभिन्न ही है, धीरे से मुक्के को छुआ देने की अपेक्षा बल पूर्वक छुआ दिये गये मुक्के का सयोग विलक्षण है, कान के ऊपर बल से पुकारने करके शब्द द्वारा विशेष आघात प्रतीत होता है, केवल हस्त सयोग की अपेक्षा पूरे शरीर का सयोग विशिष्ट होरहा विलक्षण परिणति का उत्पादक है, माता अपने पुत्र के मस्तक का स्पर्श करती है, शिष्य गुरु जी के चरणों का अपने हाथों से स्पर्श कर सयोग करता है खाई गई औषधि और छुआई गई औषधि मे सयोग द्वारा अन्तर पड जाता है, रुपयो के साथ दूसरे रुपयो का सयोग निराला ही है, यों कार्यों के निमित्त होरहे अथवा नही भी निमित्त होरहे सयोगो के अनेक प्रकार हैं, जिस कारण से सिद्ध होजाता है, कि पुद्गलद्रव्यो का विशिष्ट संयोग होजाने पर बन्ध परिणाम होजाता है, अन्यथा यानी बन्ध हुये विना उन पुद्गलो को एकत्व परिणति नही होसकती है।

भावार्थ—पुद्गल पुद्गलो का और जीवो के साथ पुद्गलो का ही बन्ध होता है, शेष चार द्रव्यो में सयोग भले ही होय किन्तु बन्ध नही होने पाता है, क्योकि बन्ध होजाने की अन्तरंग कारण

वैभाविक शक्ति का चार द्रव्यो मे अभाव है, आत्मा के साथ होरहा कर्म, नोकर्म, का संयोग भी एकी-भाव का सम्पादक होकर पुद्गलो का बन्ध कहा जा सकता है, भले ही वह बन्ध जीव द्रव्य का भी होय हमारे उक्त सिद्धान्त मे यानी बन्ध पर्याय वाले पुद्गल स्कन्ध हैं इस सिद्धान्त मे कोई क्षति नही पड़ती है, पूर्व से बाधे गये कर्मों से जकड़ा हुआ मूर्त जीव ही तो पुन मूर्त कर्मों से बधता है, अमूर्त शुद्ध जीव का किसी भी सजातीय, विजातीय द्रव्य के साथ बन्ध नही है, अत मूर्त पुद्गलो का ही बन्ध होजाने के लिये बल दिया गया है ।

कस्यचिदवयवद्रव्यस्यैकस्मादनेकपुद्गलपरिणामस्यासम्भवादसिद्धस्तदेकत्वपरिणाम इति चेन्न, तस्य प्राक् साधितत्वात् । जीवकर्मणोर्बंधः कथमिति चेत्, परस्पर प्रदेशानुप्रवेशान्न-त्वेकत्वपरिणामात्तयोरेकद्रव्यानुपपत्तेः "चेतनाचेतनावेतौ बंधं प्रत्येकतां गतौ" इति वचनात्तयोरेकत्वपरिणामहेतुर्बन्धोऽस्तीति चेन्न, उपचारतस्तदेकत्ववचनात् । भिन्नौ लक्षणतोऽत्यंतमिति द्रव्यभेदाभिधानात् । ततः पुद्गलानामेवैकत्वपरिणामहेतुर्बंध इति प्रतिपत्तव्यं बाधकाभावात् स च स्कंधधर्म एव ।

कोई पण्डित बौद्ध मत अनुसार आक्षेप करता है, कि किसी एक अवयव मे अन्य किसी एक अवयव द्रव्य का सयोग होकर पुन. अनेक पुद्गलो करके बन रहे एकत्व परिणामका असम्भव है, अतः दो आदि द्रव्यो की एकत्व परिणति होना असिद्ध है, दो, तीन आदि द्रव्य यदि मिलकर एक अशुद्ध द्रव्य बनने लगें तो यो उन्नति करते करते जगत् मे एक ही द्रव्य का अद्वैत छाजायगा, भेद व्यवहार सब लुप्त होजायगे किन्तु द्रव्य अवस्थित माने गये है, दो का एक बनाना प्रकृति मर्यादा मे भी अलीक है, ग्रन्थकार कहते है, कि यह तो नही कहना क्योकि उस अनेको के एकत्व परिणाम स्वरूप अवयवी को पूर्व प्रकरणो मे साधा जा चुका है, यहा पुनः उस प्रक्रिया को दुहराना पुनरुक्त पड़ेगा, अत "सन्तो-ष्टव्यं आयुष्मता" । अब पुद्गलो के ही पर्याय होरहे बन्ध का निर्णय होजाने पर कोई प्रश्न उठाता है, कि जीव और कर्मोंका बन्ध भला किसप्रकार होरहा कहा जा गा ? बताओ । यो कहने पर आचार्य कहते है, कि क्षीर नीर न्याय अनुसार जीव और कर्म नोकर्मों का मात्रपरस्पर मे अनुप्रवेश होजाने से उनका बन्ध होजाता है, दोनों द्रव्यो के एकत्व परिणाम का हेतु होरहा बन्ध इनका नहीं होता है, क्योकि सजातीय पुद्गल पुद्गलो का एकत्व परिणाम होकर एक द्रव्यत्व भले ही होजाय किन्तु विजातीय होरहे जीव और पौद्गलिक कर्म नोकर्मों का बंध कर एक द्रव्य हो जाना नही बन सकता है ।

यदि कोई पण्डित जैनों के ऊपर यों ग्रन्थ विरोध या अपसिद्धान्त की बौछार डाले कि जैनों के यहा ग्रन्थो में ऐसा वचन है, कि चेतन अचेतन ये दोनो द्रव्य बेचारे वैभाविक शक्ति या मिथ्यात्व, योग आदि द्वारा हुये बन्ध के प्रति एकपन को प्राप्त होचुके हैं, अतः इस वचन अनुसार जीव और कर्म नोकर्मों के एकत्व परिणति का हेतु होरहा बंधपरिणाम सिद्ध है । आचार्य कहते हैं, कि यह

तो नहीं कहना क्योंकि सर्वथा तत्वान्तर होरहे चेतन अचेतन द्रव्यों का वास्तविक एकत्व परिणाम नहीं होसकता है. हां उपचार से उक्त ग्रन्थ मे उनका एकत्व परिणाम होरहा कह दिया है, इस ही कारण से तो आगे चल कर वे चेतन, अचेतन दोनो अपने न्यारे न्यारे लक्षणो से अत्यन्त भिन्न है, यो द्रव्य स्वरूप से उनके भेद का कथन किया गया है।

अर्थात्-बधं पडि एयत्त, लक्खणदो भवदि तस्स णाणत्तं" जीव और पुद्गल की बन्धी हुई अवस्था मे बन्ध की अपेक्षा एकत्व परिणति है, किन्तु उस अवस्था मे भी जीव अपने उपयोग लक्षण से और पुद्गल अपने रूप, रसादि लक्षणो मे न्यारी न्यारी सत्ता को लिये बैठे है, तभी तो मोक्ष होने पर अपनी न्यारी न्यारी सत्ता अनुसार दोनो द्रव्य स्वतत्र होजाते है । अत: सिद्ध है, कि पुद्गल पुद्गलो का एकत्व परिणाम मुख्य है. और जीवो के साथ पुद्गलो का होरहा एकत्व परिणाम उपचरित है । दाल और चावलो की जैसी खिचडी बन जाती है, दाल के साथ तावे के पैसो को मिला देने पर वैसी खिचडी नही बनती है. हा ससर्ग जन्य थोडा पीतल या तावे का प्रभाव दाल मे अवश्य आजाता है, पीतल या कासे के पात्र मे वेसन और खटाई के व्यंजन बिगड़ जाते है, सुवर्ण से अतिरिक्त अन्य धातुओ के पात्र मे सिंहिनी का दूध बिगड (फट) जाता है, तिस कारण सिद्ध है, कि द्रव्यो की एकत्व परिणतिका हेतु होरहा बन्ध तो केवल पुद्गलोका ही परिणाम है,यह विश्वासकर लेना चाहिये क्योंकि इस सिद्धान्तका बाधक कोई प्रमाण नही है,तथा वह बन्ध पुद्गल स्कन्धो का ही है, जीव और पुद्गल के बन्ध को आठमे अध्याय मे और परमाणुओ के बन्ध को इसी अध्याय मे आगे चलकर "स्निग्धरूक्षत्वाद्वंध" आदि सूत्रो कर न्यारा कह दिया जायगा । यहा प्रकरण मे पुद्गल स्कन्धो के धर्म होरहे बन्ध का प्रतिपादन कर दिया गया है, वृत्तिमान् पदार्थ, पर्याय, स्वभाव, गुण ये सब धर्म कहे जा सकते है ।

तथैवावांतरं सौक्ष्म्यं परमाणुष्वसंभवि ।
स्थौल्यादिवत्प्रपत्तव्यमन्यथानुपपत्तितः ॥ ७ ॥

तिस ही प्रकार यानी शब्द या बन्ध के समान ही मध्यवर्ती अवान्तर सूक्ष्मता को भी समझ लेना चाहिये । वह अवान्तर सूक्ष्मपना परमाणुओ मे नही सम्भवता है, परमाणुओमे तो अन्तिम सूक्ष्मपना सुघटित है । यहा पुद्गल स्कन्धो के होरहे परिणामो का निरूपण-अवसर है, अत: स्कन्धो के आपेक्षिक अवान्तर सूक्ष्मपने को स्थूलता, सस्थान, आदि के समान निर्णीत कर लेना चाहिये । साध्य के विना हेतु का नही होसकना स्वरूप अन्यथानुपपत्ति से उपजीवित होरहे सद्धेतु द्वारा नियत साध्य की सिद्धि होजाती है ।

यह वार्तिक परार्थानुमान स्वरूप है, स्थौल्यादिवत् के स्थान पर स्थौल्यादि च ऐसा समझ कर सूत्रोक्त सौक्ष्म्य और स्थौल्य, आदि आठो पर्यायो का व्याख्यान हो लिया जान लिया जाय। ग्रन्थकार की ऐसी शैली है, कि अवान्तर सूक्ष्मता को पुद्गल स्कन्धो का पर्याय साधने पर तो स्थूलता

आदि का दृष्टान्त दे देते हैं, और स्थूलता को पुद्गल की पर्याय साध्य करने पर प्रसिद्ध होरही सूक्ष्मता को निदर्शन बना लेते हैं, पक्ष या दृष्टान्त होरहे स्थूलता और सूक्ष्मता मे से कोई एक तो किसी अनुमाता के यहा प्रसिद्ध ही है, जिस अनुमाता को दोनो ही प्रसिद्ध नही हैं, उसके प्रति तीसरा दृष्टान्त ढूंढ लिया जाता है, यहां प्रकरण में केवल शब्द और बन्ध का व्याख्यान कर अन्य आठ पुद्गल परिणामों को उपरिष्ठात् समझने के लिये ग्रन्थकार का निदेश है, अव्यभिचरित काय कारण भाव और ज्ञाप्यज्ञापक भाव में अन्यथानुपपत्ति ही बीज है।

परमसौक्ष्म्यस्याणुधर्मत्वमणूनां तत एव व्यवस्थानात् सामर्थ्यादपरसौक्ष्म्यं बिल्वाद्यपेक्षया बदरादिषु स्कन्धपरिणामः बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् स्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवत् शब्दबंधवच्च । द्वयणुकादिषु बाह्येन्द्रियग्राह्यं सौक्ष्म्यं स्कन्धपर्याय एवापेक्षिकसूक्ष्मात्मत्वाद्बदरादिसौक्ष्म्यवत् ।

सब से उत्कृष्ट होरही यानी परम प्रकर्ष को प्राप्त होरही परम सूक्ष्मता तो अणुओं का धर्म है, तिस ही कारण मे यानी अन्तिम सूक्ष्मता की क्वचित् परिनिष्ठा होजाने से ही परमाणुओ की व्यवस्था होजाती है, जैसेकि प्रकृष्यमाण परिमाणकी पराकाष्ठा आकाश मे व्यवस्थित होरही है। विना कहे ही सामर्थ्य से अपर सूक्ष्मता यानी आपेक्षिकसूक्ष्मता भी विल्व (बेल) आमला आदि की अपेक्षा करके बेर, चना, उडद, सरसों, आदि पुद्गल स्कन्धों की पर्याय होरही मानी गई है, (प्रतिज्ञा), वहिरंग इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य होने से (हेतु) स्थूलता, आकृति भेद, अन्धकार, छाया घाम, उद्योत, के समान (पहिला अन्वयदृष्टान्त) और बखान दिये शब्द या बन्ध के समान (दूसरा अन्वय दृष्टान्त) ।

इस अनुमान द्वारा स्थूलता आदि को दृष्टान्त बना कर आपेक्षिक सूक्ष्मता को साध दिया है, दो परमाणुओं के बने हुये द्वि-अणुक और तीन आदि अणुओं से बने त्र्यणुक, चतुरणुक, पचाणुक आदि स्कंधो के द्वि-अणुक उपयोगी भेद से उपजा हुआ द्वि-अणुक एव त्र्यणुक, कार्मण वर्गणा, आहारवर्गणा, आदि स्कन्धो मे वहिरग इन्द्रिया से नही भी ग्राह्य होरहे सूक्ष्मपन ये (पक्ष) पुद्गल स्कन्धो की ही पर्यायें हैं, (साध्य) उत्तरोत्तर छोटेपन की या एक दूसरे की अपेक्षाओ से उपजे सूक्ष्म-आत्मकपना होने से (हेतु) बेर, मकोय, फालसे, धनिया, साबूदाना, पोस्त, आदि के सूक्ष्मपन समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस अनुमान द्वारा आपेक्षिक सूक्ष्मता को पुद्गल स्कन्धो का पर्याय साध दिया है।

एतेन कार्मणशरीरादौ सौक्ष्म्यस्य स्कंधपर्यायत्वं साधितं । तथास्मदादिबाह्येंद्रियाग्राह्याः स्थौल्यादयः स्कंधपर्यायाः स्थौल्यादित्वादस्मदादिबाह्येंद्रियग्राह्यस्थौल्यादिवत् ।

इस उक्त कथन करके ज्ञानावरणादि कर्म स्वरूप कार्मण शरीर अथवा तेजो-वर्गणा निर्मित तैजस शरीर, वाह्यनिर्वृत्ति स्वरूप अतीन्द्रिय स्पर्शन, आदि इन्द्रियो आदि मे वर्त रहे सूक्ष्मपन को

भी पुद्गल-स्कन्धों की पर्यायपना साधा जा चुका समझ लो। बात यह है, कि "परं परं सूक्ष्मम्" इस सूक्ष्मता के प्रतिपादन अनुसार सूक्ष्म जीवों का औदारिक शरीर या देवो के विक्रिया द्वारा बना लिये कतिपय वैक्रियिक शरीर अथवा षष्ठ गुणस्थानवर्त्ती किसी मुनि के हुआ आहारक शरीर आदि में भी अवान्तर सूक्ष्मता पाई जा रही पुद्गल स्कन्धो की पर्याय कही जा सकती है।

देव चाहे तो अपने शरीरको मनुष्य या तिर्यंचो करके देखने योग्य या नही भी देखने योग्य बना सकते हैं। धोले, हस्त प्रमाण और सम्पूर्ण अंग उपांग वाले आहारक शरीर का भी वहिरंग इन्द्रियो से प्रत्यक्ष नही होता है, कतिपय बादर औदारिक शरीर और कुछ वैक्रियिक शरीरों का स्पर्शन आदि इन्द्रियो द्वारा ग्रहण होजाता है. अकर्मण्य किन्तु लोक दक्ष प्रभु के समान इन्द्रियां भी अत्यल्प कार्यों को कर बहुतसा यश लूटना चाहती हैं. किन्तु अनन्तमे भाग पदार्थों के भी स्पर्श, रस आदि का इन्द्रियो से ज्ञान नही होपाता है, तभी तो तत्वज्ञानी पुरुष इन्द्रिय-सम्बन्धी विषयो में अपेक्षा को धारते हुये उस अतीन्द्रिय आत्मीय सुख मे लवलीन होजाना अच्छा समझते हैं। तथा एक अनुमान यो भी बना लिया जाय कि हम, तुम, आदि जीवोकी वहिरंग इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करने योग्य स्थूलता आकृति आदि धर्म (पक्ष) पुद्गल स्कन्धो के पर्याय हैं, (साध्य) स्थूलता आदि होने से (हेतु) हम तुम, आदि के ग्रहण करने योग्य घट, पट आदि सम्बन्धी स्थूलता, सस्थान, आदि के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस अनुमान मे सामान्य को पक्ष बना कर विशेष को हेतु कह देने से कोई प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धि दोष नही आता है, प्रसिद्ध दृष्टान्त से अप्रसिद्ध पक्ष मे साध्य का साध दिया जाता है।

बात यह है, कि इस युग मे पुद्गल का चमत्कार बडा भारी देखा जा रहा हैं, यूरोप, अमेरिका के विद्वान् विज्ञान प्रक्रियाओ द्वारा बडे बडे पुतलीघर, वेतार का तार फोनोग्राफ लाउड स्पीकर ऐक्सरे, हजारो कोस दूर के गाने सुनने वाले या दूरके फोटो उतारने वाले यंत्र, वायुयान, थर्मामीटर, भूकम्प ज्ञापक यंत्र, सूर्य शक्ति आकर्षक यंत्र, विष वायु (गैस) उग्रविस्फोटक ग्रहगतियो के घटीयंत्र, विद्युत् चिकित्सा आदि प्रयोगो करके पुद्गल का चमत्कार दिखला रहे हैं, जो कि सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल पडता है। इस प्रकरणमे पुद्गल के परिणाम होरहे शब्द का ग्रन्थकार ने व्याख्यान कर दिया है, दार्शनिक प्रक्रिया से बंध का भी थोडा विवेचन किया है, इसी प्रकार शास्त्रीय या लौकिक पद्धतियों से अन्धकार छाया भेद, आकृति आदि का भी विशद विवरण होसकता है, बुद्धिमानो को पृथक् प्रदर्शन कराने के लिये संकेत मात्र पर्याप्त है। रंध रहे भात का एक दो चावल देखा जाता है,सभी नही।

अब कोई शिष्य पूछता है कि स्पर्श आदि परिणाम वाले कौनसे पुद्गल हैं ? तथा स्पर्श आदि और शब्द आदि दोनो परिणामो वाले भला कौनसे पुद्गल हैं ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज पुद्गलो के प्रकारो का निरूपण करने के लिये अगले सूत्र को कहते हैं।

अणवः स्कंधाश्च ॥ २५ ॥

व्यक्ति रूप से अनन्तानन्त परमाणुये और अनन्तानन्त स्कन्ध ये पुद्गल के साधारणतया दो प्रकार है। अर्थात्—एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध, दो स्पर्श, इन गुणो को धार रहा शक्ति की अपेक्षा छह पहलो वाला, चौकोर वर्फी के समान एक प्रदेश अवगाही, हम आदि जनो को अनुमेय, हा सर्वावधि ज्ञानी (गोम्मटसार अनुसार) या केवलज्ञानी महाराज के प्रत्यक्ष योग्य, आत्मादि आत्म-मध्य, आत्मअन्त्य, अतीन्द्रिय, अविभागी, ऐसी पुद्गल द्रव्य परमाणु है। तथा अनेक परमाणुओ का मिल कर सादि बंध अवस्था को प्राप्त हुआ या अनादि से पिण्ड स्वरूप बन्ध रहा अनेक शक्तियो का धारक ऐसा घट, पट स्कन्ध, वर्गणा, आदि भेदो वाला स्कन्ध नामका पुद्गल है। जगत में जीव राशि से अनन्तानन्त गुणे अनेक परमाणुये और स्कन्ध ठसाठस भरे हुये है।

प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यंते शब्द्यन्ते इति अणवः सौक्ष्म्यादात्मादय आत्ममध्या आत्मांताश्च। तथा चोक्तं " आत्मादिमात्ममध्यं च तथात्मांतमतीन्द्रियं। अविभागं विजानीयात् परमाणुमनंशकम् " इति।

केवल एक प्रदेश मे ही होने वाले अनेक स्पर्श आदि गुणो की पर्यायो के उत्पादन सम्बन्धी सामर्थ्य करके जो अणन किये जाते है यानी शब्द द्वारा कहे जा रहे है। इस कारण ये अणु नामक पुद्गल है। सूक्ष्मता होने के कारण स्वयं अपना आत्मा ही तो उन परमाणुओ का आदि भाग है। और स्वयं अपना पूराशरीर ही उनका मध्य भाग है, तथा अपना पूरा डील ही उन परमाणुओ का स्वकीय अन्तिम भाग है। अर्थात्—बात यह है कि परमाणु यदि स्व से छोटे अवयवो करके बना हुआ होता तब तो परमाणु के आदि भाग, मध्य भाग, पिछला भाग, ये न्यारे न्यारे होते किन्तु निरंश एक परमाणु के व्यक्ति रूप से न्यारे न्यारे कई भाग नही है। शक्ति की अपेक्षा वरफी के समान छह पहल वाली परमाणु के छह भाग माने ही जाते है। तभी तो पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः, इन छहऊ दिशाओ से परमाणु के साथ छह परमाणुयें चिपक जाती है। यदि शक्ति की अपेक्षा भी परमाणु निरंश होती तो यहा वहा से छह परमाणु तो क्या अनन्त परमाणुये भी चुपक कर कभी बड़ा स्कन्ध नही बन सकती थी घट, पट, सुमेरु, आदि बड़े बडे स्कन्ध भी परमाणु के बराबर होजाते अतः परमाणु की व्यंजन पर्याय छह पहल वाली चौकोर घन आकृति वाली माननी पड़ती है।

आचारसार ग्रंथ मे श्री वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने " अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचयशक्तितः। कायश्च स्कधभेदोत्थश्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः" इस श्लोक द्वारा परमाणु को चतुरस्र यानी सम घन चौकोर बताया है पुद्गल परमाणु को गोल या अण्डाकार माननेपर कालाणुयें और आकाश प्रदेश भी वैसे ही गोल मानने पडेगे गोलमोल पदार्थो से कोई वर्तन ठोस नही भर सकता है। बीच मे पोल रह जाती है, किन्तु लोकाकाश मे आकाश प्रदेशो या कालाणुओं से कोई भी स्थल रीता नहीं

पडा है। तथा अलोकाकाश जितना ही लम्बा है, उतना ही चौडा है और उतना ही मोटा है। तभी तो आगे चल कर श्री वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने "व्योमामूर्तं स्थितं नित्यं चतुरस्रं समं घनं। भावावगाहहेतुश्चानन्तानन्तप्रदेशकः" कहा है। परमाणु भी जितना लम्बा, चौडा, चौकोर होगा उतना ही मोटा या ऊंचा भी अवश्य होगा चतुरस्र कह देने मात्र से सम घन चतुरस्र अर्थ तो अर्थापत्त्या-निकल आता है, लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर अनन्तानन्त परमाणुयें बन्धी हुयी या नही बंधी हुयी भी ठहर रही है, अत. सूक्ष्म परमाणुओं का अन्य परमाणुओं के साथ सर्वांग संयोग होकर अणु मात्र प्रचय होजाने के भी हम जैन विरोधी नही हैं, बडी अवगाहना वाले स्कन्धों की उत्पत्ति परमाणु के चौकोर पैल माने बिना हो नही सकती है, अत शक्ति अपेक्षा परमाणु के छह ओर मानने पडते है। यो व्यक्ति रूप से विचार करने पर परमाणु स्वय अपना आदि है, आप ही अपना मध्य है, और स्वय ही अपना अन्तिम भाग है।

तथा वही जैन ग्रन्थों मे इस प्रकार कहा गया है, कि विशेषतया परमाणु को यों समझ लिया जाय कि वह स्वयं अपना आदि है, और पूरा शरीर वाला स्वय अपना मध्य है, तथा स्वयं पूरा का पूरा अपना अन्त है, बहिरंग इन्द्रियो से ग्रहण करने योग्य नही होरहा परमाणु अतीन्द्रिय है, आज तक परमाणु का छोटा विभाग नही हुआ, न है, और भविष्य मे भी परमाणु का खण्ड नही होगा, अत. परमाणु अविभाग है, यद्यपि अकृत्रिम प्रतिमायें, सूर्य, चन्द्रविमान, आदि अखण्ड स्कन्ध पदार्थों का भी विभाग नही होता है, फिर भी अनादि-निधन अकृत्रिम पौद्‌गलिक स्कन्धो मे से प्रति-समय अनन्तानन्त परमाणुयें निकलते और घुसते रहते है अतः अकृत्रिम प्रतिमा आदि के अंश विद्यमान है, किन्तु परमाणु के तो अंश भी नही है, अत. परमाणु निरंश है, यहा तक अणुओं का व्याख्यान समाप्त कर दिया गया है।

स्थौल्यात् ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारास्कंदनात् स्कंधा, उभयत्र जात्यपेक्षा बहुवचनं। अणु-जात्याधाराणां स्कंधजात्याधाराणामवांतरजातिभेदानामनंतत्वात्। अणुस्कंधा इत्यस्तु-लघुत्वादिति चेन्नोभयत्रसंबंधार्थत्वाद्भेदकरणस्य। स्पर्शरसगंधवर्णवंतोणवः, शब्दबंधसौक्ष्म्य-स्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवंतश्च स्कंधा इति। वृत्तौ पुनः समुदायस्यार्थवत्त्वादवय-वार्थाभावात् भेदेनाभिसंबन्धः कर्तुमशक्यः।

उपस्कार करते हुये निरुक्ति द्वारा अणु शब्दका जैसे अर्थ निकाला है, उसी प्रकार स्कन्ध शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये योगरूढि अर्थ निकालते हैं, कि स्थूलता होने के कारण ग्रहण किया जाना उठा कर धर देना, फेंक देना, चाबलेना, ढक देना, आदि व्यापारो का आस्कदन (युद्ध) यानी उक्त व्यापारो में भिड़ जाने से स्कंध कहे जाते हैं। यहां अणु, स्कन्ध, दोनों में जाति की अपेक्षा बहुवचन कहा गया है अर्थात्-"जातावेकवचनं" गेहूँ महंगा है, घोड़ा शीघ्र दौड़ा करता है, आदि जाति-वाचक शब्दो में एक वचन शोभता है, किन्तु अणुओं और स्कन्धों की जातिया भी अनेक हैं, हा सभी पुद्गलो

का संग्रह करने के लिये साधारणतया अणु और स्कन्ध ये दो भेद होसकते हैं, किन्तु अणु और स्कन्धों के अवान्तर यानी मध्यवर्ती उनकी जाति के भेद प्रभेदों को धारने वाले अणु जाति के आधार भूत और स्कन्ध जाति के आधारभूत पुद्गलो को अनन्तानन्त संख्या है। ऐसी अवस्था मे कोई आक्षेप करता है, कि तब तो द्वन्द्व समास कर "अणुस्कधाः" इतना ही सूत्र कहा जाओ, यो कह देने में लाघव गुण है, अर्द्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"

ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नही कहना क्योंकि पृथक् पृथक् जस् विभक्ति वाले पदो का भेद करना तो उक्त दोनों सूत्रों मे इस सूत्र का क्रम से सम्बन्ध करने के लिये है, "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" इस तेईसवे सूत्र का अणवः के साथ सम्बन्ध किया जाय और "शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च" इस चौवीसमे सूत्र का स्कंधाश्च के साथ यो अन्वय किया जाय। अर्थात्-स्पर्श, रस, गन्ध- वर्ण, वाले अणु पुद्गल हैं, और शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, घाम, उद्योत, पर्यायों वाले स्कन्धपुद्गल है इस सूत्र मे पडे हुये चकार से शब्द आदि पर्यायो वाले स्कन्धों को परमाणुओं के समान स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णों से सहितपना भी उक्त होजाता है, ये सभी पुद्गलो के सहभावी पर्याय हैं। यदि द्वन्द्व समास वृत्ति कर दी जाती तो फिर समासित पद में समुदाय ही अर्थवान् होता "समुदायो ह्यर्थवानेकदेशोऽनर्थक." समुदित अर्थ को प्रधानता हाजाने से अकेले अकेले अवयव का अर्थ अन्वित नही होपाता, ऐसी दशा मे तेईसमे और चौवीसमे सूत्रों का यहां भेद करके दोनो ओर सम्बन्ध नही किया जा सकता है, अतः सूत्रकार ने लाघव को तुच्छ समझ कर प्रभूत प्रमेय की प्रतिपत्ति कराने के लिये समास नहीं कर अव्यक्त सूत्र कहा है।

किं पुनरनेन सूत्रेण कृतमित्याह।

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है, कि श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्र करके फिर क्या प्रमेय अर्थ की सिद्धि की है ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द आचार्य इस उत्तर वार्तिक को कहते हैं।

अणवः पुद्गलाःकेचित्स्कंधाश्चेति निवेदनात्।
अण्वेकांतः प्रतिक्षिप्तः स्कंधैकांतश्च तत्त्वतः॥ १॥

कोई तो पुद्गल अनेक अणुस्वरूप हैं, और कितने ही अनन्तानन्त पुद्गल स्कन्ध स्वरूप हैं, इस प्रकार सूत्रकार द्वारा निवेदन कर देने से बौद्धों का वस्तुतः केवल परमाणुओ के ही एकान्त वाद का प्रतिक्षेप (खण्डन) कर दिया गया है, और तात्त्विक रूप से माने गये केवल स्कन्धों के एकान्त का भी निराकरण कर दिया है। भावार्थ-जगत् मे न तो केवल परमाणु ही हैं, न केवल स्कध ही हैं, किन्तु पांच द्रव्यों के साथ छठा पुद्गल द्रव्य भी है, जो कि परमाणु और स्कन्ध इन दोनों भेदो मे विभक्त होरहा व्यक्ति रूप से अनन्तानन्त सख्या वाला है। सांख्य जन आत्मा और प्रकृति इन दो

तत्वों को मानते हैं, ईश्वर-वादी कोई साख्य के एक देशी पण्डित ईश्वर को भी तीसरा तत्व मान बैठे हैं, इनके यहा आत्मा भी परमाणु स्वरूप नहीं है. तथा सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, की साम्य अवस्था स्वरूप प्रकृति भी परमाणु रूप नही है, अत: प्राकृतिक पदार्थों को एकान्तत. स्कन्ध स्वरूप ही इन्हें मानना पड़ेगा, अत. इस सूत्र द्वारा साख्यो के स्कन्ध एकान्त का भी प्रत्याख्यान कर दिया जा चुका है ।

न ह्यणव एवेत्येकांतः श्रेयान् स्कंधानामध्यक्षबुद्धौ प्रतिभासनात् । तत्र तत्प्रतिभासस्य भ्रांतत्वे बहिरंतश्च परमाणूनामप्रतिभासनान्न प्रत्यक्षमभ्रांतं स्यात् । स्वसंवेदनेपि संवित्परमाणोरप्रतिभासनात् । तथोपगमे सर्वशून्यतापत्तिरनुमानस्यापि परमाणुग्राहिणोऽसद्भावात् भ्रांतात्प्रत्यक्षतः कस्यचिल्लिंगस्याव्यवस्थितेः कुतः परमाण्वेकांतवादः पारमार्थिकः स्यात् ? ।

अन्तरग या वहिरग सभी पदार्थ अणु स्वरूप ही हैं, यह एकान्त करना श्रेष्ठ नही है, क्योकि प्रत्यक्ष बुद्धि मे स्कन्धो का प्रतिभास होर हा है घट, पट पुस्तक, पर्वत, आदि पिण्डो का बालको को भी प्रत्यक्ष अवलोकन होता है यदि उन अवयवी पदार्थों मे होरहे उस स्कन्ध के प्रतिभास का भ्रान्त होना कहा जायेगा तब तो वहिरग और अन्तरग परमाणुओ का प्रतिभास नही होने के कारण कोई भी प्रत्यक्ष अभ्रान्त नही होसकेगा भावार्थ बौद्धो के यहां अन्तरग आत्म-तत्व माने गये क्षणिक विज्ञान स्वरूप परमाणुओ का तो वैसे ही अतीन्द्रिय सूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष नही होसकता है, अत एव वहिरग स्वलक्षण परमाणुओ का भी प्रत्यक्ष नही होपाता है, ऐसी दशा मे किसी भी परमाणु का प्रत्यक्ष नही होसका, यदि किसी ने बलात्कार स परमाणु वधूटी के अतीन्द्रिय घू घट मे छिपे हुये मुख का दर्शन कर भी लिया तो प्रत्यक्ष भ्रान्त ही होगा, समीचीन प्रमाण स्वरूप नही ।

तथा स्कन्धो के प्रत्यक्षो को तो बौद्ध अपरमार्थभूत होने के कारण भ्रात कह ही रहे हैं, ऐसी दशा मे जगत् के प्राणिओंका कोई भी प्रत्यक्ष भ्रान्ति-रहित यानी प्रामाणिक नही होसका, सभी प्रत्यक्ष भ्रान्त होगये अब प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति के विना, टोंटे लगड़े पुरुष के समान बौद्ध किसी भी अर्थ सिद्धि पर नही पहुँच सकेंगे क्योंकि सभी के यहा तत्व-व्यवस्थाये प्रमाणमूलक मानी गयी हैं बौद्धो ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं, अनुमान का बीज प्रत्यक्ष है, यदि प्रत्यक्ष को भ्रान्त मान लिया जायगा तो बौद्धो के भी तत्व बालू की भीत पर चित्रित होरहे कल्पित ठहर जायेंगे बौद्धो के यहां माने गये स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष मे भी विज्ञान परमाणुओं का प्रतिभास नही होने पाता है, ऐसी दशा में बौद्धो के अंगीकृत इन्द्रिय प्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्ष, स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष, और योगि प्रत्यक्ष, इन चारो प्रत्यक्षों का भ्रान्तपना होचुका । यदि तिस प्रकार प्रत्यक्षों का भ्रान्तपना स्वीकार कर लेंगे तब तो बौद्धो के यहां सबसे शून्य होजाने का प्रसग आजावेगा अनुमान प्रमाण भी किसी तत्व को नही साध सकता है ।

सौत्रान्तिक बौद्धों ने सभी अन्तरंग, वहिरंग, स्वलक्षणो को वस्तुत परमाणु स्वरूप मान रक्खा है, सूक्ष्म, असाधारण, क्षणिक, मान लिये गये अतीन्द्रिय परमाणुओ का ग्रहण करने वाले (के लिये) बेचारे अनुमान प्रमाण का भी सद्भाव नही है, क्योंकि अनुमान मे पडे हुये हेतु का प्रत्यक्ष होना चाहिये, आप्त होगये प्रत्यक्षो से किसी भी ज्ञापक हेतु की व्यवस्था नहीं होसकती है। ऐसी दशा मे बौद्धों के यहा केवल परमाणुओ का ही एकान्त पक्ष पकडे रहना भला किस प्रमाण से वास्तविक सिद्ध होसकेगा ? अर्थात्–परमाणुओ का ही एकान्त करना ठीक नही है।

स्कन्धैकांतस्तर्ह्यस्तोस्त्वित्यापि न सम्यक् परमाणूनामपि प्रमाणसिद्धत्वात्। तथाहि- अष्टाणुकादिस्कंधो भेद्यो मूर्तत्वे सति सावयवत्वात् कलशवत्। योऽसौ तद्भेदाज्जातोनंशोवयवः स परमाणुरिति प्रमाणसिद्धाः परमाणवः स्कंधवत्।

कोई विद्वान् कहते है कि परमाणुओ के एकान्त-वाद मे अनेक दोष आते है, अत सम्पूर्ण पदार्थों को स्कन्ध स्वरूप ही माना जाय, परमार्थ रूप से स्कधो का एकान्त ही होओ। आचार्य कहते हैं, कि यह एकान्त भी समीचीन नही है क्योकि जगत् मे परमाणुओ की भी प्रमाणो से सिद्धि होचुकी है। उसको और भी यो स्पष्ट कर समझ लीजियेगा कि आठ अणुओ का बना हुआ अष्टाणुक या सात अणुओ का सप्ताणुक आदि स्कन्ध (पक्ष) भेद यानी विदारण करने योग्य है (साध्य) मूर्त होते सन्ते सावयव होने से (हेतु) घट के समान (अन्वयदृष्टान्त)। उन अष्टाणुक आदि स्कन्धो का भेद होते होते अन्त मे जो कोई वह प्रसिद्ध, निरंश, अवयव उपजेगा वही परमाणु है इस प्रकार स्कन्धो के समान परमाणुये भी प्रमाण से सिद्ध होजाती है। अर्थात्—अष्टाणुक को चाहे चारद्वयणुको से या दो त्र्यणुको और एक द्वयणुक से, अथवा आठो ही अणुओ से, एव एक सप्ताणुक और एक अणु से तथा एक षडणुक और एक द्वयणुक आदि किसी भी ढगो मे बना लिया जाय पुरुषार्थ से कोई जीव इन द्वयणुक, त्र्यणुक, आदि को नही बनाते हैं। जैसे कि काठ कपास, माटी, चादी, अन्न को कोई वढई, कोरिया, कुम्हार, सुनार, वनिया, नही बना सकते हैं। मेघ, विद्युत्, आंधी, उल्का, आदि के समान न जाने किन किन निमित्तो अनुसार ये अतीन्द्रिय हो रहे द्वयणुक आदि स्कन्ध उपज जाते हैं।

छः पैल वाली बीचली परमाणु के साथ छह ऊ दिशाओ मे छ परमाणुये चिपट जाते है। बन्ध होजाने पर उन सातो का एक सप्ताणुक अवयवी बन जाता है। कभी एक ही ओर से सात परमाणु चुपट जाते है, तो भी अष्टाणुक बन सकता है, उस सप्ताणुक स्कन्ध मे ही पुन: एक परमाणु बन्ध जाय तो भी अष्टाणुक स्कन्ध वन जाता है। वैशेषिको की वह प्रक्रिया जैन सिद्धान्त मे इष्ट नही की गई है। कि थान में यदि एक तन्तु भी आकर मिलेगा तो सब का सब पचास गज का थान नष्ट होजायगा और पुन मिलाये गये उस छोटे से डोरे को साथी बना कर अवयवो द्वारा पुन: नवीन थान बनाया जायेगा एवं पचास गज के थान में से एक अंगुल भी सूत निकालने पर भी दूसरा थान

नवीन बनेगा परमाणु का भी विश्लेश होजाने पर द्वयणुक का नाश होजाने पर त्र्यणुक का नाश होते होते महापट का नाश होजावेगा पुनः परमाणुओं में क्रिया द्वारा द्वयणुक आदि की सृष्टि होते होते नवीन महापट का उत्पत्ति द्वारा, वही पट है, यह प्रत्यभिज्ञान तो सादृश्य मूलक माना जायेगा।

जैसे कि वही दीप कलिका है, यहां सजातीय अन्य कलिकाओं में भ्रान्तिवश एकत्व प्रत्यभिज्ञान होगया है। सत्य बात यों है कि वैशेषिकों की यह प्रक्रिया कोरा ढोंग है इस में कोई प्रमाण नहीं है। अतः इसका खण्डन प्रसिद्ध ही है। हां परमाणुओं की सूक्ष्मता चमत्कार है स्थूल बुद्धि वाले जीवों के ग्रहण, आकर्षण, खादन, आदि प्रवृत्ति, निवृत्ति, के उपयोगी व्यवहारों में आरहा सब से छोटा पिण्ड भी अनन्तानन्त परमाणुओं का पुंज है। देखिये यहां अब लोक व्यवहार में बाल का अग्रभाग बहुत छोटा टुकडा समझा जाता है जो कि अनन्तानन्त परमाणुओं के पिण्ड होरहे उत्सञ्ज्ञासञ्ज्ञा नामक पुद्गल स्कन्ध से ८×८×८×८×८×८×८×८=१६७७७२१६ एक करोड सरसठ लाख सतत्तर हजार दो सौ सोलह गुणा बडा है। अब बताओ कितने ही सूक्ष्म यन्त्र से बालाग्र का देखाजाय जो कि यत्र केश के अग्र भाग को पर्वत के समान भी बडा दिखा दे फिर भी सप्ताणुक, अष्टाणुक, कोटचणुक, स्कन्धों का बहिरंग इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होसकता है, जब कि दृश्यमान बडे बड़े पर्वत या समुद्र तो बालाग्र से सख्याते गुणे ही है हां स्वयंप्रभ पर्वत या स्वयम्भूरमण समुद्र भले ही बालाग्र से असंख्यातगुण है। किन्तु परमाणु, अष्टाणुक, कोटयणुक से बालाग्र तो अनन्तानन्त गुणा है ऐसी दशा में कार्यान्यथानुपपत्ति से ही छोटे छोटे अवयवों का अनुमान द्वारा साध दिया जाता है। आगम प्रमाण तो सभी के गुरु है।

प्रकरण प्राप्त इस अनुमान में केवल मूर्तत्व ही हेतु कहा जाता तो परमाणु करके व्यभिचार होजाता क्योंकि स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, वाली परमाणु मूर्त है। किन्तु पुनः भिन्न होकर टुकडा करने योग्य नहीं है। सावयव कह देने से परमाणु करके आये व्यभिचार का निवारण होजाता है। हां यदि सावयवत्व ही हेतु कह दिया जाता तो आकाश, आत्मा, आदि, अखण्डनीय पदार्थों से व्यभिचार दोष आजाता प्रदेशों वाले आकाश आदिक सावयव होते हुये भी भेदने योग्य नहीं है, अतः मूर्तत्व विशेषण देना आवश्यक होजाता है। मूर्त होते हुये अवयव सहितपन हेतु से अष्टाणुक, सप्ताणुक, पञ्चाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, द्वयणुक, स्कन्धों का भेद होना साध दिया जाता है। पर्वत, घट, पट, आदि का फटना, फूटना, तो प्रसिद्ध हो है, किन्तु परमाणु का सिद्धि कराने में विशेष उपयोगी नहीं है।

बात यह है, कि पर्वत आदि बड़े बड़े अवयवियों के टूटे फूटे हुये टुकड़े भी स्कन्ध रूप होते है, यद्यपि जैसे वस्त्र को फटकारने पर धूल झड़ जाती है, उसी प्रकार घट आदि के टूटे हुये भाग से अनन्त परमाणुयें भी झड़ पड़ती है, तथापि उन स्थूल पिण्ड होरहे टुकडा की गणना में विचारी अतीन्द्रिय परमाणुओं को कौन पूंछता है ?

अकृत्रिम चैत्यालय, सूर्य, पर्वत, घट, पट, आदि अवयवियों से अनन्तानन्त परमाणुयें तो

वैसे ही सदा निकलते प्रविशते रहते हैं, अतः बड़े अवयवियों के टूटने पर बिखर गये परमाणुओं की विवक्षा नही की गयी है, हाँ आठ अणूओ के पिण्ड अष्टाणुक,या सात अणू के बने हुये सप्ताणुक आदि को विभक्त किये जाने पर परमाणु स्वरूप टुकडा होजाना झटिति लक्ष्य होजाता है, अन्न की ढेरीं में से हाथ डाल कर सेरो अनाज के पिण्ड उछाले जाय तो बहुत से अन्न सम्मिलित हाकर भी गिर पड़ते हैं, हाँ आठ या सात ही धान्य बीजो को उछाला जाय तो कई बीज अकेले भी प्रमाण गोचर होजाते हैं, इस हार्दिक भाव के अनुसार ग्रन्थकार ने घट, कपाल कपालिका, आदि स्कन्धो का विदारण होना साध कर अष्टाणुक, सप्ताणुक आदि स्कन्ध का भेदने योग्य पना साधा है, जो कि परमाणुओं के सद्भाव का परिज्ञापक है।

अब यहा कोई जिज्ञासु शिष्य मानो पूंछता है, कि यह अणुस्वरूप और स्कन्ध स्वरूप जो पुद्गलो का परिणाम वर्त रहा है, वह क्या अनादि है ? अथवा क्या आदिमान् है ? यदि उत्पत्ति स्वरूप होने से अणूओ और स्कन्धो सादि माना जायगा तो बताओ किस निमित्त कारण से ये उपजते हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इन पुद्गलों की उत्पत्ति मे निमित्त होरहे कारणो की सूचना करने के लिये इस अगले सूत्र को कह रहे है ।

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

चीरना, फाड़ना, टूटना, फूटना, पीसना, दलना, फूटना आदि छिन्न भिन्न करना स्वरूप भेद से और मिलजाना चिपटजाना, बंधजाना रलजाना, घुलजाना, पिण्डीभूत होजाना, आदि न्यारे न्यारे पदार्थों की कथंचित् एकत्वापत्ति स्वरूप संघात से तथा कतिपय अन्य अंशो का भेद और साथ ही दूसरे कतिपय अंशो का संघात इन तीन कारणो से पुद्गल (स्कन्ध) उत्पन्न होते हैं ।

संहतानां द्वितयनिमित्तवशाद्विदारणं भेदः, विविक्तानामेकीभावः संघातः द्वित्वाद्द्विवचनप्रसंग इति चेन्न, बहुवचनस्यार्थविशेषज्ञापनार्थत्वात्तो भेदेन संघातेन इत्यस्याप्यविरोधः ।

परस्पर मिलकर संघात को प्राप्त होचुके स्कन्धो का पुनः अन्तरंग, बहिरंग, इनदोनो निमित्त कारणो के वश से विदीर्ण होजाना भेद है, और पृथग्भूत अनेक पदार्थो का कथंचित् एक होजाना संघात है। यदि यहा कोई यों पूछे कि भेद और संघात तो दो ही हैं, अतः द्वित्व की विवक्षा अनुसार "भेदसंघाताभ्यां" यों केवल द्विवचन होना चाहिये सूत्रकार ने भ्यस् विभक्ति वाले बहुवचन का प्रयोग क्यों किया है ? आचार्य कहते है, कि यह तो नही कहना क्योंकि यहा विशेष अर्थ को ज्ञप्तिकराने के लिये बहुवचन कहा गया है, तिस कारण भेद के साथ युगपत् होरहा संघात इस तीसरे कारण को भी पकड़ लेनेसे कोई विरोध नही आता है,अर्थात् जैन सिद्धान्तमे तीनोको स्कन्धका कारण इष्ट किया है, पत्थर मे से कुछ टुकड़ का छिन्न, भिन्न कर प्रतिमा उकेर ली जाती है, चून मे पानी डाल कर पिण्ड

बना लिया जाता है, तथा जल मे औषधिओं का क्वाथ करते समय अग्नि द्वारा जल का कुछ भाग जल कर विदीर्ण होजाता है, और कुछ भाग औपधियो का जल मे आकर उसी समय मिलजाता है, यो एक काढा नामक पेय औपधिस्कन्ध बन जाता है. जो कि अग्निसयोग को निमित्त पाकर हुई औषधिओ और जल की तीसरी ही अवस्था है।

उत्पूर्वः पदिर्जात्यर्थस्तेनोत्पद्यते जायंत इत्युक्तं भवति तदपेक्षो हेतुनिर्देशो भेदसंघातेभ्य इति निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रदर्शनाद्भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्त इति।

पद गतौ धातु से पूर्व मे उत् उपसर्ग लगा देने पर उसका अर्थ जन्म होजाना है, तिस कारण सूत्र के उत्पद्यन्ते इस पद द्वारा 'उत्पन्न होजाते हैं" यह अर्थ कहा जा चुका हो जाना है, उपजना क्रिया को किसी हेतु की अपेक्षा है, अत. उस उत्पद्यन्ते की अपेक्षा रखता हुआ "भेदसघातेभ्य." यह पंचमी विभक्ति वाले हेतु का निर्देश कर दिया "जनि कर्तुः प्रकृतिः" वैयाकरणो का निमित्त या कारण अथवा हेतुओ मे सम्पूर्ण विभक्तियो के होजाने का आदेश है "हेतौ हेत्वर्थे सर्वाः प्रायः" धर्मेण हेतुना, धर्माय हेतवे धर्माद्धेतोः, धर्मस्य हेतो, धर्मे हेतौ, वर्तते, ऐसे प्रयोग मिलते है। "निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासा प्रायदर्शन, अत. हेतु अर्थों मे सभी विभक्तियो का प्रदर्शन होजाने से यहां प्रकरण मे सूत्रकार ने पचमी विभक्ति को कहते हुये "भेदसघातेभ्य उत्पद्यन्ते" यो सूत्र कहा है, ज्ञापक हेतु या कारक हेतु दोनो मे पचमी विभक्ति अधिक शोभती है।

ननु च नोत्पद्यतेऽणवोऽकार्यत्वाद्गगनादिवदिति कश्चित्. स्कंधाश्च नोत्पद्यन्ते सतामेव तेषामाविर्भावादित्यपरः। त प्रत्यभिधीयते।

यहाँ किसी एकान्त-वादी पण्डित के स्वपक्ष का अवधारण है, कि परमाणुये (पक्ष) नही उपजती है, (साध्य) किसी भी कारण के द्वारा बनानेयोग्य कार्य नहीं होने से (हेतु) आकाश, आत्मा, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार कोई नैयायिक या वैशेषिक पण्डित कह रहा है, तथा कोई दूसरा पण्डित यो भी कह रहा है, कि स्कन्ध (पक्ष) नही उपज रहे है, (साध्य) क्योंकि अनादि काल से सद्भूत होरहे स्कन्धो का ही अभिव्यंजक कारणों द्वारा आविर्भाव होजाता है, (हेतु) रात्रि में देखे जा रहे तारागण के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार दूसरे किसी सांख्य पण्डित का कहना है। अर्थात्-परमाणुओ को वैशेषिक नित्य द्रव्य मानते है, अतः परमाणुओ की उत्पत्ति नही होसकती है, एव परमाणुओं को नही मान कर प्राकृतिक नित्य स्कंधो का ही आविर्भाव तिरोभाव माननेवाले सांख्योके यहा स्कन्धोकी कथमपि उत्पत्ति नही मानी गयी है, इन दोनो पण्डितों के प्रति अब ग्रन्थकार करके वार्तिक द्वारा समाधान कहा जाता है उसको आप सज्जन भी सुनें—

उत्पद्यंतेऽणवः स्कन्धाः पर्यायत्वाविशेषतः।
भेदात्संघाततो भेदसंघाभ्यां चापि केचन (संघाताभ्यां च केचन) ॥१॥

इति सूत्रे बहुत्वस्य निर्देशाद्वाक्यभिद्गतिः ।
निश्चीयतेन्यथा दृष्टविरोधस्यानुषंगतः ॥२॥

परमाणुयें और स्कन्ध (पक्ष) उपजते रहते हैं,(साध्य) विशेषताओं करके सहित होरहा पर्यायपना होनेसे (हेतु) इस अनुमान द्वारा अणुओंके समान स्कन्धोंकी या स्कन्धोंके समान पुद्गलपरमाणुओं की अथवा परमाणु और स्कन्ध दोनों की उत्पत्ति होना सिद्ध कर दिया है, कई अणुयें या स्कन्ध तो पिण्ड के छिन्न भिन्न. होजाने से उपज जाते है, और कोई कोई स्कन्ध बेचारे मिश्रण होजाने रूप संघात से उत्पन्न होजाते है, तथा कतिपय स्कन्ध तो एक साथ हुये कुछ पिण्डों के भेद और कुछ पिण्डों के संघात से आत्मलाभ करते है । इस प्रकार सूत्र मे "भेदसंघातेभ्य·" यों बहुवचन का निर्देश किया गया है, अतः १ भेद से उत्पन्न होते है, २ संघात से उपजते है, ३ भेद और संघात दोनों से उपजते है । यों भिन्न भिन्न तीन वाक्यों की ज्ञप्ति होजाना निर्णीत कर लिया जाता है । अन्यथा यानी इन तीन के सिवाय अन्य किन्हीं एक, दो, या चार, पांच, प्रकारों से अणुओं या स्कन्धों की उत्पत्ति मानी जायगी तो प्रत्यक्ष प्रमाणों से ही विरोध आजाने का प्रसंग आवेगा जब कि प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा या युक्तियों से भी तीन ही प्रकारों करके पुद्गलों की उत्पत्ति होना जगत्-प्रसिद्ध होरहा है, ऐसी दशा में अन्य किसी प्रकार को अवकाश नहीं मिलता है ।

स्कंधस्यारंभका यद्वदणवस्तद्वदेव हि ।
स्कंधाणूनां भिदारंभनियमस्यानभीक्षणात् ॥३॥

नैयायिक या वैशेषिकों ने अणुओं को स्कन्ध का उत्पादक जैसे मान लिया है, उस ही प्रकार स्कन्ध भी छिन्न भिन्न होजाने से अणुओं की उत्पत्ति कराने वाला है, परमाणुओं या स्कन्ध के आरम्भ करने वाले न्यारे न्यारे विजातीय कारण होय या इन दोनों में से किसी एक स्कन्ध की तो उत्पत्ति मान ली जाय और परमाणुओं की उत्पत्ति नहीं मानी जाय ऐसे पक्षपातपूर्ण नियम कर देने का दर्शन नहीं होरहा है, अतः स्कन्धों के समान परमाणुयें भी स्कन्धों के भेद से उपज जाती है, यों स्वीकार कर लो । यद्यपि जगत् में अनन्तानन्त परमाणुयें ऐसी हैं, जो कि अनादि काल से परमाणु अवस्था मे ही निमग्न हैं, वे स्कन्ध से उपजी हुई परमाणुयें नहीं है, तथापि स्कन्धों से परमाणुओं की उत्पत्ति होजाने के सिद्धान्त मे कोई क्षति नहीं पड़ती है, अनन्तानन्त अकृत्रिम स्कन्ध भी तो परमाणुओं से नहीं उपजे हुये जगत् मे अनादि काल से स्कन्ध पर्याय मे ही लवलीन होरहे है, एतावता परमाणुओं और स्कन्धों के होरहे मिथःकार्य कारण भाव की अक्षुण्ण रक्षा होजाती है, कार्यकारणभाव की मनीषा इतनी ही है, कि नवीन ढंग से जो परमाणुयें उपजेंगी वे विदारण करने से ही निपजेंगी तथा जो स्कन्ध नवीन रीति से आत्मलाभ कर रहे है वे भेद, संघात और भेदसंघात इन तीन प्रकारों से ही उपजते हैं, अन्य कोई उपाय नहीं । "चतुर्थो नैव कारणम्" ।

उत्पद्यंतेऽणवः पुद्गलपर्यायत्वात् स्कन्धवत् । न हि पार्थिवादिपरमाणवोऽपि पृथिव्यादिद्रव्याण्येव,पृथिव्यादिपरमाणुस्कंधद्रव्यव्यक्तिषु पृथिवीत्वादिप्रत्ययहेतोरूर्ध्वतासामान्याख्यस्य पृथिव्यादिद्रव्यस्य व्यवस्थापनात् । ततो न तेषां पर्यायत्वमसिद्धं ।

परमाणुये (पक्ष) उपजती है, (साध्य) पुद्गल की पर्याय होने से (हेतु) स्कन्ध के समान (अन्वय दृष्टान्त)। यहा वैशेषिको का यह मन्तव्य होसकता है, कि पृथिवी परमाणुये तो पृथिवी द्रव्य ही है, जल परमाणुऐं जल द्रव्य ही है, तेजसपरमाणुयें तेजोद्रव्य ही है, वायवीय परमाणुयें वायु द्रव्य ही हैं, ये चारो जाति की न्यारी न्यारी परमाणुयें कथमपि पर्याय नही हैं, हॉ इन चारो द्रव्यों के बने हुये पृथक् पृथक् शरीर, इन्द्रिय और विषय इन तीन भेदो अनुसार अनित्य स्कन्ध अनेक है, जो कि स्कन्ध पर्याय स्वरूप ही है द्रव्य नही है । इस मन्तव्य का प्रत्याख्यान करते हुये ग्रन्थकार कहते है, कि प्रथम तो पृथिवी, जल, आदि चार जाति की न्यारी न्यारी परमाणुये ही नही है, एक रूप, एक रस, एक गन्ध और दो स्पर्श गुणो को धारने वाला एक एक परमाणु होकर यो एक ही प्रकार की अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुयें है, भिन्न भिन्न वृक्षो मे प्राप्त हुये मेघ जल के समान वे परमाणुये न्यारे न्यारे स्कन्धो मे परिणत हुईं अनेक अर्थक्रियाओ को कर देती हैं ।

दूसरी बात यह है, कि पार्थिव, जलीय, आदि परमाणुये भी केवल पृथिवी द्रव्य, जल द्रव्य आदि द्रव्य स्वरूप ही नही है, परमाणुये भेद होजाने से उपज रही पर्यायें भी है, यो द्रव्यदृष्टि से या सदृश परिणाम स्वरूप द्रव्यत्व जाति पर लक्ष्य देकर विचारा जाय तो स्कन्ध भी द्रव्य होजाते है। परमाणुओ ने ही द्रव्यपने का ठेका नही मोल ले लिया है । वैशेषिको ने भी स्कन्ध को द्रव्य मान लिया है, पृथिवी परमाणुये और घट, पट, आदि पार्थिव स्कन्धो इन द्रव्य-व्यक्तियो मे ये पूर्वापर परिणाम पृथिवी है, ये पृथिवी है, इत्यादि अन्वयरूप से ज्ञान कराने के कारण होरहे उर्ध्वतासामान्य नामक पृथिवी द्रव्य को पूर्व प्रकरणो मे व्यवस्था कराई जा चुकी है।

अर्थात्-परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु" कालत्रय सम्बन्धी अनेक विवर्तों मे पृथिवीत्व या द्रव्यत्व नामके ऊर्ध्वता सामान्य ठहर रहे हैं, इसी प्रकार पहिले पिछले कालोमे वतरहे जल आदि के व्यक्तिरूप से परमाणु द्रव्यो और स्कन्ध द्रव्यों मे जलत्व, तेजस्त्व आदि अन्वय ज्ञानों के हेतु होरहे ऊर्ध्वता सामान्य इस संज्ञा के धारी जल आदि द्रव्यो की व्यवस्था कर दी गई है, तिस कारण स्कन्धो मे भी कथचित् द्रव्यपना सिद्ध है, तिस ही कारण उन परमाणुओ का पर्यायपना असिद्ध नही है, अनेक कालो मे उपज रहे परमाणु विवर्तों मे तभी तो एक द्रव्य की अनेक भूत, वर्तमान्, भविष्य परिणतिओं में ठहरने वाला ऊर्ध्वतासामान्य वत रहा है. अतः परमाणुओ की उत्पत्ति होना सध जाता हैं, जैनों का पुद्गल पर्यायत्व हेतु पक्ष मे ठहर गया, यह हेत्वाभास नही है ।

परमाणूनां कारणद्रव्यत्वनियमादसिद्धमेवेति चेन्न, तेषां कार्यत्वस्यापि सिद्धेः ।

यथैव भेदात् संघाताभ्यां च स्कंधानामुत्पत्तेः कार्यत्वं तथाणूनामपि भेदादुत्पत्तेः कार्यत्वसिद्धेर-न्यथा दृष्टविरोधस्यानुषंगात् । न हि स्कंधस्यारम्भकाः परमाणवो न पुनः परमाणोः स्कंध इति नियमो दृश्यते,तस्यापि भिद्यमानस्य सूक्ष्मद्रव्यजनकत्वदर्शनात् भिद्यमानपर्यन्तस्य परमाणुजनकत्वसिद्धेः ।

यहां कोई वैशेषिक आक्षेप करता है, कि परमाणुयें कारण द्रव्य ही है, ऐसा नियम है, परमाणुयें किसी के कार्य होरहे नहीं हैं, अतः परमाणुओ के कारण द्रव्यपने का नियम होजाने से जैनों का परमाणुओं में उत्पत्ति को साधने के लिये दिया गया पुद्गल पर्यायत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास ही है । ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योकि उन परमाणुओ का कार्यपना भी सिद्ध है, देखो जिस प्रकार भेद से या संघात से अथवा भेद-संघात, दोनो से उत्पत्ति होजाने के कारण स्कन्धों का कार्यपना प्रसिद्ध है, तिसी प्रकार अणुओ का भी छिन्नता से भिन्नता से उत्पत्ति होजाने के कारण कार्यपना सिद्ध है, अन्यथा यानी ऐसा नहीं मान करके अन्य प्रकारो से यदि परमाणुओ को सर्वथा नित्य ही माना जायगा तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा देखी जा रही पदार्थ व्यवस्था से विरोध ठन जाने का प्रसंग आजावेगा । बालक बालिका भी पिंड के छिद, भिद जाने से छोटे छोटे टुकडो की उत्पत्ति होरही को देखते है, इसी तारतम्य अनुसार टुकड़े होते होते अन्त मे जाकर सब से छोटे टुकडे हुये परमाणू पर विश्राम करना पडेगा तरतमभाव से हुआ प्रकर्षमाणपना कहीं अन्त में जाकर अवश्य विश्राम लेता है, उपजे हुये छोटे अवयव का विश्रान्तिस्थल परमाणू है ।

वैशेषिको के यहां स्कन्ध के आरम्भक तो परमाणुयें मान लिये जावे किन्तु फिर परमाणू का आत्म-लाभ कराने वाला स्कन्ध नहीं माना जाय यह कोई नियम अच्छा नहीं देखा जाता है, क्योंकि मूसल,चाकी, मोगरा, आदि भेदक कारणों से भेदे जा रहे उस स्कन्ध को भी सूक्ष्म द्रव्य का जनकपना देखा जारहा है, उत्तरोत्तर भेदा जा रहा पदार्थ पर्यन्त अवस्था में परमाणू तक पहुंच जाता है, अतः भेद को ही परमाणु का जनकपना सिद्ध हुआ । यहां अशुद्ध द्रव्य या वैशेषिको के मत अनुसार अथवा ऊर्ध्वता सामान्य की प्रक्रिया अनुसार परमाणु को द्रव्य कह दिया गया है, जीव आदि द्रव्यो के समान जब वास्तविक पुद्गल द्रव्य को जताया जायेगा तो पुद्गल परमाणुओ पर ही दृष्टि ठहर जायेगी पुद्गल की स्वाभाविक शुद्ध परिणति परमाणु द्रव्य मे होरही निर्णीत कर ली जाती है, इस सूत्र द्वारा पुद्गलों की उत्पत्ति का समीचीन परामर्श करा दिया गया है ।

उक्त सूत्र द्वारा सामान्य रूप करके अणुओं और स्कन्धो की भेद या संघात अथवा एक समय मे होरहे दोनो भेद संघातो से उत्पत्ति होजाने का प्रसंग प्राप्त होने पर विशेष प्रतिपत्ति कराने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते है ।

भेदादणु ॥ २७ ॥

केवल भेद से ही अणु की उत्पत्ति होती है । संघात या भेद-संघात दोनों से अणु नहीं उपज

पाती है अर्थात्—"सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय" पूर्व सूत्र करके सभी पुद्गलोकी उत्पत्ति प्रतीत होचुकी थी पुन. सूत्रकार करके जो इस सूत्र का आरम्भ किया गया है , वह नियम करने के लिये ही समझा जायेगा, नवीन मुख्य अर्थ की ज्ञप्ति तो पहिले सूत्र से ही होचुकी थी।

सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेरेवकारावचनं । अभक्षवत् । यस्मात् ।

विना कहे ही अर्थापत्ति की सामर्थ्य से अवधारण (नियम) करने की प्रतीति होजाती है, अतः सूत्र मे अन्ययोग का व्यवच्छेद करने वाले एवकार का कण्ठोक्त निरूपण नही किया है। जैसे कि अप् भक्षण, मे एव लगाने की कोई आवश्यकता नही दीखती । अर्थात्—कोई सज्जन पुरुष कहता है कि आज अष्टमी के दिन हमने अनुपवास किया है, जल पिया है. यहां ही को लगाये विनाही नियम अर्थ निकल आता है। जब कि अन्न, खाद्य, स्वाद्य पेय,इन चारो प्रकारके भोजनों को करने वाला भी जल पीता है, ऐसी दशा मे जल पीने का निरूपण करना व्यर्थ पडता है किन्तु वह सज्जन जल भक्षण कर रहा है अतः जलो का ही भक्षण माना जाता है, उस सज्जन ने शेष चार प्रकार की भुक्तियों का परित्याग कर दिया है। बगालमे स्वल्प खाकर पानी पी लेने को या कलेऊ कर लेने को "जल खाइया छी" कहते है इस उत्तर देश मे ल के साथ भक्षण क्रिया का जोडना खटकता है, यो अप् भक्षण से विना कहे ही केवल कलेऊ ही किया, यह अर्थ निकलता है। मध्यान्ह का पूर्ण भोजन और सायंकाल के अवमौदर्य भोजन का व्यवच्छेद होजाता है, जिस कारण से कि ।

भेदादणुरिति प्रोक्तं नियमस्योपपत्तये ।
पूर्वसूत्रात्ततोणूनामुत्पादे विदितेपि च ॥ १ ॥

यद्यपि "भेदसंघातेभ्य उत्पद्यते" इस पहिले सूत्र से ही उस भेद करके अणु का उत्पत्ति होना ज्ञात होचुका था तथापि नियम करने की सिद्धि करने के लिये सूत्रकार ने भेद से अणु उपजता है . यो यह सूत्र बढिया कह दिया है अर्थात्—पूर्व सूत्र से भेद करके अणू की उत्पत्ति होना कहा जा चुका है किन्तु "एकयोगनिर्दिष्टाना सह वा प्रवृत्ति· सह वा निवृत्तिः" इस परिभाषा अनुसार साथ मे सघात और भेद-सघातो मे भी अणू का उपजना कहा जा सकता है जो कि इष्ट नही है। अतः भेद से ही अणू की उत्पत्ति का नियम करने के लिये ही यह सूत्र बनाना पडा ।

अणवः स्कंधाश्च भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्त इति वचनात्स्कंधानामिवाणूनामपि तेभ्य-उत्पत्तिविधानान्नियमोपपत्त्यर्थमिदं सूत्रं भेदादणुरिति प्रोच्यते । तस्माद्भेदादेवाणुरुत्पद्यते न संघाताद्भेदसघाताभ्यां वा स्कंधवत । भेदादणुरेवेत्यवधारणानिष्टेश्च न स्कन्धस्य भेदादुत्पत्तिर्निवृत्तिर्भेदादेवेत्यवधारणस्येष्टत्वात् ।

भेद और सघात तथा भेद-संघात दोनो इन तीन उपायों से अणूये और स्कन्ध उत्पन्न हो जाते हैं। इस पूर्व सूत्र के वचन से ही स्कन्धों के समान अणूओ का भी उन तीनो उपायों से उत्पत्ति

होजाने का विधान होचुका है, फिर भी नियम की सिद्धि कराने के लिये " भेदादणु." यों वह सूत्र बढ़िया कहा जा रहा है तिस कारण सिद्ध होजाता है कि भेद से ही परमाणु उपजता है संघात अथवा भेदसंघातो से परमाणू नही उपजता है। जैसे कि तीनो से या भेद से अथवा भेद संघातो से स्कन्ध उपजता है (व्यतिरेक दृष्टान्त) । भेद से अणु ही उपजे ऐसा अयोग व्यवच्छेदक नियम करना इष्ट नहीं है । अत भेद से स्कन्ध की उत्पत्ति होजाने की निवृत्ति नही होसकी हा भेद से ही अणु की उत्पत्ति होना इस पूर्व अवधारण को इष्ट किया गया है उत्तरवर्ती अवधारण करना ठीक नही है ।

अर्थात्— एवकार तीन प्रकार का माना गया है. जो कि अन्ययोगव्यवच्छेद, अयोगव्यवच्छेद और अत्यन्तायोगव्यवच्छेद इन तीन अर्थों मे प्रवर्त रहा है " पार्थ एव धनुर्धर " यहा विशेष्य के साथ लग रहा एव अर्जुन से भिन्न वीरो मे प्रकृष्ट धनुर्धरपने का व्यवच्छेद कर देता है " शख. पाण्डुर एव" यहा विशेषण के साथ जुड रहा एवकार शख मे पाण्डुरत्व के अयोग का व्यवच्छेद कर देता है " नीलं सरोजं भवत्येव " यहां क्रिया के साथ लग रहा एवकार कमल मे नीलत्व के अत्यन्त अयोग का व्यवच्छेद करता है । तब तो कही नीला और क्वचित् पीला, लाल आदि भी कमल होता है यह सध जाता है, प्रकरण मे "भेदात् अणुः" यहा पचमी विभक्ति का अर्थ हेतुत्व मान लिया तो "भेदहेतुका या उत्पत्तिस्तत्प्रतियोगी अणु" यो शाब्दबोध होगा अत "भेद-हेतुक एव अणु " यह विशेषणसगत एवकार लगाना अच्छा दीखता है, भेदहेतुकः अणुरेव यह विशेष्य सगत एव अन्ययोगव्यवच्छेदक ठीक नही । पहिले यही एवकार इष्ट किया गया है, विवक्षा की विचित्रता से विशेषण भी विशेष्य होजाता है ।

विभागः परमाणूनां स्कंधभेदान्न चाणवः।
नित्यत्वादुपजायंते मरुत्पथवदित्यसत् ॥ २ ॥
संयोगः परमाणूनां संघातादुपजायते ।
न स्कंधस्तद्वदेवेति वक्तुं शक्तेः परैरपि ॥ ३ ॥

यहा वैशेषिक आक्षेप करते है कि स्कन्ध का भेद होजाने से परमाणूये नहीं उपजती हैं। क्योकि पृथिवी, जल तेज, वायु, द्रव्यो की जाति से चतुर्विध और व्यक्ति अपेक्षा अनन्तानन्त परमाणूये नित्य हैं, परमाणूओ का उत्पाद और विनाश नही होता है हा क्रिया आदि करके स्कन्ध का विदारण होजाने से परमाणूओ का विभाग गुण उपज जाता है " क्रियातो विभागः" विभाग गुण तो कारणो से जन्य माना गया ही है। आकाश के समान नित्य परमाणूओ की छेदन से उत्पत्ति नही होसकती है । आचार्य कहते हैं कि यह तुम वैशेषिको का कहना प्रशंसायोग्य नही है, झूठा है, निंदनीय दूषणीय है क्योकि स्कन्ध के विषय मे तुम्हारे ऊपर भी यो आक्षेप किया जा सकता है कि परमाणूओ का सम्मिश्रण होजाने से स्कन्ध नही उपजता है किन्तु परमाणूओ का पृथग्भूत संयोग ही उपज जाता है

उस ही आकाश का दृष्टान्त यहां भी उपयोगी होजाता है अर्थात्—अणुओं के संघात से नित्य आकाश के समान स्कन्ध नहीं उपजते है।

दूसरे बौद्ध पण्डित करके भी यों कहा जा सकता है कि असंसृष्ट परमाणुयें भिड कर पुनः अत्यासन्न अवस्था मे नवीन ढंग से उपज जाती है, कोई नवीन अवयवी स्कन्ध नहीं बन जाता है। सांख्य यों कह सकते है कि अनादि काल से आकाश के समान सद्भूत होरहे नित्य स्कन्ध उपजते ही नहीं है। "सर्व सर्वत्र विद्यते" केवल तिरोभूत स्कन्ध ही मिश्रण अवस्था मे व्यक्त होजाते है। जैन तो वैशेषिकों के ऊपर बस। का वैसा ही आक्षेप उठा सकते है, कि परमाणुओं के संघात से कोई अवयवी द्रव्य नहीं उपजा है केवल संयोग ही उपज गया है। "अवयविने दत्तो जलाञ्जलिर्वैशेषिकेण महापण्डितेन, अप्रसिद्धान्तोयं वैशेषिकाणाम्"।

ननु च संघातः संयोगविशेष एव ततः कथं परमाणूनां परस्परं संयोगः समुपजायेत तस्यासंयोगजत्वात्। सर्वत्रावयवसंयोगपूर्वस्यावयविसंयोगस्य प्रसिद्धेर्वीरणादौ द्वितंतुकसंयोगवत् परस्परमवयवानां तु संयोगस्यान्यतरकर्मजस्योभयकर्मजस्य वा प्रतीतेरस्खलद्रूपत्वात्। ततः संघातादवयविन एव स्कंधापरनाम्न उत्पत्तिर्न संयोगस्येति चेत्, तर्हि विभागो भेद एव प्रतिपाद्यते ततः कथं द्व्यणुकादेः स्कन्धस्य विभागः समुपजायेत तस्याविभागजत्वात्सर्वत्रावयवविभागपूर्वस्यावयविविभागस्य विभागजविभागस्य प्रसिद्धेः काष्ठस्कन्धदलविभागवत्। परस्परमवयवानां तु विभागस्यान्यतरकर्मजस्योभयकर्मजस्य वा प्रतीतेरबाध्यत्वात् कथं द्व्यणुकादिस्कंधभेदाद्विभागस्यैवोत्पत्तिरभ्युपगम्यते भवद्भिः।

वैशेषिक अपने ऊपर आये हुये जैनोक्त आक्षेपका निवारण करते हुये स्व-पक्ष का अवधारण करते हैं कि हमने जो यों कहा था कि स्कन्ध का छेदन, भेदन होजाने से परमाणुओं का विभाग गुण उपज जाता है, आकाश के समान नित्य परमाणुये नहीं उपजती है। इस पर जैनो ने हम वैशेषिकों के ऊपर भी यही आक्षेप ज्यों का त्यों धर दिया कि परमाणुओं के सम्मिश्रण से भी परमाणुओं का संयोग मात्र ही उपजेगा स्कन्ध या अवयवी नहीं उपजेगा, इस पर हम वैशेषिकों को यह कहना है, कि संघात तो एक प्रकार का संयोग विशेष ही है। उस संघात से परमाणुओं के परस्पर मे संयोग भला कैसे उपज सकेगा? बताओ तो सही। क्योंकि परमाणुओं का वह संयोग तो किसी अन्य संयोग विशेष से जन्य नहीं है, क्रिया से परमाणुओं का संयोग होजाना माना गया है। पहिले ईश्वर इच्छा, अग्निसंयोग, वेग, अदृष्ट, आदि कारणों से परमाणुओं मे क्रिया उपजती है, क्रिया से परमाणुओं का विभाग होजाता है तदनन्तर पूर्व संयोग का नाश होता है पुनः उसी क्रिया से उत्तर देश-वर्ती पदार्थ के साथ संयोग होजाता है, अतः परमाणुओं का संयोग किसी अन्य संघात यानी संयोगसे जन्य नहीं है।

सभी स्थलो पर अवयवो के संयोग को पूर्ववर्त्ती मानकर अवयवी का संयोग होना ही प्रसिद्ध होरहा है, जैसे कि तृण विशेष से बने हुये वीरण (बुरुस) तुरी आदि मे दो दो तन्तु वाले द्वधुता का

संयोग बेचारा अवयव संयोग पूर्वक है । यानी अवयवों के संयोग मे भले ही अवयवी का संयोग होजायगा किन्तु अवयवी संयोग से अवयवो का सयोग कथमपि नहीं उपजता है । तो फिर जैन या दूसरे पण्डित यो कैसे कह सकते है कि सघात से परमाणुओ का संयोग ही उपजेगा, स्कन्ध नहीं ? हा अवयवों के परस्पर मे होरहे सयोग तो कोई अन्यतर कर्म-जन्य है और कोई उभय कर्म-जन्य हैं । सयुक्त होने वाले दोनो सूत्रो मे से किसी एक सूत मे क्रिया होकर दूसरे स्थिर सूत के पास उसका चला जाना रूप क्रिया से जो सयोग होता है वह अन्यतर कर्म-जन्य है, एक कपाल मे क्रिया होकर धरे हुये दूसरे कपाल मे उसका भिड जाना भी अन्यतर कर्मजन्य सयोग है । विभक्त होरहे मल्लो या मेंढ़ो दोनों मे क्रिया होकर भिड जाना उभय कर्म-जन्य सयोग माना गया है । कोरिया कभी दोनों तन्तुओं को सरका कर उनका सयोग कर देता है, कुलाल भी दोनों कपालो को भिड़ा कर सयुक्त कर देता है, यह अवयवो का उभय कर्म-जन्य सयोग है ।

परमाणुओ के संयोग भी दोनो ढगों अनुसार क्रियाओ से होजाते हैं, यो अवयवो के अन्यतर कर्मजन्य अथवा उभय कर्म-जन्य होरहे सयोग की निर्बाध प्रतीति होरही है, इस प्रतीति के स्वरूप का किसी भी कारण से स्खलन नही होता है तिस कारण सिद्ध होजाता है कि परमाणुओ या अवयवो के सघात से स्कन्ध इस दूसरे नाम को धार रहे अवयवी की ही उत्पत्ति नही होपाती है । ऐसी दशा में आप जैनो ने हमारे ऊपर जो आक्षेप किया था, वह ठीक नही है । वैशेषिको के यो कहने पर अब आचार्य कहते है कि तब तो इसी ढंग से तुम्हारे कटाक्ष का भी निवारण होजाता है । देखिये आप वैशेषिको ने यो कटाक्ष किया था कि स्कन्ध का विदारण होजाने से परमाणुओ का मात्र विभाग होजाता है अणुये नहीं बनती है इस पर हम जैनो का यह कहना है कि स्कन्धो का भेद तो एक प्रकार का विभाग ही समझाया जाता है उस विभाग स्वरूप भेद से द्व्यणुक, त्र्यणुक,आदि स्कधो का विभाग भला कैसे उपज सकता है ? किंचित विचारो तो सही । यह द्व्यणुकका विभाग कोई विभागज विभाग थोडा ही है जो कि विभाग से उपज जाय । वह द्व्यणुक आदि अवयवो का स्कन्ध विभाग तो दूसरे विभागो से जन्य नही है । सभी स्थलो पर अवयवो के विभाग-पूर्वक हु रहे अवयवी के विभाग की ही विभागज विभाग स्वरूप करके प्रसिद्धि होरही है, जैसे कि आकाश के साथ वृक्ष की पीढ के दो भागो के एक दल का विभाग से जन्य विभागज विभाग है ।

अर्थात्—वृक्ष के नीचले भाग तना मे कुठारसंपात-जन्य क्रिया करके विभाग उपजा यह क्रिया-जन्य पहिला विभाग है जो कि एक दल का दूसरे दल के साथ है । पुनः इस विभाग करके उस पीढ के आधे दल का आकाश देश के साथ विभाग उपजता है, वह कारण-मात्र विभाग-जन्य दूसरा हुआ विभागज विभाग है । अथवा किसी ने वृक्ष के साथ हाथ को भिड़ा रखा है, अब पुरुषार्थ द्वारा हाथ में क्रिया उपजा करके हाथ और वृक्ष का विभाग किया पश्चात् उस हस्त वृक्ष विभाग करके शरीर के साथ वृक्ष का विभाग भी उपज जाता है । यह कारणाकारण विभाग-जन्य विभागज

विभाग है। बात यह है कि अवयवों के विभाग से भले ही अवयवी का विभाग होजाय किन्तु अवयवों (स्कन्ध) के विभाग (भेद) से अवयवों (परमाणुओं) का विभाग कथमपि नहीं होसकता है, हां अवयवों के परस्पर मे होरहे अन्यतर कर्म-जन्य अथवा उभय कर्म-जन्य विभागों की प्रतीति होरही है जो कि प्रतीति किसी के द्वारा वाधी नही जाती है।

अर्थात्—अवयवों के विभाग तो क्रियाओं से ही होते माने गये हैं, फिर आप वैशेषिकों ने इससूत्र की दूसरी वार्तिक द्वारा द्व्यणुक, त्र्यणुक, आदि स्कन्धों के भेद (विभाग) से परमाणुओं के विभाग की ही उत्पत्ति होना किस प्रकार स्वीकार कर लिया है ? बताओ यदि आप वैशेषिक स्कन्ध के विदारण से परमाणुओंका विभाग होजाना इष्ट कर लेगे तो दूसरे पण्डितों करके यों अवश्य कहा जा सकता है कि संघात से परमाणुओं का सयोग ही उपजता है स्कन्ध या अवयवी नहीं। इस आक्षेप का आप कोई समुचित उत्तर नही दे सके, तीसरी वार्तिक द्वारा किया गया आक्षेप वैशेषिकों के ऊपर तदवस्थ है।

तस्यावयवभेदादाकाशादिविभागो विभागज एवेति चेत् तर्हि परमाणुसंघातादाकाशदेशादिना संयोगोपि संयोगजोस्तु। अथ परमाणुसंघातादुत्पन्नेनावयविना व्योमादेः सयोगः सयोगजो न पुनः परमाणुभिस्तस्य संयोग इति मत तर्हि स्कन्धभेदादुत्पन्नस्य परमाणोरेकदेशादिभ्यो विभागो न विभागजः किं तु स्कन्धभेद इति सर्वं समानं पश्यामः।

यदि वैशेषिक यों कहें कि उस स्कन्ध के अवयवों का भेद होजाने से हुआ आकाश के साथ विभाग तो विभागजन्य है, अत स्कन्ध के विदारण से परमाणुयें नही उपजी है, किन्तु अवयव भेद स्वरूप विभाग से उस अवयवी स्कन्ध का उन पूर्ववर्ती आकाश प्रदेशों के साथ विभाग उपज जाता है यह हमारे यहां विभागज विभाग माना गया है। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो परमाणुओं के संघात से हुआ आकाश देश, भूमि प्रदेश आदि के साथ संयोग भी संयोगज ही होजाओ अर्थात्—वैशेषिकों ने जैसे स्कन्ध के अवयवों का विदारण होजाने से अणु की उत्पत्ति नहीं मानकर केवल स्कन्धावयवों का आकाश के साथ हुआ विभागज विभाग ही इष्ट कर लिया है। उसी प्रकार हम भी विक्षेप डाल देंगे कि परमाणुओं के संयोग-विशेष स्वरूप संघात से कोई अवयवी स्कन्ध उत्पन्न नहीं होता है केवल पूर्व प्रदेशों से न्यारे आकाश प्रदेशों के साथ उन अणुओं का संयोग होगया है जो कि संयोगज संयोग है।

इस पर यदि वैशेषिकों का यह मन्तव्य प्रकाशित होय कि परमाणुओं के संघात से अवयवी उत्पन्न होता है और उस उपजे हुये अवयवी के साथ हुआ आकाश, भूमि, आदि का संयोग ही संयोगज होता है, किन्तु फिर परमाणुओं के साथ उस आकाश आदि का संयोग नहीं होपाता है। जब कि परमाणुओं के अवयवी बन चुके तो परमाणुओं के साथ आकाश का संयोग होजाना अलीक है। अब आचार्य कहते हैं कि तब तो हम जैन भी अपना अभीष्ट यों प्रकाशित करे देते हैं, कि स्कन्ध का

विदारण होजाने से परमाणुयें उपजते है । स्कन्ध भेद से उपज चुके परमाणु का भी एक देश, भूमि प्रदेश, आदि के साथ हुआ विभाग तो विभागज विभाग नही है किन्तु स्कन्ध का भेद ही है इन सभी व्यवस्थाओ को हम समान रूप से देख रहे है ।

यानी वैशेषिक जो आक्षेप करते हैं, उसी प्रकार उनके ऊपर दूसरे विद्वानो द्वारा भी आक्षेप किया जा सकता है, तथा वैशेषिक जो अवयवी को उत्पत्ति होजाने मे समाधान करते है, वही परमाणुओ की उत्पत्ति में भी समाधान होजाता है, यहा रूक्ष पक्षपात के सिवाय कोई अन्य गम्भीर प्रमेय का अन्तर नही है, जिससे कि वे स्कन्ध की उत्पत्ति तो मान लेवे और परमाणु की उत्पत्ति मे रोडा अटका देवे । अतः सिद्ध है, कि स्कन्ध के भेद से परमाणु की उत्पत्ति होजाती है, द्वयणुक स्कन्ध से एक परमाणु का एक देश के साथ विभाग होकर परमाणु उपजता है और त्र्यणुक अवयवी से द्वयणुक को अलग कर एक परमाणु का दो देश से विभाग होजाने पर परमाणु उपजता है एव चतुरणुक का विदारण होजाने से एक साथ चारो अणुये भी उपज सकती है, और कदाचित् एक परमाणु का तीन प्रदेश वाले त्र्यणुक से विभाग होकर एक अणु उपजता है, एक देश आदि यहा पड़े हुये आदि शब्द का यही तात्पर्य जंचता है ।

यदि पुनरवयवानां संयोगादवयविनः प्रादुर्भावस्तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात् विभाव्यते तदा तत एव परमाणूनां स्कंधभेदात्प्रादुर्भावोस्तु ।

यदि फिर वैशेषिक यो कहे कि अवयवो के सयोग से अवयवी की उत्पत्ति होरही बालक, बालिकाओं, तक को दृष्टि-गोचर है, क्योकि अवयवी और अवयवो के कार्य कारण भाव मे अन्वय और व्यतिरेक घटित होरहा है, अवयवो के उस सयोग के होने पर अवयवी का भाव (उत्पत्ति) है, और उस अवयवो के सयोग का अभाव होने पर अवयवी का उत्पाद नही होपाता है, अतः अवयवी और अवयवो का उत्पाद्य, उत्पादक भाव विचार लिया जाता है । तब तो हम जैन भी कहेगे कि तिस ही कारण से यानी कार्यकारण भाव के परिनिष्ठापक माने गये अन्वय व्यतिरेको अनुसार परमाणुओ की भी स्कन्ध के विदारण से उत्पत्ति होजाओ । अर्थात् स्कन्ध का विदारण होने पर अणुये उपजती है, यों यहा अन्वय घट गया और स्कन्ध का विदारण नही होने पर अणुये नही उपजती हैं, यह व्यतिरेक घटित होगया । अतीन्द्रिय पुण्य पाप या ईश्वर के साथ भी कार्यो का अन्वय व्यतिरेक बनाने मे जो आपका शरण्य है, उसी प्रमाण की शरण इस अवसर पर भी ले लोजियेगा, जब कि बड़े स्कन्धो का भेद होकर छोटे छोटे अवयव उपज जाते है, तो यो उत्तरोत्तर धारा चलते हुये यह छोटे अवयवो का अन्तिम विश्राम लेने का स्थल परमाणु ही होगा । न्यायप्राप्त होरहे समीचीन सिद्धान्त का विचारशाली विद्वानों करके स्वीकार कर लेना ही प्रशस्त मार्ग है ।

नित्यत्वात् तेषां न प्रादुर्भाव इति चेन्न, तन्नित्यत्वस्य सर्वथा अनवसायात् । नित्याः परमाणवः सदकारणवत्त्वादाकाशादिवदित्यपि न सम्यक्, तेषामकारणवत्त्वासिद्धेः । पुद्गलद्र-

ष्यस्य तदुपादानकारणस्य भावात् स्कंधभेदस्य च सहकारिणः प्रसिद्धेः स्तद्भावे वा भावात्।

वैशेषिक कहते हैं, कि परमाणुये तो अनादि से अनन्त काल तक ध्रुव बनी रहने के कारण नित्य हैं, अतः स्कन्धो के विदारण से उन परमाणुओं की उत्पत्ति नहीं होती है। ग्रन्थकार कहते है, कि यह तो नही कहना क्योंकि उन परमाणुओं के सर्वथा नित्यपन का निश्चय नही होरहा है, हाँ कथंचित् नित्य परमाणुओ का स्कन्ध से उत्पन्न होजाना अविरुद्ध है। यदि वैशेषिक पुन आवेश मे आकर यो अनुमान बना कर कहे कि परमाणुयें (पक्ष) नित्य हैं, (साध्यदल) सत् होते सन्ते कारणवाले नही होने से (हेतु) आकाश, आत्मा, आदि द्रव्यो के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान के हेतुदल मे यदि केवल सत्पना ही कहा जाता तो घट, पट, आदि अनित्य पदार्थों करके व्यभिचार आजाता अतः अकारणवान् कहा गया है, घट पट, आदि अपने जनक कारणो करके सहित होरहे कारणवान् हैं। और यदि अकारणवान्पना इतना ही हेतु कह दिया जाता तो प्रागभाव करके व्यभिचार होजाता है, "अनादिः सान्तः प्रागभावः" अनादि काल से चला आरहा प्रागभाव अपने उत्पादक कारणो से रहित है, अतः "सत्वे सति" यह विशेषण दिया गया है।

हमारे यहाँ प्रागभाव को द्रव्य आदि सद्भूत षड्-वर्ग मे नही गिनाया गया है, चारो अभाव पदार्थों मे प्रागभाव पडा हुआ है, अतः "सत्वे सति अकारणवत्व", हेतु से परमाणु मे नित्यत्व सिद्ध होजाता है। अब आचार्य कहते है, कि वैशेषिको का यह कहना भी समीचीन नही है, क्योकि उन परमाणुओ का स्वकीय कारणोसे रहितपना असिद्ध है, अतः वैशेषिको का सदकारणवत्व हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, जब कि उन परमाणुओ के उपादान कारण होरहे द्वयणुक, त्र्यणुक, आदि अशुद्ध पुद्गल द्रव्यो का सद्भाव है और उन परमाणुओ के सहकारी कारण होरहे स्कन्ध विदारण की सर्वत्र प्रसिद्धि है। अथवा उन उपादान कारण और सहकारी कारणों के होने पर परमाणुओ का भाव (उत्पत्ति) है, इस अन्वय से परमाणुओ का कार्य पना प्रसिद्ध होजाता है, अपने उपादान कारण और सहकारी कारणों के साथ परमाणुओ का व्यतिरेक भी बन जाता है, अतः बडे स्कध के विदारण से छोटे छोटे परमाणुओं का उत्पाद होजाना सिद्ध हुआ।

सूक्ष्मपूर्वकः स्कन्धो न स्कंधपूर्वकः सूक्ष्मोऽस्ति यतः स्कंधादणुरुत्पद्यत इति चेन्न, प्रमाणाभावात्।

वैशेषिक कहते है कि सूतो से वस्त्र बनता है, चून की कणिकाओ से लूंड बन जाती है, बूरे से पेड़ा बन जाता है, अतः सूक्ष्म परिमाण वाले द्रव्य को पूर्ववर्ती मान कर बड़ा स्कन्ध बन जाता है, किन्तु बड़े परिमाणवाले स्कन्ध को पूर्ववर्त्ती कारण मान कर अल्प परिमाण वाला छोटा अवयव उपज कर आत्म लाभ नहीं करता है, जिससे कि जैनमत अनुसार बडे स्कन्ध से परमाणु की उत्पत्ति मानी जाय अर्थात्-बडे स्कन्ध से छोटे परमाणु की उत्पत्ति नही होसकती है, जगत् में छोटो ने बड़ो को उत्पन्न किया है, बड़ो ने छोटों को नही, हाँ बड़े नष्ट होकर भले ही छोटे होजांय।

ग्रन्थकार कहते है, कि यह तो नही कहना क्योंकि इस तुम्हारे मनमाने सिद्धात का पोषक कोई बलवत्तरप्रमाण नही है, छोटों से जैसे बड़े उपजते है, उसी प्रकार बडो से भी छोटे उपज जाते हैं, कीच से कमल उपज जाता है, साथ ही कमल का भी सड, गल, कर कूड़ा बन जाता है, बड़े बड़े कुलीन पुरुषों के यहां तुच्छ प्रकृति के मनुष्य जन्म ले लेते हैं, कई राजा, महाराजो, या बादशाहो के सन्तान, प्रतिसन्तानमे झाड बुहारना, पल्लेदारी करना,पंखा हाँकना, आदि नीच कर्मकरके आजीविका चलाने वाले उपज जाते हैं, संसार की गति बडी विचित्र है। बड़े माता पिताओं से छोटे बच्चे उपजते हैं, बड़े गेहू से पिस कर चून के करण बन जाते हैं, मीठे खण्डो से कुटकर बूरा बनता है, पहाडो को काट कूट कर पटियां, चाकी, मूर्तिया, गट्टियां, आदि टुकडे, कर लिये जाते है, इसी प्रकार बड़े स्कन्धो से भी छोटे अणु उपज जाते हैं, इस सिद्धान्त मे प्रमाणो का सद्भाव है।

विवादाध्यासितः स्कंधो जायते सूक्ष्मतोन्यतः।
स्कंधत्वात्पटवत्प्रोक्तं यैरेवं ते वदत्विदम् ॥ ४ ॥
विवादगोचराः सूक्ष्मा जायंते स्कंधभेदतः
सूक्ष्मत्वाद् दृष्टवस्त्रादिखंडवद्भ्रान्त्यभावतः ॥ ५ ॥

वैशेषिको का अनुमान है, कि प्रतिवादो के यहा विवाद मे प्राप्त होरहा स्कन्ध (पक्ष) किसी अन्यसूक्ष्म परिणाम वाले कारणो से उपजता है, (साध्य) स्कन्ध होने से (हेतु) पट के समान (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं, कि इस प्रकार जिन वैशेषिको ने इतना बहुत अच्छा कहा है। साथ ही वे यह और भी कहे कि वैशेषिक या नैयायिको के यहा यो विवाद मे पडे हुये कि सूक्ष्म अवयव उपजते भी है, या नहीं उपजते हैं ? सम्भव है, सूक्ष्म पदार्थ नही उपजते होयगे, अथवा उपजते ही होयगे तो अपने से छोटे परिमाणवाले कारणो से ही उपज सकते हैं, ऐसे विवाद विषय होरहे सूक्ष्म अवयव (पक्ष) स्कन्ध के विदारण से उपजते हैं, (साध्य) सूक्ष्म होने से (हेतु) देखे जा चुके या फाडे जा चुके वस्त्र, पत्ता, आदि के खण्ड समान (अन्वयदृष्टान्त)। यह अनुमान निर्दोष है, स्कन्धों से परमाणुओं की उत्पत्तिका ज्ञान करनेमे भ्रम ज्ञान होजाने का अभाव है, अभ्रान्त या असम्भवद्बाधक प्रमाणों से वस्तु की सिद्धि होजाती है।

घनकार्पासपिण्डेन सूक्ष्मेण व्यभिचारिता।
हेतोरिति न वक्तव्यमन्यस्यापि समत्वतः ॥ ६ ॥
श्लिथावयवकर्पासपिंडसंघाततो यथा।
घनावयवकर्पासपिंडः समुपजायते ॥ ७ ॥

तथा स्थविष्ठपिंडेभ्योऽणिष्ठो निविडपिण्डकः
प्रतीतिगोचरोस्तु स यथासूत्रोपपादितः ॥ ८ ॥

यदि वैशेषिक उक्त अनुमानो मे दोष लगाते हुये यो कह बैठे कि कपास की उठी हुई रूई को घना कर सूक्ष्म पिण्ड बन जाता है, बडी रूई की गठरिया को दबा कर छोटी पोटली बना ली जाती है, काटनप्रेसमिल द्वारा पाच मन रूई के बड़े पिंडो की छोटी गाठ बनाली जाती है, अतः रुई की गाठ मे छोटापन हेतु रह गया किन्तु वहा बडे स्कन्ध का विदारण नही है, प्रत्युत वहा गाठ से चौगुनी, पचगुनी, बड़ा कई पूटरियो का सघात है, इस कारण जैनो के सूक्ष्मत्व हेतु का रूई के दबे हुये घने पिंड करके व्यभिचार हुआ । आचार्य कहते है, कि यह तो वैशेषिको को नही कहना चाहिये क्योकि यो तो तुम वैशेषिको के दिये हुये अन्य स्कन्धत्व हेतु का भी समान रूप से व्यभिचार दोष आता है, देखिये जैसे शिथिल अवयव वाले कपास पिंडो के सघातमे दबाया जाकर घन अवयव वाले कपास पिण्ड की अच्छी उत्पत्ति होजाती है, उसी प्रकार अधिक स्थूल पिण्डो से अतिशय सूक्ष्म होरहा घन पिण्ड उपजता प्रतीतिओ का विषय होरहा समझा जाओ । अर्थात्-स्थूल पदार्थों के सघात (सम्मिश्रण) से अल्पपरिमाणवाला घन पिण्ड उपज जाता है ।

बडे बडे रूई के घनीभूत पिण्डो से जो छोटे छोटे घन पिण्ड उपजे हैं, उनको तो स्कधभेद-पूर्वक ही कहा जायगा, सूक्ष्म मीमासा करने पर प्रतीत होजाता है, कि वृक्ष मे लगे हुये कपास के टेटों को ओट कर कुछ बडे परिमाणवाली रुई उपज जाती है, रुई को देशान्तरों में भेजने के लिये पुनः दबाकर के घनी गांठ बना ली जाती है, गाठ को खोल कर पुनः फैला लिया जाता है, फैली हुई रुई को पुनः तात या दूसरे यंत्र से पीन कर फुला लिया जाता है, रुई के फूले हुये रेशो को बट कर सूत बनाने के लिये पुनः चरखा द्वारा ऐंठा जाता है, इस प्रक्रिया मे कई बार छोटे से बडे और बडे से छोटे अवयव बनते रहे हैं सुवर्ण के भूषणो को कई बार तोड़ फोड कर बनाने में भी छोटो से बडे और बड़े से छोटे अवयव बनाने पडते हैं, तोल समान होते हुये भी गेंहू से गेहू का चून अधिक स्थान को घेरता है, अतः छोटे अवयवो के संघात से जैसे बड़े अवयव की उत्पत्ति मानी जाती है, उसी प्रकार बड़े अवयवी के विदारण से छोटे अवयवो या परमाणुओ की उत्पत्ति को स्वीकार कर लेना चाहिये, सर्वज्ञ की आम्नाय अनुसार कहे गये "भेदादणुः" इस सूत्र में उसी सिद्धान्त का ही तो प्रतिपादन किया गया है, जो कि बड़े पिण्ड के छेदन, भेदन, से छोटे अवयव का उत्पाद होना जगत्प्रसिद्ध है ।

विवादापन्नोवयवी स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणारब्धोवयवित्वात् पटवदिति यैरुक्तमनुमानं तै र्वदान्त्यवयव्यपि विवादगोचराः सूक्ष्माः स्थूलभेदपूर्वकाः सूक्ष्मत्वात् पटखण्डादिवदिति । घनकर्पासपिंडेन सूक्ष्मेण शिथिलावयवकर्पासपिंडसंघातारब्धेन सूक्ष्मत्वस्य हेतोर्व्यभिचारान्नैवं वदंतीति चेत्, समानमन्यत्र तेनैव स्वपरिमाणान्महापरिमाणकारणारब्धेनाप्यव-

स्वस्य हेतोर्व्यभिचारात् । यथैव हि शिथिलावयवकर्पासपिंडानां सतां समुपजायमानो घनावयवकर्पासपिंडः सूक्ष्मो न स्थूलभेदपूर्वकस्तथा स एव तेषां स्थविष्ठानां संयोगविशेषादुपजायमानो घनावयवः स्वपरिमाणादनणुपरिमाणकारणारब्धः प्रतीतिविषयः । ततो नाप्तोपज्ञमिदं नियमकल्पनमिति यथा सूत्रोपपादितं तथैवास्तु ।

उक्त वार्तिको का विवरण इस प्रकार है कि विवाद-ग्रस्त होरहा अवयवी (पक्ष) स्वकीय परिमाण से अल्प परिमाण वाले कारणो से बनाया गया है, (साध्य) अवयवी होने से (हेतु) पट के समान अन्वयदृष्टान्त) । इस प्रकार जिन वैशेषिको ने अनुमान कहा था वे इस अनुमान को भी प्रसन्नता पूर्वक स्पष्ट बोल देवें, मन मे कोई भ्रम नहीं करें कि जैनो के निर्णीत और नैयायिको के यहां विवाद के विषय होरहे सूक्ष्म अवयव (पक्ष) स्थूल अवयवियो के छिद, भिद, जाने को पूर्ववर्त्ती कारण मान कर उपजे है, (साध्य) सूक्ष्मपन होने से या अवयवपन होने से (हेतु) पट के टुकडे या घट की ठिकुच्ची अथवा गेहू के चून आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) ।

इस अनुमान को कहने मे वैशेषिक यदि यो विचार करे कि ढिल्लक ढिल्ले अवयव वाले रुई के पिण्ड का सम्मिश्रण होजाने से बनाये गये रुई के सूक्ष्म (छुटे) परिमाणवाले घने पिण्ड करके इस सूक्ष्मत्व हेतुका व्यभिचार आता है, अत. बलात्कार से स्वीकार कराये ये इस प्रकार अयुक्त दूसरे अनुमान को वैशेषिक नही कहते हैं । यो कहने पर तो आचार्य कहते हैं, कि तुम वैशेषिको के कहे जा चुके अन्य पहिले अनुमान मे भी समान रूप से व्यभिचार दोष आता है, इसलिये अपनी घनी गाठ के परिमाण से महापरिमाण वाले कारणो से बनाये गये उसी घनी रुई के पिण्ड करके अवयवित्व हेतु का भी व्यभिचार आता है, कारण कि जिस ही प्रकार कार्य के अव्यवहित पूर्व समय मे उपादान कारण होकर सद्भूत होरहे ढीले बिखर रहे अवयव वाले रुई के पिण्डो का उपादेय होकर अच्छा उपज रहा घने अवयवों वाला रुई का पिण्ड सूक्ष्म परिमाणवान् है, वह छोटी रुई की गॉठ बेचारी स्थूल अवयवी के विदारण को कारण मान कर नही उपज रही है, तिसी प्रकार उन शिथिल होरहे अति स्थूल कपासो के सयोगविशेषो मे उपज रहा वही घन अवयववाला रुई की गाठ का पिण्ड बेचारा स्वकीय परिमाण से अनल्प (महा) परिमाण वाले कारणो मे बनाया गया प्रतीतिओ का विषय होरहा है, तब तो तुम वैशेषिको का पहिला कहा गया हेतु भी अनैकान्तिक हेत्वाभास है, तिस कारण सिद्ध होजाता है, कि "सूक्ष्मपरिमाणवाले कारणो मे ही स्थूल परिमाण वाले कार्य बनते हैं, स्थूल परिमाण वाले कारणोसे सूक्ष्म परिमाण वाले कार्य नही बनते है यह वैशेषिकों द्वारा की गई नियमकी कल्पना कोई सर्वज्ञ आप्तके आद्यज्ञानका विषय नहीं है,अल्पज्ञ पुरुष दीन है त्रिलोक, त्रिकालमे अबाधित होरहे नियम का प्रतिपादन नही करसकते हैं, अतः सर्वज्ञ की परम्परा से प्राप्त होरहे उमास्वामी महाराजकृत सूत्र में जिस प्रकार भेद से अणु की उत्पत्ति कही गई है, और आचार्यों द्वारा उसमें जो समीचीन युक्तिया दी गई हैं, उसी प्रकार नियम की कल्पना करो ।

अर्थात्—भेद यानी विदारण से ही अणु उपजता है, यह पूर्व अवधारण करना अच्छा है। रूई की पचमनी गाठ से जो छोटी इकमनी दुमनी, गाठे तोड फाड़ कर बना ली जाती हैं वे अवयव तो भेद से ही उपजे हुये माने जायगे वशेषिको की उत्पादविनाश-प्रक्रिया केवल फटाटोप दिखाना है उसमे रहस्य कुछ भी नही है, कपडे को फाड़देने पर अव्यवहित उत्तर समय मे झट खण्ड पट उपज जाता है। वहां अवयवों का भेद होते होते षडणुक, पचाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, द्वयणुक, परमाणुये होकर पुन: परमाणुओ मे क्रिया द्वारा द्वयणुक, त्र्यणुक, आदि उपजकर खण्ड पट बना है, ऐसी शेख-चिल्ली की सी कल्पनाओ मे कोई प्रमाण नही है।

तथाहि—द्वयोः परमाण्वोः संघातादुत्पद्यमानो द्विप्रदेशः स्कन्धः कश्चिदाकाश-प्रदेशद्वयावगाही कश्चित् परमाणुपरिमाण एव स्यात् । द्वयणुकाभ्यां च स्वकारणादधिक परिमाणाभ्यामुत्पद्यमानः कश्चिदाकाश-प्रदेशचतुष्टयावगाही महान् । कश्चित्पुनरेकाकाश-प्रदेशावगाही तत्राणुत्वावगाहविशेषस्य नियमाभावात् ।

" भेदसंघातेभ्य उत्पद्यते, भेदादणु. " इन दो सूत्रो करके उमास्वामी महामना ने जो कहा है उसका पुन स्पष्ट यों समझ लीजियेगा कि दो परमाणुओ के एकीभाव से उपज रहा दो प्रदेशो वाला द्वयणुक स्कन्ध कोई तो आकाश के दोनो प्रदेशों को घेर कर अवगाह कर रहा है और कोई दो परमाणुओ के मेल से बना द्वयणुक एक परमाणु के बराबर परिमाण का धारी होकर आकाशके एक प्रदेश मे ही ठहर रहा है यहा तक कि अनन्त परमाणुओं का समुदाय या बद्ध पिण्ड भी एक परमाणु बराबर होकर आकाश के एक प्रदेश मे समा जाता है, हा एक परमाणु दो प्रदेशो पर नही ठहर सकती है।

तथा अपने कारण होरहे परमाणुओ के प्रत्येक के परिमाण से अधिक परिमाण वाले दो द्वयणुको से उपज रहा कोई कोई चतुरणुक तो आकाश के चारो ही प्रदेशो पर अवगाह करता सन्ता महान् है और कोई चतुरणुक फिर आकाश के एक प्रदेश मे ही अवकाश कर लेता है कभी कभी ऐसा होजाता है कि दो दो प्रदेशो पर बैठे हुये दो द्वयणुको से एक चतुरणुक महान् स्कन्ध उपज गया वह केवल आकाश के एक प्रदेश पर ही अवस्थान कर लेता है। अत. अपने यानी चतुरणुक के परिमाण से उसके कारण द्वयणुक का परिमाण अधिक यो भी कहा जा सकता है। सयुक्त या बद्ध अनन्तानन्त परमाणुय भी एक, दो, तीन, सख्यात असख्यात, प्रदेशो पर ठहर जाती है यह बात अवश्य है कि तीन परमाणु यदि दो प्रदेशो पर ठहरे या नौ परमाणु चार प्रदेशो पर ठहरेंगी तो डेड़ डेड़ परमाणु एक एक प्रदेश पर या सवा दो, सवा दो परमाणुओ का एक एक प्रदेश पर ठहरने का ठीक बाट नही कर देना चाहिये अखण्ड परमाणुये पूरे एक प्रदेश को घेरेंगी नौ परमाणुये यदि अबद्ध होकर दो प्रदेशो पर ठहरेंगी तो एक प्रदेश पर एक और दूसरे प्रदेश पर शेष आठो ही या एक प्रदेश पर दो और दूसरे प्रदेश पर शेष सातों अथवा एक प्रदेश पर तीन और दूसरे प्रदेश पर शेष छह एव एक प्रदेश पर चार

और दूसरे प्रदेश पर पांच यों इसी ढंग से ठहर सकेंगी, परिपूर्ण परमाणु एक प्रदेश से न्यून स्थल पर जैसे नहीं ठहर पाती है उसी प्रकार स्व एक परमाणु के लिये नियत होरहे एक प्रदेश से अतिरिक्त दूसरे प्रदेश या उसके किसी भाग मे भी अपना शरीर नही फैला सकती है । अतः सघात से उत्पन्न हुआ अवयवी अधिक से अधिक अपने कारण माने गये परमाणुओ की संख्या बराबर प्रदेशों में ठहर जाय अथवा कम से कम एक प्रदेश में ही ठहर जाय क्योकि प्रदेश के लक्षण मे " सव्वाणुट्ठाणदाण रिह " पद पड़ा हुआ है । जगत् की सम्पूर्ण परमाणुओ को एक ही प्रदेश अवकाश दे सकता है यों कोई विशेष नियम करना तो ठीक नही है कि उन स्वकीय कारणो के अवगाह मे छोटा ही कार्य का अवगाह स्थान होय जब कि जितने परमाणुओ के सघातसे स्कध उपजता है उन परमाणुओ की सख्या बराबर प्रदेशोमे और उसके स्वल्प प्रदेशोमे भी स्कन्ध रहसकता है,लोकाकाशमे ही पुद्गल ठहरते हैं ।

अतः परमाणुओ की गणना असख्यात तक पहुच जावेगी किन्तु परमाणुओ की अनन्तानन्त संख्या तो लोकाकाश के प्रदेशो से बहुत बढ़ जाती है, भले ही अलोकाकाश के प्रदेश सम्पूर्ण पुद्गल परमाणुओ से अनन्तानन्त गुणे हैं, किन्तु अलोकाकाश मे एक भी परमाणु नही है । खेद है, जहां स्थान है, वहा अवगाह करने योग्य द्रव्य नही है, और जहा अनन्तानन्त द्रव्ये भरी पडी हैं, वहा उनको फैल फूट कर रहने के लिये परिपूर्ण स्थान नही है, हा निर्वाह ता सबका सर्वत्र हो हो जाता है, अथवा इस पंक्ति का यो अर्थ कर लिया जाय कि अपने यानी स्वय द्व्यणुको के कारण होरहे अणुपरिमाण वाले परमाणुओ से अधिक परिमाण वाले दो द्व्यणुकों से उपज रहा कोई चतुरणुक तो आकाश के चारो प्रदेशो में अवगाह करने वाला समचतुरस्र उपजेगा अर्थात्–छह पैलू घन चौकोर चार वरफियो को सटा कर समभाग मे धर दिया जाय उसी आकृति के समान चार अणुओ के बने चतु प्रदेशी चतुरणुक का सस्थान है, या तल ऊपर चार वरफियो को धर दिया जाय अथवा दो वरफियो के ऊपर पुनः दो वरफिया धर दी जावे एवं एक से एक वरफी को मिला कर सम प्रदेश में लम्बा विछा दिया जाय इन आकृतियो के समान चतु प्रदेशी स्कन्ध का आकार है, गोल कुआ या अधगोल नाली को बनाने के लिये सपाट ईंटो को गोलाई के उपयोगी स्वल्प छील लिया जाता है, या कुछ गोलाई को लिये हुये ईंटें ही प्रथम से वैसे ही साचे मे ढाल ली जाती हैं । किन्तु परमाणुओ की नौके कालत्रय मे भी किसी अनन्तबलशाली जीव या पैनी छैनी करके भी घिसो नही जा सकती हैं, अत. परमाणुओ के गोल या नौकीले पिण्ड में परमाणुओ की नौके अवश्य रहेगी स्पर्शन इन्द्रिय या चक्षुसे अतीन्द्रिय परमाणुओं की नौके टटोई या देखी नही जाती हैं, फिर भी अतीन्द्रिय-दर्शी विद्वान् सर्वावधि या केवलज्ञान से गोल तिकोने, पच कोने, आदि पिण्डो में उभर रही परमाणुओं के एक प्रदेशी पैल को स्पष्ट देख लेते है, "अनादिमसमज्झ असन्त खेव इंदिये गेज्झ" यह सिद्धान्त बेचारा सूक्ष्म गवेषणा में सम-चतुरस्र परमाणुओं के कौनो के सद्भाव का विघात नही कर पाता है, एक प्रदेशी परमाणु के निरंशपन की प्रशंसा उसके ऊपर नीचे के भागो का नहीं जताती प्रत्युत परमाणु करके बड़े स्कन्ध का बनना

प्रसंभव होजायगा अतः किसी चतुरणुक का यो उक्तप्रकार चार प्रदेशोंमे ठहरना सिद्ध होजाता है,तथा कोई कोई चतुरणुक फिर आकाशके एक ही प्रदेशमे अवगाह कर रहा सन्ता उस चार प्रदेशों में ठहरने वाले चतुरणुक से छोटा अणु परिमाणवाला ही है। अवगाह के विशेषों का कोई नियम नहीं है, चार अणुओ का चतुरणुक स्कन्ध भले ही एक प्रदेश मे रह जाय दो. तीन, या चार प्रदेशो मे भी ठहर जाय, हा पांच, छः, आदि अधिक प्रदेशो मे नही ठहर सकता है।

स्वकीय परमाणु संख्या से अधिक प्रदेशो मे नही ठहरने का नियम है, क्योंकि एक परमाणु दो या तीन प्रदेशो मे अपने पांव नही फैला सकती है, किन्तु सूक्ष्मत्व गुण के योग से एक परमाणु के स्थान मे अनेक परमाणुऐ घुस कर अपनी सख्याते न्यून प्रदेशो मे ठहर जाती है, आकाश के एक प्रदेश में यदि द्वयणुक, त्र्यणुक, आदि कोई भी स्कन्ध ठहर जाय तो वह अणु कहा जा सकता है, उसे परम अणु नही कह सकते है, अप्रदेश, अखण्ड, एक शुद्ध पुद्गल द्रव्य को ही परमाणु कहा जाता है, परम शब्द का अर्थ अन्तिम, सब से छोटा एक निरश अवयव है, वैशेषिक पण्डित केवल परमाणु और द्वयणुको मे ही अणुपना बखानते है, यह प्रशस्त नही है, साथ ही वे मूर्त कई परमाणुओं का एक प्रदेश मे ठहरने का विरोध स्वीकार करते है, "मूर्तयोः समानदेशताविरोधात्" ऐसी दशा मे अनन्तानन्त परमाणुये, अनन्त स्कन्ध, अनन्त मन, अनन्त अवयवी, ये बेचारे असख्यात प्रदेशी लोक मे किस प्रकार ठहरेंगे ? गम्भीर प्रश्न के उत्तरदायित्व को वे नही झेल सकते है।

तथा शताणुकावयविभेदादुत्पद्यमानोऽवयवी कश्चित्सूक्ष्मः स्तोकाकाशप्रदेशावगाहित्वात्। कश्चित्तु एतावल्पाकाशप्रदेशावगाहिनोऽल्पाद्बह्वाकाशप्रदेशावगाहित्वान्महान्।

जिस प्रकार अणुओ या स्कन्धो के सघात से उपजे हुये स्कन्धों का आकाश प्रदेशों मे अवगाह होरहा यथायोग्य निर्णीत किया है, उसी प्रकार स्कन्धो के भेद से उपजे हुये अवयवी या परमाणुओ का आकाश के प्रदेशो मे यथायोग्य अवगाह होजाना समझ लिया जाय, देखिये सौ परमाणुओं से बने हुये शताणुक नामक अवयवी का विदारण होजाने से उपज रहा कोई कोई अवयवी तो उस शताणुक से छोटा परिमाण वाला होगा क्योंकि आकाश के स्वल्प प्रदेशों मे वह टुकडा स्थान पा रहा है, यदि शताणुक ने बीस प्रदेश घेरे तो उसके दो टुकड़े होकर बने पचास, पचास,अणु वाले दो टुकड़ो ने दस दस प्रदेशोमें स्थान पालिया। या सौ प्रदेश वाले शताणुक के टुकड़े पचास पचास प्रदेशों मे ठहर गये, अस्सी, बीस, अणुओ वाले टुकड़े अस्सी बीस प्रदेशो में ठहर जायगे। और कोई कोई टुकड़ा स्वरूप अवयवी तो आकाश के अल्प प्रदेशोमे अवगाह को धार रहे उस ही छोटे अवयवी से आकाश के बहुत प्रदेशो में अवगाह धारने वाला होने के कारण महान् होजाना है।

अर्थात्–यदि शताणुक अवयवी ने आकाश के दश प्रदेशो को घेरा है, तो शताणुक के भेद से बन गये दो पंचाशत् अणुक अवयवियों कदाचित् के बीस, बीस प्रदेश को घेरे जा सकते हैं।

अथवा दस प्रदेशों में समा रहे शताणुक के पर्चविंशति प्रदेशी चार टुकड़े पुन: पच्चीस पच्चीस प्रदेशों को भी घेर कर सानन्द विराजते हैं ठिगनी माता के पुत्र उससे लम्बे, चौडे, शरीर वाले होसकते हैं, कोई बाधा नही है, छोटी कण्डे की कस्सी से बीसों गज लम्बा, चौडा, धुंआ निकल पड़ता है, रूई की गांठ के टुकड़ों को पीन कर दसों गज में फैला दिया जाता है छोटी मकडी के उदरस्थ कारण से बड़ा जाला बन जाता है, अतः अल्प परिमाण वाले अवयवी के टुकड़े अपने जनक के अधिकृत स्थान से अधिक स्थान पर भी अपने पाव फैला देते हैं, अवकाश के विशेषो का कोई नियम नही है जब कि इस जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्र के पांचसौ छब्बीस और छः बटे उन्नीस योजन आकाश मे इससे कई गुनी बादर बादर भूमि समा सकती है, तो फिर एक अवयव के स्थल में अनेक अवयवो का ठहर जाना कोई चमत्कारक नही है, अवगाह देना स्वरूप उपकारकत्व को धार रहे आकाश मे छ:ऊ द्रव्य एक दूसरे को अवकाश देने के लिये सतत सन्नद्ध रहते है, मानो वे सम्पूर्ण प्राणियों को नि:स्वार्थ प्रतिथि सत्कार करने के लिये शिक्षा दे रहे है, छोटी मुर्गी के अपत्य बडे मुर्गे के समान ही छोटे अवयवी के विदारण करके महान् परिमाण स्कन्ध उपज जाता है, पदार्थों की शक्तियां विचित्र है।

एवमेवैकसमयिकाभ्यां भेदसंघाताभ्यामुत्पद्यमानोपि स्कंधः कश्चित्स्वकारणपरिमाणादधिकपरिमाणः कश्चिन्न्यूनपरिमाण इति सूत्रमुपपन्नमो दृष्टविरोधाभावात् प्रतीयते हि तादृशः।

संघात अथवा भेद से उपज गये अवयविदो के अवगाह का विचार जैसे कर दिया है, इस ही प्रकार तीसरे कारण माने गये एक ही समय मे होने वाले भेद और संघात दोनो से उपज रहा स्कन्ध भी कोई कोई तो अपने कारण के परिमाण से अधिक परिमाण वाला होजाता है, और कोई कोई स्कन्ध अपने कारण से न्यून परिमाण वाला होकर उपज जाता है, भावार्थ–दस प्रदेशो मे ठहर रहे एक शताणुक स्कन्ध मे से चार प्रदेशो मे स्थित दशाणुक पिण्ड का विदारण होजाने से और दश प्रदेशो मे ठहर रहे दूसरे विंशत्यणुक पिण्ड का सम्मिश्रण होजाने से उपजा एकसौ दश अणुओ वाला अवयवी अपने जनक कारणो के सोलह प्रदेशी या बीस प्रदेशी स्थान से अधिक एक सौ दश प्रदेशों को भी घेर कर ठहर सकता है, अथवा एक सौ दश अणुओ का स्कन्ध दश, आठ आदि स्वल्प प्रदेशों में भी अवगाह कर लेता है, तथा अपने कारणो के परिमाण से समान परिमाण वाले क्षेत्र मे भी समा सकता है। इस प्रकार सूत्रकार द्वारा बढ़िया कहे जा चुके "भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते" इस सिद्धान्त के वैज्ञानिक रहस्य को हम कई ढगों से प्रसिद्ध होरहा देखते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण से उक्त सिद्धान्त में कोई विरोध नही आता है, जैसी वस्तु व्यवस्था प्रतीत होरही है, वैसा ही प्रयोग सूत्रकार द्वारा लिखा गया है, वैसा ही त्रिकाल त्रिलोक में अबाधित होकर प्रतीत होरहा है, प्रतीत पदार्थों में कुतर्कों की गति नही है।

यहां कोई जिज्ञासु मोठा आक्षेप उठाता है, कि: जब संघात से ही स्कन्धों का आत्म-लाभ

होना सिद्ध होचुका है, और अणुओं की उत्पत्ति भेद से ही होरही कही जा चुकी है,ऐसी दशामें तीसरे उपाय माने गये भेद और संघात का कोई प्रयोजन शेष नही रहता है, ऐसा आक्षेप प्रवर्तने पर उस एक समय में हुये भेद, संघात, दोनों से स्कन्ध की उत्पत्ति होजाने के ग्रहण का प्रयोजन समझाने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते है।

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

एक ही समय में हुये भेद और संघात से वह स्कन्ध चक्षु-इन्द्रिय द्वारा ज्ञातव्य होजाता है। अर्थात्- जो स्कन्ध प्रथम चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य नही था वह कुछ अवयव का भेद और कुछ अन्य अवयव के सघात से दर्शन विघातक सूक्ष्मपना को छोडता हुआ स्थूलता परिमाण के उपज जाने पर चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो जाता है, सूक्ष्म परिणत स्कन्ध का अन्य स्कन्धों के साथ संघात होजाने से तो आखो द्वारा दीखना ना प्रसिद्ध ही है. किन्तु सूक्ष्म स्कंध के कुछ अवयवों का विदारण होजाना और उसी समय स्थूलता या दृश्यता के सम्पादक अन्य अवयवो का मिश्रण होजाने से उपजी स्थूल पर्याय को आंखो से देख लिया जाता है, सूक्ष्म का भेद होजाने से चक्षु-उपयोगी स्थूलता नहीं उपज सकती है, प्रत्युत सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होजायेगा, अत. सूक्ष्म को चाक्षुष बनाने के लिये इस सूत्र करके कहा गया उपाय प्रशसनीय है।

भेदात् संघाताद्भेदसंघाताभ्यां च चक्षुर्ज्ञानग्राह्योऽवयवी कश्चित् स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणपूर्वकः, कश्चिन्महापरिमाणकारणपूर्वकः, कश्चित्समानपरिमाणकारणारब्धस्तद्वदृष्टोपि स्याद्बाधकाभावात्। तदाहुः।

केवल विदारणमे या अकेले संघातमे अथवा भेद और संघात दोनोमे उपज रहा नेत्र इन्द्रिय-जन्य ज्ञान द्वारा ग्रहण करने योग्य अवयवी कोई कोई तो अपने (अवयवी कार्य के) परिमाण से छोटे परिमाण वाले कारणो को पूर्ववर्त्ती उपादान कारण मानकर होजाता है, और कोई चक्षु इन्द्रिय-जन्य ज्ञान द्वारा ग्रहण करने योग्य होरहा अवयवी अपने परिमाण से अधिक परिमाण वाले कारणो को पूर्ववर्ती उपादान कारण लेकर उपज जाता है, तथा तीसरी जाति का कोई अवयवी अपने समान परिमाण वाले ही उपादान कारणो से आरब्ध होजाता है. यानी आकाश के सौ सौ प्रदेशो का घेर रहे तीन शताणुको के संघात से उपज रहा त्रिशताणुक अवयवी बेचारा आकाश के सौ प्रदेशों - ही तिष्ठ जाता है, तीनसौ मे भी विराजता है। अर्थात्-भेद से जो अवयवी उपजा है, वह अपने कारणों के परिमाण से न्यून परिमाण को घेरे यह तो ठीक ही है, किन्तु भेद से उपजा अवयवी (परमाणु द्वयणुक आदि कतिपय छोटे अवयव नही) अपने कारणों के परिमाण से अधिक परिमाण या समान परिमाण वाले स्थान को घेर कर भी ठहर जाता है, यो भेद से उपजे हुये अवयवी में भी अवगाह के तीनों ढंग लागू होजाते हैं। इस प्रकार संघात से उपजा अवयवी अपने कारणों से

अधिक परिमाण वाला होय यह तो उचित ही है, किन्तु अवगाहना शक्ति अनुसार वह संघात-जन्य अवयवी अपने कारणो के परिमाण से न्यून परिमाण और सम परिमाण वाले प्रदेशो मे भी सानन्द निवास करता है।

तथैव भेद और सघात दोनो से उपज रहा अवयवी अपने कारणों के परिमाण के समान परिमाण का धारी भले ही होय किन्तु भेद-संघात-जन्य अवयवी स्वकीय कारण परिमाण से अधिक और न्यून होरहे आकाश प्रदेशो मे भी ठहर जाता है, जब कि एक उत्सञ्ज्ञा संज्ञा नामक छोटा अवयवी भी फैलना चाहे तो तीनो लोको मे बिखर जाता है, तब भी लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर अनन्तानन्त परमाणुओ के ठहरने का बांट आता है, तथा तीनों लोक की सम्पूर्ण अनन्तानन्त अणुयें भी एक प्रदेश मे समा सकती हैं, तो फिर उक्त तीनो कारणों करके जन्य अवयवियो की स्व कारणो के अधिकरण स्थल से न्यून, अधिक, और सम प्रदेशो, में तीन प्रकार से ठहर जाना असदिग्ध हो जाता है।

जिस प्रकार अवयवियो के उपजने और ठहरने की व्यवस्था निर्णीत है, उसी प्रकार वह भेद सघात दोनो से उपज रहा अवयवी चक्षुः इन्द्रिय द्वारा देखा जा चुका है, क्योकि बाधक प्रमाणो का अभाव है। बात यह है कि जगत् के अनन्तानन्त अवयवियो का अनन्तवा भाग नेत्रो द्वारा देखने योग्य है, चक्षु इन्द्रिय से देखे जाने मे विषय होरहे अवयवी की विशिष्ट रचना होजाना आवश्यक है, अन्य इन्द्रियो की अपेक्षा नेत्र के लिये सामग्रीकी योजना विशेष रूप से करनी पडती है, नेत्र द्वारा ज्ञान करने मे भ्रान्ति के कारण भी अनेक विघ्न उपस्थित होजाते है तभी तो भिन्न भिन्न ढगो के उपनेत्र (चश्मे) द्वारा मनुष्य छोटे बड़े पदार्थोंको बडा छोटा या चमकदार देखलेते हैं,दुरबीन सूक्ष्मबीन आदि नेत्र सहायक यंत्रो से हुये ज्ञान सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर कुछ भागो मे भ्राति रूप निर्णीत होते है किन्तु वे ज्ञान विवेकी जीव को सम्यग्ज्ञान की ओर ले पहुचाते है। सिनेमा मे चित्रपट देखना या अन्य प्रतिबिम्बो (तसवीरो)का देखना भी भुलावा देते देते विचारशील पुरुषको समीचीन प्रतीति करा देता है, शेष स्थूल-बुद्धि पुरुषो या रागी को उनके द्वारा भ्रान्तिज्ञान बने रहने में ही बडा आनन्द आतारहता है। चक्षु इन्द्रिय से किस किस प्रकार विषय का ग्रहण होता है, इस विषय का एक बड़ा भारी पोथा बन सकता है। प्रकरण मे सूत्र द्वारा आचार्य महाराज ने भेद सघातों से बने हुये विशेष अवयवी का चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य होजाना कह दिया है, उसीको और भी स्पष्ट करके श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिक द्वारा कह रहे हैं :

चाक्षुषोवयवी कश्चिद्भेदात्संघाततो द्वयात्।
उत्पद्यते ततो नास्य संघातादेव जन्मनः ॥ १ ॥

कोई कोई अवयवी तो भेद और संघात दोनो से चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य उपज जाता है, तिस कारण इस चक्षु इन्द्रिय ग्राह्य अवयवी का केवल संघात से ही जन्म होना हम स्याद्वा-

दियों के यहां नही माना गया है। अर्थात्-संघात से अचाक्षुष पदार्थ का चाक्षुष अर्थ उपज जाय, इसमें आश्चर्य नही है, किन्तु भेद और सघात दोनो से भी अचाक्षुष पथ चाक्षुष अर्थ होजाता है। हां राजवार्त्तिक में केवल भेद से चाक्षुष होना नही इष्ट किया है। इस कारिकामे "भेदसंघातद्वयात्" ऐसा पद नही कहा है, किन्तु "भेदात् संघातात्, द्वयात्,, इस प्रकार तीनपद न्यारे न्यारे कहे है, इससे यह भी श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज का अभिप्राय ध्वनित होता है, कि तीनो स्वतन्त्र कारणों से अचाक्षुष का चाक्षुष अर्थ बन जाता है, विज्ञान (साइंस) का सिद्धान्त है, कि किन्ही किन्ही दो गैसो के मिल जाने से बन गये पदार्थ का चाक्षुषप्रत्यक्ष नही होता है, हा उन मिली हुई गैसों का विदारण कर देने से उपजे पदार्थ का चक्षु से प्रत्यक्ष होजाता है। मोती या हीरा का विदारण कर देने से उसके भीतर का समल या निर्मल, अवयवी, टुकड दृष्टिगोचर होजाता है, कई अवयवियो के पिण्ड में मिल जुल रहे छोटे अवयवी का चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होता था किन्तु उस पिण्ड का भेदन कर देने से वह अव्यक्त अवयवी व्यक्त दीख जाता है।

मूंग गेहू उडदो, मे अन्य तुच्छ धान्य या कंकरिया मिल जाती हैं, या पुरानी मूंग आदि मिला दिये जाते है, चतुर ग्राहक ढेर मे से थोडे मुट्ठी भर धान्य को पृथक् कर गुप्त होरहे कूड़े, करकट को व्यक्त देख लेता है, सोने को घिस कर उसके अन्तरंग रूप को जांच लेते हैं, हल्दी, कत्था, सुपारी, बादाम को छिन्न भिन्न, कर देख लिया जाता है। बात यह है, कि अप्रतिष्ठित प्रत्येक भी होरहे आम्रवृक्ष, केला आदि मे यद्यपि पूरा एक एक जीव है, तथापि उनके छोटे छोटे टुकडो मे भी वनस्पति कायिक जीव विद्यमान हैं, सचित्त का त्यागी आम्रवृक्ष मे तोड लिये गये फल को नही खा सकता है, हा "सुक्कं पक्कं तत्त" इत्यादि आगमोक्त प्रक्रिया से अचित्त होजाने पर अचित्त आमको खा लेता है, सिलोटिया और लुढिया से कच्चे आम की चटनी रगडने पर भी यदि बडे बड़े अवयव रह जायंगे तो वे सचित्त ही समझे जायगे, हा अधिक बट (पिस) जाने पर अचित्त होसकते हैं।

त्याग की मीमांसा यह है, कि भले ही इन्द्रियसंयम को पालने वाला व्रती सूखे, पके, तपाये गये या तीक्ष्ण रस वाले पादार्थ से मिलाये गये और यंत्र द्वारा छिन्न किये गये अचित्त पदार्थ को नही खाय किन्तु इनको अचित्त हो माना जायेगा। इस प्रकार एक अवयवी में अनेक अवयवियों या अवयवों का सम्मिश्रण है, लड्डू मे बादाम पिस्ता, इलायची, काली मिर्च, सोना चादी के वर्क, मालम मिश्री आदि द्रव्य डाल कर मिला दिये जाते हैं,सुन्दर वस्त्र मे गोटा, सलमा, मोती, लगा दिये जाते हैं, कोरे कागजो पर स्याही लगा कर अक्षर लिखदिये जाते हैं, गृह मे ईंट चूना लकडो, सोटे, किवाड, सीकचा लगाये जाते हैं. इस प्रकार के सयुक्त एक एक अवयवी का विदारण होजाने से उनके अव्यक्त छोटे अवयवियो का चाक्षुष प्रत्यक्ष होजाना प्रसिद्ध है. खांड के ढेल, गुड़, आदि बद्ध अवयवी मे क्वचित् यही व्यवस्था देखी जाती है, तथा संघात और भेद सघात दोनो मे चाक्षुष अवयवी का उपज जाना कह दिया गया है, अतः संघात से ही चाक्षुष होने का अवधारण करना चाहिये।

पटादिरूपव्यतिरेकेण चक्षुर्बुद्धावप्रतिभासमानोऽवयवी कथं चाक्षुषो नाम? गंधादेरपि चाक्षुषत्वप्रसंगादिति चेन्न, पटाद्यवयविन एव चक्षुर्बुद्धौ प्रतिभासनात्। तद्व्यतिरेकेण रूपस्य तत्राप्रतीतेर्गंधादिवत्।

यहा कोई बौद्ध या वैशेषिक का एक-देशी पण्डित आक्षेप करता है कि चक्षु इन्द्रिय-जन्य ज्ञान में पट, पुस्तक, आदि के रूप के सिवाय अन्य कोई भी अवयवी नहीं प्रतिभास रहा है, ऐसी दशा में वह असत् अवयवी भला किस प्रकार चक्षु इन्द्रिय द्वारा उपजे हुये ज्ञान का विषय होसकता है? बताओ। यों तो गन्ध, रस, आदि का भी चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य होजाने का प्रसग आजावेगा यानी रूप या रूप जातीय के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का भी यदि नेत्रों से प्रतिभास होने लगे तो गन्ध, स्पर्श, आदिक का भी नेत्र से ही प्रतिभास होजावेगा, नेत्र के अतिरिक्त शेष चार, पांच, अतीन्द्रिय इन्द्रियों की कल्पना करना व्यर्थ पड़ेगा। आचार्य कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि घट, पट, आदि अवयवियों का ही चक्षु इन्द्रिय-जन्य चाक्षुषप्रत्यक्ष मे प्रतिभास होरहा है, उन पट आदिक से सर्वथा व्यतिरिक्तपने करके रूप की उस स्थल मे प्रतीति नही हो रही है जैसे कि फूल इत्र कस्तूरी, आदि सुरभि स्कन्धो के अतिरिक्त गन्ध की या मोदक, पेड़ा, इमरती, आदि रसीले पदार्थों मे भिन्न कोई रस आदि की प्रतीति नही होती है। तभी तो गन्ध या रस के प्राप्त करने की अभिलाषा प्रवर्तने पर गन्धवान्, रसवान् पदार्थ ही लाये जाते हैं। भावार्थ—भोजन करने के लिये केवल मुख ही नहीं चौका मे भेज दिया जाता है, किन्तु तदभिन्न पूरा शरीर ले जाना पडता है। एक अंग या उपाग की ही अभिलाषा जागृत होने पर पूरे अंगी को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना आवश्यक है। अगी से अंग अलग नही है। अनेक लोभी या तुच्छ मितव्यय की कोरी डीग मारने वाले पुरुष अपने शिक्षक गुरु के अकेले ज्ञान को ही अपने निकट बुलाना चाहते है। शिक्षक की आत्मा के अन्य गुण या गुरु के भोजन, वसन, वाल गोपाल आदिक को वे लोभी लक्ष्यमे नही रखना चाहते है, हितोपदेशक का भोजन कराने मे भी उनका कंजूस हृदय संकुचित होजाता है, हमे तो गुरु के ज्ञान से ही प्रयोजन है, अन्य गुणों या अंगोका आदर,सत्कार,पुरस्कार,क्यो किया जाय? ऐसा वे अविनीत, अशिष्ट, कृतघ्न, लोभी पुरुष विचार कर लेते है "धिक् एतादृश"। लेखनी का पाचसौमां अग्रवर्ती भाग केवल लिखने में उपयुक्त है। किन्तु पूरी एक वितस्त की लेखनी थामनी पडती है। प्रति दिन के सैकडो कार्यों मे शरीर के छोटे छोटे सैकडों अवयव ही न्यारे न्यारे कार्य कर रहे हैं, लेखक, सुनार, सूजी, रसोइया, पल्लेदार अध्यापक, चिठ्ठीरसा, मल्ल,सैनिक, आदि पुरुषोंके न्यारे न्यारे अंग,उपांग विशेषतया कार्य करते रहते हैं। कितने ही शरीर के अवयव तो ऐसे हैं जो जन्म भर मे एक वार भी काम मे नही आते हैं, एतावता अखण्ड अंगीका तिरस्कार नही कर दिया जाता है। प्रकरण मे यह कहना है कि केवल अवयवी से सर्वथा अतिरिक्त मान लिये गये रूप रस, गंध, स्पर्श, आदि की कदाचित् भी प्रतीति नहीं होती है।

चक्षुर्बुद्धौ रूपं प्रतिभासते न पुनस्तदभिन्नोऽवयवीति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ? कथं रूपादभिन्नोऽवयवी रूपमेव न स्यादिति चेत् तस्य ततः कथंचिद्भेदात् । न हि सर्वथा गुणगुणिनोरभेदमात्रमाचक्ष्महे प्रतीतिविरोधात् पर्यायार्थनयतयोर्भेदस्यापि प्रतीतेः । सर्वथाऽभेदे तयोर्भेद इव गुणगुणिभावानुपपत्तेः गुणस्वात्मवत्कुटपटवच्च ।

चक्षुः इन्द्रिय-जन्य ज्ञान मे अकेला रूप ही प्रतिभासता है किन्तु फिर उससे अभिन्न होरहा अवयवी नही दीखता है, इस प्रकार कहने वाला पण्डित भला कैसे स्वस्थ कहा जा सकता है ? मूछित पुरुष ही ऐसी पूर्वापर विरुद्ध बातो को बकता है। यदि वह पण्डित यो कहे कि रूप से अभिन्न होरहा अवयवी तो रूप ही क्यो नहीं होजायगा ? अतः रूप का दर्शन उस अवयवी का ही दर्शन समझ लिया जाय। यो कहने पर आचार्य कहते है कि उस रूपी अवयवीका उस अकेले रूप गुण से कथंचित् भेद है सर्वथा अभेद नही है,हम गुण और गुणीके केवल सर्वथा अभेद को नही बखान रहे है। ऐसा व्याख्यान करने मे तो प्रतीतियोसे विरोध आता है ।

सत्य बात यह है कि पर्यायो को जानने वाली पर्यायार्थिक नय अनुसार विचारने से उन गुण और गुणी का भेद भी प्रतीत होरहा है। कच्चे घड़े को पका देने पर उसी घड़े की श्यामता का नाश होकर रक्तता का उत्पाद होजाता है, रूप, रस, आदि के क्रमसे हुये अनेक ज्ञान नष्ट होते रहते है। किन्तु ज्ञाता, स्मर्ता, प्रत्यभिज्ञाता आत्मा वह का वही बना रहता है। यदि गुण और गुणीका सर्वथा अभेद मान लिया जायगा तो सह्य विध्य, मल्ल प्रतिमल्ल, स्वर्ग नरक, आदिक सर्वथा भिन्न होरहे पदार्थों के सर्वथा भेद पक्ष मे जैसे इनका गुण गुणी भाव नहीं बनता है। उसी के समान सर्वथा अभेद पक्ष मे भी रूप और रूपवान्का गुणगुणीभाव नही बन सकता है, देखो गुण और उससे सर्वथा अभिन्न होरही गुण की आत्मा (स्वरूप) मे गुण गुणी भाव नहीं है तथा सर्वथा भिन्न होरहे घट और पट मे भी गुणगुणीभाव नहीं माना गया है इन्हीं के समान अन्य भी सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न पदार्थों मे स्वभाव स्वभाववान्पना या गुणगुणीपना नही घटित होसकेगा ।

तत्र द्रव्यार्थिकप्राधान्याद्द्रव्यस्वरूपादभिन्नत्वाद्रूपस्य चाक्षुषत्वे द्रव्यस्य चाक्षुषत्वसिद्धिः स्पृश्यादभिन्नस्य स्पर्शस्याभावात्तत्र स्पार्शनत्वसिद्धिरिति चेत् पर्यायार्थिकप्राधान्याच्च द्रव्याद्भेदेपि रूपस्येव द्रव्यस्यापि चाक्षुषत्वोपगमान्न तस्याचाक्षुषत्वं, नाप्यस्यास्पर्शनत्वं स्पर्शस्येव तद्द्रव्यस्य स्पार्शनत्वप्रतीतेः । न च दार्शनं स्पार्शनं च द्रव्यमिति द्वीन्द्रियग्राह्यं द्रव्यमुपगम्यते तस्य घ्राणरसनश्रोत्रमनोग्राह्यत्वेनापि प्रसिद्धेः ।

उस गुण गुणी स्वरूप वस्तु में द्रव्यार्थिक दृष्टि को प्रधानता अनुसार द्रव्य स्वरूप से अभिन्न होजाने के कारण रूप यदि चाक्षुष माना जायेगा तो साथ ही तदभिन्न द्रव्य को भी चाक्षुषपने की सिद्धि होजाती है । यदि यहा कोई वैशेषिक पण्डित यो कटाक्ष करे कि छूने योग्य स्पृश्य द्रव्य से अभिन्न होरहे स्पर्श का अभाव है, द्रव्य से गुण सर्वथा भिन्न है अतः उस वस्तु मे स्पर्श के तो स्पर्शन

इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होजाने की सिद्धि होजाती है। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से द्रव्य से भेद होने पर भी रूप के समान द्रव्य का भी चाक्षुषपना अभी स्वीकार किया गया है। अतः द्रव्यार्थिक विषय के समान पर्यायार्थिक विषय से भी द्रव्य को चाक्षुषपना है, उस रूपवाले द्रव्य का अचाक्षुषपना नहीं है और इसी प्रकार द्रव्य को स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा गोचर होजाने का निषेध भी नहीं है द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिक नय अनुसार स्पर्श को जैसे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा ग्राह्यपना है उसी प्रकार उस स्पर्शवाले द्रव्यका भी स्पार्शनपना प्रतीत होरहा है।

बात यह है कि वैशेषिक पण्डित द्रव्यो के बहिरिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष मे रूप को कारण मानते हैं। " रूपमत्रापि कारणं द्रव्याध्यक्षे " प्राचीन वैशेषिक वायु द्रव्यका प्रत्यक्ष नहो मानते हैं, विजातीय स्पर्श करके विलक्षण शब्द करके, तृण आदिको का उड़ कर अधर डटे रहने से और शाखा, पत्ते, वस्त्र, आदिके कम्प करके वायु का अनुमान कर लिया जाता है। इसी प्रकार प्राचीन वैशेषिक पण्डित रसना इन्द्रिय की और घ्राण इन्द्रिय की द्रव्य के ग्रहण करने मे सामर्थ्य नहीं मानते हैं नाना जाति के रस वाले अवयवो करके बनाये गये अवयवी को वे नीरस स्वीकार कर लेते है, उस अवयवी में अवयवों के रस का ही रासन प्रत्यक्ष होता है।

हां नवीन वैशेषिक वायु का प्रत्यक्ष मान लेते है, अनेक रस वाले अवयवो से उपजे हुये अवयवी में चित्र रस मानने के लिये भी वे उद्युक्त हैं, इत्यादिक वैशेषिको का समस्या बड़ी विषम है। " उद्भूत स्पर्शवद्द्रव्य गोचरः सोऽपि च त्वच , रूपान्यच्चक्षुषोयाग्य " यो कह नवीन वैशेषिको ने रूप और स्पर्श गुण तथा रूपवान् और स्पर्शवान् द्रव्यो का बहिरग इन्द्रियो से प्रत्यक्ष होजाना अभीष्ट कर लिया है किन्तु इतना लक्ष्य रहे कि द्रव्य को केवल चक्षु. इन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय से ही ग्रहण करने योग्य नही स्वीकार कर लिया जाय यानी चक्षु इन्द्रिय-जन्य चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय होरहा दार्शन और स्पर्शन इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का विषय होरहा स्पार्शन यों केवल दो ही इन्द्रियो करके ग्रहण करने योग्य नही मान बैठना चाहिये क्योकि उस पुद्गल द्रव्य को नासिका, जिह्वा, कान और मन इन्द्रियां द्वारा ग्रहण करने योग्यपन करके भी प्रसिद्धि होरही है अत. वैशेषिकोका एकान्त प्रशंसनीय नहीं है।

रूपादिरहितस्य द्रव्यस्येव द्रव्यरहितानां रूपादीनां प्रत्यक्षाद्यविषयत्वादसर्वपर्यायाणां मतिश्रुतयोर्विषयत्वव्यवस्थापनात् ।

जैन सिद्धान्त अनुसार गुण और गुणी मे कथंचित् अभेद है, गुणो से रहित होकर केवल गुणी का सद्भाव असम्भव है, वैशेषिको ने आद्य क्षण मे अवयवी का गुणरहित उपजना स्वीकार किया है यह मन्तव्य सर्वथा पोच है तथा गुणी द्रव्यके विना अकेले गुणो का निवास करना भी उस ही प्रकार असम्भव है। तभी तो रूप, रस, आदिक से रहित होरहे द्रव्य का जैसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा गोचर होजाना नहीं अभीष्ट किया है। उसी के समान द्रव्य से रहित होरहे केवल रूप आदि गुणों का भी किसी भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से ग्रहण नहीं होजाता माना है, आश्रय के बिना रूप

आदिक गुण बेचारे कहा ठहर रहे जाने जासकते है ? द्रव्य के प्रत्यक्ष मे जैसे रूप आदिको का सहित पना वैशेषिको के यहाँ आवश्यक है। उसी प्रकार रूप आदिको के प्रत्यक्ष मे भी उनके अधिकरण होरहे द्रव्यो का साथ ही अवलोकन होजाना अपेक्षणीय है। यदि कोई यहा यो तर्क करे कि दीपक ओट मे रखा रहता है उसकी प्रभा दीख जाती है, कुटकी परोक्ष मे दूर कुटती रहती है फिर भी उसके रस का प्रत्यक्ष होजाता है, शीशी के इत्र का प्रत्यक्ष नही होजाने पर भी उसकी फैली हुई सुगन्ध सू घ ली जाती है, दूरवर्त्ती अग्नि आदि के स्पर्श को छू लिया जाता है।

इस पर जैनो को यह कहना है, कि वस्तुत. गवेषणा की जाय तो दीपक अपनी कलिका-शरीर मे ही निमग्न है, प्रभा या प्रकाश के उपादान कारण तो घर या चौके मे फैल रहे पुद्गल स्कन्ध है, सूर्य या दीपक तो प्रकाश के निमित्त मात्र है इसी प्रकार दूर वर्त्ता नैमित्तिक अनुसार इन्द्रिया के निकटवर्त्ती पुद्गल स्कन्ध ही कडवे, सुगधित, उष्णस्पर्शवाले, परिणत होगये है. अत: जब कभी रूप आदिका का प्रत्यक्ष होगा वह द्रव्य-सहितो का ही होगा यह जैन सिद्धान्त निरवद्य है। उमास्वामी महाराज ने प्रथम अध्याय मे "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" इस सूत्र द्वारा छ. द्रव्यों की असर्व पर्यायो और सम्पूर्ण छ ऊ द्रव्यो को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के गोचर-पने करके व्यवस्था करादी है, कतिपय पर्यायो से सहित होरहे द्रव्य का मतिज्ञान या श्रुतज्ञान मे प्रतिभास होता है, इसी बात को दूसरी वचन भगी से यो कह लो कि मतिज्ञान या श्रुतज्ञान द्वारा द्रव्यो मे वृत्ति होकर जाने जा रहे रूप, रस, आदि कतिपय पर्यायो का परिज्ञान होता है, अत दर्शन स्पर्शन, के समान द्रव्य को रासन, नासिक्य, श्रौत्र, मानसिक भी स्वीकार किया जाय। गुण और गुणी का कथचित् अभेद मानने पर वैशेषिको का चित्र रूप, चित्र रस, चित्र स्पर्श, चित्र गन्ध मानने का बोझ नही बढ़ाना पड़ेगा और रसनासयोगसन्निकर्ष, त्वक्सयोगसन्निकर्ष तभी सफल होसकेंगे।

इदमेव हि प्रत्यक्षस्य प्रत्यक्षत्वं यदन्यान्मन्यविवेकेन बुद्धौ स्वरूपस्य समर्पणं। इमे पुना रूपादयो द्रव्यरहिता एवामूल्यदानक्रायिणः स्वरूपं च नादर्शयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तु-मिच्छन्तीति स्फुटमभिधीयतां।

चू कि प्रत्यक्षज्ञान का प्रत्यक्षपना यही है, अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय होरहे अर्थ का प्रत्यक्ष होजाना यही है, जो कि अपने (विषय स्वरूप) से भिन्न होरहे अनन्त पदार्थो का पृथक् भाव करके प्रत्यक्षबुद्धि में स्वकीय रूप का भले प्रकार अर्पण करदेना है, द्रव्य से रहित होरहे ये रूप आदिक ही फिर मूल्य नही देकर क्रय करने वाले होरहे है, बुद्धि मे अपने स्वरूप को नही दिखलाते हैं, और अपने प्रत्यक्ष होजाने को स्वीकार करना चाहते है, इस बात का आप बौद्ध स्पष्ट करते रहियेगा। अर्थात्-विक्रेय पदार्थ को मूल्य नही देकर क्रय करना (खरीदना) बड़ा भारी चोरी का दोष है, बौद्ध स्थान स्थान पर यो कह देते हैं, कि आप जैनो या नैयायिको के यहा माना स्कन्ध या अवयवी

कोई पदार्थ नही है, वह स्कन्ध अपने प्रत्यक्ष ज्ञान में अपनी आत्मा का समर्पण नहीं करता है, और अपना प्रत्यक्ष होजाना चाहता है, विषय का अपना प्रत्यक्ष कराने मे ज्ञान के लिये अपना आकार अर्पण कर देना ही मूल्य दे देना है, ज्ञान मे पदार्थों का प्रतिविम्ब पड़ जाना स्वरूप आकार को मानते हुये साकार ज्ञान-वादी बौद्धजन ज्ञान के लिये अपने आकार का समर्पण करदेना ही विषय करके मूल्य दे देने की उत्प्रेक्षा कर लेते है ।

हा जैन विद्वान् विषय भूत अर्थों की ज्ञान द्वारा विकल्पना होजाना ही आकार मानकर ज्ञान को साकार इष्ट करते है, ज्ञान मे अर्थों का प्रतिविम्ब नही पडता है । सत्य बात यह है कि बौद्धो के यहां मानी गयी सूक्ष्म आसाधारण, क्षणिक, परमाणु, स्वलक्षणों का ही किसी को कदाचित् प्रतिभास नही होपाता है, ये परमाणुये ही प्रत्यक्षबुद्धि मे अपने स्वरूप का समर्पण नही करती हुई अपना प्रत्यक्ष होजाना मागती है, अत बौद्धो की कल्पित परमाणुये अमूल्यदान-क्रयी है, अवयवी तो अपने अर्थविकल्प स्वरूप आकार को प्रत्यक्षमे समर्पण कर अपना प्रत्यक्ष करना चाहता है, अतः अमूल्यदानक्रयी नही है, अपने से भिन्न पदार्थों का पृथग्भाव कर बुद्धि मे शुद्ध प्रमेय के निज स्वरूप की विकल्पना होजाना ऐसा मूल्य देकर सौदा लेना जैनो को अभीष्ट है ।

अपने आश्रय द्रव्यके सहित होरहे ही रूप,रस,आदिक विषय बुद्धिके लिये अपना मूल्य देकर प्रत्यक्ष होना चाहते हैं, द्रव्य रहित अकेला रूप या रस-रहित कोरा द्रव्य चोर है, डाकू है, गठकटा है, उठाईगीरा है, अतः न्यायशालिनी बुद्धि केवल गुण या केवल गुणी का प्रत्यक्ष नही कराती है, यह बौद्धो को स्पष्ट कहना पड़ेगा अब वे द्रव्य-रहित कोरे रूप या रस को नही स्वीकार कर सकते है, क्योंकि मतिज्ञान में द्रव्य से सहित होरहे रूप आदिकोका ही परिज्ञान होरहा है "वर्णादय एव न स्कन्धा." अथवा "अवयवा एव न अवयवी" ये मन्तव्य समाचीन नहीं है ।

एतेन श्रुतज्ञानेऽप्यप्रतिभासमानाः श्रुतज्ञानपरिच्छेद्यत्वं स्वीकर्तुमिच्छंतस्त एवामूल्यदानक्रयिणः प्रतिपादितास्तद्रहितद्रव्यवत् ततः प्रतीतिसिद्धमवयविनः चाक्षुषत्व स्पार्शनत्वादि समुपलक्षयति बाधकाभावात् ।

इस उक्त कथन करके इस बात का भी प्रतिपादन कर दिया गया है, कि सर्वथा असत् होरहे पदार्थ का प्रतिभास नही होसकता है, अतः अर्थ से अर्थान्तर को जानने वाले श्रुतज्ञान में भी नही प्रतिभास रहे ये द्रव्यरहित कोरे रूप आदिक पदार्थ अपना श्रुतज्ञान द्वारा परिच्छेद होजाना स्वीकार करना चाह रहे वे अमूल्यदान-क्रयी है, जैसे कि उन रूप आदिको से रहित होरहा कोरा द्रव्य अमूल्यदान-क्रयी है । अर्थात्– जब वर्ण,संस्थान आदिक-आत्मक स्कन्ध की स्फुट प्रतिपत्ति होरही है, और द्रव्य-रहित कोरे रूप आदिक या रूप आदिसे रहित कोरे द्रव्य की क्वचित्,कदाचित्, कस्यचित्, प्रतीति नहीं होरही है, ऐसी दशा में इनका श्रुतज्ञान मे भी प्रतिभास नही होसकता है, अतः मूल्य नही देकर यो हो झपटलेना यह दोष सांख्य या बौद्धो के ऊपर ही आता है, स्याद्वादियों के यहा तो विषय करके

विक्रेता को स्वकीय विकल्पना स्वरूप पूरा मूल्य देकर अपना प्रत्यक्ष कराना मानागया है, तिस कारण अवयवी का चाक्षुषपना सूत्रोक्त अनुसार प्रतीतिम्रो से सिद्ध होजाता है।

भेद सघातो से चाक्षुष होय इतना ही नही सूत्रकार को अभिप्रेत है, प्रत्युत चाक्षुषपना वह पद स्पार्शन, रासनपन, आदि का भी भले प्रकार उपलक्षण कर लेता है, कोई बाधक प्रमाण नही है। भावार्थ-'तद्भिन्नत्वे सति तत्सदृशत्वमुपलक्षणं" अचाक्षुष भी अवयवी इन भेद और संघात से चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होजाता है, उक्त सूत्र का इतना ही अभिप्राय नही लिया जाय किन्तु पहिले अस्पार्शन, अरासन, आदि होरहे पदार्थ भी भेद और सघात से पुन: स्पार्शन, रासन आदि होजाते है, ऐसा उक्त सूत्र का उदार अभिप्रेतार्थ है।

किं पुन द्रव्यस्य लक्षणमित्याह।

जीव आदि छह ऊ द्रव्यो का विशेष लक्षण तो उन स्थलो पर सूत्रकार महाराज ने कह दिया है, किन्तु साधारण रूप से द्रव्य का लक्षण अभी नही कहा जा चुका है, अत. यह कहना चाहिये कि द्रव्य का लक्षण फिर क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज इस अगले सूत्र को कहते है।

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

द्रव्य या द्रव्यो का लक्षण सत् है। अर्थात्-जो विद्यमान रह चुका है, विद्यमान है, विद्यमान रहेगा वह सत् पदार्थ द्रव्य है, जो सत् नही है, वह द्रव्य नही है, नैयायिक, वैशेषिक, मीमासक, बौद्ध, आदि के यहा तत्व या द्रव्य का लक्षण ठीक ठीक नही बन सका है, जोकि अव्याप्ति, अतिव्याप्ति असम्भव दोषो करके रहित होय। वैशेषिकोद्वारा द्रव्यत्व के योग से द्रव्य समझा जाता है, इत्यादि लक्षणो का विचार किया जा चुका है। परमार्थ रूप से देखा जाय तो यह द्रव्य का सूत्रोक्त लक्षण सर्वत्र, सर्वदा, निर्दोष है। जैसे कि अर्थ-क्रिया-कारित्व वस्तु का लक्षण है, "स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्य हि वस्तुनो वस्तुत्व" इसी प्रकार द्रव्य या तत्व भी सत् लक्षण वाला है, पचाध्यायीकार पण्डित राजमल्ल जी द्वारा "तत्व सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्ध। तस्मादनादिनिधनं स्व सहायं निर्विकल्पं च" इस पद्य करके तत्व के सत् लक्षण को पुष्ट किया गया है, क्यो न हो जब कि महान् पूज्य श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराज ने सत्ता को ही द्रव्य का आत्मा निर्धारित किया है, अनन्तानन्त गुणों के पिण्ड होरहे द्रव्य मे अस्तित्व का प्रभाव ओत पोत छा रहा है, द्रव्य से अस्तित्व अभिन्न है, अतः द्रव्य का सत्पना आत्मभूत लक्षण है।

अथ विशेषतः सद्द्रव्यस्य लक्षणं सामान्यतो वा ? यदि विशेषतस्तदा पर्यायाणां द्रव्यत्वप्रसंगादतिव्याप्तिर्नाम लक्षणदोषः, अव्याप्तिश्च त्रिकालानुयायिनि द्रव्ये सद्विशेषाभावात् वर्तमानद्रव्य एव तद्भावात्। यदि पुनः सामान्यतस्तद्द्रव्यस्य लक्षणं शुद्धमेव द्रव्यं स्यादिति सैवाव्याप्तिरशुद्धद्रव्ये तदभावदिति वदंतं प्रत्युच्यते।

अब यहाँ किसी का पूर्व पक्ष प्रारम्भ होता है कि यह द्रव्य का लक्षण जो सत् किया गया है वह क्या विशेष रूप से सत्पना द्रव्य का लक्षण है ? अथवा क्या सामान्य रूप से सत्पना द्रव्य का लक्षण इस सूत्र मे कहा गया है ? बताओ। यदि प्रथम पक्ष अनुसार विशेष रूप से सत्पना द्रव्य का लक्षण माना जायेगा तब तो घट, पट नारंगी, अमरूद, काला, नीला, खट्टा, मीठा, आदि पर्यायों को भी द्रव्यपन का प्रसग आजावेगा यह लक्षण का अतिव्याप्ति नामक दोष हुआ, पर्यायें भी विशेष रूप से सत् हैं किन्तु वे पर्यायें द्रव्य नही मानी गयी हैं अन्यथा यानी अभेद पक्ष पर बल दिया जायगा तब तो द्रव्य, गुण, पर्याय, इन तीन अर्थों की व्यवस्था नही की जा सकेगी तथा विशेष रूप से सत् को द्रव्य का लक्षण मानने पर अव्याप्ति दोष भी आता है। क्योंकि भूत, वर्तमान, भविष्य, इन तीनों कालो में अन्वय रूप से अनुयायी होरहे द्रव्य मे विशेषतया सत्पना नही है, वर्तमान द्रव्य मे ही वह विशेष सत्पना विद्यमान है त्रिकाल अनुयायी द्रव्य मे तो सामान्य रूप से सत्पना ठहर सकता है अतः गौ का लक्षण शुक्ल कह देने से जैसे अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, दोनो दोष आते है, उसी प्रकार विशेष सत् को द्रव्य का लक्षण करने पर अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, ये दोनो दोष आते हैं।

यदि फिर द्वितीय पक्ष अनुसार सामान्य रूप से उस सत् को द्रव्य का लक्षण कहा जायेगा तब तो शुद्ध द्रव्य ही द्रव्य होसकेगा इस कारण फिर वही अव्याप्ति दोष आया क्योंकि द्वयणुक, त्र्यणुक नारकी जीव, मनुष्य, आदि अशुद्ध द्रव्यों में उस सामान्य रूप से सत्पन लक्षण का अभाव है। अतः द्रव्य का उक्त लक्षण निर्दोष नही है, इस प्रकार वाद कर रहे किसी पण्डित के प्रति आचार्य महाराज करके अग्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट समाधान कहा जाता है।

सद्द्रव्यलक्षणं शुद्धमशुद्धं सविशेषणं।
प्रोक्तं सामान्यतो यस्मात्ततो द्रव्यं यथोदितं ॥ १ ॥

जिस कारण से कि चाहे शुद्ध द्रव्य हो या अशुद्ध द्रव्य हो अथवा अन्य किसी प्रकार जीवत्व पुद्गलत्व, आदि विशेषणो से सहित द्रव्य होय यह सब सामान्य रूप से सत्पना बहुत अच्छा कहा गया है तिस ही कारण सर्वज्ञ आम्नाय से चले आ रहे श्रुतज्ञान अनुसार द्रव्य का लक्षण सूत्रकार महाराज ने कह दिया है जो कि त्रिकाल, त्रिलोक में अबाधित होकर अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, दोषो का निवारण करता हुआ यथार्थ है।

न हि विशेषतः सद्द्रव्यलक्षणं यतोऽत्रातिव्याप्त्यव्याप्ती स्यातां सामान्यतस्तस्य तल्लक्षणत्वात्। नचैवं शुद्धद्रव्यमेव सल्लक्षणं स्यादशुद्धद्रव्यमेव सल्लक्षणं स्यादशुद्धद्रव्यस्यापि तल्लक्षणत्वोपपत्तेः। ततो नाव्याप्तिर्लक्षणस्य। यथैव हि देशकालैरविच्छिन्नं सर्वत्र सर्वदा सर्वथा वस्तुनि सत्सदिति प्रत्ययाभिधानव्यवहारनिबंधनं सत्तासामान्यं शुद्धद्रव्यलक्षणमबाध-मनुभूयमानमाबालप्रसिद्धं तथा सर्वद्रव्यविशेषेषु द्रव्यं द्रव्यमित्यनुभूतबुद्ध्यभिधाननिबंधनद्रव्यो पाधि सदेवद्रव्यत्वमशुद्धद्रव्यसविशेषणस्य सम्बंधस्याशुद्धत्वात्।

हम आर्हंत सिद्धान्ती प्रथम पक्ष अनुसार विशेष रूप से सत्को द्रव्य का लक्षण नहीं स्वीकार करते हैं। जिससे कि इस लक्षण में अतिव्याप्ति, अव्याप्ति दोष होजाते, हम तो सामान्य रूपसे उस सत् को उस द्रव्यका लक्षण होजाना स्वीकार करते हैं। इस प्रकार मानने पर शुद्ध द्रव्य ही सत् लक्षण वाला नहीं हो सकेगा जिससे कि द्वितीय पक्ष अनुसार अव्याप्ति दोष आजाय अशुद्ध द्रव्य को भी उस सामान्यतः सत्पन लक्षण मे युक्तपना बन जाता है. तिस कारण सम्पूर्ण लक्ष्यो मे सामान्य सत् इस लक्षण की घटना होजाने से लक्षण के ऊपर अव्याप्ति दोष नहीं आता है, कारण कि जिस ही प्रकार सम्पूर्ण देश और सम्पूर्ण कालो करके नहीं विच्छिन्न होरहा अटूट सत्तासामान्य बेचारा सभी स्थलो पर सम्पूर्ण कालो मे सभी प्रकारो करके वस्तु मे " सत् है सत् है " ऐसे ज्ञान और व्यवहारियो मे बोले जा रहे शब्दव्यवहार का कारण होरहा सत्ता शुद्ध द्रव्य का लक्षण है जोकि बालक, बालिका, पामर, से प्रारम्भ कर प्रकृष्ट विद्वानों तक साधारणित होकर अनुभवा जा रहा सत्ता प्रसिद्ध है।

तिस प्रकार सम्पूर्ण जीव, पुद्गल, धर्म, आदि विशेष द्रव्यो मे भी " ये द्रव्य है यह द्रव्य है" इत्यादिक रूप से अनुभवे जा रहे ज्ञान और शब्द व्यवहार के कारण होरहे द्रव्य को विशेषण मान रहा सत् ही द्रव्यपन है। " मनुष्य जीव सन्" यो अशुद्ध द्रव्य करके विशेषण सहित होरहा सत्व ही अशुद्धता है। अर्थात्—श्री सिद्धभगवान्, आकाश, आदि शुद्ध द्रव्यो मे जैसे " सत् सत् " इस ज्ञान और शब्द योजनाके व्यवहार का कारण सत्ता सामान्य ही द्रव्यकी शुद्धता है, उसी प्रकार द्व्यणुक, नारकी, आदि शुद्ध द्रव्यो या विशेष विशेष जीव आदि द्रव्यो मे " द्रव्य है द्रव्य है " ऐसे ज्ञान या शब्दो के होजाने का कारण होरहा सत्व ही द्रव्य की अशुद्धता या विशेष व्यक्तित्व है। अतः द्रव्य का लक्षण सामान्यतः सत्पना शुद्धद्रव्य के समान अशुद्ध द्रव्यो मे भी चरितार्थ है।

एवं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्यं प्रत्येतव्यं। क्रमयौगपद्यवृत्ति-स्वपर्याय-व्यापि-जीवत्वविशेषणस्य सत्वस्य जीवद्रव्यत्वात्तादृक् पुद्गलत्वविशिष्टस्य पुद्गलद्रव्यत्वात् क्रमाक्रमभाविधर्मपर्यायव्यापिधर्मत्वविशेषणस्य धर्मद्रव्यत्वात्, तथाविधाधर्मत्वोपाहितस्याधर्मद्रव्यत्वात्, तादृशाकाशत्वोपाधेराकाशद्रव्यत्वात्, क्रमाक्रमभाविपर्यायव्यापिकालत्वविशिष्टस्य काल-द्रव्यत्वात्।

जैसे शुद्ध द्रव्य अथवा अशुद्ध द्रव्य इस सामान्य रूप से सत्पन लक्षण करके तदात्मक होरहे हैं। इसी प्रकार विशेषणसहित सत्व को धार रहे जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य भी विश्वास कर लेने योग्य हैं, कारण कि जीव की क्रम से वर्त्त रही क्रमभावि पर्यायें, और युगपत्पन मे वर्त रहे गुणनामक सहभावी पर्यायें यों अपनी दोनों जाति की पर्यायों में व्याप रहा जीवत्व नामक विशेषण का धारी सत्व ही जीव द्रव्य है। अर्थात्—जीव मे सामान्य सत्व रह गया जो कि त्रिकाल-वर्त्ती सहभावी, क्रमभावी पर्यायों में व्याप रहे जीवन नामक विशेषण से संयुक्त है। उसी ढंग से तिस प्रकार की क्रम और युगपत्पने से वर्त रही अपनी अपनी पर्यायो मे व्याप-

रहे पुद्गलत्व से विशिष्ट होरही सत्ता ही पुद्गलद्रव्य है ।

क्रम और अक्रम से होने वाली धर्मद्रव्य की निज पर्यायों में व्याप रहे धर्मद्रव्यपन विशेषण से आलीढ होरहे सत्व को धर्मद्रव्यपना है । तथा तिसी प्रकार यानी अपनी क्रम, अक्रमवर्ती अधर्म-द्रव्य सम्बन्धी पर्यायों मे व्याप रहे अधर्म द्रव्यपन विशेषण को पहन रही सत्ता ही अधर्म द्रव्य है । तिन्हीं के सदृश अपनी आकाश-सम्बन्धी क्रम, अक्रमवर्ती पर्यायो मे व्याप रहे आकाशत्व नामक उपाधिधारी सत्व को आकाश द्रव्य माना जाता है । तथैव क्रम, अक्रम, से होने वाली अपनी काल द्रव्य की पर्यायोमे व्याप रहे कालत्व विशेषणसे विशिष्ट होरहा सत्व ही काल द्रव्य है अतः विशेषण होकर उन द्रव्यो मे वर्त्त रहा सत्व ही जीव आदि द्रव्यो का तदात्मक लक्षण है प्रत्येक जीव द्रव्य या एक एक पुद्गल द्रव्यमे भी उस निज पर्यायोमे व्याप रहे व्यक्तित्व विशेषण से युक्त होरहे सत्वका तादात्म्य बन रहा है जो कि द्रव्य का लक्षण किये जाने योग्य है ।

नन्वस्तु सद्द्रव्यस्य लक्षणं तत्तु नित्यमेव, तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानात् तदनित्यत्वेऽघटनात् सर्वदा बाधकरहितत्वादिति कश्चित्, प्रतिक्षणमुत्पादव्ययात्मकत्वान्नश्वरमेव तद्विच्छेदप्रत्ययस्याभ्रांतस्यान्यथानुपपत्तेरित्यपरः । तं प्रत्याह ।

यहां कोई पण्डित अनुनय करता है कि द्रव्य का लक्षण जो सामान्यतः सत् कहा गया है । वह बहुत अच्छा है किन्तु वह सत्व नित्य ही है, क्योंकि " यह वही है " इस प्रकार सत्व का एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता रहता है, यदि उस सत् का अनित्य होना माना जायेगा तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञान भले ही होजाय किन्तु " यह वही है " ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान वहां अनित्यपक्ष मे घटित नही होपाता है सभी कालो मे सत् के नित्यपन को साध रहा एकत्व प्रत्यभिज्ञान नाम का प्रमाण बाधको से रहित है । इस प्रकार कोई सांख्यमत के पक्ष का अवलम्ब लेकर कह रहा है । तथा दूसरा पण्डित बौद्ध मत का आश्रय लेकर यो अवधारण कर रहा है कि वह सत् प्रत्येक क्षण मे उत्पाद और व्यय-आत्मक होने से नाशशील ही है पहिली पर्याय नष्ट होकर दूसरे क्षण मे अन्य ही पर्याय उपजती रहती है, घूम रहे पहिये के अरा और अर विवर के समान उस उत्पाद और व्ययकी चल रही धारा मे पड़े हुये विच्छेदो (अन्तरो) का होरहा भ्रान्ति-रहित ज्ञान अन्यथा हो नही सकता है अर्थात्—उत्पाद, व्यय, यदि नही माने जायेगे तो स्थास, कोष, कुशूल, घट, कपाल, या बिजली, दीप कलिका, आदि मे होरहे मध्यवर्त्ती विच्छेदो का ज्ञान झूठ पड जायेगा सर्वथा नित्य पदार्थ सदा एक ही रहता है उस मे अनेक उपज रहे, विनश रहे भावो का अन्तराल नही पडता है, अतः सत् नश्वर है । इस प्रकार कोई दूसरा पण्डित कह रहा है । अब सूत्रकार उन एकान्त नित्यवादी और एकान्त क्षणिक-वादी पण्डितो के प्रति समाधान कारक सूत्र को कहते हैं ।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

द्रव्य के उत्तर समयवर्त्ती परिणाम का उपजना स्वरूप उत्पाद और पूर्व समयवर्त्ती पर्याय का

विघट जाना रूप व्यय तथा अनादि कालीन पारिणामिक स्वभाव करके स्थिर बने रहना स्वरूप ध्रौव्यसे युक्त यानी समाहित होरहा सत् है। अर्थात्—सत् वस्तु का प्राण अर्थ-क्रियाकारित्व है, उत्पाद व्यय, ध्रौव्यो करके अर्थ क्रिया होजाती है। भावान्तर की प्राप्ति होना और पूर्व भाव का विगम होने तथा दीर्घ कालसे अन्वित चले आरहे स्वकीय पारिणामिक भाव करके ध्रुवपना ये सत् के स्वरूप है। अद्वैत वादियो का प्रतिभात स्वरूप सत् या वैयाकरणो का मात्र अस्तित्व रूप सत् अथवा वैशेषिको की नित्य और द्रव्य, गुण, कर्मों मे समवेत होरही सत्ता यहा सत् नही पकडी गई है ' हा सत्वं अर्थ-क्रियया व्याप्त " अर्थ क्रिया च क्रमयौगपद्याभ्या व्याप्ता, क्रमयौगपद्ये तु उत्पादव्ययध्रौव्यैर्व्याप्ते" यह प्रक्रिया अच्छी है।

स्वजात्यपरित्यागेन भावांतरावाप्तिरुत्पादः, तथा पूर्वभावविगमो व्ययः, ध्रुवेः स्थैर्यकर्मणोध्रुवतीति ध्रुवस्तस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यं तैर्युक्तं सदिति बोद्धव्यम्।

अपनी सदृश परिणामरूप भावत्व, पुद्गलत्व, आदि जातियो का परित्याग नही करके चेतन अथवा अचेतन द्रव्य के परिणामान्तरो की प्राप्ति होजाना उत्पाद है, और तिसी प्रकार यानी स्वजाति का अपरित्याग करके पूर्ववर्त्ती भावों का विनश जाना व्यय है। "ध्रुव गतिस्थैर्ययो" इस तुदादि गण की धातु या "ध्रुव स्थैर्ये" इस भ्वादि गणकी स्थिर क्रिया को कहने वाली "ध्रुवति" इस धातु से अच् प्रत्यय करने पर ध्रुव शब्द बनता है, उस ध्रुव का भाव अथवा कर्म ध्रौव्य है,यो तद्धित मे ष्यञ् प्रत्यय कर ध्रौव्य शब्द साधु बना लिया जाता है। उन उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यो करके युक्त होरहा सत् है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ समझ लेना चाहिये। बात यह है, कि सत् को उत्पाद व्ययों करके युक्त कह देने मे सर्वथा नित्य-वादका खण्डन होजाता है और सत्को ध्रौव्ययुक्त कह देनेसे क्षणिकवाद का निराकरण कर दिया जाता है, तीनो से समाहित होरहा सत् परमार्थ वस्तु है, भेद पक्ष अनुसार "युजिर् योगे" धातु से और अभेद पक्ष अनुसार "युज समाधौ" धातु से युक्त शब्द साधु बना लिया जाय।

तत्रोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति सूचनात्।
गुणसत्वं भवेन्नैव द्रव्यलक्षणमंजसा ॥ १ ॥

द्रव्यलक्षणके उस प्रकरण में,उत्पाद,व्यय, ध्रौव्य इनसे युक्त होरहा सत् है, यो श्री उमास्वामी महाराज करके सूत्रद्वारा सूचना कर देने से गौण सत्ता तो द्रव्य का लक्षण निर्दोष नही होसकेगा। अर्थात्–जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य यानी अन्वित स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखती हुई षट् स्थान-पतित हानि वृद्धियां होती रहती हैं, वह वास्तविक सत् तो द्रव्य है। बौद्धो के यहाँ कल्पित किया गया सत्व या वैशेषिको की सत्ता जाति अथवा अद्वैतवादियो का चित् स्वरूप सत्व तो द्रव्य के लक्षण नही होसकते हैं। सूत्र के उद्देश्यदल में एवकार लगा देनेसे अन्य गौणसत्ता या कल्पित सत्ता अथवा कापिलो के सत्वगुण की व्यावृत्ति होजाती है, अतः वस्तुभूत सत्व ही द्रव्य का लक्षण है।

न हि गुणभूतं सत्त्वमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमुपपद्यते तस्य कल्पितत्वात्, नांजसा, द्रव्यस्य लक्षणं वस्तुभूतस्यैव सत्त्वस्योत्पादादियुक्तत्वोपपत्तेः भेदज्ञानादुत्पादव्ययसिद्धिवदभेद ज्ञानाद्ध्रौव्यसिद्धेरप्रतिबन्धात् ।

गौणरूप से कल्पित होगया सत्व या सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, मे गुण होकर पड़ा हुआ सत्व तो नियम करके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों, से युक्त नही बन सकता है, क्योंकि वह कल्पित है, झूंठ मूठ कल्पना कर लिये गये पदार्थ मे वास्तविक पदार्थ के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नही पाये जाते है, 'न हि कल्पितो गौर्वाहदोहादावुपयुज्यते' तमारा या चकाचोंध दोष से रीते आकाश मे दीख रहे तमः पिण्ड या तेज पिंड सारिखे पदार्थों की उत्पत्ति विनाश, और स्थिरता नही प्रतीत होरही है। इस प्रकार गुण (गौण) भूत सत्ता द्रव्य का निर्दोष लक्षण नहीं है, वास्तविक होरहे सत्व का ही उत्पाद, व्यय आदि से सहितपना युक्तपूर्ण माना जाता है, पूर्वोत्तर अवस्थाओ मे भेद का ग्रहण करने वाले ज्ञान से जैसे उत्पाद और व्यय की सिद्धि होजाती है, उसी प्रकार द्रव्य की पूर्वापर अवस्थाओ मे अभेद का ज्ञान करने से ध्रुवपन की सिद्धि होजाने का कोई प्रतिबन्ध नहीं है, अर्थात्–वस्तु भेदाभेदात्मक है, भेद की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय, इन दो का व्यवस्था है, और अभेद की अपेक्षा ध्रुवपना निर्णीत है।

ननु च ध्रौव्ययुक्तं सद्द्रव्यस्य लक्षणं उत्पादव्ययुक्तं सत् पर्यायस्य लक्षणमिति व्यक्तं वक्तव्यमविरोधात्। नैव वक्तव्य, सत एकत्वादेका सत्तेति वचनाद्देकं द्रव्यमनन्तपर्यायमित्युच्यते न पुनर्द्विविधा द्रव्यसत्ता पर्यायसत्ता चेति। ततोन्यस्य महासामान्यस्यैकस्य तद्व्यापिनो द्रव्यस्य प्रसंगात्। तदा यद्यद्रूपं तदा न द्रव्य ख्यापयाणवत् सद्रूपं चेत्, सर्वेकां सत्तात सिद्धं सल्लक्षणं द्रव्यमेव पर्यायस्य पर्यायात्रूपेण सद्रूपत्वप्रतीतेः।

यहां किसी पंडित का अनुनय है, कि जब वस्तु बनारी द्रव्य पर्याय-आत्मक मानी गई है, तो ध्रौव्य-युक्त सत् को तो द्रव्य का लक्षण कह दिया जाय तथा उत्पाद और व्यय से युक्त होरहे सत् को पर्याय का लक्षण मान लिया जाय तो इस प्रकार जैन-सिद्धान्त मे कोई विरोध आता नहीं दीखने से सूत्रकार द्वारा व्यक्त कह देना चाहिये। अर्थात्– 'स्पष्टवक्ता न वंचक., यह नीति अच्छी है, कवि जन भले ही 'वक्रोक्तिः काव्य-जीवित' स्वीकार करें किन्तु दार्शनिकों को वक्र कथन शोभा नहीं देता है। अब आचार्य कहते है, कि इस प्रकार नही कहना चाहिये कारण कि सत्ता या सत् एक ही है, 'सत्ता एक है, ऐसा जैन सिद्धान्त ग्रन्थों मे कहा गया है, 'एका हि महासत्ता' 'सत्ता सव्व-पयत्था सविस्सरूवा अणंत-पज्जाया। भगाप्पादधुवत्था सप्पडिवक्खा हवदि एगा॥" ऐसे सवज्ञ आम्नायसे चले आरहे शास्त्रों के वचन है। वह एक ही सत् द्रव्य है,जो कि अनन्त पर्यायों वाला है, या कह दिया जाता है, किन्तु सत्ता फिर द्रव्य सत्ता और पर्याय-सत्ता या दो प्रकार की नहीं है, यदि सत्तायें दो मानी जायगी तो एक महासत्ता को मानने वाले जैनों के यहां फिर उन द्रव्य और पर्यायों का द्रव्यसत्ता, पर्याय सत्ता, इन दोनोंमे व्यापने वाले उनसे न्यारे एक महासामान्य द्रव्य का स्वीकार करनेका प्रसंग आवेगा।

सत्ताओं मे पुन सत्ता के मानने की आवश्यकता तो नही है.

यदि वैशेषिको के मत अनुसार स्वय असत् पदार्थों का सत्ता के योग से सत् होजाना माना जायगा तो दो सत्ताओ को सती बनाने के लिये तीसरी महासत्ता माननी पडेगी और वह निराला महासामान्य सत्व भी असत् स्वरूप होगा तब तो वह द्रव्य नही होसकता है, जैसे कि सर्वथा असत् खरविषाण कोई द्रव्य नही है, हा उस महासामान्य को यदि सत् स्वरूप मान लोगे तो यही सिद्धान्त सिद्ध हुआ कि वह सत्ता एक ही है, सत् इस लक्षण का धारी द्रव्य ही है, अथवा जब सत्ता एक ही है, तो इस कारण सिद्ध हुआ कि सत् लक्षण वाला द्रव्य ही है, पर्याय को भी अन्य पर्यायों के स्वरूप से सद्रूपपना प्रतीत होरहा है. घट, पट, मतिज्ञान सुख दुःख फल फल केला, आदि पर्यायो मे अन्य काला, पीला, अविभाग प्रतिच्छेद, खट्टा, मीठा, आदि पर्यायो के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, अनुसार सत्पना है, अकेले उत्पाद अंश या विनाश अंश अथवा एक अविभाग प्रतिच्छेद मे भले ही सत् पना नही होय कोई क्षति नही पडती है, अभेद या अभेद उपचार से एक एक अंश या उतांशों मे सत्पना घटित होजाता है, स्याद्वाद सिद्धान्त अक्षुण्ण है।

तत एव सल्लक्षणमेव द्रव्यं शुद्धमित्यवधार्यते, तस्यासद्रूपत्वाभावात् प्रागभावादेरपि भावांतरस्वभावस्यैव सदसत्त्वसिद्धेः। सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेष-लिंगाभावादेका सत्तेति परैरप्यभिधानात् केवलध्रौव्ययुक्तमेव सदित्येकांतव्यवच्छेदनार्थमुत्पादव्ययपुक्तमित्युच्यते, तस्यानंतपर्यायात्मकत्वात् पर्यायाणां चोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वात्। न नित्यं सदेकमसत्त्यननुस्यूताकारं तस्यासद्रूपव्यावृत्त्याकल्पितत्वात् स्वलक्षणस्यैवोत्पादव्ययवतः सत्त्वादित्येकांतव्यवच्छित्तये ध्रौव्ययुक्तमित्यभिभाषणात्।

तिस ही कारण से "सद्द्रव्यलक्षणं" इस पहिले सूत्र मे पूर्व अवधारण कर सत् लक्षण वाला ही द्रव्य शुद्ध है, यो सत् एव द्रव्य लक्षण,, अवधारण कर लिया जाता है, उस द्रव्य को असत् स्वरूप पना नही है, वैशेषिकों के यहा प्रागभाव, ध्वस, आदि को सर्वथा भावो से भिन्न असत् पदार्थ मान रक्खा है, सो ठीक नही है, अन्य मिट्टी, कपाल, भूतल आदि भावो के भाव स्वरूप होरहे ही प्रागभाव आदि का भी कथंचित् सत् असत् पना सिद्ध कर दिया गया है। अर्थात्-मृद आदि द्रव्य या उपादान होरही पर्याये ही घट आदि कार्यो का प्रागभाव है, तथा उपादेय की उत्पत्ति ही उपादान का ध्वस है, स्वभावान्तरो से स्वभाव की व्यावृत्ति होजाना परिणाम अन्योन्याभाव है, और अगुरुलघु गुण अनुसार त्रैकालिक भेद का बनाये रखनेवाली परिणतियें अत्यन्ताभाव है, यों भावस्वरूप ही अभाव है, तुच्छ निरुपाख्य कोई अभाव पदार्थ नही है।

दूसरे विद्वान् वैशेषिको ने भी वैशेषिक दर्शनके प्रथम अध्याय-सम्बन्धी सत्रहवें "सदिति लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिंगाभावाच्चैको भावः,, इस सूत्र मे सत्ता को एक कहा है, जब कि द्रव्य, गुण,

कर्मों, मे या इनकी विशेषव्यक्तियो मे 'सत् सत, ऐसी प्रतीति विशेषता से रहित होरही है, और एक सत्ता के पुन. विशेष भेद करने वाले लिंगो का अभाव है, अत सत्ता नाम का सामान्य एक है, हां कुछ सत्ता के विशेषणों मे न्यून अधिक करते हुये हम जैन सत्ता को एक स्वीकार कर लेते है, वैशेषिकों ने सर्वथा नित्य, एक, और अनेकों मे समवायिनी सत्ता को स्वीकार किया है, जैन सिद्धान्त मे पूर्व उक्त गाथा अनुसार सम्पूर्ण पदार्थों मे ठहर रही, विश्व स्वरूप से होरहो. अनन्त पर्या ो वाली उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन प्रयोजनो को साध रही, और अपनी प्रतिपक्ष-भूत अवान्तर सत्ताओ से सहित होरही एक महासत्ता स्वीकार की गई है, जो कोई एकान्त-वादी वैशेषिक, नैयायिक, या ब्रह्माद्वैत-वादी पण्डित उस सत्ता को केवल ध्रुवपन धर्म से हो युक्त होरही वखानते है, यानी सत् केवल ध्रौव्य से ही समाहित है. ऐसा कह रहे हैं, उन पण्डितो के एकान्त मन्तव्य का व्यवच्छेद करने के लिये सत् उत्पाद और व्यय से युक्त है. यों कह दिया जाता है. क्योकि वह त्रिलक्षणात्मक सत् तो अनन्तानन्त पर्यायो के साथ तदात्मक होरहा है, और पर्याये सभी उत्पाद, व्यय,ध्रौव्यो करके युक्त है, अत सत् स्वत ही उत्पत्ति, विनाश, स्थितिशाली हुआ ।

हां दूसरे सत् को क्षणिक या अनित्य स्वीकार करने वाले पण्डित जो यो कह रहे है कि वह सत् नित्य नही है,एक भी नही है, 'सत् सत्' ऐसी अन्वय बुद्धि करके ओत पोत होरहे शुद्ध सत् आकार वाली भी सत्ता नहीं है, क्योकि सत्पना धर्म कोई वस्तुभूत नही है, असत्पने की व्यावृत्ति करके उस सत् को कल्पित कर लिया गया है. जैसे कि ससार में सच पूछो तो कोई बलवान्, ज्ञानवान्, सुखी, सुन्दर नहीं, है, केवल निर्बलतारहितपन, मूर्खतारहितपन उग्रदु.खव्यावृत्ति, कुरूप व्यावृत्ति द्वारा वैसी वैसी कल्पना कर ली जाती है, प्रचण्ड और अनीतियुक्त प्रभु यदि कतिपय व्यक्तियो को हानि नही पहुंचावे इतने से ही बड़े बड़े कवि या भाट अथवा भयभीत मिथ्याप्रशंसी जन (चापलूस) उस प्रभु को परम परोपकारी, विश्वबन्धु, धार्मिकवरेण्य, प्रशान्तकषाय, दीनोद्धारक, महामना, आदि पदवियो से अलंकृत कर देते हैं । इसी प्रकार सत् भी असत् का निषेध रूप होकर सत्ता रूप से कल्पित कर लिया गया है,जगत् में नित्य, स्थिर, स्थूल, साधारण, माना जाय ऐसा कोई भी पदार्थ नही है, वस्तुतः क्षणिक, असाधारण, सूक्ष्म ऐसे उत्पाद, व्यय, स्वभावो वाले स्वलक्षण को ही सत् स्वरूपपना है ।

आचार्य कहते है, कि बौद्धो के इस एकान्त का व्यवच्छेद करने के लिये सत् के लक्षण मे ध्रौव्य से युक्त इस चारो ओर से तदात्मक होरहे विशेषण का भाषण किया गया है, अतः उक्त सूत्र मे कहा गया उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यो से युक्त होरहा सत् निर्दोष है ।

स्यान्मतं,यद्युत्पादादीनि परैरुत्पादादिभिर्विना सन्ति तदा द्रव्यमपि तैर्विनैव सदस्त्विति व्यर्थं तद्युक्तवचनं, अथ परैरुत्पादादिभिर्योगात् तदानवस्था स्यात् प्रत्येकमुत्पादादीनामपरोत्पादादित्रययोगात्सदुत्पादादीनामपि प्रत्येकमपरोत्पादादित्रययोगतः सत्वसिद्धेः । सुदूरमपि गत्वोत्पादादीनां स्वतः सत्वे सतोपि स्वत एव सत्वं भवेदुत्पादादीनां सतोनर्थान्तरत्वे लक्ष्यल-

लक्ष्यलक्षणभावविरोधस्तद्विशेषाभावादिति। तदेतत्प्रज्ञाकरेणोक्तं तस्याप्रज्ञाविजृंभितमित्ययं दर्शयति।

यहां किसी पण्डित का मन्तव्य सम्भवत: यों होय कि उत्पाद आदिक धर्म यदि दूसरे उत्पाद आदिकों के विना ही सत् स्वरूप है, तब तो द्रव्य भी उन उत्पाद आदिकों के बिना ही स्वत: सत् स्वरूप होजाओ, इस प्रकार सूत्रकार करके उन उत्पाद आदिकों से युक्त उस सत् का निरूपण किया जाना व्यर्थ है, अब यदि वैयर्थ्य दोष को टालते हुये यों कहना प्रारम्भ करो कि वे सत् में बन रहे उत्पाद आदिक तो अन्य उत्पाद आदिकों करके योग होजाने से सत् स्वरूप हैं, तब तो जैनों के यहां अनवस्था दोष आजावेगा क्योंकि प्रत्येक उत्पाद, विनाश, आदिकों का पुन: दूसरे दूसरे उत्पाद आदि तीनों करके योग होजाने से सत्त्व व्यवस्थित किया जायगा तथा पुनरपि उन तीसरे, चौथे आदि उत्पाद आदिकों का भी प्रत्येक प्रत्येक में अन्य अन्य उत्पाद आदि तीनों के योग में सत्पना सिद्ध होगा अत: महान् अनवस्था दोष हुआ। इस दोष का टालने के लिये कहीं बहुत दूर भी चल कर यदि उत्पाद आदिकों की स्वत: सत्ता मान ली जायगी तब तो द्रव्य के लक्षण होरहे सत् का भी स्वत: ही सत्पना होजाओ, ऐसी दशा में इस सूत्र को व्यर्थ ही क्यों गढा जाता है ?।

जैन इस बात का भी ध्यान रक्खें कि उत्पाद आदिकोंका सत् से अभेद होना मानने पर उनके यहां सत् और उत्पाद आदिकोंके लक्ष्यलक्षणभाव होजानेका विरोध आता है क्योंकि अभेदपक्ष अनुसार उन उत्पाद आदि लक्षण और लक्ष्यभूत् सत् में कोई अन्तर नहीं माना गया है, यहां तक कट्टर बौद्ध पण्डित प्रज्ञाकर द्वारा बौद्धों का मत कहा जा चुका है। अब ग्रन्थकार कहते है, कि तिस प्रकार यह जो प्रकाण्ड बौद्ध पण्डित प्रज्ञाकर जी ने कहा है, वह सब उन पण्डित जी की अविचारशालिनी अप्रज्ञा की मात्र चेष्टा है नाम निक्षेपमात्र से जो प्रज्ञा के आकर (खानि) बने हुये है, या प्रज्ञा को बनाने वाले कहे जाते है, उनके कार्य प्रज्ञाशालिता के नहीं है, गामों मे गुड तक भी नहीं खाने वाले दीन भिखारी किन्हीं पुरुषों का नाम मिश्रीलाल रख दिया जाता है, कितने ही दरिद्रों के नाम लक्ष्मीचन्द्र हैं, निर्बल पुरुषों को अर्जुनसिंह नामसे पुकारा जाता है कुरूप मनुष्य का स्वरूपचन्द्र संज्ञा करके सम्बोधन किया जाता है, इसी प्रकार प्रज्ञाकर नामधारी पण्डितजी अप्रज्ञा व्यापारके विलासमें व्यग्र बने रहते हैं, उनकी इसी अबुद्धिपूर्वक चेष्टा को ये ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा दिखलाते हैं।

यथोत्पादादय: संत: परोत्पादादिभिर्विना।
तथा वस्तु न चेत्केनानवस्था विनिवार्यते॥ २॥
इत्यसत्सर्वथा तेषां वस्तुनो भिदसिद्धित:।
लक्ष्यलक्षणभाव: स्यात्सर्वथैक्यानभीष्टित:॥ ३॥
उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यैर्युक्तं सत्समाहितं॥

बौद्धोके मन्तव्यका अनुवाद है,कि उत्पाद आदिक तीनों धर्म जिस प्रकार दूसरे उत्पाद आदिकों के बिना सत् स्वरूप है, तिसी प्रकार सत् आत्मक वस्तुत भी उत्पाद आदि के बिना ही सत् होजाओ यदि ऐसा नहीं माना जायेगा यानी वस्तु को सत् रक्षित करने के लिये उत्पाद आदिको की उसमें निष्ठा की जायगी इसी न्याय अनुसार उत्पाद आदिको को भी सत् व्यवस्थित करने के लिये अन्य उत्पाद आदिकों की उत्तरोत्तर कल्पना की जायेगी तब तो आरहे अनवस्था दोष का भला किस विद्वान् करके निवारण किया जा सकता है ? अर्थात्— कोई भी शक्ति-शाली पुरुष अनवस्था दोष को नही टाल सकता है।

आचार्य कहते है, कि यह बौद्धों का मन्तव्य सभी प्रकारो मे असत्य है, क्योंकि सत् स्वरूप वस्तु के साथ उन उत्पाद आदि धर्मो के सर्वथा भेद की असिद्धि है, अर्थात् वस्तु से उत्पाद आदि सर्वथा भिन्न होते तब तो उत्पाद आदि का न्यारा सद्भाव रक्षित करने के लिये पुन. उनमें उत्पाद आदि तीनो की योजना करते करते अनवस्था आजायेगी किन्तु जब समीचीन कुटुम्ब के समान धर्मी धर्मों का एकीभाव होरहा है, तो पुनः आकाक्षा नही बढने पाती है, पीले आम्र के शेष दूसरे धर्म भी पीले है, आम का मीठा रस उसके शेष सभी धर्मो मे ओत पोत होकर घुस रहा है, हाथ, पाव मुख, ये अवयव सब पेट को पुष्ट करते है, पेट भी माता के समान सबको ठीक बाट पहुंचा देता है, स्वभावो मे दम्भ का प्रवेश नही है, अत. अनवस्था दोष का अवकाश नहीं है।

दूसरे आक्षेप पर हम जैनों को यो कहना है, कि हमारे यहाँ उत्पाद आदिको का सत् के साथ सर्वथा अभेद भी अभीष्ट नही किया गया है, अत. बडी प्रसन्नता के साथ सत् और उत्पाद आदि मे लक्ष्यलक्षण भाव बन जावेगा। अग्नि उष्णता,आत्मा ज्ञान आदि मे लक्ष्यलक्षण भाव बेचारा कथंचित् भेद अभेद अनुसार सुघटित है। सूत्र मे युक्त शब्द डाल देने से भेद पक्ष का भ्रम नही कर लेना चाहिये कि जैसे धनयुक्त, दण्ड-युक्त मे युक्त शब्द सर्वथा भिन्न के साथ पुन. योजना करने पर प्रयुक्त किया गया है, वैसा ही यहा भी होगा, किन्तु बात यह है, कि यहा केवल रुधादिगण की 'युजिर योगे' धातु मे युक्त शब्द नही बना कर दिवादिगणीय युज समाधौ इस धातु से भी निष्ठा प्रत्यय कर युक्त शब्द बना दिया गया है, अतः उत्पाद व्यय,ध्रौव्यो,की एकताओ करके युक्त सत् है, इस सूत्रोक्त का अभिप्राय यो है, कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यो के अभेद सम्पादक ऐक्यो करके वह सत् समाहित होरहा है, अर्थात्– तीनो से तदात्मक होकर एकाग्रभूत सत् है. अतः भेद पक्ष मे आने वाले दोष यहा नही फटक सकते हैं, कथंचित् भेद,अभेद पक्षका दुर्ग अभेद्य है,बुद्धू मनुष्य अलघ्य रत्नो पर आक्रमण नही कर सकते हैं।

तादात्म्येन स्थापितं सदिति युजेः समाध्यर्थस्य व्याख्यानान्न तेषां सतोर्थान्तरत्व-मुच्यते येन तत्पक्षभावी दोषोनवस्था तद्योगवैयर्थ्यलक्षणः स्यात्। नानर्थान्तरत्वमेव यतो लक्ष्य-लक्षणभावविरोधः कथंचिद्भेदोपगमाद्युजेर्योगार्थस्यापि व्याख्यानात्।

युक्त का अर्थ तदात्मकपने करके व्यवस्थापित होरहा सत् है इस प्रकार " युज समाधौ " इस समाधान यानी तादात्म्य अर्थ को कह रही युज धातु का व्याख्यान यहां किया गया है इस कारण उन उत्पाद आदिकों का सत् से भेद नहीं कहा जाता है। जिससे कि उस सर्वथा भेद पक्ष मे होने वाला अनवस्था दोष या उन उत्पाद आदिको के योगका व्यर्थपना स्वरूप दोष होजाता। अर्थात्—'स्यान्मत' करके जो भेद मे उत्पाद आदि के योग का व्यर्थपना या उत्पाद आदि से सत्व मानने पर पुनः उत्पाद आदि द्वारा सत्व की व्यवस्था करने पर अनवस्था दोष उठाया गया था वह अब सर्वथा भेद के नही स्वीकार करने पर लागू नही होपाता है, उत्पाद आदिका सत् के साथ कथंचित् अभेद माना गया है। तथा उन उत्पाद आदिको का सत् से सर्वथा अभेद ही होय ऐसा भी नही है जिससे कि लक्ष्य लक्षण भाव का विरोध होजावे क्योकि कथचित् भेद भी स्वीकार किया गया है, योग अर्थ को कह रही युज धातु का भी यहां युक्त शब्द मे व्याख्यान किया गया है। तदनुसार भेद अर्थ व्यक्त होजाता है।

किं पुनः सतो रूपं नित्यं ? यद्ध्रौव्ययुक्तं स्यात् किं वानित्यं ? यदुत्पादव्यययुक्तं भवेदित्युपदर्शयन्नाह।

यहां किसी जिज्ञासु का प्रश्न है कि उस सत् का स्वरूप क्या फिर नित्य है ? जिससे कि वह सत् ध्रौव्य युक्त होजाय। अथवा क्या सत् का निज स्वरूप अनित्य है ? जिससे कि वह सत् बेचारा उत्पाद और व्यय से युक्त होजावे ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर सिद्धान्त विषय को दिखला रहे श्री उमास्वामी महाराज इस अगले सूत्र को कहते हैं।

तद्भावाव्ययं नित्यं ॥ ३१ ॥

एकत्व प्रत्यभिज्ञान के हेतु होरहे तद्भाव का जो व्यय नही होना है वह नित्य है। अर्थात्—जिस स्वरूप करके वस्तु पहिले समयो मे देखी गई है उसी स्वरूप करके पुनः पुनः उस वस्तु का ध्रुव परिणमन है ऐसे तद्भाव का अविनाश नित्य माना जाता है, जैसे कि शिवक, स्थास, कोष, कुशूल, घट, कपाल, आदि अवस्थाओ मे कालान्तर-स्थायी मृत्तिका स्वरूप भावका अव्यय है। यद्यपि मृत्तिका को नित्य कहने मे भी जी हिचकिचाता है फिर भी लोक व्यवहार या द्रव्यार्थिकनय अनुसार नित्यपन का उपचार है वैसे तो त्रिकालान्वयी द्रव्य और उसके सहभावीगुण नित्य है यहां प्रकरण अनुसार ध्रौव्य के व्यवस्थापक नित्यत्व का निरूपण कर दिया है, द्रव्य या गुण को परिणामीनित्य मानने वाले जैनो के यहां तदभिन्नपर्यायो के ध्रुवत्व अंश की इसी ढंग से संघटना होसकती है।

सामर्थ्याल्लभ्यते द्वितीयं सूत्रं अतद्भावेन सव्ययमनित्यं, इति तस्य भावस्तद्भावस्तत्वमेकत्वं तदेवमिति प्रत्यभिज्ञानसमधिगम्यं तदित्युपगमात्। तेन कदाचिद्व्ययासत्वादव्ययं नित्यं सामर्थ्यादनुत्पादमिति गम्यते व्ययनिवृत्तावुत्पादनिवृत्तिसिद्धेरुत्तराकारोत्पादस्य पूर्वाकारव्ययेन व्याप्तत्वात् तन्निवृत्तौ निवृत्तिसिद्धेः।

सूत्रकार ने नित्य का लक्षण कंठोक्त कर दिया है, किन्तु अनित्य का लक्षण सूत्र द्वारा नहीं कहा गया है, तथापि इसी सूत्र की सामर्थ्य से यह दूसरा सूत्र कहा गया लब्ध होजाता है अर्थात्-स्वल्प व्यक्तियों में अत्यधिक प्रमेय अर्थको ठूंस लेने वाले सूत्रों द्वारा बहुतसा अर्थ विना कहे ही प्राप्त होजाता है। वह सब गुरु, गम्भीर, सूत्र की ही महिमा है। गुरुजी महाराज सभी ग्रन्थों को नहीं पढाते हैं तथापि उनकी पाठन प्रक्रिया अनुसार विनीत शिष्य को अनेक ग्रन्थ स्वत लग जाते हैं कृतज्ञ शिष्य को यह सब गुरु जी का ही प्रसाद समझना चाहिये। प्रकरण मे यह कहना है कि प्रतियोगितान्याय या परिशेष न्याय से यहां अनित्य का लक्षण करने वाला यह दूसरा सूत्र ध्वनित होजाता है कि अतद्भाव करके यानी सादृश्य या वैलक्षण्य को विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान के हेतु होरहे तादृश अन्यादृश, परिणतियों करके जो विनाशसहित होजाना है वह अनित्य है, यों लगे हाथ अनित्य का भी लक्षण होगया है।

उक्त सूत्र का अर्थ यह है कि उसका यानी विवक्षित पदार्थ का जो भाव है वह तद्भाव है यों षष्ठी तत्पुरुष वृत्ति द्वारा बनाये गये तद्भाव शब्द का तत्पना यानी एकपना अर्थ होता है जो कि तत् बेचारा " यह वही है' ऐसे प्रत्यभिज्ञान प्रमाण द्वारा भले प्रकार समझ लेने योग्य है। इस प्रकार तत् का भाव स्वीकार किया गया है उस तद्भाव करके कदाचित् भी विनाश होजाने का अभाव है। इस कारण तद्भाव करके नहीं विनाश होने को नित्य माना गया है, यहां सूत्र मे व्यय पद उपलक्षण है " एकसंबंधिज्ञानमपरसंम्बधिस्मारक " यों विना कहे ही अन्य उक्त शब्दों की सामर्थ्य से नञ् सकलित उत्पाद पद का भी अध्याहार होरहा अवगत होजाता है। अत. तद्भाव करके उत्पाद नहीं होना भी नित्य के उदर मे संप्रविष्ट है। अनुत्पाद और अव्यय का अविनाभाव है, अतः लाघव प्रयुक्त अव्यय शब्द से ही अनुत्पाद को गतार्थ कर दिया गया है। सूत्रकार महाराज की अप्रतिम प्रतिभा की जितनी भी प्रशंसा प्रतिष्ठित की जाय वह स्वल्प है। जिस पदार्थ मे व्यय की निवृत्ति होगई है उसमे व्यय निवृत्ति होते ही उसी समय उत्पाद की निवृत्ति स्वत सिद्ध होजाती है जैसे कि अश्वके दक्षिण शृंग की निवृत्ति होते ही वामशृङ्गकी तत्काल निवृत्ति होजाती है। बात यह है कि उत्तर आकार के उत्पाद की पूर्व आकार के विनाश के साथ व्याप्ति होचुकी है "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः"। अत उस व्यय की निवृत्ति होने पर नित्य द्रव्य मे उत्पाद की निवृत्ति विना कहे ही सिद्ध होजाती है।

अतद्भावोऽन्यत्वं पूर्वस्मादन्यदिदमित्यन्वयप्रत्ययादवसेयं। तस्याध्रौव्यमनित्यमुत्पादव्यययोगात् तदुक्तं " नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेरिति तदेव युक्तमेतत्सूत्रद्वितयमित्युपदर्शयति।

अनित्य का ज्ञापक सिद्ध लक्षण करने पर प्रयुक्त किये गये अतद्भाव का अर्थ अन्यपना है जो कि " पूर्व परिणाम से यह परिणाम अन्य है " इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान स्वरूप अन्वय प्रत्यय से वह अतद्भाव जान लेने योग्य है। वह अतद्भावका प्रयोजक तो अध्रौव्य यानी अनित्य है। क्योंकि

उत्पाद और व्यय का योग होरहा है। अर्थात्—ध्रुवपन से जैसे नित्यपना व्यवस्थित है उसी प्रकार उत्पाद व्ययो करके वस्तु का अनित्य स्वरूप नियत होरहा है। वही गुरुवर्य श्री समन्तभद्राचार्य महाराज ने वृहत्स्वयंभू स्तोत्र मे पुष्पदन्त महाराज की स्तुति करते समय यो कहा है कि " नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः। न तद्विरुद्धं वहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते" तदेव इदं " यह वही है " जो पहिले था ऐसी धाराप्रवाह अनुसार नवनवांशो को ग्रहण करने वाली प्रतीति होते रहने से अर्थ नित्य माना जाता है और यह इससे अन्य है " सैष न " ऐसी प्रतिपत्ति की सिद्धि होने से अर्थ नित्य नही यानी अनित्य समझा जाता है। वहिरग और अन्तरंग होरही निमित्त परिणतियो के योग से होरहे वे नित्यपन, अनित्यपन, धर्म एकत्र विरुद्ध नही है, दोनो धर्म वस्तुभूत परिणमनो की भित्ति पर डटे हुये है। हे जिनेन्द्रदेव तुम्हारे स्याद्वादशासन मे विरोध आदि दोषोका अवतार नही है। इस प्रकार सूत्रकार का वहां कहना युक्त पडा " तद्भावाव्ययं नित्यं " और अर्थात्—आपन्न होगये " अतद्भावेन " सव्यय यो दोनो सूत्र ठीक है, इसी सूचित की गई बात को श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम दो वार्तिको द्वारा दिखलाते है।

तद्भावेनाव्ययं नित्यं तथा प्रत्यवमर्शतः।
तद्ध्रौव्यं वस्तुनो रूपं युक्तमर्थक्रियाकृतः ॥ १ ॥
सामर्थ्यात्सव्ययं रूपमुत्पादव्यय–संज्ञकं।
सूत्रेस्मिन् सूचितं तस्यापाये वस्तुत्वहानितः ॥ २ ॥

तिस वस्तु का जो भाव है वह तद्भाव है, तद्भाव करके जो व्यय नही होना है वह नित्य है क्योंकि तिस प्रकार " यह वही है" सैष, ऐसा एकत्वप्रत्यभिज्ञान होनेसे उस प्रत्यभिज्ञान का विषयभूत होरहा ध्रुवपना अर्थक्रिया कारी वस्तु का स्वरूप मान लेना समुचित है "अर्थक्रिया-कारित्वं वस्तुनो रूपं"। वहिरग, अन्तरग कारणो अनुसार स्वोचित अर्थक्रिया का करते रहना वस्तुका निज स्वरूप है, अर्थक्रिया को किये चले जाने मे ध्रुवपना बीज है, अतः इस सूत्र का यह कण्ठोक्त अर्थ हुआ।

सूत्रकार द्वारा कहे विना ही परिशेष न्याय की सामर्थ्य से इस सूत्र मे यह भी सूचित किया गया है कि अतद्भाव करके व्ययसहित होरहा अनित्य भी वस्तु का स्वरूप है जो उत्पाद और व्यय संज्ञा को धारे हुये है। वस्तु के उस व्ययसहित स्वरूपका अभाव मानने पर वस्तुपन को ही हानि हो जावेगी। अर्थात्—वस्तुका ध्रुवपना स्वरूप नित्य अंश है और उत्पाद, व्यय, नामक व्यय सहितपना अनित्य अंश है, उत्पाद, व्यय ध्रौव्य, इन तीनों से अर्थक्रियाओ को कर रही वस्तु अनादि अनन्त काल तक बनी रहती है "अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च" अनुवृत्त आकार और व्यावृत आकार तथा उत्पाद,व्यय, ध्रौव्यो को ले रही वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है।

न ह्येकांततो नित्यं सन्नाम तस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । नाप्यनित्यमेव तत एव । न चार्थक्रियारहितं वस्तु सत् खरशृंगवत्, अर्थक्रियाकारिण एव वस्तुनः सत्वोपपत्तेः । ततस्तन्नित्यानित्यं च युक्तं सूचितमविरुद्धत्वात्

जो सर्वथा एकान्त स्वरूप से नित्य है वह सत् इस नाम को कथमपि नहीं पा सकता है। क्योंकि सर्वथा नित्य एकान्त मे क्रम से और युगपत्पन से अर्थक्रिया होजाने का विरोध है । और सभी प्रकारोसे अनित्य ही सत् कैसे भी नही होसकता है,तिस ही कारण म यानी क्रम और युगपत्पन करके सर्वथा अनित्य पदार्थ मे अर्थक्रिया होने का विरोध है । नित्य मे क्रम नही बनता है और अनित्य मे युगपत्पना रक्षित नही रह पाता है। जो अर्थक्रिया से रहित वस्तु है, वह खरविषाण के समान सत् नही है। कारण कि अर्थ-क्रिया को करने वाली ही वस्तु का सत्पना युक्तियो से निर्णीत होरहा है। तिस कारण से इस सूत्र द्वारा वह सत् नित्य और अनित्य भी सूचित किया जा चुका समुचित है। कोई जैन सिद्धान्त से विरोध नही आता है। पूर्व सूत्र करके सत् के उत्पाद व्यय से युक्त कह देने पर अनित्यपना और ध्रौव्य से युक्त कह देने पर नित्यपना ध्वनित कर दिया है, इस सूत्र द्वारा नित्यपन अनित्यपन दोनो की सूचना कर दी गई है।

कुतस्तदविरुद्धमित्याह ।

किसी जिज्ञासु शिष्य की आकांक्षा है कि स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार वह नित्यपन और अनित्यपन एक वस्तु मे भला किस कारण से विरुद्ध नही है ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे है।

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

प्रयोजन के वश से अनेकान्तात्मक वस्तु के जिस किसी भी एक धर्म को विवक्षा होने पर प्रधानता को धार रहा स्वरूप अर्पित है और प्रयोजन नही होने से विद्यमान भी धर्म को अविवक्षा होजाने से वस्तुका गौणभूत स्वरूप तो अनर्पित है, अर्पित और अनर्पित स्वरूपो करके वस्तु के नित्यत्व अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, अपेक्षितत्व, अनपेक्षितत्व, दैवकृतत्व, पुरुषार्थकृतत्व, आदि धर्मो की सिद्धि होजाती है, अतः वस्तु मे नित्यपन और अनित्यपन विरोधरहित होकर सकुशल ठहर रहे है ।

तद्भावेनाव्ययं नित्यमतद्भावेन सव्ययमनित्यमिति साध्यं । ततः

"अर्पितानर्पितसिद्धेः।" इस सूत्र को तो हेतुवाक्य बना लो तथा तद्भाव करके अव्यय होना नित्य है, और तादृश, विसदृश, अतद्भाव करके व्ययसहित होना अनित्य है, इसका यहां साध्य बना लिया जाय वस्तुका पक्ष कोटि मे धर लिया जाय तिस कारण इस सूत्र का पूर्वापर सम्बन्ध मिला कर यों न्यायानुमान वाक्य बना लिया जा सकता है, कि

नित्यं रूपं विरुध्येत नेतरेणैकवस्तुनि ।
अर्पितेत्यादिसूत्रेण प्राहैवं नयभेदवत् ॥ १ ॥

एक वस्तु मे इतर यानी अनित्य स्वरूप के साथ वर्त रहा नित्यस्वरूप धर्म विरुद्ध नहीं होता है, (प्रतिज्ञा वाक्य) अर्पित और अनर्पित करके सिद्ध होजाने से (हेतु) नय के भेदो के समान (अन्वयदृष्टान्त) । अर्थात्-निश्चयनय व्यवहारनय या द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक, सग्रहनय, ऋजुसूत्रनय, आदि के भिन्न विषयो में अविरुद्ध होकर नाना धर्म जैसे व्यवस्थित होरहे है, उसी प्रकार प्रधानता और अप्रधानता से आरोपे गये अनेक रूप युगपत् वस्तु मे ठहर रहे है, प्रतीयमान धर्मों से कोई विरोध नही है । "नयभेदावत्, यह पाठ अच्छा जंचता है, नय के भेद प्रभेदों को जानने वाले सूत्रकार महाराज इस अर्पितानर्पित इत्यादि सूत्र करके इस प्रकार अनुमान वाक्य को बहुत अच्छा कह रहे हैं ।

कुतः पुनः सतो नित्यमनित्यं च रूपमर्पितमनर्पितं चेत्याह ।

यहा पुन किसी की जिज्ञासा है कि सद् वस्तुका नित्य रूप और अनित्यरूप भला किसी कारण से अर्पित यानी प्रधानपने से विवक्षित होजाता है ? तथा नित्यपना या अनित्यपना क्यो अनर्पित होजाते हैं ? बताओ ऐसा प्रश्न प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिक को कहते है ।

द्रव्यार्थादर्पितं रूपं पर्यायार्थादनर्पितं ।
नित्यं वाच्यमनित्यं तु विपर्यासात्प्रसिद्ध्यति ॥ २ ॥

द्रव्यार्थिक नय के विषय होरहे द्रव्य स्वरूप अर्थ से प्रधानपन को प्राप्त होरहा और पर्यायार्थिकनय के विषय माने गये पर्याय स्वरूप अर्थसे अविवक्षित होकर अनर्पित होरहा वस्तु का नित्य स्वरूप कहना चाहिये तथा इसके विपरीतपने यानी द्रव्यार्थिक से अनर्पित और पर्यायार्थिक से अर्पित स्वरूप करके तो वस्तु का अनित्य स्वरूप प्रसिद्ध होरहा है । भावार्थ- जैसे कि धूम हेतु में अग्नि की अपेक्षा साधकत्व और पाषाण की अपेक्षा असाधकत्व धर्म विराजमान है, सद् गृहस्थ यदि स्व स्त्री के लिये काम पुरुषार्थी होय और परस्त्री के लिये सुदर्शन सेठ के समान नपुंसक होय तो यह कुलीन पुरुष का निज स्वरूप है, कोई अपयश या गाली नही है ।

द्रव्यार्थादादिष्टं रूपं पर्यायार्थादनादिष्टं यथा नित्यं, तथा पर्यायार्थादादिष्टं द्रव्यार्थादनादिष्टमनित्यमिति सिद्धमुपपत्त्येव । ततस्तदेकत्र सदात्मनि न विरुद्धं । यदेवं रूपं नित्यं तदेवानित्यमिति वचने विरोधसिद्धेः विकलादेशायत्तनयनिरूपणायां सर्वथा विरोधस्यानवतारात् ।

जिस प्रकार द्रव्य स्वरूप अर्थ से निरूपित किया गया और पर्याय-आत्मक अर्थ से नहीं कहा जा चुका स्वरूप नित्य है, उसी प्रकार पर्याय अर्थ स्वरूप से आदिष्ट किया गया और द्रव्य अर्थ से नहीं

प्ररूपा गया रूप अनित्य है, यह सिद्ध होही जाता है, तिस कारण वह नित्यपन या अनित्यपन धर्म एक अखण्ड सत् आत्मक वस्तु मे पाये जा रहे विरुद्ध नही। जो ही रूप नित्य है, वही अनित्य है, इस प्रकार कहने मे तो विरोध दोष की सिद्धि है, किन्तु विकल देश या विकलादेश कथन के अधीन होकर नय की प्ररूपणा करने पर सभी प्रकारो से विरोध दोष का स्याद्वादसिद्धान्त मे अवतार नही है।

नन्वेवमुभयदोषाद्यनुषंगः स्यादित्यारेकायामिदमाह।

यहा किसी का प्रश्न है, कि इस प्रकार एक वस्तु मे नित्य, अनित्य दो रूपो को मानने पर उभय दोष, संकर आदि आठ दोषों के आजाने का प्रसग होगा अर्थात्-भेदाभेद या नित्यानित्य पक्ष मे उभय, विरोध, वैयधिकरण्य, संकर, व्यतिकर, सशय, अनवस्था और अप्रतिपत्ति हेतुक अभाव ये आठ दोष आजावेगे ? नित्यपन, अनित्यपन, दोनो प्रतिकूल धर्मों को एक वस्तु का रूप मानने पर उभय दोष है, जैसे धर्म, अधर्म दोनो का उभय नही हासकता है, 'उभौ अवयवौ यस्य तदुभयं' शुद्ध अशुद्ध आत्माओं का ऐक्य जैसे अलीक है, 'उभौ आत्मानौ यस्य'। उसी प्रकार नित्य अनित्य रूपो की एक वस्तु में निष्ठा अलीक है। २ विधि और निषेध स्वरूप नित्य अनित्य रूपो का एक अभिन्न वस्तु मे असम्भव है, अतः शीत स्पर्श और उष्णस्पर्श के समान विरोध है।

३ नित्य रूप का अधिकरण न्यारा होना चाहिये और सर्वथा भिन्न माने गये अनित्य का अधिकरण्य भिन्न होना चाहिये यो दोनो रूपो को एक स्थान पर ठहरा देने से वैयधिकरण्य हुआ एक म्यान मे दो तलवारे नही ठहर पाती हैं। तथा जिस स्वरूप से नित्यपन है, उसी स्वरूप से अनित्यपन मानने पर भी विरोध अथवा वैयधिकरण्य दोष घुस पडते है।

४ वस्तु के जिस स्वरूपसे नित्यपन माना गया है, उसी स्वरूप से अनित्यपन क्यो नही होजाय या जिस स्वरूप करके अनित्यपन है, उसी स्वरूप करके नित्यपन प्रतिष्ठित होजाय, सहोदर भाइयो मे अपना तेरई का प्रवेश नही होना चाहिये, यो धर्मो के अवच्छेदको का योगपद्य या मिश्रण होजाने से संकर दोष हुआ जाता है।

५ जिसस्वरूप से अनित्यपन है, वस्तु के उसी स्वरूप से नित्यपन क्यो न होजाय ? और जिस स्वरूप से नित्यपन है, उस स्वरूप से अनित्यपन भी होजाओ, यो परस्पर विषयगमन होजाने से व्यतिकर दोष हुआ।

६ वस्तुको नित्य, अनित्य-आत्मक मानने पर असाधारण स्वरूप करके निश्चय नही किया जासकता है, अतः संशय दोष ठहरा। ७ जिस स्वरूपसे नित्यपन है, उसी स्वरूप से कथञ्चित् अनित्यपन मानने पर फिर उन दोनो स्वरूपो का वस्तु के साथ अभेद माना जायेगा, पुन. एक एक उस सत् रूप मे नित्यपन अनित्यपन की कल्पना करते हुये आकाक्षा बढ़ती हुई रहने के कारण अनवस्था दोष आजावेगा।

८ एक वस्तु में नित्यपन किस प्रकार माना जाय ? और साथ ही अनित्यपन भी कैसे माना

जा सकता है ? यो धर्मों का कुछ भी निर्णय नही होने से वस्तु का परिज्ञान नही हो सकना अप्रतिपत्ति है, जिसकी प्रतिपत्ति नही उसका अभाव ही माना जायेगा। यो जैनो के स्याद्वाद सिद्धान्त में उभय दोष आदि का प्रसंग आजावेगा इस प्रकार किसी शिष्य की सशय पूर्वक आरेका के प्रवर्तने पर ग्रंथकार इस समाधानकारक अग्रिम वार्त्तिक को कहते है।

प्रमाणार्पणतस्तत्स्याद्वस्तु जात्यंतरं ततः।
तत्र नोभयदोषादिप्रसंगोनुभवास्पदे ॥ ३ ॥

प्रमाण ज्ञान की प्रधानता से विचारा जाय तो वह वस्तु उन नित्यपन और अनित्यपन दोनो से तीसरी ही जाति की नित्यानित्यात्मक प्रतीत होरही है, तिस कारण प्रामाणिक पुरुषो के अनुभव मे स्थान पा चुकी उस वस्तु में उभय दोष, विरोध दोष आदि का प्रसंग नही है। बौद्धों के मेचक ज्ञान और वैशेषिकों के सामान्य विशेष (पृथिवीत्व आदि व्याप्य भो व्यापक जातियां) तथा सांख्यो की त्रिगुण-आत्मक प्रकृति इन दृष्टान्तों से आठों दोषो का परिहार होजाता है, पक्की हवेलियो मे लगे हुये पत्थर के पतले पतले लम्बे ठोडो पर तीन तीन चारचार खन की गोखे ऊपर ऊपर लद रही देखी जाती है। टोडो के बित को देख कर कितने ही पुरुष यो आशका करते है, कि इतनी इमारत इन टोडो पर नही डट सकती है, किन्तु जब कार्य होरहा है, पचासो वर्ष तक चार चार खन उन पर लदे हुये अटूट देखे जा रहे है, तथा उन छज्जो पर भीतर सामान रखना, खेलना कूदना आदि क्रियायें भी होरहीं देखी जाती हैं, तो ऐसी दशा में खटका रखने वाले पुरुषो का ज्ञान भ्रान्त होजाता है। छटाक भर की ककडी हजार मन के पत्थर को गिरने से रोके रखती है, पतली सी डालपर अधिक बोझ लाद दिया जाता है, व्यर्थ मे सशय आदि दोष उठाना ठलुआ पुरुषो का बेहूदा कार्य है, प्रतीत किये जा रहे पदार्थ मे कोई दोष नही, इसको हम पूर्व प्रकरणो मे भी कई बार कह चुके है।

न हि सकलादेशे प्रमाणायत्ते प्रतिभासमानमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तदुभयविरोधदोषाभ्यां स्पृश्यते, तस्य नित्यानित्यैकांताभ्यां जात्यंतरत्वात्।

द्रव्य और पर्यायो से तदात्मक होरही वस्तु है, वस्तु के द्रव्य अ श को द्रव्यार्थिक नय जानती है, और पर्यायो को पर्यायार्थिक नय द्वारा जान कर विकलादेश द्वारा निरूपण किया जाता है, अखण्ड वस्तु के अ शो का निरूपण करना विकलादेश है।

जब कि कोई भी शब्द हो अपने प्रकृत्यर्थ अनुसार वस्तु के एक गुण को ही कहेगा अतः एक गुण की मुख्यता करके अभिन्न एक वस्तु का कथन किया जाता है, वह सकलादेश है।

सकलादेश वक्ता के पूर्व प्रकरण ज्ञान से उपजता है, और श्रोता के प्रमाण ज्ञान को उपजाता है,अतः सकलादेश प्रमाणाधीन माना जाता है,तथा विकलादेश नयाधीन होता है,यह प्रतिपादक के नय ज्ञान से उपज रहा सन्ता श्रोता प्रतिपाद्य के नय ज्ञान को उपजा देता है।

'एकगुणमुखेनाऽशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेश ' 'निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः यह श्री अकलंक देव महाराज का वचन है। यहां ग्रन्थकार कहरहे हैं, कि प्रमाण के अधीन होकर जब सकलादेश की व्यवस्था है, तो प्रमाण द्वारा वस्तुका सर्वांग निरूपण या बहुभंग-प्रतिपादन होजाने पर जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों से युक्त होरहे सत् का प्रतिभास होरहा है, वह उभय दोष और विरोध दोष करके नहीं छुआ जाता है, क्योंकि वह अनेकान्तात्मक सत् बेचारा सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य इन दोनो दूषित एकान्तो से तृतीय ही निराली जाति का नित्यानित्यात्मक है, उस सत् के नित्य अनित्य दोनों आत्मा हैं। मावा और पानी को मिला कर दूध नही बनाया गया है, किन्तु प्रथम से ही दूध स्वकीय पौष्टिकत्व, द्रवण, मिष्टता, आदि गुणों से युक्त होकर आत्मलाभ कर चुका है।

बौद्धोंके यहा माना गया चित्र ज्ञान प्रथमसे ही नीलाकार, पीलाकार, आदि को स्वायत्त कर रहा इन्द्र धनुष के समान बना बनाया है.वैशेषिको के यहा सत्ता की अपेक्षा व्याप्य होरही और घटत्व, पटत्व, आदि जातियों की अपेक्षा व्यापक होरही पृथिवीत्व जाति बेचारी अनादि से अनन्त काल तक सामान्यविशेषात्मक ठहर रही मानी गई है। एक धूप-दान अवयवी मे कुछ ऊपरले अंशो मे उष्णता और निचले भाग मे शीतता का जब प्रत्यक्ष होरहा है, तो यहा विरोध दोष का अवकाश नही है, 'अनुपलम्भसाध्यो विरोधः' दोनों का एकत्र अनुपलम्भ होता तो सहानवस्थान विरोध साधा जाता, प्रकरण-प्राप्त नित्य अनित्यपन, का एकत्र उपलम्भ हो जाने से कोई विरोध दोष नहीं आता है।

तत एव नानवस्था वैयधिकरण्यं संकर-व्यतिकरौ वा संशयो वा यतो प्रतिपत्तेर भावस्तस्यापाद्यते चित्रसंवेदनवदनुभवास्पदे वस्तुनि तदनवतारात्।

तिस ही कारण से यानी सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य से तीसरी ही जाति वाली वस्तु की व्यवस्था होजानेसे अनवस्था, वैयधिकरण्य, और संकर, व्यतिकर अथवा संशय दोष भी नही होस कते हैं, जिन दोषों के वश से कि प्रतिपत्ति नही होजाने के कारण उस वस्तु का अभाव होजाना इस आठवे दोष का आपादन किया जा सके। चित्र संवेदन या मेचक ज्ञान के समान जब अनेकान्तात्मक वस्तु प्रामाणिक पुरुषो के अनुभव मे आलीढ होरही है, तो ऐसी प्रतीत वस्तु मे उन अनवस्था आदि दोषों का अवतार नही है। अर्थात्-वस्तु को नित्यपन, अनित्यपन, तदात्मक आक्रान्त मान लेने पर पुनः उत्तरोत्तर आकांक्षा नही बढ पाती है, जैसे कि सामान्य के विशेष होरहे पृथिवीत्व मे पुनः अन्य सामान्य विशेषो को धर देने की अभिलाषा नही होती है, अतः अनवस्था दोष नहीं आता है, कहीं कही तो यानी द्रव्य कर्म से भाव कर्म और भावकर्म से द्रव्य कर्म आदि स्थलो मे अनवस्था बेचारी गुण का रूप धारण कर लेती है,जैसे कि अनेक पुरुषों को एकता सम्यग्दर्शन,ज्ञान चारित्रो की एकता के समान गुण है, किन्तु वात, पित्त, कफ, की सूचक नाड़ियों की एकता तो त्रिदोष है।

यहां प्रकरण में अनवस्था दोषका कोई अवसर नहीं है, उत्पाद व्ययों की अपेक्षा अनित्यपन और ध्रौव्य की अपेक्षा नित्य वस्तु में क्रीड़ा कर रहे हैं। और अनन्त गुणो की पर्यायो मे अनन्ते,

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, होते रहे ऐसे अनन्तानन्त से स्याद्वादियों को कोई भय नहीं है, आकाश के समान अनन्त सर्वत्र किसी न किसी ढंग से प्रत्येक वस्तु मे प्रविष्ट होरहा है, इस वस्तु-स्वभाव के लिये हम क्या कर सकते हैं, वस्तु को अनेक धर्म-आत्मकपन रुचता है।

तथा नित्यपन, अनित्यपन दोनो धर्मो की एक ही अधिकरण मे वृत्ति होजाने करके प्रतीत होजाने से वैयधिकरण्य दोप को भी वस्तु मे स्थान नही मिलता है। मेचक ज्ञान के दृष्टान्त मे संकर का और सामान्य विशेष के दृष्टान्त से व्यतिकर दोष का प्रत्याख्यान कर दिया जाता है। पक्षपात को छोड कर उभय-आत्मक वस्तु का निर्णय होचुकनेपर सशय दोष भी हट जाता है, चलायमान ज्ञप्ति होती तो सशय होता जबकि उक्त दोषो रहित होरही वस्तुकी बालक बालिका तक को समीचीन प्रतिपत्ति होरही है, तो फिर अप्रतिपत्ति दोप कथमपि नही फटक सकता है। अत स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार प्रतीत किये जा रहे वस्तु मे कोई भी दोप नहीं आते है।

तदित्थं परापरद्रव्यस्य सल्लक्षणस्य प्रसिद्धेर्न चाक्षुषमवयविद्रव्यं पुद्गलस्कंधसंज्ञकं प्रतिक्षेप्तुं शक्यं, सर्वप्रतिक्षेपप्रसंगात् ।

तिस कारण अब तक इस प्रकार शुद्ध द्रव्य और अशुद्ध द्रव्य अथवा सामान्यत पर द्रव्य और विशेषतः जीव पुद्गल आदि अपर द्रव्य के सत् लक्षण की प्रसिद्धि होरही है। सत् लक्षण वाले नित्य, अनित्य-आत्मक द्रव्य की प्रसिद्धि होजाने से चक्षु इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का विषय होरहा और पुद्गल स्कन्ध इस नाम के धारी अवयवी द्रव्य का प्रतिक्षेप नही किया जा सकता है। यों प्रत्यक्ष प्रमाण आदि मे अनुभवे जा रहे पदार्थों का यदि निराकरण कर दिया जायेगा तब तो सभी वादियों के यहा इष्ट पदार्थों के खण्डन होजाने का प्रसंग आजावेगा जो कि किसी को इष्ट नही पडेगा। यहा तक "भेदसंघाताभ्यां चाक्षुष" इस सूत्र की सगति को वखानते हुये ग्रन्थकार ने अवयवी पुद्गल स्कन्ध मे द्रव्यपना अक्षुण्ण कर दिया है। सूत्रकार महाराज को उक्त सूत्ररचना भी सुसंगत है।

कुतः पुनः पुद्गलानां नानाद्रव्याणां संबंधो यतः स्कन्ध एकोवतिष्ठत इत्याशंकायामिदमाह ।

अग्रिम सूत्रका अवतारण यो है कि कोई जिज्ञासु यहा शका उठाता है कि भिन्न भिन्न होरहे अनेक पुद्गल द्रव्यों का सम्बन्ध फिर भला किस कारण से होगा? जिससे कि एक पौद्गलिक स्कन्ध द्रव्य प्रतिष्ठित होजाय? इस प्रकार बौद्ध मत के आभास अनुसार शिष्य की आशका प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥

स्निग्धपन और रूक्षपन से पुद्गलो का बन्ध होजाता है। अर्थात्—अनन्त गुण वाले पुद्गल द्रव्य में दो स्पर्श गुण भी हैं, एक स्पर्शन इन्द्रिय से ही दोनों का या दोनों की परिणतियों का परिज्ञान

होजाता है। अतः दोनो को भले ही एक "स्पर्श" शब्द करके कह दिया जाय। दोनों में से नियत एक स्पर्श गुण की किसी समय शीत और किसी समय उष्ण स्वरूप पर्याय होती रहती है तथा दूसरे प्रतिनियत स्पर्श गुण की तो कदाचित् स्निग्ध और कभी रूक्ष परिणति बनती रहती है। परमाणुओ मे भी पाई जाने वाली शीत या उष्ण परिणतिया अथवा स्कन्धोमे ही पाये जाने वाली स्पर्शकी हलका भारी, नरम, कठोर, ये परिणतिये एव अन्य अनन्त गुणो की परिणतिया ये कोई भी बन्ध का हेतु नही हैं, जल का केवल स्निग्धपना ही सतुआओ के कणो को बांध कर पिण्ड कर देता है, जल के रूप, रस, गन्ध, द्रवत्व, अस्तित्व, आदिक अनेक गुण बाधने के उपयोगी नही है।

पत्थर या ककडो के बने हुये चूने को प्रथम ही जल डाल कर बुझा लिया जाता है उस गीले चूने मे जितनी ईंट, पत्थर को परस्पर चुपकाने की शक्ति है, सूखे हुये चून मे पुन. दुबारा, तिवारा, भिगो कर उतना चूपकाट नही रहता है। पर्वत, ककड, मिट्टी, आदि रूक्ष प्रकृति के पदार्थ स्वकीय रूक्षता से स्वाशो मे दृढ बध रहे है, दन्तधावन मे प्रमाद करने वाले पुरुषो के दान्तो मे दाल, रोटी, का कोमल भाग ही कालान्तर मे हड्डी होकर दृढ बध जाता है। मगद से लड्डुओ मे जैसे चिकनापन बध का हेतु स्पष्ट दीख रहा है, उसी प्रकार पाषाण, काठ पक्की ईंट, मे रूक्षता भी बध का कारण प्रत्यक्षगोचर है, सूखे काठ या ईंट मे दस बीस वर्ष पहिले के जल को बाधे रखने वाले कारणपन को कल्पना करना अनुचित है, कारण कि गीली अवस्थासे सूखी अवस्था का बन्धन अतीव दृढ है, अग्नि सयोग से पक गयी ईंट रूखेपन गुण करके दृढ बध गयी है सर्वथा सूखे मे जल की कल्पना करना घोडे मे सीग की कल्पना करना है, अत स्निग्धपन, रूक्षपन, दोनो ही परमाणुओ के परस्पर बध जाने मे कारण माने गये है।

स्नेहगुणयोगात्स्निग्धाः रूक्षगुणयोगाद्रूक्षास्तद्भावात् पुद्गलानां बंधः स्यात्। न रूक्षो नाम गुणोस्ति, स्नेहाभावे रूक्षव्यवहारसिद्धेरिति चेन्न, रूक्षाभावे स्नेहव्यवहारप्रसगात् स्नेहस्याप्यभावोपपत्तेः, शीताभावे चोष्णव्यवहारप्रवर्तनेरुष्णगुणाभावानुषंगात्। स्पर्शनेन्द्रियज्ञाने शीतवदुष्णगुणस्य प्रतिभासनादुष्णो गुणः स्पर्शविशेषोनुष्णाशीतपाकजेतरस्पर्शवदिति चेत्, तर्हि स्नेहस्पर्शनकरणज्ञाने रूक्षस्य लघुगुरुस्पर्शविशेषवदवभासनात् कथ रूक्षो गुणो न स्यात्? तस्य बाधकाभावादप्रतिक्षेपार्हत्वाच्चतुर्विंशतिरव गुणा इति नियमस्याघटनात्। तथा सति-

बौद्धो के मत अनुसार चिकनापन, रूखापन, कल्पित पदार्थ होय सा नही समझ बैठना किन्तु द्रव्य के स्नेह नामक गुण के योग से पुद्गल स्निग्ध कहे जाते हैं और वस्तु के अनुजीवी रूक्ष गुण के योग से कोई पुद्गल रूक्ष कहे जाते हैं। जल, बकरी का दूध, भैंस का दूध, उंटनी का दूध, अथवा घी इनमे उत्तरोत्तर स्निग्धता बढती जाती है, तथा रेत, बजरी, बालू, आदि मे रूक्षता बढ रही देखी जाती है तिसी प्रकार पुद्गल परमाणुओ मे गांठ के वास्तविक उन स्नेह रूक्ष गुणो का सद्भाव होवे

से पुद्गलो का बंध होजाता माना गया है।

यहा कोई आक्षेप करता है कि रूखापन नामका कोई गुण नही है, चिकनेपन गुण के अभाव होजाने पर रूक्षता का व्यवहार सिद्ध होरहा है जहाँ चिकनापन नही है उसको रूखा कहदिया करते हैं. अतः दुग्ध, घृत, चिकने सुन्दर वस्त्र भूषण, आदि भव्य जड पदार्थों मे (यहा तक कि स्नेही इष्ट बन्धुजन आदि चेतन पदार्थोंमे भी) क्लृप्त स्नेह गुणको भावात्मक अनुजीवी गुण मान लिया जाय और रूक्ष गुण को रीता अभाव मान लिया जाय,रूखापन, नीरसपन, अनुष्णशीत, निर्गन्ध आदि का व्यर्थ बोझ वस्तु के ऊपर क्यो लादा जाता है ?

ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि यो तो रूक्ष के अभाव मे स्नेह के व्यवहार होजाने का भी प्रसग आसकता है,वास्तविक रूक्षता के नही होने से रबडी,मलाई, तैल आदिमे चिकने-पन की कल्पना है, ऐसी दशामे चालिनी न्याय से स्नेह गुणका भी अभाव होजाना बन जाता है। इसी प्रकार शीत का अभाव होजाने पर उष्णपन के व्यवहार का प्रसंग आजाने से उष्ण गुण के अभाव का भी प्रसग होजावेगा। पण्डिताईको मूर्खता का अभाव कहा जा सकता है, अधार्मिकपन की व्यावृत्ति ही धार्मिकता है, हलकेपन का अभाव ही बोझ है, सुगध का अभाव ही दुर्गन्धपन है, निबल का अभाव ही सबल है, इत्यादि आक्षेप करने वाले का मुख पकडा नही जाता है तब तो किसी भी पदार्थ की सिद्धि करना अन्यापोहवादियो के यहा असम्भव है। जोडे होरहे पदार्थों मे से अन्य दूसरे दूसरे पदार्थों का यदि अभाव मान लिया जायेगा तो जगत् के आधे पदार्थों का निराकरण हुआ जाता है, प्राय सभी पदार्थ अपने प्रतिपक्ष को ले रहे सप्रतिपक्ष है।

यदि आक्षेपकर्त्ता यो कहे कि स्पर्शन इन्द्रिय-जन्य ज्ञान मे शीत गुणके समान अग्नि, घाम आदि के उष्णता का भी समीचीन प्रतिभास होरहा है अतः वास्तविक उष्णगुण एक भावात्मक स्पर्श विशेष है, जैसे कि वैशेषिको के यहा अनुष्णाशीत स्पर्श या पाकज और उससे निराला अपाकज स्पर्श माना गया है। वैशेषिको ने स्पर्श के उष्ण, शीत, और अनुष्णाशीत ये तीन भेद किये है। जल मे शीत स्पर्श है तेजो द्रव्य मे उष्ण स्पर्श है, पृथवी और वायु मे अनुष्णाशीत स्पर्श माना गया है " एतेषा पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित् " पकी ईंट, घड़ा, आदि पृथिवी मे अग्नि-सयोग करके हुये पाक से जायमान पाकज स्पर्श है किसी पृथिवी मे अपाकज स्पर्श भी है।

यो कहने पर तो ग्रन्थकार कहते है कि तब तो स्नेह का ग्रहण करने वाली स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा उपजे हुये ज्ञान मे हलकापन, भारीपन, इन विशेष स्पर्शोके समान रूक्ष का भी स्पष्ट प्रतिभास होजाता है, अतः स्वतन्त्र भावात्मक रूक्ष गुण क्यो नही होवेगा ? अर्थात्—स्नेह का सहोदर भाई रूक्ष गुण अवश्य है। जो ही स्पर्शन इन्द्रिय स्नेह को जानती है वही रूखेपन का प्रत्यक्ष कर रही है। अभाव कह देने मात्र से अर्थक्रिया को करने वाले परिणाम का निराकरण नही होजाता है। वैशेषिकों ने अन्धकार को तेजोऽभाव मान रखा है किन्तु यह निर्दोष सिद्धान्त नही है जबकि काला काला अन्धकार

उन रात्रिचर पक्षियो के हृदय में विशेष ढंग की गुदगुदी उत्पन्न करना, दिवा जागर जीवोंको निद्रा लाना, मनुष्य, स्त्री, भैस, गाय, आदि के शरीरो मे आलस या विश्राम लेने के भाव आदि कार्यों को उपजाता है, चित्र (तसवीर) खीचने मे अन्धकार का प्रभाव पड़ता है, रुग्ण आंखो मे अन्धकार शक्ति को बढ़ाता है, अनेक सम्मूर्छन जीवो की उत्पत्ति करने मे सहायक होता है तो इत्यादि अर्थ-क्रियाओं को करने वाला होने से अन्धकार पदार्थ वस्तुभूत है।

सूर्य, चन्द्रमा, दीपक, आदि के निमित्त से जैसे यहा फैल रहे पुद्गल स्कन्ध स्वय धौले पीले प्रकाशमय परिणाम जाते है, उसी प्रकार प्रकाशक पदार्थों के हट जाने पर उन्ही पुद्गल स्कन्धो का ही काला काला परिणमन होजाता है, जैसे कि जाडो मे सूर्य की घाम फैलने पर जो पुद्गल उष्ण होगये थे थोड़े बादल आजाने पर वे ही पुद्गल झट शीतल होजाते हैं, उष्ण काल मे सूर्य के ऊपर स्वल्प बादल आड़े आते ही उष्णता न्यून होजाती है, मेघवृष्टि को कराने वाली उष्णता न्यारी है। यहा प्रयोजन केवल तत्कालीन झटिति पुद्गलो का परिणति-परिवर्तन होजाने से है। वरफ, ओला आदि मे कठिनपन की प्रतीति को भ्रान्त ज्ञान कह कर वैशेषिको ने जैसे स्वकीय मन्तव्य की हंसी कराई है, उसी प्रकार अन्धकार को तुच्छ अभाव मानने वाले वैशेषिको के ऊपर परीक्षक या वैज्ञानिक विद्वानो को हंसी आती है।

शीत का अभाव उष्ण नही होसकता है, क्योकि उष्ण से दाह,सन्ताप, आदि कार्य होरहे देखे जाते हैं, इसी प्रकार उष्ण का अभाव शीत भी नही बन सकता है, क्योकि शीत से वरफ जम जाना, अरहर के पेड़, आम के पौधे आदि वनस्पतियो का झुलस जाना, तप्त लोहे सोने आदि का जम जाना शीताङ्गहेतुक मृत्यु काल की उपस्थिति होजाना आदि अनेक कार्य होरहे देखे जाते है। तथा हलकापन का अभाव भारीपन और भारी का अभाव हलकापन इनमे विनिगमना का विरह होजानेसे दोनो वस्तुभूत पदार्थ मानने योग्य है, नरम और कठोर दोनो का सद्भाव मानने पर ही उनके योग्य अर्थक्रियायें हो सकेंगी।

इसी प्रकार स्निग्ध और रूक्ष दोनो की न्यारी न्यारी अर्थक्रियाये और अलग अलग प्रतिपत्तिया होरही देखी जाती है,अतः स्निग्ध, रूक्ष दोना गुणो का सद्भाव मान लेना अनिवार्य है। यद्यपि जैनसिद्धान्त अनुसार रूक्ष और स्निग्ध कोई स्वतंत्र नित्य गुण नही है, किन्तु स्पर्श गुण की पर्याये ही रूखापन और चिकनापन है, कथचित् अभेद नामका सम्बन्ध होजाने से क्वचित् गुण को पर्याय (सहभावी) और पर्याय को गुण कह दिया जाता है। जैसे कि चेतना गुण के परिणाम होरहे ज्ञान को अनेक स्थलो पर गुण स्वरूप करके कह देते हैं। पर्यायो में किसी प्रधान होरही पर्याय का गुण कह देना अनुचित नही है, पर्याय से ऊंची पदवी गुण है। ब्राह्मणों को भूसुर यानी पृथवी का देव और क्षत्रियो को भूपसिह या रणवीरसिह, वैश्यों को धनकुबेर आदि उपाधियो से भूषित कर दिया जाता है। गुण की प्रशसा करने हुये कभी एक गुण को पूरा द्रव्य कह दिया जाता है, जैसे कि कस्तूरी कपूर

आदि के गंध गुण का गन्ध द्रव्य की मुख्यता से निरूपण होजाता है, द्रव्य की प्रशसा हांकते हुये वस्तु वखान दी जाती है, क्योकि द्रव्य से बडी पदवी वस्तु की है, अनन्तानन्त शक्तियो को धार रही वस्तु की पुनः प्रशसा करना उसी प्रकार व्यर्थ पडता है, जैसे कि सम्माननीय श्री समन्तभद्राचार्य ने "गुण स्तोक सदुल्लध्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः। आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वपि सा कथं" इस पद्य द्वारा अनन्त गुण सागर श्री अरनाथ भगवान् की स्तुति करने मे असामर्थ्य प्रगट की है।

जो वादीभसिंह कलिकाल-सर्वज्ञ, सिद्धान्त-चक्रवर्ती, स्याद्वादवारिधि, सिद्धान्तमहोदधि सरनाइट् रायबहादुर, रायसाहव, सी० आई० ई, जे० पी० आदि पदवियो का प्रदान करने वाला है, वह मूलस्वरूप करके प्रशसक पदवियों से रीता है। प्रकरण म यह कहना है, कि स्निग्ध रूक्ष, दोनो भाव पदार्थ है, उस रूखेपन का वाधक कोई प्रमाण नही है। अतः बडा ही मनोज्ञ "रूक्षपन" गुण प्रतिक्षेप करने योग्य नही है।

गुण चौबीस ही है, इस वैशेषिको के नियम की घटना नही होसकती है, यानी १ रूप, २रस, ३ गध, ४ स्पर्श, ५ सख्या, ६ परिमाण, ७ पृथक्त्व, ८ सयोग, ९ विभाग, १० परत्व, ११ अपरत्व, १ गुरुत्व, १३ द्रवत्व, १४ स्नेह, १५ शब्द, १६ बुद्धि, १७ सुख, १८ दुःख, १९ इच्छा, २० द्वेष, २१ प्रयत्न, २२ धर्म, २३ अधर्म, २४ सस्कार, ये ही चौबीस ही गुण नही है, इनके अतिरिक्त भी अनेक गुण द्रव्यो मे विद्यमान है।

कुछ गुण तो चौबीस मे भी अधिक है। जैसे कि पौद्गलिक स्कन्ध होरहे शब्द और पुण्य पाप को व्यर्थ ही गुणो मे गिन लिया गया है। परत्व, अपरत्व, गुणोका भी कोई मूल्य नही है। सुख और दुःख कोई स्वतन्त्र दो गुण नही है, सुख गुण की विभावपरिणति ही दुःख है। गुरुत्व को यदि गुण माना जाता है, तो झोक को भी गुण मानना चाहिये जिस झोक के कारण-वश तीन गज लम्बी लठिया को एक ओर से एक अगुल तिरछा पकड कर बडा मल्ल भी नही उठा सकता है, जिस खाट पर आठ मनुष्य बैठ सकते है, एक चचल लड़का अपनी झोक से उसे अकेला तोड़ देता है, और भी वैशेषिको के कई गुण परीक्षा की कसौटी पर ठीक नही उतर सकते है।

अतः सिद्ध होजाता है, कि जैन सिद्धान्त अनुसार रूक्ष गुण स्वतन्त्र है। स्निग्धपन और रूक्ष-पन से बन्ध होजाता है। और तिसप्रकार होते सन्ते जो सिद्धान्त स्थिर हुआ उसको अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा यों समझो कि—

स्कंधो बंधात्स चास्त्येषां स्निग्धरूक्षत्वयोगतः।
पुद्गलानामितिध्वस्ता सूत्रेस्मिंस्तदभावता ॥ १ ॥
स्निग्धाः स्निग्धैस्तथा रूक्षा रूक्षैः स्निग्धाश्च पुद्गलाः।
बंधं यथासते स्कंधसिद्धेर्बाधकहानितः ॥ २ ॥

सूत्र का अर्थ यह है, कि स्निग्धपन और रूक्षपन का योग होजाने से इन पुद्गलो का बंध होजाता है, और बंध होजाने से वह प्रसिद्ध स्कन्ध उपज बैठता है, यो इस 'स्निग्धरूक्षत्वाद्बंध.' सूत्र मे निरूपण है, अतः उस बंध का अभाव या स्कन्ध का अभाव ध्वस्त कर दिया गया है। अर्थात्–बौद्ध पण्डित न तो बंध को मानते है, और न स्कन्ध को स्वीकार करते हैं, इस सूत्र द्वारा दोनो के अभाव का खण्डन कर दिया है। कारण कि जिस प्रकार चिकने पदार्थ सचिक्कण पदार्थों के साथ बध जाते हैं, तिसी प्रकार रूखों के साथ रूखे पदार्थ और स्निग्ध पुद्गल भी बध कर बैठ जाते हैं। अथवा जैसे रूखों को चिकने पदार्थ बाध लेते है, या चिकने चिकनो को बाध लेते है, उसी प्रकार रूखे पुद्गल भी रूखे या चिकने पुद्गलो को बांध बैठते हैं, यों बंध द्वारा स्कन्ध की सिद्धि होजाने के बाधक प्रमाणो की हानि है। अर्थात्– जगत् मे स्निग्ध का स्निग्ध के साथ, स्निग्ध का रूक्ष के साथ, रूक्ष पुद्गल का स्निग्ध पुद्गल के साथ, रूक्ष का रूक्ष के साथ, बंध कर अनेक स्कन्ध बन रहे निर्बाध प्रतीत होरहे है।

नैकदेशेन कार्त्स्न्येन बंधस्याघटनात्ततः।
कार्यकारणमाध्यस्थ्यक्षणवत्तद्विभावनात्॥ ३॥

जिस कारण से कि संसर्ग कर बधने वाले पदार्थो का एक देश करके अथवा सम्पूर्ण देशवृत्ति पने करके बंध होजाने की घटना नही होसकती है, तिस कारण से कार्य क्षण (क्षणिक कार्य स्वरूप स्वलक्षण) और कारणक्षण (पूर्वसमयवर्त्ती क्षणिक कारण स्वरूप स्वलक्षण) के साथ उनके मध्य मे स्थित होरहे ससर्गी क्षणिक स्वलक्षण के समान उन स्निग्ध रूक्ष पदार्थों का भी परस्पर मे बध जाने का विचार कर लिया जाता है। अर्थात्–अर्थो मे कार्य कारणभाव का मानने वाले सौत्रान्तिक बौद्धो के यहां जैसे उन कार्य कारणो के मध्यवर्त्ती सन्तान की एक-देशपने करके या सर्वदेशपने करके ससर्ग नही घटित होने पर भी मध्यस्थता बन जाती है, उसी प्रकार जैनो के यहा अवयवसहितपन और अनवस्था दोष को टालते हुये एकदेशेन या सर्वात्मना सम्बन्ध की व्यवस्था नही कर केवल स्निग्धत्व रूक्षत्व, परिणतियों अनुसार परमाणुओ का बधजाना निर्णीत करलिया गया है।

यथैककार्यकारणक्षणाभ्यां तन्मध्यस्थस्यैकदेशेन संबंधे सावयवत्वमनवस्था च तदेकदेशस्याप्येकदेशांतरेण संबंधात्। कार्त्स्न्येन संबंधे पुनरेकक्षणमात्रसंतानप्रसंगः कार्यकारणभावाभावश्च सर्वथैकस्मिंस्तद्विरोधात्। किं तर्हि? संबंध एवेति कथ्यते। तथा परमाणूनामपि युगपत्परस्परमेकत्वपरिणामहेतुर्बंधो नैकदेशेन सर्वात्मना वा सावयवत्वानवस्थाप्रसंगादेकपरमाणुमात्रपिंडप्रसंगाच्च। किं तर्हि? पिंड एव स्निग्धरूक्षत्वविशेषायत्तत्वात्तस्य तथा दर्शनात् सक्तुतोयादिवत्।

बौद्धमत की बात है, कि जिस प्रकार एक कार्यक्षण और दूसरे एक कारणक्षण के साथ उस मध्य मे स्थित होरहे अनुस्यूत कार्यकारणभावापन्न अर्थ का यदि एकदेश से सम्बन्ध माना जायेगा तो

प्रथम से ही अवयव सहितपना मानना पड़ेगा जैसे कि पचागुल के ऊपर दूसरे पचागुल को धर देने पर एक एक अंगुलीस्वरूप एकदेश से सम्बन्ध मानने पर पहिले ही दूसरे पचागुल में अंगुलिया स्वरूप अवयव मानने पड़ते हैं, और उन अवयवों का भी पुन अपने अवयवी के साथ एकदेश से संसर्ग मानने पर पुनः अवयवो की कल्पना करनी पडेगी, यो पहिले से ही उसके कतिपय देश पुनः मानने पडेंगे, इस प्रकार अवयवों की धारा बढते बढते अनवस्था दोष आवेगा क्योकि उस एक देश का भी अन्य एक एक देशो के साथ सम्बन्ध चला जायेगा। यदि कार्य कारणो के साथ उस मध्यवर्त्ती सन्तान का परिपूर्ण रूप करके सम्बन्ध माना जायेगा तब तो फिर सन्तान को केवल एकक्षणिक स्वलक्षण स्वरूप होजाने का प्रसग आजावेगा जैसे कि एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ सर्वांग सम्बन्ध होजाने पर परमाणुमात्र ही प्रचय रह जाता है, अथवा एक कटोरी भर पानी का अन्य कटोरी भर बूरे के साथ परिपूर्ण संसर्ग होजाने पर कटोरी बराबर परिमाण का धारी ही पदार्थ बन जाता है।

एक बात यह भी है, कि कार्य कारण क्षणो का परस्पर सर्वांगीण सम्बन्ध मान लेने पर बेचारे कार्य कारण भाव का ही अभाव होजावेगा क्योकि सर्वथा एक होरहे पिण्ड मे उस कार्य कारण भाव के होने का विरोध है, अत उक्त चार दोषो के भय मे हम बौद्ध एक-देशेन या सर्वात्मना तो सम्बन्ध मान नही सकते है, और कार्यकारण भाव की धारा निर्णीत करना ही है, ऐसी दशा मे कोई हम बौद्धो से प्रश्न करे कि तब तो फिर सतान बनानेका उपाय क्या है ? इसका उत्तर यही होगा कि उन कार्य कारण क्षणो का सम्बन्ध है ही, यह कह दिया जाना है।

आचार्य महाराज कहते हैं, कि जिस प्रकार बौद्ध अपने कार्य कारणक्षणो के सन्तान की थोथ दिखाते हुवे रक्षा कर लेते है, उसी प्रकार हम जैन भी कह देंगे कि तिसी प्रकार परमाणुओ का भी जो युगपत् परस्पर में ससर्ग होकर एकत्व परिणति का हेतु जो बंध होरहा है, वह न तो एक देश करके है, क्योकि एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ एक देशेन संसर्ग मानने पर परमाणु के पहिले से ही कई एक देश मानने पडेंगे उन एक देशोका भी परस्पर या परमाणुके साथ एक एक देश करके सम्बन्ध मानते मानते अनवस्था दोष भी आजावेगा। यो परमाणु के अवयव सहितपन दोष और अनवस्था दोष का प्रसग आया। तथा परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ सर्वात्मना बध जाना मानने पर पिंड को केवल एक परमाणु बराबर होजाने का प्रसंग आता है, जो कि क्षम्य नहीं है, अन्यथा जगत् में कोई भी लम्बा चौडा पदार्थ दृष्टि-गोचर नही होसकेगा, तब तो फिर परमाणु के साथ दूसरे परमाणु का किस प्रकार से बध माना जाय ?।

इसका उत्तर हम जैन भी थोथ दिखाते हुये यही कहेगे कि परमाणुओ का भी पिण्ड ही बध रहा है, क्योकि विशेष स्निग्धपन और रूक्षपन के अधीन होकर वह पिण्ड स्कन्ध बन गया है, वस्तु परिणतिके अनुसार तिसी प्रकार बंध होरहा देखा जाता है,जैसे कि सतुआ पानी, दही, बूरा, क्षीर,नीर चांदी, टांका आदि का पिण्ड बंध रहा देखा जाता है, भट्टा में कदाचित्, क्वचित्, ईंटों का ढिम्मा बंध

जाता है । यों तीसरी कारिकाका व्याख्यान है, पक्तिके सबसे पहिले 'यथा' का इस 'तथा' के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिये ।

बंध परिणति में दोनो का कथंचित् एकत्व होजाता है अतः तादात्म्य की ओर ढुलक रहा संयोग सम्बन्ध बेचारा एक अनिर्वचनीय योजक है, जोकि बंधे हुये पदार्थो मे तादात्म्य सम्बन्ध को ढालता हुआ संयोगको भी ढाल देता है.पदार्थोंकी बंध परिणतिका प्रत्यक्ष अवलोकन कर इस सम्बन्ध को वाचक शब्दों के बिना अवक्तव्य ही समझ लो, किसी पदार्थ के वाचक शब्द यदि नहीं मिलें तो उस वस्तुभूत निर्विकल्पक तथ्य प्रमेय का अपलाप नही किया जा सकता है ।

पूर्वापरविदां बंधस्तथाभावात् परो भवेत् ।
नानाणुभावतः सांशादणोर्बन्धोऽपरोस्ति किम् ॥ ४ ॥
निरंशत्वं न चाणूनां मध्यं प्राप्तस्य भावतः ।
तथा ते संविदोर्मध्यं प्राप्तायाः संविदः स्फुटम् ॥ ५ ॥

बौद्ध पण्डित अनेक स्थलो पर यह दक्षता (पौलिसी) कर जाते हैं, कि बहिस्तत्ववादी बन कर झट अन्तस्तत्व-वादी का वेष (पार्ट) ले लेते हैं, सौत्रान्तिक बौद्धो के यहा बहिरंग स्वलक्षण अन्तरग स्वलक्षण यो जड, चेतन, अनेक तत्व माने गये है, किन्तु योगाचार के यहा केवल विज्ञान स्वलक्षण ये अन्तस्तत्व ही स्वीकार किये गये है, अत. विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार के मतानुसार पूर्वक्षणवर्त्ती और उत्तरक्षणवर्त्ती विज्ञानो का सन्तान या संसर्ग अथवा बध माना ही गया है, तिसी प्रकार लडी मे बंधे हुये मोतिओं के समान ज्ञानो का परस्पर बध होरहा क्या भिन्न पदार्थ होगा ? अर्थात् –नही ? । इसी प्रकार अनेक अणुओ के तथा-भाव से होरहा अंश-सहित अणु के साथ बन्ध क्या अपर पदार्थ होगा ? अर्थात्-जैसे वैशेषिको ने विशिष्ट सयोग को बध मान कर द्रव्यो से उस सयोग को भिन्न गुण माना है, उस प्रकार बौद्ध या जैन उस बध को भावो से भिन्न नही मानते है. अणु के एक देश से दूसरे अणु का संसर्ग होना प्रतीत होता है, अत. अणु को सांश मानने मे कोई क्षति नही है अनेक अणुओ के मध्य में प्राप्त होरहे अणु का भावदृष्टि से निरशपना नही है,तिस प्रकार होने पर ही तो तुम योगाचार बौद्धो के यहा दो संवित्तियो के मध्य मे प्राप्त होरही एक संवित्ति का स्फुट रूप से सांशपना बनेगा ज्ञान परमाणुओ के सांशपन समान पुद्गल परमाणुओ का शक्ति अपेक्षा सांशपना निर्बाध है ।

संविदद्वैततत्त्वस्यासिद्धौ बंधो न केवलं ।
स स्यात् किन्तु स्वसंतानाद्यभावात्सर्वशून्यता ॥ ६ ॥
तत्संविन्मात्रसंसिद्धौ संतानस्ते प्रसिद्ध्यति ।
तद्बंधः स्थितोर्थानां परिणामो विशेषतः ॥ ७ ॥

जब कि जगत् मे अनेक जड, चेतन, पदार्थ, या स्थूल, सूक्ष्म पदार्थ, अथवा-कालान्तर-स्थायी पदार्थ स्पष्ट प्रत्यक्ष गोचर होरहे हैं। ऐसी दशा मे योगाचारो का संवित्-अद्वैत सध जाना असम्भव है, अतः विज्ञानाद्वैत तत्व की सिद्धि नही होमकने पर केवल वह प्रसिद्ध बंध ही तो नही होसकेगा किन्तु स्वकीय सन्तान आदि का अभाव होजाने से सम्पूर्ण पदार्थो के शून्यपन का प्रसंग आजावेगा और उस संविन्मात्र तत्व की भले प्रकार सिद्धि होचुकने पर तो तुम बौद्धो के यहा सन्तान पदार्थ अवश्य प्रसिद्ध होजाता है, उसी सन्तान के समान बन्ध पदार्थ भी पदार्थो का परिणाम होकर व्यवस्थित है। कोई अन्तर नही है। अर्थात्—सम्वेदनाद्वैत-वादियो के सिद्धान्त की सिद्धि नही होसकती है। उन्ही युक्तियो करके स्वकीय सन्तान, परकीय सन्तान अथवा अन्य पदार्थो का अभाव होजाने से शून्यवाद आजाता है जो वहिरग ज्ञेयको नही मान कर अन्तस्तत्व ज्ञानको ही मान बैठा है और अन्य आत्माओ के विज्ञानो का स्वसम्वेदन नही होने से परकीय ज्ञान-सन्तानो का अभाव कह चुका है। यो संकोच होते होते अपने भूत भविष्य क्षणिक ज्ञानो का भी अभाव मान चुकेगा वह बेचारा एक वर्तमान काल के ज्ञान स्वलक्षण का सद्भाव नही साध सकता है। क्योकि " नाकारणं विषयः " बौद्धो ने ज्ञान के कारण को ही ज्ञान का विषय मान रक्खा है, ज्ञान को जानने वाले द्वितीय ज्ञान के अवसर पर प्रथम ज्ञान जो विषय था वह नष्ट होचुका और पूर्व ज्ञान समय पर उसका परिज्ञाता ज्ञान उपजा ही नही था, ऐसी दशा मे सर्वशून्यता छा जाती है, अनेकों मे होनेवाले बंध बेचारे को कौन पूछता है। हा सम्वेदनाद्वैत की सिद्धि यदि मानी जायगी तब तो सन्तान और बंध अवश्य मानने पडेंगे जो कि बंध उन पदार्थों की वास्तविक परिणति के वश है, सावृत या कल्पित नहीं है।

शून्यवादिनापि संविन्मात्रमुपगन्तव्यं तस्य चावश्यं कारणमन्यथा नित्यत्वप्रसंगात् कार्यमभ्युपगंतव्यमन्यथा तदवस्तुत्वापत्तेरिति तत्संतानसिद्धिः। तत्सिद्धौ च कार्यकारणसंविदोर्मध्यमध्यासीनायाः संविदस्तत्संबंधेपि सांशत्वाभाववत्परमाणूनां मध्यमधिष्ठितोपि परमाणोरनशत्वसिद्धेस्तत्सर्वसमुदायविशेषोप्यनेकपरिणामो बंधः प्रसिद्धयत्येव ।

शून्यवादी पण्डित करके भी केवल शुद्ध सम्वेदन तो अवश्य ही स्वीकार कर लेना चाहिये अन्यथा स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष मे दूषण देना ही असम्भव होजायेगा। दूसरो को ठगने वाले पण्डित आत्म-वचना तो नही करे। सम्वेदनके विना तो पर-प्रत्यायन क्या स्वप्रत्यायन भी नही होपाता है। और उस सम्वेदन का कोई कारण भी अवश्य मानना पडेगा अन्यथा यानी कारण माने विना उस सम्वेदन के नित्य होजाने का प्रसग आजावेगा " सदकारणवन्नित्य " तथा उस सम्वेदन का कोई कार्य भी स्वीकार करना चाहिये अन्यथा यानी सम्वित्ति के कार्य को माने विना उस सम्वेदन के अवस्तुपन का प्रसंग आजावेगा " अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुनो लक्षण "। यो उस सम्वेदन तत्व के पूर्वोत्तरवर्त्ती सन्तान की सिद्धि हो ही जाती है।

तथा उस सन्तान की सिद्धि होचुकने पर कार्य-सम्वेदन और कारण-सम्वेदन के मध्य में

बैठी हुई सम्वित्ति को उन कार्यकारणों का सम्वेदन होनेपर भी जैसे सांशपना नहीं माना गया है उसी प्रकार अनेक परमाणुओं के या छःऊ दिशाके छ परमाणुओं के मध्य मे अधिष्ठित होरही परमाणु का भी अनंशपना सिद्ध होजाता है, अतः उन अनेकों या सातो अथवा दो आदि सम्पूर्ण परमाणुओं का विशेष रूप से होरहा समुदाय भी अनेक परमाणुओं का वस्तुभूत परिणाम होरहा बंध पदार्थ प्रसिद्ध हो ही जाता है। भावार्थ—निरंश परमाणुओं का सांश बंध होगया। शक्ति की अपेक्षा परमाणुओं मे सांशपना भी अभीष्ट किया जा चुका है, यदि परमाणु मे सांशपना नही होता तो कार्य-स्कन्धों में सांशपना कहां से आता ? सन्तान, समुदाय, प्रेत्यभाव, को साधने के लिये बौद्ध भी कुछ न कुछ उपाय रखते हैं। वह बंध का प्रयोजक होसकता है अतः सूत्रकार का यह सिद्धान्त निर्दोष है कि स्निग्धपन और रूक्षपन से बंध होजाता है।

रूखापन तो विभाग कर देगा, बांधेगा नही ऐसी शंका नहीं करना क्योंकि वणिग् वृत्ति के पुरुष रूखे व्यवहार मे बंध जाते हैं "भय बिन होय न प्रीति" की नीति इसी बूनेपर डटी हुई है। गीले चूना मे कुछ ककरी, बजरी, रूखा, बालू रेत डाल कर उसको दृढ बांधने वाला बना लिया जाता है कहीं कही चिकनापन बंध मे उलटा विघ्न डाल देता है थाली मे घी लगा देने से पुनः खांड की बरफी थाली से चुपटने नहीं पाती है, चिकनी कीच में पांव रपट जाता है, रूखी रोटी मे जितना शीघ्र दूध या पानी मिल जाता है चुपडी रोटी मे उतना शीघ्र दूध या पानी नही बंधने पाता है तभी तो रूखी रोटी से चुपडी रोटी पचने मे भारी है। जल द्वारा लड्डू ईंट, पुल,, भीत, आदि के बंधजाने पर भी मनुष्य उनका दृढबंधन होजाने के लिये रूखेपन की प्रतीक्षा किया करते हैं। कई चिकने पदार्थ बंधेहुये पदार्थों को पृथग्भूत कर देते है, रूखापन उनको जोड देता है। पौष्टिक औषधियों या धातुओ, उपधातुओ अथवा दूध आदि पदार्थों मे इस खेल को हम देखते हैं।

माना कि रूखेपने से स्कन्धो का कदाचित् विभाग भी होजाता है, किन्तु चिकने तेल या घी के बीच में डाल देनेपर भी अनेक पदार्थ विभक्त होजाते है। पहाडोमे पानी भरते भरते बड़ी शिलाओ के खण्ड होजाते है, दूध खांड का मैल विभक्त होजाता है अण्डी के तेल से आन्तो मे घुसा हुआ मल हटा दिया जाता है " तृणानि दहतो वन्हेः सखा भवति मारुतः। स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदं।" चिकनी, चुपडी, कांचकी शिला या बढ़िया चटाईपर सांप नही चल पाता है, अधिक चिकनी सड़क पर घोड़ा या मनुष्य भी रपट जाता है। वस्तुतः देखा जाय तो गीलेपन की प्रधानता से स्निग्धता और आर्द्रता (गीलापन) के अभाव से या शुष्कता से रूखापन व्यवस्थित है। वस्तुओ की विभिन्न परिणतिओ के अनेक कारण हैं जो कि लोक मे विदित होरहे है। तदनुसार परमाणुओ के बंधने मे आर्द्रता और रूखापन हेतु माना गया है " अनेकान्तो विजयतेतरां " " सिद्धिरनेकान्तात् "।

स च सर्वपरमाणूनामविशेषेण प्रसक्त इति न्यक् गुणानामनिष्टगुणानां बंधप्रतिषेधार्थमाह ।

यों उक्त सूत्र द्वारा विशेषता रहित होकर सम्पूर्ण परमाणुओं का वह बंध होजाना प्रसंग प्राप्त हुआ इस अति प्रसंग के निवारणार्थ न्यक् यानी जघन्य गुणों वाले अथवा बंध योग्य गुणों से रहित होरहे अनिष्ट गुण वाले परमाणुओं के बंध का प्रतिषेध करने के लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अगले सूत्र को कहते हैं।

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

जघन्य गुण वाले यानी निकृष्ट गुण वाले परमाणुओं का बंध नहीं होता है। अर्थात्—पूर्व सूत्र से स्निग्ध रूक्षपने करके परमाणुओं का बंध जाना सामान्य रूप से कह दिया था अब इस सूत्र से जघन्य गुण वाले परमाणुओं के बंध का निषेध कर दिया है। जघन्य गुण वालेका अर्थ एक गुण वाला नहीं होसकता है क्योंकि स्पर्श गुण की स्नेह परिणति या रूक्ष परिणति के अविभाग प्रतिच्छेद घटते घटते भी संख्याते रह जाते है। एक ही अविभागप्रतिच्छेदके शेष रह जाने का अवसर नहीं मिल पाता है ' अविभागपडिच्छेओ जहण्ण उददी पयेसाम " वस्तुभूत अखण्ड शक्ति के परिज्ञानार्थ तारतम्य दिखाने के लिये कल्पित किये गये शक्ति अंशोको अविभाग प्रतिच्छेद कहते है। जैसे कि जघन्य ज्ञान के अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद माने गये है।

अथवा लकड़ी की छोटी अग्नि-ज्वाला से उतनी ही तैल दीप कलिका, धृत दीप कलिका, गैस, बिजली, सर्च लाइट मे उत्तरोत्तर चाकचक्य के अविभाग प्रतिच्छेदों का अधिकता है। आम की लकडी, बबूल की लकडी, खैर की, कोयले की,पत्थर के कोयले की अग्निओं मे उत्तरोत्तर उष्णता अधिक है, यह अविभागी अंशों की कल्पना का मार्ग बता दिया है। इसी प्रकार स्नेह पर्याय या रूक्ष पर्याय में पाये जा रहे संख्यात असंख्यात या अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों की जघन्य अवस्था घटित होजानेपर उन स्निग्धता, रूक्षताओंसे बंध नहीं होपाताहै. कभी कभी विशेष परिणतिओं अनुसार टांका या गोंद उन चांदी, सोने, लोहे, कागज, पत्र आदि का जोड़ नहीं पाते हैं, चूना भी कदाचित् ईंट से अलग पडा रह जाता है, दूध फट जाता है, अतः कतिपय दृष्टान्तों से अतीन्द्रिय जघन्य गुणवाले परमाणुओं का नहीं बंध होसकना युक्तियों द्वारा सिद्ध होजाता है।

जघनमिव जघन्यं निकृष्टमिति शाखादित्वाद्देहांगत्वाद्वा जघन्य शब्दसिद्धिः जघने भवो जघन्यो निकृष्टः जघन्य इव जघन्योऽत्यंताप्रकृष्ट इति। गुणशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षावशा-द्भागग्रहणं द्विगुणा यवा इति यथा द्विभागा इत्यर्थप्रतीतेः जघन्या गुणा येषां ते जघन्यगुणाः परमाणवः सूक्ष्मत्वाद्वा तेषां न बंध इत्यभिसंबन्धः। तेनैकगुणस्य स्निग्धरूक्षस्य वा परेण स्निग्धेन रूक्षेण चैकगुणेन द्वित्रिसंख्येयासंख्येयानंतगुणेन वा नास्ति बंधस्तथाद्वयादिस्निग्धयोः द्विगुणैरेकगुणैश्चेति 'प्रश्रित भवति।

जघन्य यानी अन्त्य के समान जो है वह जघन्य है इस प्रकार जघन्य शब्द का शाखादि गणों मे पाठ होने से जघन्य शब्द की सिद्धि होजाती है। शाखा, मुख, शृङ्ग, अघन्, मेघ, आदि शब्द शाखादिगण मे है, अतः " शाखादिभ्यो य. " इस सूत्र मे य प्रत्यय कर " जघन्यमिव जघन्य ' यो निरुक्ति करते हुये जघन्य शब्द बना लिया जाता है। जिस प्रकार कि शरीरके अवयवो मे जघन निकृष्ट अवयव है, उसी प्रकार अन्य भी जो निकृष्ट है, वह जघन्य कहा जाता है, शाखादित्व, स्वार्थ, आदि से जघन्य शब्द को साध लिया जाय। अथवा देहाग होने से भावार्थ में जघन्य शब्द की सिद्धि कर ली जाय जघन मे जो हो रहा है, वह जघन्य है, यानी निकृष्ट है, जघन्य के समान जघन्य है, जघन्य का अर्थ यो अत्यन्त अपकृष्ट यानी सब से नीचली अवस्था को प्राप्त हुआ कहा जाता है।

गुण शब्द के अप्रधान, तेज, भाग, उपकार, रूपादि, विशेषण, आदि अनेक अर्थ है, किन्तु प्रकरणवश वक्ताकी विवक्षा की अधीनता से यहा भाग अर्थ ग्रहण किया गया है। जैसे कि इस गोजई मे दुगुने जौ है, यानी गहू और जौ का मिला हुई ढेरीम एक भाग गेहू है, और दो भाग जौ है, यो द्विगुण यानी दो भाग जो कहे जाते है, अत. दुगुने जो से यहा जिस प्रकार दो भाग जौ इस अर्थ की प्रतिपत्ति होजाती है, वैसे ही जिन परमाणुओं के गुण यानी भाग (अविभाग प्रतिच्छेद) निकृष्ट होगये है। उन जघन्य गुण वाले परमाणुओ का बंध नही होता है, यो अर्थ जान लिया जाता है। अथवा सूक्ष्म होने के कारण जिन परमाणुओ का गुण जघन्य होगया है, वे परमाणुये जघन्य गुण है, उनका परस्पर बन्ध नही होता है, इस प्रकार वाक्यार्थ का दोनो ओर से सम्बन्ध कर लेना चाहिये तिस कारण एक गुण वाले स्निग्ध परमाणु अथवा रूक्ष परमाणु का दूसरे एक गुण वाले स्निग्ध परमाणु और रूक्ष परमाणु के साथ बंध नही होगा।

इसी प्रकार स्नेह के वा रूक्ष के एक गुण को यानी जघन्यभाग अविभाग-प्रतिच्छेदो को धार रही एक परमाणु का दूसरी दो, तीन, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त गुणो को धार रही परमाणु के साथ बंध नही होसकेगा। तिसी प्रकार दो, तीन, चार आदि की वृद्धि अनुसार दो, तीन, आदि गुण वाले परमाणु के साथ एक गुण वाले परमाणुओ करके बंध नही होगा। अर्थात्-दो दो बढा कर या तीन, तीन, चार, चार, बढ़ा कर गुणो के धारी परमाणुओ का एक गुण वाले कई परमाणु के साथ बन्ध नही होपाता है, दो परमाणुओ करके द्वयणुक बनाने के अवसर पर जैसे ' न जघन्यगुणानां' लागू होता है, उसी प्रकार सैकड़ो, संख्याते, अनन्ते परमाणुओं का स्कन्ध बनने की योग्यता मिलने पर भी उक्त अपवाद लागू होजाता है, यह सूत्रकार का अभिप्राय इस सूत्र करके सूचित कर दिया गया समझ लिया जाता है।

ननु न जघन्यगुणाः परमाणवः केचित्सन्तीति कुतो निश्चयः स्निग्धरूक्षगुणयोरपकर्षातिशयदर्शनात् परमापकर्षस्य सिद्धजघन्यगुणसिद्धिः। उष्ट्रीक्षीराद्धि महिषीक्षीरस्यापकृष्टः स्नेहगुणः प्रतीयते ततो गोक्षीरस्य ततोप्यजाक्षीरस्य ततोपि तोयस्येति। यथा रूक्षगुणोपि

शर्करातः कणिकानामपकृष्टः प्रतीयते ततोपि पांशूनामिति । स्निग्धरूक्षगुणः क्वचिदत्यंतमपकर्षमेति प्रकृष्यमाणापकर्षत्वादा नभसः परिमाणे परिमाणवदित्यनुमानाज्जघन्यगुणसिद्धिः । एतेनोत्कृष्टगुणसिद्धिर्व्याख्याता, प्रकर्षातिशयदर्शनात्क्वचित्परमप्रकर्षसिद्धेः ।

यहा कोई प्रश्न उठाता है, कि जगत् मे जघन्य गुण वाले कितने ही एक परमाणुयें है, इसका निश्चय किस प्रमाण से किया जाय ? बताओ । अब आचार्य महाराज उत्तर करते है, कि स्निग्ध गुणों और रूक्ष गुणो के अपकर्ष यानी हीनता होते चले जाने का अतिशय देखा जा रहा है, जिसके अपकर्ष का तारतम्य देखा जाता है, क्वचित् उसका अतिशय होजाने से चरम अवस्था पर परम अपकर्ष की सिद्धि होजाती है, जैसे कि आकाश, धर्मद्रव्य स्वयम्भूरमणसमुद्र, सुमेरुपर्वत, घट, बेर, पोस्त, आदि में परिमाण की घटी होते होते परमाणु पर पहुंच कर सब से छोटा अणुपरिमाण विश्राम कर लेता है । उसी प्रकार स्निग्धता और रूक्षता के अविभागी अंशों मे न्यूनता होते होते अन्तिम जघन्य गुणो की सिद्धि होजाती है, जिससे पुनः न्यूनता होने की सम्भावना नहीं है ।

देखिये जब कि ऊंटिनी के दूध से भैंस के दूधका चिकनापन गुण हीनता को लिये हुये प्रतीत होता है, और तिस भैंस के दूध से गाय के दूध का चिकना गुण अपकृष्ट है, उस गाय के दूध से भी बकरी के दूध का चिकनापन अल्प है, उस बकरी के दूध से भी जल का चिकनापन न्यून है, यों तारतम्य होते होते क्वचित् स्नेह गुण की अन्तिम जघन्य-अवस्था प्राप्त होजाती है, उस अवस्था मे बंध होना असम्भव है ।

जिस प्रकार स्नेह गुण का अपकर्ष बढता बढ़ता दिखा दिया है, तिसी प्रकार रूक्ष गुण का अपकर्ष प्रतीत होरहा है, देखिये ककडियो या माणिक-रेती के रूखेपन से कणिकाओं यानी कनियों का रूखापन अपकृष्ट दीखता है, और उन कनकियों के रूखेपन से भी धूलियो का रूखापन न्यून है,बालू रेतसे मिट्टीका रेत कमती रूखा है । इस प्रकार स्निग्धगुण या रूक्षगुण (पक्ष) कहीं न कहीं अत्यन्त अपकर्ष को प्राप्त होजाते है, (साध्य) प्रकर्ष को प्राप्त होता जारहा अपकर्ष होने से (हेतु) आकाश के परिमाण से प्रारम्भ कर जसे परिमाण मे न्यूनता होते होते परमाणु मे परिमाण का अपकर्ष अन्तिम विश्रान्त होजाता है, (दृष्टान्त) । इस अनुमान से पुद्गलो के जघन्य गुणों की सिद्धि होजाती है, इस उक्त कथन करके पुद्गलो के स्नेह या रूक्ष सम्बन्धी उत्कृष्ट गुणों की सिद्धि का भी व्याख्यान किया जा चुका है ।

प्रकर्ष यानी वृद्धि का अतिशय बढता बढ़ता दीखना रहने से कहीं जाकर परम प्रकर्ष की सिद्धि होजाती है, जैसे कि परमाणु द्वयणुक घट, पट, पर्वत आदि मे परिमाण बढ़ते बढ़ते आकाश में विश्रान्ति लेता है, अथवा सूक्ष्म निगोदिया के अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद वाले जघन्यज्ञान की वृद्धि होते बढ़ते बढ़ते अनन्तानन्त स्थानों पर तारतम्य अनुसार वृद्धि होते होते केवल-ज्ञान में ज्ञान के

गुणो का परम प्रकर्ष सिद्ध होजाता है, सूक्ष्मनिगोदिया के ज्ञान मे भी एक नही किन्तु अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद हैं, वे ज्ञान के जघन्य गुण हैं, इसी प्रकार पुद्गलो मे भी स्निग्ध रूक्ष परिमाणों के कतिपय जिन-दृष्ट सख्याते या असख्याते गुण रह जाते है, वे जघन्य गुण हैं, ऐसे जघन्यगुण वाले पुद्गलों का बंध होना निषेधा गया है।

राजवार्त्तिक या श्लोकवार्त्तिक मे यद्यपि जघन्य का अर्थ एक किया गया है, 'एकगुणस्निग्धस्य एकगुणस्निग्धेन वा एकगुणस्य स्निग्धरूक्षस्य वा परेण स्निग्धेन रूक्षेण चैकगुणेन' आदि लिखा गया है। छः वृद्धियो और छ हानियो अथवा चतुः स्थान-पतित हानि वृद्धियों के भी अनुसार अविभाग-प्रतिच्छेदो की एक संख्या का शेष रह जाना जंचता नही है, जघन्य ज्ञान मे सब से प्रथम उपरला अनन्तवेंभाग वृद्धि का स्थान कह रहा है, कि जघन्य ज्ञान भी किसी अपेक्षा एक है, तभी तो उस अवयवी के भाग मान कर अनन्तवां भाग बढाया गया है। उसी प्रकार परमाणु के अनेक जघन्य गुणो की सब से पहिली अवस्था मान कर एक गुण का व्यवहार कर दिया जाता है, विद्वान जन और भी इस पर प्रकाश डालेंगे, गम्भीर विचार करेंगे।

ननु न कदाचिदबंधः परमाणूनां सर्वदा स्कधात्मतयैव पुद्गलानामवस्थितेः। बुद्ध्या परमाणुकल्पनोपपत्तेरविभागपरिच्छेदवदिति कश्चित्त' प्रत्याह।

यहां कोई पण्डित स्वपक्ष का अवधारण करता हुआ पूर्वपक्ष उठाता है, कि सूत्रकार ने जो जघन्य गुण वाले परमाणुओं का अबध कहा है, यानी वैसे जघन्य गुणो परमाणुओं का बध नही होता है, सो हमको ठीक नही जंचा है, क्योकि परमाणुओं का कदाचित् भी अबध नही होता है, यानी परमाणु सदा बंधे ही रहते हैं, स्कन्ध स्वरूप-पने करके ही पुद्गलो की सर्वदा अवस्थिति पाई जाती है, जगत् में किसी को न्यारा न्यारा परमाणु नही दीख रहा है, हम आदि सब को सर्वत्र पिण्ड ही पिण्ड दीखते हैं, हा बुद्धि करके परमाणुओं की कल्पना करना भले ही बन जाय जैसे कि अविभागप्रतिच्छेद कल्पित माने जा रहे हैं।

अर्थात्-जैनों ने उतने ही लम्बे चौडे बोझ-वाले जैसे नील, नीलतर, नीलतम पदार्थों मे रूप के अन्तस्थल को समझाने के लिये, सौ, पाचसौ, पाच सहस्र, सख्यात, आदि अशों की कल्पना कर ली है, वस्तुत अविभागप्रतिच्छेद कोई न्यारे न्यारे वस्तुभूत टुकडे नही है, जैसे कि वस्त्र मे न्यारे न्यारे सूत आतान वितान अवस्था अनुसार प्रतिभास रहे है, लगडा या मालदा आम को मर्यादा का अतिक्रमण नही करने हुये कुछ दिन तक रक्खे रहने देने से उनमें मिष्टता के अंश बढ़ जाते है, इस किया के अवसर पर आम मे कही बाहर से आकर मिश्री या बक्खर नही मिल जाता है, अथवा मर्यादा से अधिक दिन तक रखे रहने देने से जो मिष्टता कम होजाती है, तब कोई उसमें से रस या बक्खर चूकरके टपक नही पडता है, केवल अन्तरग वहिरग कारणो अनुसार उपज रही आम को पूर्वापर

परिणतियों मे तारतम्य अनुसार मीठेपन के अविभाग प्रतिच्छेद रूप अंशों की कल्पना कर ली जाती है।

किसी पुष्प मे पहिले अल्प गन्ध थी पुनः उसी गंध गुण की उत्तरोत्तर-सुगन्ध पर्याये तीव्र सुगन्ध स्वरूप होगई है यहा भी गंध की परिपूर्ण परीक्षा करने के लिये सुगंध परिणामो के अंश गढ लिये जाते हैं, उडद की दाल मे कुछ देर तक धरी रहने मे चिकनेपन के अंश बढते हुये कल्पित कर लिये जाते हैं। विद्यार्थी की परीक्षा लेते हुये पूर्ण उत्तरों के सौ अंश कल्पित कर छात्र की व्युत्पत्ति अनुसार अस्सी, पचास, चालीस आदि लब्धांक दे दिये जाते हैं, इसी ढंग से अविभाग प्रतिच्छेदो की कल्पना समान अखण्ड पुद्गल स्कन्ध मे तिर्यग् अंश कल्पना करते हुये परमाणुओं को गढ़ लिया गया है, वस्तुतः एक भी परमाणु अबध, स्वतंत्र, एकाकी नही है। इस प्रकार कोई एकान्त पिण्ड वादी पण्डित कह रहा है उसके प्रति ग्रन्थकार महाराज समाधान-कारक अगली वार्तिक को कहते है।

न जघन्यगुणानां स्याद्बंध इत्युपदेशतः।
पुद्गलानामबन्धस्य प्रसिद्धेरपि संग्रहः ॥ १ ॥

निकृष्ट गुण वाले परमाणुओं का बंध नहीं होता है, इस प्रकार सूत्रकार महाराज का उपदेश होने से पुद्गलो के अबंध की प्रसिद्धि का भी संग्रह होजाता है। अर्थात्—श्री उमास्वामी महाराज के "न जघन्यगुणाना" इस सूत्र द्वारा अनेक परमाणुओं का नहीं बंधना भी प्रसिद्ध होजाता है युक्तियो से भी कई परमाणुओं का अबन्ध सध जाता है।

स्कंधानामेव केषांचिद्वालुकादीनामबंधोऽस्तु न परमाणूनामित्ययुक्तं, प्रमाणविरोधात्। "पृथिवी सलिलं छाया चतुरिन्द्रियविषयकर्मपरमाणुः षड्विधभेदं भणितं पुद्गलतत्वं जिनेन्द्रेण" इत्यागमेन पारमार्थिकपरमाणुप्रकाशकेन कल्पितपरमाणुवादस्य बाधनात्। परमार्थतो असंबंधपरमाणुवादस्य च परमाणुत्पत्तिसूत्रेण निराकरणात्।

कोई पण्डित कह रहे हैं कि अनन्तपरमाणुओं के तदात्मक पिण्ड होरहे बालू, माणिकरेती, रत्नधूल, आदि किन्ही किन्ही स्कन्धो का ही अबंध होरहा है इस सूत्रोपदेश-अनुसार जो कतिपय परमाणुओं का अबध कहा गया है वह तो नहीं प्रसिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह आक्षेप करना अयुक्त है, क्योकि प्रमाणो से विरोध आता है जगत् मे केवल स्कन्ध ही नही है किन्तु परमाणुयें भी द्रव्य है। देखिये आगम में यों लिखा है "पुढवी जल च छाया चउरिन्द्रिय-विसय कम्म परमाणू। छव्विह भेयं भणियं पोग्गलदव्व जिणवरेहिं" (गोम्मटसार जीवकाण्ड) जिसका छेदन, भेदन या स्थानान्तर में प्रापण होसके वे पृथिवी, पत्थर, वस्त्र आदि वादर वादर स्कन्ध हैं। जिसका छेदन, भेदन, तो नही होसके किन्तु अन्यत्र प्रापण होजाय वह जल, दूध, आदि वादरस्कन्ध हैं। और जिस पिण्ड का छेदन, भेदन, अन्यत्र प्रापण कुछ भी नहीं होय ऐसे नेत्र-ग्राह्य छाया, घाम, आदि पुद्गल पिण्डो को वादर

गुणो का परम प्रकर्ष सिद्ध होजाता है, सूक्ष्मनिगोदिया के ज्ञान मे भी एक नही किन्तु अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद हैं, वे ज्ञान के जघन्य गुण हैं, इसी प्रकार पुद्गलो मे भी स्निग्ध रूक्ष परिमाणों के कतिपय जिन-दृष्ट सख्याते या असख्याते गुण रह जाते है, वे जघन्य गुण हैं, ऐसे जघन्यगुण वाले पुद्गलो का बंध होना निषेधा गया है।

राजवार्त्तिक या श्लोकवार्त्तिक मे यद्यपि जघन्य का अर्थ एक किया गया है, 'एकगुणस्निग्धस्य एकगुणस्निग्धेन वा एकगुणस्य स्निग्धरूक्षस्य वा परेण स्निग्धेन रूक्षेण चैकगुणेन' आदि लिखा गया है। छः वृद्धियों और छ. हानियो अथवा चतुः स्थान-पतित हानि वृद्धियो के भी अनुसार अविभाग-प्रतिच्छेदो की एक संख्या का शेष रह जाना जंचता नही है, जघन्य ज्ञान मे सब से प्रथम उपरला अनन्तवेभाग वृद्धि का स्थान कह रहा है, कि जघन्य ज्ञान भी किसी अपेक्षा एक है, तभी तो उस अवयवी के भाग मान कर अनन्तवा भाग वढाया गया है। उसी प्रकार परमाणु के अनेक जघन्य गुणो को सब से पहिली अवस्था मान कर एक गुण का व्यवहार कर दिया जाता है, विद्वान जन और भी इस पर प्रकाश डालेगे, गम्भीर विचार करगे।

ननु न कदाचिदबंधः परमाणूनां सर्वदा स्कधात्मतयैव पुद्गलानामवस्थितः। बुद्धया परमाणुकल्पनोपपत्तेरविभागपरिच्छेदवदिति कश्चित्त प्रत्याह।

यहां कोई पण्डित स्वपक्ष का अवधारण करता हुआ पूर्वपक्ष उठाता है, कि सूत्रकार ने जो जघन्य गुण वाले परमाणुओं का अबध कहा है, यानी वैसे जघन्य गुणो परमाणुओ का बध नही होता है, सो हमको ठीक नही जचा है, क्योकि परमाणुओं का कदाचित् भी अबध नही होता है, यानी परमाणु सदा बंधे ही रहते है, स्कन्ध स्वरूप-पने करके ही पुद्गलो की सर्वदा अवस्थिति पाई जाती है, जगत् मे किसी को न्यारा न्यारा परमाणु नही दीख रहा है, हम आदि सब को सर्वत्र पिण्ड ही पिण्ड दीखते हैं, हां बुद्धि करके परमाणुओ की कल्पना करना भले ही बन जाय जैसे कि अविभागप्रतिच्छेद कल्पित माने जा रहे है।

अर्थात्-जैनो ने उतने ही लम्बे चौडे बोझ-वाले जैसे नील, नीलतर, नीलतम पदार्थों मे रूप के अन्तस्थल को समझाने के लिये, सौ, पाचसौ, पाच सहस्र, सख्यात, आदि अशो की कल्पना कर ली है, वस्तुत अविभागप्रतिच्छेद कोई न्यारे न्यारे वस्तुभूत टुकडे नही है, जैसे कि वस्त्र मे न्यारे न्यारे सूत आतान वितान अवस्था अनुसार प्रतिभास रहे है, लगड़ा या मालदा आम को मर्यादा का अतिक्रमण नही करने हुये कुछ दिन तक रक्खे रहने देने मे उनमे मिष्टता के अंश बढ जाते हैं, इस क्रिया के अवसर पर आम मे कही बाहर से आकर मिश्री या बक्खर नही मिल जाता है, अथवा मर्यादा से अधिक दिन तक रखे रहने देने से जो मिष्टता कम होजाती है, तब कोई उसमें से रस या बक्खर चू करके टपक नहीं पड़ता है, केवल अन्तरग बहिरग कारणो अनुसार उपज रही आम की पूर्वापर

परिणतियों मे तारतम्य अनुसार मीठेपन के अविभाग प्रतिच्छेद रूप अंशों की कल्पना कर ली जाती है।

किसी पुष्प मे पहिले अल्प गन्ध थी पुनः उसी गंध गुण की उत्तरोत्तर-सुगन्ध पर्याये तीव्र सुगन्ध स्वरूप होगई है यहा भी गध की परिपूर्ण परीक्षा करने के लिये सुगंध परिणामों के अंश गढ लिये जाते हैं, उडद की दाल मे कुछ देर तक भगी रहने से चिकनेपन के अंश बढते हुये कल्पित कर लिये जाते है। विद्यार्थी की परीक्षा लेते हुये पूर्ण उत्तरो के सौ अंश कल्पित कर छात्र की व्युत्पत्ति अनुसार अस्सी, पचास, चालीस आदि लब्धाक दे दिये जाते है, इसी ढग से अविभाग प्रतिच्छेदों की कल्पना समान अखण्ड पुद्गल स्कन्ध मे तिर्यग् अंश कल्पना करते हुये परमाणुओं को गढ़ लिया गया है, वस्तुतः एक भी परमाणु अबध, स्वतंत्र, एकाकी नही है। इस प्रकार कोई एकान्त पिण्ड वादी पण्डित कह रहा है उसके प्रति ग्रन्थकार महाराज समाधान-कारक अगली वार्त्तिक को कहते है।

न जघन्यगुणानां स्याद्बंध इत्युपदेशतः।
पुद्गलानामबन्धस्य प्रसिद्धेरपि संग्रहः ॥ १ ॥

निकृष्ट गुण वाले परमाणुओं का बंध नही होता है, इस प्रकार सूत्रकार महाराज का उपदेश होने से पुद्गलों के अबंध की प्रसिद्धि का भी संग्रह होजाता है। अर्थात्—श्री उमास्वामी महाराज के "न जघन्यगुणाना" इस सूत्र द्वारा अनेक परमाणुओं का नही बधना भी प्रसिद्ध होजाता है युक्तियों से भी कई परमाणुओं का अबन्ध सध जाता है।

स्कंधानामेव केषांचिद्वालुकादीनामबंधोऽस्तु न परमाणूनामित्ययुक्तं, प्रमाणविरोधात्। "पृथिवी सलिलं छाया चतुरिन्द्रियविषयकर्मपरमाणुः षड्विधभेदं भणितं पुद्गलतत्त्वं जिनेन्द्रेण" इत्यागमेन पारमार्थिकपरमाणुप्रकाशकेन कल्पितपरमाणुवादस्य बाधनात्। परमार्थतो असंबंधपरमाणुवादस्य च परमाणूत्पत्तिसूत्रेण निराकरणात्।

कोई पण्डित कह रहे हैं कि अनन्तपरमाणुओं के तदात्मक पिण्ड होरहे बालू, मणिकरेती, रत्नधूल, आदि किन्ही किन्ही स्कन्धो का ही अबंध होरहा है इस सूत्रोपदेश-अनुसार जो कतिपय परमाणुओं का अबध कहा गया है वह तो नही प्रसिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह आक्षेप करना अयुक्त है, क्योंकि प्रमाणो से विरोध आता है जगत् मे केवल स्कन्ध ही नही हैं किन्तु परमाणुयें भी द्रव्य है। देखिये आगम मे यों लिखा है "पुढवी जल च छाया चउरिन्द्रिय-विसय कम्म परमाणू। छव्विह भेयं भणियं पोग्गलदव्व जिणवरेहिं" (गोम्मटसार जीवकाण्ड) जिसका छेदन, भेदन या स्थानान्तर मे प्रापण होसके वे पृथिवी, पत्थर, वस्त्र आदि बादर बादर स्कन्ध हैं। जिसका छेदन, भेदन, तो नही होसके किन्तु अन्यत्र प्रापण होजाय वह जल, दूध, आदि बादरस्कन्ध हैं। और जिस पिण्ड का छेदन, भेदन, अन्यत्र प्रापण कुछ भी नहीं होय ऐसे नेत्र-ग्राह्य छाया, घाम, आदि पुद्गल पिण्डों को बादर

सूक्ष्म कहते है। नेत्रके अतिरिक्त शेप चार वहिरिन्द्रियों के विषय होरहे पुद्गलों को सूक्ष्म स्थूल कहते हैं जैसे जिस कढी या दाल में नीबू का रस पहिले से निचोड दिया है, अथवा इत्र की शीशी में से सुगन्ध आरही है। भगौना मे भरे हुये शीतल जल के साथ थोडा उष्ण जल मिला दिया जाय तथा शब्दो को सुना जाय ऐसे चक्षुः इन्द्रिय के विषय नही होरहे रसवान् गन्धवान्, स्पर्शवान् या पौद्गलिक शब्द इन स्कन्धो को सूक्ष्मस्थूल कहते है। जिस पिण्ड का किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नही होसके वे कार्मणवर्गणा, आहारवर्गणा, कर्म, आदि स्कन्ध तो सूक्ष्म कहे जाते हैं, ये पांच तो स्कन्ध के भेद हुये श्री जिनेन्द्रदेव महाराजो ने पुद्गल द्रव्य का छठा भेद सूक्ष्म सूक्ष्म परमाणुओ का कहा है, यो वास्तविक न्यारी न्यारी परमाणुओं का प्रकाश करने वाले आगम वाक्य करके परमाणुओ के कल्लित मानने वाले वाद की वाधा प्राप्त होजाती है। अर्थात्—सिद्धान्त ग्रन्थो मे परमाणुओ को वस्तुभूत स्वतन्त्र साधा गया है, यदि परमाणुये ही कल्पित होगी तो उनकी भीत पर रचा गया स्कन्ध ततोपि अधिक कल्पित होगा, कल्पित ईंटो का घर वस्तुभूत नही है।

श्री विद्यानन्द स्वामी, श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के ग्रन्थो का प्रमाण दे सकते है या नही ? इसमे आगे पीछे कौन हुये है यह सब इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला अन्वेषण है, प्रचलित प्रणाली अनुसार देशभाषाकार मै ने प्राकृत गाथा अनुसार सस्कृत आर्याछन्द का सादृश्य होने से गोम्मटसार के वाक्य का उल्लेख कर दिया है,हा धवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थ तो अधिक प्राचीन है श्री गोम्मटसार भी तो उन्ही सिद्धान्त ग्रन्थो के अवलम्ब पर रचे गये है। सम्भव है उक्त आर्या अधिक प्राचीन होय, अतः समीचीन आगम मे कल्पित परमाणुवादका प्रतिविधान होजाता है। एक बात यह भी है कि "भेदादणु" इस परमाणू की उत्पत्ति के सूचक सूत्र करके परमाणुओ के वास्तविक रूप से असम्बन्ध होजाने के पक्ष-परिग्रह का निराकरण कर दिया जाता है यानी सूत्र पुकार कर परमाणु की उत्पत्ति को बखान रहा है तो फिर अखण्ड स्कन्धका आग्रह करते हुये परमाणुओं को ही स्वीकार नही करना या उनका अबध माने जाना निराकृत होजाता है।

भेदादणुः कल्प्यतं इति क्रियाध्याहारान्नोत्पत्तिः परमाणूनामिति चेन्न, भेदसंघातेभ्य उत्पद्यंत इत्यत्र स्वयमुत्पद्यंत इति क्रियायाः क्रियांतराध्याहारनिवृत्त्यर्थमुपन्यासात् भेदादणुरिति सूत्रस्य नियमार्थत्वात् पूर्वसूत्रेणैव परमाणूत्पत्तेर्विधानात्।

परमाणुओ का सम्बन्ध नही होना मानने वाले वादी कहते हैं कि "भेदादणुः" इस सूत्र का "कल्प्यते" इस क्रियाका अध्याहार कर देने से यह अर्थ—होजाता है कि भेद से अणु की कल्पना कर ली जाती है, अविभागप्रतिच्छेद का दृष्टान्त दिया जा चुका है परमाणुओ की उत्पत्ति तो छेदन भेदन अनुसार नही होती है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि ऊपरले "भेदसघातेभ्य उत्पद्यते" यों इस सूत्र मे सूत्रकार महाराज ने स्वयं कण्ठोक्त उत्पद्यन्ते इस क्रिया को उपात्त किया है, अर्थात्—भेद और संघात तथा भेद संघातो से स्कन्ध या परमाणुयें उपजते हैं यो कल्पना, व्यपदेश,

आदि अन्य क्रियाओं के अध्याहार की निवृत्ति के लिये उपजना इस क्रिया का स्पष्ट शब्दो द्वारा निरूपण किया है। दूसरा " भेदादणुः" भेद से अणु होता है, यह सूत्र तो मात्र नियम करने के लिये ही है परमाणु की उत्पत्ति का विधान तो ' भेदसघातेभ्य उत्पद्यन्ते" इस पहिले सूत्र से ही हो चुका था क्योंकि पूर्व सूत्रोक्त अणूये और स्कन्ध इन सभी पुद्गलो का इस सूत्रद्वारा उपजना कहा है अत "भेद से परमाणू की कल्पना करली जाती है " इस अर्थ का यहा कथमपि अवसर नही है।

चार्वाको ने " पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि " " तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञास्तेभ्यश्चैतन्य " यहा बडी दक्षता से काम लिया है " उत्पद्यते या अभिव्यज्यते " चाहे किसी भी क्रिया का उपस्कार किया जा सकता है ऐसी लोकदक्षता या दम्भ करना हम स्याद्वादियो को अभीष्ट नही है, " स्पष्टवक्ता न वञ्चक. " इस नीतिके अनुसार डके की चोट स्याद्वादसिद्धान्त का हम प्रतिपादन करते है भेद से परमाणूये उपजते है वे समघन चतुरस्र परमाणूये पहिले स्कन्ध अवस्था में बंधे हुये थे। पीछे भी योग्यता मिलने पर बन्ध जाते है। यो परमाणुओ के अबन्ध का एकान्त किये जाना प्रशस्त नही है तथा परमाणुओ को अबन्ध मान कर स्कन्ध का निराकरण करते चले जाना भी ठीक नही है जब की परमाणूओ का बंध होरहा प्रतीत होरहा है, पुद्गलो का बध ही स्कन्ध है।

किं च, विवादापन्नाः स्कंधभेदाः क्वचित्प्रकर्षभाजः प्रकृष्यमाणत्वात् परिमाणवदित्यनुमानबाधितत्वान्न परमाणूनामबंधकल्पना श्रेयसी।

एक बात यह भी है, कि घट के टुकडे, कपाल के टुकडे, कपालिका के टुकडे, ठिकुच्ची छोटी ठिकुच्ची आदि उत्तरोत्तर टुकडे होरहे स्कन्ध के भेद (पक्ष) कही न कही प्रकर्ष अवस्था को धार लेते है. (साध्य) अतिशय होते होते तारतम्य अनुसार उत्तरोत्तर छेदन, भेदन, का प्रकर्ष होना जारहा होने से (हेतु) परिमाण के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-परिमाण बढते बढते जैसे अलोकाकाश मे समाप्त होजाता है और परिमाण घटते घटते परमाणु मे जाकर अन्तिम अटक जाता है, उससे आगे नही चल पाता है, इसी प्रकार स्कन्धका टुकडा होते होते अविभागी परमाणु पर अन्त मे जाकर ठहर जाता है, पहिले परमाणू बंधे थे तभी तो उसके भेदमे टुकडे हुये यो इस उक्त अनुमान से बाधित होजाने के कारण परमाणूओ के अबध की कल्पना करना श्रेष्ठ नही है।

ननु च परमाणूनामबंधसाधने तेषां पुनर्बंधाभावः साकल्येनैकदेशेन बंधस्याघटनादिति चेन्न, सूक्ष्मस्कंधानामपि बंधाभावप्रसंगात्। तेषामपि कार्त्स्न्येन बंधे सूक्ष्मैकस्कंधमात्रपिंडप्रसक्तेः एकदेशेन संबंधे चैकस्कंधदेशस्य स्कंधांतरदेशेन बंधः कार्त्स्न्येनैकदेशेन वा भवेत्? कार्त्स्न्येन चेत्तदेकदेशमात्रप्रसक्तिः,एकदेशेन चेदनवस्था स्यात्, प्रकारांतरेण तद्बन्धे परमाणूनामपि बंधस्तथैव स्यात् स्निग्धरूक्षत्वाद्बंध इति निःप्रतिद्वंद्वस्य बंधस्य साधनात्। ततः सूक्तं न जघन्यगुणानां बंध इति प्रतिषेधवत्पुद्गलानामबंधसिद्धेरपि संग्रह इति।

यहां कोई पण्डित एक और आक्षेप करता है, कि उक्त सूत्र और वार्तिक अनुसार जैनों ने कतिपय परमाणुओं का अबंध सिद्ध कर दिया है, ऐसी दशा मे हमारा कहना है, कि यदि परमाणुओं का बंध नही होता साधा जायेगा तो फिर उन परमाणुओं का कभी बंध हो ही नही सकेगा क्योंकि पहिले बौद्धो की ओर से इस बात की पुष्टि यो की जा चुकी है कि यदि परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ पूर्णरूप से बंध मान लोगे तब तो दो परमाणुओं का द्वयणुक या अनेक परमाणुओं का प्रचय केवल एक परमाणुमात्र होजायेगा। बन्ध होने से कोई लाभ नही निकला, उल्टा परमाणुओं का ही खोज खो गया, हाँ यदि इस दोष के निवारण करने के लिये एक देश से परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ बंध जाना स्वीकार किया जायेगा तो अखण्ड एक निरंश परमाणुएं पहिले से ही कई एक देश मानने पड़ेंगे यो पुनः उन एक देशोके साथ परमाणु का संसर्ग मानने पर अनेक दोष आते है परमाणु की निरंशता और अखण्डता भी मर जायेगी अतः परमाणु का अन्य परमाणुओं के साथ सकलपने या एकदेश करके बंध जाना घटित नही हुआ।

ग्रन्थकार कहते है, कि यह तो नही कहना क्योंकि यो तो इसी प्रकार सूक्ष्मस्कन्धो के भी बंध जाने के अभाव का प्रसंग आजावेगा उन सूक्ष्म स्कन्धो का भी परस्पर परिपूर्ण रूप से बंध होना मानने पर कई सूक्ष्म स्कन्धो का मिल कर भी केवल एक सूक्ष्म स्कन्ध बराबर ही पिण्ड होजाने का प्रसंग आजावेगा सर्वाङ्ग बंध होजाने पर एक परमाणु बराबर या प्रदेशमात्र भी क्षेत्र की वृद्धि नही होपाती है, और सूक्ष्म स्कन्धो का परस्पर एक देश से सम्बन्ध स्वीकार करने पर तो उस सूक्ष्म स्कन्ध का अपने एक एक देशो के साथ पुनः एक देश या पूर्ण देश से सम्बन्ध मानने पर अनवस्था या छोटा एकदेश मात्र ही हो जाने का प्रसंग ये दोष आते है। देखिये स्कन्ध के एकदेश का स्कन्ध का अन्य देश के साथ क्या परिपूर्णता से बंध होगा ? अथवा क्या एक-देशेन होगा ? बताओ पूर्णरूप से बंध मानने पर उस सूक्ष्म स्कन्ध का अपने एक छोटे से देश बराबर होजाने का प्रसंग आता है, हां एक-देशेन बंध मानोगे तब तो पुनः अन्य एक एक देशो की कल्पना करना बढता चला जाने से अनवस्था दोष आजायेगा यदि सम्पूर्णपने और एकदेश-पने इनसे न्यारे किसी अन्य प्रकार करके उन सूक्ष्म स्कन्धो का बंध माना जायेगा तब तो परमाणुओं का भी तथैव उस तीसरे प्रकार करके ही बंध होजाओ अतः स्निग्धपन और रूक्षपन इस तीसरे प्रकार से परमाणु का बंध होजाना मान लिया जाय यो प्रतिपक्ष से रहित होकर परमाणुओं के बंध की निराबाध सिद्धि कर दी जाती है।

अब कोई प्रतिवादी प्रतिकूल द्वन्द्वयुद्ध करने के लिये सन्मुख खडा नही रहता है, तिस कारण से सूत्रकार ने यह बहुत अच्छा कहा है, कि जघन्य गुण वाले परमाणुओं का बंध नही होता है, गम्भीर विद्वानों के वचन अपरिमित अर्थ को लिये हुये रहते हैं, अतः कतिपय परमाणुओं के निषेध के समान उसी सूत्र करके कुछ पुद्गलो के बंध नही होने की सिद्धि का भी संग्रह होजाता है, अथवा "न जघन्यगुणानां" इस उपदेश से कतिपय पुद्गलो के अबंध बने रहने की प्रसिद्धि का भी संग्रह होजाता है,

यों पंक्ति शुद्ध कर ली जाय जो कि वार्तिक में कहा गया है।

येषां परमाणूनां बंधस्तेषां बन्ध एव सर्वदा, येषां त्वबंधस्तेषामबंध एवेत्येकांतोप्यनेनापास्तः। केषांचिदबधानामपि कदाचिद्बंधदर्शनाद्बंधवतां चाऽबंधप्रतीतेर्बाधकाभावात् परमाणुष्वपि तन्नियमानुपपत्तेः।

कोई एकान्तवादी पण्डित यो कह रहा है, कि जगत् मे जिन परमाणुओ का बंध है, उनका सदा बंध ही है, और जिन परमाणुओ का बंध नही होता है, उनका सदा अबंध ही रहता है, आचार्य कहते हैं, कि यह एकान्त भी इस उक्त कथन करके निराकृत कर दिया गया है, क्योंकि कारण नही मिलने पर पहिले बंधको नही प्राप्त होचुके भी किन्हीं किन्ही परमाणुओं का कदाचित् अब बंध होरहा देखा जाता है, और बंधवाले परमाणुओ का भी भेदक कारण उपस्थित होजाने पर और पुनः द्व्यधिक गुण सहितपन की योग्यता नही मिलने पर अबंध अवस्था मे पडे रहना प्रतीत होरहा है, इन प्रतीतिओ का कोई बाधक प्रमाण नही है. जब नित्य निगोदिया जीव भी निकलकर व्यवहार राशि मे आजाता है, सूर्य विम्व, चन्द्रमण्डल, सुमेरु, अकृत्रिम चैत्यालय, आदि-अनादि कालीन, पुद्गल पिण्डो मे से अनेक परमाणुये निकलती, मिलती रहती है, कितनी ही अनादि काल की परमाणुयें आज कारण मिल जाने पर बंध को प्राप्त होजाती है, अनन्त वर्षो से स्कन्ध मे प्राप्त होरही परमाणुयें आज असंख्य वर्षों के लिये स्कन्ध से अपना पिण्ड छुड़ा बैठती है। अतः स्कन्ध मे जैसे केवल स्कन्ध ही बने रहने का कोई नियम नहीं बनता है उसी प्रकार परमाणुओ मे भी उस बंध दशा ही बने रहने या किन्ही में अबन्ध अवस्था ही बने रहने का नियम कर देना नही बन पाता है। यहा तक यह तात्पर्य निकलता है कि जघन्य स्निग्ध गुणवाले और जघन्य रूक्ष गुण वाले परमाणुओ को छोड़ कर अन्य स्निग्ध परमाणुओ और रूक्षगुणवाली परमाणुओ का परस्पर मे बंध होजाता है।

अब ऐसी दशा मे सामान्य रूप से परमाणुओ के बंध जाने का प्रसंग आजावेगा यानी दश गुण स्निग्ध वाले परमाणु का दूसरी दश स्निग्ध गुण वाली परमाणु के साथ बंध जाना बन बैठेगा जो कि इष्ट नही है अतः इस प्रसग का प्रतिषेध समझाने के लिये श्री उमास्वामी महाराज को यह अग्रिम सूत्र भी रचना पड़ा है।

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३६ ॥

जिनके भाग तुल्य है ऐसे ऐसे परमाणुओ के गुणों की समानता होनेपर सदृश या विसदृश परमाणुओं का बंध नहीं होपाता है. हा गुणो की विषमता होने पर तो सदृश या विसदृश परमाणुओं का मिथः बंध होजाता है।

गुणवैषम्ये बंधप्रतिपत्त्यर्थं सदृशग्रहणं। सदृशानां स्निग्धगुणानां परस्परं रूक्षगुणानां वान्योन्यं भागसाम्ये बन्धस्य प्रतिषेधात्।

गुणो की विषमता होने पर बध होजावे इसकी प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्र मे सदृश शब्द का ग्रहण है, सदृश स्निग्ध गुणवाले परमाणुओ के परस्पर मे अथवा रूक्ष गुण वाले सदृशपरमाणुओ के परस्पर मे भागो की समता होजाने पर इस सूत्र द्वारा बध का निषेध किया गया है। अर्थात्—दो स्निग्ध गुणो को धारने वाले परमाणु का दो रूक्ष गुणो का धारने वाले परमाणु के साथ और दो गुण स्निग्धवाले परमाणु का दो रूक्ष गुण वाले परमाणु के साथ बध नही होता है क्योकि इनमे गुणकार यानी भाग की समानता है।

नन्वेवं विसदृशानां गुणसाम्ये बंधप्रतिषेधो न स्यादिति न मन्तव्यं, सदृशग्रहणस्य विसदृशव्यवच्छेदार्थत्वाभावात् सदृशानामेवेत्यवधारणानाश्रयणात् । गुणसाम्ये वेति सूत्रोपदेशे हि सदृशानां गुणवैषम्येपि बंधप्रतिषेधप्रसक्तौ तद्व्यवच्छित्त्यर्थं सदृशग्रहणं कृतं तेन स्निग्धरूक्ष-जात्या साम्येपि गुणवैषम्ये बंधसिद्धिः ।

यहा कोई आक्षेप करता है कि इस प्रकार सदृश ही परमाणुओ के गुण साम्य होने पर बध का निषेध किया जायेगा तब तो विसदृश परमाणुओ का गुण-साम्य होने पर बध का प्रतिषेध नही होसकेगा किन्तु सिद्धान्त मे गुण-साम्य होने पर स्निग्ध रूक्ष या रूक्ष स्निग्ध इन विसदृश परमाणुओ का भी बंध निषेधा गया है। तीन रूक्ष गुणो के धारी परमाणुका तीन स्निग्ध गुणो के धारी परमाणु के साथ बध नही माना गया है जसे कि चार स्निग्ध गुण वाले परमाणु का चार स्निग्ध वाले दूसरे परमाणु के साथ बध जाना नही स्वीकार किया गया है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही मानना चाहिये क्योकि सदृश पद का ग्रहण सूत्र मे विसदृश का व्यवच्छेद करने के लिये नही है। " सदृशाना एव " सदृशो का ही बध नही होसक ऐसे अवधारण का आश्रय भी नही किया गया है। जिससे कि सम-गुण विसदृशो का बन्ध होजाय, अत. विसदृशो का भी गुण-साम्य होने पर बध होना निषेधा जाता है।

यदि सदृश और विसदृश दोनो का ग्रहण करने के लिये केवल ' गुण-साम्ये वा " गुणो के समान होने पर किसी भी सदृश या विसदृश का बन्ध नही होपाता है, यो सूत्र का उपदेश किया जाता तब तो सदृश परमाणुओ का गुणो के वैषम्य होने पर भी उन सम गुण वालो के समान बन्ध के निषेध का प्रसंग प्राप्त होजाता, ऐसी दशा मे उन विषम गुण वालो के बध की सिद्धि करने के लिये सूत्र में सदृश शब्द का ग्रहण किया गया है। उस सदृश शब्द करके स्निग्ध जाति या रूक्ष जाति के द्वारा समानता होने पर भी यदि गुणो की विषमता होय तो उन परमाणुओ के बध जाने की सिद्धि होजाती है। अर्थात्—गुणो के वैषम्य होनेपर सदृशो का बंध हो ही जाता है, यह बात सदृश पद देने पर ही निकलती है, नान्यथा।

किमर्थमिदं सूत्रमब्रवीदित्याह ।

कोई जिज्ञासु पूछता है कि इस " गुणसाम्ये सदृशाना " सूत्र को किस प्रयोजन की सिद्धि के लिये श्री उमास्वामी महाराज ने कहा था ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार (हम ही तो) इस अगली वार्त्तिक को कहते है ।

अजघन्यगुणानां तत्प्रसक्तावविशेषतः ।
गुणसाम्ये समानानां न बंध इति चाब्रवीत् ॥ १ ॥

पूर्व सूत्र द्वारा जघन्य गुणो से रहित होरहे परमाणुओ का विशेषता रहित होकर उस बध होने का प्रसंग प्राप्त होजाने की अवस्था उपस्थित होजाने पर श्री उमास्वामी महाराज " गुणसाम्ये सदृशाना " गुणो की समानता होने पर सदृशपरमाणुओं का बध नही होता है यो इस सूत्र को कहते भये । अर्थात्—कभी कभी छोटे पदार्थ का निषेध करते हुये उससे बड़े पदार्थ का विधान स्वतः प्राप्त होजाता है । अतः उस अनिष्ट का निषेध करने के लिये पुन. कण्ठोक्त दूसरा निषेध करना पडता है जैसे कि तुच्छफल के भक्षण का निषेध कर देने पर स्वार्थी पुरुष महाफल का भक्षण करना विहित समझ लेते है, अतः महाफल के भक्षण का भी कण्ठोक्त निषेध करना पडता है। रात्रि मे जल नही पीना चाहिये इसका अर्थ रात्रि मे अन्न दू ।. फल, खा लिया जाय और पानी पिये कुल्ला किये विना ही सो जाय, यह नही है । तथा सूक्ष्म चोरी का निषेध छठे गुणस्थान मे है एतावता कोई विरत मुनि स्थूल चोरी नही कर सकता है । अतः परमाणुओ के गुण-साम्य अवस्था मे बध का निषेध करना सूत्रकार महाराज का स्तुत्य प्रयत्न है ।

केषां पुनर्बंधः स्यादित्याह ।

अगले सूत्रके लिये अवतरण यो है,कि यो तो बधके एक विधायक और दो निषेधक सूत्रो करके विषम भाग वाले तुल्य-जातीय अथवा अतुल्य-जातीय पुद्गलो का किसी भी नियम के बिना ही बध जाने का प्रसग प्राप्त हुआ । दस स्निग्ध गुण वाले परमाणु का बीस गुण स्निग्ध वाले पुद्गल के साथ या चालीस गुण रूक्ष वाले के साथ भी बध हो जावेगा, जो कि इष्ट नही है, अतः बताओ फिर कैसे किन परमाणुओ का बंध होसकेगा ? इस प्रतिपित्सा का समाधान करते हुये सूत्रकार अग्रिम सूत्र को प्रव्यक्त कहते है ।

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३७ ॥

तुल्य जाति वाले या अतुल्य जाति वाले जो पुद्गल परस्पर मे स्निग्ध या रूक्ष पर्यायो में दो अधिक अविभाग प्रतिच्छेदों को धारते हैं, उनका तो बन्ध होजाता है अर्थात् तु शब्द करके 'न जघन्य-गुणाना, सूत्र से चले आ रहे प्रतिषेध की व्यावृत्ति कर दी जाती है, और 'स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः' सूत्र से

आरहे बंध होने का कथन कर दिया जाता है, अतः दो स्निग्ध गुण या दो रूक्ष गुण वाले परमाणु का एक गुण दो गुण या तीन गुण के धारी स्निग्ध अथवा रूक्ष परमाणु के साथ बंध नही होगा। हाँ चार गुण स्निग्ध वाले या चार गुण रूक्ष वाले अन्य परमाणु के साथ तो उसका बंध अवश्य हो जायेगा किन्तु उसी दो गुण स्निग्ध या दो गुण रूक्ष के धारी पुद्गल का फिर पाच, छः, सात, आठ, संख्यात असंख्यात. या अनन्त, स्निग्ध रूक्ष गुणो के धारी दूसरे परमाणु के साथ बंध नही होसकता है, इसी प्रकार तीन गुण रूक्ष या स्निग्धके धारी परमाणु का पाँच गुणधारी स्निग्ध या रूक्ष पुद्गल के साथ बंध होजायेगा किन्तु शेष पहिले पिछले गुणो के धारी परमाणु के साथ बंध नही होगा इसी प्रकार शेष परमाणुओ मे भी द्वयधिकता की व्यवस्था ओड ली जाय, जघन्य गुणो को छोड कर शेष सजातीय, विजातीय, परमाणुओ के स्निग्ध रूक्ष गुणो के अविभाग प्रतिच्छेदो में द्वयधिकता का प्रकरण मिल जाने पर बंध होजाता है।

द्वयधिकश्चतुर्गुणः। कथ? एकगुणस्य केनचिद्बधप्रतिषेधाद्द्विगुणस्य बंधसंभवा-त्ततोद्वयधिकस्य चतुर्गुणत्वोपपत्तेः। प्रकारवाचिनादिग्रहणे। पंचगुणादिपरिग्रहः त्रिगुणादीनां बंधे पंचगुणादीनां द्वयधिकतोपपत्तेः। एवं च तुल्यजातीयानां विजातीयानां च द्वयधिकादि गुणानां बंध सिद्धो भवति। तु शब्दस्य प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थत्वात्। तथाहि—

द्वयधिक शब्द का अर्थ चार भाग वाला है, सो किस प्रकार है? उसको यो समझा कि एक गुण वाले परमाणु का तो किसी के साथ बंध होता ही नही है क्योकि 'न जघन्यगुणानां' से निषेध कर दिया गया है, हा दो गुण वाले परमाणु का बंध जाना सम्भव होता है, अत उस दो गुण वाले से जो इस सूत्र अनुसार दो अधिक गुण वाला अन्य परमाणु होगा उसका चार गुण सहितपना बन जाता है, तीन गुण वाले का पाच गुण वाले के साथ बंध जाने के योग्य द्वयधिकता है।

आदि शब्द का अर्थ यहाँ प्रभृति कर देने से द्वयधिक, त्र्यधिक, चतुरधिक, द्वारा यो सिद्धान्त मे विरोध आजाता, भले ही 'तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि' का आश्रय कर द्वयधिक का भी संग्रह कर लिया जा सकता था तथापि सिद्धान्त के अविरोध अनुसार आदि शब्द को प्रकार अर्थ का वाचक मान लिया जाय सूत्र मे प्रकार अर्थ को कहने वाले आदि शब्द का ग्रहण कर देने से पाच गुण, छ. गुण सात भाग, आठ भाग, आदि के धारी परमाणुओ का भी परिग्रह होजाता है, तीन गुण वाले चार गुण वाले आदि परमाणु का बंध होजाना मान लेने पर पाच गुण, छ गुण, आदि के धारी परमाणुओ की द्वयधिकता पुष्ट बन जाती है, तथा इसी प्रकार तुल्य-जाति वाले और विभिन्न जाति वाले परमाणुओं की द्वयधिक गुणवाली अवस्था होजाने पर उनका बंध जाना सिद्ध होजाता है, इस सूत्र मे तु शब्द को 'न जघन्यगुणानां' से चले आरहे निषेध की निवृत्ति के लिये युक्त किया गया है, उसी बात को ग्रन्थकार अगली वार्तिक द्वारा पुष्ट करते हैं।

द्वयधिकादिगुणानां तु बंधोस्तीति निवेदयन् ।
सर्वापवादनिर्मुक्तविषयस्याह संभवम् ॥ १ ॥

'द्वयधिकादिगुणाना तु' इस सूत्र द्वारा दो अधिक गुणवाले परमाणुओ का तो बंध होजाता है, यो निवेदन करते हुये सूत्रकार महाराज सम्पूर्ण अपवादो से सर्वथा रहित होरहे बंध विषय के सम्भवने को कह रहे है । अर्थात्–'स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः' यह उत्सर्ग सूत्र है,उसके पीछे 'न जघन्यगुणाना 'गुणसाम्ये सदृशाना' ये अपवाद सूत्र है, 'द्वयधिकादिगुणाना तु' यह अपवादो से रहित होता हुआ बंध विषय के निर्णीत सिद्धान्त को कहने वाला सूत्र है ।

उक्तं च । 'णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण । णिद्धस्स लुक्खेण उ एइ बंधो, जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥' विषमोऽतुल्यजातीयः समः सजातीयो न पुनः समानभाग इति व्याख्यानान्न समगुणयोर्बंधप्रसिद्धिः ।

उपरिम सिद्धान्त ग्रन्थो मे कहा भी है, कि स्निग्ध परमाणु का दूसरी दो अधिक स्निग्ध गुणवाली परमाणु के साथ बंध होजाता है, और रूखे गुण वाली परमाणु का अन्य दो अधिक रूखे गुण वाली परमाणु के साथ बंध होजावेगा । तथा स्निग्ध परमाणु का दो गुण अधिक रूक्ष वाली द्वितीय परमाणु के साथ बंधना होजायेगा, रूखे का भी द्वयधिक स्निग्ध के साथ बंधजाना सम्भवता है । हाँ परमाणु की जघन्य गुण वाली अवस्था को छोड दिया जाय । अन्य सभी सम अथवा विषम गुण-धाराओ मे बंध होजाना अनिवार्य है । विषम का अर्थ यहा अतुल्य जाति वाला है, और सम का अर्थ समान-जाति वाला है । अर्थात् स्निग्ध का स्निग्ध और रूक्ष का रूक्ष तुल्य जातीय है, किन्तु स्निग्ध का रूक्ष और रूक्ष का स्निग्ध परमाणु तो अतुल्य-जातीय है, अत विषम के समान सम यानी सजातीय परमाणुओ मे भी बंध का विधान कर दिया गया है, सम का अर्थ फिर समान भाग वाला नही है, यो व्याख्यान कर देने से 'गुणसाम्ये सदृशाना' इस सूत्र अनुसार समान गुण वाले परमाणुओ के बंध जाने की प्रसिद्धि नही होसकी ।

व्यवहार मे भी दो, चार, छह, आठ, दस, आदि दो के ऊपर दो दो अंको की अधिकता होते सन्ते सम संख्या यानी पूरा को समधारा कहते हैं, और एक के ऊपर दो दो की वृद्धि होने पर तीन, पाच, सात, इत्यादि ऊनी संख्या मे पडे हुये अंको को विषमधारा कहते है, जघन्य गुणो की अवस्था को छोड कर दोनो धाराओ मे पडे हुये चाहे किन्ही भी अविभाग प्रतिच्छेदों के धारी दो गुण अधिक वाले पुद्गलो का बंध होजाना प्रसिद्ध कर दिया गया है, शेष आगे पीछे के गुणो को धार रहे पुद्गलो का नही ।

कुतः पुनर्द्वावेव गुणावधिकौ सजातीयस्य विजातीयस्य वा परस्य बंधहेतुतां प्रतिपद्येते नान्यथेत्याह ।

यहां किसी विनीत शिष्य की सूत्रकार महाराज के प्रति जिज्ञासा है, कि क्या कारण है ? जिससे फिर दो ही गुण अधिक बेचारे भला उन सजातीय अथवा विजातीय परमाणुओं का दूसरे परमाणु के साथ बंध होजाने के कारणपने को प्राप्त होरहे हैं, अन्यथा यानी अन्य प्रकार समगुणता, त्र्यधिकगुणता, या चार गुणो से अधिक गुण-सहितपना, आदि उस बंध का कारण नहीं माने गये है, अतः बताओ कि इन अन्य प्रकारो से क्यों नही बंध की हेतुता व्यवस्थित कर दी जाय अर्थात् द्व्यधिक गुणो पर क्यों बल डाला जाता है ? सम-गुणों का ही बंध क्यो नही होजाय ?, नीति तो यों कहती है, कि 'ययोरेव सम वित्तं ययोरेव समं कुलं। तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः' ऐसी बुभुत्सा जागृत होने पर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३८ ॥

बंध होजाने पर अधिक होरहे दो गुण दूसरे परमाणु के द्विहीन गुणो को स्वायत्त कर परिणाम करा देने वाले होजाते है। जैसे कि गीला गुड चून को या पड गई धूल को अपने अधीन मधुर रस वाला करता हुआ स्वकीय गुणो का आपादन करने से परिणाम कराने वाला होजाता है इसी प्रकार अन्य भी अधिक गुण वाला परमाणु दूसरे द्विभाग न्यून परमाणु को द्व्यणुक अवस्था मे स्वकीय रूखे या चिकने अविभागप्रतिच्छेदो के अनुरूप कर लेता है, अत बंध मे अधिक गुणों को दूसरे के गुणो का पारिणामिकत्व साधने के लिये बंधने का बीज द्व्यधिकता को बताया गया है।

यस्मादिति शेषः। प्रकृतत्वाद्गुणसंप्रत्ययः। क, प्रकृतौ गुणौ द्व्यधिकादिगुणानां त्वित्यत्र समासे गुणीभूतस्यापि गुणशब्दस्यानुवर्तनमिह सामर्थ्यात्, तदन्यस्यानुवर्तनासंभवात्। गुणाविति विभक्तिसंबंधोर्थवशाद्विभक्तिवचनयोः परिणामात् भावांतरापादकौ पारिणामिकौ, रेणो क्लिन्नगुणवत्। तथाहि।

इस सूत्र मे 'यस्मात्, इस पद को शेष समझ कर उपस्कार करते हुये यो अर्थ समझ लिया जाय कि जिस कारण मे बंध होजाने पर एक के दो अधिक गुण दूसरे के दो न्यून गुणो का स्वानुकूल परिणमन करा देते है, तिस कारण दो अधिक गुण वालो का बंध होजाना समुचित है, यों उक्त दोनों सूत्रों का प्रतिज्ञावाक्य बन गया। प्रकरण मे प्राप्त होरहा होने से गुण की भले ही प्रकार प्रतीति होजाती है, यानी " बंधे सति अधिकौ गुणौ पारिणामिकौ भवतः " यह वाक्य बनजाता है।

यदि कोई पूंछे कि द्विवचनान्त 'गुणौ' यह पद भला प्रकरणप्राप्त कहा होरहा है ? बताओ इसका उत्तर यह है, कि 'द्व्यधिकादिगुणानां तु' यों इस सूत्र में यद्यपि गुण शब्द बेचारा बहुव्रीहि समास में गौण होचुका है, 'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा निवृत्तिः सह वा प्रवृत्तिः' इस नियम अनुसार केवल गुण शब्द का निकाल लेना उसी प्रकार कठिन है, जैसे कि किसी अंगी मे से एक अङ्ग को निकाल लेना या रसीले पदार्थ से रस का निकाल लेना दुष्कर है, तथापि समास-वृत्ति मे उपसर्जनी-

भूत होचुके भी गुण शब्द की यहां अर्थ की सामर्थ्य से अनुवृत्ति कर ली जाती है, उस गुण शब्द से अन्य होरहे द्वि, अधिक आदि इन अप्रयोजनीभूत शब्दो की अनुवृत्ति करना यहा नही सम्भवता है, अतः 'गुणौ' इस द्विवचनान्त पदका ही यहा सूत्रमे दोनो ओर से सम्बन्ध कर लेना युक्त है। 'अर्थवशाद् विभक्तिवचनविपरिणाम' अर्थ के वश से विभक्ति और वचन का परिवर्तन कर दिया जाता है, अत. षष्ठी बहुवचनान्त 'गुणाना' इस पद को यहा प्रथमा द्विवचनान्त 'गुणौ' इस स्वरूप से परिणत कर दिया गया है, पारिणामिक का अर्थ प्रकृत भाव से अन्य भावो मे प्राप्ति करा देना है, जैसे कि मधुर रस वाला गीला गुड यहा वहा से उड कर पड गये रेत, धूल, आदि की अपने मधुर रस अनुसार परिणति करा देना है।

यद्यपि गुड मे धूलि कणों के मिल जाने पर उतना मीठापन नही रहता है, सूक्ष्म-दृष्टि पुरुषो से यह बात छिपी नही है, फिर भी उस धूलि का रस गुड मे मिल जाने से परिवर्तित होगया है, यह निःसन्देह मानना पडता है, एक कडवे बादाम ने भले ही पाच सेर ठंडाई को बिगाड दिया है, फिर भी अधिक मीठी ठडाई ने इधर कडवे बादाम को मीठा होजाने के लिये भी बाध्य कर दिया है, हा यदि कटु बादाम उसमे नही गिरता तो ठडाई और भी अधिक मीठी होजाती। यहा इतना ही कहना है, कि ठंठाई ने बादाम को मीठा किया किन्तु एक कटु बादाम ने मीठी ठंडाई को कडुआ नही कर दिया है, अत गीला गुड जैसे रेणुओ का स्वकीय रस अनुसार पारिणामिक है,उसी प्रकार बध होजाने पर अधिक गुण उस दूसरे के गुणो को अन्य भावो अनुसार आपादन करते हुये पारिणामिक होरहे है, इसी सिद्धान्त को अग्रिम वार्तिक द्वारा और भी स्पष्ट करके ग्रन्थकार दिखाते है।

बन्धेधिकौ गुणौ यस्मादन्येषां पारिणामिकौ।
दृष्टौ सक्तुजलादीनां नान्यथेत्यत्र युक्तिवाक्॥ १॥

जिस कारण कि बन्ध हो जाने पर अधिक गुण उन बन्ध रहे अन्य द्रव्यों को स्वकीय गुणानुरूप परिणमन करा देने वाले देखे गये है। जैसे कि सतुआ जल या पानी चूरा, अथवा दूध मिश्री आदि पदार्थों का बन्ध होजाने पर अधिक गुण वाला द्रव्य अन्य न्यून गुण वाले का स्वानुरूप परिणाम कर लेता है, अन्य प्रकारो से कोई व्यवस्था नही होपाती है। अतः यो इस सूत्र मे यह अनुमान बनाते हुये युक्ति-वाक्य प्रतीत होरहा है। अर्थात्—व्यवहार मे भी द्रव्यवान् पुरुष दरिद्रो को, उद्भट पण्डित जिज्ञासुओं को, प्रकाण्ड वक्ता श्रोताओ को, चतुर नारी पति को, गुरु चेला को, अपने अनुकूल कर ही लेते हैं। रिक्त पदार्थ पूर्ण के अधीन होजाता है, पुत्र-रहित महारानी भी बच्चो वाली पिसनहारी की ओर टकटकी लगाती हुई देखती रहती है,विचारती है कि भले ही मैं निर्धन होती किन्तु बच्चो वाली होती। बच्चों को अपनी आखोंमें बैठाये रखती। सच्चरित्र और सिद्धान्त न्यायवेत्ता विद्वान् के मुख की ओर सैकडों धनाढ्य मुंह बाये खड़े रहते हैं, गुणी पुरुष का अल्पगुणी पुरुष पर बड़ा भारी प्रभाव

पडता है। तिस कारण " बन्धेधिकौ पारिणामिकौ " उचित है। इस सूत्र मे च शब्द लगाने की कोई आवश्यकता नही दीखती है।

यथैव हि रूक्षाणां सक्तूनां स्निग्धा जलकणास्ततो द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिकाः पिंडात्मतया पारिणामिका दृश्यंते नान्यथा। तथैव परमाणोर्द्विगुणस्य चतुर्गुणः परमाणुः पारिणामिकः स्यादन्यथा द्वयोः परमाण्वोरन्योन्यमविविक्तरूपद्वयणुकस्कंधपरिणामायोगात् संयोगमात्रप्रसक्तेः परस्परविवेकप्रसक्तेस्तदनन्वयत्वं।

इस यथा का अगले तथा शब्द के साथ अन्वय कर लेना चाहिये जब कि जिस ही प्रकार रूखे सतुआओ को चिकने जल के कण उन सतुआओ मे दो गुण करके अधिक होरहे सन्ते पिण्ड स्वरूप करके परिणाम कराते हुये देखे जाते है। अन्य प्रकारो से नही देखे जाते है। अर्थात्—अधिक चिकनाई को धार रहा जल ही रूक्ष प्रकृतिके सतुआओं का चिकना पिण्ड बाध देता है। एक सेर सतुआओ मे दो चार बूद पानी तो सूख कर सतुआओ के रूखेपन मे अपना खोज खो देवेगा सतुआ खाने वाले तभी तो अधिक पानी मे सतुआओ की पिण्डी बनाते हुये स्वादु रसायन सिद्ध कर लेते है।

तिस ही प्रकार दो गुण वाले परमाणु का चार गुण वाला परमाणु बन्ध कर स्वानुरूप परिणमन करा देती मानी जायेगी अन्यथा यानी दूसरे अधिक गुण वाले के अनुरूप परिणमन नही माना जाकर यदि अपने अपने पूर्वोपात्त गुणो अनुसार ही परिणति बने रहना माना जायेगा तब तो दोनो परमाणुओ की परस्पर मे अपृथक् भूत स्वरूप होरहे द्वयणुक स्कध नामक परिणति होजाने का अयोग होजावेगा, दो परमाणुओ का केवल सयोगमात्र ही होजानेका प्रसग आवेगा जोकि अवयवो को मानने वाले जैन, नैयायिक, वैशेषिक किसी के यहा इष्ट नही किया गया है। अपने अपने गुणो को धार रही परमाणुयें पृथक् पृथक् पडी रहेगी तो दोनो की अपृथक् अवस्था रूप द्वयणुक स्कन्ध भला कहा बना। बौद्धो का सा अत्यासन्न असंसृष्ट स्पर्शमात्र माने रहो ऐसी दशा मे परमाणुओ का परस्पर पृथग्भाव बने रहने का ही प्रसग आया, अतः उन परमाणुओ का अन्योन्य हृदय नही मिलने से अनन्वय सहितपना होगया यानी एक परमाणु के साथ दूसरे परमाणु का अन्वय नही बन सका। अन्वय के विना अवयवी स्कन्ध की सिद्धि कथमपि नही होसकती है। नदी मे जल की धाराये जैसे जलमे अन्वित होरही है उसी प्रकार अवयवी में अवयवो का एक रस होरहा है।

न च विभागसंयोगाभ्यामन्यपरिणामः प्राप्तिरूपो न संभवतीति युक्तं वक्तुं, तृतीयस्यावस्थाविशेषस्य स्कंधैकत्वप्रत्ययहेतोः सद्भावात्। शुक्लपीतद्रव्ययोः परिणामे शुक्लपीतवर्णपरिणामवत् क्लिन्नगुडानुप्रवेशे रेणवादीनां मधुररसपरिणामवद्वा।

यदि कोई यों कहे कि मिलकर भी परमाणुओं का संयोग ही बना रह सकता है नित्य परमाणुयें अपने स्वरूप को छोड़ नही सकती हैं और न्यारी न्यारी पड़ी हुई परमाणुओं मे केवल विभाग

होरहा है अथवा पूर्व स्थान से विभाग करती हुई परमाणु चुपट कर यहा दूसरे परमाणु के निकट ठिठक गई है, अत. संयोग विभागों से कोई निराला परिणाम बन्ध स्वरूप प्राप्त होजाना नही सम्भवता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तुम नही कह सकते हो इन अनुचित वचनो मे कोई युक्ति नहीं है जब कि विभाग और संयोग मे निराली तीसरी विशेष अवस्था का सद्भाव पाया जाता है जो कि तीसरी अवस्था उनके बन्ध जाने पर स्कन्ध पिण्ड मे एकत्व के ज्ञान कराने का हेतु होरही है "अनेकपदार्थानामेकत्वबुद्धिजनकसम्बन्धविशेषो बन्धः" परमाणुओं के संयोग और विभाग से तीसरी अवस्था बन्ध है जैसे कि शुक्ल द्रव्य और पीत द्रव्य का बन्ध परिणाम होजाने पर एक युक्त होरहा पीत वर्ण परिणाम वाला पदार्थ उपज जाता है। पीले रग वाले जल मे सफेद कपडे को डुबा देने पर न्यारा ही वर्ण वाला पदार्थ दृष्टिगोचर होजाता है दूध मे हल्दी या केसर डाल देने से विलक्षण रग आजाता है अथवा गीले लपटा गुड मे धूल, चून, आदि का पीछे प्रवेश होजाने पर जैसे धूल आदि की मधुर रसवाली पर्याय उपज बैठती है, उसी प्रकार परमाणुओ की बन्ध अवस्था निराली ही है।

नन्वत्रापि द्वावेव गुणावधिकौ पारिणामिकाविति कुतः प्रतिपत्तिः ? सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणादागमाद्विशेषतस्तत्प्रतिपत्तिः। एवं ह्युक्तमार्षेन्त्यवर्गणायां बन्धविधाने नोआगमद्रव्यबन्धविकल्पे सादिवैस्रसिकबन्धनिर्देशे प्रोक्तः विषमस्निग्धतायां विषमरूक्षतायां च बन्धः समस्निग्धतायां समरूक्षतायां वा भेद इति। तदनुसारेण सूत्रकारैर्बधव्यवस्थापनात् परमागमसिद्धो बन्धविशेषहेतुद्व्यधिकादिगुणत्वं। द्वयोरेव बाधकयोर्गुणयोः पारिणामिकत्वं।

फिर भी यहा कोई शका करे कि यहा भी दो ही गुण अधिक होरहे भला अन्य बध्यमान को स्वानुरूप परिणमन कराने वाले है ? इसकी किस प्रमाण से प्रतिपत्ति कर ली जाय ? बताओ ग्रन्थकार इसका उत्तर कहते है कि बाधक प्रमाणो के नही सम्भवने का जिसमे बहुत अच्छा निश्चय किया जा चुका है ऐसे सर्वज्ञ आम्नात आगमप्रमाण से विशेषरूप करके उस सूत्रोक्त सिद्धान्त की दृढ प्रतीति होजाती है जब कि सर्वज्ञ की परम्परा से चले आरहे और बुद्धिऋद्धिधारी ऋषियों करके बनाये गये सिद्धान्त आगम ग्रन्थों मे इस प्रकार कहा जा चुका है। अन्तिम वर्गणा के निरूपण अवसर पर बन्ध का विधान करने मे नो आगम द्रव्य बन्ध के भेद का निरूपण करते सन्ते सादि वैस्रसिक बन्ध के कथन मे यो बहुत अच्छा कहा गया है कि विषम स्निग्धता के होने पर और विषम रूक्षता के होने पर तो बन्ध होगा तथा समस्निग्धता के होने पर अथवा समरूक्षता के होने पर भेद (विदारण) होजायेगा।

अर्थात्—स्नेह गुण के अविभागप्रतिच्छेदो की विषम धारा प्राप्त होजानेपर या परमाणु मे रूखेपने के अविभागप्रतिच्छेदो की विषम संख्या प्राप्त होजाने पर परमाणुओं का परस्पर बन्ध होजायेगा तभी तो सूत्रकार ने " द्व्यधिकादिगुणाना तु" लिखा है और उन प्रतिभाग प्रतिच्छेदो की समता होजाने पर बन्ध नही होना बताया है, तदनुसार 'न जघन्यगुणाना' "गुणसाम्ये सदृशाना" ये दो सूत्र कहे है, गुरुपर्वक्रम का अतिक्रमण नही होसकता है, उस आगम के अनुसार से सूत्रकार महाराज करके

बंध की व्यवस्था कराई गई है, अतः द्व्यधिक आदि गुण सहितपना जो विशेषतया बंध का हेतु माना गया है, वह परमोत्कृष्ट सिद्धान्त आगम में प्रसिद्ध है, दो ही अधिक होरहे गुणों को दूसरे के अल्प-गुणो का तादृश परिणाम करा देने की हेतुता प्राप्त है, एक से अधिक या तीन चार से अधिकगुणो को स्वानुरूप परिणाम की कारणता प्राप्त नही है।

सामान्येन तु पुद्गलाना बधहेतुः कश्चिदस्ति कात्स्न्यैकदेशतो बंधासंभवेपि बंधवि-निश्चयात्तत्र बाधकाभावादिति पुद्गलस्कन्धद्रव्यसिद्धिः, तस्यैव रूपादिभिः स्वभावैः परिणत-स्य चक्षुरादिकरणग्राह्यतामापन्नस्य रूपादिव्यवहारगोचरतया व्यवस्थितेः। न हि तथाऽपरिणतं तद्भवत्यतिप्रसंगात, नापि तदेव परिणाममात्रप्रसंगात् न च परिणामिनो सत्वे परिणामः सम्भवति खरविषाणस्य तैक्ष्ण्यादिवत् ।

जगत् मे अनेक प्रकार के स्कन्ध दृष्टि-गोचर होरहे है, अतः सामान्य करके तो पुद्गलो के बध के कारण कोई न कोई माना ही जाता है, भले ही बौद्ध जन यो दोष देते रहे कि एक अवयव का दूसरे अवयव के सम्पूर्ण देशो से बध माना जायेगा तो स्कन्ध के सूक्ष्म एक पिण्ड मात्र होजाने का प्रसंग आजावेगा और एक देश करके बध मानने पर अन्य अन्य भीतरी एक देशो की कल्पना करते-करते अनवस्था होजायगी। आचार्य कह रहे है, कि यो पूर्ण देश और एक देश से बध का असम्भव होजाना बताने पर भी जब बध का विशेष रूप से निश्चय होरहा है, तो उस जैसे भी हो तैसे सामा-न्यत. बध होजाने मे कोई बाधक प्रमाण नही है।

इस प्रकार पुद्गलो के स्कन्धद्रव्य की सिद्धि होजाती है, "साप निकलगया लकीर को पीटते रहो,, यों "गतसर्पघृष्टि-कुट्टन-न्याय" अनुसार पीछे भले ही बध मे दोष देते रहो, क्या होता है। दक्ष पुरुष अपना काम निकाल लेता है, पीछे पोगा, बुद्धू पुरुष भले ही मैने यो करना चाहा था मैने विघ्न डालनेका विचार किया था मैने छींक दिया था, यो बकते रहो। इस भोदूपन की पचायत मे कोई तत्व नही है। उस पुद्गल स्कन्ध के हो रूप आदि स्वभावो करके परिणत होरहे और चक्षु., रसना, आदि इन्द्रियो से ग्रहणयोग्यपन को प्राप्त होचुके पदार्थ की रूप, रस आदि व्यवहार के विषय होजानेपने करके व्यवस्था की गई है, यानी जो रूप आदि स्वभावों करके परिणत होचुका पुद्गल द्रव्य है, वही रूप कहा जा सकता है, "गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिंगास्तु तद्वति,, यह कोष वाक्य भी है, रूप से परिणत होरहा ही पुद्गल रूप कहा जा सकता है, जो तिस प्रकार यानी रूप रहितपने करके परिणत नही होता है, वह उस रूप स्वरूप नही होपाता है, यदि बलात्कार से तथा अपरिणत को तत् माना जायेगा तो अतिप्रसंग होजायेगा यानी अज्ञ जड़ पदार्थ ज्ञ बन बैठेगा, अनुष्ण जल भी उष्ण जल हो जा-येगा, कोई रोक टोक नही रहेगी ।

एक बात यह भी है, कि रूप आदि स्वभावों से परिणत पदार्थ रूपवान् नही माना जाकर यदि वह रूप ही माना जायेगा तब तो केवल परिणाम ही के सद्भाव का प्रसग आता है, किन्तु तिस

प्रकार परिणामी पुद्गल द्रव्य या आत्मा का असद्भाव मानने पर परिणाम होना ही नहीं सम्भवता है, जैसे कि असत् निर्णीत किये गये खर-विषाण के तीक्ष्णता (पैनापन) चिकनापन, काठिन्य, आदि परिणाम नहीं बन पाते है ।

नापि परिणामाभावे परिणामि भवति खरविषाणवदिति परिणामपरिणामिनोरन्योन्याविनाभावित्वादन्यतरापायेप्युभयासत्त्वप्रसक्तिः । ततो नित्यतापरिणामि द्रव्यमुपगंतव्यं तत्परिणामवत् ।

तथा परिणामी के बिना जैसे परिणाम नहीं, उसी प्रकार परिणाम का अभाव मानने पर परिणामी द्रव्य भी नहीं सम्भवता है, जैसे कि तीक्ष्णता आदि परिणामों के नहीं होने पर खरविषाण, वन्ध्यापुत्र, आकाश कुसुम आदि कोई परिणामी पदार्थ नहीं है । इस प्रकार परिणाम और परिणामी दोनो पदार्थों का परस्पर अविनाभाव (समव्याप्ति) होजाने के कारण दोनों मे से किसी एक का अभाव मानने पर दोनों के भी असद्भाव का प्रसंग आजाता है, आत्मा के बिना ज्ञान नहीं ठहरता है, जब ज्ञान ही मर गया तो आत्मा भी जीवित नहीं रह सकता है. उष्णता के बिना अग्नि नहीं और अग्नि के बिना उष्णता नहीं ।

तिस कारण नित्यपन परिणाम का धारी द्रव्य स्वीकार करना चाहिये जैसे कि उस नित्य द्रव्य का परिणाम आवश्यक रूप से स्वीकार किया गया है, यों "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" या "तद्भावाव्ययं नित्यं" इस सूत्र से प्रारम्भ कर यहां तक के सूत्रों की संगति लगा लेनी चाहिये ।

अगले सूत्रका अवतरण इस प्रकार है, कि यद्यपि "सद्द्रव्यलक्षणं उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" यों द्रव्य का लक्षण पहिले ही कहा जा चुका है, तथापि भेद-विवक्षा को प्राधान्य देते हुये सूत्रकार महाराज दूसरे प्रकार के लक्षण से भी अग्रिम सूत्र द्वारा उस द्रव्य की प्रसिद्धि कराते हे ।

गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

गुण और पर्याय जिसके विद्यमान हैं, वह गुणवान् और पर्यायवान् पदार्थ द्रव्य कहा जाता है, गुण और पर्यायों से द्रव्य का अभेद होते हुये भी लक्षण की अपेक्षा कथंचित् भेद होजाने से मतुप् प्रत्यय की उपपत्ति होजाती है, अतः सहभावी पर्याय होरहे गुणों और क्रमभावी स्वभाव होरहे पर्यायों को अविष्वग्भाव रूप से द्रव्य धारे हुये है ।

गुणाः वक्ष्यमाणलक्षणाः पर्यायाश्च तत्सामान्यापेक्षया नित्ययोगे मतुः । द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवत्तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यमित्यपि न विरुध्यते । विशेषापेक्षया पर्यायाणां नित्ययोगाभावात्कादाचित्कत्वसिद्धेः ।

गुणों का लक्षण सूत्रकार द्वारा स्वयं आगे "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" यो कहा जाने वाला है, और "तद्भावः परिणामः" यो पर्यायो का भी जाति मुद्रया लक्षण कह दिया जायेगा। यद्यपि गुणों की संख्या से पर्यायो की सख्या अनन्तगुणी है, गुणों के लक्षण सूत्र मे बहुवचन और पर्याय के लक्षण सूत्र मे एक वचन का प्रयोग करना सूत्रकारका साभिप्राय प्रयत्न है। पर्यायो के सामान्य की अपेक्षा एक वचन का प्रयोग बडे महत्त्व का होजाता है, जैसे कि माता, पिता गुरु अपने पुत्र अथवा शिष्य का एक वचन या युष्मद् शब्द प्रयोग अनुसार उच्चारण करते हैं, भक्त अपने आराध्य देवता का एक वचन युष्मद् पद करके जब प्रयोग करता है तब एक विलक्षण प्रकार का ही अलौकिक आनन्द आत्मामें उमड पडता है, "जनाना समुदायो जनता" "महारण्यमरण्यानी" "द्रव्य जीवाजीवौ" इत्यादि पद अपरिमित संख्याओ को लिये हुये है। यहा नित्ययोग मे मतु प्रत्यय है, अर्थात्-गुणो का और पर्यायो का द्रव्य में नित्य ही योग बना रहता है. अविनाशी गुण तो द्रव्य मे सदा रहते है. हा उत्पाद-विनाश-शालिनी पर्यायें व्यक्तिरूप से कदाचित् पायी जारही मदा नही ठहरती है किन्तु सामान्य अपेक्षा करके कोई न कोई पर्याय द्रव्य मे बनी ही रहती है, धारा-प्रवाह रूप से पर्यायो का सद्भाव द्रव्य मे सतत विद्यमान है।

द्रव्य शब्द की निरुक्ति यो है, कि जो अपनी उन उन पर्यायो का वर्तमान मे द्रवण कर रहा है भविष्य में द्रवण करेगा और जो भूतकाल मे द्रवण कर चुका है वह द्रव्य है। यो तीनो काल सम्बन्धी द्रवण की अपेक्षा द्रव्य इस शब्द की निरुक्ति करना भी विरुद्ध नही पडता है, यानी निरुक्ति से लब्ध होरहे अर्थ और लक्षण द्वारा प्राप्त होरहे अर्थ में कोई विरोध नही है, सामान्य विशेष का अन्तर भले ही समझ लिया जाय जल या दूध बिना प्रयत्न ही के जैसे नीचे प्रदेश में बहने लग जाता है, उसी प्रकार द्रव्य स्वभाव ही मे तीनो काल अपनी तदात्मक पर्यायो मे द्रवण करती रहती है।

पर्यायो का सामान्य की अपेक्षा नित्ययोग इसीलिये कहा है, कि पर्यायो के व्यक्तिविशेषो की अपेक्षा करके द्रव्य मे पर्यायो का नित्य ही सम्बन्ध नही है, अतः विशेष पर्यायो का कदाचित् कदाचित् होना ही सिद्ध है। आत्मा मे चेतना गुण नित्य विद्यमान है, हा चेतना गुण के परिणाम घटज्ञान पटज्ञान, श्रुतज्ञान, चक्षुदर्शन आदि तो कदाचित् ही होते है, पर्याये सदा अवस्थित नहीं रहती है, अतः गुणों वाला और पर्यायोंवाला द्रव्य होता है, यह द्रव्य का निर्दोष लक्षण है।

किमर्थमिदं पुन र्द्रव्यलक्षणं प्रतीतिन्यारेकायामाह।

कोई जिज्ञासु पूछता है, कि सूत्रकार महाराज द्रव्य के इस लक्षण को फिर किस प्रयोजन के लिये स्पष्ट कह रहे हैं? इस प्रकार आशंका प्रवर्तने पर ग्रन्थकार श्रीविद्यानन्द सूरि अगली वार्त्तिक द्वारा समाधान करते हैं।

गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्याह व्यवहारतः।
मत्पर्यायस्य धर्मादेर्द्रव्यत्वप्रतिपत्तये ॥ १ ॥

व्यवहारनय से सत् के पर्याय होरहे धर्म, अधर्म, आदि के द्रव्यपन की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार महाराज 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इस सूत्र को स्पष्ट कह रहे है। अर्थात्–सम्पूर्ण पदार्थों को एक सत् रूप से ग्रहण कर रहा सग्रहनय है, "अंशकल्पनं पर्याय" अंशो की कल्पना करना यह पर्यायो का सिद्धान्त लक्षण है, "संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थाना विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः" सग्रहनय से आक्षेपग्रस्त किये गये पदार्थो का व्यवहारोपयोगी भेद करना व्यवहार है, तदनुसार धर्म, अधर्म आदि द्रव्य भी सत्के पर्याय होजाते हैं, पहिले "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इस लक्षण से सत् के पर्याय होरहे धर्म आदि का द्रव्यपना प्रतीत नहीं होता है, हा इस 'गुणपर्यायवद्द्रव्य" से धर्म आदि का द्रव्यपना समीचीन प्रतीत होजाता है, भलें ही धर्म आदिक सब द्रव्य उस व्यापक सत् के पर्याय है, फिर भी स्वकीय नियत गुणो और पर्यायो से भरपूर है।

सतो हि महाद्रव्यस्य पर्यायो धर्मास्तिकायादिर्व्यवहारनयार्पणायां द्रव्यत्वमपि स्वीकरोत्येव, तस्य चासाधारणलक्षणं गुणपर्यायवत्त्वमिति प्रतिपत्तव्यं, न पुनः क्रियावत्त्वं तस्याव्यापकत्वान्निष्क्रियेष्वाकाशादिष्वभावात् ।

जब कि अनेक द्रव्यो का समुदाय होरहा सत् महान् द्रव्य है, उस सत् के अंश-कल्पना स्वरूप पर्यायें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आदि व्यक्ति रूप से अनेक द्रव्ये हैं। धर्मास्तिकाय, आदि छऊ द्रव्यें व्यवहार अनुसार अर्पण करने पर द्रव्यपन को भी स्वीकार कर ही लेती हैं, उस द्रव्य का असाधारण लक्षण गुणपर्यायवत्त्व है, यह भले प्रकार समझ लेना चाहिये। अर्थात्–"सत्तासव्वपयत्था सविस्सरूवा अणन पज्जाया। भंगोप्पादधुवत्था सप्पडिवक्खा हवदि एगा" इस महासत्ता के स्वरूप अनुसार "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" यह महाद्रव्य होरहे सत् का लक्षण है, और "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" यह महाद्रव्य सत् के पर्याय माने जा रहे धर्मास्तिकाय आदि का असाधारण लक्षण समझ लिया जाय।

किन्तु फिर वैशेषिक दर्शन अनुसार "क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणं" युक्त नहीं है, वैशेषिक दर्शन के प्रथम अध्याय–सम्बन्धी पहिले आन्हिक के पन्द्रहमे उक्त सूत्र का अर्थ यह है, कि जो क्रियावान् है, और जो गुणवान् है, तथा जो समवायि कारण है, वह द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्य का लक्षण वैशेषिकों ने किया है, किन्तु ये तीनो लक्षण निर्दोष नहीं है, क्योकि उस क्रियासहितपने लक्षण मे अव्याप्तिदोष आता है, जब कि क्रियारहित माने गये आकाश आदि चार व्यापक द्रव्यों मे क्रिया का अभाव है।

वैशेषिकों ने आकाश, काल, दिक्, आत्मा, इन चार द्रव्यों को व्यापक मान कर क्रियारहित स्वीकार किया है, पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच द्रव्यों में ही क्रिया स्वीकार की गयी है, "क्षितिर्जल तथा तेजः पवनो मन एव च। परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी" (कारिकावली)।

अतः सम्पूर्ण नौऊ द्रव्यो मे व्यापक रूप से क्रियावत्व लक्षण नही घटित हुआ वैशेषिको ने आद्यक्षणावच्छिन्न घट आदि कार्य द्रव्यो को निर्गुण, निष्क्रिय, स्वीकार किया है, अतः गुणवत्व लक्षण भी अव्याप्ति दोष वाला है।

समवायिकारणत्वमपि न द्रव्यलक्षणं युक्तं, गुणकर्मणोरपि द्रव्यत्वप्रसंगात्तयोर्गुणत्वकर्मत्वसमवायिकारणत्वसिद्धेः। तयोस्तत्समवायित्वमेव तत्कारणत्वं। गुणत्वकर्मत्वसामान्ययोरकार्यत्वादिति चेन्न, सदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्य कथंचित्कार्यत्वसाधनात्, कथंचित्तदनित्यत्वमपि नानिष्टं, प्रत्यभिज्ञानस्य सर्वथा नित्येष्वसंभवादित्युक्तप्रायं।

द्रव्य का लक्षण समवायिकारणपना भी उचित नही है, कारण कि यो तो गुण और कर्मों को भी द्रव्यपने का प्रसंग आजावेगा क्योकि उन गुण और कर्म को भी गुणत्व और कर्मत्व जाति के समवायिकारण होजाने की सिद्धि गुण में समवाय सम्बन्ध से गुणत्व जाति रहती है, और कर्म मे कर्मत्व जाति समवेत होरही है, उन गुण कर्मो को उन गुणत्व कर्मत्व का समवायसहितपना ही उन गुणत्व कर्मत्वो की कारणता है, जैन-सिद्धान्त अनुसार गुण के सदृश परिणाम होरहे गुणत्व और कर्म के सदृश परिणाम होरहे कर्मत्व भी गुण या कर्म के समान अनित्य ही है. उनको समवाय सम्बन्ध से धर लेने वाला ही उनका समवायि कारण है।

यदि वैशेषिक यो कहे कि चौबीसो गुणों मे रहने वाली गुणत्व जाति और पांचो कर्मों मे व्याप रहा कर्मत्व सामान्य तो नित्य पदार्थ है, ये किसी के कार्य नही है, अतः इनके समवायि कारण गुण या कर्म नही होसकते है। ग्रन्थकार कहते है, कि यह तो नही कहना क्योंकि "सदृशपरिणामस्तिर्यक्खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्" सामान्य (जाति) सदृश परिणाम स्वरूप है, ऐसे सदृश परिणामस्वरूप सामान्य को कथंचित् कार्यपना साध दिया गया है, अतः उन गुणत्व, कर्मत्व सामान्यो का कथंचित् अनित्यपना भी अनिष्ट नही है। हा सामान्य को कथंचित् नित्य भी कह दिया जाय तो कोई आपत्ति नही, कारण कि यह वही गाय है, यह वही रूप है, यह वही रस, है, यह वही नृत्य है, इत्यादि प्रत्यभिज्ञानो का होना सर्वथा नित्य पदार्थो मे असम्भव है, इस बात को हम पूर्व प्रकरणो मे कई बार कह चुके हैं।

गुणवत्त्वे सति क्रियावत्वं समवायिकारणत्वं च द्रव्यलक्षणमित्यप्ययुक्तं, गुणवद्द्रव्यमित्युक्ते लक्षणस्याव्याप्त्यतिव्याप्त्योरभावात्। तद्वचनानर्थक्यात्।

गुणवान् होते सन्ते क्रियासहितपना और समवायिकारणपना यह मिला कर द्रव्य का लक्षण किया गया भी युक्तिरहित है, क्योकि "गुणवाला द्रव्य होता है" इस प्रकार ही कह चुकने पर अकेले गुणवत्व लक्षण के ही अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों का अभाव है, फिर उन क्रियासहितपन और समवायिकारण इन वचनोका पुछल्लछल्ला लगाना व्यर्थ पड़ता है, "लक्षणं हि तन्नाम यतो न लघीयः"

लक्षण वही होना चाहिये जिससे कि छोटा स्वरूप दूसरा नही होसके अन्यथा वे केवल भाटों के गीत समझे जाते है।

कार्य द्रव्यो को आद्य लक्षण में निर्गुण कहना वैशेषिको का उचित सिद्धान्त नही है, जिस प्रकार द्रव्य के विना गुण निराधार नही ठहर पाते है, उसी प्रकार द्रव्य भी गुणो के बिना निराधेय नही ठहर सकता है, गुणो का द्रव्य के साथ अविनाभाव है, द्रव्य और गुणो का तादात्म्य ही कह दिया जाय कोई क्षति नही पडती है, तभी तो सूत्रकार ने द्रव्य के उक्त लक्षण सूत्र मे गुण को उपात्त किया है।

नन्वेवमत्रापि पर्यायवद्द्रव्यमित्युक्ते गुणवदित्यनर्थकं सर्वद्रव्येषु पर्यायवत्त्वस्य भावात् गुणवदिति चोक्ते पर्यायवदिति व्यर्थं तत एवेति तदुभयं लक्षणं द्रव्यस्य किमर्थमुक्तमित्यत्रोच्यते।

यहां किसी पण्डित का आक्षेप है, कि जब जैन इस प्रकार ही लक्षणो मे लाघव करने लगे तो ऐसे ढग अनुसार यहा सूत्र मे भी पर्याय वाला द्रव्य होता है, ' पर्यायवद्द्रव्य ' इतना कह चुकने पर द्रव्य का निर्दोष लक्षण बन जाता है, पुनः "गुणवत्" यह भी कहना तो व्यर्थ पडा क्योकि सम्पूर्ण द्रव्यो मे पर्यायसहितपन का सद्भाव पाया जाता है, कोई भी द्रव्य कदाचित् भी पर्यायो मे रीता नही है, द्रव्यो से अतिरिक्त स्थानो मे पर्याये ठहरती नही है, द्रव्य के गुण किसी न किसी पर्याय को धारे ही रहते हैं, अत अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव, दोषों की सम्भावना नही है।

अथवा और भी अक्षरकृत लाघव करना होय तो "गुणवद्द्रव्यं" गुणो से सहित द्रव्य होता है यो इतना कह चुकने पर ही "पर्यायवत्" यह पद व्यर्थ पड़ता है। जिस कारण से वैशेषिको के यहा माने गये द्रव्य लक्षण ने तीन घटकावयवो पर कटाक्ष उठाया गया था तिसी ही कारण से आक्षेप प्रवर्तता है, कि वे "गुणवद्द्रव्य, पर्यायवद्द्रव्य" यो दोनो ही द्रव्य के लक्षण भला किस प्रयोजन के लिये सूत्रकार ने इस सूत्र मे कहे है? बताओ, इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तने पर ग्रन्थकार करके यहां समाधानार्थ यह अगिली वार्त्तिक कही जाती है।

गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकांतसिद्धये।
तथा पर्यायवद्द्रव्यं क्रमानेकांतवित्तये॥ १॥

सह-अनेकान्त की सिद्धि कराने के लिये इस सूत्र मे "गुणवद्द्रव्यं" गुण वाला द्रव्य होता है, यह अंश कहा गया है, तथापि शिष्यो को क्रम-अनेकान्त की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार ने "पर्यायवद्द्रव्यं" पर्यायो वाला द्रव्य होता है, यह दूसरा लक्षण का घटकावयव कहा है। अर्थात्-द्रव्य के सहभावी परिणाम गुण है और क्रमभावी अंश पर्याये है, त्रिलक्षण-आत्मक द्रव्य के उत्पाद, व्यय, अंशो की भित्ति पर पर्याये डटी हुई है, और ध्रौव्य की भित्ति पर गुणो का होना विवक्षित है, अनन्त

धर्मात्मक द्रव्य मे गुणो की अपेक्षा सहानेकान्त सध रहा है, और क्रम-भावी अनेक पर्यायों की अपेक्षा क्रमानेकांत बन रहा है, क्रम और युगपत्पने करके अर्थ-क्रिया को करने वाली वस्तु का सत्पना अक्षुण्ण रहता है, यों प्रमाण नय अनुसार सह सप्तभगियो और क्रम सप्तभगियो के विषयभूत धर्मों को धार रहा द्रव्य है ।

यदि इस सूत्र मे केवल "गुणवद्द्रव्यं" कह दिया जाता तो जैनो के यहा पर्यायो के क्रम अनेकान्त की प्रमाण्यता ठहरती और "पर्यायवद्द्रव्यं" इतना ही कह देने पर स्याद्वादियो के यहा सह-अनेकान्त उडा दिया गया माना जा सकता था किन्तु जैन दोनो को मानते हैं, अत. सह, क्रम, दोनों अनेकान्तो की व्युत्पत्ति कराने के लिये उदात्ताशय सूत्रकार ने "गुणपर्यायवद्द्रव्यं" कहा है ।

नास्त्येकत्र वस्तुनीहानेको धर्मः सर्वभावानां परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वादेकेन धर्मेण सर्वात्मना व्याप्तेः धर्मिणि धर्मान्तरस्य तद्व्याप्तिविरोधादन्यथा सर्वधर्मसंकरप्रसंगादिति सहानेकांतनिराकरणवादिनः प्रति गुणवद्द्रव्यमित्युक्त। सकृदनेकधर्माधिकरणस्य वस्तुनः प्रतीयमानत्वात् कुटे रूपादिवत् स्वपरपक्षसाधकत्वेतरधर्माधिकरणैकहेतुवत् । पितापुत्रादिव्यपदेशविषयानेकधर्माधिकरणपुरुषवद्वा ।

वस्तु मे साथ अनेक धर्मों का निराकरण करने वाले पण्डित यो कह रहे हैं कि यहा एक वस्तु मे एक साथ अनेक धर्म नही ठहर पाते है क्योकि सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर एक दूसरे का परिहार करते हुये ठहरना इस लक्षण को आत्मसात् किये हुये हैं एक धर्मका दूसरे धर्म के साथ या एक धर्मी का दूसरे धर्मी के साथ परस्पर परिहार स्थिति नाम का विरोध है । जैसेकि रूप और ज्ञानका अथवा गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्वका विरोध है । वैयधिकरण्य दोष से बचने के लिये प्रत्येक धर्मका निराला अधिकरण होना आवश्यक है जब कि एक ही धर्म ने सम्पूर्ण स्वरूप करके धर्मी को व्याप्त कर लिया हैं ऐसी दशा होजाने पर उस धर्मी में अन्य धर्म की वैसी सर्वात्मना व्याप्ति होजाने का विरोध है अन्यथा यानी एक धर्मी में सर्वांग रूप से अनेक धर्मों का सद्भाव यदि मान लिया जायगा तब तो सम्पूर्ण धर्मों के संकर होजाने का प्रसंग आजावेगा । ज्ञान, रूप, गतिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, अवगाहहेतुत्व ये सभी गुण परिपूर्ण स्वरूपसे एक द्रव्य मे बन बैठेंगे जहां एक गुण भरपूर धर्मीमे ठहर चुका है । वहां दूसरे धर्मके लिये स्थान अणुमात्रभी रीता नही बचा है इस प्रकार साथ अनेक धर्म नही ठहर सकते है

यो सह अनेकान्त के निराकरण को कह रहे वादी पण्डित जो मान बैठे हैं उनके प्रति सूत्रकार महाराज ने " गुणवद्द्रव्यं " यों सूत्रदल कहा है क्योंकि एक समय में एक ही वार साथ अनेक धर्मों का अधिकरण होरही वस्तु की प्रतीति की जा रही है जैसे कि वृक्ष या घडे मे रूप, रस, गंध, आदि गुण साथ ठहर रहे हैं । अथवा स्वकीय पक्ष का साधकपन और परकीयपक्ष का असाधकपन इन दो धर्मों का अधिकरण होरहे एक समीचान हेतु के समान वस्तु अनेक धर्मों का अधिकरण है ।

आप्तमीमांसा मे " असाधारणहेतुवत् " और " कारकज्ञापकांगवत् " स्वभेदैः साधनं यथा "

इन कारक ज्ञापक हेतुओं के दृष्टांत से वस्तु मे अनेक धर्मों की प्रसिद्धि करा दी गई है, कोई भी सद्धेतु जिस प्रकार स्वकीय साध्य का ज्ञापक है उसी प्रकार साध्य विरुद्ध का ज्ञापक नहीं भी है मृत्तिका आदि कारक हेतु जैसे घट आदि के निर्वर्तक हैं। उस ढंग से ही ज्ञान आदि कार्यों के निर्वर्तक (संपादक) नहीं है। अतः एक वस्तु मे अनेक धर्म विना प्रयासके ठहर जाते है अथवा तीसरा दृष्टान्त यों समझिये कि जो पुरुष अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है, वही अपने पिता की अपेक्षा पुत्रभी है। अपने मामा की अपेक्षा भानजा है, चचा की अपेक्षा भतीजा है, नाना की अपेक्षा धेवता है। यो एक पुरुष ही जैसे पितृत्व, पुत्रत्व, भागिनेयत्व, आदि शब्द व्यवहार के विषय होरहे अनेक धर्मों का अधिकरण है,इसी प्रकार सम्पूर्ण वस्तुयें एक साथ अनेक धर्मों का आधार प्रतीत होरही है।

ग्राह्यग्राहकसंवेदनाकारं संवेदनमेकमुपयन् सकृदनेकधर्माधिकरणमेकं बहिरन्तर्वा प्रतिक्षिपतीति कथं परीक्षको नाम ? वेद्याद्याकारविवेकं परोक्षं संविदाकारं च प्रत्यक्षमिच्छन्नपि न सहानेकांतं निराकर्तुमर्हति संविदद्वैते प्रत्यक्षपरोक्षाकारयोरपारमार्थिकत्वे परमार्थेतराकारमेकं संवेदनं बलादापतेत् परमार्थाकारस्यैव सत्वात् संविदो नापारमार्थिकाकारः सन्निति ब्रुवाणस्सकृत्सदसत्वस्वभावाक्रांतमेकं संवेदनं स्वीकरोत्येव।

जो सम्वेदनाद्वैत वादी बौद्ध अकेले विज्ञान तत्व को ही स्वीकार करते है, ज्ञान ही वेद्य है और ज्ञान ही वेदक है। यों सम्वेदन के ग्रहण करने योग्य ग्राह्य आकार और सम्वेदन के स्वनिष्ठ ग्राहक आकार को जानने वाले एक एक सम्वेदन को स्वीकार कर रहा योगाचार बौद्ध भला एक बहिरंग पदार्थ अथवा एक अन्तरंग तत्व में युगपत् अनेक धर्मों के अधिकरणपन का प्रतिक्षेप करता है। यों प्रत्यक्षविरुद्ध या स्ववचनविरुद्ध अथवा स्वज्ञानविरुद्ध कथन कर रहा बौद्ध किस प्रकार परीक्षक नाम को पा सकता है। अर्थात्—कथमपि नहीं। कैसा भी ज्ञान क्यों न हो उसमे ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व अंश अवश्य मानने पड़ेंगे " ग्राह्यग्राहकाकारविवेकं संविदन् " यहां " विचूल्ट विचारणे " धातु से बने विवेक का अर्थ विचार करना, ज्ञान करना, माना जाता है अत. एक ज्ञान में सकृत् ग्राह्य आकार और ग्राहक आकार दोनों धर्म ठहर जाते है। परीक्षक विद्वान् को निष्पक्ष होकर न्याय्य बात कहनी चाहिये,असत् पक्षपात करने वाला परीक्षक नहीं माना जायगा।

दूसरी बात यह है कि " विचिर् पृथग्भावे " धातु से बने विवेक शब्द का अर्थ पृथग् भाव करते हुये जो बौद्ध शुद्ध ज्ञान मे वेद्य, वेदक, वित्ति, वेत्ता, इन आकारो के पृथग् भाव को परोक्ष रूप से जान रहे इष्ट कर रहे है और उसी ज्ञान मे शुद्ध सम्वेदन–आकार को भी प्रत्यक्ष रूप से जान रहे इच्छते हैं। वे बौद्ध कथमपि वस्तु में साथ ठहर रहे अनेक धर्मों का निवारण करने के लिये समर्थ नहीं हो सकते है। जब कि एक शुद्ध ज्ञान में प्रत्यक्ष आकार और परोक्ष आकार विद्यमान है। या वेद्य आदि आकारो का असद्भाव और शुद्ध सम्वित्ति आकार का सद्भाव है, तो वे बौद्ध प्रत्यक्ष या परोक्ष आकार अथवा असद्भाव या सद्भाव के सह-अनेकान्त को अवश्य स्वीकार करें यही उनके लिये

उचित मार्ग है ।

यदि बौद्ध यों कहें कि शुद्ध सम्वेदनाद्वैत में प्रत्यक्ष आकार और परोक्ष आकार ये दोनों वास्तविक नहीं हैं कल्पित हैं, सम्वेदन तो स्वकीय स्वरूप में ही संलग्न है। यों कहने पर तो हम जैन टका सा उत्तर देदेंगे कि तब तो बौद्धों के यहां परमार्थभूत और अपरमार्थभूत आकार वाला एक सम्वेदन बलात्कार से आपड़ेगा । बौद्धों के कहने से ही वास्तविक आकार और कल्पित आकार ये दो आकार एक सम्वेदन में प्रविष्ट होरहे हैं । यदि बौद्ध इस पर पुन यों कहें कि विज्ञान का परमार्थ आकार ही वास्तविक सत् है, सम्वेदन का कल्पित आकार तो वस्तुभूत सत् नहीं है । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार कह रहा बौद्ध तो एक ही समय सत्व स्वभाव और असत्व स्वभाव से आक्रान्त होरहे एक सम्वेदन को स्वीकार कर ही लेता है बौद्ध ने बड़ी सरलता से सम्वेदन में वास्तविक सत्व और अपरमार्थभूत असत्व इन दो धर्मों को झटिति स्वीकार करलिया है ।

न सन्नाप्यसत्संवेदनमित्यपि व्याहतं, पुरुषाद्वैतादिवत्ततः सकृदनेकस्वभावमेकं वस्तु तत्वतः सिद्धत्यन्यथा सर्वस्य स्वेष्टतत्वव्यवस्थानुपपत्तेः । स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुत्वस्येति प्रपंचितप्रायं ।

सम्वेदन सद्भूत नहीं है और साथ ही असद्भूत भी नहीं है, यों बौद्धों के कहने पर आचार्य कहते है, कि उनका कहना भी व्याघात दोष से युक्त है जैसे कि पुरुषाद्वैत, चित्राद्वैत, आदि के साधक पूर्व पक्षोंमें अनेक व्याघात दोष आते है, उसी प्रकार सम्वेदन को सत् भी नहीं और उसी समय असत् भी नहीं कहने में वदतोव्याघात है । अर्थात्—परस्पर विरुद्ध होरहे धर्मों का सकृत्विधि या युगपत् निषेध दोनों नहीं होसकते है " न सत् " इतना कहते ही तत्काल असत् का विधान होजाता है फिर असत् का निषेध नहीं करसकते हो और असत् नहीं कहते हो सत् की विधि होजाती है, ऐसी दशा में पुनः सत् का निषेध नहीं कर सकते हो । बलात्कार से कहने वाले का मुंह उसी समय दबा दिया जायगा, परस्पर विरुद्ध पदार्थों में से एकतर का निषेध करने पर द्वितीय का आवश्यक रूप से विधान हो ही जाता है, सकृत् दोनों का निषेध करना सर्वथा अलीक है ।

हां अनेकान्त-वाद अनुसार कथंचित् सत्व और कथंचित् असत्व दोनों धर्म एक सम्वेदन में ठहर जाते हैं तिस कारण सिद्ध हुआ कि एक वस्तु युगपत् अनेक स्वभावों को वास्तविक रूप से लिये हुये है, अन्यथा यानी वस्तु में अनेक धर्मों को नहीं मान कर एकान्त वाद को स्वीकार किया जायगा तब तो इस अन्य ही प्रकार से सम्पूर्ण वादियों के यहां अपने अपने अभीष्ट तत्वों की व्यवस्था नहीं बन सकेगी । श्री अकलंकदेव महाराज ने कहा है, कि वस्तुका वस्तुपना तो अपने स्वरूप का उपादान और परकीय रूप का परित्याग इस निमित्त-व्यवस्था से आपादन करने योग्य है । जो भी कोई वादी अन्तरंग तत्व या बहिरंग तत्व अथवा परम ब्रह्म, सम्वेदन, चित्र आदि तत्वों को स्वीकार करेगा वे तत्व स्वाभिमत रूप से इष्ट होंगे और पराभिमत स्वरूप से अनिष्ट माने जायगे अथवा अपने तत्व

इष्ट हैं, और दूसरों के तत्व अनिष्ट है। ऐसी दशा में अनेकान्त दुर्निवार है, इस अनेकान्त के सिद्धान्त का हम पूर्व प्रकरण में प्राय: करके विस्तार पूर्वक विचार कर चुके हैं, यहां इतना ही कहने से पूरा पड़ो।

तथा क्रमानेकांतनिराकरणवादिनं प्रति पर्यायवद्द्रव्यं प्रतीयमानत्वात् सर्वस्य परिणामित्वसिद्धेः प्रतिपादितत्वात्। एवं क्रमाक्रमानेकांतनिराकरणप्रवणमानसं प्रति गुणपर्यायवद्द्रव्यमित्युक्तं सर्वथा निरुपाधिभावस्याप्रमाणत्वात्।

सह अनेकान्त का निराकरण करने वाले वादियों को समझा दिया गया है, सूत्रकार ने गुणवद्द्रव्य इसी लिये कहा है। तथा क्रम से अनेकान्त का निराकरण कर रहे वादी के प्रति तो सूत्रकार ने द्रव्य के लक्षण में 'पर्यायवद्द्रव्य' या पर्ययवद्द्रव्यं इतना अंश कहा है, भावार्थ– क्रमवर्तिन: पर्याया:' प्रत्येक गुण की एक समय में एक पर्याय होती है, इस ढंग अनुसार अनन्तानन्त पर्यायें क्रम से होती रहती है, मृत्तिका की शिवक, स्थास, कोष, कुशूल, घट, कपाल, कपालिका आदि होरही पर्यायें प्रतीत की जा रही है कपास का रूई धुनी रूई, पोनी, अंडिया आदि आतान वितान, पट, चीथरा आदि अवस्थायें देखी जा रही हैं जब के सम्पूर्ण पदार्थों के परिणामी पन की सिद्धि का प्रतिपादन किया जा चुका है पूर्व अवस्था का त्याग, उत्तर अवस्था का ग्रहण, अजहद्वृत्तिता, ये वर्तनायें ही परिणाम की प्राण हैं।

श्री माणिक्यनन्दी आचार्य ने परिणाम का लक्षण यही कहा है। कितने ही कूटस्थवादी महाशय क्रम से होने वाले परिणाम का स्वीकार नहीं करते हैं सांख्यमती पण्डित कूटस्थवर्ती आत्मा के परिणामों को नहीं मानते हैं, प्रधान के भी आविर्भाव तिरोभाव वाले परिणाम माने गये हैं, उत्पाद विनाश, वाली परिणाम नहीं इष्ट किये हैं, नैयायिक, वैशेषिक, भी आत्मा आकाश, आदि की क्रमवर्त्ती पर्यायों का होना नहीं अभीष्ट करते हैं, ब्रह्माद्वैतवादी पण्डित 'सर्वं वै खल्विदब्रह्म नेह नानास्ति किंचन। आराम तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन,, यों ब्रह्म के आराम पानी पर्यायों को इष्ट करते हैं, किन्तु वे उनको वस्तुभूत नहीं मानते हैं क्रम से वर्तना भी इष्ट नहीं करते हैं अथवा ब्रह्म में उन पर्यायों का खोज ही खो देते हैं। यों क्रम से होने वाला पर्यायों या अनेक स्वभावों के अनेकान्त का निराकरण कर रहे पण्डितों के प्रति द्रव्य के लक्षण में पर्याय सहितपना कहना सूत्रकार का समुचित कर्तव्य है।

इसी प्रकार जिन पण्डितों का चित्त क्रम अनेकान्त और अक्रम अनेकान्त दोनों के निराकरण में प्रवीण होरहा है ऐसे वैभाषिक माध्यमिक तत्वोपप्लववादी आदि वादियों के प्रति वस्तुभूत सिद्धान्त का निराकरण करने के लिये सूत्रकार ने 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' गुणों और पर्यायों वाला द्रव्य होता है, इस प्रकार गुण पर्याय उभय का प्रतिपादक अखण्ड सूत्र कहा है, कारण कि सभी प्रकारों से

अनेक विशेषणों से रहित होरहे पदार्थ को अप्रामाणिकपना है, यानी कोई भी प्रमाण ऐसे भाव को ग्रहण नहीं करता है, जिसमे कि गुण या पर्याय कोई भी विशेषण नही पाया जाय सम्पूर्ण द्रव्यो में अनुजीवी गुण प्रतीजीवीगुण, पर्यायशक्ति आत्मकगुण विद्यमान है तथा षट्स्थान पतित हानियो या वृद्धियों को ले रही पर्यायें या सप्तभंगियों के विषयभूतधर्म अथवा आपेक्षिक धर्म और छोटे बड़े निमित्तों से उपजे अनेक स्वभाव भेद इत्यादि पर्यायें द्रव्यों मे विद्यमान है, गुणों और पर्यायो से रीता द्रव्य कथमपि नहीं होता है।

अथवेयं त्रिसूत्री समवतिष्ठते, गुणवद्द्रव्यं पर्ययवद्द्रव्यं गुणपर्ययवद्द्रव्यं द्रव्यत्वान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानत्रयं चेदं सक्षेपतो लक्ष्यते।

अथवा इस एक सूत्र को तीन सूत्रो का समुदाय समझ कर यों भले प्रकार व्यवस्था कर ली जाती है, कि १ द्रव्य (पक्ष) गुणवत् (साध्य) द्रव्यत्वान्यथानुपपत्तेः (हेतु)। २ द्रव्य (पक्ष) पर्ययवत् (साध्यदल) द्रव्यत्वान्यथानुपपत्ते (हेतु)। ३ द्रव्य (पक्ष) गुणपर्ययवत् (साध्यकोटि) द्रव्यत्वान्यथानुपपत्तेः (हेतु) यो तीन प्रकार एकान्त वादियो के प्रति उक्त सूत्र का योगविभाग कर तीन अनुमान कह दिये जाते है। १ द्रव्य गुणवाला है, अन्यथा उसमे द्रव्यपना बन नही सकता है। २ द्रव्य मे पर्यायें पायी जाती है, अन्यथा यानी पर्यायों के बिना द्रव्यपन की सिद्धि नही होसकती है। ३ गुणो और पर्यायो का धारी द्रव्य है ऐसा नहीं मान कर अन्य प्रकार मानने से द्रव्यपना रक्षित नहीं रह सकता है। यों अनेक प्रतिपक्ष विद्वानो के मतो का निराकरण करने के लिये सक्षेप से 'गुणपर्ययवद्द्रव्य' इस अकेले सूत्र द्वारा द्रव्य को लक्षित कर दिया जाता है हजारों रोगो को एक सजीवनी औषधि पर्याप्त है।

ननु चैवं निष्क्रियं न सर्वद्रव्यसमवायिकारणं चेति पराकूतनिशकृतये क्रियावद्द्रव्यं समवायिकारणमिति च द्रव्यलक्षणमभिधीयते, पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां क्रियावत्त्वसिद्धेः सर्वद्रव्याणां समवायिकारणत्वस्य च गुणवत्त्ववत्प्रतीतेरित्येतदपि च परेषां वचोऽसमीचीनं, द्रव्यवद्विशेषवत्सामान्यवच्च द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणवचनप्रसगात न कार्यद्रव्यवत्कारणद्रव्यं नापि विशेषवत्सामान्यवद्वेति परद्रव्यविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थत्वात्। स्याद्वादिनां पुनः कार्यद्रव्यविशेषसदृशपरिणामलक्षणसामान्यानामपि क्रियावत्समवाययवच्च पर्यायत्वान्न तथा वचन कर्तव्यमिति सर्वमनवद्यं।

यहा वैशेषिक स्वपक्ष का अवधारण करतेहैं, कि इस प्रकार गुणपर्ययवद्द्रव्यं इस सूत्र द्वारा द्रव्य का लक्षण आप जैन करते है, तब तो इसी प्रकार हमारा द्रव्य का लक्षण भी उचित पड जाता है जो वादी पदार्थों को क्रिया रहित स्वीकार करते हैं, जैसे कि बौद्ध पंडित पदार्थों मे क्रिया नही मानते है अर्थात् बौद्धोंका अनुभव है कि उन निकटवर्ती या दूरवर्ती प्रदेशोमे गोला,बाण,जल,पक्षी, रेलगाड़ी, आदि स्वलक्षण नवीन रूप से उपज जाते हैं वही वस्तु तो क्रम क्रम से देशान्तरों में नहीं पहुँच

पाती है, जिस प्रकार सिनेमा के पर्दा पर आने जाने वाले पदार्थों का प्रतिविम्ब नहीं है केवल विभिन्न प्रकार के चित्रो का प्रतिविम्ब पड जाने से दृष्टाओं को वैसी चलते फिरते पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाती है, वस्तुतः पदार्थ निष्क्रिय है। तथा कोई पडित सभी द्रव्यो को समवायी कारण इष्ट नही करते हैं कूटस्थ द्रव्य किसी का समवायीकारण नहीं होसकता है।

इस प्रकार दूसरे पण्डितो की अयुक्त वचन स्वरूप चेष्टा का निराकरण करने के लिये हम वैशेषिकों करके सभी द्रव्य क्रियावान् हैं और समवायिकारण है यो "क्रियावत्समवायिकारण द्रव्य" यह द्रव्य का सुन्दर लक्षण कह दिया जाता है. पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन द्रव्यो मे क्रिया सहितपना सिद्ध है. तथा समवायिकारणपना तो सम्पूर्ण द्रव्यों के प्रतीत होरहा है, जैसे कि सभी द्रव्यो के गुण सहितपन की प्रतीति होरही है।

अर्थात्– पृथिवी मे चौदह, जल मे चौदह, तेज मे ग्यारह, वायु में नव, आकाश मे छ, काल मे पाच, दिशा मे पाच आत्मा मे चौदह, ईश्वर मे आठ और मन मे आठ, गुण माने जाते हैं 'वायो नवैकादशतेजसोगुणा जलक्षितिप्राणभृता चतुर्दश। दिक्कालयो. पच षडेव चाम्बरे महेश्वरेऽष्टौ मनस-स्तथैव च' इसी प्रकार परमाणु स्वरूप नित्यद्रव्य और कार्यस्वरूप अनित्यद्रव्य पृथिवी, जल, तेज, वायुओं को स्वकीय जन्य गुणो का या स्वजन्य अवयवी द्रव्यो का समवायीकारणपना प्राप्त है आकाश काल, दिग् जीवात्मा, परमात्मा, इन चार व्यापक नित्य द्रव्यों को अपने जन्य गुणों का समवायि कारणपना स्वभाव सिद्ध है, नित्य द्रव्य माने गये मन को स्वकीय सयोगादि अनेक जन्य गुणो और क्रियाओ का समवायिकारणपना निर्णीत है, यो 'क्रियावद्गुणवत्समवायिकारण द्रव्यं' यह द्रव्य का लक्षण उचित प्रतीत होता है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यो दूसरे विद्वान वैशेषिको का यह वचन भी समीचीन नही है, क्योकि यदि इसी प्रकार दूसरो की विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिये द्रव्य के लक्षण मे इतर व्याव-र्त्तक पदो का डालना अभिप्रेत होय तब तो 'द्रव्यवद्विशेषवत्सामान्यवच्चद्रव्य' यो द्रव्य के लक्षण के निरूपण करने का प्रसग आवेगा कारण कि कितने वादी द्रव्य को स्वकीय कार्य द्रव्य से सहित स्वीकार नही करते हैं, बौद्धो को ही लीजिये वे स्वलक्षण परमाणुओ मे किसी द्व्यणुकादि अवयवी स्कन्ध का बनना इष्ट नही करते हैं हाँ पूर्वक्षणवर्त्ती परमाणु स्वलक्षण से भले ही उत्तर क्षणवर्त्ती स्वलक्षण परमाणु द्रव्य उपज जाय किन्तु तब तक पहिले क्षणिक कारण का विनाश होजाता है, अत: कार्य द्रव्य वाला कारणद्रव्य कथमपि नहीं होसका।

यों इस बौद्ध सिद्धान्त का निराकरण करने के लिये वैशेषिको को द्रव्य का लक्षण मे 'द्रव्य-वत्' विशेषण देना उचित पड जायगा तथा कोई वादी द्रव्य में विशेष को स्वीकार नही करते हैं, ब्रह्माद्वैत वादी पण्डितों ने परमब्रह्म में विशेष स्वीकार नही किया है अन्यथा द्वैत का प्रसग आजायगा अत: वैशेषिकों को द्रव्य के लक्षण में 'विशेषवत्, कहना भी इष्ट पडा तथैव कोई पण्डित द्रव्य मे सामा

न्य को इष्ट नही करते हैं वे 'विशेषा एव तत्वं' मान बैठे हैं बौद्ध ही विशेषों को स्वीकार करते हुये सामान्यका प्रत्याख्यान करते है ।

अतः अनेक मत का व्यवच्छेद करने के लिये वैशेषिकों को द्रव्य के लक्षण में 'सामान्यवत्' (सामान्यवाला) कहना आवश्यक पड जायगा यो १ ' न कार्यद्रव्यवत्कारणद्रव्यं' २ 'न विशेषवद्द्रव्यं' ३ 'न सामान्यवद्द्रव्य' इस प्रकार दूसरो के अभीष्ट किये गये मन्तव्यो अनुसार द्रव्य मे पडी हुयी विप्रतिपत्तियों का निराकरण करने के लिये 'द्रव्यवत्विशेषवत्सामान्यवच्च द्रव्य' यो द्रव्य का लक्षण वैशेषिकों को करना चाहिये था वैशेषिकों ने कारण द्रव्यो मे कार्य द्रव्य का रहना और नित्य द्रव्यो में विशेषपदार्थ का ठहरना तथा सम्पूर्ण द्रव्यों में सामान्य जाति का स्थित रहना अभीष्ट भी किया है अतः इस लक्षण करके वैशेषिकों के यहां स्वकीय सिद्धान्त से कोई विरोध नही पड सकता है, द्रव्य का क्रिया रहितपना या समवायिकारण रहितपना मानने वाले पण्डितो को समझाने की अपेक्षा कारण द्रव्य को कार्य द्रव्य से रहित मान रहे और द्रव्य को विशेष या सामान्य से रहित अभीष्ट कर रहे पण्डितंमन्यों को समीचीन मार्ग पर लेआना कही अच्छा है द्रव्य के द्रव्य सहितपन और विशेषसामान्य सहितपन की प्रतीति होचुकने पर पुनः झटिति अल्प प्रयास से ही द्रव्य के क्रियासहितपन गुण सहितपन और समवायि कारण पन की प्रतिपत्ति होजायगी ।

एक बात यह भी है, कि 'क्रियावद् गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यं' स्वीकार कर पुन 'द्रव्यवद्विशेषवत्सामान्यवच्च' इस लक्षण का भी प्रसंग प्राप्त होजाने पर वैशेषिकों के ऊपर विनिगमनाविरह दोष खडा होजाता है इस दोष की यह शक्ति है कि 'सुन्दोपसुन्द न्याय' अनुसार दोनो का निराकरण कर तीसरे ही शक्तिशाली लक्षण को सर्वोपरि विराजमान कर देता है, तभी तो स्याद्वादियों ने द्रव्य का 'गुणपर्ययवद्द्रव्य' यह निर्दोष लक्षण किया है, स्याद्वादियो के यहां फिर बडा सुभीता पड जाता है, क्योंकि कार्य द्रव्य और विशेष पदार्थ तथा सदृश परिणाम स्वरूप सामान्य इन सबको भी जैनों ने पर्याय स्वीकार किया जैसे कि क्रिया को और समवायिकारण के प्रयोजक हो रहे समवाय को हम जैन पर्याय मानते है ।

अर्थात्-घट, पट, आम, अमरूद, फूल, पुस्तक, ये सब कार्य द्रव्यें उस पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं तथा 'एकस्मिन्द्रव्येक्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मानिहर्षविषादादिवत्' 'अर्थान्तरगतोविसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्' ये पर्याय और व्यतिरेक दोनो प्रकारके विशेष भी पर्याय स्वरूप है, तथैव 'सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्ड मुण्डादिषु गोत्ववत्' 'परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिवस्थासादिषु' ये दोनो प्रकार के सामान्य भी पर्याय स्वरूप ही पडते हैं हलन, चलन, गमन, आदि क्रियायें तो पर्यायें हैं ही । कोई विवाद नहीं है, समवायि कारण या उपादान कारण का अनुजीवी होरहा कथंचित् अविष्वग्भाव सम्बन्ध स्वरूप समवाय तो भला पर्याय के सिवाय और क्या पदार्थ होसकता है ? अतः वैशेषिकों द्वारा परमतों के निराकरणार्थ लक्षण में जितने भी इतर व्यावर्तक पद दिये जाते

है उन सब का प्रयोजन जैनो के अभीष्ट किये गये द्रव्य के लक्षण मे दिये गये पर्यायपद से ही सध जाता है।

हां गुण पद तो द्रव्य के लक्षण मे दोनो के यहा उपात्त किया गया है, अत वैशेपिको को द्रव्य के तिस प्रकार लम्बे और दोषग्रस्त लक्षण का कथन नही करना चाहिये। हा स्याद्वादियों का किया गया सूत्रोक्त लक्षण समीचीन है, यो करने से सभी सिद्धान्त निर्दोप सिद्ध होजाते है।

तदेवं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशभेदात्पंचविधमेव द्रव्यमिति वदंतं प्रत्याह ।

अगले सूत्र का अवतरण है कोई कह रहा है कि उपकार करने की अपेक्षा 'वर्तना परिणाम-क्रिया' परत्वापरत्वे च कालस्य' इस सूत्र द्वारा काल को भले ही कह दिया गया होय किन्तु जब तक काल को स्वतत्र द्रव्य नही कहा जायगा तब तक ये उपकार तो व्यवहार काल के भी समझे जासकते हैं वर्तना को छोड कर परिणाम आदि को व्यवहारकाल का उपकार इष्ट भी किया गया है तब तो अभी तक 'अजीवकायाधर्माधर्माकाशपुद्गला' 'द्रव्याणि, जीवश्च' इन सूत्रो करके कहे जा चुके पाच द्रव्यो के ही द्रव्यपन का व्यवसाय करना प्रसंग प्राप्त हुआ। तिस कारण इस प्रकार उक्त लक्षणसूत्र द्वारा जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, और आकाश के भेद से पाच प्रकार के ही द्रव्य सिद्ध होते है काल तो वस्तुभूत द्रव्य नही होसका ऐसा ही श्वेताम्बर बन्धु मानते है, इस प्रकार कह रहे वादी पण्डित के प्रति सूत्रकार महोदय अनुक्त द्रव्य की सूचना करने के लिये इस अगले सूत्र को प्रव्यक्त कहते है।

कालश्च ।

उक्त पाच द्रव्यो के अतिरिक्त काल भी स्वतंत्र छठा द्रव्य है जब कि द्रव्य का अक्षुण्ण लक्षण वहा घटित होरहा है। तदनुसार लोक प्रदेश परिमित असख्यातासंख्यातकालाणुये सभी काल द्रव्य है, एक एक काल परमाणु अनेक गुण और पर्यायो को धारे हुये है।

गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्यभिसंबंधनीयम् ।

"गुणपर्ययवद्द्रव्य" गुणो और पर्यायो को धारने वाला द्रव्य होता है, इस पूर्व सूत्र के पूरे लक्षण लक्ष्य पदो का यहा विधेय दल की ओर सम्बन्ध करने लेने योग्य है, अतः समुच्चय अर्थ के वाचक च शब्दके अनुसार काल भी छठा गुण, पर्यायो, वाला द्रव्य है यह अन्वितकर अर्थ होजाता है।

कालश्चद्रव्यमित्याह प्रोक्तलक्षणयोगतः ।
तस्याद्रव्यत्वविज्ञाननिवृत्यर्थं समासतः ॥ १ ॥

सूत्रकार द्वारा द्रव्य के बहुत अच्छे कहे गये "गुणपर्ययवद्द्रव्य" इस लक्षणवाक्य का सम्बन्ध होजाने से "काल भी द्रव्य है" इस बात को सूत्रकार "कालश्च" सूत्र द्वारा संक्षेप से कह रहे है। जो कि उस काल के द्रव्य रहित पन की परिच्छित्ति का निवारण करने के लिये है। अर्थात्—काल

तो द्रव्य नही है इस मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के लिये सूत्रकार को इस सूत्र का कहना अनिवार्य पड गया है यहाँ ही द्रव्य का लक्षण करते हुये वह संक्षेप से कहा जा सकता है ।

के पुन कालस्य गुणाः के च पर्यायाः प्रसिद्धा यतो गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति प्रोक्त-लक्षणयोगः सिध्येत्तस्याद्रव्यत्वविज्ञाननिवृत्तिश्चेत्यत्रोच्यते ।

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है कि वे फिर काल द्रव्य के गुण कौन से प्रसिद्ध है ? तथा काल की पर्यायें भी कौन कौन विख्यात है ? बताओ जिससे कि उस काल के साथ "गुणपर्ययवद्द्रव्य" इस द्रव्य के निर्दोष लक्षण का संसग होजाना सिद्ध होजावे और उस काल का द्रव्यरहितपन के विज्ञान की निवृत्ति सध जाय ? इस प्रकार यहा प्रतिपित्सा प्रवतनेपर ग्रन्थकार द्वारा समाधान कहा जाता है ।

निःशेषद्रव्यसंयोगविभागादिगुणाश्रयः ।
कालः सामान्यतः सिद्धः सूक्ष्मत्वाद्याश्रयो भिदा ॥ २ ॥
क्रमवृत्तिपदार्थानां वृत्तिकारणतादयः ।
पर्यायाः संति कालस्य गुणपर्यायवानतः ॥ ३ ॥

सामान्य रूप से अखिल द्रव्यो के साथ सयोग होना या विभाग होना, सख्या, परिमाण, आदि गुणो का आश्रय होरहा काल द्रव्य सिद्ध है, और भिन्न भिन्न पने यानी विशेष रूप से कथन करने पर सूक्ष्मत्व, वर्तनाहेतुत्व, अचेतनत्व, आदि गुणो का आधार काल है । तथा क्रम क्रम से वर्त रहे पदार्थों की वर्तना कराने मे कारणपना, इतर द्रव्यो के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यो, की हेतुता स्वकीय अविभागप्रतिच्छेद, द्रव्यत्वपरिणति, एक प्रदेश अवगाह, आदि पर्यायें काल द्रव्य की है । अत गुणो और पर्यायो से समाहित होरहा काल द्रव्य है ।

अर्थात्—लोकाकाश में सर्वत्र छहो द्रव्य पाये जाते है कालाणुओ के साथ सामान्य रूप से सम्पूर्ण द्रव्योका संयोग है विशेष २ जीव और पुद्गलो का यहां वहा जाने पर पूर्वसम्बद्ध कालाणुओ के साथ विभाग भी होजाता है हां धर्म, अधर्म, और आकाश के उन उन स्थलो पर नियत होरहे प्रदेशो से अन्य प्रदेशीय कालाणुओं का विभाग होरहा है । सयोग नाशक गुण को ही विभाग नही कहते है, किन्तु पृथग्भाव भी विभाग कहा जा सकता है इन गुणो के अतिरिक्त द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण भी काल मे विद्यमान हैं । काल मे सूक्ष्मत्व, वर्तनाहेतुत्व आदि विशेष गुण है, तथा नवीन पदार्थ को जीर्ण करना, परिवर्तन कर देना, अचेतन बने रहना आदि पर्यायें काल की प्रसिद्ध है अतः द्रव्य के दोनो लक्षणों की सघटना काल मे है ।

सर्वद्रव्यैः संयोगस्तावत्कालस्यास्ति सादिरनादिश्च विभागश्चासर्वगतक्रियावद्द्रव्यैः संख्यापरिमाणादयश्च गुणा इति सामान्यतोऽशेषद्रव्यसंयोगस्य विभागादिगुणानां चाश्रयः कालः सिद्धः ।

काल का सम्पूर्ण द्रव्यो के साथ संयोग तो हो ही रहा है जो कि कोई संयोग तो सादि है। और कोई संयोग अनादि है यहा वहा जा रहे जीव और पुद्गलों का उन उन प्रदेशों मे वर्त रहे कालाणुओ के साथ हुआ सयोग सादि है और अखण्ड धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्यो के साथ उन उन कालाणुओ का अनादि संयोग है। इसी प्रकार अव्यापक और क्रियावाले जीव द्रव्यों या पुद्गल द्रव्यो के साथ हुआ विभाग भी काल का गुण है, यहा यह कहना है कि वैशेषिको ने विभाग को सयोग का नाश करने वाला सादि गुण माना है किन्तु धर्म आदिको के प्रदेशो की अपेक्षा काल का अनादि विभाग भी होसकता है सुदर्शन मेरु की जड मे ठहर रहे कालाणुओ का सर्वार्थसिद्धि गत धर्म, अधर्म, आकाश के प्रदेशो के साथ होरहा विभाग अनादि है रत्नप्रभा मे सयुक्त होरहे कालाणुओ का सिद्ध जीवों के साथ अनन्त काल तक के लिये विभाग हो गया है।

यदि परम पूज्य सम्मेदशिखर पर जघन्य युक्तानन्त प्रमाण अभव्य जीवो का जन्म लेना नही स्वीकार किया जाय तो सम्मेदशिखर के सम्बन्धी कालाणुओ का अभव्यो के साथ अनादि विभाग कहा जा सकता है अलोकाकाश के प्रदेशो के साथ तो सभी कालाणुओ का अनादि अनन्त विभाग है, यो काल मे संयोग, विभाग, गुणो को साध दिया गया है। यद्यपि सयोग या विभाग कोई अनुजीवी गुण मे नही गिनाये गये है जैन सिद्धान्त अनुसार सयोग विभागो को पर्याय कहा जा सकता है। नित्य परिणामी गुण नही। तथापि वैशेषिको के यहा सयोग विभागो की गुणस्वरूप से प्रसिद्धि होने के कारण तथा उल्लेख योग्य प्रधान पर्याय होने से सयोग और विभाग को गुण कह दिया है।

बात यह है कि जैन ग्रन्थो मे अनेक स्थलो पर अन्य मतो की आभा पड जाती है जिसका कि विशेष क्षति नही होने के कारण क्वचित् लक्ष्य नही किया जाता है, वस्तुतः यथार्थ विचार करने पर गम्भीर विद्वानो को उस मिले हुये आभास का स्पष्टी करण कर देना चाहिये अन्यथा कदाचित् इसका भयकर परिणाम होजाता है। वृद्ध पुरुष का चचल, अलबेली. युवती के परिणयन समान इस जैन दर्शन का अन्य दर्शनीय वाचाओ के योग कर देने की टेव से कदाचित् अक्षम्य अपसिद्धान्तो की उत्पत्ति होजाती है। यहाँ ग्रन्थकार महाराज ने वैशेषिको को समझाने के लिये सयोग और विभाग को काल का गुण कह दिया है सख्या, परिमाण, आदि भी काल के गुण है, वैशेषिको ने भी कालद्रव्य के सख्या, परिमाण पृथक्त्व सयोग विभाग, ये पाच गुण इष्ट किये है वस्तुतः विचारा जाय तो सख्या कोई प्रतिजीवी या अनुजीवी गुण नही है, केवल आपेक्षिक धर्म (गुण) है।

गोल चलनी का कोई भी छेद दसवा, पचासवा, सौवां, डेढसौवा, आदि अनेक संख्यो वाला होसकता है हजार रूपये की थैली मे चाहे कोई भी रुपया अन्यो की अपेक्षा से गिना गया बीसवा, दोसौवां, हजारवाँ होजाता है। गुण की परिभाषा तो यह है कि जो अपने से विपक्ष को नही धार सके पुद्गल मे रूप गुण है तो वहा ही रूपाभाव गुण नही ठहर सकता है जीव मे चेतना गुण का कोई सहोदर अचेतना गुण नहीं है, परिमाण भी प्रदेशवत्त्व गुण का विकार व्यजन पर्याय है, केवल अन्य

मत्तों की प्रसिद्धि अनुसार इनको गुण कह दिया गया है यो सामान्य रूप से सम्पूर्ण द्रव्यो के साथ होरहे संयोग और विभाग, संख्या, परिमाण,पृथक्त्व, आदि गुणोका आश्रय होरहा काल द्रव्य सिद्ध है।

विशेषेणतु सूक्ष्मामूर्तत्वागुरुलघुत्वैकप्रदेशत्वादयस्तस्य गुणा इति सूक्ष्मत्वादिविशेष-गुणाश्रयश्च क्रमवृत्तीनां पदार्थानां पुद्गलादिपर्यायाणां वृत्तिहेतुत्वपरिणामक्रियाकारणत्व-परत्वापरत्वप्रत्ययहेतुत्वाख्याः पर्यायाश्च कालस्य सति यैस्तत्सत्तानुमानमिति। गुणपर्यायवान् कालः कथं न द्रव्यलक्षणभाक्? ततः कालो द्रव्यं गुणपर्ययवत्वाज्जीवादिद्रव्यवदिति तस्या-द्रव्यत्वविज्ञाननिवृत्तिः।

हां विशेष रूप से विचार करने पर तो उस काल द्रव्य के सूक्ष्मत्व, अमूर्तत्व, अगुरुलघुत्व, एकप्रदेशत्व, अचेतनत्व आदि भी गुण है अत्यन्त परोक्षपदार्थ सूक्ष्म कहा जाता है रूप आदि से रहित को अमूर्त कहते है द्रव्य से द्रव्यान्तर नही होजाय, गुण का गुणान्तर नही होजाय, पर्याय का अन्य विवर्त स्वरूप विपरिणाम नही होजाय इस असकीर्णता का सम्पादक अगुरुलघुत्व गुण है। आकाश के कल्पना कर नापलिये गये परमाणु बराबर छः पहलू अठकोने एक प्रदेश मे ही वृत्ति होना एक प्रदेशत्व है, ज्ञान, दर्शन, परिणतियो का नही होसकना अचेतनत्व है इस प्रकार सूक्ष्मत्व, अमूर्तत्व, आदि विशेष गुणो का अधिकरण भी काल द्रव्य है।

तथा प्रति समय क्रम से वर्त्त रहे पुद्गल, जीव, आदि की पर्यायों स्वरूप पदार्थों की वर्तना का हेतुपना काल की पर्याय है। और परिणाम उपजा देने का कारणपना, क्रिया का कारणपना, जेठे मे परत्व बुद्धि उपजाने का हेतुपना, कनिष्ठ मे अपरत्व बुद्धि करा देने का निमित्तपना इत्यादि नामो को धार रही पर्यायें काल द्रव्य की है जिन गुण और पर्यायो से कि उस काल की सत्ता का अनुमान होजाता है।

अर्थात्—काल द्रव्य अत्यन्त परोक्ष है अर्वाग्दर्शी पुरुषों में से किसी एक निष्णात विद्वान् को ही उसका अनुमान होसकता है काल के ज्ञापक लिंग माने गये गुण और पर्याये है इस प्रकार गुण और पर्यायो का आश्रय होरहा काल भला द्रव्य के उक्त लक्षण का धारी क्यो नही होगा? यानी काल अवश्य ही द्रव्य है। तिस कारण अब तक सिद्ध कर दिया है कि काल (पक्ष) द्रव्य है (साध्य-दल) गुणों और पर्यायो वाला होने से (हेतु) जीव पुद्गल आदि द्रव्यो के समान अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार उस कालके अद्रव्यपन के विज्ञान की निवृत्ति होजाती है जो कि ग्रन्थकारने पहिली वार्त्तिक में निर्देश किया है। श्वेताम्बरो के यहा मुख्य काल द्रव्य का स्वीकार नहीं किया जाना समुचित नहीं है वैज्ञानिक यानी चार्वाक भी काल द्रव्य को नही मानते है उक्त सूत्र द्वारा इन वैज्ञानिकों के विज्ञान की निवृत्ति कर दी गयी है।

कोई पूछता है कि वर्तना नामके लक्षण को धारने वाले मुख्य कालद्रव्य को उक्त सूत्र से कह दिया है किन्तु अब यह बताओ कि वर्तना, परिणाम आदि द्वारा लक्षण करने योग्य व्यवहार काल

को सिद्धि में क्या प्रमाण है ? अथवा काल कितने भावो को धारता है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं ।

सोऽनंतसमयः ॥ ४० ॥

वह प्रसिद्ध व्यवहार काल अनन्त समयों को लिये हुये है । अर्थात्—अक्षय अनन्तानन्त अतीत काल और एक वर्तमान काल तथा अतीत से अनन्तानन्तगुणा भविष्यकाल इन में होने वाले अनन्त समयो को व्यवहारकाल धार रहा है अथवा एक एक कालाणु द्रव्य का पदार्थो की भूत, वर्तमान, भविष्य काल के समयो सम्बन्धी वर्तनाओ का हेतु होरहा वर्तनाहेतुत्व गुण अनन्त पर्यायों वाला है, अत. एक कालाणु द्रव्य भी अनन्त समया वाला उपचार से कहा जा सकता है सब से छोटा व्यवहार काल का अंश समय है इससे छोटे काल यानी पाव, आधे, पोन समय मे कोई भी पूरा कार्य सम्पन्न नही होसकता है पुद्गल परमाणु चाहे एक प्रदेश से अपने निकटवर्ती दूसरे प्रदेश पर जाय अथवा चौदह राजू तक जाय इस पूरेकार्य मे एक समय लेलेगी काल के ऐसे अनन्त समय है ।

परमसूक्ष्मः कालविशेषः समय, अनन्ताः समया यस्य सोनंतसमयः कालोख्यो द्रव्यः ।

भावार्थ- जैसे परिमाण गुण की आकाश से लगा कर लोक, स्वयंप्रभाचल, सुमेरु, जम्बूवृक्ष, हाथी, घोडा, घडा, कटोरा, वेर, पोस्त, षडणुक, त्र्यणुक, द्वयणुक, मे तरतम भाव से पायी जारही सूक्ष्मता विचारी अन्त मे जाकर परमाणु पर अन्तिम प्रकर्ष को प्राप्त होजाती है, उसी प्रकार व्यवहार काल की सूक्ष्मता भी तरतम अनुसार अभव्यो का अनाद्यनन्त काल, सिद्ध परमात्मा होचुके भगवान् श्री ऋषभदेव का साद्यनन्त काल लोक प्रदेश परिमितकाल, सूच्यगुल, कल्प, पल्य, कोटिपूर्व, वर्ष मॉस दिन, घडी, लव, उच्छ्वास, आवलि, आवलि का असख्यातवा भाग, आदि इन कालों मे प्रकर्ष को प्राप्त होरही सन्ती एक समय पर जाकर अन्तिम विश्राम लेती है, यह समय सर्वोत्कृष्ट परम सूक्ष्म होरहा काल विशेष है ।

यद्यपि एक समय में परमाणु चौदह राजू गमन करजाती है, अत. समय के भी ठुस नीचे से चली परमाणु के मध्यवी रत्नप्रभा, ऋतुविमान, ब्रह्मस्वर्ग, सर्वार्थसिद्धि उपरिम तनवातवलय, आदि मे पहुँचने की अपेक्षा अनेक सूक्ष्म भेद किये जा सकते है, तथापि जगत् का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यशाली कोई भी पूरा कार्य एक समय से कमती काल मे नही होसकता हैं, अतः परम निरुद्ध काल का अंश समय ही माना जाता है जैसे कि छह ओर से छह परमाणुओं के बन्ध होने योग्य पैलो के होने पर भी एक परमाणु को अनादि अनन्त काल में उससे छोटा टुकडा नही होने के कारण अन्तिम लघु अवयव मान लिया जाता है अनेक परमाणु के पिण्ड जैसे द्वयणुक, उत्संज्ञासज, रथरेणु, घट, आदि स्कन्ध है

उसी प्रकार समयो के पिण्ड आवलि, दिन, वर्ष, कल्पकाल आदि है अन्तर इतना ही है, कि परमाणुओं की दैशिक प्रत्यासत्ति अनुसार पिण्ड होकर बने हुये द्वयणुक, घट, पर्वत, आदि स्कंध, तो वास्तविक पुद्गल पर्याय स्वरूप हैं किन्तु समयो कि कालिक प्रत्यासत्ति अनुसार धारा बना कर कल्पित किये गये आवलि, वर्ष, पल्य, आदि व्यवहार काल तो वस्तुभूत किसी द्रव्य की उत्पाद व्यय ध्रौव्य शाली अनुजीवी पर्यायें नही है। हां व्यवहार नय द्वारा ज्ञेय पदार्थ अवश्य है।

'दव्वपरि वट्ट रूपो जो सो कालो हवेइ ववहारो' (द्रव्यसंग्रह) इस सिद्धान्त अनुसार ऋतु परिवर्तन, सूर्यगति भूविकार नियति, आदि कारणो से हुये द्रव्य परिवतन को यदि व्यवहार काल माना जाय तब तो वे द्रव्यों की मुख्य पर्याय है। यो इस सिद्धान्त का विवेक कर लेना चाहिये जिस काल के समय अनन्त है वह काल अनन्त समयों वाला समझ लेना चाहिये मुख्य काल और व्यवहार काल दोनों की अनन्त समयो से सहित पने की उपपत्ति की जा सकती है।

पर्यायतो द्रव्यतो वा व्यवहारतः परमार्थतो वेतिशंकायामिदमुच्यते।

यहा कोई विनीत शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है कि वह काल अनन्त समयों वाला क्या पर्याय से है? अथवा क्या द्रव्य रूप से काल अनन्त समय वाला है? । या व्यवहार की अपेक्षा काल के अनन्त समय बताये गये है? अथवा क्या परमार्थ रूप से वह काल अनन्त समयवान् है? बताओ इस प्रकार शकाये उपस्थित होने पर ग्रन्थकार द्वारा यह अग्रिम वार्तिक यो कहा जाता है कि—

सोनंतसमयः प्रोक्तो भावतो व्यवहारतः।
द्रव्यतो जगदाकाशप्रदेशपरिमाणकः ॥ १ ॥

भाव यानी पर्याय से वह काल सूत्रकार करके अनन्तसमयवाला बहुत अच्छा कहा जा चुका है अतः व्यवहार से पुद्गल आदि अनन्त पदार्थों की न्यारी न्यारी जाति अनुसार हुई वर्तनाओं की प्रयोजक होरही अनन्त शक्तियों का धारण करने के एक कालाणु भी अनन्त समय वाला यानी अनन्त शक्ति वाला कह दिया जाता है, द्रव्यरूप से काल अनन्त नहीं है। किन्तु सात राजू लम्बी जगत् श्रेणी के घन प्रमाण लोकाकाशके बराबर संख्यापरिमाण का धाररहा है।

अर्थात्—लोकाकाश के प्रदेशों बराबर काल द्रव्य असख्यातासंख्यात है अन्य द्रव्यो के समान कालाणु भी प्रतिक्षण एक पर्याय के धारण अनुसार भूत, वर्तमान, भविष्य, कालो की अनन्त परिणतियो वाली है। यद्यपि वस्तुत विचारा जाय तो समय भी व्यवहार काल है जो कि एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर मन्दरूप से गमन कर रही परमाणु की क्रिया द्वारा कल्पित किया गया है, तथापि समय का अर्थ काल की पर्याये या वर्त्तयित्री शक्तियें कर अनन्त समयो वाला परमार्थ काल भी होजाता है।

भावः पर्यायस्तेनानंतसमयः कालोनंतपर्यायवर्तनाहेतुत्वात्। एकैको हि कालाणुरनंतपर्यायान् वर्तयते प्रतिपर्यायं शक्तिभेदादन्यथा। ततोनंतशक्तिः स्यादनंतसमयः व्यवहारतोऽ

भिधियते समयस्य व्यवहारकालत्वादावलिकादिवत् ।

भाव का अर्थ पर्याय है उस पर्याय करके अनन्त समयोवाला कालद्रव्य कहा जाता है क्योंकि जीव आदि अनन्त पदार्थो के पर्यायो की वर्तना का हेतु वह काल द्रव्य है, जब कि एक एक कालाणु भी लोकाकाश मे प्रवर्त रहे अनन्त पर्यायो की वर्तनाओ को करा देती है, एक द्रव्य अपनी अपनी भिन्न भिन्न शक्तिओ से प्रत्येकक्षण मे युगपत् अनेक कार्यको कर सकता है अन्यथा यानी विभिन्न शक्तियों के विना वह अनेक कार्यों का सम्पादन नही कर सकता है,'यावन्ति कार्याणितावन्ति स्वभावान्तराणि तथा परिणामात्' अष्टसहस्री मे इस सिद्धान्त को अच्छा पुष्ट किया है, बात यह है कि कारण मे शक्तिभेद माने विना उस एक कारण से अनेक कार्यों का उत्पाद होना असम्भव है, जैसे कि मंत्र से सस्कृत की गयी अग्नि एक पुरुष को जला देती है, और वही आग दूसरे पुरुष को नही भुरसाती है, सुशील जीव के लिये सर्प माला होजाता है, जब कि कुशीलपुरुष के लिये वही भयकर सर्प है, न जाने किस पापी जीव को निमित्त पाकर मार्ग मे काटे ककड फैल जाते है और किसी जीव के पुण्य अनुसार वे काटे ककड तितर बितर होजाते है एक मेघ जल से अनेक प्रकार के कार्य होजाते है यहा भी जल मे अनेक कार्यो को उपजाने वाली अनेक शक्तिया माननी पडेगी खेत की मिट्टी अनेक वनस्पतियो स्वरूप परिणम जाति है, उस की अन्तरग मे कादृश शक्तियो के विना सभी कार्य रूक जाते हैं जैसे की बीज बो देने पर भी ऊपर की मिट्टी या जल गयी मट्टी अनेक वनस्पतियों को उत्पन्न नही करपाती है, इसी प्रकार घाम, वायु उर्जिरिया आदि मे अनेक कार्यों की प्रयोजक होरही नाना शक्तिया माननी पडती है ।

यद्यपि कालाणु द्रव्य परिशुद्ध है उसमे विभाव परिणतियां नही होती है तथापि कालाणु की पर्याय मे अनेक स्वभावो का उत्पाद, व्यय होते रहना मानना पडता है जो ही कालाणु किसी जीव को मोक्षमार्ग मे लग जाने की वर्तना करा रही है वही अन्य जीव को नरक मार्ग मे प्रवर्तने की उदासीन कारण होजाती है इस ही कारण वन्दनीय नही है नीलाजना के नृत्य में हजारो प्रेक्षक मनुष्यो के हृदय मे शृंगार रस को उपजाने की शक्ति है तो साथ ही वीतराग विज्ञानी भगवान् ऋषभदेव के अन्त.करण मे वैराग्यभाव उपजाने की शक्ति भी परिवर्तनात्मक नृत्य मे मानी जाती है शक्ति के विना कार्य को कौन करे ? यो अनेक दृष्टान्तो से एक कालाणु मे अनन्तशक्तिया सिद्ध कर दी जाती है तिसकारण अनन्तशक्ति वाला होरहा सन्ता वह कालाणुद्रव्य ही व्यवहार से अनन्त समयो वाला कह दिया जाता है, कारण कि आवलि, दिन, वर्ष आदि के समान समय भी व्यवहार काल है, अतः समय का प्रसिद्ध अर्थ एकक्षण करने से अनन्त क्षणो वाला कालाणु द्रव्य नही होसकता था किन्तु यहां 'कालश्च' इस निश्चय काल द्रव्य के प्रतिपादक सूत्र के लगे हाथ पीछे 'सो ऽनतसमयः' सूत्र कहा गया है, अतः निश्चय काल में अनन्त समय सहितपना तभी अच्छा जचता है, जब कि समय का अर्थ शक्तिया कर लिया जाय अनन्त शक्ति वाले काल द्रव्य को व्यवहार से अनन्त समय वाला कहा जा सकता है ।

द्रव्यतस्तु लोकाकाशप्रदेशपरिमाणकोऽसंख्येय एव कालो मुनिभिः प्रोक्तो न पुनरेक एवाकाशादिवत्, नाप्यनंतः पुद्गलात्मद्रव्यवत् प्रतिलोकाकाशप्रदेशं वर्तमानानां पदार्थानां वृत्तिहेतुत्वसिद्धेः ? लोकाकाशाद्बहिस्तदभावात् ।

द्रव्य सद्भाव से विचार करने पर तो वह काल लोकाकाश के असंख्यातासंख्यात प्रदेशों बरोबर परिमाण (संख्या) का धारी होरहा असंख्येय ही मुनी महाराजो ने बहुत अच्छा कहा है । " लोयायासपदेसे इक्केक्के जेट्ठिया हु इक्केक्का । रयणाणं रासी मिव ते कालाणु असखदव्वाणि " । किन्तु काल द्रव्य फिर आकाश, धर्म, अधर्म, इन तीन द्रव्यों के समान (व्यतिरेकदृष्टान्त) एक ही नही है तथा पुद्गलद्रव्य या आत्म द्रव्यों के समान वह काल अनन्त द्रव्य भी नही है । अर्थात्— जैसे धर्म, अधर्म, आकाश, ये तीन द्रव्यें एक एक है वैसा काल द्रव्य एक ही द्रव्य नही है । अथवा जैसे जीव और पुद्गल प्रत्येक द्रव्य अनन्तानन्त हैं वैसे कालाणुयें अनन्तानन्त नहीं है किन्तु लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशपर वर्त रहे अनेक पदार्थों की वर्तना का हेतु होने के कारण कालाणु द्रव्य एक एक प्रदेश पर ठहर रहे एक एक कालाणु द्रव्य अनुसार अनेक है यों असंख्याते काल द्रव्यों की सिद्धि होजाती है । लोकाकाश से बाहर उन कालाणुओं का अभाव है असम्भवद्बाधक होने से आगम प्रमाण द्वारा और कुछ अनुमानों से भी अत्यन्त परोक्ष पदार्थों की सिद्धि होजाती है ।

कथमेवमलोकाकाशस्य वर्तनं कालकृतं युक्तं तत्र कालस्यासंभवादिति चेत् अत्रोच्यते

यहा कोई प्रश्न करता है कि लोकाकाश से बाहर जब कालाणुयें नही है और वे कालाणुयें ही सम्पूर्ण द्रव्यो की वर्तनाओ को कराती है तो बताओ फिर अलोकाकाश की वर्तना होना काल से किया गया किस प्रकार युक्तिपूर्ण कहा जा सकता है ? क्योंकि वहा अलोकाकाश मे काल द्रव्य का असम्भव है । यो प्रश्न करने पर तो इस प्रकरण में ग्रन्थकार द्वारा यह अग्रिम वार्तिक कहा जाता है

लोकाद्बहिरभावे स्याल्लोकाकाशस्य वर्तनं ।
तस्यैकद्रव्यतासिद्धेर्युक्तं कालोपपादितं ॥ २ ॥

लोक से बाहर कालाणुओं का अभाव होने पर भी लोकाकाश का वर्तना तो कालाणुओं करके हुआ अभीष्ट किया ही गया है । जब कि उस लोकाकाश, और अलोकाकाश का एक अखण्ड द्रव्यपना सिद्ध है इस कारण उस अलोकाकाश की वर्तना भी यहां ही के कालाणुओं द्वारा उपपन्न करा दी जाती है । बात यह है कि लोक और अलोक के बीच में कोई भींत नहीं पडी हुयी है और भींत या वज्रपर्वत भी पडा हुआ होता तो अप्राप्यकारी कारणों के कार्यों में वह दीन वज्र विचारा क्या प्रतिबन्ध कर सकता था । तैजस, कार्मण, शरीर ही अनेक योजनों मोटी शिलाओ के बीच मे होकर निकल जाते हैं पुण्य, पाप, या तीर्थंकर प्रकृति अप्राप्य होकर ही असंख्य योजनों दूर के कार्यों को कर रहे हैं फिर कारणों की शक्तियों का परामर्श करते हुये डर किसका है इसी प्रकार त्रसनाली के अन्त

में या मानुषोत्तर पर्वत के ऊपर कोई बिजली का करन्ट नही भरदिया है। तथा यहां प्रकरण मे तो कोई खटका भी नेही है।

जब कि लोक, अलोक, दोनो ही एक अखण्ड आकाश द्रव्य है लोकाकाश को जब कालाणुयें वर्ता रही हैं तो सम्पूर्ण आकाश उनके द्वारा वर्तेगा वीणा के तार में एक स्थल पर आघात होने से सम्पूर्ण तार झनकार करता है केवल धर्म, अधर्म, द्रव्यो की व्यंजन पर्यायो अनुसार " सत्तेक्कपच इक्का मूले मज्झेतहेव वम्भते, लोयंते रज्जूये पुव्वावर होइ विस्यारो " " दक्खिण उत्तर दो पुण सत्तवि रज्जू हवेइ सव्वत्थ " यो उस अखण्ड आकाश में ही लोकाकाश की कल्पना कर ली गयी है उतने ही आकाश में प्रत्येक प्रदेशपर एक एक वतरही असख्याती कालाणुये भरी हुई है " लोकाद्वहिरभावेऽस्यालोकाकाशस्य वर्तनं " यों पाट अच्छा दीखता है लोक से वाहर कालाणु का अभाव होने पर भी इस अलोकाकाश का वर्त जाना तो उस आकाश के अखण्ड एक द्रव्यपन की सिद्धि होजाने से उन्ही कालाणुओ द्वारा किया जाकर युक्तिपूर्ण उपपादन किया जा चुका समझ लिया जाय।

न ह्यलोकाकाशं द्रव्यांतरमाकाशस्यैकद्रव्यत्वात्तस्य लोकस्यांतर्वहिश्च वर्तमानस्य वर्तनं लोकवर्तिना कालेनोपपादितं युक्तं, न पुनः कालानपेक्षं सकलपदार्थवर्तनस्यापि कालानपेक्षत्वप्रसंगात् न चैतदभ्युपगंतुं शक्यं, कालास्तित्वसाधितत्वात्।

अलोकाकाश कोई निराला स्वतंत्र द्रव्य नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण आकाश एक ही द्रव्य है लोक के भीतर और बाहर सर्वत्र विद्यमान होरहे उस अखण्ड आकाश की वर्तना करना तो लोकाकाश में वर्त रहे कालद्रव्य करके हुआ समुचित उपपादन प्राप्त होजाता है अलोकाकाश की वर्तना फिर काल द्रव्य की नही अपेक्षा कर नही होसकती है अन्यथा सभी जीव आदि पदार्थों की वर्तना होजाने को भी काल की नही अपेक्षा रखते हुये हीसम्भव जाने का प्रसंग आजावेगा किन्तु यह स्वीकार नही कर सकते हो कारण कि अखिलपदार्थों की वर्तना रूप उपकार करने के हेतु होरहे काल का अस्तित्व साधा जा चुका है " वर्तना परिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य" इस सूत्र के ऐदपर्य को समझा दिया गया है।

ननु च जीवादीनि षडेव द्रव्याणि गुणपर्यायवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्ययुक्तं गुणानामपि द्रव्यत्वप्रसंगात्तेषां गुणपर्ययवत्त्वप्रतीते रित्यारेकायामिदमाह।

यहां कोई तर्क शाली पण्डित प्रश्न उठाते हैं कि गुणों और पर्यायों से सहितपना अन्यथा यानी द्रव्यपन के विना नही वन सकता है इस अविनाभावी हेतु से आप जैनों ने जो जीव, पुद्गल, आदि छह ही द्रव्योको अभीष्ट किया है यह आपका कहना तो अनुचित है क्योंकि यों तो इस हेतु अनुसार चेतना, रूप, आदि गुणो को भी द्रव्यपन का प्रसग आजावेगा समवाय सम्बन्ध से नहीं सही एक समवाय नामक सम्बन्ध से उन गुणो को भी गुणो से सहितपना प्रतीत होरहा है और पर्यायें तो

गुणों में प्रवर्तती ही हैं अत गुणों और पर्यायो से सहितपन की प्रतीति होजाने से गुणो को भी द्रव्यपना प्राप्त हुआ यों व्यभिचार या अतिव्याप्ति दोष आता दीखता है इस प्रकार आशका प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अगले सूत्र को कहते हैं।

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥

जिनका आश्रय द्रव्य है और जो स्वयं गुणो से रहित हैं वे गुण है। अर्थात् सभी गुण अविष्वग्भाव सम्बन्ध से द्रव्य मे ठहरते है पुन उन गुणो में दूसरे गुण निवास नही करते है अत: गुणो के गुण सहितपन का लक्ष्य कर उठायी गयी व्यभिचार दोष की शका का समाधान होजाता है.

आश्रयशब्दोऽधिकरणसाधनः कर्मसाधनो वा द्रव्यशब्द उक्तार्थः द्रव्यमाश्रयो येषां ते द्रव्याश्रया., निष्क्रांता गुणेभ्यो निर्गुणा. एवंविधा गुणाः प्र्ा ... न पुन यथा

यहा सूत्र मे पडे हुये आश्रय शब्द को अधिकरण मे अच् प्रत्यय कर साध लिया जाय "यत्र गुणा आश्रयन्ते स आश्रयः" जिस अधिकरण मे गुण आश्रय ले रहे है वह आश्रय है द्रव्य है आश्रय जिनका वे द्रव्याश्रय माने गये गुण है अथवा कर्म मे अच् प्रत्यय कर पुल्लिग आश्रय शब्द का साधन कर लिया जाय । "यो गुणै राश्रियते स आश्रय" । यहाँ अन्तर इतना ही प... जाता है कि गुणा यत्र आश्रयन्ते यो निरुक्ति करने पर गुणो की स्वतंत्रता झलकती है और "गुणराश्रियते" यों निवचन करने से गुणों को परतत्रता की ओर जाना पडता है । वात यह है कि माता और पुत्र के समान द्रव्य और गुणो का स्वतंत्रता, परतंत्रता, इन दानो ढगो से सम्बन्ध होरहा है वह परतत्रता भी बडी मीठी है जो कि स्व की रक्षा करती हुयी स्व को उचित सन्मार्ग पर ले जाने के लिये प्रयोजित करती रहती हैं। श्वसुर, माता पिता, गुरु, जिनागम इनके अधीन रहने मे बढिया ठोस आनन्द छिपा हुआ है। साथ ही वह रूखी स्वतंत्रता भी कानी कौड़ी की नही है जो कि अनगल प्रवृत्ति का कारण होवे।

छोटा बच्चा स्वाधोन भी है और माता के पराधीन भी है इसो प्रकार स्नेह वत्सला माता भी स्वाधीनता से बच्चे का पालन, पोषण या प्रेम-व्यवहार करती हुयी उस बच्चे के पराधीन भी है माता के दूध की वृद्धि भी बालक के पुण्य अनुसार हो रही है । यही दशा द्रव्य और गुणो की है जिस प्रकार शरीर में आत्मा ठहरती है या आत्मा को शरीर मे ठहरना पडता है तिस प्रकार यहां वस्तु परिणति अनुसार हयी कारको की विवक्षा से स्वातंत्र्य या पारतंत्र्य विचार लिये जाते है। प्रकरण मे द्रव्य और गुणों मे आश्रय आश्रयिभाव का सूक्ष्मरीत्या गवेषण कर लेना चाहिये । द्रव्य शब्द का अर्थ हम पहिले कह चुके है अत: जिन गुणो का आश्रय द्रव्य है वे गुण विचारे द्रव्याश्रय हैं तथा जो गुणो से निष्क्रान्त यानी विरहित होरहे है वे निर्गुण हैं इस प्रकार के द्रव्याश्रय और निर्गुण होरहे गुण समझ लेने चाहिये किन्तु फिर अन्य प्रकारो से गुणों की परिभाषा करना निर्दोष नहीं पड़ेगा।

तत्र द्रव्याश्रया इति विशेषणवचनाद्गुणानां किमवमीयत इत्युच्यते ।

उस गुण के प्रतिपादक लक्षण सूत्र मे "द्रव्याश्रया,, इस विशेषण का कथन करने से गुणो का क्या स्वरूप निर्णीतकर लिया जाता है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार करके अगली वार्तिक द्वारा यह समाधान कहा जा रहा है उसको सुनिये ।

द्रव्याश्रया इति ख्यातेः सूत्रेऽस्मिन्नवसीयते
गुणाश्रया गुणत्वाद्या न गुणाः परमार्थतः ॥ १ ॥

इस सूत्र मे "द्रव्याश्रया" इस विशेषण का प्रकृष्ट कथन करने से यह निर्णीत कर लिया है कि गुणो के आश्रित होरहे गुणत्व, रूपत्व, द्रव्याश्रयत्व, आदि स्वभाव तो वास्तविक रूप से गुण नही है क्योंकि वे स्वभाव गुणों के आश्रित है और सूत्रकार ने द्रव्य के आश्रित होरहे को गुण कहा है अतः अतिव्याप्ति दोष टल जाता है ।

न हि गुणत्व सवज्ञज्ञेयत्वधर्मा गुणाश्रया गुणा शक्यव्यवस्थाः, परमार्थतस्तेषां कथंचिद्गुणेभ्योऽनर्थान्तरतया गुणेषूपचारात् । तत्त्वतस्तेषां गुणत्वे गुणानां द्रव्यत्वप्रसगाद्गुणगुणिभावव्यवहारावस्थातविरोधात् ।

जिनके आश्रय गुण है वे गुणत्व या सवज्ञ भगवान् करके जानने योग्यपन आदि धर्म भी गुण होजाय यह व्यवस्था नहीं की जा सकती है क्योंकि गुणो के उन धर्मो का परमार्थ रूप करके गुणो से कथंचित् अभेद होजाने के कारण गुणपन का उपचार होरहा है यदि वास्तविक रूप से उन धर्मों को गुणपना इष्ट कर लिया जायगा तो गुणो को द्रव्य हो जाने का प्रसग आजावेगा क्योंकि जैसे गुणत्व गुण मे है उसी प्रकार गुण द्रव्य मे है । और ऐसा होजाने से गुणगुणीभाव के व्यवहार की व्यवस्था वनी रहने का विरोध होजावेगा । अर्थात्-द्रव्य गुणी है और उसके रूप, चेतना, आदिक परिणामी गुण है यह नियत व्यवस्था है यदि गुणो मे ठहर रहे स्वभावो का और उनमे भी ठहर रहे अन्य अनेक अपरिणामी धर्मों को गुण कह दिया जायगा तो गुण गुणी भाव का व्यवहार तात्त्विक रूप से नही टिक सकेगा । गुणवाला द्रव्य होता है जब कि गुणत्व धर्म भी गुण हो जायगा तब तो गुणत्व धर्म वाला गुण विचारा द्रव्य बन बैठेगा जो कि इष्ट नही है ।

द्रव्येस्विषु गुणास्तदुपचरिता एव भवंतु विशेषाभावादित्ययुक्तं, क्वचिन्मुख्यगुणाभावे तदुपचारायोगात् । ततो द्रव्याश्रया इति वचनादद्रव्याश्रयाणां गुणत्वादीनां गुणत्वं व्यवर्तितमवसीयते ।

यदि यहा कोई यह शका करे कि जैसे गुणो मे पाये जारहे गुणत्व, रूपत्व, आदि धर्मों को उपचार से गुणपना है उसी प्रकार द्रव्यों मे ठहर रहे सुख, रूप, आदि गुण भी उपचरित ही होजाओ

क्योंकि गुणों में ठहर रहे वे धर्म गुणों के स्वभाव हैं उसी प्रकार द्रव्यों में ठहर रहे गुण भी द्रव्यों के स्वभाव हैं कोई अन्तर नहीं है। ग्रन्थकार कहते है कि यह कहना तो युक्ति रहित है क्योंकि कहीं पर भी मुख्य गुणों को माने विना उनका अन्यत्र उपचार करने का प्रयोग है।

प्रसिद्ध अग्नि का नटखटी, चंचल, वालक में उपचार किया जा सकता है अप्रसिद्ध अश्व-विषाण का कही भी उपचार होना नही देखा जाता है तिस कारण "द्रव्याश्रया,, इस वचन से द्रव्य के आश्रित नही होरहे गुणत्व, रसत्व, ज्ञेयत्व आदि के गुणपन की व्यावृत्ति की जा चुकी निर्णीत हो जाती है।

निर्गुणा इति वचनात् किं क्रियते इत्याह

यहा कोई जिज्ञासु पूछता है कि सूत्रकार ने निर्गुणा इस पद का प्रयोग करने से क्या पद-कृत्य किया है ? बताओ इस प्रकार आकांक्षा प्रवतने पय ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा इसका समाधान करते है।

निर्गुणा इति निर्देशात्कार्यद्रव्यस्य वार्यते।
गुणभावः परद्रव्या श्रयिणोपीति निर्णयः ॥ २ ॥

इस सूत्र मे " निर्गुण " ऐसा कथन करने से घट, पट, आदि कार्य द्रव्यों के गुणपन का निवारण कर दिया जाता है। भले ही वे कार्य द्रव्य अपने कारण होरहे दूसरे द्रव्यो के आश्रित होरहे हैं तो भी वे घट आदिक पदार्थ गुणसहित है अतः गुण का पूरा लक्षण घटित नही होने से कार्य द्रव्य में अतिव्याप्ति नही हुई। अर्थात्—जैसे गुणो से रहित होरहे भी गुणत्व आदि की " द्रव्याश्रया " कह देने से व्यावृत्ति होजाती है उसी प्रकार स्वकीय कारण द्रव्यों के आश्रित होरहे भी कार्य द्रव्यो का गुणपना इस निर्गुण पद के कथन से निवारित होजाता है लक्षण के घटका वयव होरहे पदो का लक्ष्य स्वरूप का निर्देश करना तो गौण फल है हां इतर अलक्ष्यो की व्यावृत्ति करना उनका प्रधान फल है।

द्रव्याश्रया गुणा इत्युच्यमाने ही परमाणुद्रव्याश्रयाणां द्यणुकादिकार्यद्रव्याणां गुणत्वं प्रसज्येत तन्निर्गुणा इति वचनाद्विनिवार्यते तेषां गुणित्वेन द्रव्यत्वसिद्धेः

"द्रव्याश्रयागुणाः" द्रव्य के जो आश्रित होरहे है वे गुण है इतना ही यदि गुणों के प्रतिपादक लक्षण सूत्र का कथन किया जाना माना जायगा तब तो परमाणु द्रव्यो के आश्रित होरहे द्वयणुक, त्र्यणुक, आदि द्रव्योके गुणपन का प्रसग अवश्य होजावेगा। किन्तु सूत्रकार करके "निर्गुण" एसा कण्ठोक्त पद प्रयोग कर देने से उस प्रसग का विशेष रूपेण निवारण कर दिया गया है क्योंकि वे द्व्यणुक, त्र्यणुक, घट, पट, आम, अमरूद, आदि कार्य द्रव्यो को तो रूप, रस आदि गुणों से सहित होने के कारण द्रव्यपना सिद्ध है जो की "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इस सूत्र से प्रसिद्ध कर दिया गया है अतः द्वयणुक आदि द्रव्य विचारे निर्गुण नही हैं गुणवान् हैं अतः गुण के लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष नही हुआ।

अथवा रूप, चेतना गतिहेतुत्वादयो (पक्ष) गुणा. (साध्य) द्रव्याश्रयत्वे सति निर्गुणत्वात् (हेतु) इस अनुमान के हेतु का कार्य द्रव्यो से व्यभिचार दोष नही आपाया है ।

एतेन घटसंस्थानादीनां गुणत्वं प्रत्युक्तं तेषां पर्यायत्वात् ।

इस उक्त कथन करके यानी "द्रव्याश्रया:" और निर्गुणा,, इन दोनो पदो की कीर्ति कर देने से घट की आकृति या मतिज्ञान आदि का गुणपना भी खण्डित कर दिया गया है क्योकि वे आकृति घटज्ञान,ये सब पर्याये हैं प्रदेशवत्व गुण का विकार आकृति है चेतना गुणका परिणाम मतिज्ञान है । अतः गुणो की पर्यायें गुणो मे रहती है द्रव्यों में नही । यदि पुनरपि घट की सस्थान आदि पर्यायों को घट आदि द्रव्यो के आश्रित होते सन्ते गुणरहित स्वीकार किया जायगा तब तो "द्रव्याश्रया" इस पद की विशेष व्याख्या से ही उक्त अतिप्रसग दोष टल जायगा "ये द्रव्यं" नित्यमाश्रित्य वर्तन्ते त एव गुणाः, जो नित्य ही द्रव्य के आश्रित होकर ठहरते है वे ही गुण हो सकते है पर्याये तो कदाचित् ही द्रव्यमे ठहरती है क्योकि "क्रमभाविन पर्यायाः ।" "सहभाविनो गुणाः" ये गुण और पर्यायो के सिद्धान्त लक्षण है ।

कः पुनरसौ पर्याय इत्याह ।

यहाँ प्रश्न उठता है कि गुण का लक्षण समझ लिया है कई बार परिणाम शब्द आया है "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" सूत्र के गुण का व्याख्यान कर चुकने पर पर्यायका लक्षण करना क्रम प्राप्त है अतः बताओ की वह पर्याय फिर क्या है ? ऐसी तत्व निर्णिनीषा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे है ।

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

वे धर्म आदिक द्रव्य जिस स्वरूप करके होते रहते है वह तद्भाव है वही परिणाम यानी पर्याय कहा जाता है । अर्थात्-जीव, पुद्गल, आदि द्रव्यो के या चेतना, रूप, गतिहेतुत्व, आदि गुणो के तद्भाव स्वरूप विवर्तो को परिणाम कहते है ।

जीवादीनां द्रव्याणां तेन प्रतिनियतेन रूपेण भवनं तद्भावः तेषां द्रव्याणां स्वभावो वर्तमानकालतयानुभूयमानस्तद्भावः परिणामः प्रतिपत्तव्यः । सच–

जीव आदि द्रव्यों का उस प्रतिनियत होरहे स्वरूप करके अन्तरंग, वहिरंग, कारणवश जो परिणमन है वह तद्भाव है । इसका तात्पर्य यह है कि उन उन द्रव्यों का विवक्षित वर्तमान काल में प्रवर्त रहे स्वरूप करके अनुभव किया जारहा स्वभाव ही तद्भाव है तद्भाव को यहाँ परिणाम समझ लेना चाहिये और यो वह क्या निर्णीत हुआ इसको अग्रिम वार्तिक द्वारा समझिये ।

तद्भावः परिणामोत्र पर्यायः प्रतिवर्णितः ।
गुणाच्च सहभुवो भिन्नः क्रमवान् द्रव्यलक्षणम् ॥ १ ॥

यहां " तद्भाव. परिणामः ,, इस सूत्र द्वारा पर्याय का प्रति विशेष रूप से वर्णन किया है तथा वह क्रम वाला पर्याय उस सहभावी गुण से भिन्न है। यों इन दोनों सूत्रो से गुण और पर्याय का लक्षण कर "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इस द्रव्यके प्रतिपादक लक्षण सूत्रका वखान कर दिया गया है। अर्थात् सहभावी गुण से क्रमभावी परिणाम निरालेहैं अतः गुणो और पर्यायो दोनोसे सहित होरहे पदार्थ को द्रव्य कहना समुचित है।

पूर्वस्वभावपरित्यागाज्जहद्वृत्तोत्पादो द्रव्यस्योत्तराकारः परिणामः स एव पर्यायः क्रमवान् द्रव्यलक्षणं। न वासौ गुण एव प्रतिवर्णितस्तस्य सहभाविरवारकथंचिद्भिन्नत्वेन व्यवस्थानात्।

पूर्व स्वभावो का परित्याग करते हुये द्रव्य का कालान्तर स्थायी स्वभाव की अन्वित वृत्तिता का परित्याग नही करना स्वरूप अ हद्वृत्ति के रहते हुये उत्पाद होरहा सन्ता जो उत्तर वर्ती आकार का परिग्रह है वही परिणाम है वही पर्याय क्रमवान् होरहा सन्ता द्रव्यका लक्षण है। किन्तु वह पर्याय तो गुण नही कहा गया है कारण कि उस गुण को सहभावीपना होने के कारण पर्यायो से कथचित् भिन्नपने करके व्यवस्थित किया गया है। अर्थात्–"पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितलक्षणः परिणाम." और "अन्वयिनः वा सहभाविनः गुणाः" यो भिन्न भिन्न लक्षणो अनुसार पर्याय और गुणो की व्यवस्था होरही है कथचित् भेद, अभेद, होने के कारण परिणाम के शरीर मे गुणो का ध्रौव्यपना अन्वित होरहा है और गुणों के उदर मे पर्यायों का विकारशालित्व ओत प्रोत प्रविष्ट है फिर भी "लक्खणदो हवदि तस्सणाणन्तं" मानना ही पडता है।

नन्वेवं नयद्वयविरोधस्तृतीयस्य गुणार्थिकनयस्य सिद्धेरित्यारेकायामाह।

यहां किसो का प्रश्न उठता है कि इस प्रकार सिद्धान्त में माने गये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक यो दो नयो के स्वीकार किये जाने का विरोध आता है क्योंकि तीसरे गुणार्थिक नय की आपके कहने से सिद्धि हो जाती है। अर्थात्–जिस नय का प्रयोजन द्रव्य को जान लेना है वह द्रव्यार्थिक नय है और पर्या ो को जान कर लेना जिसका अर्थ है वह पर्यायार्थिक है जब जैनो ने द्रव्य के आधेय हो रहे पर्यायो को जान लेने के लिये स्वतन्त्रतया पर्यायार्थिक नय का निरूपण किया है तो साथ ही द्रव्योमे वर्तरहे गुणों को विषय करने वाला तीसरा गुणार्थिक नय का भी पृथक निरूपण करना चाहिये गुणो के जान लेने को प्रयोजन सिद्धि भी सब को अभिप्रेत है इस प्रकार दोर्घ आशंका प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्दी आचार्य अग्रिम वार्तिको को कहते हैं।

पर्याय एव च द्वेधा सहक्रमविवर्त्तितः ।
शुद्धाशुद्धत्वभेदेन यथा द्रव्यं द्विधोदितं ॥ २ ॥
तेन नैव प्रसज्येत नयद्वैविध्यबाधनं ।
संक्षेपतोन्यथा त्र्यादिनयसंख्या न बार्यते ॥ ३ ॥

सिद्धान्त यह है कि सहभाव और क्रमभाव मे विवर्त को प्राप्त होरहा पर्याय ही इस कारण दो प्रकार माना गया है, अतः उत्पाद, व्यय, शाली क्रम भावी पर्यायो के समान सहभावी गुण भी पर्यायों मे ही परिगणित है ऐसी दशा मे पर्यायार्थिक नये हो गुणो को भी विषय कर लेती है त्यागे गुणार्थिक नयके मानने की आवश्यकता नही है जिस प्रकार कि शुद्धपन अशुद्धपनके भेद करके द्रव्य दो प्रकार का कहा जा चुका है एक ही प्रकार की द्रव्यार्थिकनय करके शुद्ध द्रव्य और अशुद्ध द्रव्य दोनो विषयभूत होजाते है अत. यो द्रव्यार्थिकनय के दो भेद मानने की कोई आवश्यकता नही है उसी प्रकार पर्यायार्थिकनय से पर्यायो और गुणो दोनो के ग्रहण होजाने का प्रयोजन साध लिया जाता है पय: अर्थात्-पानी या दूध दोनो को एक ही पात्र द्वारा पिया जा सकता है, तिस कारण जैन सिद्धान्त में संक्षेप से अभीष्ट किये गये नयो के द्रव्यार्थिक और पर्यायर्थिक यो द्विविधपन की बाधा का प्रसंग नहीं प्राप्त होसकेगा अन्यथा यानी संक्षेप से नही कह कर विस्तार से कथन करना चाहोगे तब तो नयो के प्रकारो की तीन, चार, पाच, छ , सात आदि संख्याति सख्याओं का भी निवारण नही किया जा सकता है । वस्तुओ मे जितने भी अनन्तानन्त धर्म हैं उन सब का परिज्ञान कराने वाली अनन्ती नयें होसकती हैं यो श्रुतज्ञान के अंश स्वरूप नयो के विषयों का प्रतिपादन करना माना जाय तो जितने भी अर्थ वाचक शब्द है उतनी सख्यानी नये होसकती है अत. द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नयो से गुणार्थिक नय को भले ही वढा लिया जाय हम जैनियो को कोई अनिष्टापत्ति नही है ।

संक्षेपतो हि द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति नयद्वयवचनं गुणवचनेन बाध्यते पर्यायस्यैव सहक्रमविवर्तनवशाद्गुणपर्यायव्यपदेशात् द्रव्यस्य निरूपाधित्वसोपाधित्ववशेनशुद्धाशुद्धव्यपदेशवत् । प्रपंचस्तु यथा ।

उक्त वार्त्तिकों का विवरण यो है कि जिस कारण सक्षेप से द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक यों दो ही नयो का सिद्धान्त में निरूपण करना कोई गुणों का कथन करने पर बाधित नही होजाता है । अर्थात्-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो नयो को मानने वाले जैन सिद्धान्तियो ने यदि द्रव्य के लक्षण मे पर्यायों ने साथ गुणों का भी निरूपण कर दिया है एतावता जैन सिद्धान्त में कोई बाधा नही आती है क्योंकि द्रव्य के साथ विवर्त करना और क्रम से विवर्त करना अथवा सहभावी अंशो और क्रमभावी अंशो की कल्पना इनकी अधीनता से पर्याय का ही गुण और पर्याय यह नाम निर्देश होजाता है, जैसे कि

द्रव्य का ही उपाधिरहितपन की अधीनता से ही शुद्धद्रव्य और विशेषणों से सहितपन के वश से अशुद्ध द्रव्य यो व्यपदेश होजाता है। देवदत्त कह देने से कुण्डलरहित और कुण्डलसहित दोनो ही अकुण्डल या कुण्डली देवदत्तों का परिग्रहण होजाता है हां उन नयों का विस्तार तो चाहे कितना भी बढा लो जिस प्रकार कि शास्त्रो मे वर्णित है उसको इस प्रकार समझा जा सकता है सुनिये।

शुद्धद्रव्यार्थिकोऽशुद्धद्रव्यार्थिकश्चेति द्रव्यार्थिको द्वेधा । तथा सहभावीपर्यायार्थिकः क्रमभावी पर्यायार्थिकश्चेति पर्यायार्थिकोपि द्वेधा अभिधीयतां ततस्त्र्यादिसंख्या न वार्यत एव द्विभेदस्य पर्यायार्थिकस्यैकविधस्य द्रव्यार्थिकस्य विवक्षायां नयत्रितयसद्भावः । पर्यायार्थिकस्यैकविधस्य द्रव्यार्थिकस्य द्विभेदस्य विवक्षायामित्ति कश्चित् द्वयोर्द्विभेदयोर्विवक्षायां तु नयचतुष्टयमिष्यते ।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो का प्रपच यो है कि शुद्ध द्रव्यार्थिक और अशुद्ध द्रव्यार्थिक इस प्रकार पहिला द्रव्यार्थिक नय दो प्रकार का है कर्म नोकर्मों से रहित शुद्ध आत्मा या पुद्गल परमाणुये अथवा धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन शुद्ध द्रव्यो का विषय करने वाला शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है तथा क्रोधी आत्मा ज्ञानवान् आत्मा स्कध आदि को जानने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है तिसी प्रकार पर्यायार्थिक नय भी सहभावी पर्यायार्थिक और क्रमभावी पर्यायार्थिक यो दो प्रकार का कथन कर लेना चाहिये सहभावी गुणो और क्रमभावी पर्यायो को जानते रहना इनका प्रयोजन है तिस कारण नयो की तीन, चार, पाच आदि सख्याओका भी निवारण नही किया ही जाता है देखिये उक्त दो भेदो वाले पर्यायार्थिक नय और केवल एक प्रकार के द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा करने पर नयो के तीन अवयव (भेद) भी सिद्ध होजाते है अथवा नयो की तीन सख्या को कोई विद्वान् यों परिभाषित करते है कि एक प्रकार की पर्यायार्थिकनय तथा शुद्धद्रव्यार्थिक और अशुद्ध द्रव्यार्थिक यो दो द वाली द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा करने पर ये नयो के तीन भेद होजाते है इसी प्रकार उक्त दोनो नयो के शुद्ध द्रव्यार्थिक, अशुद्ध द्रव्यार्थिक, सहभावी पर्यायार्थिक और क्रमभावी पर्यायार्थिक यो दो दो भेदो की विवक्षा करने पर तो चारो प्रकारोंवालो नयें इष्ट करली जाती हैं । कोई सिद्धान्त बाधा नही है ।

तेन नैगमसंग्रहव्यवहारविकल्पाद्द्रव्यार्थिकस्य त्रिविधस्य पर्यायार्थिकस्य चार्थपर्यायव्यंजनपर्यायार्थिकभेदेन द्विविधस्य विवक्षायां नयपंचकं शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकद्वयस्य ऋजुसूत्रादिपर्यायार्थिकचतुष्टयस्य विवक्षायां नयषट्कं, नैगमादिसूत्रपाठापेक्षया नयसप्तकमिति । नयानामष्टादिसंख्यापि न वार्यते । ततो न गुणेभ्यः पर्यायाणां कथंचिद्भेदेन कथनमयुक्तं येन गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणं निरवद्यं न भवेत् ।

तिस ही कारण यानी विस्तार करके निरूपण कर देने से नय पांच, छः, सात, आठ, आदि भी होसकते हैं उनको यो सम्भालिये कि नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय इन भेदों से द्रव्यार्थिकनय के तीन प्रकार है तथा अर्थ पर्याय को विषय करने वाली अर्थपर्यायार्थिकनय और व्यंजनपर्याय को जान

रही व्यंजनपर्यायार्थिक नय के भेद करके पर्यायार्थिक नय के दो भेद है । यों तीन प्रकार द्रव्यार्थिक और दो प्रकार पर्यायार्थिक नय की विवक्षा करने पर नय पाच कह दिये जाते है । एवं शुद्ध द्रव्यार्थिक और अशुद्ध द्रव्यार्थिक यो दोनो द्रव्यार्थिकनयो की तथा ऋजुसूत्र शब्द, समभिरूढ, एवंभूत इन चारो पर्यायार्थिक नयो की विवक्षा करने पर इस ढग से २ + ४ = ६ नयो के छह अवयव होजाते है ।

तथैव नैगम, संग्रह, आदि सूत्र के पाठ की अपेक्षा करके नयो के सात भेद भी होजाते हैं यानी नैगम, संग्रह, व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिक और ऋजुसूत्र, शब्द समभिरूढ, एवंभूत ये चार पर्यायार्थिक यो सातो नयो का सूत्रोक्त सप्तक प्रसिद्ध ही है । नयो की आठ, नौ आदि सख्या का भी निवारण नही किया जा सकता है द्रव्यार्थिक के दो और पर्यायार्थिक के छह भेद मिला कर आठ भेद होजाते हैं । अनादिनित्य पर्यायार्थिक, सादिनित्यपर्यायार्थिक आदिक छह भेद पर्यायार्थिक के श्री मदेवसेन विरचित आलापपद्धति में कहे है द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ, एवंभूत यों ऋषिसम्प्रदाय अनुसार नयो के नौ भेद भी स्मरण होते चले आरहे हैं । इस प्रकार नयो और उपनयो के भेदो की अपेक्षा दस, ग्यारह, वारह, आदि अनेक नय संख्याओ का व्याख्यान किया जा सकता है आलापपद्धति और नयचक्रग्रथो मे इनका विस्तार देख लिया जाय 'नैगम संग्रह, आदि सूत्र की श्लोक रूप वार्त्तिको मे भी इनका विवरण किया जा चुका है तिस कारण प्रकरण मे यह सिद्ध होजाता है कि सूत्रकार का पर्यायो का गुणो मे कथंचित् भिन्न पने करके कथन करना अनुचित् नही है जिससे कि 'गुणपर्ययवद्द्रव्य' गुणो और पर्यायो वाला द्रव्य होता है इस प्रकार द्रव्य का लक्षण करना निर्दोष नही होता । अर्थात्-श्री उमास्वामी महाराज का सूत्रोक्त द्रव्यलक्षण अव्याप्ति व्याभिचार आदि सम्पूर्ण दोषो से रहित है ।

प्रतीयतामेवमजीवतत्त्वं समासतः सूत्रितसर्वभेदं ।
प्रमाणतस्तद्विपरीतरूपं प्रकल्पतां सन्नयतो निहत्य ॥ १ ॥

पंचम अध्याय के समाप्ति अवसर पर उपेन्द्रवज्रा छन्द द्वारा ग्रन्थकार उक्त प्रकरणो का उपसहार दिखाते हुये कहते है कि इस प्रकार जिस अजीव तत्व के सम्पूर्ण भेदो का श्री उमास्वामी महाराज ने सक्षेप से इस पचम अध्याय मे सूत्रो द्वारा निरूपण कर दिया है तथा भेद प्रभेद सहित उस अजीव तत्त्व को युक्तिपूर्वक प्रमाणो से श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थ मे साध दिया गया है । "जीवाजीवा" इत्यादि सूत्र अनुसार तत्वो का निर्णय करने वाले पण्डितो को उस अजीवतत्त्व की प्रमाणो से प्रतीति कर लेनी चाहिये हा नाना प्रकार अयुक्त कल्पनाओ को करने वाले कुतर्की वावदूको द्वारा गढ लिये गये अजीव तत्व के विपरीत स्वरूप का समीचीन नयो से अथवा प्रमाणो से भी खण्डन कर जैन सिद्धान्त अनुसार पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, काल, इन, अजीव तत्वो की प्रतिपत्ति की जानी चाहिये जीव या अजीव की प्रतीति करते सन्ते श्रद्धालु का कारणविपर्याय, स्वरूपविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास

का परित्याग कर देना चाहिये ।

इति पंचमाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ।

इस प्रकार तत्वार्थशास्त्र के पाँचमे अध्याय का श्री विद्यानन्दी स्वामी महाराज करके रचा गया दूसरा प्रकरणों का समुदाय स्वरूप आन्हिक यहां तक समाप्त होचुका है ।

इति श्रीविद्यानंदि आचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।। ५ ।।

इस प्रकार प्रकाण्ड विद्वत्ता लक्ष्मी से सुशोभित होरहे श्री विद्यानन्दी आचार्य महाराज करके विशेष रूप से रचे गये इस तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नाम के महान् ग्रन्थ मे पाचमा अध्याय यहाँ तक भले प्रकार परिपूर्ण होचुका है ।

इस पाचमे अध्याय के प्रकरणो की संक्षेप से सूची इस प्रकार है कि पूर्व के चार अध्यायो में जीव तत्व का निरूपण कर चुकने पर प्रथम ही पचम अध्याय के आदि मे सूत्रकार के धर्म आदि अजीव तत्वों के प्रतिपादक सूत्र की प्रवृत्ति को ग्रन्थकार ने समुचित बताया है । चार अध्या मे कायत्व और अजीवत्व को घटाते हुये उनको प्रकृति के विवर्त होजाने का प्रत्याख्यान कर दिया है । साथ मे अद्वैतवाद का भी लताड़ा है । वैशेषिकों के अनुसार दिशाद्रव्य को स्वतन्त्र निरालातत्व मानने की आवश्यकता नही है । इसके आगे द्रव्यत्व का विचार करते हुये धर्म अधर्म, आकाश, का भी द्रव्यपना पुद्गल के समान साध दिया है जीव भी स्वतन्त्र द्रव्य है, कल्पित या भूतचतुष्टय मे उत्पन्न हुये नही हैं । पुद्गल के रूपीपन और अन्य द्रव्यो के नित्यपन अवस्थितपन और अरूपीपन का युक्तियों से साधते हुये धर्म, अधर्म, आकाश, इन तीन द्रव्यो का एक एक द्रव्य होना अनुमान प्रमाण से समझाया है ।

जीव पुद्गलो का सक्रियपन ध्वनित करते हुये शेष द्रव्यो के निष्क्रियत्व को उचित बताया गया है अन्यो मे क्रिया का हेतु होरहा भी पदार्थ स्वयं निष्क्रिय होसकता है । यहां लगे हाथ काल द्रव्य के व्यापकत्व का निराकरण कर काल द्रव्य को भी निष्क्रिय बता दिया है हां अपरिस्पन्दस्वरूप उत्पाद आदिक्रियायें तो सम्पूर्ण द्रव्यो मे होती ही रहती हैं । यहां आत्मा के क्रिया सहितपन को साधते हुये आचार्य महाराज ने वैशेषिकों के दर्शन की अच्छी धज्जियां उड़ायी है सम्पूर्णभावो का क्रियारहित मानने वाले बौद्धो को भी सुमार्ग पर लाया गया है । मध्य मे अनेक अवान्तरविषयो के खण्डन मण्डन होजाते है । धर्म आदि द्रव्यो के प्रदेशो की युक्तिपूर्ण सिद्धि को करते हुये ग्रन्थकार ने आकाश के प्रदेशो का अच्छा विवेचन किया है अणुओ को छोड़ कर सभी पदार्थ सांश माने गये हैं । लोक को अवधि सहित कह कर आकाश का अनन्त प्रदेशित्व बताया गया है । आगे चल कर पुद्गल के संख्याते, असंख्याते, और अनन्ते प्रदेशो को बखानते हुये अणु के प्रदेशो का युक्तिपूर्ण प्रत्याख्यान किया है हां छह पहल वाले परमाणु के शक्तिअपेक्षा छह अंश होसकते हैं अन्यथा परमाणुओं से बड़े स्कन्ध का बनना अलीक होजायगा किन्ही किन्ही परमाणुओं का दूसरे परमाणुओ के साथ सर्वांग संयोग होजाना भी

अभीष्ट किया गया है अन्यथा असख्यात प्रदेशी लोकाकाश मे अनन्तानन्त परमाणुओं का ठहरना झूंठा पड़ेगा।

विभु होने के कारण आकाश का स्व मे ही ठहरना स्वभाव मानते हुये अन्यद्रव्यो का लोकाकाश में अवगाह होना समझा कर जीवो सम्बन्धी प्रदेशो के सहार और विसर्प को युक्तियों से साधा है, आत्मा का व्यापकपना माने जाना अनुचित है। इसमे प्रत्यक्ष से ही विरोध आता है यहाँ प्रकरण अनुसार व्यवहर नय से आधार आधेय भाव को मानते हुये भी निश्चय नय करके एक को आधेय और दूसरे को आधेय माने रहने का निराकरण कर दिया है निश्चयनय तो कार्य कारणभाव को एक झगडा ही समझनी है यो द्रव्यो का लोकाकाश मे अवगाह हाना, या स्व स्वरूप मे ही अवगाह होना, अथवा कही भी अवगाह नही होना, नयविशारद पण्डितो करके विचार लिया जाय। उदासीन कारणो की प्रबल शक्ति का निरूपण करते हुये विवरण मे जीव, पुद्गलों की गति और सम्पूर्ण द्रव्यो की स्थिति, अवगाहन, इन क्रियाओं मे धर्म, अधर्म, आकाश, द्रव्यो का उपकारकत्व समझा कर तथा पुद्गल, जीव और काल के उपकारो को भी गिनाकर उन उन छह द्रव्यो की अनुमान प्रमाण से सिद्धि कर लेने का सकेत किया है यहाँ वर्तनाका अच्छा विचार चलाया है साथ ही व्यवहार कालके कर्त्तव्यो का निरूपण भी हो सका है। परिणाम की अच्छी व्याख्या की गयी है। जब अकेले परिणाम वाद स्वरूप सैनिक करके ही जैन सिद्धान्त अखिल दर्शनो पर विजय पा सकता है तो अन्य अनेक सूक्ष्म जैनसिद्धान्त महाराजो को तो स्वकीय राज्यासन पर ही विराजमान बने रहन देना चाहिये। उत्पाद व्यय, ध्रौव्य, को लिये हुये सदृश, विसदृश परिणाम ही जगद विजय करने के लिये पर्याप्त है। क्रिया और परत्वापरत्व का विचार करते हुये व्यवहार काल को साध दिया है। यो धर्म आदि द्रव्यो की अनुमान से प्रतिपत्ति कराते हुये ग्रन्थकार ने सूत्रकार महाराज को जयघोषणा कर पंचम अध्याय के पहिले आन्हिक को समाप्त कर दिया है।

इसके आगे सूत्रो अनुसार स्पर्श, रस, गध, वर्णो की यथाक्रमता का निरूपण करते हुये सभी पौदगलिक द्रव्यो मे रूप आदि चारो गुणो का अविनाभाव रूप से ठहरना समझाया है शब्द का बहुत लम्बा, चौड़ा, व्याख्यान किया गया है। वैशेषिको के यहा माने गये शब्द को आकाश के गुणपन की बड़ी छीछा लेदर उड़ायी गयी है शब्दो की उत्पत्ति और गमन पद्धति का विचार किया गया है शब्द का प्रकरण बड़ा रोचक और विज्ञान सम्मत है छाया, आतप, घट, आदि के समान शब्द भी पुद्गल की पर्याय है अतः पर शब्दस्फोट का विचार कर वैयाकरणो के दर्शन की अवहेलना की गयी है वाक्य के लक्षणो पर भी गम्भीर विवेचन कर अभिहितान्वय वादो और अन्विताभिधान वादो मीमासको का निराकरण किया गया है शब्द को आकाशगुणपन या अमूर्तद्रव्यपन अथवा स्फोट आत्मकत्व, का प्रति विधान कर स्कन्ध स्वरूप पुद्गलपर्याय होना साध दिया है बंध, सूक्ष्मपन, आदि की युक्तियों से सिद्धि की है पुद्गलों का अणु और स्कन्ध रूप से भेद संघातो द्वारा आत्मलाभ होना बताकर नैयायिकोके

सन्मुख अणुओं की उत्पत्ति को साधते हुये ग्रन्थकार ने स्थूल स्कन्ध के भेद से सूक्ष्मों की उत्पति होजाना साध दिया है. आवश्यक आन पडे द्रव्य के लक्षण को बड़ी विद्वता पूर्वक प्रसिद्ध किया है उत्पाद आदि के सद्भाव मे आपादन की गयी अनवस्था को चुटकियो मे उडा दिया है। नित्यपन की परिभाषा निरवद्य की गयी है अर्पणा और अनर्पणा अनुसार नित्यत्व अनित्यत्व आदि का अनेकान्त सम्पूर्ण वस्तुओं में ओत पोत भरा कहा गया है सशय, विरोध, आदि का ईषत् भी अवतार नही है।

परमाणुओं के बधने का कारण समझा कर दो अपवाद सूत्र और एक विधायक सूत्र का बहुत अच्छा विवरण कर दिया गया है यहा युक्ति और दृष्टान्तो से बध व्यवस्था का समर्थन किया गया है परिणामवाद की प्रधानता से द्रव्य का लक्षण किया जा चुका होने पर भी वस्तु स्थिति अनुसार शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थ पुन: सूत्र द्वारा किये गये दूसरे द्रव्य लक्षण का मुख्य प्रयोजन सह अनेकान्त और क्रम अनेकान्त की साम्बत्ति होना दर्शाया है निश्चयकाल का मुख्य द्रव्यपना साधते हुये अनन्त शक्तियो की अपेक्षा कालाणु का अनन्त समय सहितपना भूषित किया गया है वस्तुत कालाणुओ की अनन्त शक्तियो अनुसार होरहे जगत् के चित्र, विचित्र, कार्य प्रसिद्ध हो है कारणो मे वास्तविक भिन्ना भिन्न शक्तियोके माने विना अनेक कार्योंको उत्पत्ति होना असम्भव हो है। द्रव्यो मे जड़रहे गुण और पर्यायो का विवरण कर अध्याय के अन्त मे सक्षेप से नयो का प्ररूपण कर दिया गया है । या पाचमे अध्याय मे कहे गये सूत्रकार के अजीव तत्वका बाधाओका प्रमाण नयो द्वारा हटाये हुये ग्रन्थकार द्वारा प्रतीति कर लने योग्यपना उपदिष्ट किया गया है।

"शुद्ध द्रव्यों का आकृतियां"

प्रकरण वश ग्रन्थकार के अभिप्राय। अनुसार शुद्ध द्रव्यो की आकृतियो का समझ लेना भी आवश्यक है।

शुद्ध आत्मा का ध्यान करने वाले जैनबंधुओं को विदित होना चाहिये कि अचेतन शुद्धद्रव्यो का ध्यान करना भी शुद्धात्मा का निर्विकल्पक समाधिरूप ध्यान के अभ्यास का कारण है । अत: जब तक हमे शुद्ध द्रव्यो के आकार यानी (लम्बाई चोड़ाई और मोटाई) का परिज्ञान नही होगा, तब तक हम उन शुद्ध द्रव्यो मे अन्तस्तल स्पर्शी ध्यान नहा जमा सकते है ।

इस छोटे से लोकाकाशमे अनतानत मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्य निराबाध भरे हुये है। ससारी जीव और स्कन्ध पुद्गलो को छोड़कर शेष जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सब शुद्ध द्रव्य है।

प्रत्येक द्रव्य मे अनुजीवी होकर पाये जारहे प्रदेशवत्व गुण का परणति यानी द्रव्य की व्यंजन पर्याय कुछ न कुछ अवश्य होनी चाहिये। छः द्रव्यो मे से शुद्ध जीवद्रव्यो का आकार चरम शरीर के किंचित् न्यून हो रहा प्रसिद्ध हो है।

उपरिम तनुवात बलय के ठीक मध्यवर्ती ऊपरले ४५ लाख योजन लम्बे, चौड़े, गोल भाग मे

अनंतानंत सिद्ध परमेष्ठी-विराज रहे हैं।-उन सबका ऊर्ध्व शिरोभाग-अलोकाकाश से चिपट रहा है।

सबसे बडी अवगाहना के सिद्ध भगवान् ५२५ धनुष ऊंचे है। और सबसे छोटी अवगाहना वाले ३॥ साढे तीन हाथ के हैं। तथा मध्यम कोटि के शुद्ध परमात्माओं की लम्बाई, चौडाई, मोटाई के असंख्याते प्रकार है।

सिद्ध क्षेत्र मे सिद्ध महाराज खड्गासन और पद्मासन इन दो आसनो मे अवस्थित हैं। भले ही कोई अन्तकृत केवली होकर सिद्ध हुये हो, वे बारहवे गुणस्थान के अन्त मे संपूर्ण उपसर्गों को टाल तेरहवे, चोदहवे, गुणस्थानो मे उनकी व्यंजन पर्याय खड्गासन या पर्यंकासन होजाती है। बडे धनुषो से पौने सोलह सौ १५७५ धनुष या छोटे धनुषो मे ३८७५०० सात लाख सत्तासी हजार पाचसौ मोटे तनु वातवलय के १५०० पन्द्रह सौवें भाग में बडी अवगाहना वाले सिद्ध परमेष्ठी ठहर रहे है और उसी १५७५ धनुष ऊंचे यानी ३१५० ०० इकतीस लाख पचास हजार छोटे हाथ ऊंचे तनुवात वलय के नौ लाखवें भाग मे जघन्य अवगाहना वाले सिद्ध सुशोभित है। साढे तीन हाथ की अवगाहना से लेकर साढे छह हाथ तक की अवगाहना वाले जीव चौदहवे गुणस्थान मे खड्गासन रहते है।

"वस्तुस्वभावोऽतर्क गोचरः" वस्तु की स्वभाविक परिणतियों पर कुचोद्यो की गुंजाइश नही नही है। यदि ठिगने आदमी को लम्बा कोट या ऊंची बाड की टोपी पसंद आये तो उसमें कुतर्क चलाना व्यर्थ है। यो बाहूबली आदीश्वर महाराज आदि से प्रारम्भ कर श्री महावीर जम्बू स्वामी पर्यन्त अथवा भूत भविष्य काल के अनेक प्रकार व्यंजन पर्यायो वाले सिद्ध परमेष्ठियोका ध्यान करना चाहिये।

अब जिनागम में शुद्ध द्रव्य मानेगये आकाश, पुद्गलपरमाणु, धर्म, अधर्म द्रव्यो और कालाणुओ के आकार का विचार करना है।

प्रथम उपात्त सबसे बडे अलोकाकाश की व्यंजन पर्याय समघन चतुरस्र है। यानी एक इंच लम्बी चौडी और एक इंच मोटी बरफी जैसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः यों छैऊ ओर समान पैल वाली होकर घनाकार नियत चौकोर है। उसी के समान जिनदृष्ट नियत मध्यम अनन्तानत राजू लम्बा और इतना ही चौडा तथा ठीक इतना ही ऊंचा समघन चतुरस्र अलोकाकाश है। श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्त्ती महोदय ने द्विरूपवर्गधारा मे "जीवा पोग्गल काला सेढी आयास तप्पदर" और द्विरूप घनधारा मे "तत्तो पढम मूल सव्वागास च जाणेज्जो" इन गाथोत्तरार्धों के अनुसार अलोकाकाश की व्यंजन पर्याय समघन चतुरस्र मानी है। आचार सार मे लिखा है कि—

व्योमा मूर्तं स्थितं नित्य चतुरस्र समंघनं। भावावगाह हेतुश्चानन्तानन्त प्रदेशकम्।

इसी प्रकार सबसे छोटे अवयव माने गये परमाणुकी आकृति भी बरफी के समान ठीक समघन चतुरस्र है। भले ही "अत्तादि अत्तमज्भं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्भम्" यो परमाणु को निरंश माना

गया है । अन्तिम हद दर्जे के छोटे परम सूक्ष्म परमाणु की इससे अधिक और क्या प्रशंसा हो सकती है। तभी तो एक एक प्रदेश पर अनंत अनंत परमाणुयें निरापद ठहर रही है। फिर भी सर्वावधिज्ञानी या केवल ज्ञानी महाराज जो कुछ पुद्गल परमाणु की आकृति देखेंगे उन्हें वह घन चौकोर छह पैल वाला आठ कोनोंको लिये अखंड द्रव्य प्रतीत होगा इसी बातको श्रीआचार्य वीरनदी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने श्री आचारसार ग्रंथ के तृतीयाधिकार में लिखा है कि—

अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचय शक्तितः कायश्च स्कन्धभेदोत्थश्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः ॥

यो परमाणु के छः पैल है । तभी तो परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ एक पैल से संसर्ग हो जाने पर छोटे,बडे,बहुत बडे अवयवी बनकर तैयार हो जाते हैं जैसेकि ईंटोका ईंटोके साथ एक देश संम्बध होजाने पर बड़े बडे महल बन जाते है । यदि ईंट का दूसरी ईंट के साथ सर्वांग रूप से सम्बध हो जाय तो कोठरी, महल, किला, ये सब ईंट के बरोबर हो जांयगे ।

इसी प्रकार परमाणु को सर्वथा निरंश माना जायगा तो, परमाणु,सरसो, मेरुपर्वत परमाणु बरोबर इन सबको के समान परिमाण वाले बराबर होजाने का प्रसंग दूर नही हो सकेगा ।

"भेदादणुः" इस सूत्र अनुसार अणु की उत्पत्ति भेद से हुई मानी गई है। इस पर गंभीर विचार करने मे प्रतीत होता है कि वस्तुतः परमाणु चौकोर. । भेद करने से गोल चीज नही बन सकती है । टुकडा करने पर एक ओर सपाट भीत अवश्य बन जाती है.जब कि परमाणु की छैऊ भीते एकसी हैं तो उसका आकार समघन चतुरस्र विज्ञान से भी स्वाभाविक सहज सिद्ध होजाता है । अलम् ।

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः यो छैऊ ओर चौकोने एव घन चौकोर होरहे इस अलोकाकाश के ठीक बीच मे लोकाकाश विराजमान हैं ।

यदि लोकाकाश जगत् श्रेणी की पूरी समघन चतुरस्र आकृति की सूरत मे होता तो 'ठीक बीच' शब्द अच्छा सुघटित होजाता किन्तु लोकाकाश चौदह राजू ऊँचा तथा अधो लोक में सात राजू लम्बा चौडा और मध्य लोक में एक राजू चौड़ा सात राजू लम्बा एव ऊपर क्रम से चौड़ाई में बढता हुआ ब्रह्मलोक के निकट ५ राजू चौड़ा ७ राजू लम्बा होगया है। और चौदह राजू ऊपर जाकर तो सात राजू लंबा एक राजू चौडा होकर विषम आकृति को लिये हुये है । अतः संभव योग्यतानुसार 'ठीक बीच'यो लिख दिया है,अन्यथा ऐसे पांव पसारू पतले पेट वाले कुबडेमनुष्यके समान विषम आकृति वाले पदार्थ का चौकोर पदार्थ के ठीक बीच में पाया जाना असंभव ही है, यदि मध्य लोक के पूर्व, पश्चिम सम्बंधी अंतिम भाग से पूर्व या पश्चिम के अलोकाकाश को नापा जाय तो वह मध्य लोक के उत्तर दक्षिणवर्त्ती अलोकाकाश से तीन तीन राजू बढ जायगा । इसी प्रकार अलोकाकाश के मध्य लोक संबधी उत्तर दक्षिण भाग की अपेक्षा ऊर्ध्व या अधोलोक के ऊपर नीचे का भाग साढे तीन, साढे तीन राजू कमती है ।

छः ऊ ओर समधारा की संख्या के धारी प्रदेशों वाले घन चतुरस्र अलोकाकाश का ठीक बीच आठ प्रदेश समझलिये जाय। समघनात्मक संख्या वाले पदार्थों के ढेर का बीच आठ होसकता है। द्विरूप वर्ग धारा में पड़े हुये मात्र श्रेणी आकाश का सबसे छोटा ठीक बीच२ प्रदेश हैं। और केवल प्रतराकाश का लघु बीच चार प्रदेश है,तथा घन सर्वाकाश का जघन्य ठीक बीच आठ प्रदेश ही होसकते है। आठ से कम प्रदेश उसका ठीक मध्य भाग नहीं होसकते हैं। एक एक बरफी की चारों बाजुओं

को ठीक चार दिशाओ में कर रख दी गई चार वर्फियों के ऊपर अन्य चार वर्फियों के आकार वाले ये आठ प्रदेश विचारे चित्रा और वज्रा पृथ्वी के दोनों पाटो के बीच में हैं। अर्थात् यहा से एक हजार योजन नीचेचित्रा की जड मे ऊपरले चार प्रदेश है। और नीचले चार प्रदेश वज्रा के उपरिमभाग मे है। यो सर्वाकाश या लोकाकाश का ठीक बीच सुदर्शन मेरु की गोलासपाट जडके मध्यमे पडे हुये आठ प्रदेश हैं। प्रसंग वश त्रसनाली मध्यलोक रत्नप्रभा, स्वयंभूरमण समुद्र जम्बू द्वोप भरत क्षेत्र और आर्यखण्ड का चित्र भी समझ लेना आवश्यक है।

प्रकरण मे मुझे यह कहना है, कि अलोकाकाश के मध्य मे स्थित जगत् श्रेणी के घनप्रमाण असंख्यातासंख्यात नाम की संख्या को धार रही कालाणुओ अथवा अखण्ड धर्म-अधर्म द्रव्यो की व्यजन पर्यायो (आकृति) अनुसार ३४३ घनराजू के लोकाकाश की कल्पना की गई है।

लोकके वहि: प्रान्त मे सब (छैऊ) और तनुवातवलय वेष्टित होरहा है। वहा अन्य भी द्रव्य पाये जाते है। तनुवातवलय के अ तिमभागो मे निवस रहे वायु कायिक जीव या निर्जीव वायु अथवा धर्म अधर्म द्रव्यो यावहाँ की पुद्गल वर्गनाओ की आकृति क्या है ? इसका यहा विचार करना है।

देखिये- लोक का ७ राजू लम्बा १ राजू चौडा उपरला भाग सपाट चोकोर है। वहा के कालाणुओ या धर्मअधर्म द्रव्यो का उपरिमभाग ईट के खडजा और पटिया के समान ठीक समतल वन रहा है। कोई ऊंचा-नीचा भाग नही है। इसी प्रकार लोकाकाश या धर्म अधर्म द्रव्यो का ७राजूलम्बा सात राजू चौडा अधस्तन भाग भी समतल होकर अधोवर्त्ती अलोकाकाश से छू रहा है उसमे ऊंच नीच की विषमता सवथा नही है। वहा की कालाणुये मकराने के जडे हुये चौकाओ के समान समतल होकर जमरही है। तथा लोक की दक्षिण, उत्तर वाजू की भीते ईंटो की सपाट दीवालो के समान चिकनी होरही ऊपर उठी हुई है।

वहां के कालाणुओ और परमाणुओ के पैल चिकने होरहे एक के ऊपर एक यो सपाट एकसे जमे हुये है। ऐसी ही तत्रस्थ दोनो धर्म, अधर्म द्रव्यो सपाट चिकनी अवस्था है। खुरदरी नही है। जैसे कि संगमरमर की पटिया खडी कर दी जाती है।

किन्तु लोक के पूर्व पश्चिम भाग की वाजुएं सपाट पटिया के समान चिकनी नही है। क्योंकि नीचे ७ सात राजू लम्बे अधोलोक से मध्यलोक तक क्रमसे घटता हुआ लोक १ एक राजू चौड़ा रह गया है। अखंडघन चौकोर चीजों को यदि क्रमसे घटाकर तराऊपर रक्खा जायगा तो उनका जीना वनते ही घटी हो सकती है। यदि ईंटो के कोने न छीले जांय और उनको क्रम से घटाते हुए ऊपर को चिना जाय तो अवश्य ही उस रचना मे ईंटो के कोने निकले रहेगे। चू कि ईंट को कारीगर तिरछा छील देता है सीमेन्ट से लीप देता है, अतः स्थूलदृष्टि जीवों का जीने की वाजू की ढलाऊदीवाल ऊपर से नीचे तक चिकनी सपाट बनाई दीख जाती है। -किन्तु वरफी के समान छह पैलू अठकौनी, अखण्ड, परमाणु की नौके या पैल घिसे काटे, छीले नही जा सकते है। अत. लोक के पूर्व पश्चिम प्रान्त की

रचना जीने के समान परमाणुओं के पैलो को उभारती हुई बनी है।

यही इस चित्र मे पूर्व पश्चिम की ओर रचा गया है। यों धर्म, अधर्म द्रव्यो की पूर्व पश्चिम दिशा सबधी आकृति भी परमाणु पंक्ति बरोवर सीढियों के निकाश को लिये हुये जीने के समान समझी जाय-या रुड़की नहर की सिढ़ियो की सी रचना ज्ञात कर ली जाय।

मध्य लोक से पूर्व पश्चिम की ओर ब्रह्म लोक के निकट वर्त्ती प्रान्ततक ऊपर को उल्टा जीना बना लिया जाय और ब्रह्मलोक प्रणिधि से उपरिम लोक तक सीधा जीना रचा हुआ समझा जाय यों वहां जवलपुरके हनुमान ताल या बनारसके गंगा घाटोकी पैडियो के समान प्रति प्रदेश पर एक एक परमाणु की ऊपर को घटती हुई तिरछी पंक्तिबद्ध रचना है। यो अधोलोक मे सात प्रदेशपर तीन प्रदेश घटाकर रचना समझ लेना। यहां की कालाणुएं भी नोकीली उभर रही प्रत्येक प्रदेश पर एक एक होकर रक्खी हुई है।

इसी प्रकार वहा के तनुवातवलय सम्बन्धी अन्तिम भागस्थ वातकायिक जीवोके घनाङ्गुल के असंख्यातवें भागस्वरूप असख्यातासंख्यात प्रदेशी अवगाहना वाले शरीरो की आकृतियोमे भी अवश्य जीना रच लिया जाय जैसे कि धर्म, अधर्म, द्रव्यो की व्यजन पर्याय मे परमाणु बरोबर प्रदेशों की हीनता या वृद्धि करते हुये जीना बनगया है।

वहां निगोदिया जीव या अन्य स्थावर काय के जीवो के शरीरोकी आकृतिया भी इसी प्रकार की पैडियां बनी हुई समझी जाय। तथा जो कुछ भी वहा निर्जीव वायु या कार्माण वर्गणाये, महास्कंध, आदि पुद्गल भरा हुआ है या केवली समुद्घात करते हुये आत्मा के प्रदेश वहाँ पहुँचे हैं, पूर्व, पश्चिम-दिशा सबंधी लोक के अन्तभाग मे पाये जारहे इन सभी पदार्थों की आकृति भी जीना बन रही नौकीली मानी जाय। क्योंकि धर्मास्तिकाय के उतना ही वडे होने के कारण ये पदार्थ बाहर अलोकाकाश मे पाव नही फैला सकते है। दृष्टान्त इतनाही पर्याप्त है कि टेढे, बाके तिकोने, चौकोने नलो के भीतर भरे हुये अवयवी पानी की वैसी आकृति बन जाती है अथवा बहरहे करट के धारी, पतले, मोटे, चौखूटे मुडे गोल या चक्करदार, तारो मे बिजली का सस्थान तदनुसार भरपूर बनता चला जाता है उनके बाहर नही। ३४३ घनराजू प्रमाण लोकाकाश के अनुसार धर्म, अधर्म, द्रव्यो की वैसी आकृति गढ लेने की अपेक्षा धर्म, अधर्म, द्रव्यो की तादृश सूरत अनुसार लोकाकाश की आकृति की कल्पना करना श्रेष्ठ है।

क्योंकि छह द्रव्यो के समुदाय रूप लोक के आधार मान लिये गये लोकाकाश की अवधि कल्पित है। किन्तु धर्म, अधर्म द्रव्यो की वैसी व्यंजन पर्याय परमार्थ भूत है। जब कि लोकाकाश कोई वस्तुभूत द्रव्य नहीं है, तो उसकी व्यंजन पर्याय मानना भी कल्पना मात्र है। अतः धर्म, अधर्म की आकृति अनुसार लोक के आकार की कल्पना करनी चाहिये।धर्म, अधर्म द्रव्य तो लोकके आधीन नहीं माने जांय क्योकि धर्म, अधर्म वास्तविक द्रव्य हैं तब तो उनकी व्यंजन पर्याय भी ठोस परमार्थ

भूत परिणाम है । पुद्गल परमाणु के सदृश ही कालाणुओं का आकार भी बरफी के समान समघन चतुरस्र है । पुद्गल परमाणु या कालाणु के अनुसार ही नाप को लिये हुये अखण्ड आकाश के प्रदेश की कल्पना करली जाय ॥

दुनियां का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जोकि आधा समय या डेढ़ समय या ढाई समय में तैयार होय, जो कोईभी छोटा बड़ा पूरा कार्य होगा वह पूर्ण एक समय या दो समय आदि पूरे समयों को घेर कर निष्पन्न होगा । इसी प्रकार कोई भी पौद्गलिक पदार्थ होय एक, दो, तीन आदि परमाणु से बनेगा डेढ, ढाई साढ़े तीन आदि परमाणुओं से नहीं ।

तथा कोई भी पूरा आधेय यदि कहीं ठहरेगा । तो पूरे एक दो आदि प्रदेशों पर ही निवास करेगा । आधे, डेड, ढाई प्रदेशों पर नहीं । तीन परमाणु यदि दो प्रदेशों पर ठहरेंगे तो एक प्रदेश पर दो और दूसरे प्रदेश पर एक यों बैठ जायगे डेड़ डेड प्रदेश पर नहीं । यो प्रत्येक मुमुक्षु को शुद्ध द्रव्यों का ध्यान करते हुये शुद्धात्मा के निर्विकल्पक ध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिये ।

इस प्रकार श्री परम पूज्य विद्यानन्दी आचार्य कृत श्री तत्वार्थ श्लोकवार्तिक महान् ग्रन्थ को आगरा मण्डलान्तर्गत चावली ग्राम निवासी श्री हेतसिंह तनूज न्यायदिवाकर, तर्करत्न, स्याद्वाद-वारिधि, सिद्धान्तमहोदधि आदि पदवी विभूषित पण्डित माणिकचन्द्र न्यायाचार्य कृत हिन्दी देशभाषा मय तत्वार्थ चिन्तामणि नामक टीका में पांचवा अध्याय परिपूर्ण हुआ ।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः सिद्धेभ्यः

द्रव्यत्वाद्द्रव्यमूचुः कतिचिदथ गुणात्केचिदाहुः क्रियातो
ब्रह्माद्वैतादजीवं निषधिधुरपरे चिन्नटीं नाटयन्तः ।
मीमांसांचक्रिरेऽर्थः स्फुटति यत इति स्फोटमन्ये लपन्तो
जीयाच्छ्रीग्रन्थकर्ता प्रतिविहिति परः पञ्चमाध्याय एषाम् ॥

श्रीमदुमास्वामिवचःपयोधिमन्तरणं पोतमाचार्यः ।
जीयाद्विद्यानन्दस्तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकं रचयन् ॥
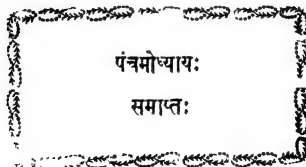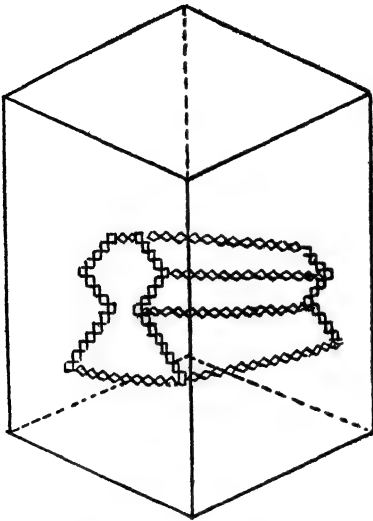
अलोकाकाश के मध्य मे लोक
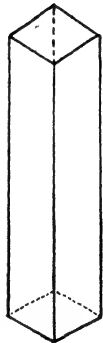
त्रस नाली का चित्र

पाँचवें अध्याय में आये हुए शुद्ध द्रव्यों की आकृतियाँ
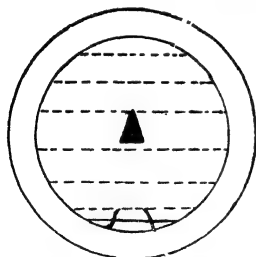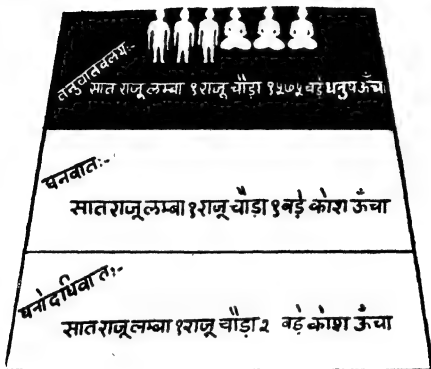
जम्बू द्वीप का नक्शा
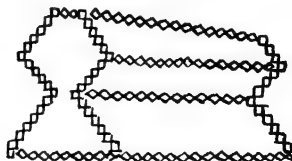
धर्म द्रव्य और उसको छहों ओर कालाणुयें
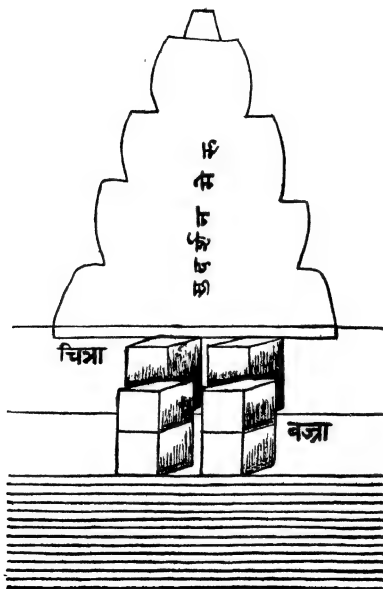
"लोक या अलोक के मध्यवर्ती आठ प्रदेश"

समघन चतुरस्र अलोकाकाश का आकार

समघन चतुरस्र कालाणु या पुद्गल परमाणु
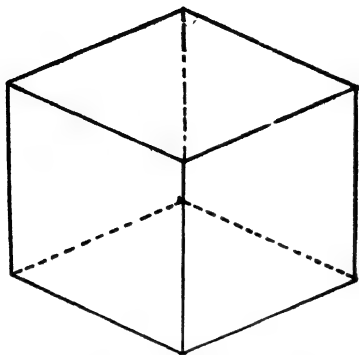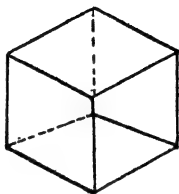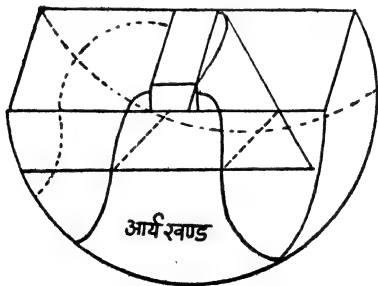
भरत क्षेत्र की तस्वीर

ॐ

योऽविभागप्रतिच्छेदानन्तानन्त्य पर दधत्।
कर्महा केवलज्ञानं प्रापद्वीरोऽवतात्स न ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

इसके अनन्तर अब छठे अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है। पाचमे अध्याय तक जाव तत्त्व और अजीव तत्त्व का व्याख्यान हो चुका है, अब तत्त्वों के प्रतिपादक "जीवाजीवा" आदि सूत्र में उनके अध्यवहित उत्तर कथन किये गये आस्रव तत्त्व क व्याख्यान का अवसर प्राप्त है उस आस्रव तत्त्व की प्रसिद्धि करने के लिये सूत्रकार महाराज छठे अध्याय का प्रारम्भ करते हुये इस आदिसूत्र का प्रारम्भ करते हैं।

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥१॥

काय, वचन, और मन का अवलम्ब लेकर जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द (चलन) होना है वह योग कहा जाता है।

अर्थात्—संसारी आत्माओंमें एक योग नाम की पर्यायशक्ति है गोम्मटसार में "पुग्गल विवाइ देहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स। जीवस्स जाउ सत्ती कम्मागमकारणं जोगो" पुद्गल में विपाक करने वाले शरीर और अंगोपांग नाम कर्म की प्रकृति का उदय होने पर मन, वचन, और काय से युक्त हो रहे जीव की जो कर्म और नोकर्मो के आगमन की कारण, हो रही शक्ति है वह योग है, यह भाव योग कहा जा सकता है। इस भाव योगरूप पुरुषार्थ से आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द हो जाना स्वरूप द्रव्ययोग उपजता है। ग्रहण की जा चुकीं या ग्रहण करने योग्य हो रहीं मन, वचन, कायों, की वर्गणाओं का अवलम्ब पाकर आत्मा के वह कम्पस्वरूप योग उत्पन्न हुआ अनादि काल से तेरहवे गुणस्थानतक सदा कर्मनोकर्मों का आकर्षण करता रहता है। भाव योग अपरिस्पन्द आत्मक है और द्रव्ययोग परिस्पन्द आत्मक है। अवलम्ब के भेद से १ सत्यमनोयोग २ असत्यमनोयोग ३ उभयमनोयोग, ४ अनुभय मनोयोग ५ सत्यवचन योग ६ असत्यवचन योग ७ उभयवचन योग ८ अनुभयवचन योग ९ औदारिककाययोग १० औदारिक मिश्रकाययोग ११ वैक्रियिक काययोग १२ वैक्रियिक मिश्रकाय योग १३ आहारक काय योग १४ आहारकमिश्रकाययोग, १५ कार्मणकाययोग, ये योग के पन्द्रह भेद हो जाते हैं। अतः शरीर, वचन और मन का अवलम्ब ले रहे संसारी आत्मा का प्रदेश परिस्पन्द योग कह दिया जाता है।

नन्वजीवपदार्थव्याख्यानानंतरमास्रवे वक्तव्ये किं चिकीर्षुः सूत्रकारः प्रागेव योगं ब्रवीतीत्यारेकायामिदमुपदिश्यते।

यहाँ किसी का प्रश्न है कि अजीव पदार्थ का व्याख्यान हो चुकने के अव्यवहित उत्तर काल में तो सूत्रकार को आस्रव तत्त्व का निरूपण करना चाहिये था किन्तु अब क्या करने की अभिलाषा रखते हुये सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज पहिले ही से एकदम न जाने यहांपर योग का कथन कर रहे हैं ? समझ में नहीं आता। इस प्रकार आशंका प्रवर्तने पर ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी करके अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान कारक यह उपदेश किया जाता है।

अथास्रवं विनिर्देष्टुकामः प्रागात्मनोऽजसा।
कायवाङ्मनसां कर्म योगोऽस्तीत्याह कर्मणाम्॥ १॥

अब छठे अध्याय के आदि में आस्रव तत्त्व का ही विशेषतया निर्देश करने के लिये अभिलाषा रखते हुये सूत्रकार महाराज सब से प्रथम "कायवाङ्मनसां कर्म योगोऽस्ति" काय, वचन, मनों, का अवलम्ब लेकर परिस्पन्द होना योग है यों इस योग को कह रहे हैं जो कि आत्मा के निकट ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव करने का हेतु है अतः झटिति आस्रव को नहीं कह कर उसके प्राणभूत योग को कह दिया गया है। पूर्व आचार्यों की सम्प्रदाय अनुसार योग को आस्रव कहा गया है। अतः योग का लक्षण कर ही द्वितीय सूत्र द्वारा झट उसी को आस्रव कह देंगे।

आत्मनः कर्मणां ज्ञानावरणादीनामास्रवं विनिर्देष्टुकामोऽजसा प्रागेव कायवाङ्मनसां कर्म योगोऽस्तीत्याहेदं सूत्रं। तत्र योज्यते अनेनात्मा कर्मभिरिति योगो बंधहेतुर्न पुनः समाधिः युजेर्योगार्थस्य ण्यंतस्य प्रयोगात्। पुंखौ घः प्रायेणेति घस्य विधानात्। स च कायवाङ्मनःकर्म, तेनैवात्मनि ज्ञानावरणादिकर्मभिर्बंधस्य करणात् तस्य बंधहेतुत्वोपपत्तेः।

संसारी आत्मा के ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव का विशेषतया निर्देश करने के लिये अभिलाषुक हो रहा मेरा परम गुरु सूत्रकार झट पहिले ही से शरीर, वचन, और मन का कर्म योग होता है, इस पदानुपूर्वी अनुसार यों यहाँ इस उक्त सूत्र को कह बैठा है। यहाँ एक ग्रन्थकार आचार्य दूसरे पूर्ववर्त्ती पूज्य आचार्य को स्थान-स्थान पर एकवचन से प्रयुक्त करते हैं तदनुसार ही मुझ देशभाषा अनुवादकार ने भी वैसा ही अर्थ लिख दिया है। हाँ, अन्य स्थलों पर एकवचन पद का अर्थ देश काल पद्धति अनुसार विनय की रक्षा करते हुये बहुवचन के अनुकूल किया गया है। काव्य का प्राण मानी गयी वक्रोक्ति से आस्रव का विशेष निर्देश करने के लिये उपात्त किये गये उस सूत्र में कहे गये योग शब्द का निरुक्तिपूर्वक अर्थ यह है कि इस योग करके आत्मा कर्मों के साथ जोड़ दिया जाता है। इस कारण योग कर्म, नोकर्म, के बन्ध का हेतु है। युजिर् योगे धातु के ण्यन्त पद अनुसार कर्म में प्रत्यय कर विग्रह करते हुये पुनः घ प्रत्यय लाकर योग शब्द को बना लिया जाय। अर्थात्–योग ही जीवों का कर्म से बंध हो जाने का प्रधान कारण है। योग नहीं होता तो सभी जीव शुद्ध सिद्ध परमेष्ठी भगवान् हो जाते। यहाँ प्रकरण अनुसार फिर "युज समाधौ" इस दिवादि गण की युजधातु से योग शब्द को नहीं बनाया जाय। क्योंकि चित्तवृत्ति निरोध स्वरूप समाधि तो बन्ध का कारण नहीं है प्रत्युत समाधि तो संवर का कारण है। अतः योग यानी सम्बन्ध कराना अर्थ को कह रही ण्यन्त युज धातु का प्रयोग किया गया है "पुं खौ घः प्रायेण" इस सूत्र करके यहाँ घ प्रत्यय का विधान किया गया है और यों योग शब्द की सिद्धि हो जाने से

वह योग काय, वचन, मनों, का कर्म है। उस योग करके ही आत्मा में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, आदि कर्मों के साथ बन्ध होना किया जाता है.अतः उस योग को बन्ध का हेतुपना युक्तियों से बन जाता है।

प्रधानपरिणामो योग इत्ययुक्तं, तस्यात्मबंधहेतुत्वायोगात्। प्रधानस्यैव बंधहेतुरसाविति चायुक्तं, बंधस्योभयस्थत्वसिद्धेः। तर्हि जीवाजीवपरिणामो बंध इति चेत्, सत्यं जीवकर्मणोर्बंधस्य तदुभयपरिणामहेतुकत्ववचनात्।

यहाँ कपिल मत के अनुयायी सांख्य कहते हैं कि उपर्युक्त योग तो प्रधान यानी सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणों की समता स्वरूप प्रकृति का परिणाम (विवर्त) है आचार्य, कहते है कि यों उन सांख्यों का कहना युक्ति रहित है। क्योंकि प्रकृति के विवर्त माने गये उस योग को आत्मा के बद्ध हो जाने की हेतुता घटित नहीं हो पाती है। प्रकृति का परिणाम माना गया योग भला सर्वथा उदासीन पड़े हुये परद्रव्य आत्मा को बंधन में नहीं डाल सकता है। स्वयं अपने परिणाम ही निज को बंध जाने या छूट जाने के हेतु हो सकते हैं। इस पर सांख्य यदि यों कहें कि आत्मा का बंधन होता ही नहीं है प्रकृति ही बंधती है और प्रकृति ही मुक्त होती है तदनुसार वह प्रकृति का परिणाम हो रहा योग उस प्रकृति के ही बंध जाने का हेतु है। ग्रन्थकार कहते हैं कि कापिलों का यह कहना भी युक्तियों से रीता है कारण कि बंध के दोनों में ठहर जाने की सिद्धि हो रही है। संयोग, पृथक्त्व, बंध, आदि परिणतियां दो आदि पदार्थों में रहती हैं। "द्विष्ठः सम्बन्धः" सम्बन्ध दो मे रहता है और "अनेकेषामेकत्वबुद्धिजनकसम्बन्धविशेषो बंधः" अनेक पदार्थों के कथंचित् एक हो जाने की बुद्धि को उपजाने वाला सम्बन्ध विशेष हो रहा बंध तो दो अवयव वाले अवयपदार्थ में ठहरता है, यह बात सिद्ध कर दी गयी है। यहाँ कोई तटस्थ विद्वान् कहता है कि तब तो जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य इन दोनों का परिणाम बंध मान लिया जाय। यों कहने पर तो आचार्य कहते है कि यह तुम्हारा कहना ठीक है क्योंकि जीव और कर्म का बंध हो जाने के कारण उन जीव, कर्म दोनों के परिणाम विशेष कहे है। अर्थात्-आर्षजैनग्रन्थों में कहा है कि "जोगा पयडि पएसा ठिदिअणुभागा कसाअदो होंति" जीवकृत परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन" आत्मा के परिणाम हो रहे योग और कषाय तथा वैभाविक शक्ति को निमित्त पाकर कार्मण वर्गणाओ में उपज गई कर्मत्व शक्ति ये कारण ही जीव, और कर्मों का बंध करा देते है। यहाँ प्रकरण में जीव के परिणाम हो रहे योग का लक्षण कर दिया है।

कायादिक्रियालक्षणयोगपरिणामो जीवस्यानुपपन्नो निष्क्रियत्वादिति न मंतव्यं।

यहाँ किसी नैयायिक या वैशेषिक का पूर्वपक्ष है कि जीव का काय, वचन, आदि की क्रिया स्वरूप योग नामक परिणति होना तो बन नहीं सकता है। क्योंकि जीवद्रव्य तो क्रियाओं से रहित है व्यापक द्रव्यों में क्रिया नहीं हो सकती है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं मानना चाहिये कारण कि—

कायादिवर्गणालंबप्रदेशस्पंदनं हि यत्।
युक्तं कायादिकर्मास्य सक्रियत्वप्रसिद्धितः ॥ २ ॥

शरीर, वचन, मन इनके उपयोगी वर्गणाओं का अवलम्ब पाकर जो जीव के प्रदेशों का कम्प होता है वही इस जीव के उक्त सूत्र अनुसार काय आदि का कर्म तो योग कहा गया समुचित है जब कि जीव के क्रिया सहितपन की पूर्वप्रकरणों में प्रमाणों से सिद्धि कर दी गयी है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अपना

जाना, आना, अनेक जीवों को अनुभूत हो रहा है। शरीरधारी दूसरे जीव भी यहाँ वहाँ क्रिया करते हुये प्रतीत हो रहे हैं। श्री उमास्वामी महाराज के सूत्रों से ही जीव और पुद्गल का क्रियासहितपना निर्णीत कर दिया गया है।

जीवस्य सक्रियत्वसाधनादुपपन्नमेव हि कायादिकर्मेष्यते। कायवर्गणालंबिप्रदेशपरिस्पन्दनस्यात्मनि कायकर्मत्वाद्वाग्वर्गणालंबिनस्तस्य वाक्कर्मत्वात् मनोवर्गणापुद्गलालंबिनो मनःकर्मत्वात्। न चतस्यायोगकेवलिनि सिद्धेषु च प्रसक्तिस्तेषां प्रदेश परिस्पन्दनाभावात्।

जब कि जीव के क्रियासहितपन की सिद्धि कर देने से जीव के काय आदि द्वारा क्रिया होना युक्तिपूर्ण हो रहा ही अभीष्ट कर लिया जाता है तो भी आत्मा को क्रियारहित माने जाना वैशेषिकों का अनुचित हठ है। देखिये, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, इन तीन शरीरों के उपयोगी हो रही आहार वर्गणा तथा तैजस, कार्मण, इन दो सूक्ष्म शरीरों के अनुकूल हो रही तैजस वर्गणा और कार्मण वर्गणा का आलम्बन कर आत्मा में हुये प्रदेशपरिस्पन्द को कायकर्म कहा गया है। एवं वचनों के उपयोगी भाषावर्गणा का अवलम्ब करने वाले उस आत्मनिष्ठ प्रदेशपरिस्पन्द को वचनकर्म माना गया है। तथा हृदय में बनने योग्य द्रव्य मन को रचने वाले मनोवर्गणा स्वरूप पुद्गलों का आलम्ब कर रहे आत्मप्रदेश परिस्पन्द को मनःकर्म कहा गया है। अतः आत्मा की विशेष क्रियायें ही योग मानी गई हैं। यदि यहाँ कोई यों आक्षेप करे कि उस प्रदेश परिस्पन्दस्वरूप योग का तो चौदहमे गुणस्थान वाले अयोग केवली महाराज में और संसार अवस्था से अतीत हो रहे सिद्ध परमेष्ठियों में प्रसंग प्राप्त हो जायेगा, आचार्य कहते हैं कि उक्त प्रसंग ठीक नहीं है। क्योंकि उन अयोगकेवलियों और सिद्धों में आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्द नहीं पाया जाता है। चौदहवें गुणस्थानमें आत्मा अकम्प रहता है और चौदहवे गुणस्थान के पश्चात् स्वभावसे ही ऊर्ध्वगतिवाला शुद्ध आत्मा अकम्प होकर सात राजू ऊंचा गमन करता हुआ उसी समय सिद्धालय में विराजमान हो जाता है।

तथाहि—अयोगकेवलिनो न प्रदेशस्पंदः समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानाश्रयत्वात्। यस्य तु प्रदेशस्पंदः स्यात् स तथा प्रसिद्धो यथा सयोग इति युक्तिः। सिद्धनामत एव प्रदेशस्पदाभावस्तेषामयोगव्यपदेशः समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानाश्रयत्वासिद्धेरव्यपदेश्यचारित्रमयत्वात् कायादिवर्गणाभावाच्च सिद्धानां न योगो युज्यते। ततो वीर्यांतरायस्य क्षयोपशमे क्षये वा सति कायादिवर्गणालम्बितो जीवप्रदेशपरिस्पन्दो योगस्त्रिविधः प्रत्येतव्यः।

इसी सिद्धान्त को अनुमान द्वारा विशाल रूप से ग्रन्थकार यों दिखलाते हैं कि अयोग केवली के (पक्ष) प्रदेशों का परिस्पन्द नहीं है (साध्य) समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति नाम के चौथे शुक्ल ध्यान का आश्रय होने से (हेतु) जिस जीव के प्रदेश का कम्प होगा वह जीव तो तिस प्रकार समुच्छिन्नक्रियानिवर्त्तिध्यान का आधार नहीं हो सकता है जिस प्रकार कि अन्य तेरह गुणस्थानों वाले जीव हैं। यों तेरहवें गुणस्थान वाले सयोगकेवली है (व्यतिरेकदृष्टान्त) यह युक्ति अयोगकेवली के प्रदेश परिस्पन्द का निवारण कर देती है। अर्थात्-तेरहमें गुणस्थान के अन्त में अन्तर्मुहूर्त पहिले बादर योगों का उपसंहार कर सूक्ष्म काययोग का अवलम्ब करता हुआ सयोगी परमेष्ठी सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती नामक तीसरे शुक्ल-

ध्यान को धारता है। पश्चात्-प्राण, अपान, प्रचार आदि सूक्ष्म क्रियाओं का भी उच्छेद कर चौदहमे गुणस्थान में समुच्छिन्नक्रियानिवर्त्ति नामक ध्यान का आश्रय हो रहे अयोग केवली आत्मा के प्रदेशो का कम्प नहीं हो पाता है। इस ही कारण से सिद्ध आत्माओ के कम्प होने का अभाव समझा दिया गया है। अतः प्रदेशों का परिस्पन्दस्वरूप योग नहीं होने से उन सिद्धों का भी अयोग केवली इस शब्द द्वारा कथन किया जा सकता है। यद्यपि चौदहमे गुणस्थान वाले अयोग केवलीके व्युपरतक्रियानिवर्त्ति ध्यान है और सिद्धों के समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक चौथे शुक्लध्यान का आश्रयपना सिद्ध नही है तथापि अवक्तव्य होकर अयोगपना सिद्धों में व्यवस्थित है। कारण कि सिद्ध भगवान नहीं कथन करने योग्य चारित्र के साथ तन्मय हो रहे हैं। भावार्थ—योग नामक पर्याय शक्ति तेरहमे गुणस्थान तक ही पायी जाती है। बहिरंग क्रियाओं और अन्तरंग क्रियाओं का निरोध होना चारित्र है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदयसे चारित्र गुणका विभाव परिणाम होता रहता है। संसारी जीवोंके पूज्य चारित्रका स्वरूपाचरण देश चारित्र, सकल चारित्र, यथाख्यात चारित्र, अथवा सामायिक छेदोपस्थापना आदि शब्दों द्वारा निरूपण करा दिया जाता है, सिद्धों के चारित्रका शब्दों द्वारा कथन नही हो सकता है। अस्तित्व, वस्तुत्व, चेतना, वीर्य, आदि अनुजीवी गुण भी अनादि अनन्त काल तक जीवों मे ठहर रहा है। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरु लघु, अव्याबाध, इन आठ गुणों में कण्ठोक्त रूप से चारित्र गुण को परिगणित नहीं किया है फिर भी अनेक निर्विकल्पक गुण आत्मा में व्यपदेश किये बिना ही प्रतिष्ठित हो रहे है केवल अपने स्वरूप में ही निष्ठा बनी रहना चारित्र है। अतः सिद्धिलाभ, आत्मस्वरूपप्राप्ति, चारित्र इनको शब्दों करके स्वतंत्र रूप से व्यपदेश करने की आवश्यकता नही है। नही व्यपदेश करने योग्य चारित्र के साथ योगरहितपना भी तन्मय हो रहा है। आत्मा में अनेक गुण या अनन्तानन्त स्वभाव अन्तर्गूढ हो रहे है। सच बात तो यह है कि वस्तु के सम्पूर्ण अंशों का सर्वांग निरूपण हो नहीं सकता है। जो निर्विकल्पक या अव्यपदेश है वही परिपूर्ण है। अतः काय, वचन, आदि के उपयोगी वर्गणाओ का अवलम्ब नहीं होने से सिद्धो के योग मान लेना समुचित नहीं है। तिस कारण सिद्ध हो जाता है कि वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम अथवा क्षय होने पर काय आदि वर्गणाओं की लब्धि हो जाने से जीवों के प्रदेशों का परिस्पन्द होना योग है जो कि काययोग, वचनयोग, मनोयोग यों तीन प्रकार का विश्वास कर लेने योग्य है। अर्थात् बारहमे गुणस्थान तक जीवों के योग का अन्तरंग कारण वीर्यान्तरायका क्षयोपशमपुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म का उदय, अक्षराद्यावरणक्षयोपशम, मन इन्द्रियावरण क्षयोपशम आदि है और तेरहमे गुणस्थान में अन्तराय और ज्ञानावरण कर्मों का क्षय उस योग का कारण पड़ जाता है। योग के बहिरंग अवलम्बवर्गणा आदि हैं, आवरण और अन्तराय का क्षय हो जाने पर भी तीनों प्रकार की वर्गणाओं की अपेक्षा रखता हुआ सयोगकेवली भगवान् के आत्म प्रदेशोंकी सकम्प अवस्था रूप योग है। वहाँ काययोग, वचनयोग, मनोयोग ये तीनों विद्यमान है। औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, कार्मणकाययोग, सत्यवचनयोग, अनुभयवचनयोग, सत्यमनोयोग, अनुभयमनोयोग ये उक्त योगों के सात भेद तेरहमे गुण-स्थान में हैं।

कोई शिष्य प्रश्न करता है कि उक्त तीन प्रकार के योग को हमने समझ लिया है किन्तु पाँचमे अध्याय तक जीव, अजीव, तत्त्वों का निरूपण कर चुकने पर प्रकरण प्राप्त आस्रव तत्त्व का इस समय निर्देश करना चाहिये था। इसके लिये टालमटूल क्यों की जा रही है। इस प्रकार प्रश्न होने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

स आस्रवः ॥२॥

जो ही पूर्व में कहा गया तीन प्रकार का योग है वही आस्रव है। अर्थात् आत्मा की योग नामक परिणति करके दूरदेशवर्त्ती कर्मनोकर्म इस आत्मा के पास खिंचे चले आते है अथवा समीपस्थ योग्य पुद्गलपिंड भी कर्मपने करके परिणत हो जाते हैं वह आस्रव है। आस्रवति कर्म अनेन यह निरुक्ति अच्छी है।

स आस्रव इत्यवधारणात् केवलिसमुद्घातकाले दंडकपाटप्रतरलोकपूरणकाययोगस्यास्रवत्वव्यवच्छेदः। कायादिवर्गणालंबनस्यैव योगस्यास्रवत्ववचनात्। तस्य तदनालंबनत्वात्। कथमेवं च केवलिनः समुद्घातकाले सद्वेद्यबंधः स्यादिति चेत्, कायवर्गणानिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य तन्निमित्तस्य भावात्स इति प्रत्येयं।

"स आस्रवः" इस सूत्रके उद्देश्यदल में एवकार लगाकर "वह योग ही आस्रव है" इस प्रकार अवधारण करने से तेरहमे गुणस्थानवर्ती केवली के समुद्घातकाल में दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण अवस्थाओं के काययोग को आस्रवपन का व्यवच्छेद कर दिया गया है। क्यों कि काय आदि तीन प्रकार की वर्गणाओं का आलम्बन ले रहे ही योग के आस्रवपन का यहाँ कथन है और वह दण्ड आदि अवस्थाओं का योग तो उन वर्गणाओं का आलम्बन नहीं करता है। हाँ उससे पहिले के योग तो वर्गणाओं को आलम्बन कारण मानकर उपजते हैं। भावार्थ—जब केवली भगवान् की अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रह जाती है यदि उस समय शेष तीन अघातिया कर्मों की भी स्थिति उसके तुल्य है तब तो केवलिसमुद्घात नहीं किया जाता है। और जब अन्तर्मुहूर्त स्थितिवाले आयुकर्म से वेदनीय, नाम, गोत्र,कर्मों की स्थिति अधिक होय तब निरिच्छ आत्मपुरुषार्थ द्वारा सयोगी भगवान् चार समयों मे दण्ड आकार, कपाट आकार, प्रतर आकार और लोकपूरण रूप से आत्मप्रदेशो को फैला देते है। पुनः उतने ही समयों में संकोच कर चारों कर्मों की स्थिति समान कर लेते है। उस समय का योग आस्रव नहीं है। क्योंकि उस योग की उत्पत्ति में काय आदिवर्गणायें अवलम्ब हेतु नहीं हुई हैं। वह शुद्ध योग केवल कर्मों की शक्ति का नाश करने वाले स्वभावों के धारी आत्म प्रयत्न से ही उत्पन्न हुआ है। यदि यहाँ कोई यों प्रश्न उठावे कि इस प्रकार दण्ड आदि अवस्थाओं के योग को आस्रवपन का व्यवच्छेद कर देने पर भला केवली भगवान् के समुद्घात काल में साता वेदनीय कर्म का बंध कैसे होगा ? बताओ। अर्थात्—"समयट्ठिदिगो बंधो,, समयियट्ठि दीसादं" यों तेरहमे गुणस्थान में एक समय स्थितिवाले सातावेदनीय कर्म का बंध कहा है और बंध आस्रवपूर्वक होता है। जब समुद्घात कालमें केवली के आस्रव ही नहीं मानते हो तो बंध कैसे होगा ? यों प्रश्न करने पर तो आचार्य कहते है कि गृहीत हो चुकी कायवर्गणा को निमित्त पाकर हुए आत्म प्रदेशों के परिस्पन्द का वहाँ सद्भाव है, जो कि उस बंध का निमित्त है अतः उस परिस्पन्द से वह सद्वेद्य का बंध हो जाता है। केवली समुद्घात काल में सूक्ष्मयोग माना गया है। उसको निमित्त पाकर स्वल्प बंध हो गया है। दण्ड आदि योग उस बंध का निमित्त नहीं है। अतः परिस्पन्द हेतुक बंध हो जाने में कोई बाधा नहीं पड़ती है। किन्तु केवली समुद्घात के योग को आस्रव नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वहाँ काय, वचन और मनका अवलम्ब पाकर आत्मा का प्रदेशपरिस्पन्द नहीं हुआ है। यों सूक्ष्मतत्त्व का

विश्वास कर लेना चाहिये। अनेक सूक्ष्म विषयों में सिद्धान्त ग्रन्थों अनुसार समीचीन शिष्य को प्रतीति कर लेना समुचित है।

कायवाङ्मनःकर्मास्रव इत्येकमेव सूत्रमस्तु लघुत्वादिति चेन्न, योग आस्रव इति सिद्धांतोपदेशप्रत्याख्यानप्रसंगात्। तर्हि योग आस्रव इत्यस्तु निरवद्यत्वादिति चेन्न, केवलिसमुद्घातस्याप्यास्रवत्वप्रसंगात् तस्य लोके योगत्वेन प्रसिद्धेः संदेहाच्च कायवाङ्मनःकर्म योग आस्रव इत्यपि न श्रेयः, संदेहप्रसक्तेः। कायवाङ्मनःकर्म योग इत्यपि संकेतं कुर्यात् न चैवं तद्युक्तं तस्य योगलक्षणत्वेन निर्देशात्। संबंधस्यात्मनि निष्क्रियेऽपि भावात्स एवास्रवो युक्त इति चेन्न, आत्मनो निष्क्रियत्वनिराकरणात्तत्र तत्कर्मण एव भावात्। ततो योगविभाग एव श्रेयान् निःसंदेहार्थत्वात् तदन्यस्यापि योगस्यास्तित्वसंप्रतिपत्तेश्च।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि "कायवाङ्मनःकर्मास्रवः" शरीर वचन और मन का कर्म ही आस्रव है, इस प्रकार एक ही सूत्र बनाया जाओ, इसमें लाघव है, दो सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र होगा और तत् शब्द के प्रथमा विभक्ति के एकवचन माने गये पुल्लिंग सः शब्द का प्रयोग नहीं करना पड़ेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना। क्योंकि ऋषि प्रोक्त सिद्धान्त ग्रन्थों में योग आस्रव है ऐसा आम्नाय पूर्वक उपदेश चला आ रहा है उस आगम प्रसिद्ध अर्थ के परित्याग का प्रसंग आ जावेगा। आगम में योग को आस्रव और कर्मों के आगमन के कारण को योग कहा जा रहा है। अतः सूत्रकार को भी योग का लक्षण करते हुए उसी को आस्रव कहने के लिये बाध्य होना पड़ा है। धार्मिक उपदेशों की आम्नाय का प्रत्याख्यान नहीं करना चाहिये। पुन शंकाकार यदि यों कहे कि आम्नाय की रक्षा करते हुये सूत्रकार करके योग आस्रव है इतना ही सूत्र निर्दोष होने के कारण बनाया जाय अथवा कायवाङ्मनःकर्म योग आस्रव "काय, वचन, मन, इनका कर्म होना योग ही आस्रव है। योगविभाग नहीं करते हुये इस प्रकार दो सूत्रों का एक योग कर निर्दोष निर्देश हो जाओ। आचार्य कहते है कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो सम्पूर्ण योगों के आस्रवपन का प्रसंग आजावेगा। केवलिसमुद्घात के अवसर पर हुए औदारिक काययोग, औदारिकमिश्रकाय योग, कार्मणकाययोगों को भी आस्रवपन का प्रसंग आता है, जो कि इष्ट नहीं है। लोक में उस केवलिसमुद्घात के योगो की योगपने करके प्रसिद्धि हो रही है। यहाँ "सूक्ष्मयोगत्वेन प्रसिद्धेः" पाठ अच्छा दीखता है। श्री अकलंकदेवने राजवार्त्तिक में केवलिसमुद्घात काल के योगों को सूक्ष्मयोगपन की इष्टि करना लिखा है। एक बात यह और है कि संदेह हो जाने के कारण "कायवाङ्मनःकर्मयोगः आस्रवः" यह कहना भी श्रेष्ठ नहीं है। देखिये इसमें संदेह हो जाने का प्रसंग आता है कि काय, मन, वचनों, की क्रिया का सम्बन्ध हो जाना आस्रव है? या काय, वचन, मन, की क्रिया की एकाग्रता (समाधि) आस्रव है? अतः उक्त लाघव करने पर काय, वचन, मनों की क्रिया योग है यह भी संकेत करना पड़ेगा किन्तु इस प्रकार संकेत करना तो युक्त नहीं पड़ेगा। प्रत्युत उस शरीर, वचन, मन, के अवलम्ब से हुई आत्मा की क्रिया को योग का लक्षणपने करके कण्ठोक्त निरूपण करना आवश्यक पड़ जाता है। यदि कोई यो कहे कि योग का अर्थ सम्बन्ध माना जाय तब तो वैशेषिक मत अनुसार क्रिया रहित माने गये आत्मा में सम्बन्ध का सद्भाव है। अतः क्रियारहित आत्मा के साथ वह काय, वचन, मनों, की क्रिया का सम्बन्ध ही आस्रव माना जाय यह युक्त जचता है। ग्रन्थकार कहते

हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि आत्मा के क्रियारहितपन का निराकरण किया जा चुका है। उस आत्मा में उन मन, वचन, कायों के अवलम्ब से हुई प्रदेश परिस्पन्द स्वरूप क्रिया का सद्भाव है तिस कारण उद्देश्यदल और विधेयदल को धार रहे न्यारे न्यारे दो सूत्रों को बना कर योग विभाग करना ही श्रेष्ठ-मार्ग है। सभी संदेहों का निकाल देना इस योग विभाग का प्रयोजन है। दूसरी बात यह है। कि दो सूत्र बनाने से इस सिद्धान्त की भी भले प्रकार प्रतिपत्ति हो जाती है कि आत्मा का योग नामक व्यापार केवल, शरीर, वचन मनों, के अवलम्ब से हुई क्रिया ही नहीं है साथ ही उनसे अन्य भी निराले योग का अस्तित्व है जो कि केवलीसमुद्घात काल में प्रसिद्ध है "फलमुख गौरवं न दोषाय" संदेह की निवृत्ति और अन्य योगका सद्भाव इन फलों को धार रहा यह दो सूत्र बनाने का गौरव दोषाधायक नहीं है।

कुतः पुनर्यथोक्तलक्षणो योग एवास्रवः सूत्रितो न तु मिथ्यादर्शनादयोऽपीत्याह।

यहाँ कोई जिज्ञासु प्रश्न उठाता है कि जैन सिद्धान्त ग्रन्थों की आम्नाय अनुसार सूत्रकार ने जिस योग का लक्षण प्रथम सूत्र में कहा है केवल उस एक योग को ही द्वितीय सूत्र करके श्री उमास्वामी महाराजने क्यों आस्रव कह दिया है ? मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद,आदि को भी आस्रव कहना चाहिये था जब कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग इन पाँचोंको बंध का हेतु माना गया है। बंध के सभी हेतुओं को आस्रव कहना चाहिये। किन्तु मिथ्यादर्शन आदि को आस्रव नहीं कह कर केवल योग को ही आस्रव मानना उचित नहीं दीखता है। इस प्रकार प्रश्न प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा स्पष्ट समाधान कहते हैं उसको सुनिये।

स आस्रव इह प्रोक्तः कर्मागमनकारणम्।
पुंसोऽत्रानुप्रवेशेन मिथ्यात्वादेरशेषतः ॥ १ ॥

आत्मा के निकट कर्मों के आगमन का कारण वह आत्मा प्रदेशपरिस्पन्दस्वरूप योग ही यहाँ प्रकरण में आस्रव अच्छा कहा गया है। मिथ्यात्व, अविरति, आदि बन्धहेतुओं का सम्पूर्ण रूपसे इस योग में अनुप्रवेश हो जाता है इस कारण मिथ्यात्व आदि को कण्ठ से नहीं कहा है। अर्थात्—कर्म नोकर्मों के आगमन का कारण वस्तुतः योग ही है। आत्मा के मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, ये परिणाम तो उस योग में ही विशिष्टता को उपजा देते हैं, आत्मा के योग को जब मिथ्यादर्शन का प्रसंग मिल जाता है तो यह आत्मा "मिच्छत्त हुण्ड संढाऽसंपत्तेयक्खथावरादावं। सुहमतियं वियलिंदीणिरयदु-णिरयाउगं मिच्छे" इन सोलह प्रकृतियों का बंध कर लेता है अन्यथा नहीं। असम्भव पदार्थ की भी कल्पनावश सम्भावना करने वाला कवि कह सकता है कि आत्मा में यदि योग नहीं होता और मिथ्यादर्शन, अविरति, बने भी रहते तो भी आत्मामें अणुमात्र का बंध नहीं हो सकता था अतः प्रधान शक्तिशाली योग को आस्रव कह देने से ही मिथ्यादर्शन आदि उस योग में ही अन्तर्भूत हो रहे समझ लिये जाते हैं।

मिथ्यादर्शनं हि ज्ञानावरणादिकर्मणामागमनकारणं मिथ्यादृष्टेरेव न पुनः सासादन-सम्यग्दृष्टयादीनां। अविरतिरप्यसंयतस्यैव कार्त्स्न्येनैकदेशेन वा। न पुनः संयतस्य, प्रमादोऽपि प्रमत्तपर्यंतस्यैव नाप्रमत्तादेः, कषायश्च सकषायस्यैव न क्षपस्योपशांतकषायादेः, योगः पुनरशे-

पतः सयोगकेवल्यंतस्य तत्कारणमिति स एवास्रव प्रोक्तोऽत्र शास्त्रे संक्षेपादशेषास्रवप्रतिपत्त्यर्थ-त्वान्मिथ्यादर्शनादेरत्रैव योगेऽनुप्रवेशात् तस्यैव मिथ्यादर्शनाद्यनुरंजितस्य केवलस्य च कर्मागमन-कारणत्वसिद्धेः ।

देखिये आत्मा का मिथ्यादर्शन परिणाम विचारा मिथ्यादृष्टि जीव के ही ज्ञानावरण, मिथ्यात्व प्रकृति, आदि कर्मों के आगमन का कारण है किन्तु फिर द्वितीय गुणस्थानवर्त्ती सासादन से सम्यग्दृष्टि या तृतीय गुणस्थानवर्त्ती सम्यङ्मिथ्यादृष्टि आदिक जीवों के ज्ञानावरण आदि का आस्रवण हेतु वह मिथ्या-दर्शन नहीं है अतः मिथ्यात्व को कर्म आगमन का हेतु कह देने से अव्याप्तिदोष आ जायेगा। इसी प्रकार बंध का हेतु मानी गयी अविरति भी संयम रहित जीवों के ही ज्ञानावरण आदि कर्मों का आस्रवण हेतु है किन्तु फिर पूर्ण रूप से संयमी हो रहे छठे गुणस्थानवर्त्ती मुनि के अथवा एक देश करके देशसंयमी हो रहे श्रावक के ज्ञानावरणादि कर्मों के आगमन का कारण वह अविरति कथमपि नहीं है। प्रमाद भी मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर छठे गुणस्थानवर्त्ती प्रमत्त मुनियों पर्यन्त ही ज्ञानावरण आदि कर्मों का आग-मन करता है किन्तु अप्रमत्त, अपूर्वकरण आदि संयमियों के निकट कर्मों का आगमन हेतु प्रमाद नहीं है। तथा कषाय भी दशमे गुणस्थान तक कषायवाले जीवों के ही कर्म बंध का हेतु हो सकेगी। शेष बच रहे ग्यारहवे आदि गुणस्थानवर्त्ती उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, और सयोग केवली जीवों के कर्म आगमन का हेतु कषाय नहीं है। हाँ, योग तो फिर मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर सयोगकेवली पर्यन्त अशेषरूप से जीवों के उस कर्म, नोकर्मों के आगमन का कारण है इस कारण इस तत्त्वार्थ शास्त्र ग्रन्थ में सूत्रकार करके वह योग ही आस्रव बहुत अच्छा कहा जा चुका है चूंकि संक्षेप से सम्पूर्ण आस्रवों की प्रतिपत्ति हो जाना इसका प्रयोजन है। पृष्ठ लग्न मिथ्यादर्शन, अविरति आदि का इस योग में ही प्रवेश हो जाता है क्योकि मिथ्यादर्शन, अविरति आदि करके पीछे रंगे जा चुके केवल योग को ही कर्मों के आगमन का|कारणपना सिद्ध है पीले लाल या हरे रंग से रंगा हुआ वस्त्र जैसे वस्त्र ही कहा जाता है उसी प्रकार अनादिकाल से धड़ाधड़ कर्म नोकर्मों को खींच रहा योग भी पुनः मध्य मध्य मे यथायोग्य मिथ्यादर्शन आदि भावों से रंगा जा रहा सन्ता भिन्न प्रकार के कर्मों का आगमनहेतु बन रहा है अतः योग को ही आस्रव कह रहे सूत्रकार के पूर्ववर्त्ती वचन का "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः॥" इस उत्तरवर्त्ती वचन के साथ कोई पूर्वापर विरोध दोष नहीं आता है।

कीदृशः स योगः पुण्यस्यास्रवः कीदृशश्च पापस्येत्याह ।

मानू कोई जिज्ञासु पूंछता है कि पुण्य, और पाप यों कर्म दो प्रकार के हैं सो बताओ कि किस प्रकार का वह योग पुण्य का आस्रव है ? और किस जाति का वह योग पाप के आस्रव का हेतु है ? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र का परिभाषण करते हैं।

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३॥

अहिंसा भाव, सत्य भाषण, शास्त्र विनय, आत्म चिंतन, आदि शुभ परिणामों से बनाया गया शुभ योग तो पुण्य का आस्रव हेतु है और हिंसा करना, झूंठ बोलना, मारने का विचार, आदि अशुभ परिणामों से सम्पादित हुआ अशुभ योग पाप का आस्रव (आस्रव हेतु) है।

सम्यग्दर्शनाद्यनुरंजितो योगः शुभो विशुद्ध्यंगत्वात्, मिथ्यादर्शनाद्यनुरंजितोऽशुभः संक्लेशांगत्वात्। स पुण्यस्य पापस्य च वक्ष्यमाणस्य कर्मण आस्रवो वेदितव्यः।

सम्यग्दर्शन, ब्रह्मचर्य, हित भाषण, तपोरुचि, आदि से अनुकूल होकर रंग दिया गया आत्मप्रदेशकम्पस्वरूप योग तो शुभ योग है क्योंकि वह विशुद्धि का अंग है। अर्थात वह शुभ योग विशुद्धि का कारण है, पूर्व विशुद्धि से उत्पन्न हुआ होने से विशुद्धि का कार्य है और स्वयं विशुद्धि स्वभाव है। तथा मिथ्यादर्शन, मैथुनप्रयोग, चोरी आदि से अनुरंजित हो रहा योग अशुभ योग समझा जाता है क्योंकि वह अशुभ योग संक्लेश का कारण और संक्लेश का कार्य तथा स्वय संक्लेशस्वरूप होने से संक्लेश का अंग है। भावार्थ—जैसे ब्रह्मचर्य परिणाम पहिली आत्मविशुद्धि से उपजा है पीछे आत्मविशुद्धि का कारण है। ब्रह्मचर्य स्वयं तत्काल में विशुद्धि स्वरूप है। ब्रह्मचर्य से आनन्द उपजता है। इसकी अपेक्षा ब्रह्मचर्य, सत्य, दया, आदि स्वयं विशुद्धि, आनन्द, स्वरूप है। यह अभेदान्वय अच्छा जँचता है। इसी प्रकार व्यभिचार विभाव भी संक्लेश से उपजा है पुनः संक्लेश को उपजावेगा उस समय भी संक्लेश स्वरूप है। (दुःखमेव वा) व्यभिचार से दुःख होगा इसकी अपेक्षा व्यभिचार स्वयं दुःख है यह साहित्य अच्छा है। अतः ब्रह्मचर्ययुक्त आत्मा का व्यापार शुभ योग है और व्यभिचार युक्त आत्मकम्प अशुभ योग है। वह शुभ, अशुभ, योग भविष्य में कहे जाने वाले पुण्यकर्म और पापकर्म का आस्रव हो रहा समझ लेना चाहिये। अर्थात्—"सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं" "अतोऽन्यत्पापम्" इन सूत्रों अनुसार कहे जाने वाले पुण्य कर्म और पापकर्म का आस्रव हेतु शुभ योग और अशुभ योग हैं। यह तात्पर्य इस सूत्र द्वारा ज्ञात हो जाता है।

एतेन स्वस्मिन् दुःखं परत्र सुखं जनयन् च पुण्यस्य, स्वस्मिन् सुखं परस्मिन् दुःखं च कुर्वन् पापस्यास्रव इत्येकांतो निरस्तः। विशुद्धिसंक्लेशात्मकस्यैव स्वपरस्थस्य सुखासुखस्य पुण्यपापास्रवत्वोपपत्तेरन्यथातिप्रसंगात्। तदुक्तं-"विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत्स्वपरस्थं सुखासुखं। पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद्व्यर्थस्तवार्हतः" ॥ इति तदेवं।

इस उक्त कथन करके इस एकान्त का भी निराकरण कर दिया गया है कि अपने में परोपकार, उपवास, तपस्या, तीर्थयात्रा, आतपनयोग, केशलोंच, कायोत्सर्ग आदि करके दुःख उपजा रहा और दूसरे जीवों में विनय, सत्कार, उपकार, स्तुति, आज्ञापालन, भोजन कराना, अनुकूलवर्तन, आदि करके सुख को उपजा रहा जीव पुण्य का आस्रव करता है तथा अपने में भोग, उपभोग, द्वारा सुख को कर रहा और दूसरे आत्माओं मे हिंसा, झूंठ, चोरी आदि करके दुःख को कर रहा जीव पाप का आस्रव करता है तथा अन्य भी नीति, अनीति मार्गों का अवलम्ब लेकर स्व, पर, में सुख दुःख उपजाये जाते हैं। इनसे पुण्य, पाप, का आस्रव होता है यह एकान्त ठीक नहीं है। क्योंकि तपश्चरण, उपवास, आदि से कुछ स्व को दुःख भी होय किन्तु वे पुण्य या संवर के ही सम्पादक हैं और स्वानुभूति या स्वरूपाचरण से तो आत्मा को स्वयं विशेष आह्लाद उपजता है एतावता कोई पाप नहीं चढ बैठता है। गुरु यदि विद्यार्थी को थप्पड़ मार देता है या डाक्टर रोगी के फोड़े को चीर देता है एतावता गुरु या वैद्य को पाप नहीं लग बैठता है। सर्वत्र विशुद्धि और संक्लेश से पुण्य पाप के बंधों की व्यवस्था करनी पड़ेगी। अपने या दूसरे में स्थित हो रहे विशुद्धि स्वरूप ही सुख दुःखों को पुण्य का आस्रवपना बनता है और

अपने में या दूसरे में स्थित हो रहे संक्लेश स्वरूप ही सुख दुःखों को पाप का आस्रवपना मान लेना उचित है। अन्यथा यानी इसके अतिरिक्त अन्य प्रकारों से पुण्य पापों के आस्रव की व्यवस्था करने पर तो अतिप्रसंग दोष हो जावेगा। अचेतन दूध, कांटे आदि भी पुण्य पापों से बँध जायंगे। वीतराग मुनि भी बंध को प्राप्त हो जायंगे जो कि इष्ट नहीं है। उक्त एकान्तों का खण्डन करते हुये श्री समन्तभद्राचार्य ने आप्तमीमांसा में उस अनेकान्त को यों कहा है कि स्व और पर में स्थित हो रहे सुख अथवा दुःख यदि विशुद्धि के अंग हैं तब तो पुण्य का आस्रव मानना उचित है तथा निज या दूसरे में किये जाकर प्रतिष्ठित हुए सुख दुःख, यदि आर्त्त, रौद्र परिणाम रूप संक्लेश के अंग है तब पाप का आस्रव हो जाना युक्ति पूर्ण है। यदि इस प्रकार व्यवस्था नहीं मानी जायेगी तब तो तुम अर्हन्त देव के शासन में सुख दुःख, उपजाना व्यर्थ पड़ेगा। अर्थात्—विशुद्धि अंग या संक्लेश अंग नहीं होने से कोई भी सुख, दुःख किसी भी कर्म का आस्रव नहीं करा सकते है। देवागम स्तोत्र में "पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि। अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः" पर प्राणियों में दुःख उपजाने से पाप का बंध और दूसरे जीवों में सुख उपजाने से यदि पुण्य का बंध माना जायेगा तब तो अचेतन हो रहे कांटे, कंकड, लट्ठ आदि भी पाप से बंध जायंगे और दूध, पेड़ा, गदेला भूषण, आदि सुखकारक पदार्थ भी पुण्य का बंध कर लेंगे अन्यथा तुम्हारा एकान्त हाथ से जाता है "पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि। वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः" यदि स्वयं अपने में दुःख उपजाने से पुण्य का बंध माना जाय और स्वयं सुख उपजाने से नियम से पाप का आस्रव माना जाय तब तो उक्त निमित्त अनुसार वीतराग सम्यग्ज्ञानी मुनि अथवा संतोषी विद्वान् भी उन पुण्य पापों से बंध जायंगे क्योंकि मुनि महाराज कायक्लेश, आतपनयोग, उपवास, केशलोंच, आदि करके स्व में दुःख उपजाते हैं तथा संतोष, स्वानुभूति, अलौकिक आत्मीय आनन्द अनुभव से विद्वान को स्वयं सुख भी उपज रहा है। वस्तुतः विचारा जाय तो, केशलोंच, कायोत्सर्ग या परीषहों द्वारा वीतराग मुनि को उतना दुःख नहीं उपजता है जितना कि निर्बल पुरुष अनुमान लगाया करते है। पुत्र का विवाह करनेवाला पुरुष, पुत्र को उत्पन्न कर रही माता, धन को कमाने वाला व्यापारी, विद्या को उपार्जन करनेवाला छात्र, धान्य या भुस को उपजा रहा किसान इत्यादिक जीव ही अपने-अपने लक्ष्य की सिद्धि का ध्येय रखते हुये मध्यपाती दुःखों को जब नहीं गिनते हैं तो आत्म सिद्धि का परमलक्ष्य रखते हुये मुनिमहाराज को शृगाली या व्याघ्री भी भक्षण करती रहे एतावता उधर पीड़ा की ओर उनका उपयोग जाता ही नहीं है। हाँ वेदना की ओर उपयोग जायेगा तो मुनि अपने ध्येय से स्खलित समझे जायेंगे इसी प्रकार उद्भट विद्वान को शास्त्रों के रहस्य या संतोष, ख्याति, प्रतिष्ठा, जैनधर्म का गौरव आदि से अद्भुत अलौकिक आनन्द मिलता है। श्री जिनेन्द्रदेव की अर्चा करनेवाला, स्वाध्यायप्रेमी, तपस्वी, सत्यव्रती, ब्रह्मचारी, परोपकारी, निःस्वार्थ अध्यापक, गुरुविनयी, अतिथि सत्कारी, आदि जीवों को स्व संवेद्यविलक्षण आनन्द अनुभूत होता रहता है। हां जो साधु नामधारी अपना कान फाड़ लेते हैं एक हाथ को सदा ईश्वर के नाम पर ऊंचा उठाये रहते है, पंचाग्नि तपतपते है, ऐसे स्वकीय दुःखों से तो महापाप का बंध होता है तथा अन्यायपूर्वक भोगोपभोग भोगना, डांके चोरी से माल हड़पना, मद्यपान, आदि क्रियाओं द्वारा निज में सुख उपजाने से भी महान् पाप का आस्रव होता है किन्तु संतोष, अध्यापन, अर्चा, आदि द्वारा स्वकीय सुखों से अथवा उपवास, कायक्लेश, आदि स्वकीय दुःखों (दुःखाभासों) से पुण्य उपजता है। बात यह है कि विशुद्धि और संक्लेश अनुसार पुण्य पाप की व्यवस्था है—"विशुद्धसंक्लेशांगं" इत्यादि कारिका अनुसार भगवान् समन्तभद्राचार्य ने उक्त स्याद्वाद सिद्धान्त को ही पुष्ट किया है। आत्मा में जब वीतराग

भाव या परमविशुद्धि उपजती है तब तो पुण्य या पाप किसी का भी बंध नहीं होता है प्रत्युत संवर और निर्जरा होते हैं। यों पुण्य, पाप के आस्रव का सिद्धान्त निर्णीत हो चुका है तिस कारण इस प्रकार होने पर जो हुआ उसे आगे वार्तिक द्वारा सुनिये।

शुभः पुण्यस्य विज्ञेयोऽशुभः पापस्य सूत्रितः।
संक्षेपाद्द्विप्रकारोऽपि प्रत्येकं स द्विधास्रवः ॥ १ ॥

शुभ परिणामों से सम्पादित हुआ शुभ योग पुण्य का आस्रव समझ लिया जाय और अशुभ योग पाप का आस्रव हो रहा विशेषतया जान लिया जाय जो कि सूत्र द्वारा कह दिया है। संक्षेप से वह आस्रव दो प्रकार का भी है तथापि प्रत्येक वह आस्रव दो प्रकार का माना जाता है कारण दल में शुभ योग अशुभ योग अनुसार कार्य कोटि में भी आस्रव, पुण्यास्रव, पापास्रव दो दो प्रकार है अथवा काययोग, वचनयोग, मनोयोग, इन तीनों आस्रवों में से प्रत्येक के पुण्यास्रव और पापास्रव यों दो दो भेद हैं। यहाँ "संक्षेपात्त्रिप्रकारोऽपि प्रत्येकं स द्विधास्रवः" यह पाठ अच्छा जचता है। संक्षेप से वह आस्रव काय परिस्पन्द, वचनपरिस्पन्द, कायावलंब-आत्मप्रदेशपरिस्पंद, यों तीन प्रकार का भी हो रहा प्रत्येक के पुण्यास्रव, पापास्रव, यों दो दो भेदों अनुसार दो भेद वाला है।

कायादियोगस्त्रिविधः शुभाशुभभेदात् प्रत्येकं स द्विविधोऽपि द्विविध एवास्रवो विज्ञेयः। पुण्यपापकर्मणोः सामान्यादाश्रूयमाणयोर्द्विविधत्वेन सूत्रितत्वात्।

काय अवलम्बी, वचन अवलम्बी, मन अवलम्बी यों योग तीन प्रकार का है। शुभ योग और अशुभ योग के भेद से वह प्रत्येक दो प्रकार का होता हुआ भी पुण्यास्रव और पापास्रव अनुसार दो प्रकार का ही समझ लेना चाहिये क्योंकि शास्त्रपरम्परा द्वारा सामान्य रूप से पुण्य और पाप इन दो कर्मों को ही आचार्य आम्नाय अनुसार सुना जा रहा है। परमाणुओं की अपेक्षा अनन्तानन्त और जाति अपेक्षा असंख्यात तथा उत्तर प्रकृति भेद अनुसार एकसौ अड़तालीस व उदय अपेक्षा एकसौ बाईस एवं बंध अपेक्षा एकसौ बीस कर्मों को पुण्यकर्म और पापकर्म यों दो ही प्रकारों करके सूत्रों द्वारा कहा गया है। इस छठे अध्याय के अन्तिम दो सूत्रों को देख लीजिये। यहाँ केवल पुण्यास्रव और पापास्रव इन दो भेदों का ही निरूपण किया गया है।

कुतः पुनः शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्यास्रवो जीवस्येति निश्चीयत इत्याह।

सूत्रकार ने उक्त सूत्र करके जो सिद्धान्त कहा है क्या वह राजाज्ञा के सदृश यों ही ननु, न च, कुतः, लगाये विना ही स्वीकार कर लिया जाय? यदि नहीं तो फिर बताओ कि जीव का शुभ योग पुण्य का आस्रव और अशुभ योग जीव के पाप का आस्रव है इस दर्शन का किस प्रमाणसे निर्णय कर लिया जाता है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रंथकार अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधानवचन को कहते हैं।

शुभाशुभफलानां नुः पुद्गलानां समागमः।
विशुद्धेतरकायादिहेतुस्तत्त्वात्स्वदृष्टवत् ॥ २ ॥

शुभ और अशुभ फलों के सम्पादक पुद्गलों का आत्मा के निकट समागम होना (पक्ष) विशुद्ध

और उनसे न्यारे अविशुद्ध होरहे काय आदि हेतुओं से किया गया है (साध्य) तत्त्वात् यानी शुभ अशुभ फल वाले पुद्गलों का आस्रव होने (हेतु) स्वयं अनुभूत कर देखे गये पथ्य, अपथ्य, भोजन आदि के समागम समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-जैसे आरोग्य या रोग के सम्पादक पथ्य, अपथ्य, पदार्थों का भोजन विचारा विशुद्ध, अविशुद्ध, कायादि करके ही हुआ सन्ता इष्ट अनिष्ट फलदायी पुद्गलों का समागम है उसी प्रकार आत्मा शुभ अशुभफल वाले पुद्गलों का समागम भी विशुद्ध और संक्लिष्ट काय, वचन, मन, करके किया है यह उक्त सूत्र के ऐदंपर्य मे युक्ति कह दी गई है।

जीवस्य शुभफलपुद्गलानामास्रवो विशुद्धकायाध्यवसानाद्यंतरंगबहिरंगकृतः शुभफलपुद्गलास्रवत्वात्स्वयं दृष्टशुभफलपथ्याहारादिसमागमवत्। तथैवाशुभफलपुद्गलसमागमो जीवस्याविशुद्धकारणकृतः अशुभफलपुद्गलसमागमत्वात् स्वयं दृष्टाशुभफलापथ्याहारादिवदित्यनुमानात्तन्निश्चयः। न तावदत्रासिद्धो हेतुः शुभस्य विशुद्धिरूपस्याशुभस्य च संक्लेशात्मनः परिणामस्य स्वसंवेदनसिद्धस्य कारणानां पुद्गलानां समागमस्य शुभाशुभफलस्य प्रसिद्धेस्तद्भवभावित्वान्यथानुपपत्तेः।

जीव के शुभ फल वाले पुद्गलों का आस्रव होरहा (पक्ष) विशुद्ध काय का अवलम्ब करना, वीर्यान्तराय क्षयोपशम, शरीर नामकर्म उदय, वाग्लब्धि, नो इन्द्रियावरणक्षयोपशम, शरीर, वर्गणायें, अविरति, कषाय, अध्यवसाय, द्रव्य, क्षेत्र, आदिक अन्तरंग कारणों करके किया गया है (साध्य) शुभ फलदायी पुद्गलों का आस्रव होने से (हेतु) स्वयं देखे जा चुके शुभ फलवाले पथ्य आहार, पुस्तक प्राप्ति, तीर्थ यात्रा, प्रतिष्ठा महोत्सव, सुपुत्र लब्धि, निरवद्य यशोलाभ, आदि इष्ट पदार्थों के समागम समान (अन्वयदृष्टान्त) प्रायः सम्पूर्ण इष्ट अर्थों की प्राप्ति का कारण विशुद्धि से अलंकृत होरहा पुण्य विशेष है। आहार, पान आदि का प्रयोग द्वारा जैसे आस्रव कर लिया जाता है उसी के कुछ सदृश योग्य पुत्र, पत्नी, यात्रावसर, वाणिज्य लाभ प्रकरण आदि का समागम भी उसी पुण्यशालिनी आत्म विशुद्धि से साध्य हो रहे कार्य हैं। यहाँ कर्मो के आस्रव पर विशेष लक्ष्य है। इस अनुमान से शुभ आस्रव का कारण साध दिया जाता है। तिसी प्रकार आत्मा के निकट अशुभ फल वाले पुरुषों का समागम (पक्ष) जीव के अविशुद्ध यानी संक्लिष्ट कारणों करके बनाया गया है (साध्यदल) अशुभफलवाले पुद्गलों का समागम होने से (हेतु) स्वयं देखे गये अशुभ फल वाले अपथ्य आहार, अपथ्यपान, वेश्या प्रसंग, कंटक, टोटा, कलह कारिणी स्त्री, आदि पदार्थों की प्राप्ति के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इन उक्त दोनों अनुमानों से उस सूत्रोक्त अभिप्राय का निश्चय कर लिया जाता है। इन दो अनुमानों में प्रयुक्त किया गया हेतु असिद्धहेत्वाभास तो नहीं है यानी पक्ष में हेतु ठहर जाता है क्योंकि स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष से प्रसिद्ध हो रहे विशुद्धि स्वरूप शुभ परिणाम और संक्लेशस्वरूप अशुभ परिणाम के कारण हो रहे पुद्गलों के शुभ अशुभ फल वाले समागम की मन्दमति पुरुषों को भी प्रसिद्धि हो रही है अन्यथा उक्त कार्यकारण भाव नहीं माना जायेगा तो उन विशुद्ध या संक्लिष्ट कारणों के होने पर उन शुभाशुभ पुद्गलों के समागम का होना बन नहीं सकता है। यों हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव बन रहा है अन्वय, व्यतिरेक को घटित करते हुये कार्य कारणभाव भी इनमें संगत हो रहा है। यों पक्ष में प्रकृत हेतु वर्त रहा है।

ननु चात्मनि शुभाशुभफलपुद्गलसमागमस्यात्मविशेषगुणकृतत्वान्न शुभाशुभकायादियोगकृतत्वं युक्तमिति चेन्न, तस्य विशुद्धिसंक्लेशपरिणामव्यतिरेकेणासंभवात् । धर्माधर्मौ तद्व्यतिरिक्तावेवेति चेन्न, भावधर्माधर्मयोर्विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वात् । द्रव्यधर्माधर्मयोः पुद्गलस्वभावत्वात्, समागमस्य विशुद्धिसंक्लेशपरिणामानुगृहीतस्य कायादियोगकृतत्वोपपत्तेः । स्वप्रसिद्धशुभाशुभफलपथ्यापथ्याहारादिपुद्गलसमागमस्य तत्कृतत्वनिश्चयात्तदभावे सर्वथा तदनुपपत्तेः ।

यहां कोई वैशेषिक आक्षेप पूर्वक प्रश्न करते हैं कि आत्मा मे शुभ अशुभ फल वाले पुद्गलो का समागम होना तो आत्मा के विशेष गुण हो रहे धर्म अधर्म, (अदृष्ट) करके किया गया है। आत्मा के बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न, गुण भी सहायक हो सकते है इस कारण उक्त सूत्र अनुसार शुभाशुभ फल वाले पुद्गलों के आस्रव का शुभ अशुभ काययोग, वचनयोग और मनोयोग करके किया जाना उचित नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस पुण्य पाप स्वरूप पुद्गलो के समागम हो जाने का विशुद्ध और संक्लेश परिणामों से अतिरिक्त अन्य कारणों करके असम्भव है। यदि वैशेषिक यों कहें कि उन विशुद्धि और संक्लेश परिणामो से व्यतिरिक्त हो रहे धर्म, अधर्म नामक गुण है ही। आत्मा मे पाये जा रहे बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, इन नौ विशेष गुणों का आत्मा से सर्वथा भेद है। विशुद्धि और संक्लेश परिणामों से भी अदृष्ट सर्वथा भिन्न है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जैन सिद्धान्त में पुण्य, पाप कर्मों के भाव कर्म और द्रव्य कर्म ये दो भेद माने गये है। कर्मों का उदय होने पर आत्मा के हुये क्षमा, दया, दान, स्वनिंदा, परनिंदा, स्वप्रशंसा, क्रोध, अज्ञान, रागद्वेष, आदि परिणाम तो भाव कर्म है और भोग, गरिष्ठ भोजन, आदि के समान ज्ञानावरण आदि पुद्गल पिण्ड द्रव्य कर्म है। आत्मा के परिणाम हो रहे धर्म, अधर्म, स्वरूप पुण्य, पाप, हमारे यहाँ विशुद्धि और संक्लेश स्वरूप स्वीकार किये गये है तथा कार्मण स्कन्ध द्रव्य स्वरूप धर्म, अधर्म, को पुद्गलो का स्वभाव होना अभीष्ट किया गया है। विशुद्धि और संक्लेश परिणामों से अनुग्रह को प्राप्त हुये उस कर्मनोकर्मो के आस्रव का काय आदि योगों करके किया जाना बन जाता है कारण कि स्वयं निज में प्रसिद्ध हो रहे शुभ फल वाले पथ्य आहार, विहार और अशुभ फल वाले अपथ्य आहार, पान, आदि पुद्गलों के समागम का उन विशुद्ध, अविशुद्ध, काय आदि करके किया जाना निश्चित हो रहा है। उन काय आदि योगों का अभाव होने पर, अन्य सभी प्रकारों से उन पुद्गलो के आस्रव हो जाने की सिद्धि नहीं हो सकती है। वैद्यक विषय को थोड़ा भी जानने वाले स्त्री, पुरुष, या स्वास्थ्य का पाठ पढने वाले विद्यार्थी इस बात का निश्चय कर लेते है कि शुभ अशुभ फल वाले पुद्गलो का आगमन विशुद्ध, अविशुद्ध, काय आदि योगों द्वारा सम्पादित होता है अतः उक्त सूत्र का प्रमेय इन अनुमानों से सिद्ध कर दिया है।

द्वैविध्यात्तत्फलं चैवमास्रवो द्विविधः स्मृतः ।
कायादिरखिलो योगः सोऽसंख्येयो विशेषतः ॥२॥

यों योगों का द्विविधपना हो जाने से उसका फल और आस्रव भी दो प्रकार का शास्त्रों में कहा गया चला आ रहा समझा जाता है। अर्थात्—शुभ अशुभ परिणामों से सम्पादित हुआ योग दो प्रकार है तदनुसार आस्रव भी दो प्रकार है और पुण्य पाप फल भी दो प्रकार है वह काय योग, वचन योग,

मनोयोग, यों तीनों प्रकार का सम्पूर्ण योग तो विशेष रूप से परिगणित करने पर असंख्येय भेदों वाला है। अर्थात् विशुद्धि, अविशुद्धि, के कषायाध्यवसाय स्थान असंख्यात लोक प्रमाण है इनसे विशिष्ट हो रहा योग असंख्यातासंख्यात प्रकार का है अथवा स्वयं व्यक्तिरूप से योग श्रेणी के असंख्यातमे भाग स्वरूप असंख्यातासंख्यात है "सेढि असंखेज्जदिमा जोगट्ठाणाणि हांति सव्वाणि" (गोम्मटसार कर्मकाण्ड)

ज्ञानावरणवीर्यांतराययोः कर्मणोरिह ।
क्षयोपशमतोऽनंतभेदयोः स्पर्द्धकात्मनोः ॥४॥
प्रादुर्भावादनंतः स्याद्योगोऽनंतनिमित्तकः ।
अनंतकर्महेतुत्वादनंतात्मास्रवत्वतः ॥५॥

अभव्य राशि से अनन्त गुणे और सिद्धराशि से अनन्तमे भाग कर्मप्रदेशोंके पिण्ड होरहे तथा अनन्त भेदों वाले स्पर्द्धक आत्मक तथा अनन्त भेदोंवाले ज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम से उत्पत्ति होनेके कारण यहाँ प्रकरण मे योग अनन्त संख्या वाला भी समझा जायगा। अर्थात् अनन्तानन्त कर्मों के क्षयोपशम से उपजे हुये तीनों योगो को अनन्त प्रकार का कहा जा सकता है। जिस योग के निमित्त कारण अनन्तानन्त हैं वे कार्य होरहे योग भी अनन्तानन्त होंगे इनकी अष्टसहस्री म इस सूक्ष्म-कार्यकारण भाव को निरखिये। अथवा दूसरी बात यह है कि श्रेणी के असंख्यातमे भाग प्रमाण योगों में से किसी भी योग से अनन्तानन्त कार्योंका आस्रव होता है अतः अनन्त कर्मोंके आगमन का हेतु होने से योग भी अनन्त प्रकार का कहा जायगा। कार्य अनन्त है तो कारण भी अनन्त होंगे। "भिन्नकार्याणां भिन्न-कारणप्रभवत्वावश्यम्भावात" तथा तीसरी बात यह है कि अनन्तानन्त आत्माओ के निकट कर्मनोकर्मों का आस्रव करा रहे न्यारे न्यारे योग अनन्तानन्त हैं। अनन्तानन्त संसारी आत्माओं में प्रत्येक के श्रेणी के असंख्यातमे भाग योगों मे से प्रतिसमय कोई एक योग अवश्य होगा जबकि अनन्तानन्त जीव प्रतिक्षण योगों द्वारा कर्मो का आस्रव कर रहे है अतः वे योग व्यक्तिभेदेन अनन्तानन्त ही कहे जायेंगे। यों तीन उपायों का अनन्तानन्तपना व्यवस्थित कर दिया गया है।

असंख्येयोऽप्यसंख्याताध्यवसायात्मकोऽङ्गिनाम् ।
संख्यातश्च यथायोगं संक्षेपाद्विविधोऽप्ययम् ॥६॥

संसारी प्राणियों के कषायाध्यवसाय स्थान जाति अपेक्षा असंख्यात लोक प्रमाण है व्यक्ति रूप से या अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा भले ही अनन्तानन्त होवें अतः असंख्यात अध्यवसाय स्थान आत्मक होरहा योग भी असंख्यातासंख्यात संख्या वाला माना जायेगा तथा वह योग सामान्य रूप से एक प्रकार, दो प्रकार, पन्द्रह प्रकार, यों शब्दवाच्य संख्या का अतिक्रमण नहीं कर संख्यातभेद वाला भी है। अति-संक्षेप से भेदों की गणना करने पर यह योग यहाँ सूत्र मे दो प्रकार भी कह दिया है जो कि भेदों की गणना का उपलक्षण है।

स्वामिद्वैविध्याच्च द्विविधो योग इत्याह ।

योगधारी स्वामियों के द्विविधपने से भी योग दो प्रकार का समझा जाता है—इस बात को स्वयं सूत्रकार अग्रिम सूत्रद्वारा स्पष्ट कह रहे हैं। साथ ही उन कर्मों के आस्रव की संज्ञा भी प्रसिद्ध कर दी जायगी।

सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः ॥४॥

क्रोध आदि कषायों के साथ वर्त रहे मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर दशमे गुणस्थान तक जीवों के संसारपर्यटन कारक साम्परायिक कर्मका आस्रव होता है और कषाय रहित हो रहे ग्यारहमे, तेरहमे गुणस्थान वाले जीवों के संसारभ्रमण नहीं कराने वाले ईर्यापथ कर्म का आस्रव होता है। अर्थात् कषायवान जीवों के हो रहा आस्रव संसार वृद्धि का कारण है और अकषाय जीवों के एक समय स्थिति वाला सातावेदनीय कर्म का आस्रव तो केवल आना, चले जाना मात्र है। पहिले समय में सद्वेद्य का बंध होकर दूसरे समय में झटिति ही उसकी निर्जरा हो जाती है। पूर्वबद्ध कर्मों का उदय आने पर हुये अनुभाग रस मे उस साता वेदनीय का मन्द अनुभाग भी सम्मिलित हो जाता है जो कि अविद्यमानवत् है।

यथासंख्यमभिसंबंधमाह।

इस सूत्र के उद्देश्य विधेयदलों का यथासंख्य दोनों ओर से सम्बन्ध कर लेना चाहिये। अर्थात् इतरेतरयोग वाले दो पदों का यथाक्रम से अन्वय लगा लो। इसी बात को ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा कहते हैं।

ससांपरायिकस्य स्यात्सकषायस्य देहिनः।
ईर्यापथस्य च प्रोक्तोऽकषायस्येह सूत्रितः ॥१॥

देहधारी कषाय सहित जीव के वह साम्परायिक कर्म का आस्रव होगा और कषायरहित शरीरधारी जीव के ईर्यापथ कर्म का आस्रव होगा जो कि श्री उमास्वामी महाराज ने यहाँ प्रकरण में इस सूत्र से बहुत अच्छा कह दिया है।

इह सूत्रे स आस्रवः सकषायस्य जीवस्य सांपरायिकस्य कणः स्यात्, अकषायस्यर्म पुनरीर्यापथस्येत्यास्रवस्योभयस्वामिकत्वात् द्वयोः प्रसिद्धिः ॥

इस सूत्र में कषायसहित जीव के साम्परायिक कर्मों का वह आस्रव होना कह दिया जाता है और अकषाय जीव के फिर ईर्यापथकर्म का आस्रव हो सकेगा बताया गया है। इस प्रकार आस्रव के दोनों स्वामियों के हो जाने से दोनों भेदों की प्रसिद्धि हो जाती है।

कषणादात्मनां घातात्कषायः कुगतिप्रदः।
क्रोधादिः सह तेनात्मा सकषायः प्रवर्तनात् ॥२॥
कषायरहितस्तु स्यादकषायः प्रशांततः।
कषायस्य क्षयाद्वेति प्रतिपत्तव्यमागमात् ॥३॥

"कष हिंसायां" धातु से कषाय शब्द व्युत्पन्न किया है। आत्मा का या आत्मा के गुणों का कषण यानी घात कर देने से ये क्रोध आदिक कषाय कहे जाते है। क्रोध आदि चारों ही कषाय खोटी नरकगति और तिर्यग् गति को सुलभता से देते हैं। अर्थात् कषाय नाम सार्थक है। कृष् विलेखने धातु से भी प्राकृत "कसाअ" शब्द के उपयोगी उक्त शब्द बनाया जा सकता है। सुख दुःख स्वरूप धान्यों को उपजाने वाले लम्बे चौड़े संसार रूप कर्म खेत का कर्षण करने यानी जोतने के कर्ता क्रोध आदि कषाय है और "कष हिंसायां" धातु के अनुसार आत्मा के सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र गुणों का घात करने से चार कषायें कही जाती हैं। उन क्रोधादिकों के साथ प्रवृत्ति करने से आत्मा भी कषायसहित कहा जाता है। हाँ क्रोध आदि कषायों से रहित हो रहा जीव तो अकषाय होगा जो कि चारित्र मोहनीय कर्म के भेद हो रहे पौद्गलिक कषायों के उपशम से अथवा क्षय से वह अकषाय होता है। इस प्रकार सूक्ष्म प्रमेयों का प्रतिपादन करने वाले आगम से जीव का सकषायपन और कषायरहितपन भलेप्रकार समझ लेना चाहिये। आदि के गुणस्थान से दशमे गुणस्थान तक के जीव सकषाय है और शेष ऊपरले गुणस्थानो के जीव अकषाय है। ग्यारहमे गुणस्थान में कषायों का उपशम है और आगे के गुणस्थानों में क्षय है।

समंततः पराभूतिः संपरायः पराभवः।
जीवस्य कर्मभिः प्रोक्तस्तदर्थं सांपरायिकं ॥४॥
कर्म मिथ्यादृगादीनामार्द्रचर्मणि रेणुवत्।
कषायपिच्छिले जीवे स्थितिमाप्नुवदुच्यते ॥५॥

सम + परा + इण् + घञ् + ठण् अथवा सम् + पर + इण् + अच् + ठण = यों साम्परायिक शब्द के व्युत्पत्ति अनुसार खण्ड हो सकते हैं। कर्मों करके जीव का समन्ततः यानी सब ओर से जो पराभव अर्थात्-तिरस्कार हो जाना है वह सम्पराय है यह निरुक्ति द्वारा सम्पराय का अच्छा अर्थ कह दिया है। यह सम्पराय जिसका प्रयोजन है वह कर्म साम्परायिक है। सम्पराय शब्द से प्रयोजन अर्थ में ठण प्रत्यय कर दिया है। मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर सूक्ष्मसाम्पराय पर्यन्त जीवों के कषाय का उदय होते सन्ते योग वश से आ रहे कर्म गीले चमड़े में धूल के समान स्थिति को प्राप्त करते हुये चुपट जाते है। कारण कि कषायों से सचिकण (लिबलिबे) होरहे जीव में कर्म स्थिति को प्राप्त होरहे सन्ते साम्परायिक कहे जाते हैं। गीला चमड़ा, गीला कपड़ा, कीच आदि में आपतित हो रही धूल कुछ काल की स्थिति को लिये हुये सम्बद्ध हो जाती है उसी प्रकार रागद्वेष स्वरूप स्वकीय चिपकाहट से आत्म कर्मों को आबद्ध कर लेता है। बट वृक्ष का गीला, चिपकना, दूध जैसे अन्य पदार्थों के श्लेप का हेतु है अथवा बड़ की छाल, बहेड़ा, हर्र, फिटकिरी ये वस्त्र में टेसू, मंजीठ, आदि के रंग चिपट जाने के कारण हैं तथैव क्रोध आदिक परिणाम भी आत्मा के साथ कर्मों का श्लेप करा देते हैं।

ईर्या योगगतिः सैवं पन्था यस्य तदुच्यते।
कर्मेर्यापथमस्यास्तु शुष्ककुड्येश्मवच्चिरं ॥६॥

योगमात्रनिमित्त तु पुंस्यास्रवदपि स्थितिं ।
न प्रयात्यनुभागं वा कषायाऽसत्त्वतः सदा ॥७॥

ईर्यापथ शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है कि ईरण ईर्या "ईर गतौ कम्पने च" धातु से ण्य प्रत्यय कर ईर्या शब्द बना लिया जाय। ईर्या का अर्थ योगो अनुसार गति होना है। इस प्रकार जिस कर्म का वह ईर्या ही पन्था यानी द्वार है वह ईर्यापथ कर्म कहा जाता है। इस अकषाय जीव के जिस कर्म का आस्रव होता है वह ईर्यापथ कर्म समझा जाओ। सूखी भीत के पसवाड़े पर पत्थर का जैसे सम्बन्ध नहीं होसकता है उसी प्रकार अकषाय आत्मा में केवल योग का निमित्त पाकर आस्रव कर रहा भी कर्म चिरकाल तक तो स्थितिको प्राप्त नहीं होता है और अनुभाग को भी प्राप्त नहीं होता है क्योंकि सर्वदा कषायों के उदय का सद्भाव नहीं है। "ठिदिअनुभागा कसाअदो होंति" कषायों से कर्मों के स्थितिबंध और अनुभागबन्ध होते हैं। ग्यारहमे, गुणस्थानों मे योग को निमित्त पाकर सातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है किन्तु उसमें स्थिति और अनुभाग नहीं पड़ते है हाँ योग द्वारा स्थूल शरीर, वचन और मन के उपयोगी आये हुये आहार वर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणाओं के स्कंधों मे तो स्थिति पड़ जाती है नोकर्मों की स्थिति पड़ने में कषाय भाव कारण नहीं है। "णवरि हु दुसरीणाणं गलिदवसेसा हु मेत्त ठिदिबंधो गुणहाणीणदिवड्ढं संचयमुदयं च चरिमह्मि" नोकर्मों की स्थिति के कारण तो वहाँ अकषाय जीवों के विद्यमान है। खाई हुई रोटी, दाल, या पिये गये दूध, पानी, आदि मे प्रविष्ट हो रही आहार वर्गणाओं के अनुभाग या स्थिति बंध के कारण कुछ आत्मीय पुरुषार्थ और शारीरिक रचना विशेष है उसी प्रकार अन्य वर्गणाओं के स्थिति, अनुभागों में भी अन्तरंग बहिरंग, कारण जोड़ लेने चाहिये। श्रुतज्ञान का परिशीलन कीजिये, मन्थन करने से अमृत की प्राप्ति होगी।

कषायपरतंत्रस्यात्मनः सांपरायिकास्रवस्तदपरतन्त्रस्येर्यापथास्रव इति सूक्त। कथं पुनरात्मनः कस्यचित्पारतंत्र्यमपरस्यापारतंत्र्य वात्मत्वाविशेषेऽप्युपपद्यत इत्याह।

कषायों से पराधीन हो रहे आत्मा के साम्परायिक कर्म का आस्रव होता है और उन कषायों के परतंत्र नहीं हो रहे आत्मा के ईर्यापथ नाम का आस्रव होता है। इस प्रकार उक्त सूत्र में श्री उमास्वामी महराज ने बहुत अच्छा कह दिया है। यदि यहाँ कोई यों प्रश्न करे कि जब जीवपना सम्पूर्ण सकषाय, अकषाय, आत्माओं में विशेषता रहित होकर एकसा है तो भी फिर किसी एक आत्मा का परतंत्र होना और दूसरी आत्मा का परतंत्र नहीं होना भला कैसे युक्त बन सकता है? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

कषायहेतुकं पुंसः पारतंत्र्यं समंततः ।
सत्त्वांतरानपेक्षीह पद्ममध्यगभृंगवत् ॥८॥
कषायविनिवृत्तौ तु पारतंत्र्यं निवर्त्यते ।
यथेह कस्यचिच्छांतकषायावस्थितिक्षणे ॥९॥

इस प्रकरण में जीव का सब ओर से परतंत्रपना (पक्ष) कषायों को हेतु मान कर उपजा है (साध्य) अन्य प्राणियों की अपेक्षा नहीं रखता हुआ परतंत्रपना होने से (हेतु) जैसे कि यहाँ लोक में

कमल के मध्य में प्राप्त हुआ चक्षुरिन्द्रियविषयलोलुपी भ्रमर अपनी लोभ कषायों के अनुसार परतंत्र हो रहा है (अन्वयदृष्टान्त)। हां कषायों के उदय रूप से विशेषतया निवृत्ति हो जाने पर तो परतंत्रता निवृत्त हो जाती है जैसे कि यहाँ जगत् में किसी एक जीव के कषायों की शान्त अवस्था के समय में परतंत्रता नहीं पायी जाती है (व्यतिरेक दृष्टान्त)। यों अन्वय व्यतिरेक द्वारा जीवों की पराधीनता का कारण कषायों का उदय सिद्ध कर दिया है।

संसारिणो जीवस्य पारतंत्र्यं विवादापन्नं कषायहेतुकं सत्त्वांतरानपेक्षित्वे सति पारतंत्र्यशब्दवाच्यत्वात् पद्ममध्यगभ्रमरस्य तत्पारतंत्र्यवत्। निःकषायस्य यतेर्दस्युकृतेन रक्षादिपरतंत्रत्वेन व्यभिचार इति चेन्न, सत्त्वांतरानपेक्षित्वेन विशेषणात्। वीतरागस्याघातिकर्मपारतंत्र्येणानेकांत इति चेन्न, तस्य पूर्वकषायकृतत्वात्।

संसारी जीव की विवाद में प्राप्त हो रही यह दृश्यमान परतंत्रता (पक्ष) स्वकीय कषायभावों को निमित्त पाकर उपज गई है (साध्य) अन्य जीवों की नहीं अपेक्षा रखते सन्ते परतंत्रता इस शब्द का वाच्य होने से (हेतु) कमल के मध्य में प्राप्त हो रहे भौरे की उस कषाय हेतुक परतंत्रता के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस निर्दोष अनुमान से जीवों की परतंत्रता के अभ्यन्तर कारण का निरूपण कर दिया गया है। यदि यहां कोई व्यभिचार दोष उठावे कि कषाय रहित संयमी की चोर करके की गई रक्षा, धर्म्य ध्यान पालन, शरीर त्राण आदि की परतंत्रता करके व्यभिचार हो जायेगा। कोई अवसर पर ऐसा प्रकरण आ गया है जब चोर ने मुनि की रक्षा करने के अभिप्राय से मुनियों को रोक लिया था "प्राक्तज्जन्मर्षिवासावनशुभकरणाच्छूकरः स्वर्गमध्यं" पूर्व भव में मुनि आवास दान के अभिप्राय और इस भव मे रक्षण के अभिप्राय करके शूकर ने सौधर्म स्वर्ग प्राप्त किया था यह दृष्टान्त तो प्रसिद्ध ही है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वहां हेतु का अन्य प्राणियों की अपेक्षा नहीं रखते हुये यह विशेषण घटित नहीं हो पाता है। हमने उस परतंत्रता का अन्य सत्त्वों की नहीं अपेक्षा रखनेवालेपन करके विशेषण दे रखा है जो अन्य प्राणियों की अपेक्षा नहीं रखती हुई परतंत्रता होगी वह अवश्य स्वकीय कषायों से ही बनाई गई है। ग्रन्थकार श्रीविद्यानन्द स्वामीने आप्तपरीक्षा मे भी शरीर आदि हीन स्थान का परिग्रह करना, क्रोधी, लोभी हो जाना, हँसना, रोना, मूर्खता, निर्बलता, मोह, आसक्ति, आदि पराधीनताओं का अन्तरंगकारण कषायों को बताया है। यदि पुनः कोई व्यभिचार दोष उठावे कि वीतराग हो रहे तेरहमे गुणस्थानवर्त्ती मुनि के अघाति कर्मों की परतंत्रता करके व्यभिचार आता है सयोग केवली परतंत्र तो है किन्तु उनके कषायों का उदय नहीं है। ग्यारहमे, बारहमे गुणस्थान वाले मुनि भी कषायोदय के बिना ही अज्ञान, अदर्शन, के और अघातिया कर्मों के पराधीन हो रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वीतराग मुनियों की वह परतंत्रता भी पूर्व समयवर्त्ती कषायों करके की गई है। पहिली अवस्थाओं में हुई कषायों के अनुसार उन कर्मों में स्थिति और अनुभाग डाले थे। उन कर्मों का अब उदय आ रहा है अतः इस परतंत्रता में भी परम्परया कषाय कारण हैं अतः उक्त हेतु निर्दोष है।

महेश्वरसिसृक्षापेक्षित्वात्संसारिजीवपारतंत्र्यस्य सत्त्वांतरानपेक्षित्वमसिद्धमिति चेन्न, महेश्वरापेक्षित्वस्य संसारिणामपाकृतत्वात्।

यहाँ कोई वैशेषिक या नैयायिक हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष लगाते हैं कि संसारी जीवों की परतंत्रता तो महेश्वर की सृजने की इच्छा की अपेक्षा रखनेवाली है अतः अन्य जीवों की अपेक्षा नहीं रखनापन यह हेतु का विशेषण पक्ष में नहीं रहा इस कारण असिद्ध दोष हुआ। भले ही इसको विशेषणासिद्ध दोष कह दिया जाय। व्यास जी ने कहा है कि "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वर प्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥" यह संसारी प्राणी अज्ञान है। अपने सुखदुःखों का स्वयं प्रभु नहीं है ईश्वर से प्रेरित होता हुआ पराधीन होकर स्वर्ग या नरक को चला जाता है। गीताकार ने भी कहा है कि "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" कर्म ही करते जाओ उनका फल ईश्वर देगा यों ईश्वर की सिसृक्षा अनुसार सम्पूर्ण संसारी जीव पराधीन हो रहे है अतः जैनों का हेतु असिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकों को नहीं कहना चाहिये क्योंकि संसारी जीवों के महेश्वर या ईश्वर की सिसृक्षा के अपेक्षी होने का खण्डन कर दिया गया है। कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, सन्निवेशविशिष्टत्व आदि सभी हेतु दूषित हैं। पूर्व प्रकरणों में कार्यों के निमित्त कारणपने से ईश्वर को नहीं सधने दिया है। आप्त-परीक्षा में भी कर्तृवाद का बहुत अच्छा निराकरण कर दिया है। वस्तुतः देखा जाय तो संसारी जीव अपने कषायभावों करके उपात्त किये गये कर्मों के उदय अनुसार पराधीन होरहे है। अनादि काल से धारा प्रवाह रूप करके कषायों से कर्मबन्ध और कर्मोदय से कषायें यों पराधीनता का अन्वय चला आ रहा है।

नित्यशुद्धस्वभावत्वाज्जीवस्य कर्मपारतंत्र्यमसिद्धमिति चेन्न, तस्य संसाराभावप्रसंगात्। प्रकृतेः संसार इति चेन्न, पुरुषकल्पनावैयर्थ्यप्रसंगात् तस्या एव मोक्षस्यापि घटनात्। न च प्रकृतिरेव संसारमोक्षभागचेतनत्वाद्घटवत्। चेतनसंसर्गविवेकाभ्यां सा तद्भागेवेति चेत्, तर्हि यथाप्रकृतेश्चेतनससर्गात्पारतंत्र्यलक्षणः संसारस्तथा चेतनस्यापि प्रकृतिसंसर्गात् तत्पारतन्त्र्यं सिद्धं, संसर्गस्य द्विष्ठत्वात्।

यहाँ पक्ष की असिद्धि को दिखलाते हुये सांख्य विद्वान् कहते हैं कि जीव सर्वदा शुद्धस्वभाव है। शुद्ध, उदासीन, भोक्ता, चेतयिता, द्रष्टा, ऐसा आत्मा हमारे यहाँ माना गया है अतः जीव का कर्मों करके परतंत्रपना सिद्ध नहीं है। इस कारण जैनों का हेतु आश्रयासिद्ध है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योंकि नित्य ही शुद्ध मानने पर उस आत्मा के संसार के अभाव हो जाने का प्रसंग आवेगा जो कि दृष्ट और इष्ट प्रमाण से विरुद्ध पड़ता है। यदि कपिल मतानुयायी यों कहें कि संसार मे आत्मा तो अन्य सभी पदार्थों से अलिप्त रहता है जैसे कि जल से कमलपत्र अलग रहता है यह जो कुछ जन्म, मरण, इष्ट वियोग, और अनिष्ट संयोग, भूख, प्यास, अध्ययन, दान, पूजा, शरीर ग्रहण आदि अवस्था-स्वरूप संसार है यह सब सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणों की साम्य अवस्था स्वरूप प्रकृति का है आत्मा निर्विकार है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों प्रधान के ही संसार होना मान लेने पर आत्मा की कल्पना करने के व्यर्थपन का प्रसंग आ जावेगा। मोक्ष भी उस प्रकृति की ही घटित हो जायगी सभी पुरुषार्थों को जब प्रकृति सम्भाल लेगी तो आत्मतत्त्व की कल्पना करना व्यर्थ है। ऐसे अवसर को पाकर यदि सांख्य यों कह बैठे कि अच्छी बात है प्रकृति ही संसार और मोक्ष को धार लेगी हम आत्मा को संसारी या मुक्त मानते ही नहीं हैं। प्रकृति ही संसार करती है और प्रकृति ही आत्मा से चरितार्थाधिकार होकर मुक्त हो जाती है। मुक्त आत्मा में ज्ञान, सुख, आदि का अणुमात्र भी संसर्ग नहीं रहता है। केवल पुरुष का स्वरूप चैतन्य विद्यमान रहता है "चैतन्यं पुरुष-

स्य स्वरूपं, तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं" ऐसे हमारे यहाँ आगम वचन है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं समझ बैठना कारण कि प्रकृति ही (पक्ष) संसार और मोक्ष को धारने वाली कथमपि नहीं है (साध्य) अचेतन होने से (हेतु) घट के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस अनुमान द्वारा अचेतन प्रकृति के ही संसार या मोक्ष हो जाने का अभाव साध दिया गया है। यदि कापिल यों कहे कि चेतन पुरुष का संसर्ग हो जाने से वह प्रकृति ही उस संसार अवस्था को धार लेती ही है "तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं चेतनावदिव"। तथा विवेकज्ञान यानी प्रकृति और पुरुष के भेद का परिज्ञान हो जाने से वह प्रकृति ही मोक्ष को प्राप्त कर लेती है। गाय के गले में रस्सी ही बँध जाती है और रस्सी ही छूट जाती है एतावता गाय का बन्धन या मोचन कह दिया जाता है वस्तुतः गाय अपने स्वरूप में वैसी की वैसी ही है। आचार्य कहते हैं कि यों कहो तब तो जिस प्रकार चेतन का संसर्ग हो जाने से प्रकृति का आत्मा के परतंत्र हो जाना स्वरूप संसार होना माना गया है उसी प्रकार प्रकृति का संसर्ग हो जाने से चेतन आत्मा का भी उस प्रकृति के पराधीन होजाना स्वरूप संसार सिद्ध हुआ जाता है क्योंकि कोई भी संसर्ग होय वह दो में अवश्य ठहरता है दो आदि पदार्थों से न्यून अर्थ में सम्बन्ध नहीं ठहर पाता है यों जैन सिद्धान्त अनुसार आत्मा और कर्म दोनों के ही संसार या मोक्ष होना घटित हो जाता है। मलिन सुवर्ण या वस्त्र से मल जब लग जाता है तब दोनों ही स्वकीय गुणों से च्युत होकर विभावपरिणति को धार लेते हैं और प्रयोगों द्वारा मल को अलग कर देनेपर शुद्ध सुवर्ण या स्वच्छ वस्त्र के समान मल भी अपने स्वरूप में निमग्न हो रहा झगड़े टण्टों से रहित होकर मुक्त होजाता है अतः आत्मा के भी परतंत्रता स्वरूप संसार सिद्ध हुआ इस बात को सांख्य स्वीकार करे हम स्याद्वादी तो प्रथम से ही पुद्गल की मोक्ष स्वीकार करते हैं "जीवाजीवास्रव" आदि सूत्र की सैंतालीसवीं वार्त्तिक को देखो अतः हमारा उक्त हेतु आश्रयासिद्ध नहीं है।

नन्वेवं प्रकृतिपारतंत्र्येण व्यभिचारस्तस्य कषायहेतुकत्वाभावादिति न मंतव्यं, कापिलानां कषायस्य क्रोधादेः प्रकृतिपरिणामतयेष्टत्वात् तत्पारतंत्र्यस्य कषायहेतुकत्वसिद्धेः। स्याद्वादिनां तु कषायस्य जीवपरिणामत्वेऽपि कर्मलक्षणप्रकृतेः पारतंत्र्यस्य तत्प्रकृतत्वोपपत्तेः कथं तेन व्यभिचारः ? कषायपरिणामो हि जीवस्य कर्मणां बंधमादधानो यथा तत्पारतंत्र्यं कुरुते तथा कर्मणोऽपि जीवपरतंत्रत्वमिति न व्यभिचारिसाधनं कषायहेतुकत्वनिवृत्तौ निवर्तमानत्वादन्यथा मुक्तात्मनोऽपि पारतंत्र्यप्रसंगात्। जीवन्मुक्तस्यापि हि शांतकषायावस्थाकाले पारतंत्र्यनिवृत्तिरुपलभ्यते। "जीवन्नेव हि विद्वान् संहर्षायासाभ्यां विमुच्यते" इति प्रसिद्धेः।

यहाँ कपिल पुनः उक्त हेतु में व्यभिचार दोष उठाते हैं कि आप जैनों के "सत्त्वान्तरानपेक्षित्वे सति पारतंत्र्यशब्दवाच्यत्वात्" हेतु का प्रकृति की परतंत्रता करके व्यभिचार दोष आता है। देखिये संसार अवस्था में प्रकृति परतंत्र होरही है किन्तु वह परतंत्रता विचारी कषायों को हेतु मान कर उपजी नहीं है कषायें तो जीव के हो सकती है जड़ प्रकृति के नहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मान बैठना चाहिये क्योंकि आप कपिल मतानुयायियों के यहाँ क्रोध, राग, द्वेष, मोह आदि कषायों को प्रकृति का परिणाम होरहेपन करके इष्ट किया गया है प्रसन्नता, लाघव, राग, द्वेष, मोह, दीनता, शोक, ये सब विकार उस सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणवाली प्रकृति के परिणाम माने गये हैं अतः उस प्रकृति के परतंत्रपन का कषाय नामक हेतुओं से उपजना सिद्ध हो जाता है। हम जैनों के यहाँ तो प्रथम से ही प्रमाण और व्यवहार नय के विषयोंका प्रतिपादन करने वाले तत्त्वार्थसूत्र, राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, गोमट्टसार, आदि में तो क्रोध आदि को आत्मा का ही विभाव परिणाम कहा है। हाँ निश्चय नय के प्रतिपाद्य विषय का निरूपण करने वाले समय-

सार ग्रन्थ में क्रोध आदि को पुद्गल का विकार कह दिया है उसकी अपेक्षा को समझ लेना योग्य है। किन्तु सांख्यों के यहाँ तो क्रोध, हर्ष, अहंकार, लोभ को प्रकृति का सर्वांग विवर्त इष्ट किया है अतः कापिलों को तो व्यभिचार दोष कथमपि नहीं उठाना चाहिये। बात यह है कि स्याद्वादियों के यहाँ भले ही कषाय को जीव का परिणाम होना माना गया है तो भी कर्मस्वरूप प्रकृति का परतंत्रपना उस कषाय करके किया गया बन जाता है अर्थात्-कषायें जीव को परतंत्र करती ही हैं साथ ही उन कषायों करके जीव के साथ बंध गई कर्मस्वरूप प्रकृति भी उन कषायों द्वारा ही पराधीन हो सकी है अतः उस प्रकृति या प्रकृतिबंध को प्राप्त हुये कर्मों की उस परतंत्रता करके भला किस प्रकार व्यभिचार हो सकता है ? अर्थात्—नहीं ? कारण कि जीव का कर्मों के साथ बंध को आधान कर रहा कषाय परिणाम जिस प्रकार उस जीव की परतंत्रता को कर देता है उसी प्रकार कर्मों का भी जीवों के पराधीन बने रहने को कर देता है। गीले चून मे पड़ा हुआ पिसा नोन जैसे चून को अपने पराधीन कर देता है उसी प्रकार स्वयं नोंन भी चून के पराधीन हो जाता है। इस कारण हम जैनों का हेतु व्यभिचार दोष वाला नहीं है। व्यभिचार दोष के निवारणार्थ हेतु में विपक्षव्यावृत्ति घटित हो रही है। साध्य हो रहे कषाय हेतुकत्व की निवृत्ति होनेपर "सत्त्वान्तरानपेक्षित्वे सति परतंत्रपन" हेतु की निवृत्ति हो रही देखी जाती है। अर्थात्— जो कषायों को हेतु मानकर नही उपजा है वह परतंत्र नहीं है। रुपया को सन्दूक या तिजोरी में बंद कर दो, रत्न को डिब्बी में बंद कर दो एतावता वे कोई परतंत्र नहीं है। परतंत्रपना प्रायः जीवों में ही लागू होता है। एक बात यह भी है कि जहाँ कहीं भी रुपया, द्व्यणुक, रत्न, आदि है वे स्वाधीन हैं अन्य प्राणियों ने उन रुपये आदि को यदि पराधीन कर दिया है तो "सत्त्वान्तरानपेक्षित्वे सति" यह हेतु का विशेषण उसकी व्रण चिकित्सा कर देता है। कषायों के दूर हो जाने पर अवश्य ही परतंत्रता दूर हो जाती है अन्यथा यानी कषायों की निवृत्ति हो जाने पर भी यदि परतंत्रता मानी जायेगी तो मुक्त आत्मा के भी पुनः परतंत्र बने रहने का प्रसंग आ जावेगा जोकि किसी को भी इष्ट नहीं है जब कि कषायों की उपशान्त अवस्था या क्षीण अवस्था हो जाती है उस अवसर पर ग्यारहमे, बारहमे, गुणस्थानवाले मुनि के ही परतंत्रता की निवृत्ति हो रही देखी जाती है। कषायों का क्षय हो जाने पर तेरहमे चौदहमे गुणस्थानवाले जीवित होकर भी मुक्त हो रहे जीवन्मुक्त सर्वज्ञ के परतंत्रता की निवृत्ति प्रतीत हो जाती है। अन्य दर्शन वाले भी स्वीकार करते हैं कि जीवित हो रहा ही विद्वान (सर्वज्ञ) संहर्ष यानी राग या लौकिक सुख और आयास यानी द्वेष या दुःख से विशेषरूपेण मुक्त हो जाता है। "वि" का अर्थ यहाँ वर्तमान मे स्वल्प भी राग द्वेष का सद्भाव नही पाया जाकर भविष्य के लिये भी राग, द्वेष, का सर्वथा परिक्षय है। यह सिद्धान्त सभी दार्शनिकों के यहाँ प्रसिद्ध है यो व्यतिरेक दृष्टान्त द्वारा भी प्रकृत हेतु का व्यतिरेक गुण पुष्ट कर दिया गया है।

साध्यसाधनविकलमुदाहरणमिति च न शंकनीयं,पद्ममध्यगतस्य भृंगस्य तद्गंधलोभकषायहेतुकत्वेन तत्संकोचकाले पारतंत्र्यसत्त्वांतरानपेक्षिणः प्रसिद्धत्वात् । ततोऽनवद्यमिदं साधनं ।

उक्त अनुमान में कहा गया पद्म के मध्य में प्राप्त होरहा भौंरा यह दृष्टान्त तो साध्य और साधन से रीता है इस प्रकार की शंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि पद्म के मध्य में प्राप्त होरहे भ्रमर की उस कमल गन्ध में लग रही लोभ कषाय को हेतु मान कर हुई परतंत्रता की बालकों तक को प्रसिद्धि है जो कि परतंत्रता अन्य प्राणियों की अपेक्षा नही रखती है इस कारण गन्ध की लोभ कषाय अनुसार कमल में बैठे हुये पुनः सूर्य अस्त हो जाने पर संकुचित हुये पद्म में परतंत्र हो गये भौंरे में अन्य प्राणियों

की नहीं अपेक्षा रखता हुआ परतंत्रपना हेतु भी रह जाता है और कषायहेतुकपना साध्य भी ठहर जाता है तिस कारण उक्त हेतु निर्दोष है जो संसारी जीव की परतंत्रता का कषायों द्वारा होना साध देता है हाँ जो अकषाय जीव हैं वे परतंत्र नहीं हैं।

तत्र सांपरायिकास्रवस्य के भेदा इत्याह ।

सूत्रकार के प्रति किसी शिष्य का प्रश्न है कि महाराज बताओ कि आदि में कहे गये साम्परायिक आस्रव के कौन कौन से भेद हैं ? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर उन भेदों का परिज्ञान कराने के लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं।

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

अपने विषयों में व्यापार कर रहीं पाँच संख्या वाली स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षुः, श्रोत्र, ये इन्द्रियां और चार संख्यावाले क्रोध, मान, माया, लोभ ये आगे कहे जाने वाले कषाय तथा पाँच संख्या वाले हिंसा से अविरति, झूंठ से अविरति, चोरी से अविरति, अब्रह्म का अत्याग और परिग्रह का अप्रत्याख्यान स्वरूप ये अव्रत एवं सम्यक्त्व क्रिया आदि पच्चीस संख्या वाली क्रियायें ये उन्तालीस पूर्व-साम्परायिक आस्रव के भेद हैं अर्थात् कषाय सहित जीवों के इनके द्वारा आस्रव होता है।

इन्द्रियाणि पंचसख्यानि कषायाश्चतुःसख्याः अव्रतानि पंचसंख्यानि क्रियाः पंचविंशतिसख्या इति यथासंख्यमभिसंबंधः ।

"इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः" इस इतरेतर योग समास वाले उद्देश्य दल का "पंचचतुःपंचपंचविंशतिसख्याः" इस विधेय दल के साथ यथाक्रम से अन्वय करने पर यों अर्थ कर लिया जाता है कि पाँच सख्या वाली भाव इन्द्रिया हैं कषायों की संख्या चार है पाँच संख्या वाले अव्रत हैं क्रियाओं की गणना पच्चीस है। इस प्रकार उद्देश्य, विधेय, पदों की संख्या के अनुसार दोनों ओर से सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

सांपरायिकमत्रोक्तं पूर्वं तस्येंद्रियादयः ।
भेदाः पंचादिसंख्याः स्युः परिणामविशेषतः ॥१॥

यहाँ प्रकरण में सकषाया आदि सूत्र अनुसार पहिले साम्परायिक आस्रव कहा जा चुका है उसके पाँच आदि संख्यावाले इन्द्रिय आदिक चार भेद हो सकते हैं जो कि अन्तरंग बहिरंग कारणों अनुसार हुई आत्मा की विशेष परिणतियों से उन्तालीस प्रकार होजाते हैं।

न हि जीवस्येंद्रियादिपरिणामानां विशेषोऽसिद्धः परिणामित्वस्य वचनात् । कारणविशेषापेक्षत्वाच्च स्पर्शादिषु विषयेषु पुंसः स्पर्शनादीनि पंच भावेंद्रियाणि तदुपकृतौ वर्तमानानि द्रव्येंद्रियाणि पंचेंद्रियसामान्योपादानादुक्तलक्षणानि प्रत्येतव्यानि ।

जीव के इन्द्रिय कषाय आदि विशेष परिणतियों का होना असिद्ध नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ की आम्नाय अनुसार कहे गये आर्ष शास्त्रों में जीव के परिणामीपनका निरूपण किया गया है अर्थात् "परिणमदिकमेणप्या" "जीवकृतं परिणामं" परिणममाणस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः भवति हि निमित्तमात्रं पौद्‌गलिकं कर्म तस्यापि, परिणममाणो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या, परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च" जीव के परिणाम होने का प्रतिपादन करने वाले ऐसे आगमवाक्य मिलते हैं। स्वयं सूत्रकारने जीव को द्रव्य कहते हुये गुणपर्यायवाले पदार्थ को द्रव्य कहा है हम जैन तो सांख्यों के समान आत्मा को कूटस्थ नहीं मानते हैं अतः परिणामी आत्मा के इन्द्रियाँ, कषाय, अव्रत और क्रियायें ये विवर्त सम्भव जाते हैं। एक बात यह भी है कि ये इन्द्रिय आदिक आस्रव के द्वार अन्य कारण विशेषों की अपेक्षा रखते हैं अतः कारण विशेषों की अपेक्षा रखने वाला कोई परिणाम विशेष यानी कार्य ही हो सकता है आत्मा की स्पर्शन आदिक पाँच इन्द्रियां इन स्पर्श आदि विषयों में प्रवर्त रही है उन भावेन्द्रियों का उपकार (सहायता) करने में व्यापार कर रही पाँच द्रव्येन्द्रियां हैं जिनके कि लक्षण या भेदों का निरूपण दूसरे अध्याय में किया जा चुका है यहाँ सूत्र में सामान्य रूप करके "इन्द्रिय" पद का ग्रहण कर देने से भावेन्द्रियों के साथ द्रव्येन्द्रियां भी पकड़ ली जाती समझ लेनी चाहिये भावेन्द्रियों के समान द्रव्येन्द्रियों द्वारा भी आस्रव होता है भावेन्द्रियों के उपयोग के बिना अकषाय जीवों की द्रव्येन्द्रियां आस्रव की सहायक नहीं हो पाती है।

तानि वीर्यांतरायेंद्रियज्ञानावरणक्षयोपशमान्नामकर्मविशेषोदयाच्चोपजायमानानि कषायेभ्यो मोहनीयविशेषोदयादुत्पद्यमानेभ्यः कथंचिद्भिद्यंतेनियतविषयत्वाच्च। कषायाः पुनरनियतविषया वक्ष्यमाणास्ततो भिन्नलक्षणानि हिंसादीन्यव्रतानि च वक्ष्यते। क्रियास्तत्राभिधीयंते पंचविंशतिः।

अन्तरंग कारण हो रहे वीर्यान्तराय और इन्द्रियज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम से तथा अंगापांग आदि विशेष नामकर्म उदय से उपज रही सन्ती वे पांचों द्रव्येन्द्रियां और भावेन्द्रियाँ इन मोहनीय कर्म की विशेष प्रकृतियों के उदय से उपज रहे क्रोध आदि कषायों से कथंचित् भेद को प्राप्त हो रही है कषायों से इन्द्रियों के भिन्न होने में एक यह भी कारण है कि पांचों इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, और शब्द, नियत हैं। हाँ मन का विषय नियत नहीं है जो कि यहां पांच इन्द्रियों में प्रथम से ही नहीं गिना गया है किन्तु अग्रिम ग्रन्थ में कही जाने वाली कषायें तो फिर नियत विषय वाली नहीं हैं। चाहे जिस किसी पदार्थ पर लोभ या क्रोध किया जा सकता है मायाचार और अभिमान भी सभी पदार्थों में किये जा सकते है जैसे कि मन इन्द्रिय द्वारा चाहे जिसका विचार कर लिया जाता है तिस कारण इन्द्रियों से कषाय भिन्न है तथा हिंसा, अनृत आदि अव्रत आगे सातमे अध्याय में कहे जायेंगे, ये पांच अव्रत भी उन इन्द्रियों और कषायों से भिन्न लक्षण वाले हैं। त्रसहिंसा, संकल्पीहिंसा, स्थूलझूंठ, परस्त्री आदि के परित्याग की यदि कोई प्रतिज्ञा नहीं ली है तो जीवों की निरर्गल अव्रत स्वरूप परिणति है जैसे कि पूजन, अध्ययन, दान, नहीं करने वाले श्रावकों की पुण्य क्रिया नहीं करना स्वरूप प्रमाद परिणतियां अशुभ कर्मों का आस्रव कराती रहती हैं। पच्चीस क्रियायें भी उक्त तीनों से निराली है। इन्द्रिय विषय लोलुपता, क्रोधादि कषायें, हिंसा आदि अव्रत, और सम्यक्त्व मिथ्यात्व, आदि क्रियाये ये सब आत्मा की परिणतियां न्यारी-न्यारी अनुभूत हो रही है। विवेक ज्ञानियों को ये उन्तालीस भेद स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं जो कि साम्परायिक आस्रव के भेद हैं। अब ग्रन्थकार उन भेदों में कही गई पच्चीस क्रियायों को अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं सो सुनिये।

तत्र चैत्यश्रुताचार्यपूजास्तवादिलक्षणा ।
सम्यक्त्ववर्धनी ज्ञेया विद्भिः सम्यक्त्वसत्क्रिया ॥२॥
कुचैत्यादिप्रतिष्ठादिर्या मिथ्यात्वप्रवर्धनी ।
सा मिथ्यात्वक्रिया बोध्या मिथ्यात्वोदयसंस्तुता ॥३॥
कायादिभिः परेषां यद्गमनादिप्रवर्तनं ।
सदसत्कार्यसिद्ध्यर्थं सा प्रयोगक्रिया मता ॥४॥

उन पच्चीस क्रियाओं में पहिली सम्यक्त्व क्रिया, मिथ्यात्व क्रिया, प्रयोग क्रिया, समादान क्रिया, ईर्यापथ क्रिया, ये पांच क्रियायें है तहां जिन विम्ब, आप्तोपज्ञशास्त्र, निर्ग्रन्थ आचार्य, इनकी पूजा करना, स्तुति करना, दर्शन करना, ध्यान करना आदि स्वरूप प्रशंसनीय सम्यक्त्व क्रिया है जो कि विद्वानों करके सम्यक्त्व को बढाने वाली समझी गई है। तथा कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र आदि की प्रतिष्ठा करना, श्री जिनेन्द्र देव के अतिरिक्त अन्य देवताओं की स्तुति करना, पूजा करना आदि जो भी कोई मिथ्यात्व को अधिक बढाने वाली क्रियायें हैं वह मिथ्यात्व क्रिया है जो कि पूर्व में बँधे हुये मिथ्यात्व कर्म के उदय को अच्छा आश्रय पाकर हुई मिथ्यादृष्टि जीवों के यहां प्रख्यात हो रही समझ लेनी चाहिये। प्रशस्त और अप्रशस्त कार्यों की प्रसिद्धि करने के लिये काय, वचन, आदि करके दूसरे जीवों की जो गमन, आगमन, आदि प्रवृत्ति करा देना है वह तीसरी प्रयोग क्रिया मानी गयी है।

नुः कायवाङ्मनोयो[illegible]ो निवर्तयितुं क्षमाः ।
पुद्गलास्तदुपादा[illegible] स्वहेतुद्वयतोऽथवा ॥५॥
संयतस्य सतः [illegible]भोग[illegible]यमं प्रति यद्भवेत् ।
आभिमुख्यं समा[illegible]क्या सा वृत्तघातिनी ॥६॥
ईर्यापथक्रिया तत्र प्रोक्ता तत्कर्महेतुका ।
इति पंचक्रियास्तावच्छुभाशुभफलाः स्मृताः ॥७॥

अपने अन्तरंग कारण हो रहे वीर्यान्तराय कर्म और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम एवं अंगोपांग कर्म का उदय तथा बहिरंग कारण माने गये योग वर्गणा, भोजन, आदि यों दोनों कारणों से आत्मा के काययोग, वचनयोग, मनोयोग, इनकी निवृत्ति नहीं कराने के लिये अर्थात्—योगों अनुसार मन, वचन, काय, को बनाने के लिये समर्थ हो रहे जो पुद्गल है उनका ग्रहण करना समादान क्रिया है। अथवा संयमी ही रहे सन्ते प्रशस्त आत्मा का जो अविरति के प्रति अभिमुख होना है वह समादान क्रिया है वह चारित्र का घात करने वाली मानी गयी है। उस ईर्यापथ यानी जीवदया पालते हुये धर्मार्थ मार्ग में चल रहे संयमी की गमन कर्म को हेतु मान कर उपजी हुई क्रिया तो उन क्रियाओं में पांचमी ईर्यापथ क्रिया अच्छी कही गयी है। इस प्रकार कोई शुभ फलों और अशुभ फलों को देने वाली ये पहिली पांच क्रियायें तो ऋषि आम्नाय अनुसार स्मरण की जा रहीं चली आ रही हैं।

क्रोधावेशात्प्रदोषो यः सांतः प्रादोषिकी क्रिया ।
तत्कार्यत्वात्सहेतुत्वात् क्रोधादन्या ह्यनीदृशात् ॥८॥

प्रादोषिकी क्रिया, कायिकी क्रिया, आधिकरिणिकी क्रिया, पारितापिकी क्रिया, प्राणातिपातिकी क्रिया, यह दूसरा क्रिया पंचक है तिनमें क्रोध का आवेश आजाने से जो हृदय में दुष्टता रूप प्रदोष उपजता है वह अन्तरंग की प्रादोषिकी क्रिया है । यदि यहाँ कोई यों कटाक्ष करे कि कषायों में क्रोध गिना ही दिया गया है फिर क्रियाओं में क्रोध स्वभाव प्रादोषिकी क्रिया का ग्रहण करना तो पुनरुक्त हुआ, आचार्य समझाते हैं कि यह आक्षेप ठीक नहीं है क्योंकि प्रादोषिकी क्रिया में क्रोध कारण पड़ता है उस क्रोध का कार्य प्रादोषिकी क्रिया है । एक बात यह भी है कि क्रोध तो कदाचित् सर्प, भेड़िया, आदि के बिना कारण ही उपज जाता है किन्तु प्रदोप यानी दुष्टता या पिशुनता तो कुछ न कुछ निमित्त पाकर उपजती हैं अतः हेतुसहित हो रही होने के कारण इस प्रादोषिकी क्रिया सारिखे नहीं होरहे क्रोध कषाय से यह प्रदोष क्रिया भिन्न है ।

प्रदुष्टस्योद्यमो हंतुं गदिता कायिकी क्रिया ।
हिंसोपकरणादानं तथाधिकरणक्रिया ॥९॥
दुःखोत्पादनतंत्रत्वं स्यात्क्रिया पारितापिका ।
क्रिया सा तावता भिन्ना प्रथमा तत्फलत्वतः ॥१०॥
प्राणातिपातिकी प्राणवियोगकरणं क्रिया ।
कषायाच्चेति पंचैताः प्र[illegible]याः क्रियाः पराः ॥११

प्रदोष करके युक्त होरहे सन्ते बढ़िया दु[illegible] दूसरों को मारने के लिये जो उद्यम करना है वह कायिकी क्रिया कही गयी है । तथा हिंसा के [illegible]ण होरहे शस्त्र, विष, आदि का ग्रहण करना अधिकरण क्रिया मानी गयी है । दूसरे प्राणियों को दुःख [illegible]पजाने पर उसके अधीन जो परिताप होता है वह पारितापिकी क्रिया है तितने से ही वह पहिली क्रिया भिन्न हो जाती है क्यो कि वह उसका फल है । अर्थात् क्रोध के आवेश से दूसरे को मारने का उद्यम किया गया उससे हिंसा के उपकरणों को पकड़ा पुनः उससे जीवों को दुःख उपजाया यो उक्त क्रियायें परस्पर में एक दूसरे से भिन्न है । पांचमी आयुः प्राण, इन्द्रिय प्राण, बल प्राण, और श्वासोच्छ्वास प्राण इनका वियोग कर देना प्राणातिपातिकी क्रिया है । ये पाँचों ही क्रियायें कषायों से भिन्न समझ लेनी चाहिये । कषाये कारण हैं और उक्त पाँचों क्रियायें कार्य हैं अन्य अव्रत आदि से भी ये क्रियायें भिन्न है ।

रागार्द्रस्य प्रमत्तस्य सुरूपालोकनाशयः ।
स्याद्दर्शनक्रियास्पर्शे स्पृष्टधीः स्पर्शनक्रिया ॥१२॥
एते चेंद्रियतो भिन्ने परिस्पंदात्मिके मते ।
ज्ञानात्मनः कषायाच्च तत्फलत्वात्तथाऽव्रतात् ॥१३॥

क्रियाओं का तीसरा पंचक दर्शन क्रिया, स्पर्शनक्रिया, प्रात्ययिकी क्रिया, समन्तानुपातन क्रिया और अनाभोग क्रिया इस प्रकार है। राग से द्रवीभूत हो गये प्रमादी जीव का रमणीय पदार्थ के सुन्दर रूपों के आलोकन करने में अभिप्राय होना दर्शन क्रिया है। छूने योग्य पदार्थ के स्पर्श करने में रागी जीव की जो छूते रहने के लिये बुद्धि होना (टकटकी लगे रहना) है वह स्पर्शन क्रिया है। यदि यहाँ कोई यों प्रश्न करे कि पाँच इन्द्रियों में चक्षुःइन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय को गिन लिया गया है उन्हीं में ये दर्शन, स्पर्शन, क्रियायें गतार्थ होजावेंगी यों उनका पृथक् निरूपण करना व्यर्थ है अथवा कषायों या अव्रतों में भी इन क्रियाओं का अन्तर्भाव हो सकता है। इसका समाधान करते हुये आचार्य कहते हैं कि अपरिस्पन्द आत्मक इन्द्रियों से ये परिस्पन्द आत्मक दोनों क्रियायें भिन्न मानी गयी हैं पहिले पाँच इन्द्रियों में ज्ञान आत्मक इन्द्रियों का ग्रहण है किन्तु यहाँ इन्द्रियविज्ञान पूर्वक हुये दर्शन, स्पर्शन आत्मक परिस्पन्द को क्रियाओं में लिया गया है अतः ज्ञान आत्मक इन्द्रियों से ये क्रियायें भिन्न है। यह भी एक तर्क है। तथा कषाय या अव्रतों से भी उक्त क्रियायें भिन्न हैं क्योंकि ये क्रियायें उन अव्रत और कषायों के फल है "तेषां फलानि तत्फलानि तेषां भावस्तत्फलत्वं" कभी कभी क्रियाओं से भी कषायें और अव्रत उपज जाते हैं अतः ये क्रियायें उनकी कारण भी है "तानि फलानि यासां ताः तत्फलाः तासां भावस्तत्फलत्वं तस्मात्तत्फलत्वात्" यों "तत्फलत्व" पद का विग्रह किया जा सकता है।

अपूर्वप्राणिघातार्थोपकरणप्रवर्तनं।
क्रिया प्रात्ययिकी ज्ञेया हिंसाहेतुस्तथा परा ॥१४
स्त्र्यादिसंपातिदेशेंतर्मलोत्सर्गः प्रमादिनः।
शक्तस्य यः क्रियेष्टेह सा समंतानुपातिकी ॥१५॥
अदृष्टे यो प्रमृष्टे च स्थाने न्यासो यतेरपि।
कायादेः सा त्वनाभोगक्रिया सैताश्च पंच ताः ॥१६॥

प्राणियों का घात करने के लिये तलवार, तोप, बन्दूक, पिस्तौल, मशीनगन, बम, टारपीडो, सुरंग, विषाक्त गैस, आदि अपूर्व उपकरणों की प्रवृत्ति करना तो प्रात्ययिकी क्रिया समझनी चाहिये, तिसी प्रकार हिंसा का हेतु होरही यह क्रिया भी उन कषाय और अव्रतों से भिन्न है। समर्थ होरहे भी प्रमादी पुरुष का स्त्री, पुरुष, पशु आदि का सम्पात (गमनागमन) हो रहे प्रदेशों में जो अन्तरंग मल, मूत्र, सिंघाणक आदि मलों का त्याग करना है वह यहाँ समन्तानुपातिकी क्रिया इष्ट की गई है। असंयमी पुरुष हो चाहे संयमी भी साधु क्यों न हो उस यति का भी बिना देखे हुये और बिना शुद्ध किये हुये स्थान में शरीर, पुस्तक, आदि का जो स्थापन कर देना है वह तो पाँचवीं या पन्द्रहवीं प्रसिद्ध अनाभोग क्रिया है। ये भी प्रसिद्ध होरहीं पांच क्रियायें है जो कि वे अन्य क्रियाओं और इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों, से भिन्न होरहीं मानी गयी हैं।

परनिर्वर्त्यकार्यस्य स्वयं करणमत्र यत्।
सा स्वहस्तक्रियावद्यप्रधाना धीमतां मता ॥१७॥

पापप्रवृत्तावन्येषामभ्यनुज्ञानमात्मना।
स्यान्निसर्गक्रियालस्यादकृतिर्वा सुकर्मणां ॥१८॥
पराचरितसावद्यप्रकाशनमिह स्फुटं।
विदारणक्रिया त्वन्या स्यादन्यत्र विशुद्धितः॥१९॥

क्रियाओं का चौथा पंचक स्वहस्त क्रिया, निसर्ग क्रिया, विदारण क्रिया, आज्ञाव्यापादिकी क्रिया, अनाकांक्षिकी क्रिया इस प्रकार है तिनमें दूसरों से करने योग्य कार्य का जो स्वयं करना है वह यहां स्वहस्त-क्रिया मानी गयी है। इस क्रिया में पाप की प्रधानता है ऐसा पण्डितों का विचार है। दूसरों की पाप में प्रवृत्ति कराने के लिये स्वयं आत्मा करके जो अन्य पुरुषों को अनुमति दे देना है वह निसर्ग क्रिया है अथवा आलस्य से श्रेष्ठ कर्मों का नहीं करना भी निसर्ग क्रिया है। तथा दूसरों करके आचरे गये पाप सहित कर्मों का स्पष्ट रूप से प्रकाश कर देना यहां विदारण क्रिया है जो कि इतर क्रियाओं से या इन्द्रिय आदिक से भिन्न हैं हां आत्मा की विशुद्धि से दूसरे की हित कामना रखते हुये यदि विद्यार्थी, पुत्र, मित्र, श्रोता, आदि की सावद्य क्रियाओं को प्रकट किया जायेगा तो विदारण क्रिया नहीं समझी जायेगी अतः आत्मा विशुद्धि से भिन्न अवस्थाओं में कालुष्य होने पर विदारण क्रिया समझी जाय।

आवश्यकादिषु ख्यातामर्हदाज्ञामुपासितुं।
अशक्तस्यान्यथाख्यानादाज्ञाव्यापादिकी क्रिया ॥ २० ॥
शाठ्यालस्यवशादर्हत्प्रोक्ताचारविधौ तु यः।
अनादरः स एव स्यादनाकांक्षक्रियात्रिदां ॥ २१ ॥
एताः पंच क्रियाः प्रोक्ताः परास्तत्त्वार्थवेदिभिः।
कषायहेतुका भिन्नाः कषायेभ्यः कथंचन ॥ २२ ॥

छः आवश्यक, पांच समिति, आदि कृत्यों में बखानी गयी श्री अर्हन्तदेव की आज्ञा का परि-पालन करने के लिये असमर्थ हो रहे प्रमादी जीव का अन्य प्रकारों करके व्याख्यान कर देने से आज्ञा-व्यापादिकी क्रिया हो जाती है। अर्थात्—कोई-कोई पण्डित स्वयं नहीं कर सकने की अवस्था में जिन-वाणी के वाक्यों का दूसरे प्रकारों से ही अर्थ का अनर्थ कर बैठते है। "जिनगेहो मुनिस्थितिः" के स्थान पर, "जिनगेहे मुनिस्थितिः" कह देते हैं उद्दिष्ट त्याग के प्रकरण में न जाने क्या-क्या उद्दिष्ट का अर्थ करते हैं अतः अपनी अशक्ति या कषायों के वश होकर जिनागम के अर्थ का परिवर्तन करना महान् कुकर्म है। तथा तीर्थंकर अर्हन्तदेव करके निर्दोष कही गयी आचार क्रिया की विधि में शठता या आलस्य के वश से जो अनादर करना है वही तो विद्वानो के यहां अनाकांक्षा क्रिया कही जा सकती है। ये स्वहस्त क्रिया आदि पांच क्रियायें तत्त्वार्थशास्त्र के वेत्ता विद्वानों करके भले प्रकार अन्य क्रियाओं से भिन्न कह दी गयीं हैं। ये क्रियायें कषायों को हेतु मान कर उपजती हैं अतः क्रोध आदि कषायों से किसी न किसी प्रकार भिन्न हैं। कषायें कारण हैं और ये क्रियाये कार्य हैं इनका मिथः कार्य कारणभाव सम्बन्ध है।

छेदनादिक्रियासक्तचित्तत्वं स्वस्य यद्भवेत् ।
परेण तत्कृतौ हर्षः सेहारंभक्रिया मता ॥२३॥
परिग्रहाविनाशार्था स्यात्पारिग्रहिकी क्रिया ।
दुर्वक्तृकवचो ज्ञानादौ सा मायादिक्रिया परा ॥२४॥

आरम्भ क्रिया, पारिग्रहिकी क्रिया, माया क्रिया, मिथ्यादर्शन क्रिया, अप्रत्याख्यान क्रिया, ये क्रियाओं का पांचमा पंचक है इनमें पहिली आरम्भ क्रिया का अर्थ यह है कि प्राणियों के छेदन, भेदन, मारण आदि क्रियाओं में जो अपने चित्त का आसक्त होना है अथवा दूसरे करके उन छेदन आदि क्रियाओं के करने में हर्ष मानना है वह यहां आरम्भ क्रिया मानी गयी है। क्षेत्र, धन, आदि परिग्रह का नहीं विनाश करने के लिये जो प्रयत्न होगा वह पारिग्रहिकी क्रिया है। ज्ञान, दर्शन, आदि में जो दुष्ट-वक्तापन या खोटे मायाचार अनुसार वचन कहते हुये वंचना करना है यह अन्य क्रियाओं से न्यारी माया क्रिया है। माया क्रिया के आदि मे माया शब्द पड़ा हुआ है अतः इस क्रिया में वक्रता यानी मायाचार की प्रधानता है।

मिथ्यादिकारणाविष्टदृढीकरणमत्र यत् ।
प्रशंसादिभिरुक्तान्या सा मिथ्यादर्शनक्रिया ॥२५॥
वृत्तमोहोदयात्पुंसामनिवृत्तिः कुकर्मणः ।
अप्रत्याख्या क्रियेत्येताः पंच पंच क्रियाः स्मृताः ॥२६॥

मिथ्यामतों के अनुसार मिथ्यादर्शन आदि के कारणों में आसक्त होरहे पुरुष का इस मिथ्या मत मे ही प्रशंसा, सत्कार, पुरस्कार आदि करके जो दृढ करना है कि तुम बहुत अच्छा काम कर रहे हो यों अदृढ को दृढ़ कर देना है वह यहाँ 'मिथ्या दर्शन क्रिया कही गयी है जो कि अन्य क्रियाओं से न्यारी है। संयम को घातने वाले चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होजाने से आत्माओं के जो कुकर्मो से निवृत्ति नहीं होना है वह अप्रत्याख्यानक्रिया है इस प्रकार ये पाँच क्रियाये ऋषि आम्नाय अनुसार स्मरण होरही चली आचुकी हैं यों यहाँ तक पाँच पंचकों अनुसार पच्चीस क्रियाओं का लक्षण पूर्वक निर्देश कर दिया गया है। विशेष यह कहना है कि "स्मृताः" शब्द का यह अभिप्राय है कि सर्वज्ञ के उपदेश की धारा से ऋषि-सम्प्रदाय अनुसार अब तक जैन सिद्धान्त के विषयों का स्मरण होता चला आ रहा है कितनी ही धार्मिक बातें यदि उपलब्ध शास्त्रों में नहीं लिखी है और वे कुलक्रम या जैनियों की आम्नाय अनुसार चली आरही हैं तो वे भी प्रमाण हैं। देखिये लाखों करोड़ों, स्त्री पुरुषों की वंश परम्परा का निर्दोषपना पुरुषा पंक्ति से कहा जारहा आज तक धारा प्रवाह रूप से चला आता है तो वह असंकर होरही वंश परम्परा प्रामाणिक ही समझी जायगी। आज कल के सभी निर्दोष स्त्री पुरुषों की वंश परम्परा का शास्त्रों में तो उल्लेख नहीं है अतीन्द्रियदर्शी मुनियों का सत्संग भी दुर्लभ है अतः यह कुलीनता जैसे वृद्धपरम्परा द्वारा उक्त होरही प्रमाण मान ली जाती है उसी प्रकार चून, बूरा, पिसा हुआ मसाला, दूध, घी, आदि के शुद्ध बने रहने की तीन दिन, पाँच दिन, दो घड़ी, आदि की काल मर्यादा को भी आम्नाय अनुसार प्रमाण मान

लिया जाता है। क्रियाकोश में किन-किन बातों को कहाँ तक लिखा जा सकता है बुद्धिमानों को चाहिये कि "अनादौ सति संसारे दुर्वारे मकरध्वजे। कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना" ऐसे प्रमाणाभास देकर जाति, कुल, व्यवस्था को ढीला नहीं करे। लोटा मांजना, हाथ मटियाना, सूतक पातक से की गयीं अशुद्धियां, म्लेच्छ संसर्ग की अशुद्धि आदि के प्रत्याख्यान का उपाय इन असंख्य प्रकरणों को कहाँ तक शास्त्रों में देखते फिरोगे। जिस किसी लौकिक क्रिया से सम्यग्दर्शन और चारित्र में हानि नहीं होय वह सभी लौकिक विधि प्रमाण मानी गयी है। इसी प्रकार खड़े हो कर पूजन करना, बैठ कर शास्त्रजी पढ़ना, अचित्तद्रव्य से पूजा करना, आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजन, विसर्जन आदि क्रियाओं में चली आ रही आम्नाय ही प्रमाण समझी जाती है। कहीं-कहीं तो शास्त्रों के लिये भी प्रमाणता को देने वाली आम्नाय मानी गयी है अतः मूलसघ सम्प्रदाय का पद भी बहुत ऊँचा है। सभी विषयों मे शास्त्रों की साक्षी माँगना अथवा आचमन, तर्पण, गुह्यांग पूजा आदि मिथ्यात्व वर्द्धक क्रियाओं के पोषक चाहे जिस शास्त्रको प्रमाण मान बैठना समुचित नहीं है। क्वचित् जैन मन्दिरों में अजैन देवों की मूर्तियां न जाने किस किस देश, काल, राजा, प्रबल प्रजा की परिस्थिति में पराधीन होकर प्रविष्ट करनी पड़ी है जिसकी अभी तक कोई चिकित्सा नहीं हो पायी है। सिद्धक्षेत्र गिरनार जी पर्वत पर हिन्दुओं और मुसलमानों तक का आधिपत्य है। जैनो की निर्बलता से कितने ही तीर्थ, शास्त्र, जिनालय, जिनबिम्ब नष्ट किये जा चुके है। अब भी कितने ही जिनायतनों पर विधर्मियों का अधिकार है। जीव हिंसा, अविनय की जाती है। इसी प्रकार समीचीन शास्त्रो में भी भ्रष्ट साहित्य का प्रक्षेप किया गया है अथवा किसी जैनाभास भट्टारक या विद्वान् को वैसा प्रक्षेप करने के लिये बाध्य होना पड़ा है। प्रकरण में यही कहना है कि समीचीन शास्त्रों से जिन क्रियाओ में कोई बाधा नहीं आती है वृद्ध परम्परा द्वारा स्मरण हुई चली आरहीं वे सभी धार्मिक क्रियायें प्रमाण हैं तभी तो बड़े-बड़े आचार्य स्मृताः, आम्नाताः, जिणेहिं णिद्दिट्ठं, आदि पदों से पूर्व सम्प्रदायप्राप्त प्रमेय का प्रतिपादन करते है।

ननु चेंद्रियकषायाव्रतानां क्रियास्वभावानिवृत्तेः क्रियावचनेनैव गतत्वात् प्रपचमात्रप्रसंग इति चेन्न, अनेकांतात्। नामस्थापनाद्रव्येंद्रियकषायाव्रतानां क्रियास्वभावत्वाभावात् द्रव्यार्थादेशात्पर्यायार्थादेशात्तेषां क्रियास्वभावत्वात्।

यहां कोई शंका उठाता है कि सूत्र में प्रथम कहे गये इन्द्रिय, कषाय, और अव्रतों की भी क्रिया स्वरूप करके निवृत्ति नहीं है अर्थात्—इन्द्रिय आदि भी क्रिया स्वभाव है अतः क्रियाओं के कहने करके ही उनका प्रयोजन प्राप्त हो जाता है तो फिर उन इन्द्रिय आदिकों का ग्रहण करना व्यर्थ है यों सूत्रकार को इतना लम्बा सूत्र बना कर केवल व्यर्थ के प्रपंच रखने का ही प्रसंग आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यह कोई एकान्त नहीं है कि इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, ये क्रिया स्वरूप ही होवे, क्योंकि नाम इन्द्रिय, स्थापना इन्द्रिय, द्रव्य इन्द्रिय, और नाम कषाय, स्थापना कषाय, द्रव्यकषाय, तथा नाम अव्रत, स्थापना अव्रत, द्रव्य अव्रत, इनको परिस्पन्द स्वरूप नहीं होने से क्रिया स्वभावपना नहीं है। अर्थात्—सभी अर्थों के नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, ये चार भेद बखाने जा सकते हैं। पहिले तीन में क्रिया नहीं पायी जाती है। देखिये नाम इन्द्रिय आदि में नाम होने के कारण क्रिया नहीं है। स्थापना में भी मुख्य क्रिया नहीं पायी जाती है यह वही है ऐसा वचन या ज्ञान ही स्थापना में प्रवर्तता है आगामी काल में होनेवाले द्रव्य निक्षेप स्वरूप इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों, में तो वर्तमान की क्रिया नहीं है अतः द्रव्यार्थिकनय

द्वारा कथन करने पर ये क्रिया स्वभाव नहीं हैं हां भाव स्वरूप इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों, को कर रही पर्यायार्थिकनय की विवक्षा से उन इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों, को क्रिया स्वरूपपना है अतः इनके क्रिया स्वरूप होने का ही एकान्त नहीं है, नयों की विवक्षा अनुसार अनेकान्त है। अतः सूत्रकार के ऊपर प्रपंच मात्र कहने का दोष प्राप्त नहीं होता है। क्रिया है स्वभाव जिनका वे क्रिया स्वभाव हुये, यों बहुव्रीहि समास करते हुये पुनः भाव में त्व प्रत्यय कर उनका जो भाव है वह "क्रियास्वभावत्व" है यह वृत्ति की जाय।

किं च, द्रव्यभावास्रवत्वभेदादिंद्रियादीनां क्रियाणां च न क्रियाः तत्प्रपंचमात्रं इंद्रियादयो हि शुभेतरास्रवपरिणामाभिमुखत्वाद्द्रव्यास्रवाः क्रियास्तु कर्मादानरूपाः पुंसो भावास्रवा इति सिद्धांतः। कायवाङ्मनःकर्म योगः स आस्रव इत्यनेन भावास्रवस्य कथनात्।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय, कषाय, आदिकों को द्रव्यास्रवपना है और क्रियाओं को भावास्रवपना है। इस कारण इन्द्रिय आदिक और पच्चीस कषायों का भेद हो जाने से क्रियायें उन इन्द्रिय आदिकों का या क्रियाओं का इन्द्रिय आदिक विस्तार मात्र नहीं है जब कि इन्द्रिय आदिक नियम से शुभ आस्रव और उससे इतर अशुभ आस्रव के परिणामों की ओर अभिमुख होने के कारण द्रव्यास्रव है और क्रियायें तो आत्मा के निकट कर्मों का ग्रहण करा देना स्वरूप होती हुई भावास्रव हैं यह जैन सिद्धान्त प्रस्फुट है। काय, वचन, और मन की कम्पस्वरूप क्रिया योग है तथा वही आस्रव है यों छठे अध्याय के इन पहिले दो सूत्रों करके भावास्रव का कथन किया गया है। ऐसी दशा में इन्द्रिय आदिकों का प्रपंच क्रियायें या क्रियाओं का प्रपच इन्द्रिय आदि नहीं है प्रत्युत वे क्रियायें भावास्रव होती हुई द्रव्यास्रव हो रहे इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों से विभिन्न है।

द्रव्यास्रव एव योगः कर्मागमनभावास्रवस्य हेतुत्वादिति चेन्न, आस्रवत्यनेनेत्यास्रव इति करणसाधनतायां योगस्य भावास्रवत्वोपपत्तेः। एवमिंद्रियादीनामपि भावास्रवत्वप्रसंग इति चेन्न, तेषां क्रियाकारणत्वेन द्रव्यास्रवत्वेन विवक्षितत्वात्। आस्रवणमास्रव इति भावसाधनतायां क्रियाणां भावास्रवत्वघटनात्।

यहाँ कोई विद्वान् आक्षेप करता है कि योग तो द्रव्यास्रव ही है क्योंकि कर्मों के आगमन स्वरूप भावास्रव का वह हेतु है। भावास्रव का हेतु द्रव्यास्रव माना गया है अतः परिस्पन्द क्रिया स्वरूप योग द्रव्यास्रव ही होगा। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि आङ् उपसर्ग पूर्वक "स्रुगतौ" धातु से करण में अप् प्रत्यय कर आस्रव शब्द बनाया गया है जिस करके कर्मों का आगमन होता है वह आस्रव है इस प्रकार करण में आस्रव शब्द का साधन करते सन्ते योग को भावास्रवपना बनता है। पुनः कोई विद्वान यदि आक्षेप करे कि यों तो इन्द्रिय आदिकों को भी भावास्रवपने का प्रसंग आजावेगा इन्द्रिय आदि करके भी कर्मों का आगमन होता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वे इन्द्रिय आदिक तो कम्पस्वरूप योग क्रिया के कारण हैं इस कारण इन्द्रिय आदि को द्रव्यास्रवपने करके विवक्षा की जा चुकी है। हाँ आस्रव होना यानी आगमन होना मात्र आस्रव है यों भाव में अप् प्रत्यय कर आस्रव शब्द की सिद्धि करने पर तो क्रियाओं को भावास्रवपना घटित होजाता है।

कार्यकारणभावाद्विंद्रियादिभ्यः क्रियाणां पृथग्वचनं युक्तं इन्द्रियादिपरिणामा हेतवः क्रियाणां तेषु सत्सु भावादसत्स्वभावादिति निगदितमन्यत्र।

एक बात यह भी है कि इनका कार्यकारणभाव होने से भी इन्द्रिय आदिक से क्रियाओं का पृथक् निरूपण करना सूत्रकार का युक्तिपूर्ण कार्य है। देखिये क्रियाओं के कारण इन्द्रिय, कषाय, आदिक परिणाम हैं। इनमें परस्पर अन्वयव्यतिरेक घट रहा है। उन इन्द्रिय, कषाय, आदिकों के होने पर क्रियाओं का सद्भाव यानी उपजना होता है। इन्द्रिय आदिकों के नहीं होने पर क्रियाओं का सद्भाव नहीं है इस बात को अन्य प्रकरणों में भले प्रकार कहा जा चुका है यहाँ विस्तार करना व्यर्थ है।

इन्द्रियग्रहणमेवास्त्विति चेन्न, तदभावेऽप्यप्रमत्तादीनामास्रवसद्भावात्। एकद्वित्रिचतुरिंद्रियासंज्ञिपंचेंद्रियेषु यथासंभवं चक्षुरादींद्रियमनोविचाराभावेऽपि क्रोधादिहिंसादिपूर्वककर्मादानश्रवणात्।

यहाँ कोई शंका करता है कि उक्त सूत्र में केवल इन्द्रियों का ग्रहण ही बना रहो कषाय, अव्रत, क्रियाओं, का ग्रहण करना व्यर्थ है पाँच इन्द्रिय परिणतियों से ही सभी आस्रव होजायेंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन इन्द्रिय परिणतियों का अभाव होते हुये भी सातवे गुणस्थान वाले अप्रमत्त से आदि लेकर दशमे गुणस्थानतक संयमियों के आस्रव का सद्भाव पाया जाता है तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, जीवों में यथासम्भव चक्षु आदि इन्द्रियाँ और मानसिक विचारों के नहीं होते हुये भी क्रोध आदि कषायों और हिंसादि अविरति तथा अन्य मिथ्यात्वादि क्रियाओं को पूर्ववर्त्ती कारण मानकर कर्मों का ग्रहण होना शास्त्रों में सुना जाता है। एकेन्द्रिय जीव के रसना आदि चार इन्द्रियाँ और मन नहीं है, द्वीन्द्रिय जीव के घ्राण आदि तीन इन्द्रियाँ और अनिन्द्रिय मन नहीं पाया जाता है इसी प्रकार अन्य असंज्ञी पर्यन्त जीवों के भी इन्द्रियों की विकलता पायी जाती है जब द्रव्येन्द्रियाँ ही नहीं हैं तो भावेन्द्रियाँ कहाँ से होंगी यह व्यतिरेकव्यभिचार हुआ अतः सभी इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, क्रियाओं का सूत्र में ग्रहण करना अनिवार्य है।

कषायाणां सांपरायिकभावे पर्याप्तत्वादन्याग्रहणमिति चेन्न, सन्मात्रेपि कषाये भगवत्प्रशांतकषायस्य तत्प्रसंगात्। न च तस्येन्द्रियकषायाव्रतक्रियास्रवाः संति, योगास्रवस्यैव तत्र भावात्। चक्षुरादिरूपाद्यग्रहणं वीतरागत्वात्।

यहाँ कोई आपेक्ष उठाता है कि सकषाय जीव के साम्परायिक आस्रव होता कहा गया है अतः साम्परायिक आस्रव के होने में केवल कषाये ही पर्याप्त है अन्य इन्द्रिय, अव्रत, और क्रियाओं का ग्रहण करना सूत्रकार को उचित नहीं है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योंकि ग्यारहमें गुणस्थानमें कषायों की सत्तामात्र रहने पर भी अच्छी शान्त हो गयी हैं कषाये जिन की ऐसे भगवान उपशान्तकषाय मुनि महाराज के उस साम्परायिक आस्रव के हो जाने का प्रसंग आजावेगा जो कि इष्ट नहीं है। वस्तुतः विचारा जाय तो उस ग्यारहमे गुणस्थान वाले मुनि के भाव इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियाये हैं ही नहीं। अतः इन्द्रिय आदिकों के अनुसार होने वाला साम्परायिक आस्रव उन उपशान्तकषाय भगवान् के नहीं है हां केवल योग को ही कारण मान कर होने वाले ईर्यापथ आस्रव का ही वहां सद्भाव है यद्यपि ग्यारहमे, बारहमे, तेरहमे गुणस्थानों में चक्षुः, कर्ण, आदि इन्द्रियां हैं तथापि वीतराग होने के कारण चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा रूप आदि का ग्रहण करना स्वरूप उपयोग नहीं होता है रागी, द्वेषी, जीवों की ही इन्द्रियों द्वारा उपयोग स्वरूप परिणतियाँ होती हैं उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी अथवा ग्यारहमे, बारहमे, गुणस्थानों में धकाधक शुक्लध्यान प्रवर्त रहा है, शुद्ध आत्मा की परिणति में उपयोग निमग्न होरहा है

इन्द्रिय जन्य उपयोग मानने पर उपशमक, क्षपक अवस्थायें बिगड़ी जाती हैं अतः अन्वयव्यभिचार हो जाने के भय से केवल कषायों का ही ग्रहण करना पर्याप्त नहीं है।

अव्रतवचनमेवेति चेन्न, तत्प्रवृत्तिनिमित्तनिर्देशार्थत्वादिद्रियकषायक्रियावचनस्य। तदेवमिं-द्रियादय एकान्नचत्वारिंशत्संख्याः सांपरायिकस्य भेदा युक्ता एव वक्तुं संग्रहात्।

केवल क्रियाओं के कहने से भी प्रयोजन नहीं सधा और केवल इन्द्रियों का ग्रहण करने से भी सूत्रोक्त अभिप्राय नहीं निकल सकता है। उक्त सूत्र में केवल कषायों को ही साम्परायिक का भेद मानने पर भी दोष आते हैं। ऐसी दशा में एक बचे हुये अव्रत के ग्रहण का ही आक्षेप क्यों न कर लिया जाय? सम्भव है इससे सभी प्रयोजन सध जाँय। ऐसी भावना रखता हुआ कोई कटाक्ष करता है कि उक्त सूत्र में केवल अव्रत का ही कथन किया जाय इन्द्रिय, कषाय और क्रियाओं का उपादान करना व्यर्थ है कषाय सहित जीवों के केवल अव्रत को ही हेतु मान कर साम्परायिक कर्म का आस्रव हुआ करता है। आचार्य कहते हैं कि यों तो नही कहना क्योंकि उन अव्रतों की प्रवृत्ति होने के निमित्तों का निर्देश करने के लिये सूत्रकार महाराज ने इन्द्रिय कषाय, और क्रियाओं को सूत्र में कण्ठोक्त किया है। अर्थात्-इन्द्रिय, कषाय, और क्रियाओं से जीवों की अव्रत में प्रवृत्ति होती है। सूक्ष्म राग की अवस्थामें भाव हिंसा दशमे गुणस्थान तक पाई जाती है असत्य वचन, अनुभयवचन, बारहवें तक माने गये है तेरहमे गुणस्थान में भी अनु-भयवचनयोग अनुभय मनोयोग हैं शीलों का पूर्ण स्वामित्व चौदहमे में माना गया है अतः यद्यपि अव्रत से ही साम्परायिक आस्रव का प्रयोजन सध सकता है फिर भी अव्रतों की प्रवृत्ति का कारण होरहे इन्द्रिय आदिको का कथन करना आवश्यक है। कदाचित् अव्रतो से भी इन्द्रियलोलुपता, कषाये या क्रियाये हो जाती है। तिस कारण इस प्रकार स्पष्ट कथन कर संग्रह करने की विवक्षा से साम्परायिक आस्रव के इन्द्रिय आदिक उन्तालीस संख्या वाले भेदों को कहने के लिये उक्त सूत्र बनाना युक्त ही है एक एक का कथन कर देने से ही सूत्रकार का अभिप्रेत अर्थ नहीं सध पाता है।

कुतः पुनः प्रत्यात्मसंभवतामेतेषामास्रवाणां विशेष इत्याह।

सूत्रकार महाराज के प्रति मानू किसी का प्रश्न है कि प्रत्येक रागी आत्माओं में ये इन्द्रिय आदिक साम्परायिक आस्रव जब सामान्य रूपसे सम्भव रहे हैं तो फिर किस कारण से इन आस्रवों की विशेषता होजाती है? जिससे कि कोई विशेष सुखी होता है अन्य अल्प सुखी होता है तीसरा दुःखी होता है कोई वैसा ही काम करने वाला दूसरे नरक जाता है कोई पाँचमे नरक जाता है भगवान् की पूजा या पात्र दान करने से कोई भोगभूमि के सुख भोगता है इतर दूसरे स्वर्ग को जाता है इत्यादि प्रकार से आस्रवों में अन्तर किस प्रकार पड़ा? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र द्वारा गम्भीर प्रमेय को कहते हैं।

तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य इनकी विशेषताओं से उस-आस्रव की विशेषता हो जाती है। अर्थात् अत्यन्त बढ़े हुये क्रोध आदि परिणाम तीव्रभाव हैं क्रोध, हास्य,

इन्द्रियलोलुपता आदि की अल्पप्रवृत्ति मन्दभाव है; जान-बूझ कर राग, द्वेष, पूजा, दान आदि परिणतियों का होना ज्ञातभाव है; नहीं जान कर हिंसा, असत्यभाषण, कषाय, आदि विकारों का होजाना अज्ञातभाव है; जिसका अवलम्ब या आश्रय पाकर आत्मा प्रयोजनों को साधता है वह द्रव्य अधिकरण है; जीव, पुद्गल, धर्म , अधर्म, आकाश, काल, इन द्रव्यों की शक्तियों को वीर्य कहते हैं। यहां प्रकरण अनुसार जीव और पुद्गल द्रव्यों की शक्ति का ग्रहण करना चाहिये। हाँ "यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मं स्वभावान्तराणि तथा परिणामात्" इस न्याय सिद्धान्त अनुसार धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्यों में भी जीव और पुद्गल परिणतियों के अनुकूल अनेक वस्तुभूत शक्तिशाली स्वभावों के मानने पर तो सभी अजीवों की नियत शक्तियाँ साम्परायिक आस्रव में विशेषताओं को उपजा देती है इनके तारतम्य अनुसार आस्रवों में अन्तर पड़ जाता है। राग, द्वेष की परिणति, शिष्ट अशिष्ट प्राणियों का संसर्ग, देश, काल, आदि बहिरंग कारणों की पराधीनता, आत्मीय पुरुषार्थ आदि कारणों के वश से किन्हीं किन्हीं आत्माओं में इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियाओं के तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेषता और वीर्यविशेषता हो जाती है। तदनुसार कर्मों के आस्रवों में विशुद्धि संक्लेशांगों से अन्तर पड़ता हुआ असंख्यात प्रकार के सुख दुःख आदि फलों को विशेषताओं को उपजा देती है। लोक में भी एक ही विद्यालय में पढ़ने वाले और एक ही भोजनालय में भोजन करने वाले छात्रों की ज्ञान सम्पत्ति और शारीरिक सम्पत्ति तथा सदाचार प्राप्ति में अनेक प्रकार के अन्तर देखने में आते हैं। इन सब के कारण तीव्रता, मन्दता आदि को लिये हुये अन्तरंग, बहिरंग कारणों की संयोजना है अतः सूत्रकार महाराज ने तीव्रभाव आदि करके आस्रवों की विशेषता सूत्र द्वारा अच्छा सूचन किया है अन्यथा अनेक शंकाओं का निराकरण दुःसाध्य ही हो जाता।

अतिप्रवृद्धक्रोधादिवशात्तीव्रः स्थूलत्वादुद्रिक्तः परिणामः, तद्विपरीतो मन्दः, ज्ञानमात्रं ज्ञात्वा वा प्रवृत्तिर्ज्ञातं, मदात्प्रमादाद्वा अनवबुद्ध्य प्रवृत्तिरज्ञातं, अधिक्रियंतेऽस्मिन्नर्था इत्यधिकरण प्रयोजनाश्रयं; द्रव्यं,द्रव्यस्यात्मसामर्थ्यं वीर्यं। भावशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, भुजिवत्, तीव्रभावो मन्दभावो ज्ञातभावो अज्ञातभाव इति।

कर्मों की उदीरणा वश अत्यधिक बढ़े हुये क्रोध अभिमान आदि के वश से तीव्र होरहा यानी स्थूल होने के कारण उद्रेक (जोश) को प्राप्त हो चुका परिणाम तीव्र कहा जाता है। बहिरंग और अन्तरंग कारणों की उदीरणा के वश से जीवों के उत्कट यानी तीव्र परिणाम होजाते हैं तथा उससे विपरीत हो रहा यानी उदीरणा के कारण नहीं मिलने पर अनुद्रेक परिणति है वह मन्दभाव है। केवल जान लेना मात्र अथवा यह प्राणी मारने योग्य है यों जान कर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है। इन्द्रियों का व्यामोह करने वाले मदिरा,भांग, सुलफा, अफीम आदि का उपयोग करने से उत्पन्न हुये मद करके अथवा प्रमाद से नहीं जानकर हिंसा आदि में प्रवृत्ति का होना अज्ञात भाव है। आत्माओं के प्रयोजन जिस प्रस्तुतद्रव्य में अधिकार को प्राप्त हो रहे हैं वह प्रयोजन का आश्रय होरहा द्रव्य अधिकरण है। आत्मा आदि द्रव्य की निज सामर्थ्य को वीर्य माना गया है। यहाँ सूत्रमें "तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावादि" इस द्वन्द्वघटित पद के अन्त में पड़े हुये भाव शब्द का प्रत्येक के साथ पीछे सम्बन्ध कर लेना चाहिये जैसे कि देवदत्त, जिनदत्त, गुरुदत्त इनको भोजन करा दो यहाँ भोजन क्रिया का प्रत्येक तीनों व्यक्तियों में सम्बन्ध कर दिया जाता है इसी प्रकार तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, और अज्ञातभाव यों पदों का विन्यास कर लिया जाय।

युगपदसंभवाद्भावशब्दस्यायुक्तं विशेषणमिति चेन्न, बुद्धिविशेषव्यापारात्तस्य तद्विशेषणत्वोपपत्तेः। न हि सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिंगाभावादेको भावः सत्तालक्षण एवेति युक्तं, भावद्वैविध्यात्। द्विविधो हि स्याद्वादिनां भावः परिस्पंदरूपोऽपरिस्पंदरूपश्च। तत्रापरिस्पंदरूपोऽतद्द्रव्याणामस्तित्वमात्रमनादिनिधनं तदेकं कथंचिदिति माभूद्विशेषकं, परिस्पंदरूपस्तु व्ययोदयात्मकस्तीव्रादीनां विशेषकः कायादिव्यापारलक्षणः सकृदुपपद्यते, कायादिसत्त्वस्य च तस्याभिमतत्वात्।

यहां कोई शंका उठाता है कि भाव तो द्रव्य का आत्मभूत परिणाम है वह सदा एक ही रहता है अतः भाव शब्द का एक ही साथ तीव्र, मन्द आदि अनेकों के साथ विशेषण हो जाना असम्भव है जिस प्रकार कि एक गोत्व यानी गोपना कोई अनेक खण्ड, मुण्ड, आदि गो द्रव्यों की विशेषता करने वाला नहीं है यह गोत्व तो केवल सभी व्यक्तियों में अन्वित हो रहा सन्ता केवल "गाय है गाय है बैल है बैल है" ऐसे ज्ञान और शब्द योजनाओं का हेतु है तिसी प्रकार "सन्मात्रं भावलिंगं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः। धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते" सत् सत्, सन् सन्, सती, सती ऐसे आकार वाले ज्ञान और शब्द योजना होने देने का केवल हेतु हो रहा भाव भी तीव्र आदि का विशेष करने वाला नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बुद्धि में विचार कर लेने के अनुसार एक पदार्थ भी अनेक रूप से विवक्षित कर लिया जाता है। विशेष-विशेष बुद्धियों का व्यापार हो जाने से उस भाव को उन तीव्र आदि परिणामों का विशेषणपना घटित हो जाता है। देखो भाव एक ही प्रकार का नहीं है जैसा कि वैशेषिकों ने एक सत्त्व मान रखा है कि सत्-सत् ये प्रत्यय विशेषताओं से रहित होकर द्रव्य, गुण, कर्मों, में एक सा होना है जड़ या चेतन पदार्थों में एक सी ठहर रही उस सत्ता की विशेषताओं के ज्ञापक चिन्हों का अभाव है इस कारण सत्ता स्वरूप भाव एक ही है इस प्रकार नैयायिक या वैशेषिक का कहना युक्तिपूर्ण नहीं है कारण कि भाव दो प्रकार के माने गये हैं स्याद्वादियों के यहाँ हलन, चलन, आदि परिस्पन्द स्वरूप और रुचि, तत्त्वज्ञान, सामायिक, उपशम, आदि अपरिस्पन्द स्वरूप यों नियम से दो प्रकार के भाव गिनाये हैं "वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य" इस सूत्र से भी यह बात ध्वनित हो चुकी है उन दो भावों में सम्पूर्ण द्रव्यों के अन्तरंग में अनादि अनन्त काल तक परिणम रहा केवल अस्तित्वमात्र है वह भाव सम्पूर्ण सत्ताओं का संग्रह कर एकत्रित किया गया महासत्ता स्वरूप कथंचित् एक है इस कारण वह एक महासत्ता रूप भाव भले ही तीव्र आदि परिणामों की विशेषताओं को कराने वाला नहीं होवे किन्तु दूसरा व्यय, उत्पाद स्वरूप हो रहा परिस्पन्द स्वरूप भाव तो तीव्र आदिकों का विशेष करने वाला हो जावेगा जो कि परिस्पन्द काय, वचन, आदि का अवलम्ब लेकर व्यापार करना स्वरूप है उस परिस्पन्द आत्मक भाव का युगपत्पना बन जाता है क्योंकि वह भाव काय आदि का सत्त्व है ऐसा अभीष्ट किया गया है।

कायवाङ्मनःकर्मयोगाधिकारात्कथं तस्य विशेषकत्वमिति चेत् बौद्धाद् व्यापारात् भेदेनापोद्धारसिद्धेः। आत्मनोऽव्यतिरेकाद्वा तीव्रादीनां भावत्वसिद्धेः।

यहाँ कोई आक्षेप करता है कि "कायवाङ्मनःकर्म योगः" काय, वचन, मनों के अवलम्ब से हुआ परिस्पन्द स्वरूप योग है इसका अधिकार चला आ रहा है दूसरे सूत्र द्वारा उस परिस्पन्द को आस्रव कह दिया गया है ऐसी दशा में उस परिस्पन्द को विशेषताओं का सम्पादकपना भला कैसे बन

जायेगा ? यों कहने पर तो आचार्य उत्तर कहते हैं कि बुद्धि सम्बन्धी व्यापार से भेद करके भेद भाव की सिद्धि हो जाने के कारण वह परिस्पन्द ही विशेषक हो जाता है "देवदत्तः पठति" देवदत्तेन पठ्यते' यहाँ जैसे बुद्धि अनुसार कुछ परिणतियों का लक्ष्यकर स्वातंत्र्य या पारतंत्र्य की विवक्षा कर ली जाती है उसी प्रकार बुद्धि सम्बन्धी व्यापार से परिस्पन्द की विशेषताओं अनुसार तीव्र आदि भावों का अन्तर पड़ जाता है। अथवा एक बात यह है कि आत्मा से अभिन्न होने के कारण तीव्र आदिकों का भी भावपना सिद्ध है ऐसी दशा में अनेक आत्माओं के यथायोग्य तीव्र स्वरूप भाव या मन्द स्वरूप भाव युगपत् सम्भवते सन्ते आस्रवों की विशेषताओं को कर देते हैं भाव का सिद्धान्त अर्थपरिणतियां है जो कि परिणामी द्रव्यों से अभिन्न हैं अतः बुद्धि सम्बन्धी व्यापार की नहीं अपेक्षा रखते हुए भी वस्तुभूत तीव्र आदि आत्मक भावों द्वारा आस्रवों में विशेषतायें उपज बैठती हैं।कारण भेद से कार्य भेद हो जाना अनिवार्य है कारण शक्तियों में व्यर्थ की पर्यालोचना नहीं चल सकती है।

किं च, भावस्य भूयस्त्वात् असंख्येयलोकपरिमाणो हि जीवस्यैकैकस्मिन्नपि कषायादिपरिणामे भावः श्रूयते। ततो युक्तं भावस्य युगपत्तीव्रादीनां विशेषकत्वं। एकत्वेऽपि वा भावस्य परेष्टया बुद्धयानेकत्वकल्पनान्न चोद्यमेतत्।

एक बात यहाँ यह भी है कि जैन सिद्धान्त अनुसार वास्तविकरूप से भाव परिणतियाँ बहुत सी हैं। जीव के एक एक भी कषाय, इन्द्रिय, अव्रत, आदि परिणाम में असंख्यात लोकों के प्रदेशों बराबर असंख्यातासंख्यात नामक संख्या परिमाण को धार रहे भाव हैं ऐसा आर्षशास्त्रों में सुना जा रहा है एक एक कषायाध्यवसायस्थान के लिये असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान नियत हैं अतः अनेक आत्माओं या एक आत्मा के अनेक गुण अथवा उन गुणों के प्रतिपक्षी कर्मों के उदय अनुसार हुये भाव युगपत् अनेक हो सकते हैं। तिस कारण भाव को युगपत् तीव्र आदिकों का विशेषकपना युक्तियों से सिद्ध हो जाता है अतः दूसरे नैयायिक या वैशेषिकों की अभीष्टता करके भाव का एकपना होते हुये भी बुद्धि कर के अनेकपन की कल्पना कर देने से यह उक्त चोद्य हम जैनों के ऊपर नहीं चल सकता है हम दो, तीन, ढंगों से उक्त चोद्य के नहीं लागू होने को समझा चुके हैं।

वीर्यस्यात्मपरिणामत्वान्न पृथग्ग्रहणमिति चेन्न, तद्विशेषवतो व्यपरोपणादिष्वास्रवभेदज्ञापनार्थत्वात् पृथक्त्वं तद्ग्रहणस्य। वीर्यवतो ह्यात्मनस्तीव्रतीव्रतरादिपरिणामविशेषो जायत इति प्राणव्यपरोणादिष्वास्रवफलभेदो ज्ञायते। तथा च तीव्रादिग्रहणसिद्धिः। इतरथा हि जीवाधिकरणस्वरूपत्वाद्वीर्यवत्तीव्रादीनामपि पृथग्ग्रहणमनर्थकं स्यात् तन्निमित्तत्वाच्छरीराद्यानन्त्यसिद्धिः। कथं ? अनुभागविकल्पादास्रवस्यानंतत्वात्तत्कार्यशरीरादीनामनंतत्वोपपत्तेः।

यहाँ कोई पण्डित आशंका करता है कि वीर्य तो आत्मा का ही परिणाम है अधिकरण होरहे जीव के कह देने से ही उसके परिणाम माने गये वीर्य का ग्रहण हो ही जाता है परिणामों वाला ही परिणामी जीव अधिकरण हो सकता है अतः आस्रव के उक्त विशेषकों में वीर्य का पृथक् ग्रहण करना उचित नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि विशेषरूप से उस वीर्य वाले आत्मा का प्राणिहिंसा, असत्यभाषण आदि क्रियाओं के करने में भिन्न भिन्न प्रकार का आस्रव होता है इस बात

को समझाने के लिये उस वीर्य का पृथक् रूप से ग्रहण करना समुचित है जब कि वीर्य वाले आत्मा के तीव्र, तीव्रतर, आदि परिणाम विशेष उपज जाते है इस कारण हिंसा, झूठ, अचौर्य आदि कृत्यों में आस्रव के फलों का भेद जान लिया जाता है और तिस ही प्रकार से यानी आस्रव के फल में भेद हो जाने की अपेक्षा से ही तीव्र, मंद आदि के पृथक् रूपेण ग्रहण करने की भी सिद्धि होजाती है अन्यथा यानी आस्रवों के फलों के भेद का ज्ञापन करना यदि सूत्रकार को अभीष्ट नहीं होता तो जीव नामक अधिकरण के स्वभाव हो जाने के कारण वीर्य परिणति के समान तीव्र आदिकों का भी पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ हो जाता, जब कि यह नियम है कि भिन्न कार्यों का होना भिन्न कारणों पर ही अवलम्बित है तिस कारण निर्णय हुआ कि अनुभाग शक्ति अनुसार भिन्न भिन्न फल वाले उन आस्रवों का निमित्त मिल जाने से आत्मा के शरीर, मुखाकृति, सुख, दुःख, आदि के अनन्तपन की सिद्धि हो जाती है। किस प्रकार होजाती है ? इसका उत्तर यह है कि कषायों अनुसार पड़ गये अनुभागों के विकल्प से आस्रव का अनन्तपना हो जाता है और अनन्त आस्रवों से उनके कार्य हो रहे शरीर, वचन, इष्ट, अनिष्ट प्राप्ति, वियोग, आदि का अनन्तपना सयुक्त बन जाता है। तभी तो जगत् में अनेक प्रकार के शरीर, भिन्न-भिन्न मुखाकृतियां, न्यारी न्यारी जाति के सुखदुःख, पृथक् पृथक् प्रकृतियां, मुण्डे मुण्डे मतिभिन्ना, पाण्डित्य के न्यारे न्यारे ढंग, वक्तृत्वकला, लेखन कला आदि फल होरहे प्रतीत होरहे हैं। यद्यपि इनमें आत्म पुरुषार्थ भी कुछ कारण पड़ जाता है फिर भी तीव्र आदि भावों अनुसार न्यारी न्यारी अनुभाग शक्तियों को लिये हुये हुआ अनन्त कार्यों को करने वाला कर्म का आस्रव ही अन्तरंग कारण प्रधान माना गया है। कर्मों की बड़ी विचित्र शक्ति है आज कल जितने मनुष्य दृष्टिगोचर होरहे हैं किसी भी एक की दूसरे से आकृति (सूरत मूरत) नही मिलती है इस प्रकार सूक्ष्मता से विचारने पर बन्दर, बैल, घोड़ा, हाथी, कबूतर, तोता, चूहा, यहां तक कि चींटी, मक्खी, वृक्ष, बेल, अंकुर, गेहूँ, चना, आम, अमरूद आदिकों की भी आकृतियां न्यारी न्यारी हैं पूर्व कालों में भी जितने मनुष्य, हाथी, घोड़ा, बन्दर आदि हो चुके हैं और भविष्य काल में भी जितने होयँगे उनकी भी आकृति, गति, मति, आदि प्रायः भिन्न भिन्न प्रकार की ही होचुकीं और होंगी। जगत् में कारण के विना कोई कार्य नहीं होता है इन सब अनन्ते प्रकार के कार्यों का अन्तरंग कारण इस सूत्र में समझा दिया गया है। कर्म सिद्धान्त को जानने वाले विद्वानों से यह रहस्य छिपा नहीं रहता है। सांचे में ढाले गये रुपये, पैसे, खिलौना, आदि जड़ पदार्थ भले ही एक से बना लिये जायं किन्तु कर्मविपाक से होने वाली जीवों की विचित्र परिणतियाँ तो वास्तविक मूल कारणों पर अवलम्बित हैं।

कुतः पुनः सांपरायिकास्रवाणां विशेषः किं हेतुकेभ्यश्च प्रपंच्यत इत्याह ।

यहाँ कोई जिज्ञासु पूंछता है कि किस कारण से फिर साम्परायिक आस्रवों के विशेषों का यहां विस्तार किया जा रहा है ? और वे आस्रव की विशेषताओं को करने वाले तीव्र आदि भाव भला किन हेतुओं से उपज रहे वैसे विशेषक बन बैठते हैं ? बताओ। अर्थात्—आस्रवों में अन्तर डालने वाले तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष और वीर्य विशेष इन पंचम्यन्त पदों के वाच्यार्थों का हेतु क्या है ? और यहां इनसे हुये आस्रवों के विशेषों का प्रपंच क्यों किया जा रहा है ? यों दो प्रश्नों के उत्तरों की जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार दो वार्त्तिकों द्वारा समाधान को कहते हैं।

तीव्रत्वादिविशेषेभ्यस्तेषां प्रत्येकमीरितः ।
बंधः कषायहेतुभ्यो विशेषो व्यासतः पुनः ॥१॥

स युक्तः सूत्रितश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः।
तच्च कर्म नृणां तस्मादिति हेतुफलस्थितिः ॥२॥

जीव के कषायों को हेतु मान कर हुये तीव्रपन, मंदपन, आदि विशेषों से प्रत्येक-प्रत्येक उन आस्रवों का विशेष या साम्परायिक कर्मों का बंध विशेष हो रहा कह दिया गया है हाँ विशेष-विशेष वह कर्म बंध होना तो फिर इस सूत्र में विस्तार से सूचित किया गया है जो कि पूर्व उपार्जित कर्मबंध की अनुकूलता से चित्र विचित्र प्रकार का बंध हुआ युक्त ही है और भविष्य में भी जीवों के कर्मबंध अनुसार पुनः वे कर्म उपजेंगे और उन बँधे हुये कर्मों से पुनः जीवों को फल प्राप्त होगा या द्रव्य कर्म से भाव कर्म और भाव कर्म से द्रव्य कर्म यह हेतु फल की व्यवस्था अनादि काल से चली आ रही है यदि मोक्षोपयोगी संवर और निर्जरा के कारण उपस्थित नहीं किये जायंगे तो यह धारा अनन्तानन्त काल तक इसी प्रकार चली जायगी। अतः उत्तर हो जाता है कि तीव्रत्व आदि के कारण कषायें इन्द्रियाँ आदि हैं और आस्रवों के विशेषों का विस्तार अनेक प्रकार की हेतुफल व्यवस्था का परिज्ञान कराने के लिये सूत्र में कह गया है। भावार्थ—नाना कषाय या द्रव्य, क्षेत्र, आदि परिस्थितियों अनुसार हुये तीव्रभाव, मंदभाव, आदि कारणों से कर्म के आस्रवों में अन्तर पड़ जाता है। किसी आत्मा में इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, और क्रियाओं की तीव्रता हो जाती है। सिंह में क्रोध की तीव्रता है और हिरण के क्रोध मन्द है, प्रचण्ड गृहस्थ और प्रशान्त मुनि के भावों में अन्तर है। कोई आत्मा जान करके इन्द्रिय, कषाय, आदि में प्रवृत्ति करता है उसके महान आस्रव होता है। उस समय मछलियों को नहीं भी मार रहे धीवर से भूमि को जोत रहा किसान अल्प पापी है। क्वचित् आकर्षक योग के भी अविभाग प्रतिच्छेद बढ जाते हैं अज्ञात भाव में इन्द्रिय आदिकों की प्रवृत्ति होने पर अल्प आस्रव होता है विशेष अधिकरणों के होने पर भी आस्रव में विशेष हो जाता है जैसे कि परस्त्री गामी पुरुष के वेश्या का आलिंगन करने में अल्पास्रव है किन्तु राजपत्नी, गुरुपत्नी, या आर्यिका के आलिंगन करने पर महान् पाप आस्रव होता है। चोर किसी सेठ का द्रव्य चुराता है उसमें उतना दुष्कर्म आस्रव नहीं होता है जितना कि गुरुद्रोह, मित्रद्रोह करते हुये अपने परम हितैषी गुरु या मित्र का द्रव्य चुरा लेने पर महान् पाप आस्रव होता है। क्वचित् ज्ञात भाव की अपेक्षा एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय जीवों के अज्ञात भावों से पाप अधिक लग जाता है। इसी प्रकार विशेष वीर्य होने पर वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले पुरुष के इन्द्रिय आदि का व्यापार होने पर महान् आस्रव होता है सातमे नरक तक जा सकता है किन्तु हीन संहनन वाले पुरुष द्वारा पाप कर्म किये जाने पर अल्प आस्रव होता है तीसरे नरक तक ही जा सकता है। इसी प्रकार, क्षेत्र, काल, आदि से भी आस्रव में विशेषता हो जाती है। घर में ब्रह्मचर्य का भंग करने पर अल्प आस्रव होता है किन्तु विद्यालय, स्वाध्यायशाला, देवस्थान, तीर्थमार्ग और तीर्थ स्थानों में व्यभिचार प्रवृत्ति करने पर उत्तरोत्तर महान् पाप का आस्रव होगा। इसी प्रकार प्रातः काल, मध्याह्न काल, स्वाध्याय काल, सामायिक काल में भी कर्मों के आस्रव का तारतम्य है उक्त कार्य कारण भाव की विशुद्धि, संक्लेशभावों अनुसार पुण्य, पाप, दोनों में व्यवस्था कर लेनी चाहिये तभी तो कर्मों के बंध की विचित्रता सध सकेगी, देवागम के "कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः। तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः" इस श्लोक की अष्टसहस्री में ग्रन्थकार ने कर्मसिद्धान्त का अच्छा विवेचन किया है।

जीवस्य भावास्रवो हि स्वपरिणाम एवेंद्रियकषायादिस्तीव्रत्वादिविशेषात्। प्रपंचतः पुनः

कषायविशेषकारणाद्विशिष्टो जातः । स च कर्मबंधानुसारतोऽनेकप्रकारो युक्तः सूत्रितः। कर्म पुनर्नृणामनेकप्रकारं कषायविशेषाद्भावकर्मेण इति हेतुफलव्यवस्था। परस्पराश्रयान्न तद्व्यवस्थेति चेन्न, बीजांकुरवदनादित्वात्कार्यकारणभावस्य तत्र सर्वेषां सम्प्रतिपत्तेश्च ।

जीव के इन्द्रिय, कषाय, आदि स्वरूप हो रहा भावास्रव तो उस जीव का निज परिणाम ही है जो कि तीव्रत्व, मन्दत्व, आदि विशेषों से विशेषताओं को लिये हुये है। विस्तार से विचार करने पर तो यह जान लिया जाता है कि वह भाषास्रव विशेष कषाय स्वरूप कारणों से विशिष्ट हो चुका है अतः कर्म बंध के अनुसार से वह भावास्रव अनेक प्रकार है जो कि सूत्र द्वारा श्री उमास्वामीमहाराज ने समुचित कह दिया है। हाँ जीवों के फिर कर्म तो अनेक प्रकार के हैं जो कि भावकर्म हो रहे कषाय विशेषों से उपज जाते हैं। अर्थात् कषाय विशेषों से द्रव्य कर्म बंधते हैं और फल काल में द्रव्य कर्मों का उदय आने पर आत्मा में क्रोध आदि भावकर्म उपज जाते है इस प्रकार कषाय और कर्मों में कार्य कारण व्यवस्था होरही है। यदि कोई बालक यहाँ यों आक्षेप करे कि यहां तो अन्योन्याश्रय दोष हुआ द्रव्यकर्म से भावकर्म हुये और भावकर्मों से द्रव्यकर्म हुये यही तो इतरेतराश्रय है जैसे कि दीपक कब जले जब दियासलाई मिले और दियासलाई की डिब्बी अंधेरे में कब मिले जब दीपक जल चुके इसकारण वह हेतुफलव्यवस्था नहीं हुई। ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बीज और अंकुर के समान यह द्रव्यकर्म और भावकर्म का कार्यकारणभाव अनादि काल से चला आरहा है। उस कार्यकारणभाव में सभी वादी प्रतिवादी पण्डितों की समीचीन प्रतिपत्ति होरही है किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है। अर्थात् सूक्ष्मदृष्टि से विचारने पर जैसे बीज अंकुर में कोई अन्योन्याश्रय नहीं है जिस बीज से जो अंकुर हुआ है उस अंकुर से वही बीज नहीं उपजता है किन्तु न्यारा ही बीज उपजता है सादृश्य से भले ही उसको बीज कह दिया जाय न्यारे न्यारे अंकुरों से भिन्न भिन्न बीज और भिन्न भिन्न बीजों से पृथक् पृथक् अंकुर उपज रहे हैं। कार्य के प्रतिबन्धक अन्योन्याश्रय को हम भी दोष मानते है किन्तु यहां वह दोष अणुमात्र भी नहीं है जिस भाव कर्म से द्रव्यकर्म बंधा है वह फल काल मे दूसरे ही भाव कर्म को उपजावेगा और उस भाव कर्म से अन्य ही पौद्गलिक कर्मों का बंध होगा यों कोरे शब्दसादृश्य से अन्योन्याश्रय नहीं होजाता है। यहां वस्तु व्यवस्था न्यारी न्यारी है अतः तीव्र, मन्द, आदि सूत्र द्वारा अनन्त प्रमेय को सूचित करा देना श्री सूत्रकार महाराज का अतीव प्रशस्त कार्य है।

किं पुनरत्राधिकरणमित्याह ।

उक्त सूत्र में कहे गये तीव्र मंद आदि को हमने समझ लिया है किन्तु फिर अधिकरण को नहीं समझा है अतः बताओ कि यहां प्रकरण अनुसार अधिकरण भला क्या पदार्थ है ? ऐसी विनीत शिष्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज इस अगले सूत्र को कहते हैं।

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥

यहाँ आस्रव के प्रकरण में अधिकरण हो रहे तो जीव और अजीव पदार्थ हैं अर्थात्-जिस द्रव्य का अवलम्ब लेकर आस्रव उपजता है वह द्रव्य यहाँ अधिकरण कहा जाता है यद्यपि जीव द्रव्य के ही सर्व आस्रव होते हैं फिर भी जीव द्रव्य का आश्रय लेकर जो आस्रव उपजता है उसका अधिकरण जीव

और अजीव द्रव्य को आश्रय मान कर जो कर्मों का आस्रव होता है उसका अधिकरण अजीव द्रव्य माना जाता है जीवों और हिंसा, देवपूजा, आदि के उपकरण हो रहे अजीवों का अवलम्ब पाकर आस्रव विशेष हुआ करते है।

द्विवचनप्रसंग इति चेन्न, पर्यायापेक्षया बहुत्वनिर्देशात्। नहि जीवद्रव्यसामान्यमजीव-द्रव्यसामान्यं वा हिंसाद्युपकरणभावेन सांपरायिकास्रवहेतुत्वेनाधिकरणत्वं प्रतिपद्यते केनचित्पर्यायेण विशिष्टेनैव तस्य तथाभावप्रतीतेः।

यहाँ कोई पूँछता है कि जब मूल पदार्थ जीव अजीव दो हैं तो फिर 'जीवाजीवौ' इस प्रकार द्विवचनान्त पद के ही कहने का प्रसंग प्राप्त हुआ गौरवाधायक "जीवाजीवाः" ऐसा बहुवचनान्तपद सूत्रकार ने क्यों कहा ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह प्रसंग तो नहीं देना क्यों कि पर्यायों की अपेक्षा से यहाँ बहुवचन का निर्देश किया गया है। जीव अजीवों की पर्यायें ही तो अधिकरण हैं सामान्य जीवद्रव्य अथवा सामान्य अजीव द्रव्य तो हिंसा आदि के उपकरण भाव करके साम्परायिक आस्रव के हेतुपनेसे अधिकरणता को प्राप्त नहीं करते हैं किन्तु किसी न किसी पर्याय से विशिष्ट हो रहे पने करके ही उन जीव अजीवों की तथा भाव यानी आस्रवहेतुद्रव्यत्वेन प्रतीति हो रही है अतः पर्यायों की विवक्षा अनुसार बहुवचन कहा गया है। पर्यायें अनेक हैं।

सामानाधिकरण्य तदभेदार्पणया जीवाजीवास्तदधिकरणमिति। सर्वथा तद्भेदेऽभेदे च सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः।

उन जीव, अजीवों का अधिकरण के साथ अभेद बने रहने की विवक्षा से समान अधिकरणपना बन जाता है। जीव अजीव ही तो उस आस्रव के अधिकरण हैं उन उद्देश्य और विधेयदलो का सर्वथा भेद होने पर सामानाधिकरण्य नहीं बन पाता है जैसे कि भरतक्षेत्र और सिद्धशिला अथवा आकाश और ज्ञान का समानाधिकरणपना नहीं है तथा सर्वथा अभेद होने पर भी समान विभक्ति या समान वाच्यार्थ अनुसार समानाधिकरणपना नहीं बनता है जैसे कि बुद्धि के साथ ज्ञान का, घट के साथ कलश का सामानाधिकरण्य नहीं है तभी तो वैयाकरणों के यहाँ उद्देश्य विधेय पदों के अर्थ में कथंचित् व्यभिचार प्रवर्तने पर सामानाधिकरण्य लक्षणा कर्मधारय वृत्ति उपजती है नीलाम्बरं यहाँ नीलपन को छोड़ कर वस्त्रपना धौले वस्त्रों में है और वस्त्रों को छोड़ कर नीलपना कम्बल, स्याही, आदि अन्य पदार्थों में भी ठहर जाता है अथवा नील रंग के नष्ट हो जाने पर भी वस्त्र ठहरा रहता है। ज्ञानों का परिवर्तन होते हुये भी आत्मा वह का वही बना रहता है अतः कथंचित् भेदाभेद होने से जीवों और अजीवों के साथ अधिकरण का सामानाधिकरण्य है।

तत्त्वेभिर्निर्धारणार्थः सूत्रे सामर्थ्यान्निर्देशः। तेषु तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेषु यदधिकरणं तस्य जीवाजीवात्मकत्वेन निर्धारणात्। तदेव दर्शयति।

वह अधिकरण तो इन जीव अजीवों, करके निर्धारण करने के लिये सूत्र में कहा गया है निर्धारण जिससे होता है उस के वाचक पद से षष्ठी या सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं यहाँ भी विना कहे ही सामर्थ्य से तीव्र, मंद आदि पंचम्यन्त पद को सप्तम्यन्त या षष्ठ्यन्त बना लिया जाय और प्रथमान्त

आस्रवः के स्थान में आस्रवस्य यों षष्ठी विभक्ति का विपरिणाम कर लिया जाय तदनुसार यह अर्थ हो जाता है कि उन तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष और वीर्यविशेष इन में जो अधिकरण है उसका जीव, अजीव, स्वरूपने करके निर्धारण किया गया है। जाति, गुण, क्रिया, और संज्ञाओं करके समुदाय से एक देश अवयव का जो पृथक् करना है वह निर्धारण है। तथा उस आस्रव के अधिकरण जीव अजीव है। उसी सिद्धान्त को स्वयं ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा दिखलाते हैं।

तत्राधिकरणं जीवाजीवा यस्य विशेषतः।
साम्परायिकभेदानां विशेषः प्रतिसूत्रितः ॥१॥

उन तीव्र आदि विशेषकों में जिस आस्रव के विशेष रूप से जीव और अजीव अधिकरण हो रहे है उस साम्परायिक आस्रव के भेदों की विशेषता को करने वाला एक प्रतिविशेष इस सूत्र द्वारा कहा जा चुका है।

तदधिकरणं जीवजीवा इति प्रतिपत्तव्य ।

आस्रव का वह अधिकरण तो जीव और अजीव पदार्थ है इस प्रकार जिज्ञासुओं को इस सूत्र द्वारा समझ लेना चाहिये।

तत्राद्यं कुतो भिद्यते इत्याह ।

उन जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण आस्रवों के मध्य में आद्य हो रहे जीवाधिकरण का किन-किन हेतुओं से भेद प्राप्त हो जाता है ? इस प्रकार श्रद्धालु शिष्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र का यों स्पष्ट कह रहे है।

आद्यं संरंभसमारंभारंभयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रि-स्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥

आदि में होने वाला जीवाधिरण आस्रव तो संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ और योग तथा कृत, कारित, अनुमोदना एवं कषाये इनके विशेषो करके एक एक के प्रति तीन बार पुनः तीन बार पुनः अपि तीन बार अनन्तर चार बार गिनती करते हुये एक सौ आठ भेद वाला हो जाता है। अर्थात्-प्रमाद वाले जीव का हिंसा, असत्य आदि में प्रयत्न का आवेश करना संरम्भ है। हिंसा आदि के साधनों का अभ्यास करना समारम्भ है। हिंसा आदि का प्रथम प्रारम्भ कर देना आरम्भ है। काय परिस्पन्द, वाक् परिस्पन्द, और मनोवलम्ब परिस्पन्द करके योग तीन प्रकार का कहा जा चुका है। अपनी स्वतंत्रता से किये गये कार्य को कृत कहते हैं, दूसरे के प्रयोग की अपेक्षा कर बनाया गया कारित है, अन्य करके किये जा रहे हिंसा आदि का प्रतिषेध नहीं कर अभ्यन्तर में उसकी अनुमोदना करने में लगरहा मानस परिणाम अनुमत समझा जाता है। क्रोधादि कषायों को समझाया जा चुका है विशेष का सर्वत्र अन्वय हो रहा है तीन बार संरम्भ, समारम्भ, आरम्भों करके, तीन बार योग विशेषों के साथ, यथाक्रम से तीन बार कृत, कारित अनुमोदना विशेषों के अनुसार, चार बार कषाय विशेषों करके गणना की अभ्यावृत्ति करते हुये एकसौ

आठ भेद हो जाते हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड में प्रमाद के प्रकरण में कहे गये संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट, और समुद्दिष्ट यहाँ भी लगाये जा सकते है।

आद्यग्रहणमनर्थकमुत्तरसूत्रे परवचनसामर्थ्यात्सिद्धेरिति चेन्न, विस्पष्टार्थत्वात्तस्य। तद्-ग्रहणे हि प्रतिपत्तिगौरवप्रसंगः। परवचनसामर्थ्यादनुमानात्संप्रत्ययात्परशब्दस्येष्टवाचिनोऽपि भावात्तद्वचनादाद्यसंप्रत्ययाऽसिद्धेः सूक्तमिह ग्रहणं।

यहाँ कोई शंका करता है कि सूत्र में आद्य शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ है क्योंकि आगे कहे जाने वाले उत्तरवर्त्ती "निर्वर्तनानिक्षेप" आदि सूत्र में पर शब्द के कहने की सामर्थ्य से ही अर्थापत्त्या यहाँ आद्य शब्द का अर्थ सिद्ध हो जाता है। आचार्य कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योंकि विशेषरूपेण स्पष्ट करने के लिये इस सूत्र में आद्य पद का ग्रहण किया गया है। यदि उस आद्य पद का ग्रहण नहीं करते तो कठिनता से प्रतिपत्ति होती अतः अर्थकृत गौरव हो जाने का प्रसंग आजावेगा जो कि इष्ट नहीं है। देखिये उत्तर सूत्र में परवचन की सामर्थ्य से यहाँ अनुमान प्रमाण से ही आद्य शब्द के प्रथम अर्थ की समीचीन प्रतीति हो सकती थी, यहाँ विचारिये कि अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में हेतु का उपलम्भ, व्याप्तिग्रहण, व्याप्तिस्मरण, पक्षवृत्तित्वज्ञान, निगमन यों अनेक ज्ञान उपजाने पड़ते तब कहीं बिना कहे ही आद्य का अर्थ अर्थापत्त्या सिद्ध होता और अनेक स्थूल बुद्धि वाले शिष्य तो उस अर्थ की प्रतिपत्ति ही नही कर पाते अतः परानुग्रह मे प्रवर्त रहे सूत्रकार महाराज स्पष्ट प्रतिपत्ति कराने के लिये आद्य शब्द का कण्ठोक्त प्रतिपादन कर देते है। एक बात यह भी है कि अगिले सूत्र में इष्ट अर्थ को कहने वाले भी पर शब्द का सद्भाव है अतः उस पर शब्द के कहने से आद्य शब्द के अर्थ की समीचीन प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है इस कारण यहाँ सूत्र में श्री उमास्वामी महाराज ने आद्य शब्द का ग्रहण बहुत अच्छा कर दिया है।

प्रमादवतः प्रयत्नावेशः प्राणव्यपरोपणादिषु संरंभः, क्रियायाः साधनानां समभ्यासीकरणं समारम्भः, प्रथमप्रवृत्तिरारंभश्चादय आद्यकर्मणि द्योतनत्वात्। सरंभण संरंभः, समारभणं समारंभः, आरंभणमारंभ इति भावसाधनाः संरंभादयो, योगशब्दो व्याख्यातार्थः कायवाङ्मनःकर्म योग इति। कृतवचनं कर्तुः स्वातंत्र्यप्रतिपत्त्यर्थं, कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षं, अनुमतशब्दः प्रयोक्तृमानसव्यापारप्रदर्शनार्थः, क्वचिन्मौनव्रतिकवत्तस्य वचनप्रयोजकत्वासंभवात् कायव्यापारेऽप्रयोक्तृत्वान्मानसव्यापारसिद्धेः।

प्रमाद वाले जीव का स्वपर के प्राणवियोग आदि में जो प्रयत्न का आवेश (उत्साह विशेष) होना है वह संरम्भ है। साध्यभूत क्रिया के साधनों का भले प्रकार अभ्यास करना यानी अनभ्यस्त को जो अभ्यस्त करना है वह समारम्भ है। शुभ अशुभ क्रियाओं के करने में प्रथम प्रवृत्ति करना आरम्भ है। च, आङ्, प्र, आदिक उपसर्ग आदि में होने वाली क्रिया के द्योतक हो जाते है "निपाता द्योतका भवन्ति" आरम्भ शब्द में पड़ा हुआ आङ् निपात आद्य कर्म का द्योतक है। संरम्भण क्रिया मात्र संरम्भ है सम् उपसर्ग पूर्वक रभ धातु से या रभि धातु से भाव में घञ् प्रत्यय कर संरम्भ शब्द बना लिया जाता है। इसी प्रकार समारम्भ मात्र क्रिया करना समारम्भ है यहां भी सम्, आङ्, उपसर्ग पूर्वक रभि धातु से भाव

में घञ् प्रत्यय करके समारम्भ को साध लिया जाता है। आरम्भ मात्र क्रिया कर देना आरम्भ है। आङ् पूर्वक रभ धातु से भाव में घञ् प्रत्यय कर आरम्भ शब्द का साधन कर लिया जाता है। यों संरम्भ आदि शब्द शुद्ध धात्वर्थ मात्र को कह रहे भाव साधन है। "कायवाङ्मनःकर्म योगः" इस सूत्र में योग शब्द का अर्थ यों बखाना जा चुका है कि काय, वचन, मनों के अवलम्ब से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द होना योग है। इस सूत्र में पड़े हुये कृत शब्द का निरूपण तो कर्त्ता की स्वतंत्रता की प्रतिपत्ति कराने के लिये है अर्थात्–आत्मा ने स्वतंत्र होकर उस कार्य को स्वयं किया है और कारित शब्द का कथन दूसरों के प्रयोग की अपेक्षा कर कार्यसिद्धि कराने के लिये है अनुमत शब्द तो प्रयोक्ता के मानसिक व्यापारों का प्रदर्शन कराने के लिये हैं कहीं कहीं मौन व्रती पुरुष के समान उस अनुमोदक को वचन बोलने का प्रयोजकपना असम्भव है। कार्य द्वारा व्यापार करने मे प्रयोक्ता नहीं होने से इसके मानसिक व्यापारों की सिद्धि हो जाती है। अर्थात्–जैसे चुप होकर आंखो से देख रहा पुरुष उस कार्य का निषेध नहीं करने से अपने मन में उसकी अनुमोदना करता रहता है यह शरीर का कोई व्यापार नहीं करता है वचन भी नहीं बोलता है केवल मन में अभ्यन्तर परिणामों द्वारा उस कार्य के होने देने में अनुमोदन करता रहता है ये तीन त्रिक हुये।

कषंत्यात्मानमिति कषायाः प्रोक्तलक्षणाः। विशेषशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत्, तेन संरंभादिविशेषैर्योगविशेषैः कृतादिविशेषैः कषायविशेषैरेकशः प्रथममधिकरणं भिद्यत इति सूत्रार्थो व्यवतिष्ठते। एतदेवाह।

चौथा चतुष्क इस प्रकार है कि आत्मा जो कषते रहते हैं यानी आत्मा के स्वाभाविक परिणामों की हिंसा करते रहते है इस कारण वे कषाय हैं। कषायों का लक्षण दूसरे अध्याय में बहुत अच्छा कहा जा चुका है। "द्वंद्वादौ द्वंद्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते" इस नियम अनुसार यहां द्वन्द्व के अन्त में पड़े हुये विशेष शब्द की प्रत्येक पूर्व पद में परिसमाप्ति कर देनी चाहिये जैसे कि देवदत्त, जिनदत्त, गुरुदत्त को भोजन करा दो यहां भोजन क्रिया का उक्त तीनों व्यक्तियों में परिपूर्ण रूप से अन्वय हो जाता अर्थात्–प्रत्येक को भर पेट भोजन कराया जाता है ऐसा नहीं है कि एक के पेट भरने योग्य भोजन को ही तीनों में तिहाई तिहाई बांट दिया जाय, तिस कारण संरम्भ आदि विशेषों करके और योग विशेषों करके तथा कृत आदि विशेषों करके एवं कषायविशेषों करके एक एक प्रति तीन आदि भेदों घटित करते हुये पहिले जीवाधिकरण आस्रव को भिन्न भिन्न कर लिया जाता है इस प्रकार सूत्र का अर्थ व्यवस्थित हो जाता है। इस बात को ही ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिकों द्वारा स्पष्ट कह रहे है उसको सावधान होकर सुनिये।

जीवाजीवाधिकरणं प्रोक्तमाद्यं हि भिद्यते।
संरंभादिभिराख्यातैर्विशेषैस्त्रिभिरेकशः ॥१॥
योगैस्तन्नवधा भिन्नं सप्तविंशतिसंख्यकं।
कृतादिभिः पुनश्चैतद्भवेदष्टोत्तरं शतं ॥२॥
कषायैर्भिद्यमानात्मचतुर्भिरिति संग्रहः।
कषायस्थानभेदानां सर्वेषां परमागमे ॥३॥

पूर्वसूत्र करके जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण आस्रव बहुत अच्छा कहा जा चुका है उन में आदि का जीवाधिकरण तो बखाने गये तीन संरंभ आदि विशेषों करके एक-एक प्रति तीन योग विशेषों से भिन्न हो रहा सन्ता नौ प्रकार भिन्न हो जाता है। वह नौ प्रकार का पुनः कृत आदि विशेषो करके भिन्न हो रहा सन्ता सत्ताईस संख्या वाला हो कर भिन्न हो जाता है। पुनः यही सत्ताईस संख्या वाला आस्रव स्वयं अपने चार प्रकार के भेदों को प्राप्त हो रही कषायों करके आठ ऊपर सौ यानी एक सौ आठ प्रकार हो कर भेद को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार कषाय स्थानों के सम्पूर्ण भेदों का सर्वज्ञ प्रतिपादित परमोत्कृष्ट जिनागम में संग्रह कर लिया गया है। अर्थात्-क्रोध,मान, माया, लोभ, चार कषायों के भी अनन्तानुबन्धी आदि चार चार भेदो से अथवा असंख्यात लोक प्रमाण कषाय जातियों से गुणा करने पर हुये असंख्यात भेदों का इन्ही एकसौ आठ में संग्रह कर लिया जाता है ऐसा प्ररूपण जैन सिद्धान्त मे सर्वज्ञ आम्नाय प्राप्त चला आ रहा है।

जीवाधिकरणं संरंभादिभिस्त्रिभिर्भिद्यमानं हिंसास्रवस्य तावत् त्रिविधं। हिंसायां संरंभः समारंभः आरंभश्चेति। तदेव योगैस्त्रिभिः प्रत्येकं भिद्यमानं नवधावधार्यते कायेन संरंभो वाचा संरंभो मनसा संरंभ इति, तथा समारंभस्तथा चारंभ इति। तदेव नवभेदं कृतादिभिर्भिन्नं सप्तविंशतिसंख्यं कायेन कृतकारितानुमताः संरंभसमारंभारंभाः, तथा वाचा मनसा चेति। पुनश्चैतत्सप्तविंशतिभेदं कषायैः क्रोधादिभिश्चतुर्भिर्भिद्यमानात्मकं भवेदष्टोत्तरशतं क्रोधमानमायालोभैः कृतकारितानुमताः कायवाङ्मनसा संरंभसमारंभारंभा इति।

हिंसा अवलम्ब आस्रव के संरंभ आदिक तीनों करके भेद को प्राप्त हो रहा सन्ता जीवाधिकरण तो तीन प्रकार का है जो कि हिंसा करने मे प्रयत्नावेश स्वरूप संरम्भ करना और साधनों का एकत्रीकरण रूप समारम्भ करना तथा हिंसा मे आद्य प्रक्रम स्वरूप आरम्भ करना यों तीन प्रकार है वही तीनो प्रकार का जीवाधिकरण तीन योगों करके प्रत्येक भेद को प्राप्त हो रहा सन्ता नौ प्रकार का यो निर्णीत कर लिया जाता है कि १ काय करके संरम्भ होना २ वचन करके संरम्भ होना ३ मन करके संरम्भ होना यों तीन संरम्भ हुये तिसीप्रकार ४ काय करके समारम्भ ५ वचन करके समारम्भ ६ मन करके समारम्भ यों तीन समारम्भ हुये तिस ही ढंग से ७ काय करके आरम्भ ८ वचन करके आरम्भ ९ मन करके आरम्भ यों तीन आरम्भ हुये सब मिला कर नौ हुये, उन नौऊ भेदों को कृत आदिक के साथ भिन्न-भिन्न कर दिया जाय तो कृत के साथ नौ और कारित के साथ नौ एवं अनुमत के साथ नौ यों सत्ताईस संख्या वाला जीवाधिकरण आस्रव हुआ। अकेली काय के साथ कृत, कारित, अनुमोदन और संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ की गणना कर देने से नौ भेद हुये तिसी प्रकार वचन और मन से भी गणना अभ्यावृत्ति कर देने पर सत्ताईस भेद हो जाते हैं फिर भी इन सत्ताईस भेदों को क्रोधादि चार कषायों के साथ प्रत्येक भेद को प्राप्त हो रहे स्वरूप एक सौ आठ भेद हो जायंगे। क्रोध,मान,माया, लोभों करके कृत, कारित, अनुमोदना होती हुई काय, वचन, मनों द्वारा संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ स्वरूप जीवाधिकरण आस्रव है। इनका प्रस्तार पूर्वक परिवर्तन यों किया जा सकता है कि प्रथम ही सबसे पहिलो के साथ क्रोधादि चार कषायों को भुगता दिया जाय पुनः कृत को छोड़ कर कारित पर आजाना चाहिये पश्चात्-अनुमोदना पर संक्रमण कर लिया जाय ये बारह काय योग पर हुये इसी प्रकार बारह वचन योग पर और बारह मनोयोग पर लगा कर छत्तीस भेद संमारम्भ के हो जाते हैं। इसी प्रकार छत्तीस भेद समारम्भ और छत्तीस भेद आरम्भ के करते हुये सब एक सौ आठ भेद होजाते है।

तथैवानृतादिष्वव्रतेषु योज्यं। एवं कषायस्थानभेदानां सर्वेषां परमागमे संग्रहः कृतो भवति। तदप्यष्टोत्तरशत प्रत्येकमसंख्येयैः कषायस्थानैः प्रतिभिद्यमानसख्येयमिति जीवाधिकरणं व्याख्यातं।

जिस प्रकार हिंसा अनुकूल आस्रव में एक सौ आठ भेद लगा दिये हैं तिस ही प्रकार झूंठ, चोरी, आदि अव्रतों में भी जोड़ लेना चाहिये। इस ही प्रकार कषायाध्यवसाय स्थान के सम्पूर्ण भेदों का परमागम में संग्रह कर लिया गया समझा जाता है। वे एकसौ आठों भेद भी प्रत्येक के असंख्याते कषाय स्थानों करके विशेषतया भेद को प्राप्त होरहे सन्ते असंख्यातलोक प्रमाण हो जाते हैं इस प्रकार जीवाधिकरण का विस्तार से व्याख्यान कर दिया है। अर्थात् जगत के अनन्तानन्त कार्य स्वतंत्रतया पुद्गलों करके भी सम्पादित होते है किन्तु वैशेषिक जिन कार्यों का ईश्वर करके किया जाना मान बैठे हैं वे सम्पूर्ण कार्य असंख्यात या अनन्तानन्त आस्रवों के धारी जीवों करके बुद्धिपूर्वक या अबुद्धि पूर्वक बना लिये जाते है छऊ द्रव्यों में अनन्त सामर्थ्य विद्यमान हैं। सूर्य, चन्द्रमा, को नीचे भूमि पर उतार लेना, घोड़े के सींग उपजा देना, जड़ में ज्ञान धर देना आदि असम्भव कार्यों को न तो ईश्वर ही कर सकता है और न कोई जीवात्मा ही या पुद्गल कर सकता है ईश्वर को सर्वशक्तिमान कहना अलीक है अनन्त शक्तिमान् सभी द्रव्य है असख्याती कषाय जातियां अनुसार हुये कर्मो के आस्रवों करके यह संसारी जीव चित्र विचित्र कार्यो का सम्पादन कर देता है इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

जीव एव हि तथा परिणामविशेषकर्मणामास्रवतां तत्कारणानां च हिंसादिपरिणामानामधिकरणतां प्रतिपद्यते न पुनः पुद्गलादिस्तस्य तथापरिणामाभावात्। संरंभादीनां वा क्रोधाद्याविष्टपुरुषकर्तृकाणां तदनुरजनादधिकरणाभावा नीलपटादिवत्।

कारण कि यह संसारी जीव ही तिस प्रकार परिणाम विशेषो करके आगमन कर रहे कर्मों का और उन कर्मो के कारण हो रहे हिंसा, झूंठ, क्रोध, इन्द्रियलोलुपता आदि परिणामों के अधिकरणपन को को प्राप्त हो रहा है किन्तु फिर पुद्गल द्रव्य, काल द्रव्य आदि तो उन आस्रवित कर्मों के और उनके कारण हिंसा आदि परिणामों के अधिकरण नहीं है क्योंकि उन पुद्गल आदिकों के तिस प्रकार आस्रव के अनुकूल परिणाम हो जाने का अभाव है। बात यह है कि क्रोध, असत्यभाषण, आदिक से आलीढ होरहे स्वतंत्र कर्ता जीवों करके किये गये सरम्भ आदि आस्रवों का उस आत्मा के साथ अनुरंजन हो जाने से जीवों के अधिकरणपना बन जाता है जैसे कि नीलपट, लवणमिश्रितव्यंजन आदि है अर्थात्-नील रंग से रंजित कर देने पर जैसे पट नीला हो जाता है आकाश नीला नही होता है नोंन का अनुराग हो जाने से दाल या साग तो नोंन का अधिकरण हो जाते है कसेड़ी, थाली नही। तिसी प्रकर संरंभ या क्रोध आदि का अनुरंजन जीव में हो रहा है।

न चैषां जीवविवर्तानामास्रवादिभावे जीवस्य तद्व्याघातः सर्वथा तेषां तद्भेदाभावात्। नहि नीलगुणस्य नीलिद्रव्यमेवाधिकरणं तत्रैव नीलप्रत्ययप्रसगात्। नीलः पट इति संप्रत्ययात्तु पटस्यापि तदधिकरणभावः सिद्धस्तस्य नीलिद्रव्यानुरंजनान्नीलद्रव्यत्वपरिणामात्तद्भावोपपत्तेः कथंचिदभेदसिद्धेः।

यहाँ कोई शंका करता है कि जीव के परिणाम हो रहे इन संरम्भ आदिकों को यदि आस्रव या उनका कारण आदि होना माना जायगा तब तो जीव के आस्रव आदि होने का उनको व्याघात प्राप्त होगा। अर्थात्—जीव के परिणामों के जो आस्रव हैं वे जीव के आस्रव नहीं कहे जा सकते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह नहीं समझ बैठना क्योंकि सभी प्रकारों से उन जीव विवर्तों के उनको भेद नहीं कह दिया है वे जीव के भी भेद हो सकते है देखिये नील गुण का अधिकरण केवल नील द्रव्य ही नहीं है जो कि दुकानों पर दस रुपया सेर बिकता है यदि नील द्रव्य में ही नील गुण रहता तो उस नील रंग के डेल (ढेल) में ही नीलज्ञान के होने का प्रसंग होता अन्यत्र नील का ज्ञान नहीं होसकता था किन्तु नील से रंगे हुये वस्त्र में भी "यह नील है" ऐसा ज्ञान होता है तिस कारण "कपड़ा नील" ऐसी समीचीन प्रतीति होजाने के कारण कपड़े को भी तो उस नील का अधिरणपना सिद्ध है नीलगुण वाले नीलद्रव्य का पीछे रंग देना हो जाने से उस पट के भी नील द्रव्यपन का परिणाम हो जाता है अतः पट में उस नीलपन के परिणाम की उपपत्ति हो गई है कारण कि नील और नीलवान् में कथंचित् अभेद सम्बन्ध की सिद्धि की जा चुकी है।

सर्वथा तद्भेदेऽपि पटे संयुक्तनीलीसमवायान्नीलगुणस्य नीलः पट इति प्रत्ययो घटत एवेति चेन्न, आत्माकाशादिष्वपि प्रसंगात्। तैर्नीलद्रव्यसंयोगविशेषाभावान्न तत्प्रसंग इति चेत्, स कोऽन्यो विशेषः संयोगस्य तथापरिणामात्। तथाहि, परिणामित्वं हि तंतुषु तत्संयुक्तमन्यत्रोपचारात्। न च नीलः पट इत्युपचरितः प्रत्ययोऽस्खलद्रूपत्वाच्छुक्लः पट इति प्रत्ययवत् तद्बाधकाभावा-विशेषात्। तत्सूक्तं यथा नील्या नीलगुणः पटे नील इति च तस्य तदधिकरणभावस्तथा सरंभा-दिष्वास्रवो जीवेष्वास्रव इति वास्रवस्य तेऽधिकरणं जीवपरिणामानां जीवग्रहणेन ग्रहणादधिकरणं जीवा इत्युपपत्तेः अन्यथा तत्परिणामाग्रहणप्रसंगादिति।

यहाँ गुण और गुणी के भेद को मान रहा वैशेषिक आक्षेप करता है कि उन नील और नील-वान् का सर्वथा भेद मानने पर भी नील रंग से घुले हुये पानी मे डोब दिये गये वस्त्र में संयुक्त हो गये नीली द्रव्य मे नील गुण का समवाय होरहा है अतः कपड़ा नीला ही है यह प्रत्यय संयुक्त समवाय सम्बन्ध से सुघटित हो जाता ही है नील गुण नील में रहा और वस्त्र में नील संयुक्त होरहा है। आचार्य कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो आत्मा, आकाश आदि में भी नीलपने के ज्ञान हो जाने का प्रसंग आजावेगा नील द्रव्य उन आकाश आदि के साथ संयुक्त होरहा है अतः संयुक्त समवाय सम्बन्ध से वस्त्र के समान आत्मा आदिक भी नीले हो जायेंगे जो कि इष्ट नहीं है। यदि वैशेषिक यों कहें कि उन आत्मा, आकाश, आदि के साथ नील द्रव्य का विशेषजाति का संयोग नहीं है केवल प्राप्ति हो जाना मात्र सामान्य संयोग है पट के साथ नील द्रव्य का विशेष संयोग है जो कि हर्र, फिटकिरी, पानी और पट की स्वच्छता आकर्षकता आदि कारणों से विशेष जाति का होजाता है अतः आत्मा नील है यह प्रसंग नहीं आने पाता है यों काणादों के कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि वह संयोग की विशेषता भला तिस प्रकार परिणमन हो जाने के अतिरिक्त दूसरी क्या हो सकती है ? अर्थात् पट की नील स्वरूप परिणति है और आत्मा या आकाश की नील परिणति नहीं है। इसी को स्पष्ट कर और भी यों कह दिया जाता है कि कपड़े के तन्तु-तन्तुओं में वह नीली द्रव्य उपचार के सिवाय मुख्य रूप से संयुक्त हो

रहा है आत्मा आदि में नील द्रव्य उपचार से संयुक्त है किन्तु पट में संयुक्त होकर वह बंध गया है पट नीला है यह ज्ञान उपचरित (गौण) नहीं है क्योंकि यह प्रतीति स्खलित नहीं होती है जैसे कि धौला पट है इस प्रतीति को स्खलित नही होने के कारण अनुपचरित माना जाता है बाधक प्रमाणों का अभाव जैसे धौला कपड़ा इस प्रतीति मे है वैसा ही नीला कपड़ा इस प्रतीति मे भी है कोई अन्तर नही है। अर्थात्—वैशेपिकोंने नील रंग से रंगे हुये कपड़े में नील को उपचरित माना है नील कमल में या नील मणि में जैसे नील रूप का समवाय है वैसा रंगे हुये नील वस्त्र मे नही है "सिंहो माणवकः" "गौर्वाहीकः" "अन्नं वै प्राणाः" के समान "नीलः पटः" भी उपचरित है किन्तु आचार्य समझाते हैं कि संयोग होजाने पर पुनः बंध परिणति अनुसार पट में भी नील का समवाय होजाता है किन्तु आत्मा के साथ नील द्रव्य की बंध परिणति नही होपाती है तिस कारण यह सिद्धान्त बहुत अच्छा कहा जा चुका है कि जिस प्रकार नील द्रव्य का नील गुण उस पट में भी नील बुद्धि को करता हुआ नीला बना देता है इस कारण उस पट को उस नील का अधिकरणपना प्राप्त है तिसी प्रकार संरम्भ आदिकों मे जो आस्रव होरहा है वह जीवों मे ही आस्रव है इस कारण जीव के परिणाम वे संरम्भ आदिक ही आस्रव के अधिकरण है यों कहने पर भी वे जीव आस्रव के अधिकरण हो जाते है "अधिकरणं जीवाजीवाः" इस सूत्र मे जीव पद का ग्रहण करने से जीव के परिणामो का ग्रहण हो जाता है जीव और जीव परिणामों मे कथंचित अभेद है अतः जीव भी आस्रवों के अधिकरण है यह युक्तियों से सिद्ध हो जाता है अन्यथा यानी सूत्र अनुसार जीवों को ही पकड़ा जायेगा तो जीवों के उन संरम्भ आदि परिणामों का ग्रहण नहीं हो सकने का प्रसंग आजावेगा जो कि इष्ट नहीं है यहां तक जीवाधिकरण आस्रव का प्रतिपादन कर दिया गया है।

ततः परमधिकरणमाह ।

आदि के जीवाधिकरण आस्रव का निरूपण हो चुका है उससे परले द्वितीय अजीवाधिकरण का स्पष्ट प्रतिपादन करने के लिये सूत्रकार इस अग्रिम सूत्र को कहते है।

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥९॥

दो भेद वाली निर्वर्तना और चार भेद वाला निक्षेप तथा दो भेद वाला संयोग एवं तीन भेद वाला निसर्ग यों ग्यारह प्रकार का परला अजीवाधिकरण आस्रव है। अर्थात्-जो बनाई जाय वह निर्वर्तना है। निक्षेप का अर्थ स्थापन किया जाना है। जो मिला दिया जाय वह संयोग है और जो प्रवृत्ति में आवे वह निसर्ग है। इस प्रकार इन अजीव अधिकरणों का अवलम्ब पाकर आत्मा के आस्रव उपजता है तिस कारण यह अजीवाधिकरण आस्रव कहा जाता है। भाव में भी उक्त शब्दों की सिद्धि है।

अधिकरणमित्यनुवर्तते । निर्वर्तनादीनां कर्मसाधनं भावो वा सामानाधिकरण्येन वैयाधिकरण्येन वाधिकरणसंबंधः कथंचिद्भेदाभेदोपपत्तेः। द्विचतुर्द्वित्रिभेदा इति द्वन्द्वपूर्वोऽन्यपदार्थनिर्देशः ।

"अधिकरणं जीवाजीवाः" इस सूत्र से अधिकरण इस पद की अनुवृत्ति कर ली जाती है जिससे कि परला अजीवाधिकरण मूलगुण निर्वर्तना आदि ग्यारह भेदों को धार रहा प्रतीत हो जाता है। इस सूत्र में पड़े हुये निर्वर्तना आदि शब्दों की कर्म में प्रत्यय कर सिद्धि कर ली जाय अथवा भाव में युट्,

घञ्, घञ्, घञ्, प्रत्यय कर निर्वर्तना आदि शब्दो का साधन कर लिया जाय। समानाधिकरणपने करके अथवा व्यधिकरणपने करके उद्देश्यदल का विधेयदल होरहे अधिकरण के साथ सम्बन्ध कर लिया जाय क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार उद्देश्य विधेयदलों का कथचित् भेद अभेद आत्मक सम्बन्ध बन रहा है। अर्थात्-ये निर्वर्तना आदि शब्द जब कर्म में प्रत्यय कर साधे गये है तब तो निर्वर्तना और अजीवाधिकरण का समानाधिकरणपने से अन्वय किया जाता है जो निर्वर्तना बनाई जा चुकी है वही तो अधिकरण होरहा आस्रव का अवलम्ब है किन्तु जब निर्वर्तना आदि शब्द भाव में साधे गये सन्ते शुद्ध धातु अर्थ को कह रहे है तब व्यधिकरणपने से सम्बन्ध होगा अधिकरण मे निर्वर्तना आदि रहते हैं यानी इन भावों से अधिकरण विशिष्ट होरहा है "द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः" इस पद का विग्रह यों किया जाय, पहिले "द्वौ च चत्वारश्च द्वौ च त्रयश्च" यों इतरेतर द्वन्द्व समास कर "द्विचतुर्द्वित्रयः" यह पद बना लिया जाय पुनः द्विचतुर्द्वित्रयः भेदाः एषां ते "द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः" यों अन्य पदार्थ को प्रधान करने वाली बहुव्रीहिसमासवृत्ति करते हुये निर्देश हुआ जान लेना चाहिये।

कश्चिदाह–परवचनमनर्थकं पूर्वत्राद्यवचनात्, पूर्वत्राद्यवचनमनर्थकमिह सूत्रे परवचनात्तयोरेकतरवचनाद्द्वितीयस्यार्थापत्तिसिद्धेः पूर्वपरयोरन्योन्याविनाभावित्वात्। न चेयमर्थापत्तिरनैकांतिकी क्वचिद्व्यभिचारचोदनात् सर्वत्र व्यभिचारचोदनायाः प्रयासमात्रत्वात् परस्परापेक्षयोर व्यभिचारात्।

यहाँ कोई पण्डित लम्बा चौड़ा पूर्वपक्ष उठाकर कह रहा है कि इस सूत्र में पर शब्द का कथन करना व्यर्थ है क्योकि पूर्ववर्त्ती "संरम्भ आदि" सूत्र में आद्य शब्द को कण्ठोक्त किया गया है जब संरम्भ आदिक आदि के जीवाधिकरण है तो बिना कहे ही अर्थापत्ति से या परिशेष न्याय से सिद्ध होजाता है कि निर्वर्तना आदिक दूसरे अजीवाधिकरण है संक्षिप्त सूत्र मे ऐसी छोटी छोटी बाते कहा तक कहते फिरोगे। अथवा इस सूत्र में यदि पर शब्द का कथन करते हो तो पहिले के "आद्यं संरम्भ" आदि सूत्र में आद्य शब्द का निरूपण व्यर्थ है क्योंकि उन पर या आद्य दोनों में से किसी एक का कथन कर देने से परिशिष्ट द्वितीय की अर्थापत्ति से ही सिद्धि होजाती है कारण कि पूर्व और पर दोनों का परस्पर में अविनाभावसहितपना है किसी भी एक को कह देने से दूसरे अविनाभावी का विना कहे ही परिज्ञान हो जाता है। कश्चित् के ऊपर यदि कोई यों कहे कि यह अर्थापत्ति तो व्यभिचार दोष वाली है देखिये बादलों के गर्जने से कदाचित मेघ बरस जाता है और कभी नही भी बरसता है इसी प्रकार काली घटा वाले मेघों के घिर जाने पर भी कभी कभी वृष्टि नहीं होपाती है अज्ञात की ज्ञप्ति कराने वाले या सूचना देरहे स्वर, ताराकंप, स्वप्नदर्शन, शकुन होना, आंख लहकना, शनि, राहु, दशायें आदि ज्ञापक सूचक हेतुओं के व्यभिचार होरहे देखे जाते है भरे घड़ो के मिल जाने पर भी कार्य बिगड़ जाते हैं डेरी सूधी आंख लहकने पर भी विपरीत फल मिलता है हथेली के खुजाने पर भी रुपया नहीं मिलता है अतः कोरा-अनुमान (अन्दाज) लगाते फिरना उचित नही है। इस कटाक्ष के उत्तर में कश्चित् की ओर से यह समाधान है कि अर्थापत्ति प्रमाण यह व्यभिचार दोष वाला नहीं है किसी किसी अर्थापत्त्याभास में व्यभिचार का प्रश्न उठा देने से सभी निर्दोष अर्थापत्तियो में भी व्यभिचार आजाने का कुचोद्य उठाना केवल व्यर्थ परिश्रम करते रहना है वृष्टि उत्पादक घन घटाओं से अवश्य वृष्टि होवेगी यदि कोई नहीं वृष्टि बरसाने वाली या आंधी आदि प्रतिबन्धकों वाली मेघ मालाओं को नहीं पहिचान सके तो इस अपनी भूल को

अर्थापत्ति के माथे नहीं मढ़ देना चाहिये जो पदार्थ अविनाभाव अनुसार परस्पर की अपेक्षा को लिये हुए अन्यथानुपपन्न है उनमें कभी व्यभिचार नहीं आता है अतः इस सूत्र का पर शब्द या पूर्व सूत्र का आद्य शब्द व्यर्थ है यह कश्चित् का आक्षेप खड़ा रहता है।

पूर्वपरयोरंतराले मध्यमस्यापि संभवान्नाविनाभाव इत्यप्ययुक्तं, मध्यमस्य पूर्वपरोभयापेक्षत्वात् पूर्वमात्रापेक्षया तस्य परत्वोपपत्तेः परमात्रापेक्षया पूर्वत्वघटनादव्यवहितयोः पूर्वपरयोरविनाभावसिद्धिः।

यहाँ आद्य और पर के अविनाभाव को बिगाड़ता हुआ कोई पण्डित यदि कश्चित् के ऊपर यह कटाक्ष करे कि पूर्व और पर के अन्तराल में मध्यम पदार्थ की भी सम्भावना है अतः पूर्व और पर का अविनाभाव नहीं ठहरा। कश्चित् कहते है कि यह कटाक्ष करना भी अयुक्त है क्योंकि मध्यम तो पूर्व, पर, इन दोनों की अपेक्षा रखता है अतः पूर्व पर दोनों के साथ भले ही मध्यम का अविनाभाव समझ लिया जाय एतावता पूर्व और पर के अविनाभाव में कोई क्षति नहीं पड़ती है। एक बात यह भी है कि मध्यम भी पूर्व और पर दोनों में अन्तःप्रविष्ट हो जाता है जैसे कि भूत भविष्य कालों में वर्तमान काल गर्भित होजाता है केवल पूर्व की अपेक्षा से उस मध्यम को परपना है और केवल पर की अपेक्षा से मध्यम को पूर्वपना घटित होरहा है यों अव्यवहित होरहे पूर्व पर दोनों का ही अविनाभाव सिद्ध हुआ अर्थातक कश्चित् ही कहे जा रहे हैं।

परशब्दस्य संबंधार्थत्वान्नानर्थकयमित्यपि न साधीयो निवर्त्याभवात्। परसंबधमधिकरणमिति वचन हि स्वसंबंधमधिकरण निवर्तयति न चेह तदस्ति, तथावचनाभावात्। एतेन प्रकृष्टवाचित्व परशब्दस्य प्रत्युक्त तन्निवर्त्यस्याप्रकृष्टस्यावचनात्। इष्टवाचित्वमपि तादृशमेवानिष्टस्य निवर्त्यस्याभावात्। न च प्रकारांतरमस्ति यतोऽत्र परवचनमर्थवत्स्यादिति।

सूत्रकार द्वारा पर शब्द का व्यर्थ ही निरूपण होजाने पर यदि कोई यों लीपा पोती करे कि यह पर शब्द का प्रयोग तो सम्बन्ध के लिये है बिना सम्बन्ध के मारा मारा फिरता। अतः व्यर्थ नहीं है। अर्थात्-पर शब्द नहीं होता तो इस सूत्र का सम्बन्ध नहीं होसकता था "वाक्यं तु संबन्धाभिधेयवद्भवति"। अथवा सूत्रकार को निर्वर्तना आदि का अजीवाधिकरण से सम्बन्ध करना है अतः सम्बन्ध करने के लिये यहाँ पर शब्द कहा गया है। कश्चित् कहते है कि पर शब्द की सार्थकता के लिये किया गया यह समाधान भी अधिक श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि कोई निवृत्ति करने योग्य या व्यवच्छेद होता तब तो किसी पद का प्रयोग करना सार्थक है। जब यहाँ कोई निर्वर्तनीय नहीं है तो बिना प्रयत्न के ही निर्वर्तना आदि का अजीवाधिकरण के साथ सम्बन्ध जुड़ जायेगा। संरम्भ आदि जीवाधिकरण के साथ इन निर्वर्तना आदि के सम्बन्ध होजाने का भय तो रहा नहीं क्योंकि पूर्व सूत्र में संरम्भ आदि के साथ आद्य शब्द पहिले से ही लग बैठा है तिस कारण परिशेष से यहाँ अजीवाधिकरण ही लागू होगा पर शब्द व्यर्थ पड़ा। बात यह है कि पर शब्द का प्रयोग करने पर पर सम्बन्धी अधिकरण यह कथन करना नियमसे स्व के साथ सम्बन्ध कर रहे अधिकरण की तो निवृत्ति कर सकता है अन्य को नहीं किन्तु यहाँ वह स्व अधिकरण का प्रकरण ही नहीं है क्योंकि तिस प्रकार स्व अधिकरण का कथन नहीं किया गया है। कश्चित्

ही कहें जा रहे हैं कि इस उक्त कथन करके यदि पर शब्दको प्रकृष्ट अर्थ का वाचक भी मान लिया जाय तो भी उस पर शब्द की सार्थकता का निराकरण हो जाता है क्योंकि उस प्रकृष्ट से निराला निवर्तनीय अपकृष्ट का तो यहाँ कोई निरूपण नहीं किया गया है अतः प्रकृष्ट अर्थ की अपेक्षा भी पर शब्द सार्थक नहीं होसका। यदि पर शब्द को इष्ट अर्थ का वाची माना जाय तो भी वह वैसा का वैसा ही निराकृत होजाता है क्योंकि यहाँ कोई निवर्तनीय अनिष्ट नहीं है। यदि यहाँ कोई अनिष्ट होता तो उस अनिष्ट की निवृत्ति करने के लिये इष्टवाची पर शब्द का कथन सार्थक होता भले ही "पर धाम गतः" के पर का अर्थ इष्ट कर लिया जाय किन्तु फल कुछ नहीं निकला। इनके अतिरिक्त अब कोई पर शब्द की सार्थकता को पुष्ट करने वाला अन्य प्रकार शेष नहीं रहा है जिससे कि यह पर शब्द का प्रयोग करना सफल होजाता। यहाँ तक कश्चित् पण्डित सूत्रकार के पर शब्द की व्यर्थता को पुष्ट कर चुका है।

सोऽप्ययुक्तवादी, परवचनस्यान्यार्थत्वात्। परं जीवाधिकरणादजीवाधिकरणमित्यर्थः तेनाद्याज्जीवाधिकरणादिदमपरं जीवाधिकरणमिति निवर्तितं स्यात्। जीवाजीवप्रकरणात्तत्सिद्धिरिति चेत्, ततोऽन्यस्याजीवस्यासंभवात्। इष्टवाचित्वाद्वा परशब्दस्य नानर्थक्यमनिष्टस्य निर्वर्तनादनिष्टजीवाधिकरणत्वस्य निर्वर्त्यत्वात्। एतदेवाह।

अब ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि वह बड़ी देर से पर शब्द का अनर्थक कह रहा कश्चित् पण्डित भी युक्तिपूर्वक कहने की टेव रखने वाला नहीं है क्योंकि पर शब्द का कथन करना यहां "अन्य" इस अर्थ के लिये है जिसका तात्पर्य अर्थ यह निकलता है कि जीवाधिकरण से अजीवाधिकरण आस्रव निराला है तिस अन्य अर्थ को कहने वाले पर शब्द करके आदि के जीवाधिकरण से यह अजीवाधिकरण भिन्न है। इस प्रकार यहां "पर" शब्द का प्रयोग कर देने से जीवाधिकरण आस्रव की निवृत्ति कर दी जावेगी, उन संरम्भ आदि से ये निर्वर्तना आदि न्यारे हैं यह भी पर शब्द करके समझ लिया जाय। यदि यहां कोई यों कहें कि "अधिकरण जीवाजीवाः" इस सूत्र अनुसार जीव और अजीव का प्रकरण होने से ही उस जीवाधिकरण से अजीवाधिकरण के भिन्न पने की सिद्धि होजावेगी यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उस प्रकरण से तो अजीव को अन्य हो जाने का असम्भव है जीवमें भी निर्वर्तना आदिक घटित होजाते हैं। इस समाधान में कुछ अस्वरस होने से वा शब्द करके दूसरा समाधान करते हैं कि अथवा इष्ट का वाचक होने से पर शब्द का व्यर्थपना नहीं है पहिले जो कश्चित् ने इस समाधान पर आपेक्ष किया था कि यहां कोई निवर्तनीय नहीं है उस पर हमारा यह कहना है कि इष्ट वाची पर शब्द करके अनिष्ट की निवृत्ति होरही है। निर्वर्तना आदि में अनिष्ट होरहे जीवाधिकरणपन की पर करके निवृत्ति कर दी जाती है। इसी बात को ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा यों स्पष्ट कर कहते हैं। एक बात यहां यह भी समझ लेनी चाहिये कि पूर्व और पर के अन्तराल में पाया जारहा मध्यम पदार्थ भी वस्तुभूत है लोक या पूर्ण आकाश के मध्यप्रदेश आठ यथार्थ हैं। भूत और भविष्य काल के बीच में एक समय वर्तमान काल भी सत्यार्थ है, कोरा आपेक्षिक नहीं है। जगत् के छोटे से छोटे कार्य की पूर्ण उत्पत्ति होने में एक समय अवश्य लगजाता है अतः तीव्र गति से चौदह राजू तक या मन्द गति से निकटवर्ती दूसरे प्रदेश तक परमाणु की जाने की क्रिया से परिच्छिन्न हुआ व्यवहार काल का सब से छोटा अखण्ड अंश एक समय वर्तमान काल वास्तविक है। कल्पित नहीं।

ततोऽधिकरणं प्रोक्तं परं निर्वर्तनादयः ।
द्व्यादिभेदास्तदस्य स्यादजीवात्मकमेव हि ॥१॥

उन पूर्व सूत्रोक्त संरम्भ आदि जीनाधिकरण से भिन्न होरहे ये निर्वर्तना आदिक अधिकरण सूत्रकार महाराज करके बहुत अच्छे कहे जा चुके है तिस कारण इस अजीवाधिकरण के दो, चार आदि भेद वाले निर्वर्तना, निक्षेप, आदि नियम से अजीवस्वरूप ही है।

निर्वर्तना द्विधा, मूलोत्तरभेदात्। निक्षेपश्चतुर्धा, अप्रत्यवेक्षणदुःप्रमार्जनसहसानाभोगभेदात्। त एते निर्वर्तनादयो द्व्यादिभेदाः परमाद्यजीवाधिकरणादिष्टमधिकरणमस्याजीवात्मकत्वात्।

मूलगुण निर्वर्तना अधिकरण और उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण इन भेदों से निर्वर्तना दो प्रकार की है। मूलगुणनिर्वर्तना अधिकरण के शरीर, वचन, मन, प्राण, और अपान ये पांचभेद है तथा काष्ठ, पाषाण की मूर्तियां बनाना या स्त्री, पशु, पक्षी, मनुष्यों आदि के चित्र निर्माण करना यों उत्तरगुण निर्वर्तना अधिकरण आस्रव अनेक प्रकार हैं तथा अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण, दुःप्रमार्जननिक्षेपाधिकरण, सहसानिक्षेपाधिकरण, अनाभोगनिक्षेपाधिकरण इन भेदों से निक्षेप चार प्रकारका है। जन्तु है या नहीं है इस प्रकार चक्षु से नहीं देख कर निक्षेप और कोमल उपकरण की नहीं अपेक्षा रखते हुये खोटे प्रमार्जन अनुसार निक्षेप कर देना तथा बिना विचारे सहसा मल, मूत्र, पात्र आदि का निक्षेप कर देना तथैव बिना देखे उपकरण आदि का स्थापन कर देना ये निक्षेप अधिकरण है। खाने पीने की वस्तुओं के संयोग का अधिकरण और अन्य उपकरणों के संयोग का अधिकरण यों दो प्रकार संयोग है। काय, वचन, मन इन तीन का निसर्ग यानी मनचाहा कहीं भी मन चलाना या कुछ भी वचन बोल देना या चाहे जहाँ शरीर का निसर्ग कर देना यों तीन प्रकार निसर्गाधिकरण हैं। ये सब दो आदि भेद वाले वे निर्वर्तना आदि तो आदि के जीवाधिकरण से न्यारे या इष्ट होरहे अधिकरण है इनको अजीव आत्मक होने से अजीवाधिकरणपना इष्ट किया गया है।

नन्वेवं जीवाजीवाधिकरणद्वैविध्याद् द्वावेवास्रवौ स्यातां न पुनरिंद्रियादयो बहुप्रकाराः कथंचिदास्रवाः स्युः सर्वांश्च कषायानपेक्षानपि वा जीवाजीवानाश्रित्य ते प्रवर्तेरन्नित्यारेकायामिदमाह।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि इस प्रकार जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण यों दो प्रकार अधिकरणों के होजाने से आस्रव भी दो ही होगे फिर इन्द्रिय, कषाय, आदिक बहुत प्रकार के आस्रव तो कैसे भी नहीं होसकते है अथवा यो छोटे-छोटे कारणों से आस्रवों के भेद कर दिये जायेंगे तो कषायों की नहीं अपेक्षा रखने वाले भी जीवों और अजीवों का आश्रय पाकर वे आस्रव प्रवर्त जावेंगे, इस प्रकार आशंका के प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधानार्थ इस अग्रिम वार्त्तिक को कहते है।

जीवाजीवान्समाश्रित्य कषायानुग्रहान्वितान्।
आस्रवा बहुधा भिन्नाः स्युर्नृणामिंद्रियादयः ॥२॥

कषायों की सहकारिता से सहित होरहे जीव और अजीवों का अच्छा आश्रय लेकर संसारी जीवों के इन्द्रिय, कषाय, आदिक हो रहे आस्रव बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। अर्थात्-अन्त-

रंग बहिरंग कारणों अनुसार हुये आस्रवों के अनेक भेद हैं। कषाय रहित जीवों के साम्परायिक आस्रव नहीं होने पाता है।

बहुविधक्रोधादिकषायानुग्रहीतात्मनां जीवाजीवाधिकरणानां बहुप्रकारत्वोपपत्तेस्तदाश्रितानामिंद्रियाद्यास्रवाणां बहुप्रकारत्वसिद्धिः। तत एव मुक्तात्मनोऽकषायवतो वा न तदास्रवप्रसंगः।

बहुत प्रकार यहाँ तक कि असंख्याते प्रकार के क्रोध आदि कषायों से अनुग्रह को प्राप्त होरहे जीवों के आस्रव के अवलम्बकारण जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण बहुत प्रकार बन रहे हैं अथवा अनेक प्रकार के क्रोधादि कषायों से अनुग्रहीत स्वरूप जीवाधिकरणों और अजीवाधिकरणों का बहुत प्रकार सहितपना उचित है। जीवाधिकरणों पर जैसे कषायों का अनुग्रह है उसी प्रकार भक्त, पान, उपकरण, शरीर आदि पर भी कषायों की सहकारिता है। तभी ये अजीव अधिकरण अनेक आस्रव हो जाते हैं। हाँ, जिन अजीवों पर कषायों का अनुग्रह नहीं है वे अजीव कथमपि आस्रव नहीं हैं। कषाय रहित जीवों के कोई भी जीव या अजीव अधिकरण आस्रव नहीं हैं। इस कारण उन अधिकरणों के आश्रित होरहे इन्द्रिय आदि आस्रवों के बहुत प्रकारपन की सिद्धि होजाती है। तिस ही कारण से यानी कषायों की सहकारिता मिलने पर इन्द्रिय आदि आस्रवों के होने का नियम होने से मुक्त जीव सिद्ध परमेष्ठियों के अथवा कषायोदय से रहित होरहे ग्यारहमे, तेरहमे, चौदहमे गुणस्थान वाले अकषाय जीवों के उस साम्परायिक आस्रव हो जाने का प्रसंग नहीं आता है।

कुतस्ते तथा सिद्धा एवेत्याह।

किस कारण से वे साम्परायिक आस्रव के भेद मान लिये गये इन्द्रिय आदिक तिस प्रकार यानी आस्रवभेदपने करके सिद्ध ही हैं? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधानार्थ इस अगली वार्तिक को कहते हैं।

बाधकाभावनिर्णीतेस्तथा सर्वत्र सर्वदा।
सर्वेषां स्वेष्टवत्सिद्धास्तीव्रत्वादिविशिष्टवत् ॥३॥

सभी देशों में, सभी कालों में और सभी जीवों के तिस प्रकार इन्द्रिय आदि को आस्रवपन की सिद्धि के बाधक प्रमाणों के अभाव का निर्णय होरहा है जैसे कि तीव्रत्व, मन्दत्व, आदि धर्मों से विशिष्ट होरहे साम्परायिक आस्रव के भेदों का निर्णय होरहा है सभी वादी प्रतिवादियों के यहाँ अपने-अपने अभीष्ट पदार्थों की सिद्धि तिसी प्रकार यानी "असम्भवद्बाधकत्वात" होती है। विशेषतया परोक्ष पदार्थों की सिद्धि तो बाधकों का असम्भव होजाने से ही होती है। कोई करोड़पति सेठ अपने सभी रुपयों को सबके सम्मुख उछालता या गिनाता नहीं फिरता है, मानसिक आधियों या पीड़ाओं को कोई हाथों पर धर कर नहीं दिखला देता है, सभी पापाचार या पुण्याचार सब के प्रत्यक्ष गोचर नहीं होरहे हैं, द्रव्यों के उदर में अनेक स्वभाव, अविभाग प्रतिच्छेद, परिणमन, छिपे हुये पड़े हैं बाधकों का असम्भव होजाने से ही उनका सद्भाव मान लिया जाता है।

यथैव हि तीव्रमंदत्वादिविशिष्टाः सांपरायिकास्रवस्य भेदाः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्सिद्धास्तथा जीवाजीवाधिकरणाः सर्वस्य तत एवेष्टसिद्धेः।

कारण की जिस प्रकार तीव्रत्व, मंदत्व, आदि विशेषणों से सहित होरहे साम्परायिक आस्रव के अनेक भेद उस बाधक प्रमाणों के असम्भवने का अच्छा निर्णय होजाने से सिद्ध हैं उसी प्रकार जीवाधिकरण अजीवाधिकरण ये भेद भी असम्भवद्बाधक होजाने से सिद्ध होजाते है। सभी विद्वानों के यहाँ उस बाधक प्रमाणों का असम्भव होजाने से ही अपने अभीष्ट पदार्थों की सिद्धि कर ली जाती है। अर्थात्—क्वचित्, कदाचित्, किसी, एक व्यक्ति को बाधकप्रमाणों का असम्भव तो भ्रान्ति ज्ञानों में भी होजाता है सीप में चाँदी का ज्ञान करने वाले पुरुष के उस समय वहां कोई बाधक प्रमाण नहीं उपजता है। बहुत से व्यक्तियों के कई भ्रान्ति ज्ञानों में तो उस पूरे जन्म में भी बाधा खड़ी नहीं होती है। रेल गाड़ी में जा रहे किसी मनुष्य को कासों में जल का ज्ञान हो गया फिर उस मार्ग से कभी लौटना हुआ ही नहीं जिससे कि निर्णय किया जाता। केई भोली स्त्रियां पीतल की अंगूठी को सोने की ही जन्म भर समझती रहीं बेचने या परखाने का अवसर भी नहीं मिला। अतः सभी कालों में, सभी देशों में, और सभी व्यक्तियों के, बाधकाभाव को प्रमाणता का प्रयोजक कहा गया है। यहां भी सब स्थानों पर सभी कालों में सभी जीवों के बाधक प्रमाणों का असम्भव हो जाने से साम्परायिक आस्रव के भेदों की सिद्धि कर दी गई है।

एवं भूमा कर्मणामास्रवो यं सामान्येन ख्यापितः सांपरायी।
तत्सामर्थ्यादन्यमीर्यापथस्य प्राहुर्ध्वस्ताशेषदोषाश्रयस्य ॥४॥

यों उक्त प्रकार सामान्य रूप से व्याख्या कर प्रसिद्ध कर दिया गया यह कर्मों का साम्परायिक आस्रव बहुत प्रकार का है। उस साम्परायिक आस्रव के कथन की सामर्थ्य से ही विना कहे यह जान लिया जाता है कि जिनने अनेक दोषों का आस्रवपना नष्ट कर दिया है ऐसे ईर्यापथ के आस्रव को सूत्रकार महाराज बहुत अच्छा भिन्न कह रहे हैं। अर्थात्—यदि कोई यों कहे कि "इन्द्रियकषायाः" आदि इस सूत्र से प्रारम्भ कर पांच सूत्रों में श्री उमास्वामी महाराज ने साम्परायिक आस्रव का ही विस्तृत निरूपण किया है दूसरे ईर्यापथ आस्रव के भेदों का कोई व्याख्यान नहीं किया है, इस पर ग्रन्थकार का कहना है कि अनेक कारण या विशेषणों से जितने साम्परायिक के भेद हो जाते हैं उतने ईर्यापथ के नहीं। ग्यारहमे, बारहमे, तेरहमे, गुणस्थानों में केवल सातावेदनीय कर्म का एक समय स्थिति वाला आस्रव होता है जो कि राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, अदान, नीचाचरण, भवधारण करना, शरीर रचना करना आदि दोषों से रहित है अतः परिशेष न्याय से ही जान लिया जाता है कि सूत्रकार साम्परायिक से ईर्यापथ को भिन्न कह रहे हैं जो प्रमेय अर्थापत्ति से लब्ध हो जाता है उसको थोड़े शब्दों द्वारा अपरिमित अर्थ को कहने वाले सूत्रों करके कण्ठोक्त करना समुचित नहीं है। ग्रन्थकार ने इसी रहस्य को इस शालिनी वृत्त द्वारा ध्वनित कर दिया है।

यथोक्तप्रकारेण सकषायस्यात्मनः सामान्यताऽस्यास्रवस्य ख्यापने सामर्थ्यादकषायस्य तैरीर्यापथास्रवसिद्धिरिति न तत्र सूत्रकाराः सूत्रितवंतः, सामर्थ्यसिद्धस्य सूत्रणे फलाभावादतिप्रसक्तेश्च। विशेषः पुनरीर्यापथास्रवस्याकषाययोगविशेषाद्बोद्धव्यः।

कषाय सहित जीवों के होरहे सामान्य रूप से आम्नाय अनुसार पूर्व कथित प्रकारों करके साम्परायिक आस्रव का विज्ञापन कर चुकने पर बिना कहे ही सामर्थ्य से उन्हीं सूत्रों करके कषाय रहित जीव के ईर्यापथ आस्रव की सिद्धि होजाती है इस कारण सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज वहाँ सूत्रों

द्वारा ईर्यापथ का निरूपण नहीं कर चुके हैं। अर्थात्-ईर्यापथ का व्याख्यान करने के लिये न्यारे सूत्रो के बनाने की आवश्यकता नहीं है। शब्दों की सामर्थ्य से ही जो पदार्थ अर्थापत्ति या परिशेष द्वारा सिद्ध हो जाता है उसको सूत्रों करके सूचन करने में कोई फल विशेष नहीं है। दूसरा दोष यो भी है यों बड़ा भारी अतिप्रसंग भी होजायेगा अर्थात्-छोटे-छोटे प्रमेयों को भी यदि सूत्रों करके कहा जायेगा तो क्रिया, कारक सभी पदों का प्रयोग करना अनिवार्य होगा अनुवृत्ति, आकर्षण, अध्याहार, अधिकार, उपस्कार, इनके द्वारा प्राप्त होचुके अर्थोंको कहने के लिये भी सूत्र में अनेक पदो का प्रयोग करना पड़ेगा यों सूत्र क्या वह विस्तृत टीकाग्रन्थ बन जायेगा, पुनरुक्त दोषों की भरमार आपड़ेगी अतः सामर्थ्य से सिद्ध होरहे पदार्थ के लिये मुनि का कर्म मौनव्रत ही श्रेष्ठ है। श्री माणिक्यनन्दि आचार्य ने बहुत अच्छा लिखा है "तत्परमभिधीयमानं साध्यसाधने संदेहयति" व्यर्थ अधिक बोलना अच्छा नहीं है, गम्भीर अल्प उच्चारण करने से ही वचनों की शक्तियाँ रक्षित रहती हैं उदात्त अर्थ वाले पद की विशद व्याख्या कर चेथरा कर देनेसे श्रोताओं की ऊहापोह शालिनी बुद्धि का विकास नहीं होने पाता है अन्न का कुटकर, पिस कर, मड़ कर, सिककर, झुरकुट होचुका है फिर भी रोटी, पूड़ी, पुआ, गूझा, आदि को पुनः शिला लोढी करके बट कर या खल्लड़ से कूट कर खाने वालो का वह आनन्द नहीं आ पाता है जो कि स्वकीय दाँतों से चबाकर, लार मिलाते हुये भोक्ता को आस्वादन का सुख मिलता है हाँ दन्तरहित बुड्ढों की बात न्यारी है। अतः ईर्यापथ को विशेष रूप से कहने की सूत्रकार ने आवश्यकता नहीं समझी है। ईर्यापथ आस्रव के विशेषों को पुनः कषायरहित पन और योगों की विशेषताओं से समझ लेना चाहिये। बड़ी अवगाहना वाले या प्रकृष्ट परिस्पन्दवाले मुनि के अधिक सातावेदनीय कर्म प्रदेशो का आस्रव होगा, मन्द योग होने पर अल्प ईर्यापथ आस्रव होगा। कषायों की उपशान्ति और क्षीणता से भी सम्भवतः ईर्यापथ मे अन्तर पड़ जाय जैसे कि ग्यारहमे या बारहमे गुणस्थान वाले मुनि की निर्जरा मे अन्तर है।

इति षष्ठाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

इस प्रकार छठमे अध्याय का प्रकरणों का समुदाय स्वरूप प्रथम आह्निक यहाँ तक परिपूर्ण हुआ।

बीजांकुरवदनादी भावद्रव्यास्रवौ मिथो हेतू।
संक्लेशविशुद्ध्यङ्गौ भ्रमति भवे जीव आत्मसात्कुर्वन् ॥१॥

सामान्य रूप से कर्मों के आस्रवो के भेदों को सूत्रकार कह चुके है। अब कोई जिज्ञासु पूँछता है कि सम्पूर्ण साम्परायिक आस्रवों को आत्मा क्या एक ही प्रकार के प्रणिधान करके उपार्जन कर लेता है? अथवा क्या अनेक कर्मों के आस्रवणार्थ आत्मा के विशेष व्यापार होते है? बताओ ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर कर्मों के विशेष आस्रवभेदों के हेतुभूत आत्मपरिणामों की विवेचना करते हुये सूत्रकार प्रथम ही आदि के ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मो के आस्रव भेदों की प्रतिपत्ति कराने के लिये इस सूत्र को कहते हैं।

तत्प्रदोषनिन्हवमात्सर्यांतरायासादनोपघाताज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

उन ज्ञान और दर्शनों में किये गये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के आस्रव हैं। अर्थात्—अपने या दूसरों के ज्ञान और दर्शनों में अथवा ज्ञानवान्, दर्शनवान्, जीवों में एवं ज्ञान या दर्शन के कारणों में जो प्रदोष आदि किये जायेंगे उनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों का आस्रव होगा यानी ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों में अनुभाग रस अधिक पड़ेगा, दूषितआत्मा को पिशुनता (चुगली करना) परिणति तो प्रदोष है जैसे कि कोई पुरुष ज्ञानवान, दर्शनवान पुरुषों की या सज्जनों के ज्ञान दर्शन गुणों की प्रशंसा कर रहा है उसको सुन कर अन्य कोई खोटा पुरुष पिशुनता दोष अनुसार उन सद्गुणों की प्रशंसा नहीं करता है यह पिशुनतापूर्ण बड़ा भारी दोष प्रदोष है। ज्ञान दर्शन अथवा इनके साधन पुस्तक, विद्यालय, चश्मा, अञ्जन आदि के विद्यमान होने पर भी "नहीं जानता हूं नहीं हैं" इत्यादि कथन कर देना निह्नव है। देने योग्य भी अभ्यस्त विज्ञान को किसी निन्द्यकारणवश दूसरे को जो नहीं देना है वह मात्सर्य है। ज्ञान का व्यवच्छेद करना अन्तराय है। प्रशस्त ज्ञान का वचन, कायों करके विनय गुण कीर्तन प्रकाशन नहीं करना आसादन है। प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगा देना उपघात है। ये छः दोष यदि ज्ञान में होंगे तो ज्ञानावरण के और सत्तालोचन आत्मक दर्शन में होंगे तो दर्शनावरण कर्म का आस्रव कराने वाले समझे जायेंगे।

आस्रवा इति संबंधः। के पुनः प्रदोषादयो ज्ञानदर्शनयोरित्युच्यते—कस्यचित्तत्कीर्तनानंतरमनभिव्याहरतोऽतःपैशुन्यं प्रदोषः, परातिसंधानतो व्यपलापो निह्नवः, यावद्याथावद्देयस्याप्रदानं मात्सर्यं विच्छेदकरणमंतरायः, वाक्कायाभ्यां ज्ञानवर्जनमासादनं, प्रशस्तस्यापि दूषणमुपघातः। न चासादनमेव स्याद्दूषणं सतो विनयाद्यनुष्ठानलक्षणत्वात्।

"आस्रवाः" इस शब्द का यहाँ "तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यांतरायासादनोपघाताः" के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिये "सोपस्काराणि वाक्यानि" वाक्य अपने छः कारक या यथायोग्य न्यून कारकों के अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये अश्रूयमाण, उपयोगी, शब्दों का यहां वहां से आकर्षण कर लेते है चाहे तो "स आस्रवः" इस सूत्र से भी आस्रव शब्द का मण्डूकप्लुति न्याय अनुसार सम्बन्ध किया जा सकता है अतः उन ज्ञान और दर्शनों के विषय में हुये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, और उपघात ये ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्मों के आस्रव है यह इस सूत्र का अर्थ होजाता है। कोई जिज्ञासु पूंछता है कि वे ज्ञान और दर्शन में होने वाले प्रदोष आदि फिर कौन से है ? जो कि ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रवक हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार यों समाधान कहते है। साक्षात् या परम्परया मोक्ष प्राप्ति के कारण होरहे उन ज्ञानों या दर्शनों का कीर्तन करने पर पश्चात् किसी एक असहिष्णु कषायवान्, पिशुनता की टेव रखने वाले, जीवका अन्तरंग में पिशुनतास्वरूप परिणाम प्रदोष है। दूसरे के किसी छोटे से निमित्त का अभिप्राय कर ज्ञान का अपलाप (होते हुये मुकर जाना) करना निह्नव है। जो कुछ भी जिस भी किसी प्रकार से देने योग्य ज्ञान या दर्शन का अच्छा दान नहीं करना मात्सर्य है। अर्थात्—स्वयं ज्ञान का अच्छा अभ्यास कर लिया है वह ज्ञान दूसरों को देने योग्य भी है कोई गोप्य या गर्हणीय नहीं है विनीत अभिलाषुक पात्र भी ज्ञानदान योग्य उपस्थित हैं ऐसी दशा में जो ज्ञान को नहीं दिया जाता है वह मात्सर्य (ईर्षा डाह) है। अपनी कलुषता से समीचीन ज्ञानों के विच्छेद का कर देना अन्तराय है। प्रशस्त ज्ञान का काय या वचन कर के वर्जन करना आसादन है। प्रशंसाप्राप्त भी ज्ञान को दूषण लगा देना उपघात है। यदि यहां कोई यों शंका उठावे कि ऐसा लक्षण करने पर तो

उपघात विचारा आसादन दूषण ही हुआ, आचार्य कहते हैं कि यह नहीं कह सकते हो क्योंकि ज्ञान गुण को प्रशस्त जानते हुये भी विनय प्रकाश, प्रशंसावचन आदि नहीं करना आसादन का लक्षण है और उपघात तो ज्ञान इसका "अज्ञान या कुज्ञान ही है" इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के नाश कर देने का अभिप्राय रखना है। यों प्रदोष आदि के निर्दोष लक्षण हैं।

तदिति ज्ञानदर्शनयोः प्रतिनिर्देशः सामर्थ्यादन्यस्याश्रुतेः। ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रवास्तत्प्रदोषादयो ज्ञानदर्शनप्रदोषादय इत्यभिसंबंधात्। समासे गुणीभूतयोरपि ज्ञानदर्शनयोरार्थेन न्यायेन प्रधानत्वात् तच्छब्देन परामर्शोपपत्तिः।

सूत्र में पड़े हुये पूर्व परामर्शक तत् शब्द करके ज्ञान और दर्शन का स्मृति पूर्वक कथन हो जाता है। कण्ठोक्त विधेयदल में पड़े हुये "ज्ञानदर्शनावरणयोः" इस शब्द की सामर्थ्य से उद्देश्य दल के तत् शब्द द्वारा ज्ञान दर्शनों का प्रतिनिर्देश हो जाता है। पूर्व सूत्र मे कहे गये निर्वर्तना आदि का नही। क्योंकि श्रौत और अनुमित में श्रौत विधि बलवान् है यहां अन्य किसी शब्द का प्रकरणोपयोगी श्रुतज्ञान के अनुकूल श्रवण नहीं हो रहा है। उनके प्रदोप आदि अर्थात्—ज्ञान और दर्शन के प्रदोप आदिक तो ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव है। इस प्रकार पदों का उद्देश्य विधेय दलों अनुसार सम्बन्ध हो जाने से विना कहे सामर्थ्य करके तत् पद के निर्दिष्ट अर्थ ज्ञान और दर्शन समझ लिये जाते है। यद्यपि "ज्ञानदर्शनावरणयोः" इस समासघटित पद मे ज्ञान और दर्शन गौण हो चुके है क्योंकि "ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने,ज्ञानदर्शनयोः आवरणे इति ज्ञानदर्शनावरणे" यों द्वन्द्व समास करते हुये पुनः तत्पुरुषसमास मे उत्तर पदार्थ प्रधान हो जाता है और पूर्व पदाथ गौण हो जाते है तथापि प्रकरण प्राप्त अर्थ सम्बन्धी न्याय करके ज्ञान और दर्शन की प्रधानता है। न्याय शास्त्र मे शब्द सम्बन्धी न्याय करके तत्पुरुष समास के उत्तरपद की हो प्रधानता विवक्षित नहीं है अतः तत शब्द करके ज्ञान और दर्शन का परामर्श होना बन जाता है जो ज्ञान या ज्ञानवान अथवा ज्ञान साधन का अवलम्ब लेकर प्रदोप आदि किये गये है वे ज्ञानावरण कर्मो के आगमन हेतु है और सामान्य सत्ता आलोचनस्वरूप दर्शन या दर्शनवाले जीव अथवा दर्शन के साधनों का अवलम्ब लेकर प्रदोप आदि किये जायेगे वे दर्शनावरण कर्मो का आस्रव करावेगे। ये प्रदोप आदि उपलक्षण है अन्य भी आचार्य, उपाध्याय, पाठक, गुरुओं के साथ शत्रु भाव, अकाल मे अध्ययन करना, अरुचि पूर्वक पढना, पढते हुये भी आलस्य करना, आदर नहीं रखते हुये तत्त्वार्थ सुनना, अपने कुत्सित पक्ष को पकड़े रहना, सत्पक्ष को छोड़ देना, कपट से ज्ञानाभ्यास करना, पाण्डित्य का कोरा अभिमान करना, आदिक भी ज्ञानावरण के आस्रव हैं इसी प्रकार देव या गुरु के दर्शन में मात्सर्य करना, किसी के दर्शन मे अन्तराय डालना, आंखों को हानि पहुंचाना, दीर्घ निद्रा, आलस्य, सम्यग्दृष्टि को दूषण लगाना, आदि दर्शनावरण के आस्रव माने जाते हैं।

सामान्यतः सर्वकर्मास्रवस्येंद्रियाव्रतादिरूपस्य वचनादिह भूयोऽपि तत्कथनं पुनरुक्तमेवेत्यारेकायामिदमुच्यते।

यहाँ कोई आशंका उठाता है कि सामान्य रूप से सम्पूर्ण कर्म एकसौ बीसों के आस्रव इन्द्रिय, अव्रत, आदि स्वरूप का कथन पहिले ही "इन्द्रियकषाया" आदि सूत्र करके कर दिया है फिर भी इस सूत्र

करके उन आस्रवों का कथन करना तो पुनरुक्त दोष ही है इस प्रकार आशंका प्रवर्तने पर ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी करके यह समाधान कहा जाता है।

विशेषेण पुनर्ज्ञानदृष्ट्यावरणयोर्मताः।
तत्प्रदोषादयः पुंसामास्रवास्तेऽनुभागगाः ॥१॥

विशेष करके सूत्रकार द्वारा जीवों के फिर ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मो के आस्रव होरहे जो तत्प्रदोष, तन्निन्हव, आदिक माने जा चुके हैं वे सब आस्रव अनुभाग को प्राप्त होरहे सन्ते समझ लेने चाहिये। भावार्थ—तत्प्रदोष आदि करके ज्ञानावरण आदि का आस्रव होरहे अवसर पर अन्य भी वेद-नीय आदि कर्म आते रहते हैं किन्तु प्रदोष आदि के होने पर ज्ञानावरण कर्मों से अनुभाग अधिक पड़ेगा शेष कर्मों में न्यून अनुभाग बंध होगा अतः प्रदोष आदि करके ज्ञानावरण कर्मों के प्रकृतिबंध और प्रदेश बंध होजाने का नियम नहीं है फिर भी अनुभाग बंध का नियम कर देने से तत्प्रदोष आदि और ज्ञाना-वरण आदि कर्मों के आस्रव का कार्य कारण भाव विचार लिया जाता है।

सामान्यतोऽभिहितानामप्यास्रवाणां पुनरभिधानं विशेषतः प्रत्येकं ज्ञानावरणादीनामष्टानाम-प्यास्रवप्रतिपत्त्यर्थम्। एते वास्रवाः सर्वेऽनुभागगाः प्रतिपत्तव्याः कषायास्रवत्वात्। पुंसामिति वचनात् प्रधानादिव्युदासः।

यद्यपि सामान्य से आस्रवों को कहा जा चुका है फिर भी उनका इस छठे अध्याय में दशमे सूत्र से प्रारम्भ कर सत्ताईसमे सूत्र तक विशेष रूप से कथन करना तो प्रत्येक ज्ञानावरण आदि आठो कर्मो के भी आस्रव होने की प्रतिपत्ति कराने के लिये है। ये विशेष रूप से कहे जा रहे सभी आस्रव अनु-भाग बंध के अनुकूल शक्ति को प्राप्त कर रहे समझ लेने चाहिये क्योंकि "ठिदि अणुभागा कसाअदो होंति" प्रदोष, शोक, माया, आदि कषायों अनुसार हुये ये आस्रव हैं। कषायों का प्रभाव कर्मों की अनुभाग शक्ति पर पडता है अतः व्यभिचार या अतिप्रसंग दोष को स्थान नहीं मिल पाता है। इस वार्त्तिक मे "पुंसां" यानी जीवों के आस्रव होना माना गया है अतः "पुंसां" इस कथन से प्रधान (प्रकृति) या अवस्तुभूत संतान आदि के आस्रव होने का निराकरण कर दिया है। अर्थात्—कपिल मतानुयायी आत्मा को सर्वदा शुद्धनिरंजन स्वीकार करते हैं। सत्त्वगुण, रजो गुण, तमोगुण, स्वरूप प्रकृति के ही आस्रव के बंध, संसार, मोक्ष, ये व्यवस्थायें स्वीकर करते हैं। बौद्ध सन्तान के आस्रव होना कहते हैं। यहां जीवों के कर्मो का आस्रव कह देने से इनका निराकरण होजाता है।

कथं पुनस्ते तथावरणकर्मास्रवहेतव इत्युपपत्तिमाह।

अब यहाँ कोई तर्की पूंछता है कि वे प्रदोष आदि फिर उन आवरण कर्मो के आगमन हेतु भला किस प्रकार समझे जा सकते हैं ? या किस प्रमाण से उनका हेतुहेतुमद्भाव निर्णीत कर लिया जाय? बताओ। इस प्रकार तर्कणा उपस्थित होने पर ग्रन्थकार उसकी युक्ति पूर्वक सिद्धि करे देते हैं।

यत्प्रदोषादयो ये ते तदावरणपुद्गलान्।
नराम्नयंति बीभत्सुप्रदोषाद्या यथा करान् ॥२॥

जिस विषय के जो प्रदोष आदि होंगे वे उस विषय का आवरण करने वाले पुद्गलों को कषायवान् आत्मा के निकट प्राप्त करा देते है जिस प्रकार कि हिंसक या जुगुप्सित पदार्थ में हुये प्रदोष आदिक इन हाथों को वहाँ ले जाते हैं। अर्थात्–"जीवस्य ज्ञानविषयकप्रदोषादयः (पक्षः) ज्ञानावरणादि-पुद्गलान् जीवान्नयन्ति (साध्यं) ज्ञानादिप्रदोषत्वात् (हेतुः) ये यत्प्रदोषादयः ते तदावरणपुद्गलान जीवा-न्नयन्ति (द्विकर्मक णिञ् प्रापणे धातु) यथा बीभत्सुप्रदोषाद्याः करान नयन्ति (व्याप्तिपूर्वकमुदाहरणम) जीव के ज्ञानादि विषयों में होरहे प्रदोष, निह्नव, आदिक (पक्ष) संसारी आत्मा में ज्ञानावरण आदि पुद्गलों को प्राप्त करा देते है (साध्य) क्योंकि ज्ञान आदि में हुये ये प्रदोष आदि है (हेतु) जो जिसमें प्रदोष आदि हुये है वे उस उस गुण का आवरण करने वाले पुद्गलो को जीवों से चुपटा देते हैं व्याप्ति) जैसे कि ग्लानियुक्त पदार्थ मे हुये प्रदोप आदि अपनी नाक या आँख के निकट हाथों को प्राप्त करा देते हैं (अन्वय दृष्टान्त)। लज्जायुक्त स्त्री लज्जा कराने वाले पुरुष को देख कर झट हाथ उठा कर अपना घूंघट खींच लेती है। ग्लानि कारक, भयकारक, हिंसक या अतीव अग्राह्यपदार्थ मे प्रदोप, निह्नव, आदि होजाते है तब कषायवान् आत्मा शीघ्र अपने हाथों को अपने पास खीच लेता है या हाथों से उन घृणित पदार्थों को ढंक देता है यों अनुमान प्रमाण से इस सूत्रोक्त सिद्धान्त की उपपत्ति कर दी गई है।

ये यत्प्रदोषादयस्ते तदावरणपुद्गलानात्मनो ढौकयति यथा बीभत्सुस्वशरीरप्रदेशप्रदोपादयः करादीन्। ज्ञानदर्शनविषयाश्च कस्यचित्प्रदोषादय इत्यत्र न तावदसिद्धो हेतुः क्वचित्कदाचित्प्र-दोषादीनां प्रतीतिसिद्धत्वात्। नाप्यनैकांतिको विपक्षवृत्त्यभावात्। अशुद्ध्यादिपूतिगंधिविषयैः प्रदो-षादिभिस्तदन्यप्राणिविषयकराद्यावरणाढौकनहेतुभिर्व्यभिचारीति चेन्न, घ्राणसंबंधदुर्गंधपुद्गल-प्रदोषादिहेतुकत्वात् तत्पिधायककराद्यावरणढौकनस्य, दोषाद्यभावे तदधिष्ठानस्वभूतबाह्याशुच्या-दिगंधप्रदोषानुपपत्तेः। तद्विषयत्वपरिज्ञानायोगात् तदन्यविषयवत्।

जो जिस विषय में प्रदोप आदि हुये है वे उस विषय का आवरण करने वाले पुद्गलों को जीवों के पास ले जाते है जिस प्रकार कि जुगुप्सित अपने शरीर के प्रदेशों में हुयी प्रदोष, निह्नव, आदि परि-णतियां अपने हाथ, पांव, आदि को उस स्थान पर ले जाती है ज्ञान और दर्शन विषय में हुये किसी जीव के प्रदोप आदि है इस कारण उस जीव के निकट ज्ञानावरण, दर्शनावरण पुद्गलों का आस्रव करा देते है इस प्रकार पांच अवयवो वाला यह अनुमान है। इस अनुमान में कहा गया हेतु असिद्धहेत्वाभास तो नही है क्योंकि किसी न किसी कषायवान् आत्मा में कभी न कभी पिशुनता आदि दोषों की प्रतीति हो जाना सिद्ध है अतः प्रदोष आदिकों का सद्भाव पाया जाना हेतु प्रदुष्ट आत्मा में रहता है अतः स्व-रूपासिद्ध नहीं है। यद्विषय प्रदोषादित्व यह हेतु व्यभिचारी भी नही है क्योंकि विपक्ष मे वृत्ति होजाने का अभाव है जो कपाय रहित जीव आवरण पुद्गलों का आस्रव नहीं करते है उन में प्रदोप आदि नहीं पाये जाते है। यदि यहां कोई यो कहे कि अशुद्धि ग्रस्त, घृणित आदि दुर्गन्ध विषयों में हुये प्रदोष आदिक तो उनसे अन्य प्राणियों के विषयभूत हाथ आदि आवरणो के प्राप्त कराने के कारण हो रहे है अतः इन अनिष्ट गंध वाले पदार्थों में हुये प्रदोप आदिकों करके जैनों का हेतु व्यभिचारी हुआ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योंकि घ्राण इन्द्रिय से सम्बन्धी होगये दुर्गन्धी पुद्गल विषय में हुये प्रदोप आदिक ही उस घ्राण को ढकने वाले हाथ, वस्त्र, आदि आवरणों की गति प्रेरणा कराने के हेतु है दोष आदिकों के नही होने पर उनके आश्रय से उत्पन्न हुये बहिरंग अशुद्ध आदि गंधों में प्रदोष हो जाना नहीं

बन सकता है कारण कि उन प्रदेशों की अधिकरणभूत विषयता के परिज्ञान का अयोग है जैसे कि उससे भिन्न पड़े हुये दूरवर्त्ती उदासीन विषयों में प्रदोष आदि नहीं उपजते है। भावार्थ—किसी आक्षेपक ने यहाँ उक्त हेतु का उन प्रदोष आदि से व्यभिचार उठाया था जो कि अशुद्ध दुर्गन्ध, घृणित, मलमूत्र, आदि पुद्गलों मे प्रदोष आदि हुये है क्योकि वे प्रदोष आदि तो है किन्तु दुर्गन्ध मल मूत्र आदि में कोई पुद्गलों का आस्रव नही होता है और न हाथ, पांव, आवरण ही उन पुद्गलों में आस्रवित होजाते है प्रत्युत उन दुर्गन्ध पदार्थों से भिन्न होरहे प्राणियों के हाथ, पांव, आदि मे गतियां उन से होजाती है। कोई व्यक्ति तो दुर्गन्ध पदार्थों से घृणा कर भाग जाता है, कोई हाथ को नाक से लगा लेता है। इस व्यभिचार का निवारण करने के लिये ग्रन्थकार ने यों कहा है कि दुर्गन्ध पदार्थ के अंश नाक में आये है तभी अन्य प्राणियो के हाथ, पांव, आदि मे क्रिया होकर अपनी नाक को उन से ढक लिया गया है अपने घृणा आदि दोषो के बिना बाह्य पदार्थ में प्रदोष आदि नही होपाते है, घृणा नही करनेवाले या दुर्गन्ध में निवास करने वाले जीवों को उस पदार्थ के अनिष्ट गन्धपन का परिज्ञान नही होने पाता है अतः यह बात सिद्ध होजाती है कि जिस आत्मा के जिस विषय में प्रदोष आदि होंगे उस आत्मा को उस विषय के आवारक पुद्गलों का समागम करा ही देवेंगे, मात्सर्य करने से शरीर के अवयवों मे क्रिया होजाती है जैसे कि समझाने वाले वक्ता को श्रोताओं या प्रमेय अथवा आवेश के अनुसार चेष्टाये करनी पड़ती हैं। आसादन और उपघात करने पर टेढ़े मेढ़े हाथ, पांव, नसें, हृदय की धड़कन आदि क्रियायें करते हुये पौद्गलिक अवयवों में प्रेरणा होजाती है। क्रोध करने वाला जीव झट, लाठी, बेत आदि को पकडता है या क्रोध पात्र पर थप्पड़ या घूंसा मार देता है। गुणी पुरुषो को देख कर विनीत पुरुष शीघ्र हाथ जोडता है, मस्तक नवाता है कई बार किसी किसी जीव को ऐसा विचार होजाता है कि मै अमुक पुरुष को नमस्कार या उसकी विनय क्रिया नहीं करूंगा किन्तु वह प्रभावशाली, उत्तमर्ण, गुणगरिष्ठ, उपकारी पुरुष को जब सन्मुख पाजाता है तो बिना चाहे भी उसको विनीत और नतमस्तक होना पड़ता है। मनोज्ञ या गुप्त अंगों के प्रकट होजाने की सम्भावना होजाने पर झट अपना हाथ उनको ढक लेता है, मनुष्य के पेट में माखी मक्खी के चले जाने पर उदराशय उसको अपनी क्रिया करके फेंक देता है वमन होजाती है हॉ चिरैया, छपकली को कै नही होती है। छींक या जंभाई आने पर कई मनुष्य नाक, मुंह से हाथ लगा लेते है। अधिक प्यास लगने पर ओठों पर जीभ फेर ली जाती है। तीव्र भूख और प्यास मे यह लोलुपी जीव अन्न, पान, पदार्थो को शीघ्र खीच लेता है। भगवान के सम्मुख भक्तिवश प्राणी नृत्य करने लग जाता है। मुख पर मक्खी के बैठते ही उसके उड़ाने का प्रयत्न किया जाता है। गीले खेत मे पड़े हुये बीज मे जन्म ले गया जीव यहां वहां से अपने वनस्पतिकाय शरीर उपभोगी पदार्थो को खींच लेता है सोने चांदी की खानो के पृथिवीकायिक जीव अपने शरीर उपयोगी पदार्थो या हजारो-कोस दूरवर्ती चांदी, सोने की घिस कर गिरगयी चूर का आकर्षण कर लेते है, सोता हुआ युवा पुरुष जाड़ा लगने पर निकट रक्खे हुये वस्त्र को खींच कर ओढ लेता है, भूंखा बालक माता के स्तनो की ओर मुंह कर दूध को चूस कर खीच लेता है, माता प्रेमवश बच्चे को चुपटा लेती है। जगत् मे कषाये चित्र विचित्र कार्यो को कर रही है। प्रकरण मे यही कहना है कि प्रदोष आदिक उस जीव के ज्ञानावरण आदि का आस्रव करा देवेंगे, उक्त हेतु में कोई व्यभिचार दोष नही है।

तत एव न विरुद्धं सर्वथा विपक्षावृत्तेरविरुद्धोपपत्तेः। विपक्षे बाधकप्रमाणाभावात्संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽयं हेतुरिति चेन्न, साध्याभावे साधनाभावप्रतिपादनात्।

तिस ही कारण से यानी विपक्ष में वृत्ति नहीं होने से यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है क्योंकि एक देशत्वेन या सर्वदेशत्वेन सभी प्रकारों से विपक्ष मे हेतु का वर्तना नहीं होने के कारण अविरुद्ध होना बन जाता है। यहाँ उक्त हेतु को सदिग्ध व्यभिचारी बनाता हुआ कोई चोद्य उठाता है कि विपक्ष में वर्त जाने के बाधक अभाव हो जाने से यह हेतु सदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक है "संदिग्धा विपक्षे व्यावृत्तिर्यस्य" जिस हेतु का विपक्ष से व्यावृत्ति होना संदेह प्राप्त है लोक मे किसी पुरुष या स्त्री के विषय में व्यभिचार का संदेह हो जाना भी एक दोष माना गया है उसीप्रकार शास्त्र मे हेतु का संदिग्धव्यभिचार दोष है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योकि साध्य का अभाव होने पर विपक्ष में साधन के अभाव बने रहने का प्रतिपादन किया जा चुका है। अर्थात्—जिस आत्मा मे जिन गुणों के आवरण करने वाले पुद्गलो का समागम नही होरहा है उस आत्मा मे उन गुणो के दूषक प्रदोष आदिकों का अभाव है यो व्यतिरेक व्याप्ति अनुसार हेतु का विपक्ष मे नही वर्तना स्वरूप ब्रह्मचर्य गुण निर्णीत हो चुका है।

यस्य यद्विषयाः प्रदोषादयस्तस्य तद्विषयास्तदविद्यैव न पुनस्तदावरणपुद्गलः सिद्ध्येत् ततो न तत्प्रदोषादिभ्यो ज्ञानदर्शनयोरावरणपुद्गलप्रसिद्धिरिति न शंकनीय, तदावरणस्य कर्मणः पौद्गलिकत्वसाधनात्। कथं मूर्तं कर्मामूर्तस्य ज्ञानादेरावरणमिति चेत्, तदविद्याप्यमूर्तं कथमिति समः पर्यनुयोगः। यथैव मूर्तस्यावारकत्वे ज्ञानादीनां शरीरमावारकं विप्रसज्य तथैवामूर्तस्य सद्भावे तेषां गगनमावारकमासज्येत। तदविरुद्धत्वान्न तत्तदावारकमिति चेत्, तत एव शरीरमपि तद्विरुद्धस्यैव तदावारकत्वसिद्धेः।

यहाँ ब्रह्माद्वैतवादी अपने स्वपक्ष का अवधारण करते है कि जिस जीव के जिस विषय मे हो रहे प्रदोष, निन्हव, आदि दोष हैं उसके उन विषयों का आवरण कर रही तो अविद्या ही है किन्तु फिर उन गुणों का आवरण करने वाला कोई कार्मणस्कन्ध स्वरूप पुद्गल सिद्ध नहीं हो पायेगा तिस कारण उन ज्ञान या दर्शन मे हुये प्रदोष आदिकों से ज्ञान और दर्शन का आवरण करने वाले ज्ञानावरण पुद्गलो की प्रसिद्धि नहीं हो सकती है। आचार्य कहते है कि अद्वैतवादियों को हृदय में ऐसी शंका नही रखनी चाहिये क्योंकि उन ज्ञान आदि का आवरण करने वाले कर्मो का पुद्गल द्रव्य से निर्मितपना साधा जा चुका है। "अप्रतीघाते" सूत्र के विवरण मे "कर्मपुद्गलपर्यायो जीवस्य प्रतिपद्यते परतंत्र्यनिमित्तत्वात्कारागारादिबंधवत्" यों कर्म को पौद्गलिक सिद्ध कर दिया है और भी कई स्थलों पर कर्मों का पुद्गलात्मकपना निर्णीत कर दिया है। आगे भी "सकषायत्वाज्जीवः" आदि सूत्र के अलंकार में "पुद्गलाः कर्मणो योग्यः केचित् मूर्तार्थयोगतः, पच्यमानत्वतः शालिबीजादिवदितीरितं" आदि कहा जावेगा। यदि अद्वैतवादी यों कहें कि अमूर्त हो रहे ज्ञान, दर्शन, आदि का आवरण करने वाला भला मूर्त कर्म किस प्रकार हो सकता है? मूर्त सूर्य के ही मूर्त बादल आवारक हो सकते है घर की भीते या छते विचारी मूर्तशरीर, भूषणों, वस्त्रों को छिपा लेती हैं आकाश को नहीं। यों वेदान्तियों के कहने पर तो हम जैन भी चोद्य उठावेंगे कि आपके यहाँ वे अविद्या, भेदविज्ञान, मोह, आदिक भला अमूर्त हो रहे किस प्रकार एकत्वज्ञान

प्रतिभासाद्वैत, आदि का आवरण कर देते है ? बताओ। यों आप अद्वैतवादियों के ऊपर भी हम जैनों की ओर से वैसा का वैसा ही समान पर्यनुयोग उठा दिया जा सकता है कोई अन्तर नहीं है जिस ही प्रकार तुम अद्वैतवादी यह अभियोग उठाओगे कि मूर्त को यदि ज्ञान आदिकों का आवारक होना माना जायेगा तो जीव सम्बन्धी शरीर को भी ज्ञान आदिको के आवारकपने का विशेषतया प्रसग आजावेगा "शरीरं पुस्तकादिकं वा ज्ञानादेरावारकं स्यात मूर्तत्वात्कार्मणस्कंधवत्" अतः अमूर्त का आवरण करनेवाला मूर्त नहीं हो सकता है यह सिद्धान्त मान लो, तिस ही प्रकार हम जैन भी तुम्हारे ऊपर यह प्रसंग उठा सकते हैं कि अमूर्त अविद्या आदि का सद्भाव होने पर ज्ञान आदिकों का आवरण होना मानोगे तो अमूर्त आकाश को भी उन ज्ञान आदिको के आवारकपन का चारों ओर से प्रसंग आजावेगा अथवा अमूर्त ज्ञान का दूसरा अमूर्त ज्ञान आवारक बन बैठेगा "गगनादिकं ज्ञानान्तरं च ज्ञानादेरावारकं स्यात अमूर्तत्वात् अविद्यावत्" जो कि तुमने इष्ट नहीं किया है। यदि आप अद्वैतवादी यों कहें कि गगन आदिक तो उन ज्ञान आदिकों के विरुद्ध नहीं है अतः वे उनके आवरण नहीं हो सकते है यों कहने पर तो हम जैन भी कह देंगे कि तिस ही कारण से यानी ज्ञानादिक का विरोधी नहीं होने से मूर्त शरीर भी ज्ञान आदि का आवारक नहीं है जो उन ज्ञान आदि से विरुद्ध पदार्थ होगा उसी को उन ज्ञान आदिकों के आवारकपन की सिद्धि है। भावार्थ—अपने प्रासाद मे भीते, किवाड़, सींकचे, सांकले और सिपाही है तथा कारागृह में भी वैसे ही भीत आदि है किन्तु वे अपने विरुद्ध है और अपने घर के सींकचे आदि अविरुद्ध है मित्र या स्नेही सम्बन्धी भी अपने बंधु को रोक लेता है। राजकर्मचारी भी अपराधी को रोके रहते हैं किन्तु इन दोनों में महान अन्तर है। वस्तुतः देखा जाय तो शरीर भी एक छोटे प्रकार का आवारक है। हिंसक क्रूर जीवों के शरीरों अनुसार संयमपालन नहीं हो सकता है। अपने शरीर के बन्धन अनुसार स्त्रियों की आत्मा भी सर्वोच्च पद को नहीं पा सकती है। भावना होते हुये भी देव-देवियो के शरीर संयम नहीं पलने देते है। रोग ग्रस्त शरीर अनेक अड़चने उपजाता है। अनेक प्राणियों के आत्माओं की समानता होने पर भी उनके न्यारे न्यारे शरीरों की परवशता से भिन्न-भिन्न प्रकार जघन्यविचार उपजते रहते है। वैज्ञानिक पण्डित भी शरीर आकृति के अनुसार तादृश भावो का उपजना आवश्यक मानते है वे वीर क्रूर,विशेष ज्ञानी, पुरुषों के मस्तक, हृदय, के अवयवो को देखते है मोल लेलेते है। आयुष्य कर्म द्वारा शरीर मे कैद कर दिया गया आत्मा स्वतंत्र या चाहे जहाँ नहीं जा पाता है। हमें सर्वत्र शरीर को लाद कर जाना पड़ता है। अतीव स्थूल पुरुष सम्मेद शिखर जी की वन्दना पावो चल कर नहीं कर पाता है। भोजन या शयन के लिये भले ही शरीर को साथ ले लिया जाय किन्तु ज्ञानाभ्यास सामायिक, संयमपालन आदि क्रियाओं के लिये यह भारी शरीर हमें खींचना, ढोना, पड़ता है हाँ समितिपालन, शास्त्रश्रवण, तीर्थगमन, आहारदान, दीक्षाधारण, तपश्चरण आदि कर्तव्यों में शरीर उपयोगी पड़ता है इस कारण यह ज्ञानादिकों का आवारक नहीं माना गया है। अन्यदृष्ट कारणों में अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार आजाने से अन्यथानुपपत्ति के बल पर पौद्गलिक कर्मों को ही ज्ञान आदि का आवारकपना सिद्ध हो जाता है।

स्यान्मतं ज्ञानादेर्वर्तमानस्य सतोऽप्यविद्याद्युदये तिरोधानाचदेव तद्विरुद्ध तदावरणं युक्तं न पुनः पौद्गलिकं कर्म तस्य तद्विरुद्धत्वासिद्धेरिति । तदसत् तस्यापि तद्विरुद्धत्वप्रतीतेः सुरादिद्रव्यवद् ।

सम्भवतः अद्वैतवादियों का यह भी मन्तव्य होवे कि आत्मा में सत्ता रूप से विद्यमान होरहे

भी ज्ञान आदिकों का अविद्या आदि का उदय हो जाने पर तिरोभाव होजाता है। जैसे कि डिब्बी में रत्न का तिरोधान हो गया है। सांख्य भी आविर्भाव, तिरोभाव, को स्वीकार करते है उत्पाद, विनाश, को नही। "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" आत्मा मे सत् हो रहे ज्ञान का ही अविद्या, अहंकार, ममता, तवता, विवेकाख्याति आदि से आवरण हो गया है अतः वे अविद्या आदिक ही उन ज्ञान आदिकों के विरुद्ध होरहे सन्ते उनके आवरण समुचित कहे जा सकते है किन्तु फिर जैनों के यहां माने गये पौद्‌गलिक कर्मों को आवरण कहना युक्त नहीं क्योंकि उन पौद्‌गलिक कर्मों को उन ज्ञान आदिकों का विरोधीपना सिद्ध नही है जैसे कि शरीर, पुस्तक, उपनेत्र (चश्मा), विद्यालय, भोजन, ब्राह्मी, बादाम, आदि पौद्‌गलिक पदार्थ ज्ञान के विरोधी नही है। यों कह चुकने पर आचार्य बोलते है कि अद्वैतवादियों का वह मन्तव्य प्रशंसनीय नहीं है कारण कि मदिरा, भांग, आदि द्रव्यों के समान उन पौद्‌गलिक कर्मों को भी उन ज्ञान आदिकों के विरोधीपन की प्रतीति होरही है सभी पुद्‌गल न तो ज्ञान के सहायक है और विरोधी भी नही है। हां, नियत पुद्‌गल ज्ञान के सहायक भी है और कोई कोई ज्ञान के विरोधी भी हैं। अनेक पुद्‌गलों से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रों को सहायता प्राप्त होती है और कितने ही पौद्‌गलिकपदार्थों से मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रों को सहकारिता मिलती है। कोई एकान्त नही है। ज्ञानावरण आदि पौद्‌गलिक कर्म अवश्य ही ज्ञानादि गुणों के आवारक है यह निर्णीत विषय है।

ननु मदिरादिद्रव्यमविद्यादिविकारस्य मदस्य ज्ञानादिविरोधिनो जनकत्वात् परम्परया तद्विरुद्धं न साक्षादिति चेत्, पौद्‌गलिकं कर्म तथैव तद्विरुद्धमस्तु तस्यापि विज्ञानविरुद्धाज्ञानादि-हेतुत्वात् तस्य भावावरणत्वात्। न च द्रव्यावरणापाये भावावरणसंभवोऽतिप्रसंगात्। मुक्तस्यात-त्प्राप्तेरपि वारणात्। तस्य सम्यग्ज्ञानसात्मीभावे मिथ्याज्ञानादेरत्यन्तमुच्छेदात्तथ्योदये तदात्मनो भावावरणस्य सद्भावात्।

वे ही पण्डित पुनः अपने पक्ष का अवधारण करते है कि मदिरा, भांग, गांजा, आदि द्रव्य तो ज्ञान स्वस्थता, विचारशालिता, आदि के विरोधी होरहे और अविद्या, नशा, आदि विकारों के धारी मद के जनक होने के कारण परम्परा करके उन ज्ञानादि के विरोधी है। मदिरा आदि द्रव्य अव्यवहित रूप से ज्ञानादि के विरोधी नही है। अर्थात्—मदिरा आदिक द्रव्य पहिले अविद्या आदि विकार स्वरूप मद को उपजाते है और वह मद पुनः ज्ञान आदि की उत्पत्ति में विरोध ठानता है अतः अविद्या आदि को ही आवरण मानो, पौद्‌गलिक कर्म को नही। यों स्वपक्ष को पुष्ट कर रहे अन्यवादियों के कह चुकने पर ग्रन्थकार कहते है कि तब तो पुद्‌गल द्रव्य से उपादेय हुआ कर्म भी तिस ही कारण यानी ज्ञान आदि के साथ विरोध ठान देने से उन ज्ञान आदिकों का विरोधी सिद्ध हो जाओ क्योंकि उन कर्मों को भी विज्ञान के विरुद्ध होरहे अज्ञान आदि का हेतुपना प्राप्त है। भाव आवरण स्वरूप ही वह अज्ञान है द्रव्य आवरण होरहे पौद्‌गलिक कर्मों का अभाव मानने पर अज्ञान, राग, द्वेष, आदि भाव आवरणों का होना नहीं सम्भवता है अति प्रसंग हो जायेगा। मुक्त जीव के भी उन अज्ञानादिकों की अप्राप्ति का निवारण हो जायेगा अर्थात्—द्रव्य आवरणों के बिना भी यदि भाव आवरण होने लगे तो कर्म विनिर्मुक्त सिद्ध पर-मेष्ठी के भी अज्ञान, राग, द्वेषविकार बन बैठेंगे। वैशेषिकों ने योगज प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं "योगजो द्विविधः प्रोक्तः युक्तयुञ्जानभेदतः। युक्तस्य सर्वदाभानं चिन्तासहकृतोऽपरः" युक्त के कोई अविद्या या

अज्ञान का सम्बन्ध नहीं माना है अतः युक्त ऐसा पाठ भी हो तो कोई क्षति नही है क्योंकि उस मुक्त या युक्त जीव के सम्यग्ज्ञान के साथ तदात्मकपना हो जाने पर मिथ्याज्ञान, राग आदि का अत्यन्त उच्छेद हो गया है। वर्तमानकाल में किंचित् भी मिथ्याज्ञान नही है, भविष्य में भी मिथ्याज्ञान कथमपि नहीं उपज सकेगा यही मिथ्याज्ञान आदि का अत्यन्त उच्छेद है। उन द्रव्यावरणों का उदय होने पर उस समय आत्मा के अज्ञान, क्रोध, आदि भावावरण का सद्भाव पाया जाता है अतः सिद्ध होता है कि प्रवाह से प्रवर्त रहे ज्ञान आदि का अविद्या के उदय होने पर निरोध हो जाने से जैसे उस अविद्या को ज्ञान आदि का विरोधी मान लिया जाता है उसी प्रकार पौद्गलिक कर्म को भी ज्ञान आदि से विरुद्ध मान लिया जाय। मदिरा, अपथ्य भोजन, आदि पुद्गल इसके दृष्टान्त है। आत्मा के द्रव्य स्वरूप आवरण लग रहे है तभी भाव आत्मक आवरणों का सद्भाव पाया जाता है। अज्ञान आदि दोष और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का हेतुहेतुमद्भाव अनादिकाल से बीजांकुरवत् चला आ रहा है "दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्यतिशायनात्" इस देवागमस्तोत्र की कारिका का विवरण करते हुये ग्रन्थकार ने अष्टसहस्री में इस "कार्यकारण भाव" को अच्छा समझा दिया है।

कुतो द्रव्यावरणसिद्धिरिति चेत्, नात्मनो मिथ्याज्ञानादिः पुद्गलविशेषसंबंधनिबंधनस्तत्स्वभावान्यथाभावस्वभावत्वादुन्मत्तकादिहेतुकोन्मादादिवदित्यनुमानात्। मिथ्याज्ञानादिहेतुकापरमिथ्याज्ञानव्यभिचारान्नेदमनुमानं समीचीनमिति चेन्न, तस्यापि परापरपौद्गलिककर्मोदये सत्येव भावात् तदभावे तदनुपपत्तेः। परापरोन्मत्तकादिरससद्भावे तत्कृतोन्मादादिसंतानवत्। कामिन्यादिभावेनोद्भूतैरुन्मादादिभिरनेकांत इति चेन्न, तेषामपि परंपरया तन्वीमनोहरांगनिरीक्षणादिनिबंधनत्वात् तदभावे तदनुपपत्तेः, ततो युक्तमेव तद् ज्ञानदर्शनप्रदोषादीनां तदावरणकर्मास्रवत्ववचनं युक्तिसद्भावाद्बाधकाभावाच्च तादृशान्यवचनवत्।

यहाँ कोई आक्षेपकर्ता पण्डित पूंछता है कि जैनो के यहां द्रव्य आवरणों की सिद्धि भला किस प्रमाण से की जायेगी ? बताओ यों प्रश्न होने पर हम उत्तर करते है कि संसारी आत्मा के होरहे मिथ्याज्ञान, अहंकार, दुःख, भय, आदिक तो (पक्ष) विशेष जाति के पुद्गलों के सम्बन्ध को कारण मानकर उपजे है (साध्य) आत्मा के उन सम्यग्ज्ञान, मार्दव, अतीन्द्रिय, सुख आदि स्वभावों से अन्यप्रकार के वैभाविक भावों स्वरूप होने से (हेतु) उन्मत्त कराने वाले धतूरा, चण्डू, मद्य, आदिक हेतुओं से उपजे उन्मत्तता, चक्कर आना, तमारा, मद, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान से द्रव्य आवरणो की सिद्धि कर दी जाती है। यदि यहाँ कोई इस अनुमान मे यों दोष लगावे कि मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, आदि हेतुओं करके उपजे दूसरे मिथ्याज्ञानों से व्यभिचार हो जायेगा अर्थात्—दूसरे मिथ्याज्ञानो में हेतु तो रह गया किन्तु पुद्गल विशेषों से उपजता स्वरूप साध्य नही रहा वहां पहिले के मिथ्याज्ञानों से (भावावरणों से) दूसरे मिथ्याज्ञान उपजे है। कभी द्वेष से द्वेष, दुःख से दुःख, क्रोध से क्रोध, अज्ञान से अज्ञान की धारायें चलती जाती है। इनमे पौद्गलिक कर्म कारण नही पड़ते है अतः व्यभिचार दोष हो जाने के कारण यह जैनों का अनुमान समीचीन नही है। श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वे दूसरे, तीसरे मिथ्याज्ञान भी उत्तरोत्तर पौद्गलिक कर्मों का उदय होते रहते सन्ते ही उपजे है यदि आत्मा में धारा प्रवाह रूप से उदय प्राप्त हो रहे वे पौद्गलिक कर्म नहीं होते तो उन मिथ्याज्ञानों की उत्पत्ति होना नही बन सकता था जैसे कि उत्तरोत्तर परिपाक प्राप्त हो रहे उन्मादक

धतूरे आदि के रस की लहरों का सद्भाव होने पर ही उन द्रव्यों से किये गये उन्माद आदि की सन्तान बड़ी देरतक बनी रहती है। एक रोग से और भी कई रोग उपज जाते है यहां भी अभ्यन्तर पौद्गलिक वात, पित्त, कफ, दोषों से ही उन रोगों की उत्पत्ति हुई मानी जाती है। भूख से भूंख और उससे भी अधिक भूंख अथवा प्यास के उपर प्यास जो लगती है इनमे भी उत्तरोत्तर पौद्गलिक पित्ताग्नि का संधुक्षण होते रहना अन्तरंग कारण है। पुनरपि कोई व्यभिचार दोष उठाता है कि कामिनी, सम्पत्ति, सिंह, आदि भावों में हुये राग, द्वेष, परिणामों करके उत्पन्न हुये उन्माद ईर्षा, भय, आदि करके व्यभिचार हुआ। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि वे उन्माद आदिक भी परम्परा करके सुन्दरी, तन्वी, स्त्री के मनोहर अंगो का समोह निरीक्षण करना आदि को कारण मान कर उपजे है। उन मनोहर अगो के सकषाय निरीक्षण आदि का अभाव होने पर उन उन्माद आदि की उत्पत्ति होना नही बन पाता है। मुनियो या बालकों के स्त्री, सर्प, धन, आदिसे वे भाव नही उपजते है अतः उन्मत्तक पुरुष को भले ही हृदय हारिणी कामिनी में हुई अभिलाषासे साक्षात् उन्माद, चिन्ता, गुण कथन, उद्वेग, सम्प्रलाप, आदिक होवे किन्तु उनका परम्परया कारण पौद्गलिक कामिनीपिण्ड ही है। जैन सिद्धान्त तो यहाँ इस प्रकार है कि अनेक कार्यो को चलाकर आत्मा अपने प्रमादों अनुसार करता है उससे कर्मबन्ध होता है। कामिनी को देखने पर कामुक के पूर्वोपार्जित कर्मों का उदय आजाने से उन्माद आदि कामचेष्टायें होने लग जाती है। संसारी जीव के प्रतिक्षण पूर्वोपार्जित शुभ अशुभ कर्मों का उदय बना रहता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन निमित्तों को पाकर पौद्गलिक कर्मों को वैसी वैसी रस देने योग्य परिणतियां होजाती है जैसे कि भोजन, पान, पदार्थों का पित्ताग्नि, स्वच्छवायु वाला प्रदेश, नीरोग शरीर, व्यायाम, पाचनचूर्ण, अथवा दूषित जल, वात, पित्त, कफ, के दोष, निकृष्टवायु, रुग्ण शरीर, विषमकाल, रोगस्थान, चिन्ता, आदि निमित्तो अनुसार नाना प्रकार के विपाको को धार रहा परिणमन होजाता है। अतः ज्ञान आदि के विरोधी पौद्गलिक द्रव्य ही आवरण मानने पड़ते है अविद्या नही। नैयायिक या वैशेषिक के यहां माने गये धर्म, अधर्म संज्ञक गुण भी आत्मा को परतंत्र नही कर सकते है जो जिसका गुण है वह उसको परतंत्र नही कर सकते है। तिस कारण उक्त सूत्र द्वारा श्रीउमास्वामी महाराज का यह निरूपण करना युक्त ही है कि उन ज्ञान या दर्शन मे हुये प्रदोष, निह्नव आदिक उन उन ज्ञान दर्शनों का आवरण करने वाले कर्मो के आस्रव है क्योंकि सूत्रकार के इस सिद्धान्तवचन मे युक्तियां का सद्भाव है तथा बाधक प्रमाणो का अभाव है जैसे कि तिस प्रकार के युक्त और निर्बाध अन्य वचनो का कहना समुचित है। ग्रन्थकार ने अपनी विद्वत्ता से यह भी एक अनुमान बना दिया है कि सूत्रकार के अन्य वचनो समान (दृष्टान्त) इस सूत्र का निरूपण भी (पक्ष) युक्ति पूर्ण और निर्बाध होने के कारण (हेतु) समुचित ही है (साध्य)॥

अथासद्वेद्यास्रवसूचनार्थमाह ।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के पश्चात वेदनीय कर्म का नाम निर्देश है। वेदनीय कर्म के सद्वेद्य और असद्वेद्य दो भेद है। अनुकूलवेदनीय होरहे लौकिक सुख का कारण सद्वेद्य है और असद्वेद्य का उदय होने पर जीवों के प्रतिकूल वेदनीय दुःख उपजते हैं अब असद्वेद्य कर्म के आस्रव की सूचना देने के लिये श्रीउमास्वामी महाराज उस अग्रिम सूत्र को कह रहे है।

दुःखशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥

स्वयं अपने में या पर में अथवा दोनों में स्थित हो रहे दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन, बध, परिदेवन, ये परिणतियाँ असातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं। संसारी जीव का पीड़ा स्वरूप परिणाम दुःख है। अनुग्रह करने वाले चेतन या अचेतन पदार्थ के सम्बन्ध का विच्छेद होने पर दीनता परिणाम शोक है। तिरस्कार आदि को निमित्त पाकर हुये कलुषित परिणाम वाले जीव का मानसिक पश्चात्ताप करना ताप कहा जाता है। परिताप से उत्पन्न हुये बहुत रोना, आंसू डालना, विलाप करना, अंग विकार आदि करके प्रकट क्रन्दन करना आक्रन्दन है। आयुःप्राण, इन्द्रियप्राण, बलप्राण और श्वासोच्छ्वास प्राण का वियोग कर देना वध है, संक्लेश परिणामों का अवलम्ब कर गुणस्मरण पूर्वक बखानते हुये जो स्वयं और दूसरों को अनुग्रह करने की अभिलाषा कराने वाला दयनीय रोना है वह परिदेवन है। ये स्व में होय या क्रोध आदि के आवेश से दूसरे में उपजा दिये जांय अथवा कषाय वश दोनों में उपज जांय तब असद्वेद्य कर्म का प्रकृत जीव के आस्रव हो जाता है।

पीड़ालक्षणः परिणामो दुःखं, तच्चासद्वेद्योदये सति विरोधि द्रव्याद्युपनिपातात्। अनुग्राहकबांधवादिविच्छेदे मोहकर्मविशेषोदयादसद्वेद्ये च वैक्लव्यविशेषः शोकः, स च बांधवादिगताशयस्य जीवस्य चित्तखेदलक्षणः प्रसिद्ध एव। परिवादादिनिमित्तादाविलांतःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः, स चासद्वेद्योदये क्रोधादिविशेषोदये च सत्युपपद्यते। परितापजाश्रुपातप्रचुरविलापांगविकाराभिव्यक्तं क्रंदन, तच्चासद्वेद्योदये कषायविषयोदये च प्रजायते। आयुरिंद्रियबलप्राणवियोगकरणं वधः, सोऽप्यसद्वेद्योदये च सति प्रत्येतव्यः। संक्लेशप्रवणं स्वपरानुग्रहणं हा नाथ नाथेत्यनुकंपाप्रायं परिदेवन, तच्चासद्वेद्योदये मोहोदये च सति बोद्धव्यं।

पीड़ा स्वरूप परिणति दुःख कहा जाता है। वह दुःख तो असद्वेद्य कर्म का उदय होते सन्ते विरोधी द्रव्य आदि का प्रसंग मिल जाने से उपज जाता है। अनुग्रह करने वाले बन्धुजन, इष्ट पदार्थ आदि का वियोग हो जाने पर मोहनीय कर्म का विशेष होरहे शोक का उदय होने से और पूर्व संचित असातावेदनीय का उदय होते सन्ते हुआ विक्लव परिणाम शोक है। बांधव आदि में जिस जीव का अभिप्राय संसक्त होरहा है उस बन्धुजन का वियोग हो जाने पर जीव के चित्त को खेद होजाना स्वरूप वह शोक प्रसिद्ध ही है। निंदा, तिरस्कार, पराभव आदि निमित्तों से हुये कलुषित अन्तःकरण के धारी जीव का तीव्र पश्चात्ताप करना ताप है तथा उस ताप का होना अन्तरंग में असद्वेद्य कर्म का उदय होने पर और चारित्रमोहनीय को क्रोध आदि विशेष प्रकृतियों का उदय हो जाने पर बन जाता है। परिताप से उपजे प्रचुर अश्रुपात वाले विलाप, अंग विकार आदि करके प्रकट चिल्लाना आक्रन्दन है। वह आक्रन्दन अन्तरंग में पूर्व संचित असद्वेद्य का उदय होने पर और कषाय विशेष का उदय होते सन्ते ठीक उपज जाता है। आयुः, इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास, इन प्राणों का वियोग करना बध है। वह बध भी असद्वेदनीय कर्म का उदय होते सन्ते हो जाना समझ लेना चाहिये। तथा संक्लेश परिणामों में तत्पर होरहा और अपने या दूसरों को अनुग्रह कराने वाला एवं हाय नाथ कहाँ गये, हाय नाथ कहां हो, इस प्रकार बहुभाग अनुकम्पा को लिये हुये प्रलाप करना परिदेवन कहा गया है। और तैसे ही वह परिदेवन भी आत्मा में असद्वेदनीय कर्म का उदय होने पर और मोहनीय कर्म का उदय होते उपज रहा समझ लेना चाहिये।

तदेवं शोकादीनामसद्वेद्योदयापेक्षत्वाद्दुःखजातीयत्वेऽपि दुःखात्पृथग्वचनं मोहविशेषोदयापेक्षत्वात् तद्विशेषप्रतिपादनार्थत्वात् पर्यायार्थादेशाद्भेदोपपत्तेश्च नानर्थकमुत्प्रेक्षणीयं । तथैवाक्षेपसमाधानवचनात् वार्तिककारैर्दुःखजातीयत्वात्सर्वेषां पृथगवचनमिति चेन्न कतिपयविशेषसंबंधेन जात्याख्यानात् कथंचिदन्यत्वोपपत्तेश्चेति ।

तिस कारण इस प्रकार यद्यपि संचित असद्वेदनीय कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले होने से ये शोक, ताप, आदिक सभी दुःख की ही विशेष जातियां हैं अतः सूत्र में दुःख का ग्रहण कर देने से ही सभी दुःख जातियों का संग्रह हो जाता है इन शोक आदिक का पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ पड़ता है तथापि विशेष-विशेष मोहनीय कर्म के उदय की अपेक्षा रखने से और उन दुःखों के कतिपय विशेष भेदों के प्रतिपादन स्वरूप प्रयोजन होने से तथा पर्यायार्थिक नय अनुसार निरूपण कर देने की अपेक्षा भेद बन गया होने से सूत्रकार ने शोक आदि का दुःख से पृथक् प्ररूपण कर दिया है। अतः शोक आदि का उच्चारण व्यर्थ है यह बठेठाले उत्प्रेक्षा नहीं कर लेनी चाहिये, राजवार्त्तिक ग्रन्थ को बनाने वाले श्री अकलंकदेव महाराज ने तिस ही प्रकार आक्षेप का समाधान किया है। राजवार्त्तिक ग्रन्थ की इस प्रकार वार्त्तिक है "दुःखजातीयत्वात् सर्वेषां पृथगवचनमिति चेन्न कतिपयविशेषसम्बन्धेन तज्जात्याख्यानात्" दुःखों की जाति के विशेष होने से सम्पूर्ण शोक आदिकों का पृथक् निरूपण करना व्यर्थ है। श्री अकलंकदेव महाराज कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि दुःख की कितनी ही एक विशेष व्यक्तियों का सम्बन्ध करके उस दुःख जाति का सूत्र में सूचन कर दिया गया है जैसे कि "गौः" कह देने पर यदि कोई भोला पुरुष उन विशेष व्यक्तियों को नहीं समझता है तो उसको समझाने के लिये खण्ड गाय, मुण्ड गाय, धौली गाय आदि कह दिया जाता है। इसी सम्बन्ध में राजवार्त्तिककार की दूसरी वार्त्तिक यह है कि "कथंचिदन्यत्वोपपत्तेश्च" सामान्य से विशेषों का कथंचित् अन्यपना बन रहा है जैसे कि रूपवान द्रव्य या मूर्त द्रव्य की अपेक्षा मृत्तिका से घट, कपाल आदि विशेष अभिन्न हैं और नियत आकृति और नियत अर्थक्रिया, न्यारी संज्ञा, स्वलक्षण प्रयोजन आदि की अपेक्षा सामान्य मृत्तिका से घट, कपाल, आदि भिन्न हैं तिसी प्रकार सामान्य की अपेक्षा दुःख से आदि अभिन्न हैं तथा प्रतिनियत कारण, नियत विषय, विशेष प्रतिकूलतायें आदि की अपेक्षा साधारण दुःख से असाधारण शोक आदि भिन्न भी हैं अतः सूत्रकार करके शोक आदि का न्यारा प्रतिपादन करना समुचित है।

दुःखादीनां कर्त्रादिसाधनभावः पर्यायिपर्याययोर्भेदोपपत्तेः । तयोरभेदे तावदात्मैव दुःखपरिणामात्मको दुःखयतीति दुःखं, भेदे तु दुःखयत्यनेनास्मिन्वा दुःखमिति, सन्मात्रकथने दुःखनं दुःखमिति ।

यह भी श्री अकलंक देव महाराज का वार्त्तिक है "दुःखादीनां कर्त्रादिसाधनभावः पर्यायिपर्याययोर्भेदाभेदविवक्षोपपत्तेः" दुःख, शोक, आदि शब्दों की कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण और भाव में सिद्धि करते हुये उनके वाच्य का सद्भाव जान लेना चाहिये क्योंकि पर्यायवान् और पर्याय के भेद और अभेद की विवक्षा बन रही है। जिस समय पर्यायवान और पर्याय का अभेद मानना विवक्षित होगा तब तो दुःख परिणति स्वरूप हो रहा आत्मा ही दुःख है। कारण कि चुरादि गण की "दुःख तत्क्रियायां" धातु से कर्ता में अच् प्रत्यय कर दुःख शब्द को बना लिया गया है। दुःखयति इति दुःखं

जो स्वतंत्रतया तदात्मक होकर दुःख परिणत है वह आत्मा ही दुःख है। हाँ जिस समय पर्यायवान् और पर्याय के भेद की विवक्षा है तब तो दुःख क्रिया जिस करके की जा रही है अथवा दुःख क्रिया जहाँ हो रही है वह दुःख है इस प्रकार करण अथवा अधिकरण में भी अच् प्रत्यय कर दुःख शब्द की सिद्धि कर ली जाती है। "विवक्षातः कारकप्रवृत्तेः" विवक्षा से कारक प्रवर्त्त जाते हैं सुन्दर पुस्तक स्वयं पढ़ती है, पुस्तक को पढता है, पुस्तक करके पढता है, पुस्तक से पढता है, पुस्तक में पढता है। यों विवक्षा अनुसार कारकों की प्रवृत्ति है। विवक्षा भी कारण बिना यों ही अंटसंट नहीं बन बैठती है। नियत प्राणियों में ही अपने पुत्र, पिता, पत्नी, पति, जामाता, गुरु आदि विवक्षा की जा सकती है। मन चाहे जिस किसी में नहीं। विवक्षा के अवलम्ब भिन्न-भिन्न परिणमन हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर पुस्तक और अध्येता के विशिष्ट परिणमन ही उनमें न्यारे-न्यारे कारकों की विवक्षा का योग करा देते है दुःख पर्याय और दुःख पर्याय वाले की अभेद विवक्षा और भेद विवक्षा अनुसार कर्तृवाच्य, करणवाच्य, आदिक अर्थों में प्रसिद्ध होरहा दुःख शब्द व्याकरण द्वारा व्युत्पन्न कर लिया जाता है। तथा शुद्ध क्रिया स्वरूप अर्थ के सत्तामात्र का कथन करने पर दुःखनं दुःखं यो भाव मे निरुक्ति करते हुये दुःख शब्द को साध लिया जाता है एवं भूत नय जैसे गौ, शुक्ल, जीव, आदि शब्दों के भी अर्थों को गमनात्, शुचि-भवनात्, जीवनात्, यों क्रियाओं की ओर ढुलका ले जाती है उसी प्रकार "सन्मात्रं भावलिंगं स्यादसपृक्तं तु कारकैः, धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते" यह भाव वाच्य प्रत्यय भी सन्मात्र कहने में शब्द को खीच ले जाती है सब की अन्तरंग भित्तियां पदार्थों की सूक्ष्म परिणतियां है। किसी अकर्मक धातु से भी कृदन्त मे कर्म वाच्य प्रत्यय हो सकते है।

शोकादिष्वपि कर्तृकरणाधिकरणभावसाधनत्वं प्रत्येयं।

दुःख शब्द के समान शोक, ताप, आक्रंदन, वध, परिदेवन, आदि शब्दों में भी कर्ता, करण, अधिकरण, और भाव में प्रत्यय कर सिद्धि हो जाना जान लिया जा, अर्थात्—भ्वादिगण की "शुचि शोके" इस धातु से कर्ता में घञ् प्रत्यय कर शोक शब्द को बना लिया जाय। इष्ट वियोग जन्य दुःख विशेष परिणति का स्वतंत्र कर्ता आत्मा शोक है। शोचति इति शोकः एवं शुच्यते अनेन अस्मिन् वा इति शोकः, शोचनमात्रं वा शोकः, यों निरुक्ति भी की जा सकती है। यद्यपि भाव और कर्म का व्याकरण मे विरोध सा दिखलाया गया है सकर्मक धातुओ से कर्म में प्रत्यय हो सकते हैं और अकर्मक धातुओं से भाव में प्रत्यय हो सकते है "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" (पाणिनीय व्याकरणं) तथापि पचनं, गमनं, पठनं, दोहनं, नयनं आदि सकर्मक धातुओं से भी भाव में युट् प्रत्यय लाये गये हैं। इसी प्रकार अकर्मक धातुओं से भी कर्म की विवक्षा होने पर कर्म वाच्य प्रत्यय लाये जा सकते हैं। जब यह नियम कर दिया गया है कि विवक्षाओं अनुसार कर्ता, कर्म, भाव, अधिकरणपन का आरोप होसकता है तो स्याद्वाद सिद्धान्त में कोई दोष ही नहीं आपाता है। ये सब आरोप पदार्थों के अनेक बहिरंग, अन्तरंग, निमित्तों अनुसार हुये सूक्ष्म परिणमनों पर अवलम्बित है "यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मं स्वभावान्तराणि तथा परिणामात्"। इसी प्रकार "तप दाहे" या "तप उपतापे" धातु से कर्ता, करण, आदि में घञ् प्रत्यय कर ताप शब्द को साध लिया जाय तथा "क्रदि आह्वाने रोदने च" या "क्रदि वैक्लव्ये" धातु से कर्ता आदि अर्थों का द्योतक युट् प्रत्यय कर आक्रन्दन शब्द का निर्वचन कर लिया जाय, एवं भ्वादि गण की "वध" धातु या अदादि गण की "हन हिंसागत्योः" धातु से वध आदेश करते हुये कर्त्ता आदि में वध शब्द को

बना लिया जाय, परि उपसर्ग पूर्वक दिव धातु से कर्त्ता आदि में ल्युट् प्रत्यय कर परिदेवन शब्द साधु सिद्ध कर लिया जाय।

तदेकांतावधारणोऽनुपपन्नमन्यतरैकांतसंग्रहात्। पर्यायैकांते हि दुःखादिचित्तस्य कर्तृत्वसंग्रहः करणादित्वसंग्रहो वा स्यान्न पुनस्तदुभयसंग्रहः। तत्र कर्तृत्वसंग्रहस्तावदयुक्तः करणाद्यभावे तदसंभवात्। मनः करणं संतानोऽधिकरणमित्युभयसंग्रहोऽपि श्रेयान्, कर्तृकाले स्वयमसतः पूर्वविज्ञानलक्षणस्य मनसः करणत्वायोगात् षण्णामनंतरातीतं विज्ञाने यद्धि तन्मन इति वचनात्। संतानो न वस्तु ततोऽधिकरणत्वानुपपत्तेः खरविषाणवत्।

यदि दुःख आदिकों की कर्ता ही या कर्म ही में निरुक्ति कर सिद्धि कर देने के एकान्त का अवधारण किया जावेगा तो अभिप्रेत अर्थ की उपपत्ति नहीं हो सकती है क्यों कि एकान्तवादियों ने पर्याय और द्रव्य आत्मक वस्तु के दोनों अंशों में से एक ही एकान्त का समीचीनतया ग्रहण कर रक्खा है। देखिये केवल पर्याय का ही एकान्त लिया जायगा तब तो दुःख, शोक, आदि स्वरूप चित्त को कर्त्तापने का संग्रह हो सकेगा अथवा दुःख आदि चित्त को करण, अधिकरण, आदिपने का संग्रह हो सकेगा। किन्तु फिर उन दोनों का संग्रह तो नहीं हो सकेगा। अब यह विचारना है कि उनमें पहिला कर्तापने का संग्रह करना तो अयुक्त है क्योंकि पर्याय एकान्त में आत्म द्रव्य के बिना कर्तापने का संग्रह नहीं हो सकता है। करण आदि का अभाव होने पर उस कर्त्तापने का असम्भव है। बौद्धों के यहाँ क्षणिक पक्ष अनुसार क्षणभंगी पर्यायों में कर्तापन, करणपन आदि अवस्थायें नहीं बन पाती है। यदि बौद्ध यों कहें कि मन इन्द्रिय को करण और विज्ञान की सन्तान को अधिकरण मानते हुये यों दोनों का संग्रह हो जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह उपपत्ति करना भी श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि कर्त्ता कारक के काल में स्वयं अविद्यमान होरहे पूर्वकालीन विज्ञान स्वरूप मन के करणपन का अयोग है। आपने जैनों के भाव मन समान विज्ञान को ही मन माना है। बौद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार कथन किया गया है कि छह आयतन या छह विज्ञानों के अव्यवहित पूर्ववर्त्ती जो विज्ञान है वह मन है। वैशेषिकों के मनोद्रव्य समान या जैनों के द्रव्यमन समान कोई स्वतंत्र मन पदार्थ बौद्धों के यहाँ नहीं माना गया है अतः मन तो करण हो नहीं सकता है जब कि कर्त्ता के समय में पूर्व क्षणवर्त्ती विज्ञान स्वरूप मन का ध्वंस हो चुका है। दूसरा विज्ञान की सन्तान को जो अधिकरण कहा गया है वह भी ठीक नहीं पड़ता है। क्योंकि सन्तान कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं माना गया है पहिले पीछे मरे हुये मुर्दों की पंक्ति जैसे कोई परमार्थ स्वरूप मनुष्यों की धारा नहीं है तिस कारण खरविषाण के समान अवस्तुभूत सन्तान को अधिकरणपना नहीं बन पाता है।

चक्षुरादिकरणं शरीरमधिकरणमित्यपि न श्रेयस्तस्यापि तत्काले स्थित्यभावात्। यदि पुनर्दुःखादि चित्तं कर्तृ स्वकार्योत्पादने तत्समानसमयवर्त्ति चक्षुरादिकरणं शरीरमधिकरणं व्यवहारमात्रात्। परमार्थतस्तु न किंचित्कर्तृ करणादि वा भूतिमात्रव्यतिरेकेण भावानां क्रियाकारकत्वायोगात्। भूतिर्येषां क्रिया सैव चोद्यते इति वचनात्। सर्वस्याकर्तृत्वादिव्यावृत्तेरेव कर्तृत्वा-

दिव्यवहारणादिति मतं, तदपि न दुःखादिचित्तस्य कश्चक्षुरादिर्न कर्तुरणाधिकरणे तस्य बहिर्भूत-रूपादिज्ञानोत्पत्तौ करणत्ववचनात् । नापि मनस्तस्य दुःखादिचित्तसमानकालासंभवात् ।

यदि बौद्ध यों कहें कि चक्षु आदिक तो करण है दुःख आदि चित्त का अधिकरण शरीर है। आचार्य कहते हैं कि यह कारकों की उपपत्ति करना भी श्रेष्ठ मार्ग नहीं है क्योकि उन चक्षु आदि या शरीर की भी उस दुःख आदि के काल में स्थिति नहीं है। घट की उत्पत्ति करने में कुछ काल तक ठहरने वाले दण्ड, चक्र, भूतल, ही करण या अधिकरण होते है क्षणिक पदार्थ कुछ कार्यकारी नहीं हैं। यदि फिर बौद्धों का यह मन्तव्य होय कि दुःख आदि चित्त ही अपने कार्य उत्पादन करने में कर्त्ता है और उस कर्त्ता के उसी समान समय मे वर्त रहे चक्षुआदि करण है तथा तत्कालीन क्षणिक शरीर अधिकरण होजाता है; केवल व्यवहार से यों कर्त्ता, करण, अधिकरण भाव है पारमार्थिक रूप से विचारा जाय तब तो न कोई कर्त्ता है और न कोई करण, अधिकरण आदि है। जैनों के यहाँ भी निश्चय अनुसार कोई भिन्न-भिन्न कारकों की व्यवस्था नहीं मानी गयी है। केवल क्षण-क्षण में होते रहने के सिवाय पदार्थों की क्रिया के कारकपन का अयोग है। हम बौद्धों के यहां ग्रन्थों मे ऐसा कथन पाया जाता है कि जिन पदार्थो की क्षण-क्षण में उत्पत्ति होना ही क्रिया है और वही कारक है तथा वह ही उपजना मात्र व्यवहार में अनेक व्यपदेशों से कहा जाता है। नैरात्म्यवादी या अन्यापोहमती बौद्धों के यहां अकर्त्तापन, अकरणपन, आदि की व्यावृत्ति का ही कर्त्तापन, करणपन, आदि निर्देशों से व्यवहार किया जाता है। यहां तक कि सभी विद्वानों के यहां अतद्व्यावृत्ति को हो तत् कहा गया है। धनाढ्य का अर्थ "निर्धन नहीं" इतना ही है। नीरोग का अर्थ "अधिक रोगी नहीं" एतावन् मात्र है। घट का कर्त्ता कुलाल है इसका तात्पर्य यही समझा जाय कि कुम्हार घट का अकर्त्ता नहीं है, यों बौद्धों का मन्तव्य होने पर आचार्य कहते है कि वह मत भी ठीक नहीं है क्योंकि दुःख आदि चित्त स्वरूप कर्त्ता के चक्षु आदिक तो करण और अधिकरण नहीं हो सकते है कारण कि बौद्धों के यहाँ विज्ञान से बाहर होरहे रूप आदि के ज्ञान की उत्पत्ति में उन चक्षु आदि के करणपन का कथन किया गया है। तथा मन भी करण नहीं हो सकता है क्योंकि दुःख आदि चित्त के उसी समान काल में उस अनन्तर अतीत विज्ञान स्वरूप मन का असम्भव है अतः पर्याय का एकान्त करने पर दुःख, शोक, आदि की कर्त्ता करण आदि में निरुक्ति नही हो सकती है। पहिले अनुभूत किये गये अर्थ के नष्ट हो चुकने को चिन्त रहे अन्वयी पुरुष के शोक आदिक होते है किन्तु क्षणिकवाद में स्मरण होना नही सम्भवता है स्मरण नहीं होने से शोक आदिक नहीं हो सकते हैं।

ननु रूपादिस्कंधपंचकस्य युगपद्भावादुःखाद्यनुभवात्मकस्य वेदनास्कंधस्य पूर्वस्य कर्तृत्वमुत्तरदुःखाद्युत्पत्तौ तस्यैव चाधिकरणत्वं सर्वस्य स्वाधिकरणत्वात् । दुःखादिहेतोर्बहिरर्थ विज्ञप्तिलक्षणस्य वेदनास्कन्धस्य चोत्तरात्कार्यात्पूर्वस्य मनोव्यपदेशमर्हतः करणत्वं युक्तमेवेति चेन्न, निरन्वयनष्टस्य कर्तृकरणत्वविरोधात् । स्वकार्यकाले तदनाशे वा क्षणभंगविघातः ।

पुनः बौद्ध अपने पक्ष का अवधारण करते हुये कहते हैं कि रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध, इन रूप आदि पांचों स्कन्धों की युगपत् उत्पत्ति होती रहती है जब कि

पांच विज्ञानों की धारायें चल रही हैं तो दुःख, शोक, आदि के अनुभव स्वरूप पूर्व समयवर्त्ती वेदनास्कन्ध को उत्तर समयवर्त्ती दुःख आदि की उत्पत्ति में कर्त्तापन है और उसी वेदनास्कन्ध को दुःख आदि की उत्पत्ति में अधिकरणपना है। सब को स्व में अपना-अपना अधिकरणपना प्राप्त है साथ ही दुःख आदि के हेतु होरहे बहिरंग अर्थ विज्ञान स्वरूप वेदनास्कन्ध को करणपना समुचित ही है जो कि वेदनास्कन्ध उत्तर समयवर्त्ती उस कार्य से पूर्व समय में वर्त रहा संता मन इस नाम निर्देश के योग्य होरहा है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योकि अन्वय रहित होकर नष्ट हो चुके वेदनास्कन्ध के कर्त्तापन और करणपन का विरोध है। उत्तर समयवर्त्ती अपने कार्य के काल मे पूर्व समयवर्त्ती उस वेदनास्कन्ध स्वरूप कर्त्ता या करण का नाश नही माना जावेगा तब तो बौद्धों के यहां पदार्थो के क्षण में नष्ट हो जाने स्वभाव का भंग होजायेगा जिसको कि बौद्ध कथमपि सहन नहीं कर सकते है।

तथैव स्वभावस्य भावस्य स्वात्मैवाधिकरणमित्यप्यसंभाव्यं, शक्तिवैचित्र्ये सति तस्य तदुपपत्तेः तस्याधेयत्वशक्त्याधेयता व्यवस्थितेरधिकरणशक्त्या पुनरधिकरणत्वस्थितिः संवृत्या तदुपपत्तौ परमार्थतो न कर्त्रादिसिद्धिरिति न दुःखादीनां कर्तादिसाधनत्वं।

तिस ही प्रकार स्वभाव या भाव का अधिकरण स्वकीय आत्मा ही है। यह भी बनना बौद्धों के यहाँ असम्भव है। हां भावों की शक्तियों का चित्र विचित्रपना होने पर तो उस भाव का स्वयं अधिकरणपना बन जाता है क्योंकि अपनी आधेयता रूप शक्ति करके उस भाव का आधेयपना व्यवस्थित होरहा है और अधिकरणपन शक्ति करके फिर अधिकरणपना स्व में व्यवस्थित है। तभी तो कांच पानी को धार लेता है घाम को नहीं। वस्त्र घाम को रोक लेता है, जल को नहीं। स्त्री गर्भ धारण कर लेती है पुरुष नही, यों गांठ की वास्तविक परिणति अनुसार आकाश मे निज की आधेयत्व और अधिकरणत्व शक्ति करके ही स्व प्रतिष्ठा बन रही है। यदि बौद्ध वस्तु शून्य कोरी कल्पना करके उस आधेयपने या अधिकरणपन की प्रसिद्धि करेंगे तब तो परमार्थ रूप से कर्त्ता आदि की सिद्धि नही हो सकी। इस प्रकार बौद्धों के क्षणिकपक्ष में दुःख, शोक, आदि शब्दो की कर्त्ता, करण, आदि मे सिद्धि नही होसकती है। यहाँ तक अनित्य एकान्त पक्ष में या पर्याय का एकान्त स्वीकार करने पर दुःख आदि शब्दों की निरुक्ति नहीं बन सकी कह दी गयी है। अब नित्यपन के एकान्त का अवधारण करने में दोष उठाते है।

नित्यत्वैकांतेऽपि न तत्सगच्छते निरतिशयात्मनः कर्तृत्वानभ्युपगमात्। केनचित्सहकारिणाततो भिन्नस्यातिशयस्य करणे तस्य पूर्वाकर्तृत्वावस्थातोऽप्रच्युतेः कर्तृत्वविरोधात्। प्रच्युतौ वा नित्यत्वविघातात् तदभिन्नस्यातिशयस्य करणे तस्यैव कृतेरनित्यतैव स्यात्। कथंचित्तस्य नित्यतायां परमताश्रयणं दुर्निवारं।

सांख्यमतियों के यहाँ नित्यपन के एकान्त पक्ष में भी वह दुःख, शोक, आदि में कर्त्तापन करणपन नहीं संगत हो पाता है। क्योकि शक्तियों, स्वभाव, परिणतियों स्वरूप अतिशयो से रहित होरहे आत्मा का कर्तापन स्वीकार नहीं किया गया है। क्रिया में स्वतंत्र होकर व्यापार कर रहा पदार्थ कर्त्ता कहा जाता है। अतिशयों से रीता कूटस्थ पदार्थ कथमपि कर्त्ता नहीं हो सकता है। किसी एक सहकारी कारण से उस कर्त्ता में अतिशय किया माना जावेगा, तो प्रश्न उठता है। कि वह अतिशय कर्ता से भिन्न-

किया गया है ? या कर्ता से अभिन्न किया गया है ? प्रथम पक्ष अनुसार सहकारी कारण करके यदि कर्त्ता से भिन्न अतिशय का किया जाना माना जायेगा तो उस कर्त्ता की पूर्ववर्तिनी अकर्त्तापन अवस्था से प्रच्युति नहीं होने के कारण कर्त्तापन का विरोध है। जैसे तटस्थ असंख्य पदार्थ उस कर्त्ता से भिन्न पड़े हुये हैं उसी प्रकार वह नया उपजा अतिशय भी निराला पड़ा रहेगा। पहिले का कूटस्थ अकर्तृपन हट नहीं सकता है। यदि गाँठ के अकर्तृपन की प्रच्युति मानोगे तो उस कूटस्थ आत्मा के नित्यपन का विघात हुआ जाता है। हाँ द्वितीय पक्ष अनुसार सहकारी कारणों करके उस आत्मा से अभिन्न अतिशय का किया जाना माना जायेगा तब तो उस कर्त्ता आत्मा का ही किया जाना होने से आत्मा का अनित्यपना ही हो जावेगा इन उक्त दोनों दोषों के निवारणार्थ उस आत्मा का कथंचित् नित्यपना इष्ट करोगे तब तो दूसरे स्याद्वादियों के मत का आश्रय पकड़ना कथमपि दुःख से भी निवारणीय नहीं हुआ "अध सर्पविल प्रवेश" न्याय से स्याद्वाद की शरण लेना आवश्यक हो जाता है तभी तो कहा गया है "दुःखादीनां कर्त्रादिसाधनभावः पर्यायिपर्याययोर्भेदाभेदोपपत्तेः"।

एतेन प्रधानपरिणामस्य महदादेः करणत्वं प्रत्युक्तं, स्याद्वादानाश्रयणे कस्यचित्परिणामानुपपत्तेः प्रसाधनात्। तत एव नाधिकरणत्वं कर्मता वा तस्येति विचिंतितं।

इस उक्त कथन करके सांख्यों के यहाँ माने गये प्रधान के परिणाम हो रहे महत्, अहंकार, तन्मात्रायें, आदि का करणपना खण्डित कर दिया गया है कारण कि स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय नहीं लेने पर किसी भी पदार्थ का परिणाम होना नही बनता है। इस को हम कई स्थलों पर भले प्रकार साध-चुके हैं। पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकार का ग्रहण तथा ध्रुवत्व स्वरूप परिणामों की उत्पत्ति होना नित्यानित्यात्मक पदार्थ मे बनता है। तिस ही कारण से अर्थात्—अनेकान्त का तिरस्कार कर एकान्त पक्ष पकड़ लेने से सांख्यों के यहाँ उन महत्तत्त्व आदि का अधिकरणपना अथवा कर्मपना नही सध सकता है इस बात का भी विशेष रूप से चिंतन कर दिया जा चुका है।

एतेन स्वतो भिन्नानेकगुणस्यात्मनः कर्तृत्व व्यवच्छिन्नं, नित्यस्यानाधेयाप्रहेयातिशयत्वात्। तत एव न मनसः करणत्वं दुखाद्युत्पत्तौ सर्वथाप्यनित्यत्वप्रसंगात्। दुःखाधिकरणत्वमप्यात्मनोऽनुपपन्नं पूर्वं तदनधिकरणस्वभावस्यात्यागे तद्विरोधात्, त्यागे नित्यत्वक्षतेः सर्वथापत्तेः। ततोऽनेकात्मन्येवात्मनि दुःखादीनि संभूतौ संभाव्यते नेतरत्र।

इस उपर्युक्त निर्णय करके अपने से सर्वथा भिन्न हो रहे अनेक गुणों वाले आत्मा का भी कर्तापन निरस्त कर दिया गया है क्योंकि कूटस्थ नित्य पदार्थ के (में) नवीन अतिशयों का आधान नहीं होसकता है और पूर्व अतिशयों का परित्याग भी नहीं हो सकता है। अर्थात्—वैशेषिकों के यहाँ सर्वथा नित्य आत्मा के बुद्धि आदि चौदह गुण सर्वथा भिन्न माने गये है जब तक आत्मा पूर्व अतिशयों का त्याग कर उत्तर स्वभावों को ग्रहण नहीं करेगा तब तक उसके कर्तापन, करणपन, नही बन सकते हैं। परिणामी जल में तो अग्नि का सन्निधान हो जाने पर शीत अतिशय की निवृत्ति और उष्ण अतिशय का प्रादुर्भाव होजाता है। नैयायिक या वैशेषिक के यहां आत्मा को परिणामी नही माना गया है। तिस ही कारण से दुःख, शोक, आदि की उत्पत्ति में मन भी करण नहीं हो सकता है क्योंकि करण मानने पर

मन को सभी प्रकारों से अनित्यपन का प्रसंग आता है। अनित्य पदार्थ ही पहिली अकरण अवस्था का त्याग कर क्रिया के साधकतमपन अवस्था को ले सकता है तथा कर्तापन या करणपन के समान आत्मा को दुःखों का अधिकरणपना भी नहीं बन पाता है क्योंकि जब तक पहिले के उस दुःख के अधिकरणपन स्वभाव का त्याग नहीं किया जायगा तब तक उस दुःख के अधिकरणपन स्वभाव हो जाने का विरोध है। हां पहिले के अकर्तापन, अकरणपन, अनधिकरणपन, स्वभावों का त्याग माना जायेगा तब तो वैशेषिकों के यहां सर्वथा नित्यपन के नष्ट हो जाने की आपत्ति आजावेगी तिस कारण सिद्ध होजाता है कि नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक धर्म आत्मक आत्मा में दुःख आदिक परणतियां संसार अवस्था में सम्भव रही हैं प्रकृति, बुद्धि, या अपरिणामी आत्मा, नित्यात्मा अथवा अन्य जड़ पदार्थों में दुःख, शोक, आदिक परिणाम नही सम्भवते है।

तान्यात्मपरोभयस्थानि क्रोधाद्यावेशवशाद्भवंति स्वघातनवत् स्वदास्यादिताडनवत् स्वाधमर्णनिरोधकोत्तमर्णवच्च।

क्रोध, अभिमान आदि के आवेश के वश से स्वयं अपने में, पर में और दोनों में वे दुःख आदिक परिणाम स्थित हो जाते हैं जैसे कि आत्महत्या करने वाले जीव के स्वयं को तीव्र क्रोध हो जाने से अपना घात करना हो जाता है यह स्व में स्थित हो रहे क्रोध का उदाहरण है। क्रोध के आवेश से अपने दासी, भृत्य, आदि का ताड़न कर जैसे दूसरों में दुःख आदि उपजाये जाते हैं वैसे ही अन्य भी परस्थ दुःख आदि है यह परस्थ दुःख आदि का उदाहरण है। तीसरे उभयस्थ दुःख आदि को यों समझिये कि जैसे अपने अधमर्ण (कर्जदार) को रोक रखने वाला उत्तमर्ण होता है यानी कर्ज देने वाला सेठ कर्ज नहीं चुकाने वाले को देर तक चारक बन्धन (बंदीखाने) में रोक देता है ऐसी क्रिया करने मे दोनों को दुःख उपजता है। पाठ को नहीं अभ्यस्त करने वाले उद्दण्ड छात्र को पीटने पर शान्त प्रकृतिक गुरु और शिष्य दोनों को दुःख उपजता है यों "आत्मपरोभयस्थानि" का विवरण कर लेना चाहिये।

असद्वेद्यस्येत्यत्र विद्यादीनामवगमनाद्यर्थत्वादनर्थको निर्देश इति चेन्न, विदेश्चेतनार्थस्य ग्रहणात् विदेश्चेतनार्थे चुरादित्वात्तस्येदं वेद्यते इति वेद्यं न पुनरवगमनलाभविचारणसद्भावार्थानां वेत्ति-विंदति-विनत्ति-विद्यतीनामन्यतमग्रहणं येनानर्थको निर्देशः स्यात्।

यहाँ कोई आक्षेप करता है कि असच्च तद्वद्यं इति असद्वेद्यं यों यहाँ असद्वेद्य शब्द में विदि, विद्लृ आदिक धातुओं के अर्थ अवगमन, लाभ, आदिक है इन में से किसी भी अर्थ का संग्रह करनेपर अभीष्ट अर्थ की संगति नहीं मिल सकती है। इस कारण सूत्रकार द्वारा वेद्य शब्द का निर्देश करना निरर्थक है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि चेतन अर्थ में वर्त रही विद् धातु का यहां ग्रहण है (इकस्तिपौ धातुनिर्देशे) चेतन अर्थ में वर्त रही विद धातु चुरादि गण की है। उस धातु से ण्यन्त करते हुये कर्म में निरुक्ति कर पुनः कृदन्त में वेद्य शब्द बना लिया जाता है। सातवेदनीय या असातवेदनीय कर्मों का जीवों को संचेतन होता रहता है इस कारण यह वेद्य कर्म है। किन्तु यहाँ फिर विद् अवगमने, विद्लृ लाभे, विद विचारणे, विद् सत्तायां, इन ज्ञान, लाभ, विचारना, सद्भाव अर्थों वाली वेत्ति (अदादिगण) और विन्दति तुदादिगण) विदन्ति या विन्ते रुधादिगण) विद्यते (दिवादिगण) की धातुओं में से किसी एक का भी ग्रहण नहीं है जिससे कि सूत्रकार का निर्देश कर देना व्यर्थ होजाता।

तदसद्वेद्यमप्रशस्तत्वादनिष्टफलप्रादुर्भावकारणत्वाच्च विशेष्यते । असच्च तद्वेद्यं च तदिति ।

जगत् में अनेक प्रकार के दुःखों को देने वाले अप्रशंसनीय पदार्थ से अनिष्ट फलों को उपजाने वाले बहुत प्रकार के कारण है। तदनुसार अप्रशस्त होने से और अनिष्ट फलों की उत्पत्ति के कारण होने से वह असात वेदनीय कर्म विशेष-विशेष प्रकार का होजाता है जो असत यानी अप्रशस्त होरहा सन्ता चेतना करने योग्य है इस कारण वह तो असद्वेद्य है। यों कर्मधारय समास वृत्ति कर लेनी चाहिये।

अत्र सूत्रे दुःखाभिधानमादौ प्रधानत्वात् । तस्य प्राधान्यं तद्विकल्पत्वादितरेषां शोकादीनां । शोकादिग्रहणस्यान्यविकल्पोपलक्षणार्थत्वादन्यसंग्रहः । के पुनस्तेऽन्ये ? अशुभप्रयोगपैशुन्यपरपरिवादाः कृपाविहीनत्वं अंगोपांगछेदनतर्जनसंत्रासनानि । तथा भर्त्सनतक्षणविशमनबंधनसंरोधनानिरोधाग्रैमर्दनभेदनवाहनसंघर्षणानि तथा विग्रहे रौक्ष्यविधानं परात्मनिंदाप्रशंसने चैव संक्लेशजननमायुर्बहुमानत्व च सुखलोभात् बह्वारम्भपरिग्रहविश्रंभविघातनैकशीलत्वं पापक्रियोपजीवननिःशेषानर्थदण्डकरणानि तद्दानं च परेषां पापचारैर्जनैश्च सह मैत्री तत्सेवासभाषणसव्यवहाराच्च संलक्ष्याः ।

इस सूत्र में सब के प्रथम दुःख पद का निर्देश करना तो प्रधान होने के कारण हुआ है क्योंकि उस दुःख से न्यारे कहे गये शोक आदिक तो उसी दुःख के भेद प्रभेद है। अतः दुःख ही आदि में प्रधान बोला जाता है। हाँ शोक आदि का ग्रहण करना तो दुःख के अन्य संग्रहीत विकल्पों का उपलक्षण या ग्रहण करने के लिए है। इस कारण अनुपातों का भी संग्रह होजाता है। दुःख के वे अन्य भेद प्रभेद फिर कौन से है ? इस प्रश्न का उत्तर यों समझिये कि अशुभ क्रियाओं का प्रयोग करना, पैशुन्य (चुगली) करना, दूसरों की निन्दा तिरस्कार करना, कृपा से रहितपना, अंग या उपांगों का छेदना, ताड़ना, अधिक त्रास देना तथा डरावना, कुत्सित प्रभाव डालना, छीलना, काटना, बांधना, खूब रोक देना, जाने आने में विघ्न डालना, आदि करके मर्दन करना, भेदना, लादना, मार घसीटना, आदि है यथा शरीर मे रूखापन लाना या लड़ाई करते हुये प्रकृति में रूखापन ले आना परायी निन्दा और अपनी प्रशंसा ही किये जाना एवं सक्लेश उपजावना, आयु को बहुत मानना तथैव सुख के लोभ से बहुत आरम्भपरिग्रह रखना विश्वास को विघात करने की एक टेव रखना, पाप क्रियाओं से आजीविका चलाना, सम्पूर्ण अनर्थदण्डो को किये जाना तथा उन पापोपदेश आदि को दूसरों के लिये अर्पण करना, उन पापाचारियों की सेवा करना, पापियों के साथ सम्भाषण करना, और अधिक व्यवहार से भले प्रकार पहिचानने योग्य क्रियाओं का सेवन करना इत्यादि बहुत सी कुत्सित क्रियाओं का शोक आदि पदो द्वारा उपलक्षण हो जाता है।

ते एते दुःखादयः परिणामाः स्वपरोभयस्थाः असद्वेद्यस्य कर्मण आस्रवाः प्रत्येतव्याः । प्रपंचतोऽन्यत्र तदभिधानात् ।

वे सब ये दुःख शोक आदिक परिणाम यदि स्व में दूसरे में अथवा दोनों में स्थित हो जाते

हैं तो असातवेदनीय कर्म के आस्रव होते हैं ऐसा विश्वास कर लेना चाहिये। इस प्रकरण का विस्तार से निरूपण अन्य ग्रन्थों में वहाँ वहाँ कह दिया है।

अथ दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवत्वं किमागममात्रसिद्धमाहोस्विदनुमानसिद्धमपीत्याशंकायामस्यानुमानसिद्धत्वमादर्शयति।

इस के अनन्तर अब यहाँ किसी की आशंका उठती है कि दुःख शोक आदिक ये असद्वेदनीय कर्मके आस्रव हैं, क्या यह मन्तव्य केवल जैनों के आगम प्रमाण से ही सिद्ध है? अथवा क्या अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध है? बताओ। इस प्रकार आशंका होने पर ग्रन्थकार इस सूत्र के प्रमेय की अनुमान से सिद्धि होजाने को दिखलाते हैं।

दुःखादीनि यथोक्तानि स्वपरोभयगानि तु।
आस्रावयंति सर्वस्याप्यसातफलपुद्गलान् ॥१॥
तज्जातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वाद्यथानले।
प्रवेशादिविधायीनि स्वसंवेद्यानि कानिचित् ॥२॥

सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार यथा उक्त चले आये सूत्र में कहे गये एवं स्वयं पर और उभय में प्राप्त होरहे दुःख शोक आदिक तो (पक्ष) असाता फल वाले पुद्गलों का आस्रव कराते हैं (साध्य) उस-उस दुःख आदि जाति वाले आत्मसंक्लेश विशेष के होने से (हेतु) हम आदि के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा जाने गये कोई-कोई दुःख आदिक जिस प्रकार अग्नि में प्रवेश करना, भुरस जाना, जल मरना आदि क्रियाओं को करा देते हैं (अन्वयदृष्टान्त) यह बात सभी दार्शनिकों या लौकिक जनों के यहाँ प्रसिद्ध है यों अनुमान प्रमाण से साध दिया गया है।

दुःखमात्मस्थमसातफलपुद्गलास्रावि दुःखजातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वात् पावकप्रवेशकारिप्रसिद्धदुःखवत्। तथा परत्र दुःखमसातफलपुद्गलास्रावि तत एव तद्वत्, तथोभयस्थं दुःखं विवादापन्नमसातफलपुद्गलास्रावि तत एव तद्वत्। एव शोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसातफलपुद्गलास्रावीण्युत्पादयितुर्जीवस्य दुःखजातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वाद्विषभक्षणादिविधायिशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनवत् इत्यष्टादशानुमानानि प्रतिपत्तव्यानि।

उक्त कारिकाओं की टीका इस प्रकार है कि अपने में स्थित होरहा दुःख (पक्ष) असात फल वाले पुद्गलों का आस्रव कर्ता है (साध्यदल) दुःख की जाति वाला विशेष आत्म संक्लेश होने से (हेतु) अग्नि में प्रवेश कराने वाले प्रसिद्ध होरहे स्वकीय दुःख के समान (अन्वयदृष्टान्त)। भावार्थ—स्व तीव्र दुःख हो जाने पर जैसे कोई आत्मघाती पुरुष अग्नि में प्रवेश कर चारों ओर से अग्नि का आस्रव कर लेता है उसी प्रकार स्वयं को दुःख उपजा कर आत्मा संक्लेश विशेष होने के कारण असातवेदनीय कर्म का आस्रव कर्त्ता है यह आत्मस्थ दुःख करके असातवेदनीय के आस्रव को साधने वाला पहिला अनुमान

हुआ है। तिस ही प्रकार दूसरों में किया गया दुःख (पक्ष) प्रतिकूलवेदना स्वरूप फल को धारने वाले पुद्गलों का आस्रव कराता है (साध्य) तिस ही कारण से यानी पर को दुःख उपजाने की जाति वाले विशेष आत्मसंक्लेश के होने से (हेतु) उसी के समान अर्थात्—दूसरों को आग में प्रवेश कराने वाले लोक प्रसिद्ध हो रहे दुःख के समान (अन्वय दृष्टान्त) यह दूसरा अनुमान हुआ। तथा उभय यानी स्व और पर दोनों में तिष्ठ रहा दुःख (पक्ष) विवाद में प्राप्त होरहे असात फल वाले पुद्गलों का आस्रावक है (साध्य) तत एव अर्थात्—स्व पर दुःख को उपजाने की जाति वाले विशेष आत्मीय संक्लेश होने से (हेतु) उसी के समान भावार्थ—स्व, पर, दोनो के अग्नि मे प्रवेश कराने वाले प्रसिद्ध दुःख के समान (अन्वयदृष्टान्त)। यह तीसरा अनुमान हुआ। यों उक्त तीन अनुमानों से स्वस्थ, परस्थ, और उभयस्थ दुःखों में प्रकृत साध्य को साध दिया है। इसी प्रकार स्वस्थ, परस्थ, और उभयस्थ होरहे शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन (पक्ष) शोक आदि को उपजाने वाले जीव के असातफल वाले पुद्गलों का आस्रव कराते हैं (साध्य) दुःख की शोक आदि जातिवाले विशेष आत्म संक्लेश होने से (हेतु) विष खा लेना, शस्त्र मार लेना, आग लगा देना आदि क्रियाओं को कराने वाले शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार अठारह अनुमान समझ लेने चाहिये। अर्थात्—तीन अनुमान तो पूर्व में प्रकट कर दिये गये हैं—१स्वस्थ शोक २ परस्थ शोक ३ उभयस्थशोक ४ स्वस्थ ताप ५ परस्थताप ६ उभयस्थ ताप ७ स्वस्थ आक्रन्दन ८ परस्थ आक्रन्दन ९ उभयस्थ आक्रन्दन १० स्वस्थवध ११ परस्थवध १२ उभयस्थ वध १३ स्वस्थ परिदेवन १४ परस्थ परिदेवन १५ उभयस्थपरिदेवन इन पन्द्रहों को पक्ष कर उक्त साध्य, हेतु, दृष्टान्त, देते हुये पन्द्रह अनुमान बना कर आगम सिद्ध प्रमेय की प्रतिवादियों के सन्मुख अनुमानों से सिद्धि कर दी गयी है। अब भले ही वे व्यभिचार, आदि दोष उठावे उनको अवसर दिया जाता है किन्तु निर्दोष अनुमानों मे कोई क्या दोष लगायेगा ? नही। प्रत्युत प्रसन्न होगा।

न तावदत्र दुःखजातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वं साधनमसिद्धं । क्रोधादुपनीतदुःखादीनां विशुद्धिरिति विरोधिनां दुःखजातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वप्रसिद्धेः । नाप्यनैकांतिकं तीर्थकराद्युत्पादितकायक्लेशादिदुःखेन स्वपरोभयस्थेनाप्यसातफलपुद्गलानास्रवणादिति न मंतव्यं, तस्या तज्जातीयत्वादात्मसंक्लेशविशेषत्वासिद्धेः । तत एव न तीर्थकरोपदेशविरोधात् दुःखादीनाममद्वेद्यास्रवत्वायुक्तिः, सर्वेषां स्वर्गापवर्गसाधनानां दुःखजातीनां पापास्रवत्वप्रसंगात् । तपश्चरणाद्यनुष्ठायिनो द्वेषाद्यभावाच्च ।

इस अनुमान में कहा गया दुःख जाति वाला आत्म संक्लेश विशेष हो जाना हेतु असिद्धहेत्वाभास तो नहीं है क्योंकि क्रोध से चला कर प्राप्त कराये गये दुःख आदिको को दुःखजातीय आत्म संक्लेश विशेषपना प्रसिद्ध है जो कि विशुद्धि इस आत्मीय स्वभाव के विरोधी हो रहे दुःख, शोक, आदि है। भावार्थ—कषाय प्रयुक्त हुये दुःख, आदिक सब आत्मा की विशुद्धि के विरोधी हैं अतः वे संक्लेश विशेष है यों पक्ष में हेतु ठहर गया। तथा उक्त हेतु व्यभिचारी भी नहीं है कारण कि विपक्ष में हेतु के ठहर जाने का निश्चय नहीं है संदेह भी नहीं है। यदि यहाँ कोई यों मान बैठे कि तीर्थंकर भगवान् स्वयं तपश्चरण करते हुये अपने में दुःख उपजाते है अन्य दीक्षा लेने वालों को नग्नता, केश उपाटना, उपवास आदि के उपदेश देकर दुःख उपजाते हैं, आचार्य महाराज या पण्डित जी आदि स्वयं

यम, नियम, कायक्लेश करते हुये दूसरों को भी उन क्रियाओं में प्रवर्ताते हैं अतः स्व पर और उभय में स्थित होरहे भी इन तीर्थंकर, आचार्य, आदि द्वारा उपजाये गये कायक्लेश, केशलुंच, आदि दुःखों करके असातफल वाले पुद्गलों का आस्रव नहीं होपाता है यों हेतु के रहते हुये भी साध्य का नहीं ठहरना होने से व्यभिचार प्राप्त हुआ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मान बैठना चाहिये क्योंकि कायक्लेश, दीक्षा आदि के उस दुःख की वह जाति ही नहीं है जो कषाय प्रयुक्त दुःखों की है अतः वे दुःख आत्मा के संक्लेश विशेष ही सिद्ध नहीं हैं। वस्तुतः विचार किया जाय तो कायक्लेश, इन्द्रियदमन, आदि ये दुःख ही नहीं हैं तिस ही कारण से उन क्रियाओं द्वारा पाप कर्म का आस्रव नहीं होपाता है अन्यथा तीर्थंकर महाराज के उपदेश देने के विरोध होजाने का प्रसंग आजावेगा। सभी दार्शनिकों के यहाँ दीक्षा, ब्रह्मचर्य, दान, उपवास, आदि का विधान है धर्म्यध्यान मे लगे हुये जीव के उपवास, केशलुंचन, कायक्लेश, आदि में कोई द्वेष नहीं है अतः ऐसे दुःख आदिकों के द्वारा असातवेदनीय के आस्रव होने का अयोग है। रोगी को वैद्य अन्न नहीं खाने देता है, डाक्टर फोड़ा को चीरता है, शिष्य का गुरु ताड़ता है इन अनुष्ठानों में संक्लेश विशेष नहीं है। समाधिमरण कराने वालों को पाप नहीं लगता है। अन्यथा सभी वादी प्रतिवादियों के यहां माने गये स्वर्ग या मोक्ष के साधनों को पाप के आस्रव होजाने का प्रसंग आजावेगा, देवपूजा, अकामनिर्जरा, संयमासंयम, दीक्षा, गुप्तिपालन आदि साधन एक प्रकार से दुःख की जाति वाले भास रहे हैं किन्तु हैं नहीं। दूसरी बात यह है कि तपश्चरण, कायक्लेश, उपवास आदि का अनुष्ठान करने वाले जीव के द्वेष, क्रोध, आदि संक्लेशों का अभाव है। वस्तुतः तप आदि तो अनुकूल वेदनीय हैं। चिरकाल से पुत्र की अभिलाषा रखने वाली स्त्री को गर्भ वेदना बुरी नहीं लगती है इसी प्रकार भव्य को मुक्ति की लिप्सा लग रही है।

आहितप्रसादत्वाच्च दुष्टा प्रसन्नमनसामेव स्वपरोभयदुःखाद्युत्पादने पापास्रवत्वसिद्धेः। "ग्रामे पुरे वा विजने जने वा प्रासादशृंगे द्रुमकोटरे वा। प्रियांगनांकेऽथ शिलातले वा मनोरतिं सौख्यमुदाहरति॥" इति। न च मनोरत्यभावे बुद्धिपूर्वः स्वतंत्रः कश्चित्तपःक्लेशमारभते, विरोधात्। ततो न प्रकृतहेतोः तपश्चरणादिभिर्व्यभिचारः सर्वसंप्रतिपत्तेः। परेषामसद्वेद्यादीनामनिराकरणाच्च निरवद्यं दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवत्वसाधनं।

एक बात यह भी है कि तपश्चरण आदि में मुनि को संक्लेश नहीं होकर प्रत्युत आत्मा के स्वाभाविक प्रसाद की प्राप्ति होती है अतः पापों का आस्रव नहीं होता है हां दुष्ट और अप्रसन्नमन वाले जीवों के ही स्व पर और उभय को दुःख, शोक आदि के उपजाने में पापों का आस्रव होना सिद्ध है। लोक में भी यह बात प्रसिद्ध है कि चाहे गांव में रहे चाहे नगर में, अथवा निर्जन एकान्त में रहे, या जनाकीर्ण स्थान में रहे एवं महलों की शिखरों पर बनी हुयी अट्टालिकाओं में रहे चाहे वृक्ष के पोल कोटर में रहे तथा भले ही कोई प्रियस्त्रियों की गोद में ठहरे अथवा शिलातल पर आसन जमावे जहां कहीं मानसिक रति है वहां ही सुख बखाना जाता है। इस पद्य में शृंगार और वैराग्य के बहिर्भूत साधनों की उपेक्षा कर मानसिक लगन को ही सुख माना गया है। वस्तुतः विचारा जाय तो राग या प्रेम अवस्था में सुख की कल्पना कर वैराग्य सम्बन्धी सुख के साथ उसकी तुलना करना युक्त नहीं है। प्रकरण में केवल इतना ही कहना है कि जिस प्रकार दुःखों से पीड़ित होरहे संसारी जीवों की जहां मानसिक

रति है वहां ही सुख है उसी प्रकार उपवास, केशलोंच आदि क्रियाओं को कर रहे मुनि के मानसिक आनन्द का सन्निधान है अतः दुःखादि नही है। तभी तो कभी-कभी उक्त शुभ क्रियाओं मे यदि क्रोध आदि प्रमाद हो जाये तो प्रायश्चित्त का विधान करना पड़ता है अतः तपश्चरण आदि करने में साधुओं के विशुद्ध मानसिक अनुराग है। मानसिक रति के बिना कोई भी स्वतत्र जीव बुद्धि पूर्वक क्रियाओं को कर रहा सन्ता कहीं भी कायक्लेश का आरम्भ नहीं करता है क्योंकि विरोध है। जहां मानसिक प्रेम नहीं है वहां स्वतंत्र पुरुष को बुद्धि पूर्वक कोई क्रिया ही नहीं है और जहां बुद्धि पूर्वक क्रिया है वहां मानसिक अनुराग अवश्य है अतः मनोरत्यभाव का तपःक्लेश आदि क्रियाओं के साथ विरोध है। तिस कारण प्रकरण प्राप्त आत्म संक्लेश विशेषत्व हेतु का तपश्चरण कायक्लेश आदिकों करके व्यभिचार नहीं आता है। सभी लौकिक या दार्शनिक विद्वानों के यहां उक्त सिद्धान्त की समीचीन प्रतिपत्ति होरही है। दूसरों के यहां भी दुःख, शोक, आदि क्रियाओं से असद्वेद्य आदि कुफल वाले पुद्गलों के आस्रव होने का निराकरण नहीं किया गया है अतः इस अन्वयदृष्टान्त द्वारा भी दुःख, शोक, आदिकों के द्वारा असद्वेद्य के आस्रव होने को साधना निर्दोष है।

असातवेदनीय कर्म का आस्रव कराने वाले हेतुओं को कहा अब सद्वेद्य के आस्रावक कौन है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते है।

भूतव्रत्यनुकंपादानसरागसंयमादियोगः क्षांतिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥

भूत यानी प्राणीमात्र और विशेष रूप से व्रती जीवों में अनुकम्पा करना तथा अनुकम्पा पूर्वक दान करना एवं राग सहित संयम पालना आदि यानी संयमासंयम धारण करना, अकाम निर्जरा करना, बाल तप करना इन तीन का आदि पद से ग्रहण करना और योग धारना, क्षमा पालना, निर्लोभ होकर शौच धर्म सेवना, इस प्रकार की शुभ क्रियाये तो सातवेदनीय कर्म का आस्रव कराती है।

आयुर्नामकर्मोदयवशाद्भवनाद्भूतानि सर्वप्राणिन इत्यर्थः। व्रताभिसंबंधिनो व्रतिनः सागारानगारभेदाद्वक्ष्यमाणाः। अनुकंपनमनुकंपा। भूतानि च व्रतिनश्च भूतव्रतिनः तेषामनुकम्पा भूतव्रत्यनुकंपा। 'साधनं कृता बहुल'मिति वृत्तिः गले चोपकवत् मयूरव्यंसकादित्वाद्वा।

आयुःकर्म और नाम कर्म के उदय की अधीनता से जो उन-उन गतियों में उपजते रहते है वे भूत है इसका अर्थ सम्पूर्ण संसारी प्राणी है। अणुव्रतों का और महाव्रतों का सब ओर से सम्बन्ध रखने वाले प्राणी व्रती है जो कि सागार-अनगार के भेद से "अगार्यनगारश्च" इस सूत्र द्वारा दो प्रकार के कहे जाने वाले है। परायी पीड़ा को मानू अपने में ही कर रहे दयालु पुरुष की अनुकम्पा को यहाँ अनुकम्पा समझा जाय। भूतों और व्रतियों यों इतरेतर द्वन्द्व समास कर "भूतव्रतिनः" पद बना लेना चाहिये, उन भूतव्रतियों के ऊपर जो अनुकम्पा भाव है वह भूतव्रत्यनुकम्पा है यहाँ "साधनं कृता बहुलं" इस सूत्र द्वारा तत्पुरुष समास किया गया है। जिस प्रकार कि गले में चोपक (रोग विशेष) ऐसा विग्रह कर तत्पुरुष समास कर लिया जाता है। राजवार्त्तिक या सर्वार्थसिद्धि में यहाँ सप्तमी तत्पुरुष किया गया है।

किन्तु इस ग्रन्थ में षष्ठी तत्पुरुष है फिर भी "साधनं कृता बहुलं" इस सूत्र द्वारा वृत्ति करने में गल-घोपक दृष्टान्त प्रतिकूल नहीं पड़ता है। अथवा "मयूरव्यंसकादयश्च" इस सूत्र द्वारा समास कर लिया जाय मयूरव्यंसक आदि में आकृति गण होने से "भूतव्रत्यनुकंपा" भी पढ़ दिया गया है।

स्वस्य परानुग्रहबुद्ध्यातिसर्जनं दानं वक्ष्यमाणं, सांपरायनिवारणप्रवणो अक्षीणाशयः सरागः, प्राणींद्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः सरागो वा संयमः स आदिर्येषां ते सरागसंयमादयः। संयमासंयमाकामनिर्जराबालतपसां वक्ष्यमाणानामादिग्रहणादवरोधतः। निरवद्यक्रियाविशेषानुष्ठानं योगः समाधिरित्यर्थः। तस्य ग्रहणं कायादिदंडभावनिवृत्त्यर्थं। भूतव्रत्यनुकंपा च दानं च सरागसंयमादयश्चेति द्वंद्वः तेषां योगः। धर्मप्रणिधानात्क्रोधादिनिवृत्तिः क्षांतिः क्षमू सहने इत्यस्य दिवादिकस्य रूपं। लोभप्रकाराणामुपरमः शौचं, स्वद्रव्यात्यागपरद्रव्यापहरणसांन्यासिकनिह्नवादयो लोभप्रकाराः तेषामुपरमः शौचमिति प्रतीताः। इतिकरणः प्रकारार्थः।

दूसरों के ऊपर अनुग्रह बुद्धि करके अपनी निज वस्तु का त्याग करना दान है जो कि आगे विस्तार से कह दिया जायगा। दसमे गुणस्थान तक यद्यपि कषाय नष्ट नहीं हुये हैं अतः वह क्षीण-कषाय नहीं है फिर भी साम्पराय कषायों का निवारण करने में उद्युक्त होरहा है वह पुरुष सराग है। प्राण संयम और इन्द्रिय संयम को पालते हुये जीव की प्राणी और इन्द्रियों में जो अशुभ प्रवृत्ति का विराम है वह संयम है। सराग जीव का संयम अथवा सराग स्वरूप जो संयम है वह सराग संयम है। वह सराग संयम जिनके आदि में है वे अनुष्ठान सरागसंयम आदिक हैं यहाँ। आदि पद के ग्रहण से भविष्य में कहे जाने वाले संयमासंयम अकामनिर्जरा बालतपस्या का अवरोध है यानी धर लिये जाते हैं। जिस सम्यग्दृष्टि के त्रस वध का त्याग है और स्थावर वध का त्याग नहीं है वह उसका संयमासंयम है। अपने अभिप्रायों से विषयों का त्याग नहीं करने वाले जीव के परवश होकर भोगो का निरोध होना या साम्य भावों से क्लेशों को सहना अकामनिर्जरा है। अज्ञानी यानी मिथ्यादृष्टी जीवों का अग्नितप, ऊंचा हाथ उठाये रखना आदिक बालतप है, निर्दोष क्रिया विशेषों का अनुष्ठान करना योग है। इसका अर्थ समाधि है जो कि भले प्रकार चित्त की एकाग्रतास्वरूप है। काय, वचन आदि के उद्दण्ड भावों की निवृत्ति के लिये उस योग का ग्रहण है। भूतव्रतियों पर अनुकम्पा और दान तथा सराग-संयम आदिक यों इतरेतरद्वन्द्व कर उनका योग यों षष्ठी तत्पुरुष वृत्ति कर ली जाय। धर्म अनुष्ठानों में चित्त की एकाग्रता हो जाने से क्रोध आदि की निवृत्ति हो जाना क्षांति है यह भ्वादिगण में पढ़ी हुई क्षमूष सहने धातु से नहीं बना है किन्तु दिवादिगण में पढ़ी गयी क्षमू सहने इस धातु का बना हुआ क्षांति यह रूप है, नहीं तो ष इत् हो जाने के कारण अङ प्रत्यय हो जाने से क्षमा पद बन जाता। लोभ के भेद प्रभेदों का परित्याग करना शौच है। मोह के वश होकर अपने द्रव्य को नहीं त्यागना और पराये द्रव्य को हड़पना तथा दूसरों के संन्यास ले जाने पर उनकी धरोहर को पा लेना, न्यासापहार करना आदिक लोभ के प्रकार हैं। उन लोभ के प्रकारों की विरक्ति हो जाना शौच है। इस प्रकार ये सब को प्रतीत हो रहे हैं। प्रकार, हेतु, सम्पूर्णता आदि कितने ही अर्थों में इतिशब्द का प्रयोग आता है। किन्तु यहाँ इति शब्द का प्रयोग करना प्रकार अर्थ में अभिप्रेत है। इस प्रकार के अन्य भी शुभ अनुष्ठान सद्वेदनीय कर्म का आस्रव कराते हैं।

वृत्तिप्रयोगप्रसंगो लघुत्वादिति चेन्न, अन्योपसंग्रहार्थत्वात् तदकरणस्य । इति करणानर्थक्यमिति चेन्न, उभयग्रहणस्य व्यक्त्यर्थत्वात् ।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि संयमादि योग और क्षांति तथा शौच यों द्वन्द्व वृत्ति करते हुये "भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगक्षांतिशौचानि" ऐसे प्रयोग का प्रसंग होना चाहिये। इसमें लाघव गुण है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस समासवृत्ति का नहीं करना तो अन्य प्रकारों का संग्रह करने के लिये है। जैसे कि किसीने अपने भृत्य को आज्ञा दी कि जल ले आना, फल ले आना, भोजन लाना यों पृथक्-पृथक् कहने से सुपारी, इलायची आदि लाने का संग्रह हो जाता है। यदि जल, फल, भोजन, ले आवो यों मिलाकर कह दिया जाता तो इलायची, ताम्बूल आदि का संग्रह नहीं हो पाता। ऐसी दशा मे पुनः शंका उठती है कि तब तो इति पद का प्रयोग करना व्यर्थ पड़ा क्योंकि समास नहीं करने से ही अन्य प्रकारों का संग्रह हो गया जो कि प्रयोजन इति पद द्वारा साधा गया था, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि अभिप्रेत अर्थ को और भी अभिव्यक्त करने के लिये दोनों का ग्रहण किया गया है "द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति"। स्वतंत्र आचार्य महाराज किसी विषय की अधिक पुष्टि करते हुये उसको दो बार कहते हैं। आचार्य महाराज के चरण कमलों में भक्ति रखने वाले मुझ भाषाटीकाकार ने भी कितने ही स्थलों पर दो दो, तीन तीन बार उसी प्रमेय को कहा है। भले ही विद्वानों को उसमें वैयर्थ्य जचते हुये अरुचि होय फिर भी स्थूल बुद्धि वाले श्रोताओ के हितलाभ का विचार रखते हुये उसी प्रमेय को दो बार, तीन बार लिखना पड़ा है।

के पुनस्ते गृह्यमाणा इत्युपदर्शयामः । "अर्हत्पूजापरता वैयावृत्त्योद्यमो विनीतत्वं । आर्जवमार्दवधार्मिकजनसेवामित्रभावाद्याः" । भूतग्रहणादेव सर्वप्राणिसंप्रतिपत्तेर्व्रतिग्रहणमनर्थकमिति चेन्न,प्रधानख्यापनार्थत्वाद्व्रतिग्रहणस्य नित्यानित्यात्मकत्वेऽनुकम्पादिसिद्धिर्नान्यथा। सोऽयमशेषभूतव्रत्यनुकंपादिः सद्वेद्यस्यास्रवः । कुतो निश्चीयत इति युक्तिमाह—

असमास और इति पद करके ग्रहण किये गये वे अन्य प्रकार फिर कौन से हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में हम यों उन प्रकारों को पद्य द्वारा दिखलाते है-"श्री अरहंत देव भगवान् की पूजा करने में तत्पर रहना, बाल, वृद्ध, तपस्वियों की वैयावृत्य करने में उद्यत रहना, विनय सम्पत्ति रखना, मायाचार का त्याग करते हुये परिणामों में सरलता रखना, अभिमान नहीं करना, धार्मिक जनों की सेवा करना, सब जीवों से मित्रभाव रखना, परोपकार करना, आदि का परिग्रहण हो जाता है। यहाँ कोई शंका पुनः उठाता है कि भूतका अर्थ जगत् के यावत प्राणी हैं अतः भूत शब्द का ग्रहण करने से ही सम्पूर्ण प्राणियों की अच्छी प्रतिपत्ति हो जाती है। फिर सूत्र में व्रती शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ पड़ता है। सामान्य तो सभी विशेषों में व्यापता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना कारण कि भूतों में व्रतियों की प्रधानता को प्रसिद्ध कराने के लिये सूत्र में पृथक् रूप से व्रती का कथन किया है। भूतों में जो अनुकम्पा है उसमें व्रतियों के ऊपर अनुकम्पा करना प्रधान है। सामान्य रूप से सिद्ध होते हुये भी प्रधानता प्रकट करने के लिये विशेष का पुनः प्रयोग कर दिया जाता है। जैन सिद्धान्त अनुसार पदार्थों के कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य आत्मक होने पर अनुकम्पा, दान, आदि अनुष्ठानों की सिद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं। अर्थात्—दया करने वाला या दयापात्र एवं दाता या दानपात्र ये दोनों युगल अथवा सरागसंयम

आदि करने वाले जीव ये स्यात् नित्य अनित्य आत्मक होते हुये परिणामी हैं अदाता अवस्थाको छोड़कर दाता परिणाम को ले रहा अन्वित आत्मा ही दाता हो सकता है। यही प्रक्रम पात्र और संयमी आदि में लगा लेना। कूटस्थ नित्य अथवा क्षणिकैकान्त पक्ष में अनुकम्पा आदिक नही सम्भवते हैं। आत्मा को सर्वथा नित्य माना जाय तो विक्रिया नहीं होने के कारण परिणति नहीं हो सकती है, कोई दाता भी नहीं बन सकता है। इसी प्रकार आत्मा को क्षणिक मानने पर अन्वितपना नहीं होने के कारण अनुकम्पा, दान, स्वर्ग प्रापण, आदि नहीं घटित होते है किन्तु द्रव्यरूप से नित्यत्व को ग्रहण कर रहे और पर्यायरूप से अनित्यता को प्राप्त हो रहे जीव के अनुकम्पा आदि परिणतियां घटित हो जाती है यों ये प्रसिद्ध हो रहे भूतव्रत्यनुकम्पा आदिक सभी सद्वेद्य कर्म के आस्रव हैं। यहाँ कोई पूंछता है कि इस सूत्रोक्त सिद्धान्त का किस प्रमाण से निश्चय कर लिया जाता है ? बताओ। यों ही कथन मात्र से तो चाहे जिस किसी भी प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती है इस प्रकार तार्किकों की जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकों द्वारा समीचीन युक्ति को स्पष्ट कह रहे हैं।

भूतव्रत्यनुकम्पादि सातकारणपुद्गलान्।
जीवस्य ढौकयत्येवं विशुद्ध्यंगत्वतो यथा ॥१॥
पथ्यौषधाववोधादिः प्रसिद्धः कस्यचिद्द्वयोः।
सदसद्वेद्यकर्माणि तादृशान् पुद्गलानयं ॥२॥

भूत या व्रतियों में जीव के द्वारा किये गये अनुकम्पा, दान, आदिक (पक्ष) सात सुख के कारण हो रहे पुद्गलो का जीव के निकट गमन करा देते है (साध्यदल) इस प्रकार पुण्यास्रव का कारण हो रही विशुद्धि का अङ्ग हो जाने से (हेतु) जिस प्रकार कि प्रसिद्ध हो रहे पथ्य भोजन, औषधि, परिज्ञान, आदिक पदार्थ किसी-किसी जीव के कल्याण कारक पुद्गलों का आस्रव करा देते है। यह सिद्धान्त लौकिक परीक्षक, या वादी प्रतिवादी दोनों के यहाँ प्रसिद्ध है। यह जीव भी तिस प्रकार के सुख, दुःख फलवाले सातवेदनीय और असातावेदनीय कर्म स्वरूप पुद्गलों का आस्रव करता रहता है।

यथा दुःखादीनि स्वपरोभयस्थानि संक्लेशविशेषत्वाद् दुःखफलानास्रावयन्ति जीवस्य तथा भूतव्रत्यनुकम्पादयः सुखफलान् विशुद्ध्यंगत्वादुभयवादिप्रसिद्धपथ्यौषधाववोधादिवत्। ये ते तादृशा दुःख-सुखफलास्ते असद्वेद्यकर्मप्रकृतिविशेषाः सद्वेद्यकर्मप्रकृतिविशेषाश्चास्माकं सिद्धाः कार्यविशेषस्य कारणविशेषाविनाभावित्वात् ॥

स्व, पर, और उभय, में स्थित हो रहे दुःख आदिक जिस प्रकार संक्लेश विशेष होने से जीव के दुःख फल देने वाले पुद्गलों का आस्रव कराते हैं ठीक उसी प्रकार भूतव्रतियो के ऊपर की गयीं दया, दान, आदिक शुभ क्रियायें विशुद्धि का अंग होने के कारण सुख फल वाले पुद्गलों का जीव के निकट आस्रव करा देते है जैसे कि दोनों वादी, प्रतिवादियों के यहाँ प्रसिद्ध होरहे पथ्य आहार, औषधिसेवन, यथार्थज्ञान, प्रसन्नता, निश्चिन्तता, परमित हास्य, स्वच्छ वायु में टहलना आदिक शुभ क्रियायें सुख उत्पादक पुद्गलों का आगमन कराती हैं जो वे तिस प्रकार के दुःख सुख फल वाले पुद्गल हैं वे ही

हम जैनों के यहाँ पाप स्वरूप असद्वेदनीय कर्म की विशेष प्रकृतियाँ और पुण्य रूप सद्वेद्य कर्म की विशेष प्रकृतियाँ सिद्ध हैं क्योंकि विशेष विशेष कार्यों की उत्पत्ति तो विशेष कारणों के बिना नहीं हो सकती है। जिस जिस जाति के अनेक दुःख सुख जाने जा रहे हैं उतनी असंख्य जातियों के असद्वेद्य और सद्वेद्य कर्म हैं। दोनों प्रकार के वेदनीय कर्म के आस्रावक कारणों को कहकर अब अनन्त संसार के कारण हो रहे दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव हेतु का प्रदर्शन कराने के लिये सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते हैं।

केवलिश्रुतसंघधर्मदेववर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

केवली भगवान्, शास्त्र, चतुर्विधसंघ, जिनोक्तधर्म, चतुर्णिकायदेव, इनमें अवर्णवाद यानी असद्भूत दोषों को लगाना तो दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव है।

करणक्रमव्यवधानातिवर्तिज्ञानोपेताः केवलिनः प्रतिपादिताः तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयगणधरावधारित श्रुत व्याख्यातं, रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः संघः। एकस्यासंघत्वमिति चेन्न, अनेकव्रतगुणसंहननादेकस्यापि संघत्वसिद्धेः। "संघो गुण संघादो कम्माणविमोक्खदो हवदि संघो। दंसणणाणचरित्ते संघादितो हवदि संघो॥" इति वचनात्। अहिंसालक्षणो धर्मः। देवशब्दो व्याख्यातार्थः।

उपयोग लगाने अनुसार चक्षु आदि इन्द्रियों की प्रवृत्ति के क्रम से होने वाले और व्यवधान का उल्लंघन करने वाले केवलज्ञान से सहित हो रहे केवली भगवान् की पूर्वग्रन्थ में प्रतिपत्ति करा दी गयी है। उन केवली भगवान करके उपदेश किये जा चुके और बुद्धि का अतिशय धारने वाले गणधर महाराज करके निर्णीत कर गूंथे गये श्रुत का भी व्याख्यान हो चुका है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नों से सहित हो रहा साधुओं का समुदाय तो संघ है। यदि यहां कोई यों कटाक्ष करे कि जब समुदाय को संघ कहा गया है तो एक मुनि को संघपना प्राप्त नहीं हुआ। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि एक मुनि की आत्मा में भी अनेक गुण या व्रतों का समुदाय है अतः अनेक व्रत या गुणों का संघात होने से एक व्यक्ति का भी संघपना सिद्ध है। शास्त्रों में ऐसा वचन मिलता है कि गुणों का संघात संघ है, कर्मों का विमोक्ष हो जाने से संघ होता है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इनके समुदाय से भी संघ होता है। धर्म का लक्षण अहिंसा सुप्रसिद्ध ही है "देवाश्चतुर्णिकायाः" इस सूत्र में देव शब्द के अर्थ का व्याख्यान किया जा चुका है।

अन्तःकलुषदोषादसद्भूतमलोद्भावनमवर्णवादः। पिंडाभ्यवहारजीवनादिवचनं केवलिषु, मांसभक्षणानवद्याभिधानं श्रुते, शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनं संघे, निर्गुणत्वाद्यभिधानं धर्मे, सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवेष्ववर्णवादो बोद्धव्यः। दर्शनमोहकर्मण आस्रवः। दर्शनं मोहयति मोहनमात्रं वा दर्शनमोहः कर्म तस्यागमनहेतुरित्यर्थः॥ कथमित्याह—

अन्तरंग की कलुषता के दोष से असद्भूत मल या दोषों को प्रकट करना (झूंठी बुराई करना) अवर्णवाद है। मुनियों के समान केवलज्ञानी भगवान् भी कौर पिंड बनाकर डटकर आहार कर ही

जीवित रहते है, द्रव्य स्त्री के भी केवलज्ञान हो जाता है, केवली भगवान् तूंबी रखते है, केवली के दर्शन, ज्ञान और चरित्र का भिन्न-भिन्न समय है, इत्यादि कथन करना केवलियों में अवर्णवाद है। शास्त्र में लिखा दिखाकर मांस के भक्षण को निर्दोष कहना, देवी पर चढा हुआ मद्य पवित्र हो जाता है, तीव्र काम-पीड़ित जीवों का मैथुन कर लेना दोषाधायक नहीं है, रात्रि में भोजन करना वैध है, आपत्तिकाल मे चोरी की जा सकती है, वध किया जा सकता है, इत्यादिक पापमय चेष्टाओं को निर्दोष पुष्ट करना श्रुत में अवर्णवाद है। शूद्रपन, अपवित्रपन आदि कथन करना संघ मे असद्भूत दोप प्रकट करना है। गुणरहित-पना, पराधीन कारकत्व, निर्बलता सम्पादकत्व, आदि कहते हुए धर्म के सेवन करने वालों को असुर हो जाना कहना यह धर्म का अवर्णवाद है। देवता मांस खाते हैं, चन्द्र देव अहिल्या पर आसक्त हुये थे, देवी मनुष्यो या स्त्री देवों का परस्पर मैथुन वर्णन करना, असुरों के सींग, लम्बे दान्त, आदि विकृत संस्थान बखानना इत्यादिक निरूपण देवो में अवर्णवाद हुआ समझना चाहिये। यों उक्त माननीय वस्तुओं में अवर्णवाद करना दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव है। सम्यग्दर्शन को मोहित करा रहा अथवा केवल मोह कर देना यह दर्शन मोहनीय कर्म है। उस कर्म के आगमन का हेतु केवली आदिक का अवर्णवाद है। यह इस सूत्र अनुसार आस्रव का अर्थ है। यहाँ कोई पूंछता है कि उक्त सूत्र का अर्थ किस प्रकार युक्तियों से सिद्ध हुआ ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तन पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिकों को कहत है।

केवल्यादिषु यो वर्णवादः स्यादाश्रये (स्रवो) नृणां।
स स्याद्दर्शनमोहस्य तत्त्वाश्रद्धानकारिणः ॥१॥
आस्रवो यो हि यत्र स्याद्यदाधारे यदास्थितौ।
यत्प्रणेतरि चावर्णवादः श्रद्धानघात्यसौ ॥२॥
श्रोत्रियस्य यथा मद्ये तदाधारादिकेषु च।
प्रतीतोऽसौ तथा तत्त्वे ततो दर्शनमोहकृत् ॥३॥

केवल ज्ञानी, शास्त्र आदि में अवलंब लेकर जो अवर्णवाद है (पक्ष) वह जीवो के तत्त्वों मे अश्रद्धान कराने वाले दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रवहेतु है (साध्य) जिस कारण कि जो-जो जिसमें और जिस का आधार या आश्रय लेकर उपजे हुये पदार्थ में तथा जिस शास्त्र अनुसार श्रद्धा कर प्रतिज्ञा करने वाले जीवों मे एवं जिसके बनाये हुये पदार्थ में अवर्णवाद लगाया जाता है वह उस विषय के श्रद्धान का घात कर देता है। (अन्वयव्याप्ति) जिस प्रकार कर्मकाण्डी श्रोत्रिय ब्राह्मण के मद्य में और उसके आधार भाजन में, उस मद्य के बनाने वाले आदि में वह श्रद्धान का घातक प्रतीत हो रहा है। (अन्वयदृष्टान्त)। तिसी प्रकार जीव आदि तत्त्व या तत्त्वों के प्रणेता आदि में अवर्णवाद किया गया (उपनय) तिस कारण दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव करने वाले केवली आदिका अवर्णवाद है। (निगमन)। यों पाँच अवयव वाले अनुमान प्रमाण करके उक्त सूत्र का अर्थ युक्ति सहित पुष्ट कर दिया गया है।

यो यत्र यदाश्रये यत्प्रतिज्ञाने यत्प्रणेतरि चावर्णवादः स तत्र तदाश्रये तत्प्रतिज्ञाने तत्प्र-

णेतरि च श्रद्धानघातहेतून् पुद्गलानास्रावयति, यथा श्रोत्रियस्य मद्ये तद्भाण्डे तत्प्रतिज्ञाने तत्प्रणेतरि श्रद्धानघातहेतून्नासिकादिपिधायककरादीन्, तथा च कस्यचिज्जीवादितत्त्वप्रणेतरि केवलिनि तदाश्रये च श्रुते तत्प्रतिज्ञापिनि च संघे तत्प्रतिपादिते च धर्मे देवेषु चावर्णवादस्तस्मात्तथेति प्रत्येतव्यम् ।

जो जिसमें और जिसके आश्रय में तथा जिसके अनुसार प्रतिज्ञा करने वालो में एवं जिस प्रणेता के समझाये गये पदार्थ में अवर्णवाद है वह अवर्णवाद उस प्रणेता में और उसके आश्रय में अथवा उसका आश्रय धारने वाले में तथा उसके अनुसार प्रतिज्ञा करने वाले में एवं उसके प्रणयन प्राप्त में श्रद्धान होने के घातक हेतु होरहे पुद्गलों का आस्रव कराता है। जैसे कि श्रोत्रिय ब्राह्मण के हुये मद्य (शराब) में, उसके बर्तन मे, उसको अंगीकार करने वाले में और उसके प्रणेता में श्रद्धान घात के हेतु होरहे नासिका आदि को ढंकने वाले हाथ, आँख आदि का आस्रव कराते है (व्याप्तिपूर्वकदृष्टान्त) यों तिसी प्रकार किसी-किसी जीव आदि तत्त्वों के प्रणेता केवली भगवान् में और उनके आश्रय होरहे श्रुत में तथा उनके अंगीकृत संघ मे एवं च उन केवली के द्वारा समझाये गये धर्म और देवों में अवर्णवाद है (उपनय)। तिस कारण से उक्त प्रतिज्ञावाक्य ठीक तिसी प्रकार है अर्थात् केवली आदि में किया गया अवर्णवाद अवश्य ही उस दोषी जीव के दर्शन मोह का आस्रव करा देता है। यों प्रतीति कर लेनी चाहिये।

दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय ये मोहनीय कर्म के दो भेद है। तिनमें दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव का कारण कहा जा चुका है। अब चारित्र मोहनीय कर्म के आस्रवहेतु का प्रतिपादन करने के लिये श्री उमास्वामि महाराज अग्रिम सूत्र को कहते है।

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥

कषाय के उदय से आत्मा की तीव्र परिणति हो जाना तो चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव हेतु है।

द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मपरिपाक उदयः, तीव्रकषायशब्दावुक्तार्थौ, चरित्रं मोहयति मोहनमात्रं वा मोहः। कषायस्योदयात्तीव्रः परिणामश्चारित्रमोहस्य कर्मण आस्रव इति सूत्रार्थः। कथमित्याह—

द्रव्य, क्षेत्र आदि निमित्तों के वश से कर्म का परिपाक होना उदय कहा जाता है। तीव्र शब्द और कषाय शब्द के अर्थ को हम पहिले कह चुके हैं। कषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः" इस सूत्र के विवरण में कषाय शब्द का और "तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः" इस सूत्र के भाष्य में तीव्र शब्द का अर्थ कहा जा चुका है। "मुह वैचित्ये" इस धातु से मोह शब्द बनाया गया है। चारित्र गुण को मोहित कर रहा अथवा चारित्र का मोह कर देना मात्र चारित्र मोह है। कषाय आत्मक पूर्व संचित कर्मों के उदय से क्रोधादि रूप तीव्र परिणति हो जाना चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव है यों इस सूत्र का अर्थ समझा जाय। कोई यहाँ पूँछता है कि उक्त सिद्धान्त केवल

आगम के आश्रित है ? अथवा क्या उक्त सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिये कोई युक्ति भी है ? यदि है। तो वह किस प्रकार है ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकों को प्रस्तुत करते है।

तथा चारित्रमोहस्य कषायोदयतो नृणां।
स्यात्तीव्रपरिणामो यः ससमागमकारणं ॥१॥
यः कषायोदयात्तीव्रः परिणामः स ढौकयेत्।
चारित्रघातिनं भावं कामोद्रेको यथा यतेः ॥२॥
कस्यचित्तादृशस्यायं विवादापन्नविग्रहः।
तस्मात्तथेति निर्बाधमनुमानं प्रवर्तते ॥३॥

जिस प्रकार जीव के केवलि आदि का अवर्णवाद कर देने से दर्शन मोह का आस्रव होता है तिसी प्रकार कषायों के उदय से हुआ जो तीव्रता को लिये हुये अभिमान, मायाचार आदि परिणाम हैं वह जीवों के चारित्र मोहनीय कर्म के समागम का कारण है। (प्रतिज्ञावाक्य) जो-जो कषायों के उदय से तीव्र परिणाम होगा वह चारित्र गुण का घात करने वाले पदार्थ का आगमन करावेगा जिस प्रकार कि पहिले संयमी पुनः हो गये भ्रष्ट किसी-किसी असंयमी पुरुष के कामवेदना का तीव्र उदय हो जाना चारित्रघातक स्त्री, बाल आदि के साथ रमण करने के भाव का आस्रावक है (अन्वयव्याप्ति पूर्वक दृष्टान्त)। तिस प्रकार के कषायोदय हेतुक तीव्र परिणाम का धारी यह संसारी जीव विवाद में प्राप्त हो चुके शरीर को धार रहा है (उपनय)। तिस कारण वह कषायवान् आत्मा तिस प्रकार चारित्रघातक कर्म का आस्रव हेतु हो जाता है (निगमन)। इस प्रकार बाधा रहित यह अनुमान प्रवर्त रहा है जो कि सूत्रोक्त आगम वाक्य का समर्थक है।

कषायोदयात्तीव्रपरिणामो विवादापन्नश्चारित्रमोहहेतुपुद्गलसमागमकारणं जीवस्य कषायोदयहेतुकतीव्रपरिणामत्वात् कस्यचिद्यतेः कामोद्रेकवत्। न साध्यसाधनविकलो दृष्टान्तः, कामोद्रेके चारित्रमोहहेतुयोषिदादिपुद्गलसमागमकारणत्वेन व्याप्तस्य कषायोदयहेतुकतीव्रपरिणामत्वस्य सुप्रसिद्धत्वात् ॥

उक्त अनुमान को यों स्पष्ट कर लीजिये कि वादी प्रतिवादियों के विवाद में प्राप्त हो चुका जो कषाय के उदय से तीव्र परिणाम होना है। (पक्ष) वह जीव के चारित्र गुण के मोहने में हेतु होरहे पुद्गलों के समागम का कारण है। (साध्यदल) पूर्व में संचित किये गये कषाय आत्मक द्रव्य कर्मों के के उदय को हेतु मान कर हुये भावकर्म स्वरूप तीव्रपरिणाम होने से (हेतु) चारित्र भ्रष्ट होगये किसी यति के काम वासना के प्रबल उद्वेग समान (अन्वय दृष्टान्त)। यह रति क्रिया के तीव्र उद्रेक का दृष्टान्त जो इस अनुमान में अन्वयदृष्टान्त दिया गया है। वह साध्य और साधन से रीता नहीं है क्योंकि काम का तीव्र उद्वेग होने पर चारित्रगुण के मोहने में हेतु हो रहे स्त्री, मद्यपान, आदि पुद्गलों के समागम के कारणपने करके व्याप्त हो रहे कषायोदय हेतुक, तीव्रपरिणामोंपने की लोक में अच्छी प्रसिद्धि होरही है। समीचीन व्याप्ति से हुआ अनुमान ठीक उतरेगा।

मोहनीय कर्म के आस्रावक हेतुओं का निरूपण हो चुका। अब उसके पीछे कहे गये आयुष्य कर्म के आस्रव का हेतु कथन करने योग्य है। उनमें आदि में पड़े हुये नरकआयु 'दुर्जनं प्रथमं सत्कुर्यात्, के आस्रव कारणों का प्रदर्शन करने के लिये यह अगिला सूत्र कहा जाता है।

बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥

बहुत सा प्राणियों के पीड़ा हेतु होरहा व्यापार स्वरूप आरंभ करना और बहुत,सा परिग्रह इकट्ठा करना ये नरक आयु के आस्रव हैं। अर्थात् किसी-किसी जीव का बहुत आरंभ से सहितपना और बहुत परिग्रह से सहितपना नरक सम्बन्धी आयु का आस्रव हेतु है। यद्यपि आयुः कर्म का आस्रव सदा नहीं होता रहता है। त्रिभाग में होरहे आठ अपकर्ष काला में या अंतिम असंक्षेपाद्धा में आयु कर्म का आस्रव होता है तथापि जब कभी बन्ध होगा तभी उसके आस्रावक हेतुओं के अनुसार ही होगा यह सिद्धान्त कथन करना उपयोगी पड़ता है।

संख्यावैपुल्यवाचिनो बहुशब्दस्य ग्रहणमविशेषात्। आरंभो हैंस्र कर्म, ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः, बह्वारंभः परिग्रहो यस्य स तथा तस्य भावस्तत्त्वं, तन्नारकस्यायुषः आस्रवः प्रत्येयः, एतदेव सोपपत्तिकमाह—

संख्या और विपुलता इन दोनों भी अर्थों के वाचक होरहे बहुशब्द का यहाँ सूत्र में ग्रहण है। क्योंकि कोई विशेषता नहीं है। बहुत संख्या वाला आरंभ या परिग्रह अथवा प्रचुर आरंभ या परिग्रह दोनों एक सारिखे संक्लेश परिणाम स्वरूप है। जहां कहीं एक शब्द के दो विरोधी अर्थ आपड़ते हैं वहां प्रकरण अनुसार एक ही अर्थ को पकड़ा जाता है किन्तु यहां दोनों अर्थों का ग्रहण संभव जाता है। हिंसा करने वाले की टेव रखने वाले जीवों का कर्म आरंभ कहा जाता है। ये क्षेत्र, धन, धान्य आदिक मेरे हैं। इस प्रकार संकल्प करना परिग्रह है। बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह जिस जीव के हैं वह जीव तिस प्रकार बह्वारंभपरिग्रह है। उसका भाव बह्वारंभ परिग्रहत्व है। यों द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि समास कर पुनः तद्धित का त्व प्रत्यय करते हुये उद्देश्य पद को साध दिया है। वह बहुत आरभ परिग्रहों से सहितपना नरक सम्बन्धी आयुः का आस्रव होरहा विश्वास कर लेने योग्य है। इस ही बात को उपपत्तियों से सहित साधते हुये ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

नरकस्यायुषोऽभीष्टं बह्वारंभत्वमास्रवः।
भूयःपरिग्रहत्वं च रौद्रध्यानातिशायि यत् ॥१॥
निंद्यं धाम नृणां तावत्पापाधाननिबन्धनं।
सिद्धं चाण्डालकादीनां धेनुघातविधायिनां ॥२॥

बहुत आरम्भ से सहितपना और पुष्कल परिग्रह से मूर्छितपना नरक आयु के आस्रव इष्ट किये गये हैं (प्रतिज्ञा) जो-जो अतिशय सहित रुद्रध्यान के धारने वाले निंदनीय स्थान है वे-वे जीवों के पाप का आधान कराने के कारण होरहे तो प्रसिद्ध ही हैं। जैसे कि ब्याई हुई गायों के घात को करने

वाले चाण्डाल, यवन, कतिपय यूरोप वासी मनुष्य, सिंह, व्याघ्र, आदि जीवों के सिद्ध हैं (व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त) ।

तत्प्रकर्षात्पुनः सिद्धयेद्धीनधामप्रकृष्टता ।
तस्य प्रकर्षपर्यन्तात्तत्प्रकर्षव्यवस्थितिः ॥३॥
पापानुष्ठा क्वचिद्याति पर्यन्ततारताम्यतः ।
परिमाणादिवत्ततो रौद्रध्यानमपश्चिमं ॥४॥
तस्यापकर्षतो हीनगतेरप्यपकृष्टता ।
सिद्धेति बहुधाभिन्नं नारकायुरुपेयते ॥५॥

उस आरम्भ परिग्रह की प्रकर्षता से फिर तिर्यंच गति से हीन होरहे नरक स्थान की प्रकर्षता सिद्ध हो ही जावेगी क्योंकि उस आरम्भ परिग्रह की प्रकर्षपर्यन्तपन की प्राप्ति से उस हीन स्थान के प्रकर्ष की व्यवस्था हो रही है।

आरंभ, परिग्रह आदि पापों का अनुष्ठान (पक्ष) कहीं न कहीं अंतिम पर्यंत अवस्था को प्राप्त हो जाता है (साध्य) तर तम भावरूप से प्रकर्ष हो जाने से (हेतु) परिमाण, दोषहीनता, ज्ञान-वृद्धि आदि के समान (अन्वय दृष्टांत), तिस कारण एक प्रधान रौद्र ध्यान नरक आयु का आस्रव सिद्ध हो जाता है। उस रौद्र ध्यान के अपकर्ष से हीन गति का भी अपकर्ष सिद्ध हो जाता है जिससे कि पहिले, दूसरे आदि नरकों की एक, तीन, आदि सागर स्थिति वाले नरक आयुः कर्म का आस्रव होता है यो कारणों के अनेक प्रकार होजाने से बहुत प्रकारो से भिन्न होरही नरक आयु का ग्रहण कर लिया जाता है। परमाणु से लेकर आकाश पर्यन्त परिमाण का प्रकर्ष बढ रहा है। गुणस्थानों मे दोष कमती-कमती होरहे है। ज्ञान उत्तरोत्तर बढ रहा है।

नरकआयु का आस्रव कह दिया गया अब क्रमप्राप्त तिर्यक आयु के आस्रावक कारणों का प्रदर्शन कराने के लिये अग्रिम सूत्र कहा जाता है।

माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥

मायाचार, कुटिलता, या कपट करना ये तिर्यंच योनि के जीवों में संभवने वाली तिर्यंच आयु का आस्रव है।

चारित्रमोहोदयात् कुटिलभावो माया । मा कीदृशी ? तैर्यग्योनस्यायुष आस्रव इत्याह—

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा के उपजा कुटिल परिणाम माया कहा जाता है। यहाँ किसी का प्रश्न है कि किस प्रकार की वह माया भला तिर्यंचयोनि जीवों के उपयोगी तिर्यक् आयु का आस्रव है ? ऐसी आशंका प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्तिकों को कहते है।

माया तैर्यग्योनस्येत्यायुषः कारणं मता।
आर्तध्यानाद्विना नात्र स्वाभ्युपायविरोधतः ॥१॥

जो माया तिर्यकयोनिसम्बन्धी जीवों की आयुः का आस्रावक कारण मानी गयी है। वह यहाँ प्रकरण में आर्तध्यान के विना नहीं संभवती है। क्योंकि ऐसा नहीं मानने पर अपने स्वीकृत सिद्धान्त से विरोध आजावेगा। अर्थात् आर्तध्यान से विशिष्ट होरहा मायाचार तिर्यंच आयु का आस्रव करावेगा इससे लोक चातुर्य, सभादक्षता, धर्मप्रभावना के लिये किये गये मायाचार का विवेक हो जाता है। न्याय शास्त्र में खण्डन मण्डन करने के लिये कई प्रकार के उपाय रचे जाते है। अभद्र, क्रूर, अभिमानी, मायाचारी, दम्भी जीवों को धर्ममार्ग या न्यायमार्ग समझाने के लिये कितनी ही दक्षताये करनी पड़ती है। चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान वाले जीवों के कतिपय चातुर्य पाये जाते हैं। हाँ सातवें से लेकर ऊपरले गुणस्थानों में ध्यान निमग्न अवस्था में कोई बुद्धि पूर्वक दक्षता का उपयोग नहीं है। अतः आर्तध्यान पूर्वक हुआ मायाचार तिर्यक् आयु का आस्रव है। जो कि तीव्र मायाचार पहिले, दूसरे इन दो गुणस्थानों में पाया जा सकता है।

अपकृष्टं हि यत्पापध्यानमार्त्तं तदीरितं।
निंद्यं धाम तथैवाप्रकृष्टं तैर्यग्गतिस्ततः ॥२॥
प्रसिद्धमायुषो नैकप्रधानत्वं प्रमाणतः।
तैर्यग्योनस्य सिद्धान्ते दृष्टेष्टाभ्यामबाधितं ॥३॥

जो पापस्वरूप आर्तध्यान जिस कारण से अपकृष्ट कहा गया है उसी कारण से वह जीवों का निद्यस्थान तिसही प्रकार समझा जाता है। उस आर्तध्यान से जीवों की तिर्यग्गति हो जाती है। सिद्धान्त मे तिर्यग्योनिसम्बन्धी आयुः का प्रधान कारण माया कही है। यह बात प्रमाणों से प्रसिद्ध है। प्रत्यक्ष और अनुमान से यह सिद्धान्त अबाधित है।

अब क्रमप्राप्त मनुष्य सम्बन्धी आयुः के आस्रव हेतु का निरूपण करने के लिये अगिला सूत्र कहा जाता है।

अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

अल्प आरंभ से सहितपना और अल्प परिग्रह से सहितपना तो मनुष्यों की आयुः का आस्रवण हेतु है।

नारकायुरास्रवविपरीतो मानुषस्तस्येत्यर्थः। किं तदित्याह—

नरक आयु के आस्रव बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह से सहितपना है। उस नरकआयु से विपरीत यह मनुष्य आयु है। उसका आस्रव अल्प आरंभ रखना और अल्प परिग्रह सहितपना है। यह इस सूत्र का अर्थ है। कोई पूँछता है कि वह अल्प आरंभ परिग्रह सहितपना क्या है? या कैसा है? यों प्रश्न उतरने पर ग्रन्थकार वार्त्तिकों द्वारा उत्तर कहते हैं।

मानुषस्यायुषो ज्ञेयमल्पारंभत्वमास्रवः ।
मिश्रध्यानान्वितमल्पपरिग्रहतया सह ॥१॥
धर्ममात्रेण संमिश्रं मानुषीं कुरुते गतिं ।
सातासातात्मतन्मिश्रफलसंवर्तिका हि सा ॥२॥
धर्माधिक्यात्सुखाधिक्यं पापाधिक्यात्पुनर्नृणां ।
दुःखाधिक्यमिति प्रोक्ता बहुधा मानुषी गतिः ॥३॥

अल्पपरिग्रह से युक्तपने करके सहित होरहा और केवल धर्म आचरण से भले प्रकार से मिले हुये अशुभ और शुभ इन मिश्र ध्यानों से अन्वित होरहा जो अल्पआरंभ सहितपना है वह मनुष्यों सम्बन्धी आयुः कर्म का आस्रावक है। दया, दान, परोपकार आदि धर्म मात्र करके मिल रहा वह अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह जीव की मनुष्य सम्बन्धी गति को कर देता है। जिस कारण कि वह मनुष्य-गति साता स्वरूप और असातास्वरूप उस मिले हुये फल की संपादिका है। धर्म और अधर्म के मिश्रणों में यदि धर्म की अधिकता हो जाती है तो उससे राजा, सेठ, मल्ल, विद्वान्, न्यायाधीश, जमीदार आदि मनुष्यों के सुख की अधिकता हो जाती है और दुःख न्यून हो जाता है। हां उस मिश्रण में पाप की अधिकता हो जाने से तो फिर मजूर, दास, विधवा, रोगिणी, अधमर्ण आदि मनुष्यो के दुःख की अधिकता हो जाती है। सुख मंद हो जाता है। यों मनुष्य सम्बन्धी गति बहुत प्रकार की उत्तम, मध्यम, जघन्य श्रेणी के सुख दुःख वाली भले प्रकार कह दी गयी है। उछृङ्खल धनपति यदि तपस्या न करें तो उनकी अनर्गल पीडक वृत्ति से जन्य पाप का विनाश नहीं हो सकता है। देवों में सांसारिक सुख की प्रधानता है। इष्टवियोग, ईर्षा, अधीनता, आदि से जो देवों में स्वल्प दुःख उपजता है वह नगण्य है। मनुष्यों में सुख दुःख का मिश्रण है। राजा, रईसों को उपरिष्ठात् विशेष सुख दीखता है। किन्तु उनको रोग, अपमान, अपयश, सन्तानरहितपन आदिका कुछ न कुछ दुःख सताता रहता है। पापसेवन भी दुःखरूप ही है। अधिकृतों को ताप पहुंचाना भी परिशेष में दुःखरूप है। निर्धन ग्रामीण पुरुषों को त्यौहार के दिन या विवाह, सगाई, मेला आदिके अवसर पर छोटे-छोटे कारणों से ही महान् सुख उत्पन्न हो जाता है। पिसनहारी को पीतल के छला से जो आनंद आता है वह महाराणी के रत्न जड़ित अंगूठी के सुख से कहीं अधिक है। हाँ कोई-कोई विशेष पुण्यशाली पुरुष अथवा कतिपय अत्यन्त दरिद्र दुःखी पुरुष इसके अपवाद हो सकते है जो कि नगण्य हैं। तिर्यंच गति में बहुभाग दुःख और अल्प-भाग सुख है। राजा, महाराजों के कोई हाथी, घोड़े, बैल भले ही कुछ अधिक सुखी होंय या कोई-कोई भाड़ेतू घोड़ा या गधे, बैल आदि महान् दुःखी होंय किन्तु प्रायः सभी के लिये उपयोगी हो रही उत्सर्ग विधि कतिपय विशेष व्यक्तियों की अपेक्षा नही रखती है। नारकी जीवों में तो महान् दुःख ही है। वहाँ सुख का लेश मात्र नहीं है। यहां प्रकरण में धर्म से मिले हुये मन्द अशुभध्यानों से युक्त होरहा अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह मनुष्य आयुः का आस्रव बखान दिया गया है।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि क्या इतना ही मनुष्य आयु का आस्रव है ? अथवा कुछ और भी कहना है ? इसके उत्तर में ही मानू सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

स्वभावमार्दवं च ॥१८॥

स्वभाव से ही यानी प्रकृति से ही गुरु के उपदेश बिना ही जो मृदुता है अर्थात् मान नहीं करना है वह भी मनुष्य सम्बन्धी आयु का आस्रव है।

उपदेशानपेक्षं मार्दवं स्वभावमार्दवं। एकयोगीकरणमिति चेत्, ततोऽनंतरापेक्षत्वात् पृथक्करणस्य। तेन देवस्यायुषोऽयमास्रवः प्रतिपादयिष्यते। कीदृशं तन्मानुषस्यायुष आस्रव इत्याह—

उपदेश के बिना ही जैसे व्याघ्र, भेड़िया आदि मे स्वभाव से क्रूरता है उसी प्रकार उपदेश की नही अपेक्षा रखता हुआ कोमल परिणाम भी किन्हीं किन्हीं जीवों में पाया जाता है। उपदेश की नहीं अपेक्षा रखता हुआ मृदुपना स्वभावमार्दव है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि दो सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता है? "अल्पारंभपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवं मानुषस्य" दो योग का इस प्रकार एक योग करना ही उपयोगी जचता है। यो आक्षेप करने पर तो ग्रन्थकार कहते है कि उस मनुष्य आयु के आस्रव से अव्यवहित उत्तर काल में कहे जाने वाले देव आयु की अपेक्षा से इस सूत्र को पृथक् किया गया है। तिस कारण यह स्वभाव का मृदुपना देव सबंधी आयु का आस्रव हुआ समझा दिया जावेगा। पुनः कोई प्रश्न उठाता है कि वह स्वभाव का मृदुपना किस प्रकार का मनुष्य सम्बन्धी आयु का आस्रव हो सकेगा? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिक को कहते हैं।

स्वभावमार्दवं चेति हेत्वंतरसमुच्चयः।
मानुषस्यायुषस्तद्धि मिश्रध्यानोपपादिकम् ॥१॥

"स्वभावमार्दवं च" इस सूत्र में पड़े हुये च शब्द का अर्थ समुच्चय है। इस कारण मनुष्य सम्बन्धी आयु के आस्रावक होरहे दूसरे हेतु का भी समुच्चय हो जाता है। अथवा स्वभावमृदुता से मनुष्य आयु और देव आयु का आस्रव होना समझा दिया जाता है। साथ ही विनीतस्वभाव, प्रकृतिभद्रता, सताप, अनसूया, अल्पसक्लेश, गुरु देवता पूजा आदि कारणों का भी संग्रह हो जाता है। जब कि वह स्वभाव मृदुपना शुभ, अशुभ ध्यानों से मिश्रित होरहे ध्यान से अन्वित होकर उपज रहा हो तब मनुष्य आयु का आस्रावक हो जायगा अन्यथा नही।

क्या अल्प आरंभपरिग्रहसहितपना और स्वभाव मार्दव ये दो ही मनुष्य आयु के आस्रव हैं? अथवा क्या अन्य भी मनुष्य आयु का आस्रव है? जो कि उपलक्षण मार्ग से नहीं संग्रह किया जा सके ऐसी आशंका प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं—

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण, अतिथिसंविभाग इन सात शीलों से और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग इन पाँच व्रतों से रहितपना तो नरक आयु, तिर्यक् आयु, मनुष्य आयु और देव आयु इन सभी आयुओ का आस्रावक हेतु है।

चशब्दोऽधिकृतसमुच्चयार्थः। सर्वेषां ग्रहणं सकलास्रवप्रतिपत्त्यर्थं। देवायुषोऽपि प्रसंग

इति चेन्न, अतिक्रांतापेक्षत्वात् । पृथक्करणात् सिद्धे आनर्थक्यमिति चेन्न, भोगभूमिजार्थत्वात् । तेन भोगभूमिजानां निःशीलव्रतत्वं देवायुषः आस्रवः सिद्धो भवति । कुत एतदित्याह—

इस सूत्र में पढ़ा गया च शब्द तो अधिकार प्राप्त हो रहे अल्पारंभपरिग्रहत्व का समुच्चय करने के लिये उपात्त किया गया है। अल्पारंभ परिग्रह सहितपना मनुष्य आयु का आस्रव है। अथवा शील व्रतों से रहितपना भी मनुष्य आयु का आस्रावक है। तथा इस सूत्र मे 'सर्वेषां' इस पद का ग्रहण करना तो सम्पूर्ण चारों आयुओं के आस्रव की प्रतिपत्ति कराने के लिये हैं। यहाँ कोई विनीत शिष्य पूँछता है कि सभी कह देने से तो निःशीलव्रतपने से देवायु के भी आस्रव हो जाने का प्रसंग आजायेगा। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्योकि सूत्रकार ने अभीतक देव आयु का आस्रव कहा ही नहीं है। नरक आयु, तिर्यक् आयु और मनुष्य आयु इन तीन आयुओं का सूत्रों द्वारा निरूपण हो चुका है। अतः अभी तक अतिक्रान्त हो चुकी तीन आयुओ की अपेक्षा सर्वेषां पद कहा गया है। ऐसी दशा में देवायु का ग्रहण नहीं हो सकता है। पुनः कोई कटाक्ष करता है कि इस सूत्र का पृथक् निरूपण करदेने से ही अतिक्रांत हो चुकी तीन आयुओं की अपेक्षा यह सूत्र सिद्ध हो जायगा। पुनः सर्वेषां पद का ग्रहण व्यर्थ है। आचार्य कहते हैं यह तो नही कहना क्योंकि सर्वेषां पद से चारों आयुओं का ग्रहण है। भोगभूमियों में उपजे मनुष्य और तिर्यचों के लिये देव आयु का आस्रव होना यह सूत्र समझा रहा है। तिस कारण यह सिद्ध हो जाता है कि भोगभूमि में उपजे हुये जीवों का शील व्रत रहितपना देवसम्बन्धी आयु का आस्रव हेतु है। भोगभूमियाँ जीव मरकर भवनत्रिक या सौधर्म, ईशान स्वर्गों में जन्म लेते है। कोई तर्की यहाँ आक्षेप करता है कि राजाज्ञा के समान सूत्रकार के कथनमात्र से उक्त सूत्र का रहस्य जान लिया जाय ? या किसी युक्ति से सिद्धान्त को पुष्ट किया जाता है ? बताओ ? यदि कोई युक्ति है तो किस युक्ति से यह सूत्रोक्त मंतव्य सिद्ध किया जाता है ? प्रमाण संप्लववादियों के यहाँ संवादीज्ञान प्रमाण माना जाता है। अतः आगमाश्रित विषय मे युक्ति दे देने पर शोभनीय प्रामाण्य आजाता है। यों कटाक्ष प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कहते है।

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषामायुषामिह ।
तत्र सर्वस्य संभूतेर्ध्यानस्यासुभृतां श्रितौ ॥१॥

इस सूत्र में कहा गया शीलव्रतों से रहितपना तो (पक्ष) सभी चारों आयुओ का आस्रव हेतु है (साध्यदल) क्यों कि जीवों के उस शील व्रतरहितपने में आस्रव करने पर सभी आर्त, रौद्र, धर्म्य तीनों ध्यानों की भले प्रकार उत्पत्ति हो जाती है। (हेतु) अर्थात् जैसे रोग रहितपन से मनुष्य कैसी भी भली बुरी टेवों में पड़ जाता है उसी प्रकार शीलव्रतरहितपना भी बहु आरंभ परिग्रह और मायाचार तथा अल्पारंभपरिग्रह एव जलराजितुल्य रोष, सानुकंपहृदयता आदि से समन्वित हो रहा सन्ता चारों आयुओं का आस्रावक है। इस दशा में यथा योग्य तीनों ध्यानों में से कोई भी एक या दो अथवा शुभ, अशुभ से मिला हुआ ध्यान संभव जाता है। जो कि विशुद्धि या संक्लेश का अंग हो रहा तीन पुण्य आयुओं और एक पापस्वरूप नरक आयुः का आस्रव है।

ततो यथासंभवं सर्वस्यायुषो भवत्यास्रवः ॥

तिस कारण यथायोग्य संभव रहा निःशीलव्रतपना सभी आयुओं का आस्रव हेतु हो जाता है। कोई कुतर्क के लिये स्थान नही रहता है।

अब तक नरकआयु, तिर्यग् आयु, मनुष्यआयु इन तीन आयुष्य कर्मों के आस्रव की विधि कही जा चुकी है। अब चौथी देव आयुका आस्रव हेतु क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर भगवान् सूत्रकार अग्रिम सूत्रको कहते है।

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

संसार के कारणों की निवृत्ति प्रति उद्यत होरहा है किन्तु अभीतक कषाय जिसके क्षीण नहीं हुये हैं वह पुरुष सराग कहा जाता है। प्राणी और इन्द्रियों में अशुभ प्रकृति का त्याग संयम है। सराग पुरुष का संयम सरागसंयम कहा जाता है। छठे गुणस्थान से प्रारंभ कर दशमे तक सराग संयमस्वरूप महाव्रत है किन्तु देव आयु का आस्रव तो निरतिशय अप्रमत्त सातवे गुणस्थान तक ही माना गया है। पांचवे गुणस्थान में संभव रहा संयमासंयम का अर्थ श्रावकों का व्रत है। अकामनिर्जरा का तात्पर्य यों है कि कारागृह या किसी बंधन विशेष में पडा हुआ जीव पराधीन होरहा यद्यपि दुःख सहना नहीं चाहता है तथापि भूंक रोके रहना, प्यास का दुःख, घोटक ब्रह्मचर्य धारण, भूमिशयन, मलधारण, संताप प्राप्ति, भोगनिरोध इनको सह रहा जो थोडी सी कर्मों की निर्जरा कर रहा है वह अकाम निर्जरा है। यथार्थ प्रतिपत्ति नही होने के कारण अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीव बाल कहे जाते है। इन बालों का अग्निप्रवेश, पंचाग्नितप, एक हाथ उठाये रखना, तिरस्कार सहना, एकदंड या तीन दंड लिये फिरना, कान फटवाना आदि प्रचुर काय क्लेश वाला व्रत धारना बालतप कहा जाता है। सरागसंयम, सयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप ये चारों क्रियाये चतुर्निकाय सम्बन्धी देवों की आयु के आस्रव हेतु है।

व्याख्याताः सरागसयमादयः। कीदृशानि सरागसंयमादीनि दैवमायुः प्रतिपादयतीत्याह—

सराग संयम आदि का व्याख्यान किया जा चुका है। यहाँ कोई तर्क उठाता है कि किस प्रकार हो रहे सते ये सराग संयम आदिक उस देव संबंधी आयु के आस्रव को इस सूत्र द्वारा प्रतिपादन कर रहे है ? बताओ ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्तिक को कहते है ॥

तस्यैकस्यापि दैवस्यायुषः संप्रतिपत्तये।
धर्म्यध्यानान्वितत्वेन नान्यथातिप्रसंगतः ॥१॥

उस एक भी देव सम्बन्धी आयु के आस्रव की समीचीन प्रतिपत्ति कराने के लिए सूत्रकार द्वारा यह सूत्र रचा गया है। धर्म्य ध्यान से अन्वितपने करके सराग संयम आदिक उस देव आयु के आस्रव है अन्यथा नहीं क्योंकि अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात् चौथे से सातवें गुणस्थान तक पाये जा रहे मुख्य धर्म्यध्यान और मिथ्यादृष्टियों के भी पाये जारहे परोपकार, दयाभाव, अनशन, सद्धर्मश्रवण, असंक्लेश, धर्मबुद्धि पूर्वक कायक्लेश, रसत्याग, उदासीनता आदि व्यावहारिक धर्म्यध्यान युक्त सरागसंयमादिक तो देव आयु का आस्रव करायेंगे, हां रौद्र या आर्तध्यान से युक्त हो रहे बालतप आदि से देवायु

का आस्रव नहीं होगा। यही अतिप्रसंग है कि अन्यथा नरक आयु, तिर्यग् आयु का कारण भी देवायु का आस्रव हेतु बन बैठेगा जो कि इष्ट नहीं है। कोई पूंछता है कि क्या इतना ही देव संबंधी आयु का आस्रव हेतु है ? अथवा क्या अन्य भी कोई देवायु का आस्रावक है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

सम्यक्त्वं च ॥२१॥

तत्त्वार्थश्रद्धानस्वरूप सम्यग्दर्शन भी देव संबंधी आयु का आस्रव है।

अविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिः पृथक्करणात्सिद्धेः। किमर्थश्चशब्द इति चेदुच्यते—

इस सूत्र में सम्यक् देव आयु का आस्रव है यों विशेषता सहित सामान्यरूप से यद्यपि कथन किया गया है तो भी सौधर्म आदि वैमानिक संबंधी आयु के आस्रव की विशेषरूप से ज्ञप्ति हो जाती है। सूत्र का पृथक् निरूपण करने से उक्त मंतव्य की सिद्धि हो जाती है क्योंकि यदि सम्यक्त्व को सामान्य रूप से ही देव आयु का आस्रव बखानना इष्ट होता तो सूत्र का पृथक् कहना व्यर्थ पड़ता पहिले के "सरागसंयम आदि" सूत्रों में ही सम्यक्त्व को कह दिया जाता। अतः सिद्ध है कि पूर्व सूत्र करके सामान्यरूप से देव आयु के आस्रव का निरूपण किया गया है और इस सूत्र करके वैमानिक देवों की आयु का आस्रव कहा गया है। सराग संयम और संयमासंयम तो सम्यक्त्व के बिना होते ही नहीं है अतः सम्यक्त्व, सरागसंयम और संयमासंयम ये तीन तो वैमानिक देवों की आयु के आस्रव है तथा अकामनिर्जरा और बालतप ये दो तो भवनत्रिक या वैमानिक इन सभी चतुर्णिकाय देवों की आयु के आस्रव हैं। यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि सूत्र में च शब्द कहने का क्या प्रयोजन है ? यों प्रश्न करने पर तो ग्रन्थकार द्वारा यह वक्ष्यमाण उत्तर कहा जाता है।

सम्यक्त्वं चेति तद्धेतु समुच्चयवचोबलात्।
तस्यैकस्यापि देवायुःकारणत्वविनिश्चयः ॥१॥

"सम्यक्त्वं च" इस सूत्र में उस देव आयु के हेतुओं का समुच्चय करने वाले वचन के बल से उस एक सम्यक्त्व को भी देव आयु के कारणपन का विशेषतया निश्चय हो जाता है। अर्थात्—च शब्द करके सरागसंयम आदि का समुच्चय है। किंतु अकेला भी सम्यक्त्व देव सम्बन्धी आयुः का आस्रावक है। बात यह है कि कर्म भूमि के मनुष्य या तिर्यञ्च जीवों के सम्यक्त्व होगा वह वैमानिक देवों में ही उपजावेगा हां परभव सम्बन्धी मनुष्य आयु या तिर्यञ्च आयु को बांध चुके कर्म भूमिस्थ मनुष्य तिर्यञ्चों का सम्यग्दर्शन भोगभूमि में धर देवेगा इनके अणुव्रत या महाव्रत नहीं हो सकते है। हां देवों या नारकियों का सम्यक्त्व तो कर्मभूमि के मनुष्यों में उत्पादक समझा जाय।

सर्वापवादकं सूत्रं केचिद्व्याचक्षते सति।
सम्यक्त्वे न्यायुषां हेतोर्विफलस्य प्रसिद्धितः ॥२॥
तत्राप्रच्युतसम्यक्त्वा जायंते देवनारकाः।
मनुष्येष्विति नैवेदं तद्बाधकमितीतरे ॥३॥

तन्निःशीलव्रतत्वस्य न बाधकमिदं विदुः ।
स्यादशेषायुषां हेतुभावसिद्धेः कुतश्चन ॥४॥

कोई-कोई पण्डित इस सूत्र का यों व्याख्यान कर रहे हैं कि यह सूत्र पहिले कहे गये सभी आयुओं के आस्रव प्रतिपादक सूत्रों का अपवाद करने वाला है। क्योंकि सम्यक्त्व के होते सन्ते अन्य नरक आयु, तिर्यक् आयु, मनुष्य आयु के कारणों के विफल हो जाने की प्रसिद्धि है। इसके उत्तर में इतर विद्वान् कहते हैं कि वह केचित् का कहना ठीक नहीं है क्यों कि जिनका सम्यक्त्व भला च्युत नहीं होता है ऐसे देव नारकी जीव मरकर मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं। इस कारण यह सूत्र उस मनुष्यायु के आस्रव का बाधक नहीं है। देवों के मनुष्य आयुके बंध की व्युच्छित्ति चौथे गुणस्थान में होती है। जब कि मनुष्यतिर्यंचों के मनुष्य आयु की बंध व्युच्छित्ति दूसरे गुणस्थान में हो जाती है। तिस कारण "निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषां" सूत्र का यह बाधक नहीं है। यों इतर पंडित कह रहे हैं क्यों कि शीलव्रत रहितपन को किसी न किसी प्रकार से सम्पूर्ण आयुओं के हेतु हो जाने की सिद्धि हो चुकी है।

पृथक्सूत्रस्य निर्देशाद्धेतुर्वैमानिकायुषः ।
सम्यक्त्वमिति विज्ञेयं संयमासंयमादिवत् ॥५॥

इस सूत्र का पृथक् निरूपण करने से सम्यक्त्व वैमानिक देवों की आयु का हेतु है। यह समझ लेना चाहिये जैसे कि संयमासंयम आदिक वैमानिक देवों की आयु का आस्रव कराते हैं। यहाँ आदि पद से सराग संयम का ग्रहण है।

सम्यग्दृष्टेरनंतानुबंधिक्रोधाद्यभावतः ।
जीवेष्वजीवता श्रद्धापायान्मिथ्यात्वहानितः ॥६॥
हिंसायास्तत्स्वभावाया निवृत्तेः शुद्धिवृत्तितः ।
प्रकृष्टस्यायुषो दैवस्यास्रवो न विरुध्यते ॥७॥

सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबंधी क्रोध, मान आदि के कषायों का उदय रूप से अभाव है तथा मिथ्यात्व कर्म के उदय की हानि हो जाने से जीवों में अजीवपन या तत्त्वों में अतत्त्वपन की श्रद्धा का विनाश हो गया है। अतः उस मिथ्याश्रद्धा की टेव अनुसार होने वाली हिंसा की निवृत्ति हो जाने से आत्मा की वृत्ति विशुद्ध हो गयी है। विशुद्ध वृत्ति अनुसार सभी आयुओं में प्रकृष्ट हो रही देव संबंधी आयु का आस्रव हो जाना विरुद्ध नहीं पड़ता है। यो युक्तिपूर्वक सूत्रार्थ समझा दिया है।

आयुः कर्म के अनंतर नामकर्म का निर्देश है। शुभ और अशुभ यों नामकर्म दो प्रकार का है। उनमें प्रथम अशुभ नामकर्म के आस्रव की प्रतिपत्ति कराने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२२॥

मनोयोग, वचन योग और काय योग की कुटिलता तथा अन्यथा प्रतिपादन करना स्वरूप विसंवादन ऐसे-ऐसे कारण अशुभ नाम कर्म के आस्रव हैं।

कायवाङ्मनसां कौटिल्येन वृत्तिर्योगवक्रता, विसंवादनमन्यथा प्रवर्तनं। योगवक्रतैवेति चेत्, सत्यं; किंत्वात्मांतरेऽपि तद्भावप्रयोजकत्वात्पृथग् वचन विसंवादनस्य। चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः तेन तज्जातीयाशेषपरिणामपरिग्रहः। कुतोऽशुभस्य नाम्नोऽयमास्रव इत्याह—

काय, वचन, मनो की कुटिलपने करके वृत्ति होना योगवक्रता है यथार्थ मार्ग से दूसरे ही प्रकारों करके दूसरों को प्रवर्तावना विसंवादन है। यदि यहाँ कोई यो आक्षेप करे कि यह विसंवादन तो योगवक्रता ही है क्योंकि दूसरों को धोखा देने में स्व के योगों की कुटिलता हो ही जाती है। ग्रन्थकार कहते है कि यों तुम्हारा कहना सत्य है। जब तक मै उत्तर नहीं देता हूँ तब तक सत्य सारिखा जचता है। उत्तर करने पर आक्षेप की धज्जियां उड़ जायंगी, बात यह है कि विसंवादन में अवश्य योगवक्रता होती है किन्तु दूसरे जीवों में भी उस कौटिल्यभाव का प्रयोजक होने से विसंवादन का पृथक् निरूपण किया गया है। कोई दूसरा जीव स्वर्ग मोक्ष की साधक क्रियाओं में प्रवर्त रहा है। उसको अपनी विपरीत कायिक, वाचिक, मानसिक चेष्टाओं से धोखा देता है कि तुम इस प्रकार मत करो यों मेरे कथनानुसार करो। ऐसी कुटिलतया प्रवृत्ति कराना विसंवादन है। अपनी आत्मा में ही कुटिलता योगवक्रता कही जाती है और दूसरों में करायी गयी कुटिलता विसंवादन है। यह इन दोनों का भेद है। इस सूत्र में पड़ा हुआ च शब्द तो नहीं कहे जा चुके कारणों का समुच्चय करने के लिये है तिस च शब्द करके उन योगवक्रता या विसवादन की जाति वाले अशेषपरिणामों का परिग्रह हो जाता है अर्थात् च शब्द करके पिशुनता, डमाडोल स्वभाव, झूंठ बांट, नाप बनाना, कृत्रिम सोना, मणि, रत्न बनाना, झूठी गवाही देना, यत्र, पींजरा आदि का निर्माण करना, ईंट पकाना, कोयला बनाने का व्यापार करना, आदि का समुच्चय हो जाता है। यहाँ कोई तर्क करता है कि किस युक्ति से यह अशुभ नाम कर्म का आस्रव होरहा समझ लिया जाय इस प्रकार तर्क उपस्थित होने पर ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी उत्तर वार्तिक को कहते है।

नाम्नोऽशुभस्य हेतुः स्याद्योगानां वक्रता तथा।
विसंवादनमन्यस्य संक्लेशादात्मभेदतः ॥१॥

अन्य जीव को संक्लेश उपजाने से और अपने मे संक्लेश होने से भेद को प्राप्त हो रहे ये योगों की वक्रता तथा विसवादन तो अशुभ नाम कर्म के हेतु हो सकते है। संक्लेश हो जाने से पाप कर्म का बंध हो जाना साधा जा चुका है।

अशुभ नाम कर्म का आस्रव कहा जा चुका है। अब शुभ नाम कम का आस्रव क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार भगवान् अग्रिम सूत्र को कहते है।

तद्विपरीतं शुभस्य ॥२३॥

उन योगवक्रता से विपरीत अर्थात् काय, वचन, मनों का ऋजुकर्म तथा विसंवादन से विपरीत अविसंवादन ये शुभ नाम कर्म के आस्रव हैं। पूर्व सूत्र के च शब्द की अनुवृत्ति अनुसार उन समुच्चितों के विपरीत हो रहे साधर्मियों का दर्शन, संसारभीरुता, प्रमादवर्जन आदि का भी समुच्चय कर लिया जाता है।

ऋजुयोगताऽविसंवादनं च तद्विपरीतं। कुतस्तदखिलं शुभस्य नाम्नः कारणमित्याह—

म , वचन, काय के योगों का ऋजुपना और अविसंवादन ये दोनों उस पूर्व सूत्रोक्त से विपरीत है जो कि शुभ नाम कर्म के आस्रव हैं। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि किस कारण से वे योगऋजुता आदि सम्पूर्ण इस शुभ नाम कर्म के आस्रव है ? बताओ। यों तर्क उपस्थित होने पर ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा उत्तर कहते है।

ततस्तद्विपरीतं यत्किंचित्तत्कारणं विदुः।
नाम्नः शुभस्य शुद्धात्मविशेषत्वावसायतः ॥१॥

तिस कारण उन योग्यवक्रता आदि से जो कुछ भी विपरीत क्रियाये है वे सब शुभ नामकर्म के कारण है। ऐसा पण्डित समझ रहे हैं (प्रतिज्ञावाक्य) क्योंकि आत्मा की विशेष शुद्धि का निर्णय हो रहा है। अर्थात् विशुद्धि के अंग होने से योगों की सरलता आदि से पुण्य स्वरूप शुभ नाम कर्म का आस्रव हो जाना न्याय प्राप्त है।

अब कोई पूंछता है कि शुभनाम कर्म के आस्रव की विधि इतनी ही है ? अथवा कोई और विशेपता है ? ऐसी दशा में कहा जाता है कि जो अनंत अनुपम प्रभाव वाला, अचिंत्य विशेप विभूतियों का कारण, तीनों लोक में विजय करने वाला, यह तीर्थकर नाम कर्म है उसके आस्रव की विधि में विशेपता है। तिस पर जिज्ञासु पूंछता है कि यदि इस प्रकार है तो उस तीर्थकर नाम कर्म के आस्रवों को शीघ्र कहिये। इस कारण सूत्रकार तीर्थकर नाम कर्म के आस्रवों का प्ररूपण करने के लिये इस अगिले सूत्रको कहते है।

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वतीचारोऽभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्य-करणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्ग-प्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥

भगवान अर्हत परमेष्ठी द्वारा उपदिष्ट किये गये मोक्षमार्ग मे रुचि होना दर्शन विशुद्धि है। ज्ञान आदि अथवा ज्ञानवान् आदि मे आदर करना विनयसम्पन्नता है। अहिंसा आदि व्रतों मे और क्षमा आदि शीलों में निर्दोष प्रवृत्ति करना शीलव्रतेष्वनतीचार है। ज्ञान भावना मे सदा उपयुक्त बने रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है। संसार के दुःखों से नित्य भयभीत रहना संवेग है। दूसरों को प्रीति करने वाले स्व का यथाशक्ति त्याग करना दान है। शक्ति को नहीं छिपाकर मोक्षमार्ग के अविरोधी

कायक्लेश का करना तप है। गुणवान् जीवों के ऊपर दुःख पड़ने पर निर्दोष विधि करके उस दुःख का परिहार करना वैयावृत्य है। अर्हंत, आचार्य, उपाध्याय और शास्त्र में भावविशुद्धि युक्त अनुराग करना भक्ति है। छह आवश्यक क्रियाओं में काल का अतिक्रमण नहीं कर प्रवर्तना आवश्यकापरिहाणि है। विलक्षण ज्ञान, उत्कृष्टतपश्चर्या, जिन पूजा आदि विधियों करके जैन धर्म का प्रकाश करना मार्गप्रभावना है। जैसे नयी ब्याई हुयी गाय का अपने बछड़े पर अनुपम स्नेह होता है उसी प्रकार अपने साधर्मी भाइयों को देख कर या प्रकृष्ट वचन वाले विद्वानों का पसंग मिलने पर स्नेहार्द्र चित्त हो जाना प्रवचन-वत्सलता है। ये सोलह कारण सम्पूर्ण होयं अथवा दर्शन विशुद्धि के साथ अकेले दुकेले भी होयं, समीचीन भावना किये गये संते तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव हेतु समझ लेने चाहिये।

के पुनर्दर्शनविशुद्ध्यादय इत्युच्यते;—

कोई शिष्य पूँछता है कि दर्शन विशुद्धि आदिक फिर कौन हैं ? ऐसा प्रश्न प्रवर्तने पर ग्रन्थकार द्वारा उत्तर वार्तिकों करके समाधान कहा जाता है।

> जिनोपदिष्टे नैर्ग्रंथ्यमोक्षवर्त्मन्यशंकनं।
> अनाकांक्षणमप्यत्रामुत्र चैतत्फलाप्तये ॥१॥
> विचिकित्सान्यदृष्टीनां प्रशंसा संस्तवच्युतिः।
> मौढ्यादिरहितत्वं च विशुद्धिः सा दृशो मता॥२॥

श्री अर्हंत परमेष्ठी भगवान् करके उपदेशे गये निर्ग्रन्थपना स्वरूप मोक्षमार्ग में जो शंकादि रहित रुचि करना है वह सम्यग्दर्शन की विशुद्धि मानी गयी है। जिस दर्शनविशुद्धि में सातभय, अथवा यह जिनोपदिष्ट तत्त्व है या नहीं यों शंका का निराकरण कर दिया जाता है। इह लोक और परलोक में अमुक फल की प्राप्ति के लिये भोगोपभोगों की आकांक्षा भी हट जाती है। गुणों में प्रीति करते हुये ग्लानि की च्युति हो जाती है। अन्यमिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा और भली स्तुति की प्रच्युति हो जाती है। मूढता आदि से रहितपना है। यों निःशंकितत्व, निःकांक्षता, विचिकित्साविरह, अमूढदृष्टिता, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना ये आठ अंग पाये जाते है। वह दर्शन की विशुद्धि आम्नायधारा से मान्य चली आ रही है। ये असंख्य जीव जिनशासन के अवलम्ब बिना नरक, निगोद, गर्त में डूबते जारहे हैं। इनका उद्धार कैसे किया जाय ? इस प्रकार संसार समुद्र से उतारने की तीव्र भावना इसके बनी रहती है।

> संज्ञानादिषु तद्वत्सु चादरोऽर्थानपेक्षया।
> कषायविनिवृत्तिर्वा विनयैर्मुनिसंमतैः ॥३॥
> सम्पन्नता समाख्याता मुमुक्षूणामशेषतः।
> सद्दृष्ट्यादिगुणस्थानवर्तिनां स्वानुरूपतः ॥४॥

समीचीन ज्ञान, चारित्र, आदि गुणों में और उन गुणवाले पुरुषों में किसी प्रयोजन की नहीं अपेक्षा करके जो आदर करना है वह विनय है। मुनियों के द्वारा श्रेष्ठ मानी गयी विनयों करके जो सम्पत्तियुक्तता है वह विनयसम्पन्नता अच्छी बखानी गयी है। अथवा अभिमान आदि कषायों की

विशेषरूप से निवृत्ति होजाना विनय है। सम्यग्दृष्टि, विरताविरत, आदि गुणस्थानों में वर्त रहे सम्पूर्ण मोक्षाभिलाषी जीवों की अपने-अपने अनुरूप योग्यता करके विनय करना आवश्यक माना गया है। अर्थात् जैसे धनसम्पत्ति से युक्त होरहा अभिमानी धनाढ्य अपने को सम्पन्न समझता रहता है उसी प्रकार विनीत पुरुष भी अपनी विनय-सम्पत्ति से सदैव आत्मगौरव युक्त समझे। कदाचित् भी गुरु आदि में अविनय का प्रसंग नहीं आने देवे। उसकी दृष्टि, शरीर, क्रिया, मनोवृत्ति में सर्वदा विनय झलकता रहे।

सच्चारित्रविकल्पेषु व्रतशीलेष्वशेषतः।
निरवद्यानुवृत्तिर्यानतिचारः स तेषु वै ॥५॥
संज्ञानभावनायां तु या नित्यमुपयुक्तता।
ज्ञानोपयोग एवासौ तदाभीक्ष्णं प्रसिद्धितः ॥६॥

समीचीन चारित्र के भेद-प्रभेद होरहे अहिंसादि व्रतों में और उनके परिपालक क्रोधत्याग, भीरुत्वत्याग आदि शीलों में परिपूर्णरूप से जो निर्दोष शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति करना है वह निश्चय कर उन शीलव्रतों में अनतीचार कहा जाता है। श्रावकों को दिग्विरति आदि सात शीलों में अतीचार नहीं लगने देना चाहिये। सम्यग्ज्ञान की भावना में जो नित्य ही उपयुक्त बने रहना है वही तो उस समय अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग प्रसिद्ध होरहा है।

संसाराद्भीरुताभीक्ष्णं संवेगः सद्धियां मतः।
न तु मिथ्यादृशां तेषां संसारस्याप्रसिद्धितः ॥७॥

श्रेष्ठ विचारवान पुरुषों की जो संसार से सदा भयभीतता है वह सम्यग्ज्ञानियों के यहाँ संवेग माना गया है। मिथ्यादृष्टियों के यहां तो संवेग गुण बनता ही नहीं है क्योंकि उन एकान्तवादियों के यहां संसारतत्त्व की प्रसिद्धि नहीं है। पाप से तो वह डरेगा जो पाप को पाप समझेगा। मल का कीड़ा मल में ही आसक्त बना रहता है।

शक्तितस्त्याग उद्गीतः प्रीत्या स्वस्यातिसर्जनं।
नात्मपीडाकरं नापि सम्पत्त्यनतिसर्जनं ॥८॥

शक्ति से त्याग वह कह दिया जाता है जो कि प्रीति से अपने धन का परित्याग करना है। शक्ति से अधिक दान करने पर अपने को पीडा उपजती है और अत्यल्प देने से कृपणता आती है अतः वह दान अपने को पीडा करने वाला नहीं होना चाहिये। साथ ही सम्पत्ति का अत्याग करना भी नहीं होना चाहिये। यथायोग्य दान करना शक्तितस्त्याग है।

अनिगूहितवीर्यस्य सम्यग्मार्गाविरोधतः।
कायक्लेशः समाख्यातं विशुद्धं शक्तितस्तपः ॥९॥

अपने बल, वीर्य को नहीं छिपारहे पुरुष का समीचीन मोक्षमार्ग के अविरोध से जो कायक्लेश का अनुष्ठान करना है वह पूर्व आचार्यों द्वारा विशुद्ध होरहा शक्तितस्तप अच्छा बखाना जा चुका है।

भाण्डागाराग्निसंशांति समं मुनिगणस्य यत् ।
तपःसंरक्षणं साधुसमाधिः स उदीरितः ॥१०॥

जिस प्रकार सम्पत्ति के भण्डार घर में आग लग जाने पर शीघ्र ही उसका उपशम किया जाता है क्योंकि अन्य स्थानों की अपेक्षा वह भण्डारा बहुत उपकारक है। इसी के समान मुनि समुदाय के निर्द्वन्द्व तपश्चरण के ऊपर यदि किसी प्रकार से विघ्न उपस्थित हुआ होय तब उस तप का जो समीचीनतया रक्षण करना है वह साधुसमाधि कही गयी है।

गुणिदुःखनिपाते तु निरवद्यविधानतः ।
तस्यापहरणं प्रोक्तं वैयावृत्त्यमनिंदितं ॥११॥

गुणवाले साधु पुरुषों के ऊपर दुःख पड़ जाने पर निर्दोष विधि से जो उस दुःख का परिहार करना है वह तो निंदा रहित हो रहा वैयावृत्य अच्छा कहा गया है।

अर्हत्स्वाचार्यवर्येषु बहुश्रुतयतिष्वपि ।
जैने प्रवचने चापि भक्तिः प्रत्युपवर्णिता ॥१२॥
भावशुद्ध्यायुता शश्वदनुरागपरैरलं ।
विपर्यासितचित्तस्याप्यन्यथाभावहानितः ॥१३॥

श्री अर्हंत परमेष्ठियों में और श्रेष्ठ आचार्य महाराजों में तथा बहुत शास्त्रों के जानने वाले उपाध्याय यतियों में एवं जिनोक्त प्रवचन यानी शास्त्रों मे भी जो सदा अनुराग में तत्पर होरहे भव्य जीवों करके भावशुद्धि से युक्त होरही अत्यर्थ भक्ति की जाती है वह अर्हंत आदि की भक्ति बखानी गयी चली आरही है। भक्ति की विशेषता यह है कि जिन पुरुषों के चित्त मिथ्याज्ञान करके विपर्यास को प्राप्त होरहे है उनके अन्य प्रकारों से होरहे मिथ्याभावों की हानि उस भक्ति करके हो जाती है।

आवश्यकक्रियाणां तु यथाकालं प्रवर्तना ।
आवश्यकापरिहाणिः षण्णामपि यथागमं ॥१४॥

सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओ का त्याग कर चित्त का एक आत्मानुभव में लगाये रखना सामायिक है। चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का श्रद्धापूर्वक विचार करना स्तव है। दो आसन वाली और बारह आवर्त वाली, तथा चार शिरोनति द्वारा नमस्कार वाली, शारीरिकक्रिया करते हुये मन,वचन, कायकी शुद्धता पूर्वक देव, शास्त्र, गुरु की वंदना करना वन्दना है। पहिले लगे हुये दोषों की निवृत्ति करना प्रतिक्रमण है। भविष्य में आनेवाले संभाव्यमान दोषों का प्रथम से ही त्याग कर देना प्रत्याख्यान है। काल की मर्यादा कर शरीर में ममत्व भाव की निवृत्ति कर देना कायोत्सर्ग है। इस प्रकार इन छैओं भी आवश्यक क्रियाओं का (में) यथायोग्य काल में आगम विधि अनुसार प्रवृत्ति करते रहना तो आवश्यकापरिहाणि है।

मार्गप्रभावना ज्ञानतपोऽर्हत्पूजनादिभिः ।
धर्मप्रकाशनं शुद्धबोद्धानां परमार्थतः ॥१५॥

उत्कट ज्ञान का अभ्यास करना, उग्र तपश्चरण करना, प्रतिष्ठान पूर्वक जिनपूजन करना, विशाल चैत्यालय निर्माण, उद्भट शास्त्रार्थ, प्रकृष्ट वक्तृता, आदि विधानों करके शुद्ध हृदय वाले बुद्धिशाली पुरुषों का जो जैन धर्म का प्रकाश करना है वह परमार्थ रूप से ठोस मार्ग प्रभावना नाम की भावना है ।

वत्सलत्वं पुनर्वत्से धेनुवत्संप्रकीर्तितं ।
जैने प्रवचने सम्यक्छ्रद्धानं ज्ञानवत्स्वपि ॥१६॥

जिस प्रकार सद्यःप्रसूता गाय अपने बच्चे में अकृत्रिम स्नेह करती है उसीप्रकार जिनमतानुयायी अच्छे वचन वाले विद्वानो में और समीचीन श्रद्धान ज्ञान वाले साधर्मी पुरुषों में भी जो पुनः-पुनः प्रमोदबहुलवत्सलता करना है वह प्रवचनवत्सलत्व भावना अच्छी कही गयी है ।

अथ किमेते दर्शनविशुद्ध्यादयः षोडशापि समुदितास्तीर्थकरत्वसंवर्तकस्य नामकर्मणः पुण्यास्रवः प्रत्येकं वेत्यारेकायामाह—

अब यहां कोई शंका उठाता है कि क्या ये दर्शन विशुद्धि, विनय सम्पन्नता, आदि सोलहों भी भावनायें समुदित होकर तीर्थकरत्व का सम्पादन करने वाले पुण्यस्वरूप नाम कर्म के आस्रव हैं ? अथवा क्या षोडश भावनाओं में प्रत्येक भी तीर्थकरत्व पुण्यनाम कर्म का आस्रव है ? बताओ। इस प्रकार आशंका उपस्थित होने पर ग्रन्थकार उत्तर को कहते हैं ।

दृग्विशुद्ध्यादयो नाम्नस्तीर्थकृत्त्वस्य हेतवः ।
समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुद्ध्या समन्विताः ॥१७॥
सर्वातिशायि तत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत् ।
प्रवृत्त्यातिशयादीनां निर्वर्तकमपीशितुः ॥१८॥

समस्त यानी पूरी सोलहों अथवा व्यस्त यानी प्रत्येक भी दर्शन विशुद्धि आदिक भावनायें तीर्थकरत्व नामकर्म की हेतु हैं किन्तु वे दर्शन विशुद्धि से भले प्रकार अन्वित होनी चाहिये। "सम्मेव तित्थबन्धो" वह तीर्थकरत्व नाम कर्म का पुण्य, सम्पूर्ण दिव्यविभूतियों में सर्वोत्कृष्ट महान अतिशय को धारने वाला है और तीनों लोकों को जीत कर तीर्थंकर भगवान् में त्रैलोक्य के अधिपतित्व का स्थापित करने वाला है। साथ ही अनन्त सामर्थ्य युक्त होरहे परमेश्वर जिनेन्द्र देव के प्रवृत्ति करके अतिशय आदिकों का सम्पादक भी वह तीर्थकरत्व पुण्य है । अर्थात् तेरहमे, चौदहमे गुणस्थानों में तीर्थकरत्व प्रकृति का उदय है । तीर्थकरत्व के साथ अविनाभाव रखने वाली अन्य प्रशस्तप्रकृतियों का

उदय तो गर्भ, जन्म अवस्था से ही है जिनोंने पूर्व जन्म में ही तीर्थकरत्व को बांध लिया है उनको कुछ पहिले जन्म से ही विशेषतायें होने लग जाती हैं तेरहवें गुणस्थान में तो शतयोजन सुभिक्ष, आकाशगमन, चतुर्मुखदर्शन आदि कितने ही अतिशय उपज जाते हैं। तीर्थकरत्व का सबसे बढ़िया कार्य तो असंख्य जीवों को तत्त्वोपदेश देकर मोक्षमार्ग में लगा देना है। तीर्थंकर महाराज से ही धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति होती है।

अत एव शुभनाम्नः सामान्येनास्रवप्रतिपादनादेव तीर्थकरत्वस्य शुभनामकर्मविशेषास्रवप्रतिपत्तावपि तत्प्रतिपत्तये सूत्रमिदमुक्तमाचार्यैः। सामान्येऽन्तर्भूतस्यापि विशेषार्थिना विशेषस्यानुप्रयोगः कर्तव्य इति न्यायसद्भावात् ॥

इस ही कारण से अर्थात् इन संसारी जीवों के लिये महान् उपकारक होने से सर्वोत्कृष्ट तीर्थकरत्व का आस्रावक सबसे बड़ा सूत्र कहा है। यद्यपि "तद्विपरीतं शुभस्य" इस सूत्र द्वारा सामान्य करके शुभ नाम कर्म के आस्रव का प्रतिपादन कर देने से ही शुभ नाम कर्म के विशेष होरहे तीर्थकरत्व कर्म आस्रव की प्रतिपत्ति हो सकती थी तथापि उस सर्वातिशायि पुण्य की प्रतिपत्ति कराने के लिये इस सूत्र को आचार्यों ने पृथक् कह दिया है। सामान्य में अन्तर्भूत हो चुके विशेष का भी विशेष के अभिलाषी पुरुष करके स्वतंत्रतया उस विशेष का पुनः प्रयोग कर देना चाहिये इस प्रकार के न्याय का सद्भाव है। "ब्राह्मणवशिष्ट न्याय" अथवा "जिनेन्द्रदेवमहावीर" न्याय प्रसिद्ध हैं। इन लौकिकन्यायों अनुसार जगदुपकारी और जड़ कर्मों की भी प्रशंसा करा देने वाली तीर्थकरत्व प्रकृति का पृथक् सूत्र द्वारा निरूपण करना सहृदय सूत्रकार का समुचित प्रयास है।

नामकर्म के आस्रव का कथन कर चुकने पर गोत्र कर्म का आस्रव वक्तव्य हुआ तहां "दुर्जनं प्रथमं सत्कुर्यात्" इस न्याय अनुसार पहिले नीच गोत्र के आस्रव का निरूपण करने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते है।

परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

पर की निंदा करना और अपनी प्रशंसा करना तथा विद्यमान होरहे गुणों को ढक देना और नहीं विद्यमान होरहे दोषों का प्रकट करना ये सब नीचैर्गोत्र कर्म के आस्रावक कारण हैं।

दोषोद्भावनेच्छा निंदा, गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा, अनुद्भूतवृत्तिता छादनं, प्रतिबंधकाभावे प्रकाशितवृत्तितोद्भावन, गूयते तदिति गोत्रं, नीचैरित्यधिकरणप्रधानशब्दः। तदेवं परात्मनोर्निंदाप्रशंसे सदसद्गुणयोश्छादनोद्भावने नीचैर्गोत्रस्यास्रव इति वाक्यार्थः प्रत्येयः। कुत एतदित्याह—

सत्य अथवा असत्य दोषों के प्रकट करने की इच्छा निंदा कही जाती है। सद्भूत या असद्भूत गुणों के प्रकट करने का अभिप्राय रखना प्रशंसा है। प्रसिद्ध नहीं होने देना यानी छिपाये रखने का

व्यवहार रखना आच्छादन है। प्रतिबंधक कारण का अभाव होने पर प्रकाशित हो जाने की प्रवृत्ति करना उद्भावन है। जो व्यवहारी पुरुषों करके बोला जारहा है इस कारण वह गोत्र है। नीचैः यह शब्द अधिकरण की प्रधानता रखने वाला है। तिस कारण इस सूत्र वाक्य का अर्थ इस प्रकार समझ लिया जाय कि पर की निंदा करना और अपनी प्रशंसा करना, दूसरों के सद्गुणो का तिरोभाव करना और असद्गुणों का आविर्भाव करना ये आत्मा को नीचे स्थान में करने वाले नीचैर्गोत्र कर्म के आस्रव है। यहाँ कोई तर्क उठाता है कि किस युक्ति से ये सूत्रोक्त उद्देश्यविधेयदल संगत होरहे है? बताओ। ऐसा चोद्य उपस्थित होने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक को कहते हैं कि—

परनिंदादयो नीचैर्गोत्रस्यास्रवणं मतं।
तेषां तदनुरूपत्वादन्यथानुपपत्तितः ॥१॥

परनिंदा आदिक तो (पक्ष) नीचैर्गोत्र कर्म का आस्रव कराने वाले माने गये है (साध्य) क्योंकि उन परनिंदा आदि को उस नीचगोत्र के आस्रव करने की अनुकूलता प्राप्त है। (हेतु) अन्यथा यानी नीचगोत्र के आस्रावक होने के बिना उस तदनुकूलता की असिद्धि है (अविनाभाव प्रदर्शन) यों अनुमान मुद्रा करके सूत्रोक्त सिद्धांत पुष्ट कर दिया है।

नीचगोत्र का आस्रव कहा जा चुका है। अब उच्च गोत्र के आस्रव की विधि क्या है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते है।

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

उन नीचगोत्र के आस्रावक कारणों से विपरीत होरहे अर्थात् आत्मनिंदा, परप्रशंसा, सद्गुण उद्भावन, असद्गुणछादन, तथा गुणी पुरुषों से विनय करते हुये अवनत रहना और विज्ञान आदि का मद नहीं करना ये उत्तरवर्त्ती यानी उच्चगोत्र के आस्रावक हेतु है।

नीचैर्गोत्रस्यास्रवप्रतिनिर्देशार्थस्तच्छब्दः, विपर्ययोऽन्यथावृत्तिः, गुरुष्ववनतिर्नीचैर्वृत्तिः, अनहंकारतानुत्सेकः। त एते उच्चैर्गोत्रस्यास्रवा इति समुदायार्थः॥ कथमित्याह—

तत् शब्द पूर्वपरामर्शक होता है। इस सूत्र मे पूर्व सूत्रोक्त नीचैर्गोत्र के आस्रव कारणो का प्रतिनिर्देश करने के लिये तत् शब्द कहा गया है। अन्य प्रकार करके वृत्ति करना विपर्यय है। गुणो से उत्कृष्ट होरहे गुरुजनों में विनय करके अवनति यानी नम्र बने रहना नीचैर्वृत्ति है। विज्ञान, तपश्चर्या, चारित्र आदि गुणों करके उत्कृष्ट होरहे भी सत्पुरुष का जो विज्ञान आदि प्रयुक्त मद नहीं करना है वह अनुत्सेक कहा जाता है। ये सब लोक प्रसिद्ध होरहे कारण उच्चगोत्र के आस्रव है। यह इस सूत्र के वाक्यों का समुदाय कर अर्थ कर दिया गया है। यहाँ कोई चोद्य उठता है कि आप जैनों की बात केवल आज्ञा सिद्ध मान ली जाय? अथवा उक्त सूत्र के अभिमत सिद्धान्त मे कोई युक्ति भी है? यदि है तो वह किस प्रकार है? ऐसी तर्कणा उपस्थित होने पर ग्रन्थकार इस वक्ष्यमाण वार्तिक को कहते है।

उत्तरस्यास्रवः सिद्धः सामर्थ्यात्तद्विपर्ययः ।
नीचैर्वृत्तिरनुत्सेकस्तथैवामलविग्रहः ॥१॥

जिस ही प्रकार परनिंदा आदिक नीचगोत्र के अनुरूप होरहे नीचगोत्र के आस्रव हैं उस ही प्रकार उनसे विपरीत होरहे परप्रशंसा आदिक तो उत्तर गोत्र के आस्रव है। यह बात विशेष युक्ति का प्रतिपादन किये बिना सामर्थ्य से सिद्ध हो जाती है। तिस ही प्रकार नीचैर्वृत्ति और अनुत्सेक भी उच्चगोत्र के आस्रव है। उक्त सिद्धान्त का शरीर निर्मल है कोई दोष नहीं है अथवा निर्दोष साधनों करके मनःशुद्धि और आत्मशुद्धि का कारण शरीर की शुद्धि बनाये रखना यह भी उच्चगोत्र का आस्रव है।

यथैव हि नीचैर्गोत्रानुरूपो नीचैर्गोत्रस्यास्रवः परनिंदादिस्तथोच्चैर्गोत्रानुरूपः परप्रशंसादिरुच्चैर्गोत्रस्येति न कश्चिद्विरोधः ।

कारण कि जिस ही प्रकार नीचगोत्र के अनुकूल होरहे परनिंदा आदिक नीचगोत्र के आस्रव कह दिये हैं। तिस ही प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में पाये जारहे ऊँचे गोत्रों के अनुरूप हुये परप्रशंसा, आत्मनिंदा आदिक तो उच्चगोत्र के आस्रव हैं। यों लौकिक और शास्त्रीय न्याय से इस सूत्रोक्त सिद्धांत का कोई विरोध नही आता है। उक्त वार्तिक में इस सूत्रोक्त का अनुमान बनाया जा सकता है। तर्करसिक विद्वानों को प्रत्यक्षित या आगमगम्य विषयों में भी अनुमान प्रयोग अभिरूप जचता है॥ गोत्रकर्म के अनन्तर निर्दिष्ट किये गये आठवे अन्तराय कर्म का आस्रव क्या है ? ऐसी बुभुत्सा प्रवर्तने पर परोपकारी सूत्रकार इस अग्रिम सूत्र को कहते है।

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥

दान आदि शुभ कार्यों में विघ्न कर देना अन्तराय कर्म का आस्रव है।

दानादिविहननं विघ्नः तस्य करणं दानाद्यंतरायस्यास्रवः प्रत्येयः । कुत इत्याह—

दान आदि अर्थात् दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य का विशेषतया हनन करना विघ्न है उस विघ्न का करना दानान्तराय, लाभान्तराय आदि अन्तराय कर्मों का आस्रव कारण होरहा समझ लेना चाहिये, किस कारण से या किस युक्ति से इस सूत्र का कहा हुआ विषय पर्यालोचित समझा जाय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तरवर्त्ती दो वार्त्तिकों को कहते है॥

सर्वस्याप्यंतरायस्यास्रवः स्यात्प्राणिनामिह ।
विघ्नस्य कारणात्तस्य तथायोग्यत्वनिश्चयात् ॥१॥
प्रवर्तमानदानादि प्रतिषेधस्य भावना ।
आस्रावकोऽन्तरायस्य दृष्टतद्भावना यथा ॥२॥

इन दान, लाभ, आदि में विघ्न कर देने से प्राणियों के सभी अन्तराय कर्मों का आस्रव हो जायगा (प्रतिज्ञा) तिस प्रकार कार्यकारणभाव की योग्यता का निश्चय होने से (हेतु) जिस प्रकार कि दान आदि में प्रवृत्ति कर रहे पुरुष की क्रियाओं में उन दानादि के प्रतिषेध की भावना करना अन्तराय कर्म का आस्रावक है देखे जा रहे पदार्थ में उसकी भावना करना भी पौद्‌गलिकपदार्थ का आस्रावक है (दृष्टान्त) यों निर्दोष अनुमान से उक्त सूत्र का प्रमेय पुष्ट हो जाता है। विज्ञान की दृष्टि से पौद्‌गलिक शक्तियों का विचार करो दीन, नादिदा पुरुष मीठे व्यञ्जन की ओर लालसा से देखता है, कामुक जन सुन्दरी कामिनी की ओर टकटकी लगा कर देखता है, सुन्दर बच्चे को दृष्टि लग जाती है इत्यादि रहस्यों का चिन्तन करो।

इति करणानुवृत्तेः सर्वत्रानुक्तसंग्रहः । तेन विघ्नकरणजातीयाः क्रियाविशेषाः । प्रभूतस्वं प्रयच्छति प्रभौ स्वल्पदानोपदेशादयोऽपि दानाद्यंतरायास्रवाः प्रसिद्धा भवन्ति ।

"भूतवृत्यनुकम्पा" आदि सूत्र मे इति शब्द उपात्त किया गया है। इति का अर्थ प्रकार है यानी इस प्रकार के अन्य भी कारण इन-इन कर्मों के आस्रव हो सकते हैं। "देहलीदीपक" न्याय से इति शब्द का "तत्प्रदोष" "दुःखशोक" "कषायोदयात्" "बह्वारंभ" "मायातैर्यग्योनस्य" आदिक सभी कर्मास्रव के प्रतिपादक सूत्रों में अन्वय हो जाता है। उन-उन सूत्रों में कहे गये कारण तो उपलक्षण हैं। प्रकार अर्थ वाले इति शब्द करके प्रदोष आदि के साथ आचार्य या उपाध्याय के प्रतिकूल हो जाना, अकाल में अध्ययन करना, श्रद्धा नहीं रखना, मिथ्या उपदेश देना, आदि का ग्रहण हो जाता है। दुःख, शोक, आदि के साथ अशुभ प्रयोग, अंगोपांगछेदन, तर्जन, विश्वासघात, विषमिश्रण, यंत्र, पीजरा बनाना, आदि का संग्रह हो जाता है। भूतानुकम्पा आदि के साथ अर्हत पूजा, विनयप्रधानता आदि गुण भी पकड़ लिये जाते है। केवलि अवर्णवाद के साथ जैनधर्म मे अश्रद्धा, जिनोक्त सिद्धान्त में संशय रखना, समीचीन उपदेश से सर्वथा विपरीत ही प्रवृत्ति करना, एकान्त पक्ष का आग्रह किये जाना आदि का ग्रहण किया जा सकता है। चारित्रमोह के आस्रावक हेतुओं में तपस्वी जनों की निंदा करना, हास्यशीलता, शोकप्रधानता, आदि भी गिन लिये जाते हैं। नरक आयु के कहे गये आस्रव कारण भी उपलक्षण है। इति शब्द द्वारा शैल भेद सदृश क्रोध करना, प्राणिघात, पर धन हरण, आदि भी ले लिये जाते हैं। तिर्यंच आयु का आस्रव माया के कह देने मात्र से, अधर्म का उपदेश, जातिकुलशीलदूषण आदि का संग्रह हो जाता है। अल्प आरंभ और अल्पपरिग्रह के साथ ही प्रकृतिभद्रता, मार्दव, आर्जव, बालुका राजि के सदृश क्रोध करना, अधिक बोलने की टेव नही रखना, उदासीनता आदि भी ग्रहण करने योग्य हैं। सराग संयम आदि के साथ सद्धर्म श्रमण, प्रोषधोपवास भी संग्रहणीय हैं। योग वक्रता आदि सूत्र में च शब्द या इति शब्द करके अस्थिरचित्तस्वभाव, झूंठे नाप-तोल रखना, झूंठ बोलने की टेव, अधिक बकवाद, उद्यान विनाश, आदि का समुच्चय समझ लिया जाय। "तद्विपरीतं शुभस्य" इस सूत्र में भी धार्मिक दर्शन, संसारभीरुता, प्रमादवर्जन आदि अनुक्त भी परणतियों का संग्रह कर लिया जाता है। दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनायें तो नियत ही है। सदा जैनत्व के बढ़ते रहने की भावना रखना, परोपकार करना, प्रशस्त कार्यों में आत्मबल बढ़ाना, सम्पूर्ण संसारी जीवों के हित की भावना रखना ये परणतियां सोलह कारणों में हो गर्भित हो जाती है। परनिंदा आदि के साथ जाति अभिमान, कुलाभिमान, गुरु का तिरस्कार करना, आदि भी पकड़ लिये जाते हैं। उच्चगोत्र के आस्रावक हेतुओं में धर्मात्माओं की सेवा, उद्धतता नहीं करना आदि प्रकार भी ले लिये जाते हैं। इस "विघ्नकरणमंतरायस्य"

सूत्र में भी इति शब्द की अनुवृत्ति है अतः पंचेन्द्रियों के विषय में किसी को विघ्न डाल देना, धर्म का व्यवच्छेद करना, पात्र को आश्रय न देना, गुह्य अंग को छेदना, आदि अनुक्त पदार्थों का संग्रह हो जाता है। जब कि इति शब्द के करने की अनुवृत्ति हो जाने से सभी सूत्रों में अनुक्तों का संग्रह हो रहा है तिस कारण विघ्न करने की जातिवाले जितने भर क्रियाविशेष है उन सब का यहां संग्रह कर लिया जाता है। कोई राजा, महाराजा या सेठ किसी विद्वान् को या परोपकारी धार्मिक पुरुष को यदि बहुत सा धन दे रहा है ऐसी दशा में उस दाता को स्वल्प दान करने का उपदेश करना, भांजी मार देना, पात्र या धार्मिक स्थान के दोष दिखा देना, आदिक भी दानान्तराय, लाभान्तराय आदि कर्मों के आस्रव प्रसिद्ध हो जाते हैं। यह निर्णीत विषय है।

सोऽयं विचित्रः स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो विकारः शौंडातुरवत् प्रत्येयः।

सो यह विचित्र प्रकार का अपने-अपने उपार्जित कर्मों के वश से आत्मा का विकार हो रहा है जो कि मदोन्मत्त पुरुष या रोगी पुरुष के समान समझ लिया जाता है। भावार्थ "कामादि प्रभवश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः। तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्धयशुद्धयतः" श्री समन्तभद्राचार्य ने धनी, निर्धन, मूर्ख, पण्डित, यशस्वी, अपयशवाला, उच्च-नीच, दुःखी-सुखी, कषायी-मन्दकषाय, क्रोधी, मिथ्यादृष्टी, मनुष्य, तिर्यंच आदि चित्र-विचित्र प्रकार का जीव का परिणाम हो रहा सभी पूर्वोपार्जित कर्मों अनुसार व्यवस्थित किया है। यह जीव अपने योग कषायों करके अनेक प्रकार के कर्मों का समय प्रबद्ध प्रतिक्षण बांधता रहता है। जब तक वास्तविक रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है तब तक मोह या कषाय के वश यह जीव अनेक विभाव अवस्थाओं को धारता रहता है जिस प्रकार मत्त पुरुष अपनी मिथ्या रुचि से मद, मोह विभ्रमों को करने वाली मदिरा को पीकर उस मद्य के परिपाक की अधीनता से आत्मा, मन, वचन, काय संबंधी अनेक विकारों को धारता रहता है अथवा जैसे लोलुप रोगी, अपथ्य पदार्थों को खा-पीकर उनके खोटे परिपाक अनुसार वात, पित्त, कफ के विकारों को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार यह संसारी जीव अपने प्रदोष आदि कारणों से अनुभाग रस को लेकर आये हुये कर्मों अनुसार नट के समान अनेक विभाग परणतियों को करता रहता है। यह कर्मसिद्धान्त प्रतीत कर लेने योग्य है।

अनुपदिष्टहेतुकत्वादास्रवानियम इति चेन्न, स्वभावाभिव्यंजकत्वाच्छास्त्रस्य। तत्सिद्धिरतिशयज्ञानदृष्टत्वात् सर्वाविसंवादाच्चोपालंभनिवृत्तिः। सर्वेषां प्रवादिनामविसंवाद एव शुभाशुभास्रवहेतुषु यथोपवर्णितेषु। कुत इत्याह—

यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि तत्प्रदोष, निह्नव, आदि करके ज्ञानावरण आदि कर्मों के आस्रव हो जाने का जो सूत्रकार ने उपदेश दिया है यह बन नहीं सकता है क्योंकि इस कार्यकारणभाव में कोई हेतु का निर्देश नहीं है अतः सूत्रों अनुसार किया गया नियम नहीं बन सकेगा, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि शास्त्र तो पदार्थ के स्वभावों का मात्र प्रकट कर देने वाला है। अग्नि उष्ण है, वायु बह रही है, सूर्य प्रकाश रहा है बिना हेतु दिये भी इन वाक्यों से वस्तु के स्वभावों की अभिव्यक्ति हो जाती है। सच बात तो यह है कि "स्वभावो तर्कगोचरः" "अचिन्त्यः कार्यकारणभावः" "वस्तु निर्विकल्पकं" यों कार्यकारणभाव में कोई तर्क का अवसर नहीं है। सिद्धान्तशास्त्र केवल स्वभावों का निरूपण कर देते हैं जिस प्रकार प्रदीप ज्ञापक घट, वस्त्र आदि के स्वभाव को प्रकट कर देता है उसी

प्रकार शास्त्र भी विद्यमान हो रहे ही अर्थों का प्रकाशक है पश्चात् बैठा ठाला कोई छोटी बुद्धिवाला पुरुष भी उनके हेतुओं की विचारणा कर सकता है। अग्नि क्यो जलाती है ? कि उसमें दाहकत्व शक्ति है अन्य में वह शक्ति नहीं है। शास्त्र के उस सत् पदार्थों के अभिव्यंजकपने की सिद्धि तो यों हो जाती है कि युगपत् सम्पूर्ण अर्थो के प्रकाशने में समर्थ हो रहे और सातिशय ज्ञान को धार रहे श्री अर्हंत परमेष्ठी ने उस विषय को देख कर शास्त्र के अर्थ का उपदेश दिया है अतः वक्ता के प्रामाण्य से शास्त्र का प्रमाणपना सिद्ध है। एक बात यह भी है कि इस स्वभावों के निरूपण में सभी प्रवादियों का विसंवाद नहीं है। देखिये वैशेषिक या नैयायिक पण्डित पृथ्वी, जल, तेज, वायु, द्रव्यों के स्वभाव कठिनपना, बहना, उष्णता, चलन मानते है। रूप का स्वभाव चक्षु से देखा जाना इष्ट किया है। संयोग और विभाग में किसी की नहीं अपेक्षा कर कारण हो जाना कर्म का स्वभाव इष्ट किया है। सांख्य पण्डितों ने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणों के स्थिति, उत्पाद, विनाश या प्रसाद, प्रवृत्ति, मोह, ये स्वभाव माने है "अविद्या प्रत्ययाः संस्काराः" आदि बौद्धों को भी स्वभाव मानने पड़ते हैं। अतः सभी पण्डितों का अविसंवाद हो जाने से भी उपालंभों (उलाहनों) की निवृत्ति हो जाती है। आम्नायानुसार सूत्रों में जैसा-जैसा शुभ अशुभ कर्मों के आस्रावक हेतुओं का ठीक-ठीक वर्णन किया जा चुका है उनमें सभी मीमांसक, नैयायिक आदि प्रवादियो के यहाँ भी कोई विसंवाद ही नही है। यहां कोई तर्क उठाता है कि उक्त कर्मों के आस्रावक हेतुओं का "कार्यकारणभाव" किस प्रमाण से नियत कर लिया जाय ? ऐसा आग्रह प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस वार्त्तिक को भी युक्तिसंतोषी जनो के प्रति कहे देते हैं।

इति प्रत्येकमाख्यातः कर्मणामास्रवः शुभः।
पुण्यानामशुभः पापरूपाणां शुद्ध्यशुद्धितः॥२॥

इस प्रकार इन अठारह सूत्रों द्वारा आठ कर्मो में से प्रत्येक-प्रत्येक के आस्रवों को कह रहे सूत्रकार महाराज ने जीवों की शुद्धि से पुण्यकर्मों का शुभ आस्रव और आत्मा की अशुद्धि से पापस्वरूप कर्मों का अशुभ आस्रव होरहा बहुत अच्छा कह दिया है "शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्। साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः" इस देवागम की कारिका पर ग्रन्थकार श्री विद्यानंद स्वामी ने अष्टसहस्री में इस विषय का अच्छा स्पष्टीकरण कर दिया है।

ज्ञानावरणादीनां कर्मणां तत्प्रदोषादयोऽशुभास्रवाः प्राणिनां संक्लेशांगत्वात् भूतव्रत्यनुकम्पादयः सद्वेद्यादीनां शुभास्रवा विशुद्ध्यंगत्वान्यथानुपपत्तेरिति प्रमाणसिद्धत्वात्।

प्राणियों के तत्प्रदोष, निह्नव, आदिक तो (पक्ष) पाप प्रकृति होरहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदिक कर्मों के अशुभ आस्रव है (साध्य) संक्लेश का अंग होने से (हेतु) अर्थात् संक्लेश के कारण और संक्लेश के कार्य अथवा संक्लेश स्वरूप को यहां संक्लेशांग पकड़ा गया है। संक्लेशांग होरहे लौकिक सुख या दुःख अथवा दोनों ही यदि स्व, पर और उभय में स्थित हो रहे है तो वे अवश्य पापों का आस्रव कराते हैं तथा भूत या व्रतियों में किये गये अनुकंपा, दान आदिक (पक्ष) सद्वेदनीय आदिक शुभ कर्मों के आस्रव है (साध्य) अन्यथा उनको विशुद्धि का अंगपना बन नहीं सकता है (हेतु) विशुद्धि के कारण और विशुद्धि के कार्य तथा विशुद्धि के स्वभाव ये सब विशुद्धि के अंग हैं जो परिणाम आत्मा का विशुद्धि का अंग होगा वह अविनाभावरूप से पुण्य कर्मों का आस्रावक है। इस प्रकार छठे

अध्याय के सूत्रोक्तसिद्धान्त की अनुमान प्रमाण से सिद्धि कर दी जाती है। श्री अकलंकदेव महाराज ने अष्टशती में "आर्तरौद्रध्यानपरिणामः संक्लेशस्तदभावो विशुद्धिरात्मनः स्वात्मन्यवस्थानम्" यों कहा है कि आर्तध्यान, या रौद्रध्यान, स्वरूप परिणाम संक्लेश है और धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान, स्वभाव वाली विशुद्धि है। यद्यपि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवों के मन नहीं होने के कारण ध्यान नहीं है फिर भी तीव्र अनुभाव को लिये हुये कषायोदय स्थान है अतः वे भी संक्लेशांग समझे जांय। इसी प्रकार चौथे से सातवें गुणस्थान तक संभव रहा धर्म्यध्यान और ऊपर के गुणस्थानों में पाया जा रहा शुक्लध्यान उन मन्द कषाय वाले मिथ्यादृष्टियों के नहीं है जिनके कि आत्मविशुद्धि होने से अनेक पुण्य प्रकृतियों का आस्रव हो जाता है अतः संक्लेश या विशुद्धि का अर्थ ऐसा समझ लिया जाय जो कि अव्यभिचरित रूप से सभी पापपुण्य वाले जीवों में पाया जाय।

तत्स्वभावाभिव्यंजकशास्त्रस्य सर्वसंवादः सिद्ध एव।

शास्त्र तो उन पदार्थों के स्वभाव का प्रकाशक है अतः राग-द्वेष रहित होकर स्वभावों का व्याख्यान कर देने से समीचीन शास्त्रोक्त सिद्धान्त में सभी प्रवादियों का संवाद सिद्ध ही है। सफल प्रवृत्ति का जनकपना या निर्बाधपना अथवा अन्य प्रमाणों की प्रवृत्ति, ये सभी संवाद इस कर्मसिद्धान्त में पाये जाते है।

ननु तत्प्रदोषादीनां सर्वास्रवत्वान्नियमाभाव इति चेन्न, अनुभागविशेषनियमोपपत्तेः। प्रकृतिप्रदेशबंधनिबंधनो हि सर्वकर्मणां तत्प्रदोषादिभिः सकलोऽप्यास्रवो न प्रांतविभिद्यते। यस्त्वनुभागास्रवः स विशिष्टः प्रोक्तः। अतएव सकलास्रवाध्यायसूत्रितमत्र विशेषात्समुदायतोऽनुभागापेक्षयैवोपसंहृत्य दर्शयति।

यहाँ बड़ा अच्छा प्रश्न उठता है कि तत्प्रदोष, निह्नव, दुःख, शोक, आदिक तो सभी कर्मों के आस्रव हेतु हो रहे है अतः उक्त अठारह सूत्रों द्वारा किये गये नियम का अभाव हुआ। भावार्थ-तत्प्रदोष करके जब ज्ञानावरण का आस्रव होना कहा जाता है उसी समय दर्शन मोहनीय, चारित्रमोहनीय, सातवेदनीय कर्मों का भी आस्रव हो रहा है। आगम में आयु को छोड़ कर सातों कर्म प्रतिक्षण आते रहते कहे गये है। दशवे गुणस्थान तक ज्ञानावरण का आस्रव है। ज्ञानावरण का आस्रव होते सन्ते दूसरों का आस्रव नहीं होना चाहिये जो कि इष्ट नहीं है। इसी प्रकार भूतदया आदि कारणों द्वारा सद्वेद्य का आस्रव होने के समय, अन्य क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पाप प्रकृतियों का भी आस्रव होता है अतः आस्रव का कोई नियम नहीं रहा। आस्रव के विशेष हेतुओं का निर्देश करना व्यर्थ पड़ता है जब कि सूत्रों के उद्देश्य विधेय दलों में एवकार लगा दिया जायगा जो कि बिना कहे ही प्रत्येक वाक्य में अनायास से लग बैठता है तब तो अनेक व्यभिचार दोष सपरिकर आ जावेगें। ऐसी दशा में सूत्रोक्त सिद्धान्तों की अनुमानों से सिद्धि करना कठिन पड़ जावेगा। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योंकि कर्म प्रकृतियों में फल देने की शक्ति स्वरूप अनुभाग विशेष की अपेक्षा नियम करना बन जाता है। यद्यपि तत्प्रदोष आदि करके ज्ञानावरण आदि सभी कर्म प्रकृतियों के प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, और स्थितिबंधपन का कोई नियम नहीं है तो भी अनुभागबंध के नियम का हेतु होने से तत्प्रदोष

आदिक विभक्त कर दिये जाते हैं भले ही एवकार लगा दिया जाय अथवा हेतु साध्य बनाते हुये अनुमान प्रमाण स्वरूप सूत्र मान लिये जायं किंतु अनुभागबंध की अपेक्षा नियम कर देने से कोई अतिप्रसंग नहीं आता है जिस समय ज्ञान विषय में प्रदोष किया जा रहा है उस समय ज्ञानावरण कर्म में अनुभाग शक्ति अधिक पड़ेगी शेष आरहे कर्मों में अनुभाग मंद पड़ेगा। दया, क्षमा करते समय सातवेदनीय कर्म में अनुभाग रस बहुत अधिक बंधेगा, ज्ञानावरण में मन्द रस पड़ेगा, इस प्रकार तत्प्रदोष आदिकों करके सम्पूर्ण कर्मों का कर्मों की प्रकृति पड़ जाना स्वरूप प्रकृतिबंध और कर्मपरमाणुओं का गणना में न्यून अधिक होना स्वरूप प्रदेशबंध के कारण अनुसार हुये सकल भी आस्रव का कोई प्रत्येक-प्रत्येक रूप से विभेद नहीं किया जा रहा है किन्तु जो कर्मों के अनुभाग का आस्रव है वह सूत्रकार महाराज ने विशिष्ट विशिष्ट होरहा उक्त सूत्रों द्वारा अच्छा कह दिया है "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणं" जब कि सूत्रकार महाराज का ऐसा भाव है। आस्रवतत्त्व के प्रतिपादक इस छठे अध्याय के सम्पूर्ण सूत्रोक्त विषय का यहाँ विशेष रूप से अनुभागबंध की अपेक्षा करके निरूपण है समुदाय रूप से सभी सूत्रों में अनुभागबंध लागू कर लिया जाय। इसी कारण से ग्रन्थकार उक्त अभिप्राय का उपसंहार अग्रिम वार्तिक द्वारा अनुभागबंध के नियम को स्वागताछन्दः करके दिखलाते हैं।

यादृशाः स्वपरिणामविशेषा यस्य हेतुवशतोऽसुभृतः स्युः।
तादृशान्युपपतंति तमग्रे स्वानुभागकरकर्मरजांसि ॥४॥

जिस प्राणी के हेतुओं के वश से जैसे-जैसे अपने परिणाम विशेष होंगे तिस-तिस प्रकार की अपने जाति के अनुभाग को करने वाली कर्मस्वरूप धूलियां उस जीव के आगे आ पड़ेगी। अर्थात् आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप योग से प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध होते हैं किन्तु कषायों से स्थिति और अनुभाग पड़ते हैं। दशवें गुणस्थान तक कर्मों का आस्रव है आगे तो केवल सातावेदनीय का नाममात्र आस्रव है। दशवें गुणस्थान तक कषाय पायी जाती है। तत्प्रदोष आदि भी कषायों की विशेष जातियों अनुसार हुये परिणाम विशेष हैं। कषायों में पाये जारहे अनुभागबंधाध्यवसाय स्थान इन प्रदोष आदि में अत्यधिक हैं। अतः अव्यभिचारी सूत्रोक्त कार्य कारण भाव बन जाता है।

इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

इस प्रकार छठे अध्याय का श्री विद्यानंद स्वामी करके विरचित प्रकरणों का समुदाय रूप दूसरा आह्निक समाप्त हो चुका है।

इति श्रीविद्यानन्दि-आचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥६॥

यहां तक श्री विद्यानन्दी आचार्य महाराज करके विशेषतया रचे गये तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नाम के ग्रन्थ में छठवां अध्याय परिपूर्ण हो गया है।

इस अध्याय के प्रकरणों की सूची संक्षेप से यों है कि प्रथम ही योग का परिष्कृत लक्षण कर उसी को आस्रव कहा गया है। योग आत्मा का प्रयत्नविशेष है आत्मा के बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक अनेक प्रकार के पुरुषार्थ होते रहते हैं। कौर बनाना, लील लेना, ये सब पशु, पक्षी, मनुष्यों के बुद्धि पूर्वक

पुरुषार्थ हैं, पेट में जाकर उस खाद्य या पेय पदार्थ का रस, दूध, रुधिर, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, मल, मूत्र, पसीना बनना भी विशेष पुरुषार्थ द्वारा ही होता है भले ही उन पुरुषार्थों का जीव पूरा संवेदन नहीं कर सके। अथवा कितने ही पुरुषार्थ सर्वथा अबुद्धि पूर्वक भी होयं। बात यह है कि पढना, चलना, सोना, विचारना, भोजन बनाना, पूजा करना, संयम पालना, हत्या करना, झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार, मांसभक्षण आदि भले-बुरे कार्य किये जाते है ये भी सब पुरुषार्थ पूर्वक है। पुरुषार्थ के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये जो चार नाम गिना दिये है वे शुभ कार्यों में प्रवृत्ति कराने के लिये उपयोगी हैं। आर्त, रौद्र, धर्म्य, शुक्ल ये चारों ध्यान पुरुषार्थ है। कपड़े पहिनना, गाड़ी पर चढना, खोदना, पानी खैंचना, नाचना, गाना, थप्पड़ मारना, जीना, नसेनी पर चढ़ना, उतरना, यहाँ तक कि हंगना, मूतना, थूकना, छींकना, जंम्हाई लेना ये सब क्रियायें आत्मा के यत्नविशेष से हुयी पुरुषार्थ ही हैं। जीव का चला कर बुद्धि पूर्वक या अबुद्धि पूर्वक व्यापार करना, चाहे क्रियात्मक होय या अक्रियात्मक होय सर्व पुरुषार्थ ही समझा जायगा, जो गृहस्थ त्रिवर्ग का साधन नही कर कुकृत्यो मे फंसा हुआ है उसको "त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य" यों उपदेश देकर धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थों की ओर झुका दिया जाता है। जो मुनि आवश्यकों या अपने चरित्र मे प्रमाद करता है उसको मोक्ष पुरुषार्थ की साधना के लिये उद्युक्त कर दिया जाता है। कोई-कोई विद्वान धर्म, अर्थ और काम को धर्म, यश और सुख कहते हुए गृहस्थ के यों तीन पुरुषार्थ स्वीकार करते है। उपदेश-प्रणाली भिन्न-भिन्न प्रकार की है। जो गृहस्थ आरंभ का त्यागी है या उदासीन है वह मोक्ष पुरुषार्थ के कारण होरहे संवर और निर्जरा के साधनो का अनुष्ठान करता हुआ एक प्रकार से मोक्ष पुरुषार्थ को पालता है। दान, पूजा, दया, स्वाध्याय, शुभ प्रवृत्तियां आदिक धर्म पुरुषार्थ है। तपः, संयम, उत्तमक्षमा, गुप्तिया, आकिंचन्य, शुक्लध्यान, ऊंची श्रेणी का धर्म्यध्यान, यथाख्यात चारित्र, सामायिक इत्यादि मोक्ष पुरुषार्थ है। मोक्ष को जाने वाला जीव क्षपकश्रेणी मे जैसा बुद्धिपूर्वक उत्कृष्ट पुरुषार्थ शुक्लध्यान कर रहा है वैसा ही सातवे नरक जाने वाला तीव्र पापी जीव भी बुद्धिपूर्वक निकृष्ट रौद्रध्यानरूप पुरुषार्थ कर रहा है। शुभ क्रिया होने से शुक्लध्यान को मोक्ष पुरुषार्थ कह दिया जाता है और तीव्र रौद्रध्यान का त्याज्य होने के कारण पुरुषार्थ नही गिनाया जाता है। यहां तात्पर्य यह है कि काय,वचन, मन को बनाने वाली पौद्गलिक आहार वर्गणा, तेजो वर्गण, कार्मण वर्गणा, भाषावर्गणा और मनोवर्गणाओं का आकर्षण करने वाला जीव के प्रदेशों का परिस्पन्द स्वरूप योग भी एक पुरुषार्थ विशेष है। आत्मा के सभी पुरुषार्थों का ज्ञान इस अल्प जीव को हो ही जाय ऐसा कोई नियम नहीं है। नसे बनाना, चमड़ा बनाना, वात, पित्त, कफ, लार, बाल आदि के उपयोगी पदार्थों को बनाना, शरीर मे यहां-वहां भेजना, ये सब कार्य ईश्वर को नहीं मानने वाले जैनों ने आत्मा या पौद्गलिक कर्मों के ऊपर ही निर्भर हो रहे माने हैं। कारण बिना कोई कार्य हो नही सकता है। लाखों, करोड़ों पुरुषार्थों में से एक आध का ही हमको संवेदन हो पाता है रोने, हंसने, श्री आदि शब्द बोलने में आत्मा को भीतर क्या-क्या करना पड़ा था इस बात को समझाने के लिये बड़े-बड़े यन्त्रालय, कपड़ा बनाने वाले मिल सन्मुख लाने पड़ेंगे। अनेक जीव यों कार्य करते है अतः यह कोई असाधारण या अभिनन्दनपत्र प्राप्त करने योग्य कार्य नहीं समझा जाता है हां भोजन, सामायिक, अध्ययन आदि के कतिपय स्थूल पुरुषार्थों का संवेदन यह अल्पज्ञ जीव कर लेता है। यह बात लक्ष्य में रखनी चाहिये कि उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में कर्म नोकर्म के आकर्षक पुरुषार्थ या रस, रुधिरादि बनाने के पुरुषार्थ भले ही अबुद्धि पूर्वक होवे किन्तु चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम या क्षय करने के लिये हुये अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, मोह उपशान्ति, क्षीण कषायता स्वरूप परणतियां तो सभी पुरुषार्थ पूर्वक हैं। बारहवें गुण-

स्थान में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मों का समूलचूल क्षय करने के लिये बड़ा भारी एकत्व वितर्क अवीचार नाम का पुरुषार्थ हो रहा है। कोई-कोई भोले मनुष्य कह देते हैं कि श्रेणियों में अबुद्धि पूर्वक परिणाम है। यह उनकी अक्षम्य त्रुटि है। वस्तुतः देखा जाय तो अध्ययन, सामायिक, सूक्ष्मसांपराय, क्षीण कषाय अवस्थाओं में उत्तरोत्तर बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ बढ रहा माना जाता है। श्रेणियाँ कोई मूर्छित अवस्था या गाढशयन दशा सारिखी नहीं है अथवा कोई वैष्णव मतानुसार हठयोगनामक समाधि नहीं है जिसमें कि वायु चढाकर महीने दो महीने तक अचेत (बेहोश) रहे आते हैं और नियत समय पर होश मे आ जाते हैं। किन्तु श्रेणियों मे आत्मा बुद्धिपूर्वक परिणाम करता सन्ता ही कर्मों का उपशम या क्षय कर देता है। उपशम सम्यक्त्व के प्रथम तीन करण होते हैं भले ही सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव उन करणों के यथाक्रम से प्रवर्तने का या उनकी शक्तियों का वेदन नहीं करै तथापि पांच या सात प्रकृतियों के उपशम कराने के उपयोगी पुरुषार्थों को वह बुद्धिपूर्वक ही करता है। आत्मा के सभी कृत्यों को कर्मोदय पर टाल देना भी ईश्वर कर्तृत्ववाद का छोटा भाई है। प्रकरण में यही कहना है कि अनादि काल से प्रारम्भ होकर तरहवे गुणस्थान तक धारा प्रवाहरूप से आत्मा का योग नाम पुरुषार्थ प्रवर्त रहा है जो कि छद्मस्थ जीवों के सर्वदा बुद्धिगम्य नहीं है। योग नामक आस्रव प्रणालिका से यह संसारी जीव कर्मों का आकर्षण करता रहता है। कषायों की सहायता से उन कर्मों मे स्थिति और अनुभाग को डालता हुआ ज्ञानावरणादि का अन्योन्य प्रवेशानुप्रवेश कर लेता है। इसी प्रकार योग द्वारा नोकर्मों का आकर्षण करता हुआ पर्याप्ति नामक पुरुषार्थ करके शरीर, वचन आदि को बना लेता है। पर्याप्ति नामक कर्म तो पर्याप्ति पुरुपार्थ की सहायता मात्र कर देता है जैसे कि श्वास लेना, निकालना इस पुरुषार्थ की सहायता उच्छ्वास नाम कर्म करता रहता है "पुग्गल कम्मादीणं कत्ता ववहार दो दु णिच्छय दो चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं" इस श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ती की गाथा का ऐदम्पर्य विचार लेना चाहिये। चेतन की शक्ति (पुरुपार्थ) अनन्त है। चना, उरद का अंकुर चोकले को तोड़ कर बाहर निकलता है, आम्रवृक्ष का अंकुर कड़ी गुठली को फाड़ कर निकल आता है, अंकुर या वृक्ष अपनी जड़ो को कठोर मिट्टी में घुसेड़ देता है। मट्टी या पीतल के वर्तन में भरे हुये चनों के अंकुर तो बर्तन को भी फोड़ डालते है, बांस का अंकुर भेड़ा के चमड़े में घुस जाता है, बालक गर्भ से निकलता है, वृक्ष पानी को खींचता है यों तो जड़ भाप से लोहे का बौलर भी फट जाता है, पेट से मल, मूत्र भी निकलते हैं किन्तु जड़ की शक्ति को प्रयत्न या पुरुषार्थ नहीं कहा जाता है चेतन के व्यापार पुरुपार्थ है। मल, मूत्र के निकलने में तो चेतन का पुरुषार्थ भी कारण है। गेंडुआ या गुबरीला कीड़ा मिट्टी में अपना गहरा घर बना लेता है, मकड़ी जाला पूरती है। भीत या किवाड़ों के निरुपद्रव भीतरी कोनों को ढूंढ़ कर वहां अपने अण्डे-बच्चों का संमूर्छन शरीर सुरक्षित रखती है, रेशमी कपड़ा, लट्ठा सारिखा बढ़िया चिकना पाल उस पर तान देती है इसमें पुरुषार्थ ही तो कारण माना जायेगा कोई पौद्गलिक कर्म तो प्रेरक निर्माता नहीं है। जाला बनाने वाला या जड़े घुसेड़ देने वाला कोई कर्म एकसौ अड़तालीस प्रकृतियों मे गिनाया नही गया है, हाँ बच्चों का जीवनोपयोगी आयुष्य या मकड़ी का स्नेह तो निमित्त मात्र पड़ सकता है। यदि उसको प्रेरक कारण भी मान लिया जाय तो उसी प्रकार समझा जायगा जैसे कि मुख्य जमादार कुलियों या मजूरों से काम लेता है काम बरने में पुरुषार्थ तो मजूरों का ही है। एकसौ अड़तालीस प्रकृतियों या इन के उत्तरोत्तर भेदों के कार्य जातिरूप से परिगणित ही है चाहे जिस कार्य में आत्मा के पुरुषार्थ का अपलाप कर देना उचित नहीं है। संसारी जीव के सभी कार्यों में दैवकृत या पुरुषार्थकृत ये दो ही तो गतियां हो सकती

हैं "गत्यन्तराभावात्", किन्तु क्षपकश्रेणी के प्रयत्न, छेदोपस्थापना संयम, आजीविका के यत्न या कीट, पतंग, पशु, पक्षी, वृक्ष, अंकुरों के असंख्य कार्यों में कोई कर्म व्यापार दीखता नहीं है हां सिद्ध नहीं हो सकना, पुरुप या स्त्री हो जाना, पशु-पक्षी बन जाना आदि कार्य कर्मकृत कहे जा सकते हैं वस्तुतः इन में भी पुरुषार्थ कुछ तो है ही। गत्यन्तर को जाना, अधिक क्रोध करना, तीव्र काम चेष्टायें, यथोचित शरीर बनाना, इन कार्यों को आत्मा और कर्म दोनों कर रहे हैं या तो शरीर में औपधि, अन्न, जल भी अनेक कार्यों को कर देते हैं। उक्त निरूपण से मेरा लक्ष्य कोई नोकर्म या कर्मों की शक्ति का खण्डन कर देना नहीं है हां जीव के अनेक पुरुषार्थों पर पहुंच जाना चाहिये। स्वामी श्री समन्तभद्राचार्य ने जो "अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः। बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्" कहा है इसका तात्पर्य भी यही निकलता है। दृष्टांत लीजिये कि देवदत्त ने मन लगाकर आंखे खोलकर श्री जिनेन्द्रप्रतिबिम्ब चाक्षुष का प्रत्यक्ष किया, या स्तोत्रों को सुना, यह जानने का पुरुषार्थ ही तो किया यदि यहाँ आत्मा को दैव की सहायता मिली कुछ मानी जा सकती है तो वह ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ही होगा किन्तु कर्मनिष्ठ ध्वंसरूप क्षयोपशम आत्मा की एक विशुद्धिमात्र है जो कि प्रतिबंधकों का अभाव हो जाने से बढ़िया पुरुषार्थ करने में निदान है। जैनों के यहाँ तुच्छ अभाव माना नहीं गया है। हाँ औदयिक भावों में कुछ कर्मविपाक माना जा सकता है किंतु यहाँ भी कर्ता कारक और उपादान कारण, पुरुषार्थी आत्मा ही कहा जायगा। इन बातों को पहिले भी लिखा जा चुका है। फिर भी कर्मसिद्धान्त वाले पुंलिंग आत्मा को नपुंसक (क्रियाहीन) और नपुंसक कर्मों को पुंलिंग पुरुषार्थी नहीं समझ बैठे इस लिये द्विरुक्त, त्रिरुक्त प्रयत्न करना पड़ता है। जो अल्पबुद्धि श्रोता है वे पुरुषार्थ कर इस प्रकरण से लाभ उठायंगे ही विस्तृतबुद्धिशाली पंडित तो प्रथम से ही पूर्ण अभ्यास कर इस पुरुषार्थ के प्रमेय को समझे ही हुये है। जिन कर्मों को वे भोले जीव कर्ता या प्रेरक कारण मान बैठे हैं उन संचित कर्मों का उपार्जन भी यह जीव स्वयं अपने पुरुषार्थ से करता है, कर्म चेतना या कर्मफल-चेतना की अवस्था में भी पुरुषार्थ होते रहते हैं, मद्य पीकर भी आत्मा करके अट-संट पागलों के काम तो किये जा सकते है। पागल पुरुष या स्त्रियों के लड़का लड़की होते है, पागल रोटी खाते है, चलते है, बोलते हैं ये सब उनके पुरुषार्थ है। कोई-कोई वकील या हाकिम तो मद्य पीकर बहुत ऊँचे दर्जे की बहस करते और फैसला लिखते सुने जाते है। हां मद्यपायी यथायोग्य धर्म्य कार्यों को नहीं कर पाते है। कर्म चेतना या कर्मफल चेतना, भले हो स्वानुभूति, संयम, अधःकरण आदि को रोक लेवे किन्तु लौकिक पुरुषार्थों को हो जाने देती हैं। पुरुषार्थ में पुरुष का अर्थ यदि मनुष्य ही किया जायगा तो देव, नारकी, पशु, पक्षियों के पुरुषार्थ नहीं संभव हो सकेगा "यज्ज्ञातं सत्स्ववृत्तितयेष्यते स पुरुषार्थः" "इतरेच्छानधीनेच्छा विषयत्वं फलितोऽर्थः" यह पुरुषार्थ का लक्षण निर्दोष नहीं है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों में ही घटित हो जाने वाला पुरुषार्थ का लक्षण भी किसी अपेक्षा विशेष से है अथवा काम और अर्थ का लक्षण बड़ा व्यापक करना पड़ेगा तभी आत्मा के सम्पूर्ण प्रयत्नों में सुघटित हो सकेगा। पुरुष यानी जीव का बुद्धि पूर्वक या अबुद्धि पूर्वक चला कर जो कुछ भी क्रियात्मक या अक्रियात्मक अर्थ यानी व्यापार होगा वह सब पुरुषार्थ ही तो है। तीर्थंकर भगवान् भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं क्या वह सब तीर्थंकर प्रकृति का ही माहात्म्य है ? पौद्गलिक तीर्थंकर प्रकृति तो केवल बहिरंग परिकर को प्रभावशाली बना देती है। प्रश्नानुरूप उपदेश देना, विहार करना, ठहर जाना, अनंत सुख में विराजना, आदि सब केवल-ज्ञानी महाराज के अनिच्छबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ हैं। तीर्थंकर या सामान्य केवली के अंतरंग अनंत चतुष्टय में कोई अंतर नहीं है। सबके केवलज्ञान या अनन्त सुख के अविभागप्रतिच्छेद समान हैं। कहा जा सकता है कि सिद्ध परमेष्ठी बड़े भारी सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थी हैं जो कि स्वकीय अनन्त वीर्य, चारित्र,

सम्यक्त्व, अनुपम सुख, केवलज्ञान आदि गुणों में तन्मय होकर सर्वदा विराजते हैं। "नमोऽस्तु तेभ्यः परमपुरुषार्थशालिभ्यः" जो कोई राजा या सेठ या भूमिपति अपनी सम्पत्ति को प्रतिष्ठा पूर्वक रखाये रहे, घटने नहीं देवे, ऋण नहीं बढ़ने देवे, यह भी उसका पूरा पुरुषार्थ है। सद्गृहस्थ अपनी प्रतिष्ठा, कुल गौरव, सम्पत्तिशालिता को बढ़ा लेवे यह तो महान पुरुषार्थ है ही किन्तु उतनी की उतनी ही सम्पत्ति, मान-मर्यादा के साथ प्रतिष्ठा पूर्वक जीवन को तभी रक्षित रख सकता है जब तक कि तत्पर होकर उसके लिये सर्वदा प्रयत्न करता रहेगा क्षणमात्र भी आलस आ जाने पर दुष्ट, चोर, व्यभिचारी, अकारण शत्रु, उसकी प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिला देंगे। पुनः कर्मबंध नहीं होने से मुक्त जीव आबद्ध नहीं होते हैं इसमें प्रधान कारण सिद्धपरमेष्ठी भगवान का स्वरूप मे सर्वदा निमग्न बने रहने का पुरुषार्थ ही है। अकम्प अडिग्ग मुनि दृढ़ आसन लगा कर जब इधर-उधर विचलित नहीं होते है इसका कारण उनका स्वांगों में ही दृढ बने रहने का या एकाग्र मे मन को लगाये रहने का पुरुषार्थ है। मोटर दुर्घटना के अवसर पर ऊर्ध्वश्वास लेनेका पुरुषार्थ कर रहे मनुष्य को अल्प चोट लगती है। शरीर को ढीला छोड़ देने वाले को अधिक आघात पहुंचता है। बलवान मल्ल दूसरे प्रतिमल्ल से नहीं गिराया जाता है। इसका निदान भी उसका स्व शरीर दृढ़ता को सर्वदा बनाये रखने का पुरुषार्थ किये जाना ही है। एक निमेष मात्र भी शरीर को ढीला कर देने पर प्रतिमल्ल झट उसको गिरा देता है। प्रतिमल्ल को कुछ दया भी आजाय किन्तु पौद्गलिक कर्मो को दया या लज्जा नहीं आती है। पुरुषार्थी जीव ही कर्म के आघातो से बचे रह सकते है। मोक्ष पुरुषार्थ में मोक्ष के साधन, दीक्षा, संयम, तपध्यान, पकड़े जाते है, वस्तुतः विचारा जाय तो उत्तम क्षमा, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अनंत वीर्य, चारित्र, मार्दव, आकिंचन्य इन परमब्रह्म स्वरूपों के साथ तदात्मक हो रहा मोक्ष तो सर्वोत्तम पुरुपार्थ है जिसकी उपमा ही नहीं मिलती है। यद्यपि पुद्गल में अनंत बल है और आत्मा भी अनत बलशाली है। कर्मों का तीव्र उदय होने पर संसारी आत्मा का पुरुषार्थ व्यर्थ (फेल) हो जाता है अतः कर्म को भी प्रेरक कारण माना जा सकता है। दीपक जैसे मनुष्य को अँधेरे में प्रकाश करता हुआ ले जाता है और दीपक को मनुष्य हाथ मे ले जाता है। अथवा श्री धनंजय महाराज के शब्दो मे "कर्मस्थितिं जन्तुरनेकभूमिं नयत्यमुं सा च परस्परस्य। त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः" नाविक को नाव और नौका को नाविक ले जाते है यों दीपक या नाव के समान कर्म भले ही कह दिये जॉय किन्तु पुरुषार्थ जीव का ही कहा जायगा। इस प्रकरण का इतने ही कथन से पर्याप्ति होय इस अवसर पर यह कहना है कि खाने, पीने, लीलने, वायु खेंचने आदिमें यह जीव जैसा पुरुपार्थ करता है उसी प्रकार कर्मो को खींचने के लिये योग नाम का पुरुषार्थ जीव को करना पड़ता है, जो कि ग्रन्थों मे योग या आस्रव शब्द से कहा गया है। आत्मा के साथ कर्मों के बंध होजाने का कारण आत्मा का ही परिणाम हो सकता है। तभी तो कर्मो से आकाश नहीं बंधता है काय, वचन, मन के उपयोगी वर्गणाओं का अवलंब लेकर हुआ आत्म प्रदेश परिस्पन्द योग कह दिया है। सिद्धों के योग नहीं है। इसके आगे योग द्वारा हुये पुण्य के आस्रव और पाप के अनुमान प्रमाण करके साधा है, योग के अपेक्षाकृत संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद समझाये गये है। कषाय शब्द की निरुक्ति करते हुये साम्परायिक आस्रव की सिद्धि मे अनुमान प्रमाण दिया गया है। पद्म के मध्य में प्राप्त हुआ भौरा का यह दृष्टान्त बड़ा अच्छा जच गया है। साम्परायिक आस्रव के भेद करते हुए तीव्र भाव आदि की युक्तियों से सिद्धि की है। संरंभ आदिका अच्छा विचार है, पर शब्द की सार्थकता दिखलाते हुये सामान्य रूप से साम्परायिक आस्रव का निरूपण कर प्रथमाह्निक समाप्त किया गया है।

अनन्तर द्वितीय आह्निक में अकलंक देव महाराज के अनुसार प्रदोष आदि का विचार करते हुये बड़े

सुन्दर अनुमानों करके सूत्रोक्त सिद्धान्त को पुष्ट किया गया है। द्रव्य और पर्याय के अनेकांत की पुष्टि करते हुये अनेकान्त में ही दुःख, शोक आदि की व्यवस्था बन जाती साधी गयी है। यहाँ बौद्धों के साथ अच्छा परामर्श किया गया है। अठारह अनुमान प्रमाणों करके असद्वेद्य के आस्रव की पुष्टि की गयी है। इसी प्रकार सद्वेद्य और दर्शन मोह तथा चारित्र मोह के आस्रावक कारणों को युक्तियों से साधा गया है। चारों आयुओं के आस्रव बोधक सूत्रों को भी अनुमानमूलक साधा गया है। च शब्द करके सर्वत्र सूत्रोक्तों को उपलक्षण मानकर अन्य उनके सजातीय परिणामों का संग्रह कर दिया गया समझाया है। देव, नारकियों का सम्यक्त्व तो मनुष्य आयु का आस्रावक है, हाँ मनुष्य, तिर्यंचों के सम्यक्त्व को वैमानिक देवों की आयु का आस्रावक हेतु समझा जाय। भुज्यमान आयु के आठ त्रिभागों में सम्भवने वाले आठ अपकर्ष कालों में या असंक्षेपाद्धा यानी भुज्यमान आयु का आवली का असंख्यातवां भाग काल शेष है। उसके पहिले अन्तर्मुहूर्त काल में आयु का आस्रव होगा। देव, नारकी और भोगभूमियों के अन्तिम छह महीने और नौ महीने काल में त्रिभाग पड़ेंगे। अशुभ नाम और शुभ नाम का आस्रव बखानते हुये तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव हेतुओं का सलक्षण निरूपण किया है। नीच गोत्र और उच्च गोत्र तथा अन्तराय के आस्रावक सूत्रोक्त परिणामों का व्याख्यान कर इति शब्द की अनुवृत्ति से सर्वत्र अनुक्त कारणों का संग्रह किया गया समझाया है। आत्मा के परिणामों द्वारा हुआ चित्र-विचित्र आस्रव पुनः आत्मा के अनेक विकारों का हेतु हो जाता है। बीजांकुरवत् यह द्रव्यास्रव और भावास्रव का परस्पर "हेतुहेतुमद्भाव" अनादि काल से चला आ रहा है। पुरुषार्थ और कर्मपरिणतियों अनुसार हुये विशुद्धि और संक्लेशों से पुण्य कर्मों का शुभ और पाप कर्मों का अशुभ आस्रव बखाना गया है। जगत् में जीव और पुद्गलों का बड़ा विचित्र नृत्य हो रहा है। अंतरंग और बहिरंग अनेक कारणों के अनुसार हुये विचित्र परिणामों का प्रदर्शक शास्त्र है। शास्त्र ज्ञापक है, कारक नहीं। यदि शास्त्र या सर्वज्ञ विचारे नैयायिकों के ईश्वर समान कारक होते तो अनादि काल पूर्व ही ईश्वर से प्रार्थना कर इन पराधीन करने वाले कर्मों को जड़ मूल से उखाड़ फिंकवा देते। किन्तु जैनसिद्धान्त में पदार्थों के प्रभावों का मात्र अभिव्यंजक शास्त्र ठहराया गया है। तत्प्रदोष आदिक करके उन-उन कर्मों के अनुभाग बंध विशेष का नियम है। अल्प अनुभाग के लिये प्रकृतिबंध और प्रदेश बंध तो अन्य-अन्य कर्मों का भी हो जाता है। वस्तुतः चारों बंधों में अनुभागबंध ही बड़ा है। अतः इस छठे अध्याय में सामान्य रूप से और विशेष रूप से आस्रव का प्रतिपादन किया गया है। अध्याय का विवरण कर अन्त में दूसरा आह्निक भी समाप्त कर दिया है।

योगाकर्षितपंचसंख्यकवपुर्भाषामनोवर्गणा—
स्तत्तत्कर्मविपाकबंधनियमं चाख्यान् प्रदोषादिभिः।
दृकशुद्ध्यन्वितभावनार्जित-शुभश्रीतीर्थकृल्लाभतो
भव्यानां हितपद्धतिं प्रकथयन् भूयाज्जिनः श्रेयसे ॥१॥

इति अनेकांतसिद्धान्तचक्रवर्त्ति श्रीविद्यानन्दिस्वामीविरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थ की आगरा मण्डलान्तर्गत चावली ग्राम निवासी माणिकचन्द्र कौन्देय कृत तत्त्वार्थचिन्तामणि नामक देशभाषामय टीका में छठा अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

स्याद्वाददीधितिसहस्रनिरस्तमिथ्या-
वादत्रिषष्ठिसहितत्रिशतीतमिस्रः ॥
निर्दोषवृत्तमहितो जिनपस्य जीयाद्
विश्वज्ञबोधतरणिर्जगदेकमित्रम् ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ के छठे और सातवे अध्याय में आस्रव तत्त्व का प्ररूपण किया है। छठे अध्याय में आस्रव पदार्थ का व्याख्यान किया जा चुका है। स्थूलरूप से साम्परायिक आस्रव के पुण्यास्रव और पापास्रव भेद किये जा सकते हैं। "शुभः पुण्यस्य" इस सूत्र करके सामान्य रूप से ही शुभास्रव कहा गया है। संसारी जीवों के पुण्यास्रव प्रधान है। मोक्ष भी पुण्यास्रव पूर्वक होता है। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध परिणतियां होने का क्रम है। अतः विशेष रूप से शुभास्रव को कहने के लिये अग्रिम सूत्र कहा जाता है। अथवा सद्वेद्य का आस्रव बतलाते हुये भूत और व्रतिया के ऊपर अनुकम्पा करना कहा गया था वहां नहीं प्रतीत हो पाता है वे कौन से व्रत हैं? जिनके कि सम्बन्ध से यह जीव व्रती कहलाता है। इस कारण उन व्रतों का निर्धारण करने के लिये श्री उमास्वामी महाराज करके यह अग्रिम सूत्र कहा जाता है।

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥

हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रहों से जो विराम ले लेना है वह व्रत है। अर्थात् हिंसा, हिंस्य, हिंसक, हिंसाफल की आलोचना करते हुये द्रव्यहिंसा और भावहिंसा से स्वकीय परिणामों को हटा लेना हिंसाविरति नामक पहिला व्रत है। सत्य वचन और असत्य वचनों का विचार करते हुये अप्रशस्त कथन से विराम ले लेना दूसरा अनृतविरति व्रत है। दान, आदान व्यवहार के योग्य व्यापारो की आलोचना कर चोरी करने का परित्याग कर देना तीसरा स्तेयविरति व्रत है। मानुषी, दैवी, तिर्यंचिनी, या चित्र सम्बन्धी स्त्रियों या इसी प्रकार के पुरुषों की आलोचना कर कुशील का त्याग करते हुये ब्रह्मचर्य में स्थिर हो जाना चौथा अब्रह्मविरति व्रत है। चेतन, अचेतन, अंतरंग, बहिरंग, परिग्रहों की विवेचना कर उनमें मूर्छा का परित्याग करना पांचवां परिग्रहविरति व्रत है। स्वामीजी ने "अभिसंधिकृताविरतिर्योग्याद्विपयाद्व्रतं भवति" ऐसा कहा है। प्राप्ति योग्य स्वकीय विषयों से अभिप्रायकृत विरति करना व्रत माना गया है। क्वचित् सेव्य विषय में संकल्प पूर्वक नियम करना और अशुभकर्म से निवृत्ति करना तथा शुभ कर्म में प्रवृत्ति करना व्रत कहा गया है। "संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः। निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि" इति श्री आशाधरः।

हिंसादयो निर्देक्ष्यमाणलक्षणाः, विरमणं विरतिः व्रतमभिसंधिकृतो नियमः। हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्य इत्यपादाननिर्देशः। ध्रुवत्वाभावात्तदनुपपत्तिरिति चेन्न, बुद्ध्यपायाद्ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेः।

हिंसा, अनृत, आदि के लक्षण आगे सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट करा दिये जावेंगे। अर्थात् "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" "असदभिधानमनृतं" इत्यादि सूत्रों द्वारा हिंसा आदि पाँच पापों का लक्षण कह दिया जावेगा। विरमण यानी परित्याग करना या विराम ले लेना ही विरति है। बुद्धिपूर्वक अभिप्राय को अभिसन्धि कहते हैं। अभिसन्धि करके किया गया नियम व्रत माना जाता है। अतः किसी दरिद्र का हाथी पर चढ़ने का त्याग या रोगी के लंघन में हुआ उपवास व्रत नहीं कहा जा सकता है। "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः" यह बहुवचनांत पंचमी विभक्ति के रूप का कथन है। अपादान में पंचमी विभक्ति होती है। विरति की अपेक्षा यहाँ पंचमी विभक्ति से व्यक्त हुआ अपादान का निर्देश है "ध्रुवमपायेऽपादानं" निश्चल पदार्थ से किसी का पृथग्भाव हो जाने पर वह स्थिरीभूत पदार्थ अपादान कहा जाता है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि ग्राम से देवदत्त आता है, वृक्ष से पत्ता गिरता है। यहां ग्राम या वृक्ष का ध्रुवपना प्रसिद्ध है किंतु प्रकरण में हिंसा आदि परिणाम तो ध्रुव नहीं हैं अतः अपादान नहीं हो सकेंगे। यदि हिंसा आदि परिणाम वाले आत्मा को हिंसा आदि पद से कहा जायगा एतावता आत्मा का ध्रुवपना तो बन जायगा किंतु उस नित्य आत्मा से विरति होना असंभव है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बुद्धिकृत अपाय से ध्रुवपने की विवक्षा बन रही है। अर्थात् अस्थिर पदार्थ को भी बुद्धि में स्थिर मान कर उससे निवृत्ति होना बना लिया जाता है। धर्माद्विरमति, धावतोऽश्वात्पतति, आदि स्थलों में यही उपाय करना पड़ता है। व्याकरण के लक्षणों का पुनः परिष्कार कर नैयायिकों द्वारा पुनः अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों को टालते हुये निर्बाध लक्षण बनाये जाते है। यों व्रत का लक्षण निर्दोष कर दिया गया है।

अहिंसाप्रधानत्वादादौ तद्वचनं, इतरेषां तत्परिपालनार्थत्वात्। विषयभेदाद्विरतिभेदे तद्बहुत्वप्रसंग इति चेन्न वा, तद्विषयविरमणसामान्योपादात्। तदेव हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमिति युक्तोऽयं सूत्रनिर्देशः।

सम्पूर्ण व्रतो मे अहिंसा की प्रधानता है अतः सबके आदि में उस अहिंसा का कथन किया गया है। क्योंकि खेत की रक्षा करने वाले घेरे के समान अन्य सत्य, अचौर्य आदि व्रतों का उस अहिंसा का परिपालन करते रहना ही प्रयोजन है। विरति शब्द को हिंसा से, झूठ से, चोरी से, अब्रह्म से, परिग्रह से यों प्रत्येक के साथ जोड़ दिया जाता है। यहाँ किसी की शंका है कि पंचम्यन्त विषयों का भेद हो जाने से उनके त्याग स्वरूप विरति का भी भेद हो जानेपर उस विरति के बहुवचन 'विरतयः' हो जाने का प्रसंग प्राप्त होता है। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यह दोष नहीं लगता है क्योंकि उन हिंसा आदि विषयों से विराम हो जाना इस सामान्य अपेक्षा से एकवचन विरति शब्द का ग्रहण किया गया है। जैसे कि गुड़, तिल, चावलों का पाक हो जाना। यों सामान्य की विवक्षा कर लेने पर पाक शब्द एकवचन कह दिया जाता है। तिस कारण इस प्रकार हिंसा, झूंठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह इन्हीं से विरति हो जाना व्रत है। इस प्रकार सूत्रकार महाराज का यह सूत्र निर्देश करना समुचित ही है।

नन्विह हिंसादिनिवृत्तिवचनं निरर्थकं संवरान्तर्भावात्, धर्माभ्यन्तरत्वात् तत्प्रपंचार्थ उपन्यास इति चेन्न, तत्रैव करणात्। संवरप्रपंचो हि स संवराध्याये कर्तव्यो न पुनरिहास्रवाध्या-

येऽतिप्रसंगादिति कश्चित्। तं प्रत्युच्यते—न संवरो व्रतानि, परिस्पन्ददर्शनात् गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च।

यहां कोई आशंका उठाता है कि इस आस्रव के प्रकरण में हिंसा आदिक से निवृत्ति हो जाने को व्रत कहना व्यर्थ है क्योंकि निवृत्तियों का संवर में अन्तर्भाव हो जावेगा। जब कि दश प्रकार के धर्मों के भीतर संयम माना गया है उसमें अहिंसादिकों का सुलभतया अन्तर्भाव हो सकता है। यदि कोई यों समाधान करे कि उस संयम के प्रपंच का विस्तार करने के लिये यहां हिंसा निवृत्ति आदि का उपन्यास किया गया है। शंकाकार कहता है कि यह तो न कहना क्योंकि यदि उस संयम का ही प्रपंच दिखलाना था तो वहां ही नवमे अध्याय में संयम के प्रकरण पर यह उपन्यास करना चाहिये था। यहां व्यर्थका प्रकरण बढाने से कोई प्रयोजन नहीं सधता है। संवर का यह प्रपंच तो संवर के प्रतिपादक नवमे अध्याय में करना चाहिये किन्तु फिर यहां आस्रव तत्त्व के प्ररूपक सातवें अध्याय में नहीं। यदि यहां वहां की अप्रकृत बातों को इस अध्याय में लिखा जायगा तो अतिप्रसंग हो जायगा यानी मोक्षतत्त्व के प्रपंच या मुक्त जीवों के चरित्र भी यहां लिख देने चाहिये जो कि इष्ट नहीं है। अतः इन व्रतों का निरूपण करना यहां व्यर्थ ही है। यहां तक कोई पण्डित अपनी शंका को पूरा कह चुका है। उस पण्डित के प्रति आचार्य महाराज करके यह उत्तर कहा जाता है कि अहिंसादिक व्रत तो संवर नहीं है संवर स्वरूप अपरिस्पन्दात्मक क्रियाओं से आस्रव होना रुक जाता है किन्तु यहां अहिंसादिकों में परिस्पन्द क्रिया होना देखा जाता है। सत्य बोलना, दिये हुये को लेना, ऐसी क्रिया करना स्वरूप व्रतों की प्रतीति हो रही है। एक बात यह है कि गुप्ति, समिति आदि स्वरूप संवर कह दिया जावेगा। "आस्रवनिरोधः संवरः" "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः" उस संवर के ये व्रत परिवार या सहायक है। व्रतों में साधु जो परिष्कृत हो जाता है तब संवर को सुखपूर्वक कर लेता है। संवर के अंगों का संस्कार ये व्रत कर देते हैं तिस कारण संवर के प्रकरण से इस शुभास्रव स्वरूप व्रत को पृथक् कहा गया है।

ननु पंचसु व्रतेष्वनन्तर्भावादिह रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानमिति चेन्न, भावनांतर्भावात्। तत्रानिर्देशादयुक्तोऽन्तर्भाव इति चेन्न, आलोकितपानभोजनस्य वचनात्। प्रदीपादिसंभवे सति रात्रावपि तत्प्रसंग इति चेन्न, अनेकारंभदोषात्। परकृतप्रदीपादिसंभवे तदभाव इति चेन्न, चंक्रमणाद्यसंभवात्। दिवानीतस्य रात्रौ भोजनप्रसंग इति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात्।

यहाँ कोई पुनः प्रश्न उठाता है कि अहिंसादिक पांच व्रतों में अन्तर्भाव नहीं हो जाने के कारण यहां रात्रिभोजन त्याग नाम के छठे व्रत का उपसंख्यान करना चाहिये। सूत्र में कोई त्रुटि रह जाय तो वार्त्तिक बनाई जा सकती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि पांच व्रतों की पच्चीस भावनायें आगे कही जावेंगी उन में रात्रिभोजनत्याग का अन्तर्भाव हो जाता है। यदि कोई यों आक्षेप करे कि उन वाग्गुप्ति, क्रोधप्रत्याख्यान आदि भावनाओं में कण्ठोक्त रात्रिभोजन त्याग का निर्देश नहीं किया गया है अतः बिना कहे ही चाहे जिसका चाहे जहां अन्तर्भाव कर देना युक्त नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों तो न कहना। क्योंकि अहिंसाव्रत की भावनाओं में आलोकितपानभोजन का कंठोक्त निरूपण है। सूर्य का आलोक होता है अतः सूर्य के प्रकाश में ही खाने पीने का जब विधान किया गया है तो रात्रि के खान पान का त्याग अनायास प्राप्त हो जाता है। फिर भी कोई यों चोद्य उठावे कि

आलोक होने के कारण यदि दिन में भोजन का विधान किया गया है तब तो प्रदीप, अग्निशिखा, मणि, चमकनेवाली गिड़ार, जुगनू, बिजली, चन्द्रमा, सर्च आदि प्रकाशकों के संभवते संते रात्रि में भी उस भोजन, पान करने का प्रसंग आ जावेगा। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्योंकि अग्नि, तेल. आदि के अनेक महान आरंभ करने का दोष लग जावेगा, यदि आक्षेपकर्ता यो कहे कि स्वयं आरम्भ नहीं कर दूसरों के द्वारा किये गये प्रदीप आदि के संभव जाने पर तो आरम्भ का दोष नही लगता है। सड़क पर म्यूनिसपल्टी के प्रदीप जलते रहते है, चन्द्रमा, बिजली, आकाश मे प्रकाशती रहती है, मंसूरी पर्वत पर रात के समय छेदों मे से निकल कर कितनी ही गिड़ार कीटभक्षणार्थ चमकती रहती है। इस में कोई आरम्भ नही करना पड़ता है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्योंकि रात्रि मे चंक्रमण करना, शुद्ध भोजन प्राप्त करना आदि का असंभव है। अर्थात् अन्तरंग में स्वकीय शास्त्रज्ञान तथा बहिरंग मे आदित्य प्रकाश और इन्द्रियों द्वारा हुये परिज्ञान से परीक्षित किये मार्ग से चार हाथ भूमि को पहिले देख कर चल रहे यति महाराज शुद्ध भिक्षा को ग्रहण करते है यह प्रक्रिया रात मे नहीं हो सकती है अतः गमन करने, व्यर्थ यहां वहां घूमने-फिरने आदि का असंभव है। पुनरपि कोई विक्षेप उठावे कि आचार शास्त्र के उपदेश अनुसार दिन के समय ग्राम से जाकर किसी पात्र मे भोजन या पेय को लाकर रात्रि मे अपने स्थान पर उसको खा लेने का प्रसंग आजावेगा ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्योंकि इसका उत्तर कहा जा चुका है अर्थात् प्रदीप आदिका आरम्भ करना तदवस्थ है। संयम साधने की यह पद्धति नही है कि बाहर से लाकर घर पर खाना। यतियों के पास वर्तन भी नहीं हैं वे तो परिग्रहरहित है। अन्तराय और दोषो को टाल कर हाथ में ही दिये हुये आहार को ग्रहण करते हैं। एक स्थान से, दूसरे स्थानमे ले जाने पर और कुछ देर तक धरा रहने पर वह भोजन जीवों का योनिस्थान बन जाता है। संयमी मुनि ऐसे भोजन को ग्रहण नही करते है अतः दिन में लाये हुये को रात में खा लेने का प्रसंग नहीं लगता है।

स्फुटार्थाभिव्यक्तेश्च दिवाभोजनमेव युक्त, तेनालोकितपानभोजनाख्या भावना रात्रि-भोजनविरतिरेवेति नासावुपसंख्येया।

एक बात यह भी है कि सूर्य का प्रकाश ही स्फुटरूप से अर्थों की अभिव्यक्ति करता है। भूमि, देश, दाता. गमन करना, अन्न पान में कोई पदार्थ पड़ गया या नहीं इत्यादि बातें दिन मे स्पष्ट दीख जाती है। दीपक, बिजली, चन्द्रमा आदि के प्रकाश में स्पष्ट पदार्थ नही दीखता है। रात्रि के समय क्षुद्र कीट अधिक उत्पन्न होते है, भोजन, पान, पदार्थों में वे छोटे जीव गिर जाते है, त्रसहिंसा अधिक होती है। रात के खाने वालो मे लोलुपता बढ जाती है। उदर की ग्राहक शक्ति मंद पड़ जाती है। क्योंकि पाचन-शक्ति रात्रि के अवसर पर पूर्वभुक्त के पचाने मे अधिक उपयुक्त हो जाती है। मुनिजन एक बार ही भोजन करते है अतः दिन में भोजन करना उनको अनुकूल पड़ सकता है। सभी अर्थों का स्फुट प्रकाश होता है। सूर्यालोक में योनिस्थान अल्प उपजते है अतः दिन में ही भोजन करना समुचित है। तिस कारण आलो-कितपानभोजन नाम की अहिंसाव्रत की पॉचवी भावना तो रात्रिभोजन त्याग ही है। अतः उस रात्रि-भोजनविरति नाम के व्रत का उपसंख्यान नही करना चाहिये।

कि पुनरनेन व्रतलक्षणेन व्युदस्तमित्याह।

सभी लक्षण इतरव्यावर्तक होते है। लक्ष्य को अलक्ष्य से व्यावृत्ति करते-रहते है। ऐसी दशा में यहाँ कोई प्रश्न करता है कि व्रत के इस लक्षण करके किसका व्युदास (निराकरण) किया गया है ?

बताओ। इस प्रकार पूँछने पर ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा यों उत्तर कहते हैं।

अथ पुण्यास्रवः प्रोक्तः प्राग्व्रतं विरतिश्च तत्।
हिंसादिभ्य इति ध्वस्तं गुणेभ्यो विरतिर्व्रतं ॥१॥

छठे अध्याय के प्रारंभ में "शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य" इस सूत्र द्वारा जो पहिले यों ठीक-ठीक कहा गया है कि शुभ योग पुण्य का आस्रव है वह शुभ योग ही तो हिंसा, झूंठ आदि पापों से विराम कर लेना स्वरूप व्रत है। इस प्रकार व्रत का लक्षण कर देने पर क्षमा, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणों से विरति हो जाना व्रत है इस मंतव्य का ध्वंस कर दिया गया है। अर्थात् खारपटिक मतानुयायी हिंसा को धर्म मानते हैं "सधनं हन्यात" वेश्यायें व्यभिचार को धर्म मानती हैं। झूंठ बोलने, चोरी करने को भी कोई व्रत मानते होंगे अतः उनके मंतव्य की व्यावृत्ति के लिये गुणों से विरति को व्रत हो जाने का प्रत्याख्यान करते हुये सूत्रकार महाराज हिंसादिक से विरति होने को ही व्रत कह रहे हैं।

विरतिर्व्रतमित्युच्यमाने सम्यक्त्वादिगुणेभ्योऽपि विरतिर्व्रतमनुषक्तं तदत्र हिंसादिभ्य इति वचनात् प्रध्वस्त बोद्धव्यं। ततो यः पुण्यास्रवः प्रागभिहितः शुभः पुण्यस्येति वचनात् संक्षेपत इति सर्वस्तमेव प्रदर्शनार्थोऽयमध्यायस्तत्प्रपंचस्यैवात्र सूत्रितत्वादिति प्रतिपत्तव्य ॥

जो विरति है वह व्रत है। यदि इतना ही व्रत का लक्षण कह दिया जाय तो सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणों से भी विराम लेने को व्रत हो जाने का प्रसंग प्राप्त हुआ, तिस कारण यहाँ हिंसा, झूंठ आदि से विरति होना इस प्रकार कथन करने से गुणों से विराम ले लेने को व्रत कह देने का भले प्रकार ध्वंस हो चुका समझ लेना चाहिये, तिस कारण "शुभः पुण्यस्य" इस सूत्र वचन से जो पुण्यास्रव पहिले छठे अध्याय में संक्षेप से कहा था उस पुण्यास्रव का ही विस्तार से प्रदर्शन कराने के लिये यह सर्व सातवाँ अध्याय है। इस अध्याय में उनतालीस सूत्रों द्वारा उस शुभास्रव के प्रपंच का ही निरूपण किया गया है। यह विश्वासपूर्वक समझ लेना चाहिये।

व्रतिष्वनुकम्पा सद्वेद्यास्रव इति प्रागुक्तं, तत्र के व्रतिनो येषां व्रतेनाभिसंबन्धः ? किं तद्व्रतमिति प्रश्नेन प्रतिपादनार्थोऽयमारंभः प्रतीयताम्।

उक्त पहिले सूत्र का अवतरण हुआ यों समझ लिया जाय कि व्रतियों में अनुकंपा करना साता-वेदनीय कर्म का आस्रव है यों पूर्व में यानी छठे अध्याय में कहा जा चुका है। वहाँ ये प्रश्न हो सकते थे किन्तु प्रकरणान्तर हो जाने या प्रकरण बढ़ जाने के भय से प्रश्न नहीं उठाये गये थे अब छठा अध्याय सम्पूर्ण हो जाने पर प्रश्न किये जाते कि वे व्रती प्राणी कौन से हैं ? जिनके कि व्रत के साथ सब ओर से संबन्ध हो रहा है। वह व्रत भी क्या है ? जिनका कि संबन्ध हो जाने पर वे व्रती हो जाते हैं। इस प्रकार मूलभूत व्रत के प्रश्न करके उत्साहित किये जाने पर सूत्रकार द्वारा प्रश्न के उत्तर को प्रतिपादन करने के लिये इस सातवें अध्याय का प्रारंभ किया जाना प्रतीत कर लीजियेगा।

पाँच प्रकार के व्रतों के भेदों का परिज्ञान कराने के लिये यह अगिला सूत्र कहा जाता है।

देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥

हिंसादिकों से एकदेश से विरति हो जाना अणुव्रत है और सम्पूर्ण रूप से हिंसादि पापों से विराम ले लेना महाव्रत है। अर्थात् गृहस्थों का व्रत अणुव्रत है और मुनियों का व्रत महाव्रत है।

कुतश्चिद्दिश्यत इति देशः, सरत्यशेषानवयवानिति सर्वं, ततो देशसर्वतो हिंसादिभ्यो विरती अणुमहती व्रते भवत इति सूत्रार्थः कथं व्रते इति ? पूर्वसूत्रस्यानुवृत्तेरर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामेनाभिसंबंधोपपत्तेः। तत इदमुच्यते—

किसी न किसी अवयव से जो प्रदेशित कर दिया जाता है इस कारण वह अवयवी का एक टुकड़ा देश कहा जाता है। यह देश शब्द की निरुक्ति है। सम्पूर्ण अवयवों को व्याप्त कर जो गमन करता है वह पूरा अवयवी इस कारण सर्व कहा जाता है। यों "दिश" धातु से देश और "सृ" गतौ धातु से सर्व शब्द की व्युत्पत्ति कर दी गयी है। उन देश और सर्वरूप से जो हिंसादि पापों से विरतियाँ हैं वे अणुव्रत और महाव्रत हो जाते हैं इस प्रकार उक्त सूत्र का अर्थ है। अणु च महच्च, इति अणुमहती यों विग्रह कर द्विवचन के साथ अनुवृत्ति किये गये व्रत शब्द के द्विवचन "व्रते" लगा दिया जाता है। यहाँ कोई पूँछता है कि पहिले सूत्र में तो "व्रतं" एकवचन है उसी की अनुवृत्ति आ सकती है यहाँ द्विवचन "व्रते" यह किस प्रकार अनुवृत्त कर लिया जाता है ? बताओ। आचार्य उत्तर कहते हैं कि पूर्व सूत्र के व्रत शब्द की अनुवृत्ति हुयी है अर्थ के वश से विभक्ति का विपरिणाम हो जाता है इस कारण "अणुमहती" इस द्विवचन के अनुसार व्रते इस द्विवचन का विधेयदल की ओर सम्बन्ध हो जाना बन जाता है। नपुंसक लिंग माने गये व्रत शब्द के अनुसार अणु महत् शब्दों को नपुंसक लिंग कहना पड़ा साथ ही अणुमहती इस द्विवचन अनुसार व्रते यह द्विवचन करना पड़ा तिस कारण लिंग और वचन के स्वांग को धार रहे सूत्र से यह अर्थ कहा कहा जाता है कि

देशतोऽणुव्रतं चेह सर्वतस्तु महद्व्रतं।
देशसर्वविशुद्धात्मभेदात् संज्ञानिनो मतं ॥१॥

सम्यग्ज्ञानी पुरुष के आत्मा की एकदेश विशुद्धि और आत्मा की सर्व देश विशुद्धि के भेद से हुये यहाँ एकदेश से विरति होना अणुव्रत माना गया है और हिंसादिक पापों की सर्व देश से विरक्ति हो जाना तो महान् व्रत अभीष्ट किया गया है यह सूत्र का तात्पर्य है।

न हि मिथ्यादृशो हिंसादिभ्यो विरतिर्व्रतं, तस्य बालतपोव्यपदेशात् सम्यग्ज्ञानव्रत एव नुस्तेभ्यो विरतिर्देशतोऽणुव्रतं सर्वतस्तेभ्यो विरतिर्महाव्रतमिति प्रत्येयं। देशसर्वविशुद्धित्वभावभेदात्तदेकमपि व्रतं द्वेधा भिद्यते इत्यर्थः॥

मिथ्यादृष्टि जीव की हिंसा, झूंठ आदि पापों से विरक्ति हो जाना व्रत नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टियों की उस त्याग आखड़ी को बालतप शब्द करके कहा जाता है। अज्ञानी या मिथ्यादृष्टियों की तपस्या बालतप है। हां सम्यग्ज्ञान वाले ही जीव के उन हिंसादिकों से एकदेश से विरति होना अणुव्रत है और सम्पूर्णरूप से उन हिंसादिकों से विराम पा जाना महाव्रत है यों प्रतीति कर लेनी चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव के ही पांचवां और छठे आदि गुणस्थान होते हैं। आत्मा का एक स्वभाव तो एकदेश से विशुद्धि होना है और दूसरा स्वभाव सर्व ओर से विशुद्धि होना है। वह व्रत मूलरूप से या सामान्यरूप से एक होता हुआ भी आत्मा की एकदेशविशुद्धि और सर्वदेशविशुद्धि इन दो भिन्न-भिन्न स्वभावों से दो

प्रकार भेद को प्राप्त हो रहा है यह इस सूत्र का अर्थ है। श्रावकों की आत्मा में एकदेशविशुद्धि है और मुनियों की आत्मा तो सर्वांगविशुद्ध है अतः अन्तरंगकारण अनुसार व्रत के दो भेद किये गये है। अब जिस प्रकार उत्तम औषध में भावनाये दी जाकर वह रोग दुःख का विनाश कर देती है उसी प्रकार भावनाओं से भावित हुये व्रत भी कर्म रोगों के विनाशक हैं जो भावनाओं के भावने में असमर्थ है वह व्रतों का समीचीन पालन नही कर सकता है तिस कारण एक एक व्रत की संस्कारक भावनाओं का प्रयोजन और उनकी संख्या का प्रतिपादन करने के लिये सूत्रकार महाराज अगिला सूत्र कहते है।

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥३॥

उन पांचो व्रतों की स्थिरता करने के लिये एक एक व्रत की पांच-पांच भावनाये है। पांचों व्रतों की पच्चीस भावनाये है। देशान्तर को जाने वाले पुरुष को यदि कोई यों कह दे कि हमारे लिये वहाँ से सुपारी लेते आना तो वह प्रवासी पुरुष अपनी आत्मा में वैसा संस्कार जमा लेता है जिस भावना के वश हो कर वह बरस, छह महीने पीछे भी सुपारी लाने की स्मृति रखता है। दाल में जीरे की भावना दे दी जाती है। प्राणेश्वर रस में ताम्बूल के रस की भावना दी जाती है और सन्निपातसूर्यरस में भांग के पत्तों के रस की भावना दी जाती है।

भावनाशब्दः कर्मसाधनः, पच पंचेत्यत्र वीप्सायां शसः प्रसंग इति चेन्न, कारकाधिकारात्। क्रियाध्यारोपात्कारकत्वमामामिति चेन्न, विकल्पाधिकारात्। तेनैकैकस्य व्रतस्य भावनाः पंच पंच कर्तव्यास्तत्स्थिरभावार्थमित्युक्तं भवति ॥ तदेवाह—

"भाव्यन्ते यास्ताः भावनाः" जो भाई जावे वे भावनाये है यो भावना शब्द की कर्म में प्रत्यय कर सिद्धि कर ली जाय। यहां कोई शका उठाता है कि इस सूत्र मे पंच पंच ऐसी विवक्षा करने पर वीप्सा में शस् प्रत्यय हो जाने का प्रसंग आता है। शस् प्रत्यय कर देने से पंचशः प्रयोग हो जाने में लाघव भी है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नही कहना क्योंकि शस् के विधायक सूत्र में कारक का अधिकार चला आ रहा है यहाँ कारकपना नही है अतः शस् प्रत्यय नहीं हुआ। यदि पुनः कोई आक्षेप करे कि "पंच पंच भावयेत" यों भावयेत क्रिया का अध्यारोप हो जाने से इन भावनाओं को कारकपना प्राप्त हो जायगा, "क्रियान्वितत्व कारकत्वं"। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो ठीक नही क्योंकि वहाँ विकल्प का अधिकार चला आ रहा है। वा शब्द की अनुवृत्ति है। अतः शस् नही होता है। तिस कारण एक-एक व्रत की पाँच-पाँच भावनाये उन व्रतों के स्थिर हो जाने के लिये करनी चाहिये। यह अभिप्राय इस सूत्र का कहा जा चुका हो जाता है। उस ही बात को ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा कहते है।

तत्स्थैर्यार्थं विधातव्या भावनाः पंच पंच तु।
तदस्थैर्ये यतीनां हि संभाव्यो नोत्तरो गुणः ॥१॥

उन व्रतो की स्थिरता करने के लिये पाँच-पाँच भावनाये तो अवश्य करनी (भावनी) चाहिये। कारण कि उन व्रतों में स्थिरता नहीं होने पर मुनि महाराजों के उत्तर गुणों की प्राप्ति की संभावना नहीं हो सकती है। यह निश्चय समझियेगा।

अथाद्यस्य व्रतस्य पंच भावनाः कथ्यन्ते;—

अब सबसे प्रथम आदि में होने वाले अहिंसाव्रत की पॉच भावनायें सूत्रकार द्वारा कहीं जा रही है।

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच ॥४॥

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकितपान भोजन ये पाँच अहिंसाव्रत की भावनायें हैं। अर्थात् वचन का गोपन करना, मन का गोपन करना, चार हाथ भूमि निरख कर संयम पालते हुये गमन करना, देख कर उठाना धरना, सूर्य प्रकाश मे खान-पान करना, ये पाँच भावनाये यानी सद्विचार सर्वदा रहेंगे, तो अहिंसाव्रत स्थिर रहा आवेगा।

कथमित्याह—

कोई तर्क उठाता है कि ये पाँच किस प्रकार अहिंसाव्रत को स्थिर कर देते है। बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर कहते है।

स्यातां मे वाङ्मनोगुप्ती प्रथमव्रतशुद्धये।
तथेर्यादाननिक्षेपसमिती वीक्ष्य भोजनः ॥१॥

पहिले या प्रधान अहिंसा व्रत की शुद्धि के लिये मेरे वचनगुप्ति और मनोगुप्ति हो जावे तथा ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और दिन में निरखकर भोजन, पान करना ये क्रियाये होवे ऐसी भावनाये भावने से मेरे या किसी भी भावुक आत्मा के अहिंसाव्रत पुष्ट होता रहेगा।

इति मुहुर्मुहुश्चेतसि संचितनात्।

इस प्रकार चित्त में वार-वार अच्छा चिंतन करते रहने से भावित आत्मा व्रतों में दृढ हो जाता है।

काः पुनर्द्वितीयस्य व्रतस्य भावना इत्याह—

फिर दूसरे सत्यव्रत की भावनाये कौनसी है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार इस अग्रिम सूत्र को कहते है।

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पंच ॥५॥

क्रोध का त्याग, लोभ का त्याग, भयभीत हो जाने का त्याग, हास्य करने का त्याग और निर्दोष या आर्षशास्त्रानुसार भाषण करना ये पॉच भावनायें सत्य व्रत की जान लेनी चाहिये अर्थात् क्रोध के वश होकर जीव झूंठ बोल जाता है। लोभी मनुष्य भी धन आशा के वश असत्य बोल जाता है, डर में आकर झूंठ बोलना प्रसिद्ध ही है। हंसी (मजाक, नकल, दिल्लगी) करने में तो प्रायः असत्य ही बोला जाता है। अतः इनका परित्याग करना आवश्यक है। विचार कर अनुकूल बोलने की टेव रखने से सत्य व्रत

को पुष्टि मिलती है । प्रत्येक बात को बहुत विचार कर बोलना चाहिये । अत्यल्प, गंभीर, सारभूत, हित-वचन कहने चाहिये ।

कथमित्याह—

उक्त सूत्र के अभिमत को किस प्रकार निर्णीत कर लिया जाय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार भावनाओ के अनुभव को कहते हैं ।

क्रोधलोभभयं हास्यं प्रत्याख्यामनृतोद्भवं ।
तत्त्वानुकूलमाभाषे द्वितीयव्रतशुद्धये ॥१॥

सत्यव्रती बार बार विचार करता है कि अनृत से उत्पन्न हुये या अनृत (झूंठ) को उत्पन्न करने वाले क्रोध, लोभ, भय और हास्य को मै छोड़ देवूं तथा दूसरे सत्यव्रत की शुद्धि के लिये तत्त्व व्यवस्था अनुकूल चारों ओर भाषण करूं । यों भावना रखता हुआ सत्यवादी अपने व्रत को शुभभावनाओं अनुसार पुष्ट कर लेता है ।

इत्येवं पौनःपुन्येन चिंतनात् ।

यो इस प्रकार पुनः पुनः रूप से चिन्तन करने से उपात्त किया गया सत्यव्रत परिपूर्ण रूप से स्थिर हो जाता है ।

तृतीयस्य व्रतस्य का भावना इत्याह;—

अब तीसरे अचौर्य व्रत की भावनायें पांच कौन-सी हैं इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार भगवान उत्तरसूत्र को कहते हैं ।

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पंच ॥६॥

सूने घरों में निवास करने का अभिप्राय रखना, दूसरों के द्वारा विशेषतया छोड़ दिये गये स्थानों में निवास करने की इच्छा रखना, दूसरों के प्रति हठ आदि द्वारा उपरोध नहीं करना, भिक्षा-समुदाय की शुद्धि रखना, साधर्मी भाइयों के साथ विसंवाद नहीं करना, ये पांच अस्तेय व्रत की भावनायें हैं । अर्थात् पशु, पक्षी, स्त्री, किसान आदि जीवों से अथवा भूषण, वस्त्र, भोजन, पान, रुपया पैसा आदि जड़ पदार्थों से रीते हो रहे ऐसे पर्वत की गुफा, वृक्षों के कोटर, सूनी वसतिका आदि स्थानो में निवास करना, दूसरों के छोड़े हुये स्थान में ठहरना, शिला, पुस्तक, काष्ठासन आदि को ग्रहण कर दूसरों का उपरोध नहीं करना, आचार शास्त्र अनुसार भिक्षाओं को शुद्ध लेना, यह तेरा शास्त्र है, यह मेरा स्थान है आदि टंटो को साधर्मियों के साथ नहीं करना ये पांच भावनायें अचौर्य व्रत को पुष्ट करती हैं । इनके विपरीत आचरण करने से साक्षात् या परम्परया अचौर्यव्रत का भंग हो जाता है ।

कथमित्याह—

अचौर्य व्रत की उक्त पांच भावनाओं को किस प्रकार भाया जाय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार दो वार्तिकों द्वारा उत्तर कहते हैं ।

शून्यं मोचितमावासमधितिष्ठामि शुद्धिदं।
परोपरोधं मुंचामि भैक्ष्यशुद्धिं करोम्यहं ॥१॥
सधर्माभिः समं शश्वदविसंवादमाद्रिये।
अस्तेयातिक्रमध्वंसहेतुतद्व्रतवृद्धये ॥२॥

मैं आत्मा की विशुद्धि को देने वाले शून्य स्थान और छोड़े हुये स्थानो में अधिष्ठित होता हूँ, दूसरों के साथ उपरोध करने को छोड़ता हूँ, मैं भिक्षाओं के समूह की शुद्धि को कर रहा हूँ, समान धर्म वाले जीवों के साथ सदा ही अविसंवाद रखने का आदर करूँ, इस प्रकार अचौर्य व्रत का अतिक्रमण करने वाली पापक्रियाओं के ध्वंस का हेतु हो रहे उस अचौर्य व्रत की वृद्धि के लिये मैं उक्त पांच भावनाओं को यों भावता हूँ ॥

इत्येवं बहुशः समीहनात् ॥

यों इस प्रकार बहुत बार समीचीन विचार रखन से व्रती पुरुष का अचौर्य व्रत दृढ हो जाता है।

चतुर्थस्य व्रतस्य कास्ता भावना इत्याह—

चौथे ब्रह्मचर्य व्रत की वे पांच भावनायें कौन सी है ? इस प्रकार बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥७॥

स्त्रियों में राग को उपजाने वाली कथाओं को सुनने का त्याग करना, उन स्त्रियों के या पुरुषों के मनोहर अंगों के निरीक्षण का परित्याग करना, पूर्वकाल मे भोगे जा चुके भोगों के अनुस्मरण का परित्याग कर देना, वृषीकरण, बाजीकरण आदि विधियों का त्याग कर उन्मादक वृष्यरस या इन्द्रियों द्वारा अनुराग बढ़ाने वाले इष्ट रस का त्याग कर देना, तथा अपने शरीर संस्कार का त्याग कर देना ये पांच-भावनायें ब्रह्मचर्य व्रत को स्थिर करने के लिये हैं।

कथमित्युपदर्शयति;—

उक्त भावनायें किस प्रकार भावित हुयीं भला ब्रह्मचर्य व्रत को दृढ कर देतीं हे ? इस का निर्णय करने के लिये ग्रन्थकार उपपत्ति को दिखलाते हैं।

स्त्रीणां रागकथां जह्यां मनोहार्यंगवीक्षणं।
पूर्वरतस्मृतिं वृष्यमिष्टं रसमसंशयम् ॥१॥
तथा शरीरसंस्कारं रतिचेतोऽभिवृद्धिकं।
चतुर्थव्रतरक्षार्थं सततं यतमानसः ॥२॥

चौथे ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये सर्वदा प्रयत्न करने वाली मानसिक प्रवृत्तियों को धार रहा मैं स्त्रियों की रागवर्द्धिनी विकथाओ को छोड़ दूँ, न कहूं, न सुनूं, रति करने में चित्त को चारो ओर से बढ़ाने वाले उन स्त्रियों के मनोहारी अंगों के देखने को छोड़ दूं। पहिले रमण किये गये भोगों के स्मरण को छोड़ दूँ, तथा कामवर्द्धक और बल वीर्यवर्द्धक, वृष्य और इष्ट रसों का संशय रहित होकर त्याग कर दूँ, तथा रति क्रिया में चित्तवृत्ति को बढ़ाने वाले अंजन, मंजन, मर्दन, स्नान, उबटन, पोंछना, झाड़ना आदि शरीर संस्कारों का त्याग कर दूँ। यों ब्रह्मचारी को इन पांचों भावनाओं से युक्त सद्विचार रखने चाहिये।

इत्येवं भूरिशः समीक्षणात् ॥

यों इस प्रकार प्रति समय भूरि भूरि समीचीन विचार करते रहने से चौथा व्रत परिपुष्ट हो जाता है। बार बार विचारना ही तो भावना है।

पंचमस्य व्रतस्य का भावना इत्याह;—

पांचमे अपरिग्रह या आर्किचन्य व्रत की भावनायें कौन सी हैं ? ऐसी सद्भावना प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥८॥

स्पर्शन इन्द्रिय के मनोज्ञ विषय में राग छोड़ देना और स्पर्शन इन्द्रिय के अमनोज्ञ विषय में द्वेष छोड़ देना १ रसना इन्द्रिय के मनोनुकूल हो रहे रस विषय में राग करने का त्याग और रसना इन्द्रिय के मनः प्रतिकूल विषय मे द्वेष का त्याग २ घ्राण इन्द्रिय के अनुकूल गंध विषय में राग का त्याग और घ्राण इन्द्रिय के प्रतिकूल विषय में द्वेष का परित्याग ३ चक्षुःइन्द्रिय के मनोज्ञविषय में अनुराग धारने का परित्याग और चक्षुः इन्द्रिय के अमनोज्ञ विषयों में द्वेष करने का परित्याग ४ तथा कर्ण इन्द्रिय के मनोज्ञ शब्द विषयों में प्रीति करने का त्याग और श्रोत्र इन्द्रिय के अमनोज्ञ दुःस्वरों में द्वेष करने का त्याग ५ यों ये पांच भावनायें अपरिग्रह व्रत की है।

कथमिति निवेदयति।

अपरिग्रहव्रती किस प्रकार भावनाओं को भावे ? इसके उत्तर में ग्रन्थकार श्री विद्यानंदस्वामी निवेदन करे देते हैं।

सर्वाक्षविषयेष्विष्टानिष्टोपस्थितेष्विह।
रागद्वेषौ त्यजाम्येव पंचमव्रतशुद्धये ॥१॥

इष्ट और अनिष्ट होकर उपस्थित हो रहे इन सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों में मैं पाँचमे आर्किचन्य व्रत की शुद्धि के लिये इस प्रकार सूत्रकार के कथनानुसार राग और द्वेषको छोड़ रहा हूँ। साथ ही छठी मन इन्द्रिय के पोषक या आविर्भावक मनोज्ञ, अमनोज्ञ, विषयां में राग द्वेषों को छोड़ रहा हूँ

इत्यनेकधावधानात्।

यों अनेक प्रकार अवधान यानी एकाग्र होकर सद्विचार करते रहने से आर्किचन्यव्रत दृढ़ हो जाता है।

प्रत्येकमिति पंचानां वृतानां भावना मताः ।
पंच पंच सदा सन्तु निःश्रेयसफलप्रदाः ॥२॥

यों उक्त प्रकार पांचों व्रतों में से प्रत्येक प्रत्येक की पांच पांच भावनायें आम्नाय अनुसार मानी जा चुकी हैं जो कि भव्य जीवों के लिये सर्वदा मोक्षफल को अच्छा देने वाली हो जाओ। यों व्रतों की सद्भावनाओं से प्रसन्न होकर महाव्रती ग्रन्थकार एक प्रकार का आशीर्वाद वचन कहते हैं। यद्यपि ग्रन्थकार सर्वदा परानुग्रह करने में ही दत्तचित्त है तथापि प्रमोद भावना और कृपादृष्टि से प्रेरित होकर कदाचित् विशेषतया अनुग्रह करने में दत्तावधान हो जाते हैं।

किं पुनरत्र भाव्यं ? को वा भावकः ? कश्च भावनोपाय इत्याह—

यहाँ कोई तत्त्वान्वेषी प्रकरणानुसार प्रश्न उठाता है कि फिर यह बताओ कि यहां भावना करने योग्य भाव्य पदार्थ क्या है ? अथवा भावना करने वाला भावक कौन है ? तथा भावनायें भावना स्वरूप उपाय क्या हैं ? बताओ। इस प्रकार प्रश्नों के उतरने पर आचार्य महाराज अग्रिम वार्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

भाव्यं निःश्रेयसं भव्यो भावको भावना पुनः ।
तदुपाय इति त्र्यंशपूर्णाः स्याद्वादिनां गिरः ॥३॥

आत्मा की कर्मरहित अवस्था मोक्ष तो यहां भावना करने के योग्य भाव्य अर्थ है और भव्य जीव उन भावनाओं का भावक है तथा भावना तो फिर उस मोक्ष का उपाय है। इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त को जानने वाले विद्वानों की भाव्य, भावक, भावना, इन तीन अंशों से परिपूर्ण हो रही वाणियें प्रवर्त रही है।

नहि सर्वथैकान्तवादिनां भावना भवति। नित्यस्यात्मनो भावकत्वे विरोधः, ततः प्रागभावकस्य शश्वदभावकत्वानुपक्तेः, भावकस्य सर्वदा भावकत्वापत्तेः। तत एव प्रधानस्यापि न भावकत्वमनित्यत्वप्रसंगात्। नापि क्षणिकैकांते भावकोऽस्ति, निरन्वयविनाशिनः क्षणादूर्ध्वमवस्थानाभावात् पौनःपुन्येन चित्तसंतानानामसंभवात् सन्तानस्याप्यवस्तुत्वात्।

सर्वथा नित्यत्व अनित्यत्व एकत्व आदि एकान्तों का पक्ष ले रहे एकान्तवादी पंडितों के यहाँ भावनायें या उनका चिन्तन करना ही नहीं संभवता है देखिये नित्य आत्मा को भावक मानने में विरोध है। जो पहिले भावक नहीं था वह भावना करते समय भावक बने तब तो भावनायें सिद्ध हो सकती है। कूटस्थ नित्य तो सर्वदा एकसा ही रहता है तिस कारण पूर्व अवस्था में नहीं भावना कर रहे नित्य आत्मा के सर्वदा ही अभावक होते रहने का प्रसंग आवेगा। हां वर्तमान अवस्था में भावना कर रहे भावक आत्मा को सर्वदा पहिले पीछे भावक बने रहने की आपत्ति आवेगी। कारण दशा में ही पड़े रहो, फलप्राप्ति की अवस्था नहीं आने की है। हाँ पूर्वाकार का त्याग, उत्तर आकार का ग्रहण और ध्रुवरूप यों त्रितय आत्मक परिणाम वाले नित्यानित्यस्वरूप आत्मा में भावना परिणति बन सकती है तिस ही कारण से यानी सदा अभावकत्व या भावकत्व का प्रसंग आजाने से ही सांख्यों के यहां प्रकृति का भी भावकपना नहीं सध पाता है। प्रधान को पहिले भावक नहीं मानकर पुनः भावना भावते समय भावक

माना जायगा तो अनित्य हो जाने का प्रसंग आजावेगा। बौद्धों के यहां क्षणिकपने के एकान्त का पक्ष लेने पर भी कोई भावक नहीं होता है क्योंकि वश रहित होकर समूलचूल विनाश को प्राप्त हो रहे पदार्थ की एक समय से ऊपर अवस्थिति ही नहीं है अतः पुनः पुनः पने करके चैतन्य संतानों का असंभव है। सन्तान भी तो उनके यहां वस्तुभूत नहीं मानी गयी है अर्थात् कितनी ही देर तक बार-बार विचार करने को भावना कहते है। क्षणिक विज्ञान विचारा अनेक क्षण तक ठहरता ही नहीं है। हां, अनेक स्वलक्षणों की सन्तान तो भावना कर सकती थी किन्तु क्षणिकवादी के यहां सन्तान या समुदाय वस्तुभूत नहीं माने है यों एकान्त नित्य और एकान्त क्षणिक पक्षों में भावना नहीं संभवती है।

ततोऽनेकान्तवादिनामेव भावना युक्ता भावकस्य भव्यस्यात्मनः सिद्धेः सर्वकर्मनिर्मोक्षलक्षणस्य च निःश्रेयसस्य भाव्यस्योपपत्तेः। तदुपायभूतायाः सम्यग्दर्शनादिस्वभावविशेषात्मिकायाः सत्यभावनायाः प्रसिद्धेः। स्याद्वादिनामेव त्र्यंशपूर्णा गिरो वेदितव्याः॥

तिस कारण अनेकान्तवादी जैन विद्वानों के यहां ही भावना बनना समुचित है क्योंकि भावना करने वाले परिणामी भव्य आत्मा की सिद्धि हो रही है। और सम्पूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक छूट जाना स्वरूप मोक्ष का भाव्यपना बन रहा है तथा उस मोक्ष के उपायभूत हो रही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि विशेषस्वभावस्वरूप सत्यभावना यानी पारमार्थिक भावना की प्रसिद्धि हो रही है इस कारण स्याद्वादियों के यहां ही भावक, भाव्य, भावना इन तीन अंशो से परिपूर्ण हो रही वचन पद्धतियां समझ लेनी चाहिये। जिस प्रकार नित्यानित्यात्मक परिणामी आत्मा में दुःख, शोक, दान आदि परणतियां बनती है। उसी प्रकार कथंचित् नित्य भव्य आत्मा ही भावनीय मोक्ष की उपाय हो रही सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप भावनाओं को भावता है।

सकलव्रतस्थैर्यार्थमित्थं च भावना कर्तव्येत्याह—

व्रतो की विरोधी हो रही पापक्रियाओं में भी प्रतिकूल भावनायें भावते हुये सामान्य रूप से सम्पूर्ण व्रतों की स्थिरता के लिये और भी इस प्रकार भावनायें करनी चाहिये इस अभिप्राय से प्रेरित हुये सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते है।

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनं ॥९॥

हिंसा आदि पापों में इस जन्म में अपाय दीखना यों भावना करनी चाहिये और भविष्य जन्मान्तरो में अवद्य देखा जाना भावने योग्य है। अर्थात् हिंसा करने वाला प्राणी इस लोक में जन समुदाय करके नित्य ही ताड़ने योग्य होता है यहां उससे वैर बांध लिया जाता है। अनेक प्रकार के वध, बन्ध क्लेशों को प्राप्त करता है, और मरकर नरकादि गतियों को पाता है, निन्दित होता है इस कारण हिंसा से विरति करना श्रेष्ठ है। तिस ही प्रकार झूठ बोलने वाले व्यक्ति की कोई श्रद्धा या विश्वास नहीं राखता है वह जिह्वाछेदन, कारागृहवास, को प्राप्त करता है, झूंठ बोलने करके दुःखी हो गये प्राणियों से वैर बांधकर अनेक विपत्तियों को प्राप्त करता है, मरकर दुर्गति मे वास करता है अतः झूंठ बोलने से विरक्ति रखना श्रेष्ठ है यह भावना रखनी चाहिये। तथा दूसरों के द्रव्य को चुराने वाला जीव सबके त्रास देने योग्य हो जाता है, यहां इस जन्म में बेतो की मार, जेलखाना, हाथ-पांव छेदन, सर्वस्व हरण, आदि दुःखों को प्राप्त करता है, भयभीत रहता है और मरकर अशुभ गति को प्राप्त होता है, सर्वत्र उसकी

निन्दा होती है अतः चोरी करने से विराम ले लेना चाहिये। तथैव कुशील पुरुष यहां वध, बन्धन, मारपीट, कुवचन महना आदि दुःखों को प्राप्त करता है, सबसे बेर बांधकर लिंग छेदन, जनहरण आदि अपायों को प्राप्त करता है। और मरकर नरकादि कुगतियों में जाता है पुण्य कर्मों को नहीं कर सकता है, निंदित होता है अतः अब्रह्म पाप से विरति करना आत्मा का हित है। तथा परिग्रह प्रमी जीव चोर, डाकू आदि कुशब्दों करके त्रास प्राप्त करने योग्य होता है। धन के अर्जन, रक्षण में अनेक दुःखों को उठाता है, सन्तोष नहीं करता है, लोभपीडित होकर मरता है, दुर्गति को प्राप्त होता है लोभी, कंजूस, मक्खीचूस, आदि निन्दाओं का पात्र बनता है। अतः परिग्रह से विरति ही करना श्रेष्ठ है। ऐसी भावनायें भावने से सामान्यरूप से सभी व्रतों में जीव की स्थिरता होती है। शुभ भावनायें ही सच्चारित्र की प्राण हैं।

अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां क्रियाणां विनाशकोपायः भयं वा अवद्यं च गर्ह्यं तयोर्दर्शनमवलोकनं प्रत्येकं हिंसादिषु भावयितव्यं। कथमित्याह—

जिन क्रियाओं से अनेक सांसारिक अभ्युदय और संसारातीत मोक्ष इन प्रयोजनों की सिद्धि हो सकती है उन श्रेष्ठ क्रियाओं का विनाश करने वाला जो प्रयोग है वह अपाय कहा जाता है अथवा इह लोक संबन्धी आदि सात भय भी अपाय हो सकते है और अवद्य का अर्थ निद्यनीय है उन अवद्य और अपायों का दर्शन यानी अवलोकन या परामर्श करना प्रत्येक हिंसादि पापों में भावना करने योग्य है। कोई पूंछता है कि किस प्रकार उक्त सामान्य भावनाओं को भावना चाहिये? बताओ। ऐसा प्रश्न प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर कहते हैं।

हिंसनादिष्विहापायदर्शनं भावना यथा।
मयामुत्र तथावद्यदर्शनं प्रविधीयते ॥१॥

जिस प्रकार हिंसा, झूंठ आदि पापों में इस जन्म में अनेक अपाय होना दीख रहा है उसी प्रकार परलोक में अनेक अवद्य होना देखे जा रहे हैं। यों मुझ करके भावना भले प्रकार की जा रही है।

हिंसादिसकलमव्रतं दुःखमेवेति च भावनां व्रतस्थैर्यार्थमाह—

हिंसा, झूंठ आदिक सम्पूर्ण अव्रत दुःख स्वरूप ही हैं इस निराली भावना की व्रतों की स्थिरता कराने के लिये सूत्रकार कंठोक्त कहते है।

दुखमेव वा ॥१०॥

हिंसा, आदिक पांचों पाप दुःख स्वरूप ही है यह भावना भी भावनी चाहिये तभी दुःखों से विरक्ति उपजेगी। भावार्थ—क्षमा या ब्रह्मचर्य से सुख उपजता है इस प्रयोग की अपेक्षा क्षमा या ब्रह्मचर्य निश्चयनयानुसार सुखस्वरूप है यह वचन मीठा और सत्यार्थ जच रहा है। वस्तुतः विचारा जाय तो क्षमा से सुख होता है यों कार्यकारण भाव बनाना एक प्रकार से परमब्रह्मस्वरूप क्षमा की अवज्ञा करना है। मै तो यहाँ तक कहूँगा कि दान, पूजा, संयम, तपश्चरण से सुख होता है इसकी अपेक्षा दान, पूजा आदि ही सुखस्वरूप हैं यह अभिप्राय सुन्दर है। तभी "समरसरसरंगोद्गम" होने पाता है। इसी प्रकार हिंसा करना, झूंठ बोलना आदि पापचेष्टायें भी दुःखस्वरूप हैं। उस समय आत्मा को महान् दुःख उपज रहा

है अतः हिंसादिकों से जो दुःख होगा वह तो उपजेगा ही साथ ही तादात्विक दुःख का संवेदन भी आत्मा को हो रहा है अतः सूत्रकार का हिंसादिकों को दुःखस्वरूप बताना बड़ा सुन्दर जच गया है। विद्वान् इसका परिशीलन करेंगे। धर्म से सुख होता है। इसकी अपेक्षा यों अच्छा जचता है कि ज्ञानदान, परोपकार, निश्छल व्यवहार, कषायमान्द्य, आदि धर्म सुखस्वरूप ही है। धर्मपालन तत्काल आनन्दस्वरूप है। आत्मा के गुणों में अभेद है।

दुखमेवेति कारणे कार्योपचारो अन्नप्राणवत् कारणकारणे वा धनप्राणवत्। दुःखस्य कारणं ह्यव्रतं हिंसादिकमपायहेतुत्वादिहैव दुःखमित्युपचर्यते, कारणे कारणं वा तदवद्यहेतुत्वात् तस्य च दुःखफलत्वात्। तत्परत्र भावनमात्ममाक्षिक।

जब कि असातावेदनीयकर्म के उदय से किया गया खेदपरिणाम तो दुःख है और हिंसा करना, झूंठ बोलना आदिक आत्मा के पुरुषार्थजन्य क्रिया विशेष हैं ऐसी दशा मे वे हिंसादिक भला दुःखस्वरूप ही कैसे हो सकते है ? बताओ। ऐसा आक्षेप प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधान करते है कि "दुखमेव" यों कथन तो कारण में कार्य का उपचार कर किया गया है। जैसे कि "अन्नं वै प्राणाः" अन्न ही निश्चय से प्राण है यहाँ प्राण के सहकारी कारण हो रहे अन्न में प्राणत्व का उपचार कर सामानाधिकरण्य हो रहा है। इसी प्रकार दुःख के कारण हो रहे हिंसा आदिक क्रियाओ मे दुःख ही हैं यह उपचार किया गया समझ लेना चाहिये। जिस प्रकार कि "धनं प्राणाः" धन ही प्राण है यहाँ प्राण का कारण अन्न और अन्न प्राप्ति का उपाय धन है। अथवा अन्य भी अर्थ क्रियाओ के साधक अर्थों की प्राप्ति धन से ही होती है यो प्राण के कारण के कारण धन को प्राण कह दिया जाता है। तिसी प्रकार हिंसा आदिक पापक्रियायें तो असद्वेद्य के कारण आस्रावक कारण है और असद्वेद्यकर्म पुनः दुःख का कारण है यों दुःख के कारण हो रहे असद्वेद्य कर्म के कारण हिंसादिकों को दुःखस्वरूप ही उपचार से कह दिया है। दुःख के कारण हिंसा आदिक अव्रत हैं क्योंकि वे इस लोक में ही (परलोकमें तो अवश्य ही होवेंगे) अपाय के हेतु होने से दुःखस्वरूप यो उपचार को प्राप्त हो जाते है। कारण में जो कारण हो रहा है वह अवद्य के हेतु का हेतु होने से तद्रूपेण उपचार को प्राप्त हो जाता है और उसका फल दुःख होने से वहाँ तत्पना आरोपित कर दिया जाता है। भावार्थ— पूर्व सूत्र अनुसार इस जन्म में अपाय का कारण होने से हिंसादिको को दुःख कहना कारण में कार्यपन का उपचार है। ये हिंसादिक दुःख स्वरूप ही है उस भावना को दूसरों में अपना साक्षी देते हुये भावना चाहिये अर्थात् मारना, पीड़ा देना जैसे मुझ को अप्रिय है तिसी प्रकार सर्व जीवो का अप्रिय है। मिथ्या-भाषण, बहुभाषण आदिक वचन सुनने से जैसे मेरे को अतितीव्र दुःख उपजता है इसी प्रकार सब जीवों को दुःख उपजेगा अतः हम किसी के प्रति मिथ्याभाषण न करें। मेरे इष्ट द्रव्य के वियोग में जैसे मुझको आपत्ति आजाती है उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों को अभीष्ट द्रव्य की चोरी करने से विपत्ति आती है। दूसरे के द्वारा मेरे स्त्रीजनों का तिरस्कार हो जाने पर जैसे मुझे तीव्र मानसिक पीडा उत्पन्न होती है उसी प्रकार दूसरे की स्त्रियों के साथ काम चेष्टा करने पर दूसरों को अतीव संक्लेश उपजता है। तथा मुझे परिग्रह की अप्राप्ति या प्राप्त के विनाश हो जाने पर जैसे आकांक्षा, रक्षा करना, शोक आदि से उपजे हुये दुःख होते है तिसी प्रकार सर्व प्राणियों को होते है। यों हिंसा आदिकों में दुःखस्वरूप की सामान्य भावना को भावते, भावते, जीव की उन पापों से पूर्ण विरक्ति हो जाती है।

ननु चाब्रह्मकर्मामुत्र दुःखमात्मसाक्षिकं तद्धि स्पर्शसुखमेवेति चेन्न, तत्र स्पर्शसुखवेदना-प्रतीकारत्वात् दुःखानुषक्तत्वाच्च दुःखत्वोपपत्तेः। एतदेवाह—

यहाँ कोई आमन्त्रण करता हुआ आक्षेप करता है कि परस्त्री सेवन, वेश्यागमन, परपुरुषरमण, अनंग क्रीड़ा आदि अब्रह्म पापस्वरूप क्रियायें परजन्मों में दुःखस्वरूप हैं। वे आत्मा को साक्षी लेकर दुःख स्वरूप भावनी चाहियें किंतु अब्रह्म तो इस जन्म में स्पर्शजन्य सुखस्वरूप ही प्रतिभासता है। सुन्दर अंगना के कोमल गात्र का संस्पर्श हो जाने से रतिसुख उपजता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि वहाँ स्पर्श सुख होना केवल वेदना प्रतीकार है जैसे कि खाज रोग से पीड़ित हुआ पुरुष नख, कंकड़ी, तृण आदि से खूब खुजाकर रुधिर से गीला हो गया भी उस महान दुःख को भी सुख मान रहा है, तिसी प्रकार मैथुनसेवी पुरुष मोह से असुख को भी सुख मान बैठा है। ब्रह्मचारी या सदाचारी को ब्रह्मचर्य के अनुपम सुख का अनुभव है। एक बात यह भी है कि "तत्सुखं यत्र नासुखं" दुःख का जहाँ लेश मात्र भी नहीं है वही सुख है। कुशीलसेवी जीव के महान दुखों का प्रसंग हो रहा है, अनेक भय सता रहे हैं अतः अब्रह्म को दुःखपना ही युक्तिसिद्ध है। इस ही सूत्रोक्त बात को ग्रन्थकार वार्त्तिक द्वारा कहते हैं।

भावना देहिनां तत्र कर्तव्या दुखमेव वा।
दुःखात्मकभवोद्भूतिहेतुत्वादव्रतं हि तत् ॥१॥

उन हिंसा आदि अव्रतों में "ये जीवों के दुःखस्वरूप ही हैं" ऐसी भावना भी प्राणियों को करनी चाहिये (प्रतिज्ञा) दुःख आत्मक संसार की उत्पत्ति के हेतु होने से (हेतु) इस कारण वह अब्रह्म नाम का अव्रत दुःख स्वरूप ही है अन्य अव्रत भी दुःखस्वरूप ही हैं। जिस प्रकार उक्त भावनायें भावते भावते व्रतों की पूर्णता होती है उसी प्रकार इस लोक सम्बन्धी प्रयोजन की नहीं अपेक्षा कर ये मैत्री आदिक भावनायें भी यदि भावीं जावें तो व्रत सम्पत्ति स्थिर होती है अतः सूत्रकार सामान्य भावनाओं का निरूपण करते हुये मैत्री आदि भावनाओं का प्रतिपादन करने के लिये अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ॥११॥

जगत् के सम्पूर्ण प्राणियों में सद्भावपूर्ण मैत्रीभाव करना और गुणों से अधिक हो रहे सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी आदि भव्यात्माओं में प्रमोद किया जाय। दुःखी हो रहे क्लेश प्राप्त जीवों में करुणाभाव रखा जाय। तथा जिन धर्म से बाह्य हो रहे मिथ्यादृष्टि आदि निर्गुण-अविनीत प्राणियों में मध्यस्थता यानी उदासीनता रखी जाय। इस प्रकार भावना भाव रहे भव्य के अहिंसादिकव्रत परिपूर्ण हो जाते हैं। जैसे कि पूर्व पठित ग्रन्थों की संस्कार स्वरूप भावना को दृढ़ कर रहे छात्र की व्युत्पत्ति दृढ़ हो जाती है।

हिंसादिविरतिस्थैर्यार्थं भावयितव्यानीति भावनाश्चतस्रोऽपि वेदितव्याः। परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री, वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानांतर्भक्तिरनुरागः प्रमोदः, दीनानुग्रहभावः कारुण्यं, रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यं, अनादिकर्मबंधवशात्सीदंतीति सत्त्वाः, सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः, असद्वेद्योदयापादितक्लेशाः क्लिश्यमानाः, तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसंपादितगुणा अविनेयाः। सत्त्वादिषु मैत्र्यादयो यथासंख्यमभिसंबन्धनीयाः। ता एता भावनाः सत्यनेकांताश्रयणे संभवंति नान्यथेत्याह—

हिंसा से विरति, झूंठ से विरति, आदि व्रतों की स्थिरता करने के लिये मैत्री, प्रमोद, करुणा-भाव और मध्यस्थपना ये भावनायें कर लेने योग्य हैं। यों व्रतों की चारों भावनायें भी जान लेनी चाहिये। कृत, कारित, अनुमोदना, और मन,वचन, काय कर के दूसरों के दुःख की अनुत्पत्ति में अभिलाषा रखना मैत्री है। मुख की प्रसन्नता, नेत्रों का आह्लाद, रोमांच उठना, बार-बार स्तुति करना, नाम लेना, उपाधियों का वर्णन करना, आदि करके व्यक्त हो रहा अन्तरंगभक्ति स्वरूप अनुराग करना तो प्रमोद है। शारीरिक मानसिक व्याधियों से पीडित हो रहे दीन प्राणियों के ऊपर अनुग्रह स्वरूप परिणाम ही करुणाभाव है। किसी के विषय मे राग द्वेष पूर्वक पक्षपात नहीं करना माध्यस्थ्यभाव है। यों विधेय दल का व्याख्यान कर अब उद्देश्य दल का निरूपण करते हैं। सन्तानरूपेण अनादि काल से लग रहे आठ प्रकार के कर्मों के बंध की अधीनता से चारों गतियों से जो आकुलित हो रहे हैं वे सत्त्व हैं। सम्यग्ज्ञान, तपस्या, विद्वत्ता, वक्तृता आदि गुणों करके प्रकर्ष प्राप्त हुये हैं वे जीव गुणाधिक हैं। तीव्र असातवेदनीय कर्म के उदय से क्लेश को प्राप्त हो रहे जीव क्लिश्यमान हैं तथा जिन्हों ने तत्त्वार्थ के उपदेश का श्रवण और तदनुसार ग्रहण के अभ्यास से कोई भी गुण प्राप्त नहीं कर पाया है ऐसे अविनीत या अपात्र तो अविनय कहे जाते हैं। सत्त्व आदि मे मैत्री आदिक भावने योग्य हैं। यो चार उद्देश्यदलों का चार विधेय दलो के साथ सख्या का अतिक्रमण नहीं कर ठीक ठीक सम्बन्ध कर लिया जाय। ये सब प्रसिद्ध हो रहीं भावनायें अनेकान्तसिद्धान्त का आश्रय करने पर ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आत्मक परिणाम वाले सत् पदार्थ में संभवती हैं अन्यथा नहीं। अर्थात् क्षणिकत्व पक्ष, नित्यत्व पक्ष, एकत्व-पक्ष आदि एकान्तो का आग्रह करने पर भावनायें नहीं हो सकती हैं। विशेष विशेष अंशो को छोड़ कर उन्हीं विषयों को भावते रहना यह कालान्तरस्थायी परिणामी आत्मा के ही संभवता है जब कि खाना, पीना, हंगना, मूतना, विवाह होना, पुत्र होना, ये लौकिक क्रियायें अथवा हिंसा,झूंठ, चोरी आदि पाप क्रियायें एवं पूजा, दान, अध्यापन, जाप्य देना, धर्म्यध्यान ये पुण्यकर्म सब अनेकान्तवाद अनुसार ही रहे बनते हैं। तो ये विशेष भावनायें और सामान्य भावनायें भी स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार पदार्थ व्यवस्था मानने पर ही भायी जा सकती हैं। इस तत्त्व को और सूत्रोक्त को ग्रन्थकार वार्त्तिकों द्वारा कहे देते हैं।

> मैत्र्यादयो विशुद्ध्यंगाः सत्त्वादिषु यथागमं।
> भावनाः संभवंत्यंतनैकान्ताश्रयणे तु ताः ॥ १ ॥
> मैत्री सत्त्वेषु कर्तव्या यथा तद्वद्गुणाधिके।
> क्लिश्यमानेऽविनेये च सत्त्वरूपाविशेषतः ॥ २ ॥
> कारुण्यं च समस्तेषु संसारक्लेशभागिषु।
> माध्यस्थ्यं वीतरागाणं न क्वचिद्विनिधीयते ॥ ३ ॥
> भव्यत्वं गुणमालोक्य प्रमोदोऽखिलदेहिषु।
> कर्तव्य इति तत्रायं विभागो मुख्यरूपतः ॥ ४ ॥

यावत् प्राणी और गुणाधिक जीव आदि में ये विशुद्धि के अंग हो रही मैत्री, प्रमोद आदिक भावनाओं को शास्त्रोक्त पद्धति अनुसार भावना चाहिये। वे भावनायें अनेकान्त सिद्धान्त का आश्रय

करने पर तो संभवती हैं किन्तु एकान्त पक्ष का कदाग्रह करने पर नहीं सध पाती है। जिस प्रकार जगद्वर्त्ती सम्पूर्ण प्राणियों में मैत्रीभाव करना चाहिये उसी के समान जीवरूप से विशेषतायें नहीं होने के कारण गुणाधिक और क्लिश्यमान तथा अविनीत जीवों में भी मैत्री करनी चाहिये। साथ ही "ब्राह्मणवशिष्ट" न्याय अनुसार विशेषता की विवक्षा करने पर संसार संबन्धी क्लेशों के भागी हो रहे समस्त जीवों में करुणाभाव करना चाहिये। क्वचित् अविनीत पुरुषों में वीतराग पुरुषों को माध्यस्थपना रखना नहीं भूल जाना चाहिये। अथवा "क्वचित्स्यादविनीतके" यों पाठ कर लेने पर किन्हीं अविनीत प्राणियों में वीतराग व्रतियों को मध्यस्थपना भावनीय है। यह अर्थ कर लिया जाय। भव्यत्वगुण का विचार कर सम्पूर्ण प्राणियों में प्रमोदभाव करने चाहिये इस प्रकार वहाँ वहाँ मुख्यरूप से यह विभाग कर लिया जाय। ग्रन्थकार का अभिप्राय यह जचता है कि सम्पूर्ण प्राणियों में जिस प्रकार मैत्री भाव की भावना की जाती है उसी प्रकार अत्यल्प, जघन्ययुक्तानन्त, प्रमाण अभव्यों को छोड़ कर सम्पूर्ण अक्षय अनन्तानन्त जीवों में वर्त्त रहे भव्यत्व गुण का विचार कर उन सभी गुणाधिक अनन्तानन्त जीवों में प्रमोद भावना भी भायी जा सकती है, वीतरागमुनि तो अपने मारने वाले का भी उपकार ही चितन करते हैं कि प्राणों का ही वियोग करता है। धर्म से तो नहीं डिगाता है। ऋजु परिणामी और नीचैःवृत्ति, अनुत्सेको को धार रहा प्राणी तो दूसरे जीवों को बड़ी सुलभता से गुणाधिक समझ लेता है। व्रती विचारता है कि इन सामान्य जीवों की अपेक्षा संभवतः मेरे ही पाप कर्म अधिक होवें इसका कोई ठिकाना नहीं है। भगवान् आदीश्वर महाराज ने हजार वर्ष तपस्या की थी और महावीर स्वामी ने १२ वर्षों में ही चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया था। बाहुबली स्वामी ने मात्र एक वर्ष में और भरत चक्रवर्त्ती ने तो केवल कुछ अन्तर्मुहूर्तों में ही कैवल्य प्राप्त कर लिया था। कर्मो के जटिलबन्ध और आत्मविशुद्धि या तपस्या की शक्ति अचिन्त्य है। नरक से निकल कर तीर्थकर हो जाना तो है नारायण बलभद्र नहीं हो सकता है अतः संचित कर्मोंका कोई ठिकाना नहीं। अभव्य मुनि तपस्यायें करते रहते हैं और निकट भव्य भोगों में लवलीन देखे जाते हैं इस अपेक्षा से अपकारी या क्लिश्यमान जीव भी गुणाधिक होय यों सभी जीवों को गुणाधिक मानकर प्रमोदभावना भावने से कोई टोटा नहीं पड़ जाता है। संसार के सभी प्राणी नाना योनियों में आकुलताओं को भुगता रहे ससार क्लेश से पीड़ित हो रहे हैं अतः सम्पूर्ण क्लिश्यमान संसारी जीवों में करुणाभाव भाया जा सकता है। वीतरागमुनियों के मध्यस्थता तो अविनीतों में ही क्या सम्पूर्ण जीवों में वर्त्त रही है। रागद्वेष पूर्वक पक्षपात नहीं करना ही तो मध्यस्थता है। यह सभी जीवों के प्रति मध्यस्थता तो व्रतियों में सुलभता से घटित हो जाती है जब तक उत्तममाध्य स्वरूप परमब्रह्म सिद्ध अवस्था नहीं प्राप्त होती तब तक संसारी जीवों की अविनीतता तो कथंचित् बन ही जाती है। इस प्रकार सामान्यरूप या विशेष रूप से विचार करते हुये चारों भावनाओं से व्रती को अपना आत्मा सर्वदा संस्कारित रखना चाहिये।

नवीन पाप कर्मों के ग्रहण की निवृत्ति में तत्पर हो रहे महाव्रत धारी जीव करके क्या इतना ही क्रियाकलाप करना लक्ष्य में रखना चाहिये ? अथवा कुछ अन्य भी सद्विचार चित्त में विचारते रहना चाहिये ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज पुनरपि अन्य भावनाओं का प्रतिपादन करने के लिये इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥

जगत् का स्वभाव और काय का स्वभाव संवेग और वैराग्य के लिये है। अर्थात् पर्यायस्वरूप

आदिमान जगत् है और द्रव्य स्वरूप अनादि अनन्त जगत् है। इस अनादि अनन्त संसार में अनन्तानन्त जीव नाना योनियों में दुःख भुगत रहे भटक रहे है। यहाँ कोई पदार्थ परिणामस्वरूप स्थिर नहीं है। जल के बबूला समान जीवित है, बिजली या मेघ के समान भोग सम्पत्तियाँ है। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग की भरमार है, यह जगत् जन्म-जरामृत्युओ से आक्रान्त है। इस जगत् में जीव का इन्द्र, धरणेन्द्र कोई भी रक्षक नहीं है। इत्यादि प्रकार से जगत् के स्वभावों का चिन्तन करने से इस जीव को संवेग होता है। संसार से भय उपजता है, धर्म में प्रीति होती है। तथा काय अशुद्ध है, यावत् दुःखों का कारण है, रोगों से भरपूर है, आत्मा से भिन्न है, अनित्य है, कृपण या कृतघ्न सेवक के समान समय पर काम नहीं आता है, धोखा देता है, दुर्गन्ध है, मल मूत्रों का स्थान है, पाप के उपार्जन में दक्ष है, अत्यल्पकारण से रोगी होने या मरने को तैयार हो जाता है, यथायोग्य भाड़ा देते रहने पर भी दीन भिक्षुक के सदृश सदा भोगोपभोगों की याचना करता रहता है। इत्यादि शरीर के स्वरूपों का चिन्तन करते-करते विषय भोगों की निवृत्ति होजाने से वैराग्य उपजता है। तिस कारण जगत् और काय के स्वभावों की भावनायें भावनी चाहिये।

भावयितव्यौ व्रतस्थैर्यार्थमिति शेषः। संवेगवैराग्ये हि व्रतस्थैर्यस्य हेतू, जगत्कायस्वभावभावनं संवेगवैराग्यार्थमिति परंपरया तस्य तदर्थसिद्धिः। जगत्कायशब्दावुक्तार्थौ स्वेनात्मना भवनं स्वभावः, जगत्काययोः स्वभावाविति संवेगवैराग्यार्थं ग्राह्यं। संसाराद्भीरुता संवेगः। रागीकारणाभावाद्विषयेभ्यो विरंजनं विरागः तस्य भावो वैराग्यं संवेगवैराग्याभ्यां संवेगवैराग्यार्थमिति द्वयोः प्रत्येकमुभयार्थत्वं प्रत्येतव्यं ॥

"सोपस्काराणि वाक्यानि भवन्ति" इस नियम अनुसार व्रतों की स्थिरता के लिये भी इन दोनों की भावना करनी चाहिये इतना अंश शेष रह जाता है। पक्षान्तर का सूचक वा शब्द इस प्रयोजन को भी ध्वनित करता है। सूत्र के उपात्त शब्दों और शेष शब्दों को मिलाकर यो अर्थ कर देना चाहिये कि व्रतों की स्थिरता के लिये तथा संवेग और वैराग्य के लिये जगत् और काय के स्वभावों की भावनायें करते रहना चाहिये। संसार संबन्धी दुःखों से नित्य ही भयभीत रहना संवेग है और इन्द्रियो के विषयो से विरक्त हो जाना वैराग्य है। जब कि संवेग और वैराग्य दोनों ही व्रतो की स्थिरता के हेतु है अतः जगत् और काय के स्वभावों की भावना करना संवेग और वैराग्य के लिये है यों परंपरा से उस भावते रहने को उन संवेग और वैराग्य स्वरूप प्रयोजनों की सिद्धि का साधकत्व है। अर्थात् जगत् और काय के स्वभाव का चिन्तन करने से व्रती जीव की अहिंसादि व्रतों में स्थिरता होती है पुनः व्रतों में स्थिरता हो जाने से संवेग और वैराग्य ये प्रयोजन सधते है। जगत् शब्द और काय शब्द के अर्थों को कहा जा चुका है। गच्छति इति जगत्, चीयते इति कायः जो अपने परिणामों द्वारा अनादि से अनन्तकाल तक चलता जा रहा है वह जगत् है। शरीर नाम कर्म का उदय होने पर जीवों के निकट एकत्रित हो गया पुद्गल तो काय है। जगत् का अर्थ यदि लोक मान लिया जाय तो लोक का अर्थ या संसार का अर्थ पहिले सूत्रों में कहा जा चुका है। काय का अर्थ भी पहिले प्रकरणो में आ चुका है। अन्तरंग बहिरंग कारणों अनुसार स्वकीय आत्मस्वरूप से होते रहना स्वभाव है। जगत् और काय के जो दो स्वभाव हैं इस प्रकार द्वन्द्व गर्भित षष्ठीतत्पुरुष समास कर "जगत्कायस्वभावौ" यों शब्द साधु बना लिया जाता है। इस कारण जगत् और काय के स्वभाव यों संवेग और वैराग्य के लिये ग्रहण करने योग्य है। जन्म, जरा, मृत्यु क्षुधा, रोग आदि अनेक दुःखमय संसार से भयभीत होना संवेग है। राग के कारणो का अभाव हो

जाने से यानी चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाने पर स्पर्श, रस, गंध,रूप, शब्द, सुख, संकल्प, विकल्प, इन ऐन्द्रियिक विषयों से विरक्ति हो जाना विराग है। उस विराग का जो भाव है सो वैराग्य है। संवेग और वैराग्य के लिये जो होय वह संवेगवैराग्यार्थ है। चतुर्थी का अर्थ तादर्थ्य है। इस प्रकार दोनों में से प्रत्येक का दोनों के लिये होना समझ लेना चाहिये, अर्थात जगत् के स्वभाव का चिन्तन करना संवेग के लिये और वैराग्य के लिये भी है तथैव काय के स्वभाव का चिंतन करना भी संवेग और वैराग्य दोनों के लिये है। वस्तुतः यही बात सर्वांग सत्य है। थोडी भी विचार बुद्धि को धारने वाला पुरुष जब कभी जगत् के स्वभाव को विचारेगा तो उसे संवेग हुये विना नहीं रहेगा। जो आज धनी है वह कल निर्धन हो जाता है। बाबा बैठे रहते है नाती की मृत्यु हो जाती है। कहीं शोक, कहीं रोग, क्वचित् खेद की भरमार सुनाई दे रही है। जगत मे कहीं भी सुख नही है, केवलज्ञानी महाराज ही अठारह दोषों से रहित है। देव और भोगभूमियाँ जीव भी व्यक्त या अव्यक्त रूप से क्षुधा आदि अठारह दोपों करके आक्रान्त है। उनमे विचारशील सम्यग्दृष्टि यही भावना भावते रहते है कि कब कर्म भूमि की मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर संयम धारते हुये चार आराधनाओं को प्राप्त करें। इसी प्रकार शरीर की अवस्थाओं का विचार करने पर वैराग्य ही उपजता है। जगत पद से तीन सौ तैतालीस घनराजू प्रमाण तीनों लोक और उसमें अनित्य, अशरण होकर वर्त रहे सभी परिणामी पदार्थ पकड़ लिये जाते हैं। फिर भी संसारी जीव का काय से घनिष्ठ संबन्ध है। अतः भूत, व्रती, न्याय अनुसार या सामान्य विशेष नीति से काय का पृथक् उपादान करना पड़ा है। जगत की अनेक परिणतियों से जितना कहीं संवेग उपजता है उससे कितना ही गुना अधिक काय के स्वभाव का चिन्तन करने से वैराग्य उपजता है। सूत्रकार ने यह बहुत बढ़िया मोक्षमार्गोपयोगी अमूल्य सूत्र कहा है। इसमें अपरिमित प्रमेय भरा हुआ है "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्र के पश्चात् यदि एक ही सूत्र बनाने का विचार किया जाय तो वह सौभाग्य इस "जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थं" सूत्र को ही प्राप्त होगा। इस सूत्र में शिक्षा, उपदेश, सिद्धान्त और साधु तत्त्वों का सार एकचित्र कर दिया गया है। मोक्ष के कारण संवर तत्त्व और निर्जरा तत्त्व को यहाँ ठूंस कर भर दिया गया है।

केषां पुनः संवेगवैराग्यार्थं जगत्कायस्वभावभावने कुतो वा भवत इत्याह—

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है फिर यह बताओ कि जगत् के स्वभाव की भावना और काय के स्वभाव की भावना ये दोनों किन-किन जीवों के संवेग और वैराग्य के लिये उपयुक्त होती है? और यह भी बताओ कि किस कारण से ये भावनायें जीवों के होती है? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिक को कहते है।

जगत्कायस्वभावौ वा भावने भावितात्मनां।
संवेगाय विरक्त्यर्थं तत्त्वतस्तत्प्रबोधतः ॥१॥

जिन जीवों ने आत्मा के स्वरूप का भले प्रकार चिन्तन किया है। जगत् के स्वभाव और काय के स्वभाव अथवा उनकी भावनायें करना ये उन भावित आत्मक जीवों के संवेग गुण के लिये और वैराग्य के लिये उपयोगी हो रहे है यह पहिले प्रश्न का उत्तर हुआ। दूसरा प्रश्न जो यह था कि किस कारण से वे उक्त प्रयोजनों को पुष्ट कर देते हैं? इसका उत्तर यह है कि वास्तविक रूप से उन जगत् और काय का बढ़िया बोध हो जाने से यानी उनके वास्तविक स्वरूपों का चिन्तन करने से संवेग और वैराग्य हो ही जाते हैं। कलहकारिणी स्त्री से या अन्यायी राजा अथवा मलमूत्रों से अरुचि होने का

हेतु उन घृणित पदार्थों का ज्ञान ही है। जगत् और काय में कोई भी स्वभाव आसक्त हो जाने का नहीं है। अतः जगत् तत्त्व और काय तत्त्व का समीचीन बोध हो जाने से संवेग और वैराग्य का होना अनिवार्य है। हाँ जो आत्म ज्ञान से शून्य हैं वे भले ही उक्त गुणों को प्राप्त नहीं कर सके क्योंकि उन्हें तत्त्वज्ञान ही नहीं है। बालक ही सांप या अग्नि से खेलना चाहता है विचारशील नहीं। अतः आत्मज्ञानी जीव के इस सूत्रोक्त अनुसार तत्त्व प्रबोध पूर्वक हुई भावनाओ से संवेग और वैराग्य हो जाने का अविनाभाव है।

तत्त्वतो जगत्कायस्वभावाभावबोधवादिनां तु तद्भावनातो नाभिप्रेतार्थसिद्धिरित्याह—

वास्तविक रूप से जगत् और काय के स्वभावों का अभाव मान कर विज्ञान का अद्वैत मानने वाले बौद्धों के यहां तो उन जगत और काय के स्वभावों की भावना से अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नही हो सकती है इसी बात को ग्रन्थकार वार्त्तिकों द्वारा कह रहे हैं।

भावना कल्पनामात्रं येषामर्थानपेक्षया।
तेषां नार्थस्ततोऽनिष्टकल्पनात इवेप्सितम् ॥२॥
अनन्तानन्ततत्त्वस्य कश्चिदर्थेषु भाव्यते।
सन्नेवेति यथार्थेव भावना नो व्यवस्थिता ॥३॥

जिन बौद्ध पण्डितों के यहां अनित्य, अशरण आदि भावनायें या पांच व्रतो की पच्चीस विशेष भावनायें अथवा अपाय, अवद्यदर्शन और दुःखस्वरूप तथा मैत्री आदि एवं जगत काय स्वभाव चिन्तन ये सामान्य भावनायें केवल कल्पनास्वरूप ही मानी गयी है। बौद्ध समझाते है कि इनमें वस्तुभूत अर्थों की कोई अपेक्षा नहीं है। जैसे कहानी, किवदन्तियां, उपन्यास, किस्सा यों ही गढ लिये जाते हैं इसी प्रकार जगत् के स्वभावो की भावना या काय स्वभाव का चिन्तन ये सब वस्तुस्पर्शी न होकर कोरी कल्पनायें हैं। दीन छोकरा अपने मन में राजापने की कल्पना कर लेवे या मूर्ख बालक अपने को पण्डित मान बैठे, इन्द्र नाम का बालक अपने को प्रथम स्वर्ग का अधिपति चिन्तता रहे, मिट्टी के बने हुये झोंपड़े में स्वर्णनिर्मित प्रासाद की भावना करता रहे, ऐसे निकम्मे मिथ्याज्ञानी को कोई अर्थ की सिद्धि नही होती है। अब आचार्य कहते है कि भावना को अवस्तु विषयिणी मानने वाले उन बौद्धों के यहां उस भावना से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। जैसे कि अनिष्ट की कल्पना से ईप्सित पदार्थ की प्राप्ति नही होती है अर्थात् मट्टी की बनी गाय से अभीष्ट दुग्ध प्राप्त नही होता है। यहाँ कहना यह है कि सर्वथा असत् कल्पनाओं से भले ही इष्ट प्रयोजन की प्राप्ति नहीं होय किंतु वास्तविक कल्पनाओं से इष्ट प्रयोजन सधता है जब कि उपचरित असद्भूत व्यवहार नय अनुसार मेरे पुत्र, दारा आदिक है, वस्त्र, अलंकार, सोना, चांदी मेरे हैं, देश, राज्य दुर्ग मेरे है इत्यादिक कल्पनायें भी कथंचित् वस्तुपरिणतियों को छूकर हुयी है। बहुरूपिया, चित्र, नाटकप्रदर्शन, बनावटी सिंह, सर्प,भूत, प्रेत आदिक की झूंठी कल्पना, अपने में रोग या नशा आ जाने की भावना ये बहुभाग असत्य भावनायें भी अनेक परिणतियो को उपजा देती है। पांव के "हाथीपांव" रोग पर सिंह की प्रतिकृति लाभ देती है, भील मट्टी के कृत्रिम द्रोणाचार्य से धनुष विद्या पढ़ा था, "यथा कूर्मः स्वतनयान ध्यानमात्रेण तोषयेत्" कछवी अपने बच्चों को शुभभावना मात्र से पुष्ट करती रहती है यह बात सर्वांग असत्य नहीं है। माता पिता गुरुजन अपने पुत्र या छात्रों को शुभभावनाओं से अलंकृत करते रहते है। तो वस्तुभूत परिणतियों की भित्ति पर हुई भावना तो कोरी कल्पना नहीं कही जा सकती है। प्रत्येक पदार्थ में अनन्तानन्त स्वभाव भरे हुये है न जाने किस नैमि-

त्तिक या स्वाभाविक स्वकीय परिणति की भावना भा कर यह जीव संसार कारण या मोक्ष कारण की आराधना किया करता है। कुकर्म या सत्कर्म का छोटा सा बीज ही फल काल में महान वृक्ष हो जाता है। अनेक अर्थों मे से कोई न कोई अनन्तानन्त स्वभाव वाले पदार्थ का सत्स्वरूप अर्थ भावना किया जाता है। इस कारण हम स्याद्वादियो के यहाँ वस्तुस्पर्शिनी भावना यथार्थ हो व्यवस्थित हो रही है। कुशिक्षा का स्वल्प कारण मिल जाने पर पापी जीव उस व्यसन की भावना भाते भाते एक दिन महादुर्व्यसनी हो जाता है इसी प्रकार सत् शिक्षा का स्वल्प बीज पाकर भव्य जीव शुभ भावनाओं को भाकर एक दिन चारित्रवानों में अग्रणी बन जाता है। भावनायें भावने से विद्यार्थी पाठ को अभ्यस्त कर लेता है। भावना अनुसार वक्ता अच्छी वक्तृता देता है। रागवर्धक भावनाओं के वश माता अपने पुत्र पर स्नेह करती है। जगत् की और शरीर की परिणतियां बहुत सी प्रत्यक्षगोचर है। उनका अवलंब लेकर सत्यार्थभावना भावने से संवेग और वैराग्य परिणाम उपजेंगे हो। हां जो भावना को परमार्थ नहीं मानते है उनके यहां प्रतीतियों से विरोध आवेगा। भावना के विना स्मृति नहीं हो सकती है, बालक अपनी माता को नहीं पहिचान सकेगा, पक्षी लौट कर अपने घोंसले में नहीं आ सकेगा, परीक्षायें देना असंभव हो जायगा, मुख मे कौर नहीं दे सकोगे, व्याप्तिस्मरण या संकेत स्मरण अनुसार होने वाले अनुमान और आगमप्रमाण उठ जायंगे, किसी का शुभ अशुभ चिन्तन कुछ कार्यकारी नहीं होगा अतः उक्त सामान्य भावनाओं और विशेष भावनाओं को वस्तुभूत यथार्थ मानना चाहिये वास्तविक अर्थ क्रियाओं को कर रही भावनाओ पर कुचोद्यों का अवकाश नहीं है।

ततो यथार्था अवितथसकलभावनाः प्रतिपन्नव्रतस्थैर्यहेतवस्तत्प्रतिपक्षस्वीकारनिराकरणहेतुत्वात्सम्यक् सूत्रिताः प्रतिपत्तव्याः।

तिस कारण सत्य अर्थों का अवलंब लेकर हुयी उक्त सम्पूर्ण भावनायें यथार्थ है। प्रतिज्ञात किये गये अहिंसा आदि व्रतों के स्थिरपन की कारण है उन व्रतों के प्रतिपक्ष हो रहे हिंसा, झूंठ आदि के स्वीकारो की निराकृति का हेतु होने से सूत्रकार महाराज करके भले प्रकार उक्त सूत्रों में वे भावनायें सूचित कर दी गयी है। यों भव्यों को विशेष भावनाओं और सामान्यभावनाओं की प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये अलं विस्तरेण।

अथ के हिंसादयो येभ्यो विरतिर्व्रतमिति शंकायां हिंसां तावदाहः—

अब यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि वे हिंसा आदिक कौन से है? जिनसे कि विरति होना व्रत है यों सातवें अध्याय के प्रथम सूत्र द्वारा कहा गया है। इस प्रकार शंका प्रवर्तने पर सबसे प्रथम आदि में कही गयी हिंसा को लक्षण सूत्र द्वारा श्री उमास्वामी महाराज कहते है।

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

प्रमाद युक्त परिणति का योग हो जाने से स्व या पर के प्राणों का वियोग कर देना हिंसा है। अर्थात् प्रमादी जीव करके कायवाङ्मनःकर्म रूप योग से स्वकीय, परकीय, भावप्राण द्रव्यप्राणों का वियोग किया जाना हिंसा कही जाती है।

अनवगृहीतप्रचारविशेषः प्रमत्तः अभ्यंतरीभूतेवार्थो वा पंचदशप्रमादपरिणतो वा, योगशब्दः संबन्धपर्यायवचनः, कायवाङ्मनःकर्म वा; तेन प्रमत्तसंबंधात् प्रमत्तकायादिकर्मणो वा प्राणव्यपरोपणं हिंसेति सूत्रितं भवति।

पाँच इन्द्रिय और छठे मन के निरर्गल हुये प्रचार विषयों का नहीं अवधारण कर (को नहीं गिन कर) अयत्नाचार पूर्वक प्रवर्त्त रहा जीव प्रमत्त है। अथवा प्रमत्त का अर्थ यों कर लिया जाय कि प्रमत्त इव प्रमत्तः यों प्रमत्त शब्द में इव शब्द का अर्थ सदृशपना भीतर गर्भित हो रहा है। अर्थात् जैसे मद्य पीने वाला कार्य, अकार्य, वाच्य, अवाच्य, इष्ट, अनिष्ट आदि को नही जानता है उसी प्रकार जीवस्थान, योनिस्थान, स्वीय, परकीय, सुख, दुःख आदि को नहीं जान रहा कषायोदय वशीकृत जीव मदोन्मत्त के समान प्रमत्त का तीसरा अर्थ पन्द्रह प्रमादों से युक्त हो कर परिणति कर रहा जो जीव है सो प्रमत्त है। स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्र कथा, राजकथा, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षुः, श्रोत्र, निद्रा और स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों के साथ रम रहा जीव प्रमादी कहा जाता है। सूत्र में पड़ा हुआ योग शब्द तो संबन्ध का पर्यायवाची है। युजि योगे धातु से बने हुये योग शब्द का अर्थ संबंध हो जाता है। अथवा काय, वचन, मन का अवलंब लेकर हुआ आत्मप्रदेशपरिस्पंद भी योग हो सकता है। तिस कारण इस सूत्र से यह सूचित हो जाता है कि प्रमत्त का संबन्ध हो जाने से अथवा प्रमत्त जीव के काय आदि परिस्पन्दों से हुआ स्वी संबन्धी या पर सम्बन्धी प्राणियों का वियोग करना हिंसा है।

किं पुनर्व्यपरोपणं ? वियोगकरणं प्राणानां व्यपरोपणं प्राणव्यपरोपणं। प्राणग्रहणं तत्पूर्वकत्वात् प्राणिव्यपरोपणस्य। सामर्थ्यतः सिद्धेः। प्राणस्य प्राणिभ्योऽन्यत्वादधर्माभाव इति चेन्न, तद्दुःखोत्पादकत्वात् प्राणव्यपरोपणस्य। प्राणानां व्यपरोपणे ततः शरीरिणोऽन्यत्वाद्दुःखाभाव इति चेन्न, इष्टपुत्रकलत्रादिवियोगे तापदर्शनात्, तेनान्यत्वस्य व्यभिचारात् प्राणप्राणिनोर्बंधं प्रत्येकत्वाच्च सर्वथान्यत्वमसिद्धमिति न दुःखाभावसंभवः शरीरिणः साधयतो यतो हिंसा न स्यात्।

यहाँ कोई पूछता है कि प्रमत्त योग का अर्थ समझ लिया फिर यह बताओ कि यह व्यपरोपण क्या पदार्थ है ? उसके उत्तर में आचार्य कहते है कि व्यपरोपण का अर्थ वियोग करना है। पाँच इन्द्रिय प्राण, तीन बल प्राण, आयुः और श्वासोच्छ्वास, इन प्राणों का वियोग कर देना प्राणव्यपरोपण है। यों षष्ठी तत्पुरुष समास है। प्राणों का ग्रहण इस लिये किया गया है कि प्राणी का व्यपरोपण उस प्राणव्यपरोपण होने को पूर्ववर्त्ती मान कर होता है। पहिले प्राणों का वियोग होता है पश्चात् प्राणी का वियोग हो जाता है यह बात बिना कहे सामर्थ्य से सिद्ध हो जाती है। जीव के प्राणो का वियोग हो जाने से इष्ट बन्धुओं के साथ उस जीव का वियोग हो जाता है अथवा आस्रव पूर्वक बंध होता है। फिर भी आस्रव और बंध का जैसे एक समय है उसी प्रकार प्राण वियोग और प्राणी वियोग का समय भेद नहीं है। यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि प्राणियों से प्राणों का जब भेद है तो प्राणों का वियोग कर देने से आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं होता है। अतः हिंसक को अधर्म नहीं लग सकेगा। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योंकि प्राणों का व्यपरोपण करना उस जीव के दुःखों का उत्पादक है प्राणों का वियोग कर देने पर प्राणी जीव को महान् दुःख उपजता है इस कारण दुःखोत्पादक हिंसक जीव के अधर्म हो जाने की सिद्धि हुई। पुनः कोई सर्वथा भेदवादी आक्षेप उठाता है कि शरीरधारी आत्मा जब प्राणों से सर्वथा भिन्न है तो प्राणों का व्यपरोपण होते हुये भी भिन्न हो जाने के कारण उससे आत्मा को दुःख नहीं होना चाहिये जैसे कि शरीर से मल मूत्र का वियोग हो जाने से किसी को दुःख नही होता है। अब आचार्य कहते है कि यह तो नहीकहना क्योंकि इष्ट हो रहे भिन्न-भिन्न पुत्र, स्त्री, धन, पशु, गृह, अधिकार, आजीविका आदि का वियोग हो जाने पर जीव के संताप हो रहा देखा जाता है अतः भिन्नत्व हेतु का तिस पुत्र आदि के वियोग करके व्यभिचार हुआ। अर्थात् प्राणव्यपरोपणं (पक्ष) जीवस्य न दुखहेतुः (साध्य)

तदन्यत्वात् (हेतु) शत्रु वियोगवत् (दृष्टान्त), इस आक्षेप कर्ता के अनुमान में पड़े हुये तदन्यत्व हेतु का इष्ट पुत्रादि वियोग करके व्यभिचार आता है। एक बात यह भी है कि प्राण और प्राणी आत्मा का बंध के प्रति एकपना है। दोनों बँध कर एकम एक रस हो रहे है अतः सर्वथा भेद असिद्ध है यों अन्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध भी हुआ (बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं),, इस कारण एकपना हो जाने से प्राणों का वियोग हो जाने पर आत्मा के दुःख के अभाव का असभव है। शरीर वाले आत्मा को साध रहे सर्वथा भेदवादी वैशेषिक के यहाँ आत्मा के दुःखाभाव नहीं संभवता है। जिससे कि प्राणों का वियोग कर देने पर आत्मा की हिंसा न होती। अर्थात् प्राणो का व्यपरोपण हो जाने से प्राणी की हिंसा और प्राणी को दुःख उपजना तथा हिंसा से अधर्म होना सिद्ध हो जाते हैं।

एकान्तवादिनां तदनुपपत्तिः संबधाभावात्। प्राणप्राणिनोः संयोगविशेषसंबन्ध इति चेत्, कुतस्तस्यांतरसंयोगाद्विशेषः ? तददृष्टविशेषादिति चेत्, तस्याप्यात्मनोऽन्यत्वे कुतः प्रतिनियतात्मना व्यपदेशः तत्र समवायादिति चेत्, सर्वात्मसु कस्मान्न तत्समवायः ? प्रतिनियतात्मनि धर्माधर्मयोः फलानुभवनात्तत्रैव समवायो न सर्वात्मस्विति चेत्, तदेव सर्वात्मसु किं न स्यात् ? सर्वात्मशरीरेष्वभावादिति चेन्न, शरीरस्यापि प्रतिनियतात्मस्वाभाविकत्वायोगात् सर्वात्मसाधारणत्वात्। यददृष्टविशेषेण कृतं यच्छरीरं तत्तस्यैवेति चेत्, तद्दृष्टस्यापि ततोऽन्यतैवेत्येकांते कुतः प्रतिनियतात्मना व्यपदेश इति स एव पर्यनुयोगश्चक्रकं च ॥

सर्वथा नित्यपन, सदा शुद्धता, सर्वगतपन, क्रियारहितपन आदि एकांतों का पक्ष ले रहे नैयायिक, सांख्य आदि पण्डितों के यहाँ उन दुःख, मरण, जीवन, आदि की सिद्धि नही हो सकती है। क्योंकि आत्मा का शरीर या प्राण अथवा दुःख आदि के साथ कोई संबन्ध नही बनता है। यदि नैयायिक यों कहें कि वायु द्रव्य प्राण और प्राण वाले आत्मा द्रव्य का सम्बन्ध संयोग विशेष है। जैनों के यहां भी कर्म, शरीर, स्वकीयपुत्र कलत्र आदि के साथ विशेष जाति का संयोग माना ही गया है। यों कहने पर तो आचार्य पूंछते हैं कि उस संयोग की अन्य अन्तर वाले भिन्न पदार्थों के हुये संयोग की अपेक्षा किस कारण से विशेषता हो रही है ? बताओ। अर्थात् आत्मा का घट से, पुस्तक से, लेखनी से, भी संयोग हो रहा है। ऐसी दशा में प्राण के साथ हुये संयोग में भला किस कारण से विशेषता आ गयी जिस से कि प्राण का व्यपरोपण हो जाने पर प्राणी आत्मा का व्यपरोपण हो सकेगा। इसके उत्तर में यदि नैयायिक यों कहें कि उस प्राण वाले आत्मा के पुण्य, पाप, नामक अदृष्ट विशेष से संयोग की अन्य बहिरंग संयोगों की अपेक्षा विशेषता हो गयी है। यो कहने पर तो जैन उलाहना देंगे कि उस अदृष्ट को भी आत्मा से भिन्न मानने पर किस कारण से प्रतिनियत आत्मा के सम्बन्धीपने करके व्यपदेश होगा अर्थात् नैयायिकों के यहां आत्मा से जैसे प्राण भिन्न पड़े हुये है उसी प्रकार अदृष्ट विशेष भी भिन्न पड़ा हुआ है। अनन्तानन्त व्यापक मानी गयी आत्माओं मे से किसी एक आत्मा का वह अदृष्ट नियत नहीं कहा जा सकता है। यदि वैशेषिक या नैयायिक इसके उत्तर में यो कहे कि उस नियत आत्मा ही में अदृष्ट का समवाय सम्बन्ध हो गया है इस कारण नियत आत्मा का यह नियत अदृष्ट है यों स्वस्वामिसम्बन्ध का व्यपदेश हो जायगा। इस प्रकार कहने पर तो हम जैन कटाक्ष करेंगे कि जब समवाय व्यापक और एक माना गया है तो सम्पूर्ण ही आत्माओं में किस कारण से उस अदृष्ट का समवाय नहीं हो जाता है ? बताओ। इसके उत्तर में वैशेषिक यदि यों कहे कि प्रतिनियत हो रही एक आत्मा में ही धर्म और अधर्म

के सुख, दुःख आदि फलों का अनुभव होता है इस कारण उस एक ही आत्मा में अदृष्ट का समवाय संबन्ध हो सकेगा। सम्पूर्ण आत्माओं में अदृष्ट नहीं समवेत होगा। यों वैशेषिकों के कहने पर तो पुनः हम जैन उपालंभ देंगे कि वह धर्म अधर्मों के फल का अनुभवन ही भला क्यों नहीं सम्पूर्ण आत्मा में हो जाता है ? फूल की फैली हुई सुगन्ध को सभी निकटवर्त्ती पुरुष सूंघ लेते हैं जब कि अनेक आत्मायें एक स्थान पर डट रही हैं। सभी आत्माओं से अदृष्ट और उसका फलानुभवन सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ है तो एक ही आत्मा उस अदृष्ट सुख दुःख फल का अधिपति नहीं हो सकता है। इस पर वैशेषिक यदि यों समाधान करें कि सम्पूर्ण आत्माओं के शरीरों में अदृष्ट के फल का अनुभव नहीं हुआ है। एक ही आत्मा के शरीर में सुख दुःख अनुभवा गया है अतः एक ही नियत आत्मा में धर्माधर्म फलानुभव, एवं अनुभव नियामक समवाय, और समवाय के वश हो रहा नियत अदृष्ट तथा अदृष्ट हेतुक नियत प्राणों का संयोग बन जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कह सकते हो क्योंकि आधारभूत नींव हो रहे अन्तिम हेतु के बिगड़ जाने से आपका बना बनाया सम्पूर्ण प्रासाद गिर जाता है। शरीर भी सभी आत्माओं से भिन्न पड़ा हुआ है अतः प्रतिनियत एक ही आत्मा के स्वभावों से सम्पादित होनापन प्रकृत शरीर के भी नहीं बन पाता है। क्योंकि वह शरीर भी सम्पूर्ण आत्माओं का साधारण है। साधारण वस्तु पर सम्पूर्ण आत्माओं का समानरूप से अधिकार है अतः शरीर का नियतपना (प्रकृत आत्माधिकृतत्व) नहीं होने से सुख दुःखानुभवन नियत नहीं हो सका। फलानुभव के नियत हुये बिना उसी एक आत्मा में अदृष्ट का समवाय नियत नहीं हो सका और नियत समवाय नहीं होने से अदृष्ट विशेष नियमित नहीं हो सका जो कि प्राण और प्राणी के संयोग विशेष का नियामक होता। अन्तिम नींव को सुधारने के लिये वैशेषिक यदि यों कहें कि जिस आत्मा के अदृष्ट विशेष करके जो शरीर बनाया गया है वह शरीर उसी आत्मा का होगा अन्य पड़ौसी आत्मा का नहीं। यों कहने पर तो आचार्य उलाहना देते हैं कि तब तो भेदवादियों के ऊपर उपालंभमाला आपड़ती है। शरीर के नियामक अदृष्ट को भी उस आत्मा से भिन्न होने का ही एकान्त मानने पर भला किस कारण से उस अदृष्ट का प्रतिनियत आत्मा के सम्बन्धीपने करके षष्ठी विभक्तिवाला व्यवहार होगा ? बताओ। यों वहका वही पर्यनुयोग यानी समाधान आक्षेपों का प्रवर्त्तन चालू रहेगा। वैशेषिक ने अन्तिम नियामक अदृष्ट माना है। प्रारम्भ में भी अदृष्ट विशेष से संयोग विशेष की व्यवस्था करी थी किंतु अदृष्ट भी आत्मा से भिन्न ही माना गया है अतः वह अदृष्ट इस आत्मा का है ऐसा नियम कौन करे ? तब समवाय से नियम करोगे तो उस भिन्न पड़े हुये समवाय का नियम कौन करे ? कि इसी आत्मा में उस अदृष्ट का यह समवाय है। यदि फलानुभवन से समवाय को नियत किया जायगा तो सम्पूर्ण आत्माओं को टालकर एक ही प्रकृत आत्मा में उस भिन्न पड़े हुये फलानुभवन के स्वामिसंबन्ध को प्रतिनियति कौन करे ? प्रतिनियत शरीर में फलानुभवन के होने से अनुभव का नियम किया जायगा तो आत्माओं से सर्वथा भिन्न पड़े शरीर का ही नियतपना कौन करे ? भेदवादियों के यहाँ बड़ी कठिनता आ पड़ती है। यदि जिस आत्मा के अदृष्ट से शरीर बनाया गया है वह शरीर उस आत्मा का यो प्रतिनियत व्यवस्था करोगे तो फिर अदृष्ट विशेष के ऊपर प्रश्न उठता है कि भिन्न पड़े हुये उस अदृष्ट को ही सभी आत्मायें क्यों नहीं हड़प लेंगीं। इसके लिये फिर वही समाधान और आक्षेप चलते रहेंगे कोई संतोषजनक उत्तर वैशेषिकों की ओर से नहीं हो सकता है। एक बात यह भी है कि यों करते करते वैशेषिकों के ऊपर चक्रक दोष आता है। प्राणों और प्राणी का संयोग विशेष हो जाने में सब से पहिले अदृष्ट विशेष को हेतु कहा, उसका नियामक समवाय कहा, समवाय का नियामक फलानुभवन कहा, फलानुभवन का नियामक प्रतिनियत शरीर में होना कहा, शरीर का नियामक पुनः अदृष्ट विशेष कहा, और अदृष्ट विशेष का नियामक समवाय कहा इत्यादि रूप से चक्कर बंध जाता है। कारक

पक्ष या ज्ञापक पक्ष का चक्रक गर्भित अनवस्था दोष किसी भी कार्य को नहीं होने देता है। पदार्थ समझने भी नहीं देता है। तदपेक्षापेक्ष्यपेक्षितत्वनिबंधनोऽनिष्टप्रसंगश्चक्रकम्।

ततः सुदूरमपि गत्वा यत्रात्मनि भावादृष्टं कथंचित्तादात्म्येन स्थितं तस्य तत्कृतं द्रव्यादृष्टं पौद्गलिकं कर्म व्यपदिश्यते। तत्कृतं च शरीरं प्राणात्मकं तद्व्यपदेशमर्हति पुत्रकलत्रादिवदेवेति स्याद्वादिनामेव प्राणव्यपरोपणे प्राणिनो व्यपरोपणं दुःखोत्पत्तेर्युक्तं न पुनरेकान्तवादिनां योगानां सांख्यादिवत्।

तिस कारण अनेकांतवाद में ही प्राणों या उनके संयोगविशेष, अदृष्ट विशेष एवं शरीर आदि की सिद्धि समुचित बनती है। नैयायिकों को बहुत दूर भी जाकर कथंचित् तादात्म्य की ही शरण लेनी पड़ेगी। अन्यथा चक्रक ग्रह या अनवस्था पिशाची से नैयायिक अपना पिंड नहीं छुड़ा सकते हैं। जिस आत्मा में मिथ्यादर्शन, अविरति, क्रोध, प्रदोष आदिक आत्मपरिणति स्वरूप भाव, पुण्य, पाप कथंचित्-तदात्मकपने करके स्थित हो रहे हैं उस आत्मा के उस भाव अदृष्ट से किये गये द्रव्य अदृष्ट स्वरूप. पुद्गलोपादेय अष्टविध कर्म का स्वस्वामी व्यवहार कर दिया जाता है। तथा उपादान कारण पुद्गल से बनाये गये उस अष्टविध कर्म स्वरूप द्रव्यादृष्ट करके प्राणस्वरूप शरीर किया जाता है। जो कि उसी नियत आत्मा का शरीर है इस प्रकार षष्ठी विभक्ति अनुसार व्यवहार करने के योग्य है जैसे कि अपने पुण्य पाप अनुसार प्राप्त हुये पुत्र, स्त्री, भ्राता आदिक उस उस आत्मा के कह दिये जाते हैं। भावार्थ-भेदवादी नैयायिकों के यहाँ चक्रक दोष आता है किंतु मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि भाव अदृष्टों के साथ आत्मा का कथंचित् तादात्म्य संबंध मानने पर कोई दोष नहीं आता है जिस आत्मा का भाव अदृष्ट है उस अदृष्ट को निमित्त पाकर संचित हुआ ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक द्रव्यादृष्ट भी उसी आत्मा का कहा जावेगा और उस द्रव्यादृष्ट के उदय अनुसार बन गया शरीर प्राण, भी उसी आत्मा का समझा जायगा, पुत्र, स्त्री, आदिक भी नियत आत्मा के तभी व्यवहृत होते हैं जब कि उन पुत्रादिकों के संपादक द्रव्यादृष्ट के भी संपादक हो रहे भावादृष्ट का उस नियत आत्मा के साथ कथंचित् तादात्म्य संबंध बन रहा है आत्मा के साथ संबंध रहे पौद्गलिक द्रव्यादृष्ट का भी कथंचित् तादात्म्य हो सकता है इस तत्त्व का निर्णय "प्रमेयकमलमार्तण्ड" में समझ लिया जाता है। इस प्रकार स्याद्वादियों के यहाँ ही प्राणों का वियोग कर देने पर प्राणी आत्मा का व्यपरोपण हो जाना आत्मा को दुःख की उत्पत्ति होने से समुचित बन जाता है किंतु फिर एकांतवादी हो रहे यौग यानी नैयायिकों के यहाँ शरीरधारी आत्मा का व्यपरोपण नहीं हो सकता है जैसे कि सांख्य, बौद्ध आदि पण्डितों के यहां शरीरी का व्यपरोपण नहीं हो सकता है। यद्यपि योग दर्शन पतंजलि का बनाया हुआ न्यारा है फिर भी क्वचित् नैयायिकों को यौग कह देते हैं। नैयायिक या वैशेषिकों के यहां शरीर, प्राणवायु, या दुःख को आत्मा से सर्वथा भिन्न मान रक्खा है। सांख्यों ने प्राकृतिक प्राणों को शुद्ध उदासीन आत्मा से भिन्न अभीष्ट किया है। बौद्धों के यहां तो आत्म-

तत्त्व ही नहीं बनता है ।। पांच इन्द्रियें, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन दश द्रव्यप्राणों का आत्मा से विशेष नियत सम्बन्ध हो रहा है। चैतन्य, सुख, सत्ता इन भाव प्राणों का तो आत्मा के साथ तादात्म्य संबन्ध ही है अतः प्राणों का व्यपरोपण होने पर नियत प्राणी के दुःख उपजने से प्राणी का व्यपरोपण हुआ सिद्ध हो जाता है।

ननु प्रमत्तयोग एव हिंसा तदभावे संयतात्मनो यतेः प्राणव्यपरोपणेऽपि हिंसानिष्टेरिति कश्चित् । प्राणव्यपरोपणमेव हिंसा प्रमत्तयोगाभावे तद्विधाने प्रायश्चित्तोपदेशात्, ततस्तदुभयोपादानं सूत्रे किमर्थमित्यपरः । अत्रोच्यते ।

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि "प्रमत्तयोगो हिंसा" प्रमत्त जीव का योग ही हिंसा है इतना ही हिंसा का लक्षण किया जाय संयमी आत्मा हो रहे मुनिराज के दूसरे क्षुद्र जीवों के प्राणों का व्यपरोपण होते हुये भी यदि उस प्रमत्त योग का अभाव है तो हिंसा होना इष्ट नहीं किया गया है "मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स" यत्नाचारी, समितिधारी मुनि के मात्र हिंसा हो जाने से ही पापबन्ध नहीं हो जाता है "उच्चालिदंमि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे। आबादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज" "णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमोपि देसिदो समये, मुच्छा परिग्गहोत्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो" इस प्रकार कोई आक्षेपकर्ता कह रहा है। साथ ही एक दूसरा पण्डित भी यों अवधारण कर रहा है कि "प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इतना ही लघुसूत्र बनाया जाय प्राणों का व्यपरोपण कर देना ही हिंसा है। प्रमत्तयोग का पुँछल्ला नहीं लगाया जाय क्योंकि प्रमत्तयोग का अभाव होते हुये भी उस प्राणव्यपरोपण के करने पर प्रायश्चित्त करने का उपदेश दिया गया है मुनि या श्रावक से बिना जाने या बिना प्रमाद योग के यदि जीवों का वध हो जाता है तो उन को प्रायश्चित्त करना पड़ता है। श्रावक ने किसी गृह का ताला लगा दिया और भूल से उसमें बिल्ली रह गयी तो बिल्ली को दुःख पहुचाने की क्रिया का प्रायश्चित्त श्रावक को लेना चाहिये। बिना जाने बर्तन में पानी रक्खा रहा उसमें जीव जन्तु उत्पन्न हो गये, मर गये या अन्य जीव ऊपर से पड़ गये इसका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। शास्त्र का अध्ययन करने बैठे उसी समय शारीरिक बाधा या अन्य आवश्यक कारण उपस्थित हो जाने पर एक मिनट के लिये उठ गये पश्चात् वायु का झकोरा आजाने पर लिखित जिनागम के पत्र इधर उधर उड़ गये तो भी इस अविनय का रसत्याग, कायोत्सर्ग आदि यथायोग्य प्रायश्चित्त लेना पड़ता है अथवा नहीं भी उठे तो भी अन्यमनस्क अवस्था में पत्रों के अस्त व्यस्त हो जाने पर अविनय हेतुक प्रायश्चित्त करना पड़ता है तभी तो प्रतिक्रमण में ज्ञात, अज्ञात, प्रमाद, अप्रमाद अवस्था के लगे हुये सभी दोषों का प्रत्याख्यान या मिथ्यात्वापादन किया जाता है। "पडिक्कमामि भंते इरिया वहियाये बिराहणाये अणागुत्ते अइग्गमणे णिग्गमणे ठाणे गमणे चक्कमणे पाणुग्गमणे बीज्जुग्गमणे हरिदुग्गमणे उच्चारपस्सवणखेलसिंघाणयवियडियपिट्ठावणाये जे जीवा एइंदिया वा बेइन्दिया वा तेइन्दिया वा चउरिन्दिया वा पंचेन्दिया वा णोल्लिदा वा पिल्लिदा वा संघट्टिदा वा संघादिदा वा ओद्दाविदा वा परिदाविदा वा करिच्छिदा वा लेस्सिदा वा छिंदिदा वा भिंदिदा वा ठाणुदो वा ठाणचंकम्मणदो वा तस्स-उत्तरगुणं तस्स पायच्छित्तकरणं तस्स विसोहिकरणं जाव अरहंताणं भय मंताणं णमोकारं करेमि तावकायं पावकम्मे दुच्चरियं वोस्सरामि ॐ णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं इच्छामि भंत्ते ईरियावहमालोचेडं पुव्वुत्तरदक्खिण पच्छिम चउदिसु विदिसासु विहरमाणेण जुगुत्तरदिट्ठिणा दट्ठव्वा डवडवचरियाये पमाददोसेण पाणभूदजीवसत्ताणं एदेसिं उपघातो

कदो वा कारिदो वा किरंतो वा समणुमणदो वा तस्स मिच्छाये दुक्कडं" यहाँ ज्ञात, अज्ञात, प्रमाद, अप्रमाद सभी दोषों का प्रायश्चित्त किया है। अतः अकेला प्राणव्यपरोपण ही हिंसा कह दिया जाओ। तिस कारण हम चोद्य करते है कि सूत्रकार ने उन प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण दोनों का ग्रहण सूत्र में किसलिये किया है ? बताओ "सूत्रं हि तन्नाम यतो न लघीयः" यहां तक कोई दूसरा कह रहा है। ऐसा शास्त्रार्थ निर्णय का अवसर उपस्थित होने पर ग्रन्थकार द्वारा यहाँ समाधान कहा जाता है कि—

उभयविशेषोपादानमन्यतराभावे हिंसा भावज्ञापनार्थं। हिंसा हि द्वेधा भावतो द्रव्यतश्च। तत्र भावतो हिंसा प्रमत्तयोगः सन् केवलस्तत्र भावप्राणव्यपरोपणस्यावश्यंभावित्वात्। ततः प्रमत्तस्यात्मनः स्वात्मघातित्वात् रागाद्युत्पत्तेरेव हिंसात्वेन समये प्रतिवर्णनात्। द्रव्यहिंसा तु परद्रव्यप्राणव्यपरोपणं स्वात्मनो वा तद्विधायिनः प्रायश्चित्तोपदेशो भावप्राणव्यपरोपणाभावात् प्रमत्तयोगः स्यात् तर्हि तत्पूर्वकस्य यतेरप्यवश्यंभावात्। ततः प्रमत्तयोगः प्राणव्यपरोपणं च हिंसेति ज्ञापनार्थं तदुभयोपादानं कृतं सूत्रे युक्तमेव।

प्रमत्तयोगात् और प्राणव्यपरोपण इन दोनों विशेषों का ग्रहण करना तो दोनों से एक का भी अभाव हो जाने पर हिंसा के अभाव का ज्ञापन करने के लिये है अर्थात् न केवल प्रमादयोग ही हिंसा है और इकल्ला प्राणव्यपरोपण भी हिंसा नहीं है किंतु जहाँ प्रमाद के योग से प्राणव्यपरोपण हुआ है वह हिंसा है इस तत्त्व को समझाने के लिये दोनों पद कहे गये हैं। देखिये हिंसा दो प्रकार की है एक तो स्व या पर के क्षमा, वीतरागता आदि भावों की हत्या हो जाने से हिंसा होती है। दूसरी स्व या पर के द्रव्य-प्राणों का वियोग कर देने पर जो होती है वह द्रव्य से हिंसा मानी गयी है। भावहिंसा और द्रव्य हिंसा ये भेद जैन सिद्धान्त में ही सुघटित हो रहे हैं। उनमें पहिली भाव से हिंसा तो केवल प्रमत्त जीव के योग का सद्भाव है क्यों कि उस प्रमाद योग में अपने भाव प्राणों का व्यपरोपण होना अवश्यंभावी है तिस कारण कि प्रमादी जीव अपनी आत्मा का घातक है। पन्द्रह प्रमादों में से किसी भी प्रमाद के उपजते ही आत्मा के चैतन्य, तत्त्वज्ञान, अहिंसा आदि भावों का घात हो जाता है कारण कि प्राचीन शास्त्र में राग, द्वेष आदि की उत्पत्ति को हिंसारूप से आम्नाय अनुसार वर्णन किया गया है। अर्थात् "स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्, पूर्वं प्राण्यंतराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः" "अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ! तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।" हाँ द्रव्य हिंसा तो पराये द्रव्य-प्राणों का वियोग करना अथवा अपनी आत्मा के द्रव्य प्राणों का वियोग करना है। उस भाव प्राण के व्यपरोपण का करने वाले जीव को प्रायश्चित्त ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है। अपने अज्ञान से भी कभी-कभी किवाड़ों को लगाते खोलते, समय अथवा भूल से जल, मिष्टान्न, आदि में जीवों का वध हो जाता है वहाँ भी प्रमाद योग है। कभी ज्ञात भावों की अपेक्षा अज्ञात भावों से पापबंध अधिक हो जाता है अज्ञान भी विशेष अपराध है। एक प्रकार के अज्ञान को मिथ्यात्वों में गिनाया गया है। सम्यग्दृष्टि जीव वैषयिक सुखों को हेय जानता हुआ भी सेवता है। ज्ञातभाव होने पर भी इसके पापबंध अल्प होता है और मिथ्याज्ञानी तथा अज्ञानी जीव के विषय सेवन से तीव्र पापबंध होता है। किसी पक्ष का एकान्त पकड़े रहना ठीक नहीं कि ज्ञातभावों से ही पापों में तीव्र अनुभागबन्ध पड़ता है। प्रकरण में यों कहना है कि भावप्राणों का वियोगकरण नहीं होने से उस हिंसा का या प्रायश्चित्त लेने का असंभव है। यदि मुनि के प्रमत्तयोग होगा तब तो प्रमत्तपूर्वक यति के भी हिंसा अवश्य हो जायगी। तिस कारण

प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण ये दोनों होंयगे तभी हिंसा है इस बात को समझाने के लिये उक्त सूत्र में उन प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण दोनों पदों का ग्रहण किया गया समुचित ही है। कहीं-कहीं सम्यग्दृष्टि के भी बंध नहीं होना लिखा है वह भी तीव्र अनुभाव बंध की अपेक्षा से है। अविरति, प्रमाद, कषायों अनुसार सम्यग्दृष्टि के भी पाप प्रकृतियों का मन्द अनुभाग को लिये हुये बंध हो ही जाता है और पुण्य-प्रकृतियों के तो बन्ध होते ही है "सम्मेव तित्थबंधो प्रमादरहिदेसु" तीर्थंकर और आहारद्विक बंध तो सम्यग्दृष्टि के ही होता है। मुख लार, मसूड़े, दाँतों आदि में त्रसजीवों की संभावना है। किसी-किसी दाँतों में रक्त निकलता रहता है, बुरी दुर्गंध आती है, पाइरिया रोग हो जाता है, सूक्ष्मवीक्षकयंत्र द्वारा वे त्रस जीव देख लिये भी जाते हैं फिर भी अशक्यानुष्ठान होने से खाने पीने का त्याग नहीं करा दिया जाता है। छन्ने से छान लेने पर भी जल में यदि त्रस जीव रह जाते है तो यहाँ भी आचारशास्त्र की आज्ञा या अशक्यानुष्ठान का सहारा लिया जाता है। करणानुयोग, द्रव्यानुयोग के शास्त्रों अनुसार विचारने पर अशक्यानुष्ठान कोई कर्मबंध से छूट जाने का बहाना नहीं प्रतीत होता है। उन सावद्य क्रियाओं से पाप का बंध अवश्य होता है। तथा जिनागमानुकूल प्रवृत्ति करने वालों के कषायों की अतिमन्दता हो जाने से उसमें रस मंद पड़ेगा। दशमे गुणस्थान तक पापों का बंध होता रहता है। हाँ चरणानुयोग अनुसार अशक्यानुष्ठान विचारा मात्र इतना सहारा दे सकता है जिससे कि अशुद्ध अन्न, जल, के खाने पीने का परित्याग कर व्यर्थ की आत्महिंसा करने से जीव बचे रहें, बारहवे गुणस्थान तक इस मानुष शरीर में बादर निगोद और अनेक त्रस जीव उपजते, मरते, रहते हैं, मल, मूत्र, मांस, रक्त आदि में प्रति अन्तर्मुहूर्त्त जीवों के जन्म मरण की धारा लग रही है। चाहे मुनि होंय अथवा सामान्य मनुष्य हो उसके बैठते उठते, बात चीत करते, खाते, पीते, श्वास छोड़ते, शरीर की उष्णाता निकालते आदि क्रियाओं में जीवों का वध हो जाना अनिवार्य है, थाड़ा भी शास्त्र को जानने वाले ज्ञानी से यह बात छिपी नहीं है अतः जैन सिद्धान्त अनुसार वास्तविक जो कोई भी हिंसा हो सकती है उसको ओर लक्ष्य रखते हुये ग्रन्थकार ने इस सूत्र का तात्पर्य कह दिया है।

येषां तु न कश्चिदात्मा विद्यते क्षणिकचित्तमात्रप्रतिज्ञानात् पृथिव्यादिभूतचतुष्टयप्रतिज्ञानाद्वा तेषां प्राण्यभावे प्राणाभावः कर्तुरभावात्, नहि चित्तलक्षणः प्राणानां कर्त्ता तस्य निरन्वयस्यार्थक्रियाहेतुत्वनिराकरणात्। नापि कायाकारपरिणतो भूतसंघातो मृतशरीरस्यापि तत्कर्तृत्वप्रसंगात्। ततो जीवच्छरीरस्यात्माधिष्ठितत्वमन्तरेण विशेषाव्यस्थानसाधनात् जीवति प्राणिनि प्राणसंभवात् तद्वयपरोपणं प्रमत्तयोगात् स्याद्वादिनामेव हिंसेत्यावेदयति—

जिन बौद्ध पण्डित या चार्वाक पण्डितों के यहाँ कोई आत्मतत्त्व विद्यमान ही नहीं क्योंकि बौद्ध तो क्षणमात्रस्थायी केवल विज्ञानात्मक चित्त को ही प्रतिज्ञापूर्वक मान रहे है और चार्वाको ने पृथिवी, जल, आदि चारों भूतों के समुदाय की प्रतिज्ञा कर रखी है इन दोनों के मत में स्वतंत्र आत्मतत्त्व कोई नहीं माना गया है। इन बौद्ध या चार्वाकों के यहाँ तो प्राणी आत्मा का अभाव हो जाने पर प्राणों का अभाव है क्योंकि कोई कर्त्ता ही नहीं है न प्राणों का व्यपरोपण है और प्राणी का भी व्यपरोपण नहीं बनता है। देखिये बौद्धों के यहाँ माना गया चित्तस्वरूप विज्ञान तो प्राणों का कर्ता नहीं हो सकता है क्योंकि उस निरन्वय नष्ट हो रहे क्षणिक चित्त को अर्थ क्रिया के कारणपन का निराकरण कर दिया गया है जो पदार्थ कुछ देर तक ठहरें वे तो अर्थ क्रिया को कर सकते हैं। द्वितीय क्षण में ही मर गया क्षणिक पदार्थ किसी अर्थक्रिया को नहीं कर सकता है। प्रदीपकलिका, बबूला, बिजली, ये पदार्थ भी सैकड़ों क्षण

तक ठहर रहे संते स्थूल प्रकाशादि कार्यों को करते हैं। अतः बौद्धों के यहाँ माना गया चित्त प्राणों का अधिष्ठायक कर्ता प्राणी नहीं हो सकता है। तथा आकृति से परिणत हुआ भूत यानी पृथिवी, जल, तेज, वायुओं का संघात भी प्राणों का कर्ता नहीं है। क्योंकि यों तो मरे हुये शरीर को भी उन प्राणों के कर्तापन का प्रसंग आजावेगा जो कि चार्वाकों को इष्ट नही है तिस कारण स्याद्वादी विद्वानो के यहां ही हिंसा होना ठीक बनता है। जीवित शरीर की आत्मा करके अधिष्ठित हो रहेपन के सिवाय अन्य कोई विशेष व्यवस्था नही है इस बात को साधा जा चुका है। अर्थात् अधिष्ठायक कर्ता आत्मा कर के जीवित शरीर अधिष्ठित हो रहा है। जीवित हो रहे प्राणी में द्रव्यप्राण या भावप्राण संभवते है अतः उन प्राणों का प्रमादयोग से वियोग करना हिंसा है। यों परिणामी आत्मतत्त्व और उसके अधिष्ठित हो रहे शरीर आदि द्रव्य प्राणो तथा तत्त्वज्ञान आदि भाव प्राणों को मानने वाले स्याद्वादियों के यहाँ ही हिंसा होने की विवेचना ठीक हो सकती है। हिंस्य,हिंसक, हिंसा और हिंसाफल की आलोचना किये बिना हिंसा का परित्याग नहीं हो सकता है कारण कि अन्य दर्शनों में हिंसा तत्त्व ही सुघटित नही हो सका है, स्याद्वादियों का अभिप्रेत यह सूत्रोक्त हिंसा का लक्षण सुव्यवस्थित है इसी बात का ग्रन्थकार वार्त्तिक द्वारा निवेदन करे देते है।

हिंसात्र प्राणिनां प्राणव्यपरोपणमुदीरिता।
प्रमत्तयोगतो नातो मुनेः संयतनात्मनः ॥१॥

प्रमाद के योग से प्राणी आत्माओं के प्राणों का वियोग कर देना इस सूत्र में हिंसा कही गयी है इस कारण संयम पालन करना जिनका आत्मस्वरूप हो रहा है ऐसे मुनि के वह हिंसा नहीं लग सकती है। मुनि महाराज के रागादिक भी नहीं हैं और प्राणों का व्यपरोपण भी नहीं है अतः हिंसा नहीं लग कर अहिंसा महाव्रत पलता रहता है।

रागादीनामनुत्पादान्न हिंसा स्वस्मिन् परत्र वास्तु न हिंसक इति सिद्धान्ते देशना, तस्य क्वचिदपि भावद्रव्यप्राणव्यपरोपणाभावात् तद्भाव एव हिंसकत्वव्यवस्थितेः रागादीनामुत्पत्तिर्हिंसेति वचनात् ॥

सिद्धान्त शास्त्रों में सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार ऐसी देशना मिलती है कि स्वमें अथवा पर में रागादिकों का उत्पाद नहीं होने से हिंसा नहीं हो पाती है ऐसी व्यवस्था रही अतः वह हिंसक नहीं हो पाता है अथवा इस वाक्य का अर्थ यों कर लिया जाय कि समाधिमरण कर रहा जीव शरीर को त्यक्त करता है यहां अन्न जल निरोध, औषधि त्याग प्रक्रिया से भले ही स्वशरीर की हिंसा हो रही है। रत्नत्रय की रक्षा का लक्ष्य रखने वाले को अशुद्ध, अधर्म्य, उपायों से शरीर रक्षा करना अभिप्रेत नहीं है। रत्नों का पिटारा भले ही नष्ट हो जाय रत्न नहीं नष्ट होने चाहिये यों समाधिमरणार्थी जीव अपने में रागादिकों की उत्पत्ति नही करने से हिंसक नहीं माना जाता है, "न चात्मघातोऽस्ति वृषक्षतौ वपुरुपेक्षितुः। कषायावेशतः प्राणान् विपाद्यैर्हिंसतः स हि" तथा ईर्यासमिति पूर्वक गमन कर रहे मुनि के पाँवों के नीचे क्षुद्र जीव आ पड़े और मर जाय तो हिंसा नहीं है। कभी कभी वैद्य या डाक्टर के हाथों से औषधि प्रयोग या चीर, फाड़, करते हुये रोगी मर जाता है किंतु रागादिकों की उत्पत्ति न होने से वह हिंसक नहीं समझा जाता है। रागादिका उत्पाद नही होने से उस संयमी मुनि के द्वारा कहीं भी भावप्राण या द्रव्यप्राणों का व्यपरोपण नहीं हो सकता है। उस द्रव्य प्राण और भाव प्राण के व्यपरोपण का सद्भाव होने पर ही

हिंसकपना व्यवस्थित हो रहा है क्योंकि रागद्वेष आदिकों की उत्पत्ति ही हिंसा है ऐसा शास्त्रकारों का वचन है। "रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तेति भासिया समये, तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेदि जिणेहि णिद्दिट्ठा।" यहाँ तक हिंसा के लक्षणघटकावयव पदों का साफल्य दिखाते हुये स्याद्वाद सिद्धान्त में ही प्राणप्राणियों का वियोग किया जाना साध दिया गया है।

किं पुनरनृतमित्याह—

हिंसा का लक्षण निर्णीत किया उसके अनन्तर कहे गये अनृत यानी झूँठ का लक्षण फिर क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते है।

असदभिधानमनृतम् ॥१४॥

सूत्र का अर्थ यह है कि असत यानी अप्रशस्त वाच्यार्थों का निरूपण करना तो अनृत अर्थात् झूँठ है। भावार्थ–अशोभन या स्वपर पीड़ा को करने वाले अथवा काणे को चिढ़ाते हुये काणा कहना, दिवालिये को दुःखित करने के लिये दिवालिया घोषित करना ये सब झूँठ हैं। प्रमादयोग का सर्वत्र संबन्ध लगा हुआ है अतः हितशिक्षक, गुरु, माता, पिता, या राजा के अशोभन वचनो में यदि प्रमादयोग नहीं है तो वे असत्यभाषी नहीं कहे जा सकते है।

असदिति निर्ज्ञातसत्प्रतिषेधेनार्थसंप्रत्ययप्रसंग इति कश्चित् । न वा सच्छब्दस्य प्रशंसार्थवाचित्वात् तत्प्रतिषेधे अप्रशस्तार्थगतिरित्यन्वयः। तदिह हिंसादिकमसदभिप्रेतं । अभिधानशब्दः करणाधिकरणसाधनः, ऋत च तत्सत्यार्थे तत्प्रतिषेधादनृतं। तेनेदमुक्तं भवति प्रमत्तयोगादसदभिधानं यत्तदनृतमिति ।

यहाँ कोई आपेक्ष करता है कि इस सूत्र के उद्देश्यदल में असतशब्द पड़ा हुआ है। प्रसज्य नञ अनुसार नही जो सत् वह असत् है यों सम्पूर्ण ज्ञात हो रहे सत पदार्थों का प्रतिषेध करने पर असत् शब्द करके खर विषाण आदि सर्वथा असत् हो रहे अनर्थो की प्रतीति हो जाने का अच्छा प्रसंग बन बैठेगा। ऐसी दशा में शून्यवाद का निरूपण यानी जगत् में कुछ नहीं है "सर्वशून्यं शून्यं" आदिक वचन ही झूंठ हो सकेंगे। यहां तक कोई कह रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह अनर्थ प्रत्यय हो जाने के प्रसंग का दोष हमारे यहां नही आता है। क्योंकि इस सूत्र में प्रशंसा अर्थ के वाचक सत् शब्द को कहा गया है। उस प्रशस्त सत् का पर्युदास नञ् अनुसार प्रतिषेधक करने पर अप्रशस्त अर्थ की ज्ञप्ति हो जाती है इस कारण अप्रशस्त अर्थ का कथन करना अनृत है यों अन्वय कर दिया जाता है। तिस कारण यहां हिंसा, चोर, आदिक पदार्थ असत् हुये अभिप्रेत किये गये हैं। सूत्र में पड़े हुये अभिधान शब्द की करण और अधिकरण में सिद्धि कर ली जाय जिस करके कथन किया जाय अथवा जिस में निरूपण किया जाय वह अभिधान है। भाव में भी युट् किया जा सकता है। तथा ऋत जो पद है वह सत्य अर्थ में देखा गया है उस सत्यार्थ का प्रतिषेध करने से अनृत शब्द बना लिया जाय, तिस कारण उक्त सूत्र से यह तात्पर्य कह दिया जाता है कि प्रमत्तजीव के योग से जो अप्रशस्त कथन किया गया है वह अनृत है। यहाँ तक सूत्र का अर्थ कह दिया गया है॥

मिथ्यानृतमित्यस्तु लघुत्वादिति चेन्न, विपरीतार्थमात्रसंप्रत्ययप्रसंगात् । न च विपरीतार्थमात्रमनृतमिष्यते सर्वथैकांतविपरीतस्यानेकात्मनोऽर्थस्यानृतत्वप्रसंगात् । एतेन मिथ्याभिधानमनृतमित्यपि निराकृतमतिव्यापित्वात् । यदि पुनरसदेव मिथ्येति व्याख्यानमाश्रीयते तदा यथावस्थितमस्तु प्रतिपत्तिगौरवानवतरणात् ॥ तदेवं—

यहां कोई कटाक्ष कर रहा है कि "मिथ्या अनृतं" मिथ्याभाषण करना झूंठ नाम का पाप है इतना ही सूत्र बनाया जाओ क्योंकि इसमें अर्थकृत और परिमाणकृत लाघव गुण है। जहां तक होय सूत्र छोटा ही होना चाहिये, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि यों तो केवल विपरीत अर्थ की ही समीचीन प्रतीति हो जाने का प्रसंग आजायेगा किन्तु केवल विपरीत अर्थ को ही झूंठ बोलना नहीं इष्ट किया गया है कारण कि अतिव्याप्ति दोष आजावेगा। देखिये सर्वथा एकांतों से विपरीत हो रहे अनेकांत आत्मक अर्थ को भी अनृतपने का प्रसंग आता है जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात् क्वचित् परोपकार, हितोपदेश, अहिंसा, को पुष्ट कर रहा मिथ्यावाद भी सत्य समझा जाता है। कदाचित् नित्यैकांतवादी कदाग्रही वादी अनेकांत पर झुकाने के लिये अनित्यैकांत पक्ष को पुष्ट करना पड़ता है। सर्वदा पढ़ने में ही शारीरिक और मानसिक योगों का व्यय कर रहे विद्यार्थी के लिये खेलना, विश्राम लेना, विनोद करना आदि का विपरीत उपदेश भी दिया जाता है। अतः मिथ्या या विपरीत कथन सर्वथा झूंठ नहीं कहा जा सकता है। इस उक्त कथन करके मिथ्या भाषणं करना अनृत है इस मन्तव्य का भी निराकरण कर दिया गया है क्योंकि इसमे अतिव्याप्ति दोष आता है। क्वचित् सत्य में भी मिथ्या कथन पाया जाता है, जनपदसत्य, सम्मतिसत्य आदि दस प्रकार के सत्यों में क्वचित् मिथ्याभिधान देखा जाता है अतः अलक्ष्य मे लक्षण के चले जाने से "मिथ्याभिधानं" यह अनृत का लक्षण करना अतिव्याप्ति दोषग्रस्त है। यदि फिर मिथ्याशब्द का प्रसिद्ध अर्थ छोड़ते हुये पारिभाषिक अर्थ कर यों व्याख्यान करने का आश्रय लिया जायगा कि अप्रशस्त ही मिथ्या कहा जाता है। तब तो जिस प्रकार आम्नाय अनुसार सूत्रकार महाराज ने कहा है वही तदवस्थ रहा आओ ऐसा करनें से प्रतिपत्ति में गौरव हो जाने का अवतार नहीं है अर्थात् मिथ्या कह कर उसका सांकेतिक अर्थ असत् यानी अप्रशस्त किया जाय इसकी अपेक्षा तो असत् शब्द का ही प्रथमतः उच्चारण करना बढ़िया है। तिस कारण इस प्रकार होने पर जो व्यवस्था हुई उसको वार्त्तिकों द्वारा सुनिये।

अप्रशस्तमसद्बोध्यमभिधानं यतस्य तत् ।
प्रमत्तस्यानृतं नान्यस्येत्याहुः सत्यवादिनः ॥१॥
तेन स्वपरसंतापकारणं यद्वचोंगिनां ।
यथादृष्टार्थमप्यत्र तदसत्यं विभाव्यते ॥२॥
मिथ्यार्थमपि हिंसानिषेधे वचनं मतं ।
सत्यं तत्सस्तु साधुत्वादहिंसाव्रतशुद्धिदं ॥३॥

असत् शब्द का अर्थ अप्रशस्त समझना चाहिये, प्रमाद युक्त जीव के जो इस अप्रशस्त अर्थ का कथन करना है वह अनृत है अन्य जो प्रमाद रहित है उस अप्रमत्त जीव का अप्रशस्त कथन करना

झूंठ नहीं है। इस प्रकार सत्यवादी ऋषि महाराज कह रहे हैं तिस कारण यहाँ यों विचार कर लिया जाता है कि प्राणियों का अपने और दूसरों के संताप का कारण हो रहा जो वचन है भले ही वह यथार्थ देखे हुये पदार्थ का निरूपण भी कर रहा है तो भी वह यहाँ असत् विचार लिया जाता है (समझा जायगा)। कोई शिकार खेलने वाला हिंसक यदि यथार्थद्रष्टा पुरुष को पूंछे कि हिरण या शशा किस ओर गया है भले ही उस द्रष्टा पुरुष ने अपनी आँखों से हिरण आदि का पश्चिम दिशा को जाना देख लिया होय तो भी वह सत्यवादी पुरुष यों कह देगा कि इधर पश्चिम दिशा को हिरण नहीं गया है। यहाँ प्रमाद योग नहीं होने से झूंठ बोलना ही सत्य है और सत्य बोलना प्रमाद योग हो जाने से असत्य समझा जायगा। भले ही कोई वचन मिथ्या अर्थ को भी विषय कर रहा होय किंतु हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि के निषेध करने में वह मिथ्या वचन प्रवर्त्त रहा है तो वह सत्य ही माना गया है। कारण कि 'सत्सु साधु सत्यं' यहाँ "तत्र साधुः" इस सूत्र से यत् प्रत्यय कर लिया जाकर सज्जन जीवों मे जो साधु यानी हितस्वरूप कथन पड़े वह सत्य है ऐसा सत्य शब्द व्युत्पन्न किया गया है वहाँ अहिंसा व्रत की शुद्धि को देने वाला है। वस्तुतः व्रत एक अहिंसा ही है उसके परिरक्षक सत्य, अचौर्य आदि हैं। जिस निस्सार सत्य से अहिंसा की हिंसा हो जाय वह असत्य ही है। प्रमादयोग की अनुवृत्ति से इस सूत्र का यह सब अर्थ निकल आता है। विशेष यह कहना है कि साधु अनुग्रह, दुर्जन दण्ड, स्वरूप न्याय की रक्षा के लिये दूसरी प्रतिमा तक यह व्रती निग्रह भी करता है, प्रमाद योग नहीं होने के कारण वे निग्रह कारक वचन सत्यव्रत में दूषण नहीं लगने देंगे, किंतु तीसरी प्रतिमा से ऊपर तो स्वपर संताप का कारण कोई भी वचन होगा वह असत्य ही समझा जायगा ऐसी ग्रन्थकार की आज्ञा है, हजारों लाखों में दो चार ही न्यायाधीश होते हैं, राजा की ओर से यह विभाग भी अहिंसा की ही रक्षा के लिये है किंतु जो संसार से उदासीन हैं अथवा महाव्रती मुनि हैं उनके लिये तो यह निरपवाद देशना है कि यथादृष्ट अर्थ को कह रहा भी वचन यदि स्व और पर के संताप का कारण है वह असत्य ही है और जो मिथ्या अर्थ का कह रहा भी यदि हिंसा आदि के निषेध में प्रवर्त्त रहा है वह वचन सर्वांग सत्य है, कारिका में कहे हुये स्वपद से स्वकीय कषायपुष्टि या इन्द्रिय संबन्धी भोगोपभोगों की अनुकूलता नहीं पकड़ना अन्यथा अत्याचारों की वृद्धि हो जायगी। जीवों को अत्याचारों से नहीं रोका जा सकेगा, सर्वत्र प्रमाद योग का रहस्य मनन करने योग्य है, अलं विचारशीलेभ्यः।

स्तेयं किमित्याह—

अब अनृत के अनंतर कहे गये स्तेय का लक्षण क्या है ? ऐसी तत्त्व जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

अदत्तादानं स्तेयं ॥१५॥

स्व के लिये नहीं दिये जा चुके पदार्थ का ग्रहण कर लेना स्तेय यानी चोरी है, यहां भी प्रमाद, योग की अनुवृत्ति हो रही है अतः देने लेने व्यवहार के योग्य पदार्थ को बिना दिये हुये ही प्रमाद योग से ग्रहण करना चोरी समझा जायगा ॥

सर्वमदत्तमादानस्य स्तेयत्वकल्पनायां कर्मादेयमात्मसात्कुर्वतः स्तेयित्वप्रसंग इति चेन्न, दानादानयोर्यत्रैव प्रवृत्तिनिवृत्ती तत्रैवोपपत्तेः, इच्छामात्रमिति चेन्न, अदत्तादानग्रहणात्। अदत्तस्यादानं स्तेयमित्युक्ते हि दानादानयोर्यत्र प्रवर्तनमस्ति तत्रैव स्तेयव्यवहार इत्यभिहितं भवति।

यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि नहीं दिये गये सभी पदार्थों के ग्रहण को यदि चोरी रूप से कल्पित किया जायगा तो दूसरों करके नहीं दिये गये आठ प्रकार के कर्मों या आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा, तैजसवर्गणास्वरूप नोकर्मों को ग्रहण कर अपने अधीन कर रहे अव्रती, अणुव्रती, महाव्रती, सभी जीवों के चोरी कर लेने सहितपन का प्रसंग आ जावेगा, ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्यों कि जिन ही रुपया, पैसा, वस्त्र, मणि, अन्न आदि में दान और ग्रहण की प्रवृत्ति के व्यवहार सम्भव रहे हैं उन रुपया आदि में ही अदत्त का ग्रहण कर लेने पर चोरी करने की उपपत्ति मानी गयी है। कर्म या नोकर्मों में देने लेने का व्यवहार ही नहीं है अतः अपना कटाक्ष उठा लो, अदत्त और आदान शब्द की शक्तियों पर लक्ष्य रक्खो,रूखे आक्षेपों का फेंकना उचित नहीं है। पुनः कोई विना समझे कुचोद्य उठाता है कि सूत्रकार ने तो यों कहा नहीं है कि जिसमें देना लेना संभव होय वहाँ चोरी है। यह आप टीकाकार केवल अपनी इच्छा से स्वतंत्र व्याख्यान कर रहे है कि किसी का नहीं दिया हुआ देने योग्य तृणमात्र भी नहीं लेना चाहिये। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्योंकि सूत्रकार ने अदत्तादान शब्द का ग्रहण किया है, अदत्त पदार्थ का ग्रहण कर लेना चोरी है, इस प्रकार कह चुकने पर जहाँ ही दान, आदान, की प्रवृत्ति होगी वहाँ ही चोरी का व्यवहार है यों उक्त सूत्र द्वारा तात्पर्य कह दिया गया हो जाता है। दाँत कुरेदने के लिये या पीठ के करप्राप्त्यशक्य स्थान को खुजाने के लिये किसी गृहस्थ को यदि तृण की आवश्यकता है तो वह उसी तृण को बिना दिये हुये ले सकता है जिसको कि सर्व साधारण अपने उपयोग में ला सकते है। अन्यथा प्रमाद योग हो जाने से तृण की चोरी समझी जायगी। मट्टी, जल, या वायु जहाँ नियत हो रही है या माँगकर अथवा मूल्य देकर देने लेने के व्यवहार मे आ रही है वहाँ अदत्त का आदान करने वाला अथवा नियत पुरुष के लिये चल रहे बिजली के पंखे की वायु को हड़पने वाला अपने अचौर्य व्रत की रक्षा नहीं कर सका है। प्रमादयोग ही पापों मे डुबोता है।

तत्कर्मापि किमर्थं कस्मैचिन्न दीयते इति चेन्न, तस्य हस्तादिग्रहणविसर्गासंभवात्। स एव कुत इति चेत्, सूक्ष्मत्वात्। कथं धर्मो मयास्मै दत्त इति व्यवहार इति चेत्, धर्मकारणस्यायतनादेर्दानात् कारणे कार्योपचाराद्धर्मस्य दानसिद्धेः। धर्मानुष्ठानात् मनःकरणात् वा तथा व्यवहारोपपत्तेरनुपालंभः।

तब तो आक्षेप कर्ता पुनः कहता है कि कर्म किसी के लिये भी नहीं दिये जाते हैं यह बात भी क्यों ग्रहण कर ली जावेगी ? लोक में प्रसिद्धि है कि वृक्षों के फल दूसरों के लिये जलसिंचन करके दिये जाते हैं। यह खिड़की हमको वायु दे रही है। ग्रन्थकार कहते है कि यों तो न कहना क्योंकि हाथ, संकल्प, रजिस्टरी करके दे देना आदि व्यापारों से कर्मों का ग्रहण करना या दान करना असम्भव है। जैसे कि रुपया, वस्त्र, गाय, गृह, ग्राम आदि को हाथ आदि करणों करके दूसरों के लिये दे दिया जाता है तिस प्रकार हाथ आदि करके दूसरों के लिये कर्म नहीं दिये जाते है। यदि यहाँ कोई यों पूंछे कि हाथ आदि करके कर्म भी दिये लिये जांय। उन कर्मों के ग्रहण या विसर्ग का वह असंभव ही किस कारण से है ? बताओ। यों कहने पर तो जैनों की ओर से यह उत्तर है कि वे कर्म सूक्ष्म है हाथ आदि करके लेने देने योग्य नहीं है। "पुढवी जलं च छाया चउरिंदिय विसयकम्म परमाणू" इनको "बादर बादरबादर बादरसुहमं च सुहमथूलं च। सुहमं च सुहमसुहमं धरादियं होदि छब्भेयं" माना गया है। कर्म सूक्ष्म होने से हाथों द्वारा पकड़े हो नहीं जाते हैं। यदि यहाँ कोई यों आपत्ति उठावे कि हाथ आदि करके जिसका ग्रहण या विसर्ग हो सकता है वही दान, आदान का व्यवहार माना जायगा तब तो मैंने इस

जीव के लिये धर्म दिया है यह व्यवहार किस प्रकार घटित किया जा सकेगा ? धर्म का तो वस्त्र आदि के समान देना, लेना, नही संभवता है। यों आपत्ति करने पर तो आचार्य उत्तर कहते है कि धर्म के कारण हो रहे मन्दिर, शास्त्र, पुस्तक, मंत्र उच्चारण, दीक्षा, आदि के देने से कारण में कार्य का उपचार हो जाने से धर्म का दान किया जाना सिद्ध हो जाता है । वस्तुतः धर्म तो उपकारी या उपकृत की आत्माओं में प्रविष्ट हो रहा है गुरु स्वयं अपने श्रुतज्ञान को या सर्वज्ञ अपने केवलज्ञान को दूसरों के लिये लवमात्र भी नही दे सकते है । हाँ क्षयोपशम को बढाने वाले प्रधान कारणों की योजना कर देते है । यहां धर्म के कारणों को धर्म कह दिया गया है यह कारण में कार्य का उपचार है। धर्म के उपयोगी अनुष्ठान करा देने से अथवा धर्म मे मन के कर देने से भी तिस प्रकार धर्म के देने का व्यवहार बन जाता है। अतः हम जैनों के ऊपर कोई उलाहना नही आता है। जगत् मे अनेक लाक्षणिक प्रयोग हो रहे देखे जाते है ।

कथमेवं कर्मणा जीवस्य बंधस्तद्योग्यपुद्गलादानलक्षणः सूत्रित इति चेत्, शरीराहारविषयपरिणामतस्तद्बंधः शरीरिणो न पुनः स्वहस्ताद्यादानतः तेषामात्मनि शुभाशुभपरिणामढौकनस्यैवादानशब्देन व्यपदेशात् ।

पुनरपि कोई चोद्य उठाता है कि यदि इस प्रकार कर्मों का दान, आदान ही नहीं माना जायगा तो कर्मो के साथ जीव का बंध किस प्रकार होगा ? जो कि "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान पुद्गलानादत्ते स बंधः" इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने सूचित किया है कि कर्म के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करना स्वरूप वह बंध है। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते है कि यहां भी आदान का मुख्य अर्थ नहीं पकड़ा जाय, शरीरों मे, आहारों मे और शब्द आदि विषयों मे राग द्वेषरूप परिणाम हो जाने से शरीरधारी आत्मा के साथ उन कर्मो का बंध हो जाता है किंतु फिर अपने हाथ, लिखित, आदि द्वारा आदान करने से उन कर्मों का आत्मा में ग्रहण नहीं हुआ है। आत्मा में प्रेरित होकर शुभ, अशुभ, परिणतियों के प्राप्त हो जाने को ही उन कर्मो का आदान इस शब्द करके व्यवहार कर दिया जाता है । अतः कर्मों का मुख्य आदान नही होता है, ऐसी दशा मे कर्मों का प्राप्त कर लेना चोरी नही कहा जा सकता है। बात यह है कि जहा ही इस लोक सम्बन्धी उपकार विशेष हो जाने से दान का अभिप्राय है वहां ही अदत्तादान की व्यवस्था अनुसार चोरी समझी जायगी अन्यत्र नहीं।

तर्हि शब्दादिविषयाणां रथ्याद्वारादीनां वादत्तानामादानात् स्तेयप्रसंग इति चेन्न, तदादायिनो यतेरप्रमत्तत्वात् तेषां सामान्येन जनैर्दत्तत्वाच्च ॥

पुनः कोई आपत्ति उठाता है कि तब तो किसी करके नहीं दिये जा चुके शब्द, रूप, गंध, आदि विषयों अथवा गली के द्वार, जिन मन्दिर प्रवेश, वसतिका प्राप्ति आदि का आदान कर लेने से मुनि महाराज के चोरी करने का प्रसंग आ जावेगा। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्योंकि उन शब्द आदि को ग्रहण कर रहे मुनि के प्रमादयोग नहीं है। उन शब्द आदिकों को सामान्य रूप से जीव साधारण के लिये मनुष्यो करके दिया जा चुका है। जो वस्तु सब के लिये दी जा चुकी है उसके ले लेने में चोरी नहीं है हाँ जो रहस्य के वा टेलीफोन के शब्द नियत व्यक्ति के लिये प्रयुक्त किये गये है उनको चला कर सुन लेने में चोरी अवश्य है यही बात परदा वाली स्त्री के रूप देखने या गंधीगर विक्रेता करके नियत व्यक्ति को इत्र की गंध सुंघाने अथवा सेठ या राजा के नियत कोमल पलंग के छू लेने आदि में समझ लेनी चाहिये। यदि बिना प्रमादयोग के शब्द या रूप यों ही सुनने, देखने, में आजांय तो हम

क्या करै एतावता चोरी नहीं कही जा सकती है। सिनेमा, नाटक के दृश्य, गोप्यअंग इनके रूपों के देख लेने में भी प्रमादयोग हो जाने पर चोरी लग बैठेगी अन्यथा नहीं।

देववंदनादिनिमित्तधर्मादानात् स्तेयप्रसंग इति चेन्न, उक्तत्वात् तत्र दानादानव्यवहारासंभवाद्धर्मकारणानुष्ठानादिग्रहणाद्धर्मग्रहणोपचाराद्वा तथा व्यवहारसिद्धेरिति। प्रमत्ताधिकारत्वादन्यत्राप्रसंगः स्तेयस्य। देववंदनादौ प्रमादाभावात्तन्निमित्तकस्य धर्मस्य परेणादत्तस्याप्यादाने कुतः स्तेयप्रसंगः? एतदेवाह—

यदि पुनः कोई कटाक्ष करै कि देव वंदना, तीर्थ यात्रा, जिन पूजन, स्तोत्र श्रवण आदि निमित्तों करके धर्म का ग्रहण करने से तो चोरी कर लेने का प्रसंग आता है। आचार्य कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योंकि इसका उत्तर हम कह चुके है। वहाँ पुण्यप्राप्ति या धर्मलाभ में दान और आदान के व्यवहार का असम्भव है। धर्म के कारण हो रहे आयतन या धर्म के अनुष्ठान आदि का ग्रहण कर लेना होने से अथवा कारण में कार्य का उपचार कर धर्म ग्रहण के उपचार से तिस प्रकार धर्म के लेने के व्यवहार की यों सिद्धि हो जाती है। एक बात यह भी है कि "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इस सूत्र से यहाँ प्रमत्त योग का अधिकार चला आ रहा है अतः अन्यत्र यानी जहाँ प्रमादयोग नहीं है वहाँ उसके ग्रहण कर लेने पर भी चोरी कर लेने का प्रसंग नहीं आता है। देव वंदना आदि में आत्मा का प्रमाद नहीं है अतः उन देववंदना आदि को निमित्त पाकर हुये धर्म को यद्यपि दूसरो ने दिया नहीं है तो भी उसके ग्रहण कर लेने में भला कैसे स्तेय का प्रसंग आ सकता है? अर्थात् नहीं। इस ही सिद्धान्त को ग्रन्थकार स्वय वार्त्तिकों द्वारा स्फुट कह रहे है।

प्रमत्तयोगतो यत्स्याददत्तादानमात्मनः।
स्तेयं तत्सूत्रितं दानादानयोग्यार्थगोचरं ॥१॥
तेन सामान्यतो दत्तमाददानस्य सन्मुनेः।
सरिन्निर्झरणाद्यंभः शुष्कगोमयखंडकं ॥२॥
भस्मादि वा स्वयं मुक्तं पिच्छालाबूफलादिकं।
प्रासुकं न भवेत्स्तेयं प्रमत्तत्वस्य हानितः ॥३॥

देने और लेने योग्य अर्थों के विषय में हो रहा जो आत्मा के प्रमत्तयोग से अदत्त का आदान करना है वह सूत्रकार ने इस सूत्र में चौर्य कहा है। तिस कारण सामान्य रूप से सब के लिये दिये जा चुके नदी जल आदि को ग्रहण कर रहे श्रेष्ठ मुनि के चोरी का दोष नहीं लगेगा क्यो कि इनको लेने मे प्रमाद की हानि है, यदि प्रमादयोग से नदी जल आदि को लिया जाता तो चोरी लग बैठती। नियत व्यक्तियो के स्वामित्व को पा रहे नदी जल, कुल्याजल, को ले लेने से चोरी हो ही जाती है। किसी अनुपाय विशेष अवस्था में मुनि के लिये नदी, झरना, बावड़ी आदि के जल को ले लेने का विधान होगा। इसी प्रकार वहिरंग शुद्धि के लिये सूखे अरणा गोबर के टुकड़े को ग्रहण करने का भी विधान क्वचित् होगा। भस्म, मट्टी आदि भी लिये जा सकते हैं अथवा मयूर या किसानों द्वारा स्वयमेव छोड दिये गये पिच्छ, तुम्बी फल, शिलापट्ट आदिक पदार्थ भी ले लिये जाँय तो चोरी नहीं है किन्तु ये सब प्रासुक यानी जीव रहित होने चाहिये। सचित्त हो रहे जल, गोबर, पिच्छ, तुम्बी, मट्टी, तृण आदि को मुनि नहीं ले सकते हैं।

विशेष यह कहना है कि कदाचित् कमण्डलु में प्रासुक जल न रहे या दूसरे मुनि की समाधिमरण क्रिया के लिये अथवा अपनी शारीरिक शुद्धि के लिये इन पदार्थों की आवश्यकता पड़े तो शून्य स्थान में पड़े हुये इन प्रासुक हो चुके पदार्थों को मुनि ले सकते हैं यह आचार शास्त्र का उपदेश कादाचित्क और क्वाचित्क है सार्वदिक नहीं। कंकड़, पत्थरों से आस्फालित हुआ या वायु, घाम, आदि से अनेक बार छूया गया बहुत जल केवल अंग शुद्धि के लिये क्वचित् प्रासुक मान लिया गया है, पीने के लिये नहीं। इसी प्रकार सूखा गोबर भी मात्र भूशुद्धि या उपाङ्गशुद्धि के लिये उपयोगी ले लिया गया है अन्य धार्मिक क्रियाओं में गोबर को शुद्ध नहीं मान लेना चाहिये। अनेक मनुष्य तो कंडों की सिकी बाटियों, राटियो, को नहीं खाते हैं। गोबर पंचेन्द्रिय का मल ही तो है, अनेक सन्मूर्छन त्रस जीवों का योनिस्थान है। जैन शास्त्रों मे प्रमादवश बहुत सा भ्रष्टसाहित्य घुस पड़ा है अतः कितने ही भोले पण्डित उन-उन ग्रन्थों का प्रमाण देकर गोमय को शुद्ध मानने का घोर प्रयत्न करते हैं। वैष्णवों का सहवास रहने से ईश्वरवाद की गंध या गोबर गोमूत्र की पवित्रता भी जैनों में बिना बुलाये घुस पड़ी है। बुंदेलखण्ड, राजपूताना, आगरा प्रान्त आदि के अनेक वैष्णव ब्राह्मण और वैश्य मांस का भक्षण नहीं करते हैं। पूर्वदेशीय शाक्त पंडित यदि वेदों का प्रमाण दे देकर उनको मांसभक्षण की ओर प्रवृत्ति करें तो भी वे उनके उपदेश को अग्राह्य समझते हैं। इसी प्रकार दक्षिण देश के कतिपय पण्डित कई शास्त्रों का प्रमाण देकर उत्तर प्रांत वाले या मध्य प्रान्त वाले अनेक तेरह पंथी जैनों को गोमय की पवित्रता मनवाने के लिये झुकाते हैं किंतु पद्मावतीपुरवाल, परवार बहुभाग खण्डेलवाल, अग्रवाल आदि जातियों में सैकड़ों, हजारों, वर्षों से गोमय को धार्मिक क्रियाओं में नहीं लिया गया है। आम्नाय भी कोई शक्तिशाली पदार्थ है। आचार्यों ने भी सर्वज्ञ भाषित अर्थ को चली आई आम्नाय अनुसार ही शास्त्रों मे लिखा है। अतः शास्त्र भी आम्नाय की भित्तिपर डटे हुये हैं। कुलों जातियों या मनुष्य समुदायों में जो क्रिया आम्नाय अनुसार चली आ रही है उन अच्छी क्रियाओं से जनता को च्युत कर भ्रष्ट चारित्र पर झुका देना जैन विद्वानों का कर्तव्य नहीं होना चाहिये। नय विवक्षाओं से जैन ग्रन्थों की कथनी को समझ कर उसके अन्तस्तल पर पहुंच रहा पंडित ही विचारशाली कहा जायगा। राजाओं या लौकिक परिस्थितियों के वश कितने ही जैन मंदिरों में अजैन देवों की मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित हो गयी हैं। कहीं-कहीं तो वीतराग जिन मूर्त्तियों के सन्मुख जीव हिंसा तक निंद्य कर्म होते हैं। क्वचित् जिन मन्दिरों को छीन कर शैवमन्दिर या वैष्णव मन्दिर, मस्जिद भी बना डाला गया है। इस जैनों की निर्बलता का भी क्या कोई ठिकाना है। इतिहास प्रमाण और अनुमान प्रमाण बतलाते हैं कि जैनों के ऊपर बड़े-बड़े घोर संकट के अवसर आ चुके हैं। ग्रन्थों में निकृष्ट साहित्य का घुस जाना इन्हीं धार्मिक क्रांतियों का परिणाम है। "आदौ देवं परीक्षेत" इसी के समान ग्रन्थों की भी परीक्षा कर आगम प्रामाण्य मानना समुचित है। चाहे किसी भी आचार्य का नाम दे कर गढ लिये गये चाहे जिस ग्रन्थ को आँख मीच कर प्रमाण मान लेना परीक्षाप्रधानी का कर्तव्य नहीं है। इस ग्रन्थ के आदि भाग में तार्किक शिरोमणि श्री विद्यानंद स्वामी ने परीक्षाप्रधानिता को पुष्ट किया है। प्रकरण में यह कहना है कि प्रमाद योग नहीं होने से प्रासुक नदी जल आदि का ग्रहण करना चोरी नहीं है।

अथ किमब्रह्मेत्याह—

हिंसा, झूंठ, चोरी इन तीन पापों का लक्षण कहा जा चुका है। अब चौथे अब्रह्म नामक पाप का लक्षण क्या है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा उपजने पर सूत्रकार इस अगले सूत्र का निरूपण करते हैं।

मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर राग परिणति में आसक्त हुये स्त्री और पुरुष की परस्पर स्पर्श करने के लिए इच्छा करना मिथुन है और मिथुन का कर्म मैथुन तो अब्रह्म कहा जाता है। स्त्री और पुरुष की इच्छा उपलक्षण है नपुंसक जीवों के भी माया, लोभ, रति, हास्य, वेद, इन चारित्र मोहनीय कर्मों का उदय या उदीरणा हो जाने पर मैथुनाभिलाषायें उपजती हैं जो कि इष्ट पाक की अग्नि के समान तीव्र वेदना को लिये हुये हैं। कोई कोई पण्डित नपुंसकों का स्त्री नपुंसक या पुरुष नपुंसक यों गिना कर पुरुषों या स्त्रियों में ही गर्भित कर लेते हैं। अतः प्रमादयोग से स्त्री, पुरुष, नपुंसक जीवों के रमण करने की अभिलाषा प्रयुक्त हुआ व्यापार मैथुन समझा जायगा। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवों के भी अपने अपने इन्द्रियजनित भोगों की अभिलाषा की अपेक्षा मैथुन मान लेना चाहिये अन्यथा पांचवें गुणस्थान तक सभी संसारी जीवों में पायी जाने वाली मैथुन संज्ञा के अभाव हो जाने का उन में प्रसंग आवेगा। एकेन्द्रिय, विकलत्रिय, असंज्ञी जीव या सन्मूर्छनपंचेन्द्रिय जीव भी मैथुन पाप में आसक्त हो रहे हैं।

मिथुनस्य भावो मैथुनमिति चेन्न, द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसंगात्। मिथुनस्य कर्मेति चेन्न पुरुषद्वयनिर्वर्त्यक्रियाविशेषप्रसंगात्। स्त्रीपुंसयोः कर्मेति चेन्न, पच्यादिक्रियाप्रसंगात्। स्त्रीपुंसयोः परस्परगात्रश्लेषे रागपरिणामो मैथुनमिति चेन्न, एकस्मिन्नप्रसंगात्। उपचारादिति चेन्न, मुख्यफलाभावप्रसंगात्। ततो न मैथुनशब्दादिष्टार्थसंप्रत्यय इति कश्चित् ॥

यहाँ कोई (कश्चित्) आचार्य महाराज से मैथुन शब्द का अर्थ कराने के लिये चोद्य उठा रहा है कि प्रथम ही यदि यहाँ कोई मैथुन का यों अर्थ करें कि—मिथुन यानी स्त्री पुरुष दोनों या अन्य कोई दोनों पदार्थों का जो भाव है वह मैथुन है। कश्चित् या आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो चाहे किन्हीं भी दोनों द्रव्यों के परिणाम होने मात्र का प्रसंग आ जावेगा। उदासीन अवस्था में बैठे हुये राग रहित दोनों स्त्री, पुरुषों की कन्याविवाह चिन्ता, भोजन, वस्त्रचिंता, मुनिदान विचार आदि को भी मैथुन हो जाने का प्रसंग आ जावेगा। जो कि इष्ट नहीं है। पुनः कोई चोद्य उठाता है कि मिथुन का कर्म मैथुन कह दिया जाय। कश्चित् या ग्रन्थकार कहते हैं कि यह मंतव्य भी तो ठीक नहीं पड़ेगा क्योंकि दो पुरुषों कर के बनाने योग्य किसी भी क्रिया विशेष को मैथुन हो जाने का प्रसंग आवेगा। क्वचित् दो विद्यार्थी मिल कर पाठ लगा रहे हैं, दो कहार डोली को ढो रहे हैं, दो मल्ल लड़ रहे हैं, स्त्री, पुरुष, दोनों धर्म चर्चा कर रहे हैं, ये क्रियायें तो मैथुन नहीं हैं। पुनः कोई सम्हल कर आक्षेप करता है कि स्त्री और पुरुष का जो कर्म है वह मैथुन है। कश्चित् या आचार्य समझाते हैं कि यह तो ठीक नहीं है क्योंकि स्त्री और पुरुष यदि मिलकर कदाचित् या यात्रा में रसोई बनाते हैं, दोनों देव वंदना करते हैं, तीर्थ यात्रा करते हैं, यों पाक करना आदि क्रियायें भी मैथुन हो जावेंगी जो कि मैथुन नहीं मानी गयी हैं। पुनरपि कोई अपनी पण्डिताई दिखलाता हुआ व्याकरण की निरुक्ति अनुसार मैथुन का लक्षण करता है कि स्त्री और पुरुषों का परस्पर में शरीर का गाढ आलिंगन होते संते जो राग परिणति हुई है वह मैथुन है। कश्चित् पंडित या ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं, कारण कि अव्याप्ति दोष है अकेले स्त्री या पुरुष में मैथुन परिणाम नहीं हो सकने का प्रसंग आजावेगा अर्थात् जब कि हाथ, पांव या अन्य पुद्गलों के संघट्ट आदि करके कुशील सेव रहे या खोटे भाव कर रहे अकेले पुरुष अथवा स्त्री में भी मैथुन परिणाम इष्ट किया गया है वह मैथुन सिद्ध नहीं हो सकेगा। यदि इस पर कोई यों समाधान करे कि जिस प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म का उदय हो जाने पर कामवेदना से पीडित हो रहे

स्त्री पुरुष दोनों का कर्म मैथुन है तिस प्रकार अन्तरंग में चारित्र मोहनीय की उदीरणा होने पर और बहिरंग में हस्त आदि द्वारा संघर्षण करने पर अकेले पुरुष या स्त्री के भी उपचार से मैथुन होना बन जावेगा। कश्चित् या ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्योंकि अकेले अकेले में उपचार से मैथुन मान लेने पर मुख्यफल के अभाव का प्रसंग हो जावेगा। अर्थात् जैसे बालक मे सिंह का उपचार करने पर मुख्य सिंह में पायी जा रही क्रूरता, शूरता, बलाढ्यता, चंचलता आदि की प्रवृत्ति नही है उसी प्रकार मुख्य रूप से दोनों में ही पाई जा रही रागपरिणति को यदि एक में भी उपचार से धरा जायगा तो अब्रह्म हेतुक आ रहे तीव्र कर्मों का बंध नही हो सकेगा। उपचार की राग परिणति कर्मबंध नही कराती है। तिस कारण अब तक किसी भी ढंग करके मैथुन शब्द से अभीष्ट अर्थ की समीचीन प्रतीति नहीं हो सकी है। यहाँ तक कोई आक्षेप पूर्वक चोद्य कर रहा है।

तत्प्रतिक्षेपार्थमुच्यते—न च स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगस्याविशेषाभिधानादेकस्य द्वितीयत्वोपपत्तौ मिथुनत्वसिद्धेः, प्रसिद्धिवशाद्वार्थप्रतीतेः पूर्वोक्तानां चानवद्यत्वात् सिद्धो मैथुनशब्दार्थः।

उस कश्चित् के आक्षेप का निराकरण करने के लिये ग्रन्थकार महाराज करके कहा जाता है कि उक्त आक्षेप उठाना ठीक नही है क्योंकि स्त्री और पुरुष का परस्पर शरीरालिंगन होने पर राग परिणति होना मैथुन है यह लक्षण अच्छा है। स्पर्शवान् द्रव्यों के संयोग को विशेषतारहित कहा गया है इस कारण अकेले को भी द्वितीयपन की सिद्धि हो जाने पर मिथुनपना सिद्ध है। वैशेषिक तो दो आदि में रहने वाले संयोग, विभाग, द्वित्व, त्रित्व, आदि पर्याप्त गुणो को एक ही मान लेते है। जैन सिद्धान्त अनुसार धर्म, अधर्म, काल, आकाश, आत्मा इन द्रव्यों के संयोग न्यारे न्यारे माने गये है जैसे दो पदार्थों में समवाय सम्बन्ध से वर्त्त रही न्यारी न्यारी दो द्वित्व संख्यायें हैं। आकाश और आत्मा इन विजातीयद्रव्यों का संयोग धर्म एक नही हो सकता है। परिशेष में जाकर वे दो ही संयोग सिद्ध होंगे किंतु उनमें कोई विशेषता नहीं है हाँ ससारी जीव और उसके साथ भिड़ गये पुद्गलों का अथवा अशुद्ध पुद्गल पुद्गलों का जब तक संयोग है तब तक वे अनेक ही संयोग मानने पड़ेंगे। बंध हो जाने पर एकत्व परिणति हो जाती है जो कि संयोग परिणाम से निराली है। प्रकरण मे यह कहना है कि स्त्री पुरुष में से अकेले को भी स्पर्शजन्य आभिमानिक सुख तुल्य है। अतः अकेले मे भी मैथुन शब्द की मुख्य रूप से ही प्रवृत्ति है और राग, द्वेष, मोह, परिणतियां अनुसार प्रत्येक को कर्मों का बंध हो जाता है। लोक और शास्त्र में जो प्रसिद्धि हो रही है उसके वश से मैथुन शब्द के अर्थ की प्रतीति हो जाती है इस कारण पहिले कहे जा चुके सभी मैथुन शब्द के अर्थ निर्दोष हैं। इस प्रकार मैथुन शब्द का अर्थ सिद्ध हो चुका है। अर्थात् लोक में तो बाल गोपाल आदि सभी जन स्त्री पुरुषों की रति क्रिया को मैथुन कह रहे है। व्याकरणशास्त्र में भी "अश्वस्यति बडवा, वृषस्यति गौः" इन प्रयोगों को "अश्ववृषभयो-र्मैथुनेच्छायां" इस सूत्र से सिद्ध किया है। अन्य शास्त्रों में भी मैथुन का अर्थ स्त्री पुरुष विषयक रति ही पकड़ी जाती है। मिथुन का भाव मैथुन, मिथुन का कर्म मैथुन, स्त्री पुरुषो का कर्म मैथुन, स्त्री पुरुषो का परस्पर शरीर संसर्ग होने पर राग परिणाम मैथुन, ये सब लक्षण दोष रहित है। देखिये सबसे पहिले जो यह कहा था कि मिथुन का भाव मैथुन तो ठीक नही क्योंकि दो द्रव्यों के भवनमात्र का प्रसंग आ जायगा यह कहना प्रशस्त नही है क्योंकि अंतरंग परिणाम नहीं होने पर बाह्य हेतु निष्फल हो जाते हैं। जैसे कि कंकड़ू चने, टोरा, उर्दटोरा मौठ, कुदित्ती आदि के अभ्यन्तर में पाकविक्लेदन शक्ति के न होने पर बहिरंग अग्नि, जल का संबन्ध व्यर्थ हो जाता है। तिसी प्रकार अभ्यन्तर चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले स्त्री के पुरुषरमण भाव और पुरुष के स्त्रीरमण में भाव यदि नहीं हैं तो बाह्य

दो द्रव्यों के होते हुये भी मैथुन नहीं कहा जा सकता है। अतः मिथुन का भाव मैथुन है यह लक्षण बुरा नहीं है दूसरा लक्षण जो मिथुन का कर्म मैथुन कहा था वह भी अच्छा है। दो पुरुषों की भार वहन, पानी खेंचना आदि क्रिया विशेष को मैथुन का प्रसंग नहीं आ सकता है क्योंकि वहां अन्तरंग कारण चारित्र मोह की उदीरणा नहीं है हां चारित्र मोह का प्रबल उदय होने पर दो पुरुष या दो लड़के अथवा दो पुरुष, पशु भी यदि कोई राग क्रिया करेंगे तो वह मैथुन समझा जायगा। तीसरा भी जो स्त्री पुरुषों का कर्म मैथुन कहा गया था वह लक्षण भी चोखा है। रसोई पाक आदि तो फिर अन्य करके भी किये जा सकते हैं अतः स्त्री पुरुषों की रति विषयक क्रिया मैथुन कही जा सकती है कोई बाधा नहीं है। सबसे बढ़िया बात यह है कि प्रमत्त योग की अनुवृत्ति चली आ रही है अतः चारित्र मोह के उदय से प्रमत्त हो रहे केवल स्त्री का या पुरुष का अथवा दोनों का यहां तक कि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवों का भी जो रति स्वरूप परिणाम है वह मैथुन है। यह सिद्ध हुआ॥

अहिंसादिगुणबृंहणाद् ब्रह्म तद्विपरीतमब्रह्म तच्च मैथुनमिति प्रतिपत्तव्यं रूढिवशात्। ततो न प्राणव्यपरोपणादीनां ब्रह्मविपरीतत्वेऽप्यब्रह्मत्वप्रसिद्धिः। तदिदमब्रह्म प्रमत्तस्यैव संभवतीत्याह;—

"बृहि वृद्धौ" धातु से ब्रह्म शब्द बनाया है। अहिंसा, सत्य, आदिक गुणों की वृद्धि कर देने से ब्रह्म नाम का व्रत कहा जाता है। उस ब्रह्म से जो विपरीत है यह अब्रह्म है और यों रूढि के वश से वह मैथुन परिणाम हुआ इस प्रकार प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये। तिस कारण प्राणों का वियोग करना, असत्य बोलना, जुआ खेलना आदि पाप क्रियाओं को यद्यपि ब्रह्म से विपरीतपना है तो भी रूढि का आश्रय लेने से अब्रह्मपने की प्रसिद्धि नहीं है। अर्थात् 'गच्छति इति गौः' यों यौगिक अर्थ का अवलंब लेने पर मनुष्य, घोड़ा, रेलगाड़ी, वायु आदि भी गौ हो सकती है और नहीं चल रही गाय या पृथिवी तो गौ नहीं हो सकेगी किंतु "योगाद्रूढिर्बलीयसी" इस नियम अनुसार बलवती रूढि का आश्रय करने पर गौः शब्द पशु में ही प्रवर्त्तता है या वाणी, पृथ्वी, दिशा आदि दश अर्थों में भी प्रवर्त्त जाता है उसी प्रकार यहाँ पर भी अब्रह्म शब्द कुशील मे रूढ है अतः हिंसा, झूंठ आदि की निवृत्ति हो जाती है। तिस कारण यों सिद्ध हो चुका यह अब्रह्म नाम का पाप तो प्रमादी जीव के ही संभवता है प्रमाद रहित जीव के नहीं इस सिद्धांत को पुष्ट करते हुये ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को कह रहे हैं। इसको ध्यान लगा कर समझ लीजियेगा।

तथा मैथुनमब्रह्म प्रमत्तस्यैव तत्पुनः।
प्रमादरहितानां हि जातुचित्तदसंभवः॥५॥

जिस प्रकार हिंसा, अनृत आदिक पाप क्रियाये प्रमत्त जीव के ही हो रही मानी गयी हैं तिसी प्रकार वह अब्रह्म यानी कुशील सेवन भी फिर प्रमादी जीव के ही संभवता है। कारण कि प्रमाद रहित जीवों के कदाचित् भी उस अब्रह्म के होने का असंभव है॥

न हि यथा प्रमादाभावेपि कस्यचित् संयतात्मनः प्राणव्यपरोपणादिकं संभवति तथा मैथुनमपि, तस्य प्रमादसद्भाव एव भावात्। वरांगनालिंगनमात्रप्रमत्तस्यापि भवतीति चेन्न, तस्य मैथुनत्वाप्रसिद्धेः पुत्रस्य मात्रालिंगनवत्।

जिस प्रकार कषाय, इन्द्रियलोलुपता आदि प्रमादों का अभाव होते संते किसी भी संयमी जीव

के प्राणव्यपरोपणस्वरूप हिंसा, अनृत आदिक पाप नहीं संभवते हैं तिसी प्रकार मैथुन भी प्रमाद नहीं होने पर किसी के नहीं संभवता है क्यों कि उस मैथुन की प्रमाद का सद्भाव होने पर ही उत्पत्ति मानी गयी है। तीव्र अनुभाग वाली पाप क्रियाओं का प्रमाद के साथ अन्वयव्यतिरेक है "प्रमादाभावेऽपि" यहाँ अपि शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। अथवा यों अर्थ कर लिया जाय कि भले ही संयमी मुनि करके किसी जीव का प्राणवियोग भी कर दिया जाय तथापि प्रमाद नहीं होने पर मुनि को हिंसा नहीं लगती है यों अपि का प्राणव्यपरोपणादिक के साथ व्युत्क्रम से अन्वय किया जायगा। यहाँ कोई कुचोद्य उठाता है कि तीर्थ यात्रा, मेला, पंचकल्याणक आदि में भीड़ के अवसर पर सुन्दर स्त्रियों का केवल आलिंगन हो जाना तो प्रमाद रहित मुनियों के भी संभव जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि चारित्र-मोह का उदय हुये बिना उस आलिंगन मात्र को मैथुनपने की जब लोक में भी प्रसिद्धि नहीं है तो शास्त्र में आत्म संक्लेश स्वरूप कुशील तो वह कैसे भी प्रसिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे कि पुत्र का माता के साथ आलिंगन करना कुशील नहीं माना गया है "येनैवालिंग्यते कान्ता तेनैवालिंग्यते सुता, मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः" इस नीति का लक्ष्य रखना चाहिये अतः मात्र अंगना के अंग का आलिं-गन हो जाने से अप्रमत्त मुनि के कुशील सेवन का प्रसंग नहीं आ सकता है।

स्पर्शनमैथुनदर्शनादि वा केषांचित् प्रसिद्धमिति चेन्न, तस्य रिरंसापूर्वकस्योपगमात्। न च संयतस्यांगनालिंगितस्यापि रिरंसास्ति, असंयतत्वप्रसंगात्। तदंगनाया रिरंसास्तीति चेत् तस्या एव मैथुनमस्तु लेपमयपुरुषालिंगनवत्। प्रायश्चित्तोपदेशस्तत्र कथमिति चेत्, तस्यापि प्रसंगनिवृत्त्यर्थत्वात्। विस्रब्धालोकनादावपि तदुपदेशस्याविरोधात्॥

यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि किन्हीं-किन्हीं संयमी जीवों के अंगना स्पर्शन करना या मैथुन-दर्शन करना आदि प्रसिद्ध हो रहे हैं। स्त्री परीषह को जीत रहे किसी मुनि के उपसर्ग के अवसर ऐसी समस्या हो सकती है। अर्थात् किन्हीं किन्हीं मतावलंबियों के यहाँ स्पर्शन करना, मैथुन क्रिया को देखना आदिक प्रसिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि उन स्पर्श करना या मैथुन देखना अथवा हाव, नर्म, आदिक परिणतियों का रमण करने की अभिलाषापूर्वक ही होना स्वीकार किया गया है 'रंतुं' इच्छा रिरंसा, पहिले स्त्री या पुरुष के रमण करने के लिये अभिलाषा होती है पुनः रागपूर्ण स्पर्शन, मैथुन दर्शन, आदिक हो सकते हैं। कितने ही मनुष्य कबूतरों को पालते हैं उनकी कामचेष्टाओं को देखते हैं। अन्य पशु, पक्षियों की लीलाओं को देख कर प्रसन्न होते हैं। ये सब क्रियायें रिरंसापूर्वक हैं किंतु अंगनाओं करके गाढ़ आलिंगन किये जा चुके भी उपसर्ग प्राप्त संयमी मुनि के रमण अभिलाषा नहीं है। रमण अभिलाषा हो जाने पर मुनिव्रत रक्षित नहीं हो सकता है। असंयमीपने का प्रसंग आ जावेगा। अतः संयमियों के रिरंसापूर्वक स्पर्शन आदिक कभी नहीं संभवते हैं। कदाचित् स्त्रीपरीषह जय कर रहे मुनिको यदि अंगनायें आलिंगन भी कर लेवें तो भी मुनि महाराज के रमण अभिलाषा नहीं है। घोर उपसर्ग सहते हुये वे उस समय आत्मध्यान में एकाग्र रहे आते हैं। भले ही एक नहीं चार स्त्रियां उनको आलिंगन करती रहें संयमी के अणुमात्र रिरंसा नहीं उपजती है। यदि यहां कोई यों विक्षेप करे कि मुनि के साथ आलिंगन कर रही उस अंगना की तो रिरंसा है ही। अतः मैथुन समझ लिया जाय। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो उस रमणी के ही मैथुन पाप होवेगा। जैसे कि काष्ठ, पाषाण, गूदड़ा, रबड़ आदि के बने हुये जड़ पुरुष, मूर्त्ति या लेपमय पुरुष के साथ आलिंगन करने पर उस अंगना के ही कुशील करने का प्रसंग आता है। जड़, मूर्ति या चित्र के नहीं। उसी प्रकार उपल समझ कर मृगों करके स्वशरीर

की खाज मिटाने के अवलंब हो रहे संयमी साधु के शरीरको रति पूर्वक गाढ आलिंगन कर रही रमणी के ही मैथुन पाप होवेगा। सुदर्शन सेठ का मदोन्मत्त कामग्रस्त रानी ने आलिंगन किया एतावता सेठ को रागी नहीं कहा जा सकता है वह रानी ही व्यभिचारिणी समझी गयी। अतः अंगना से आलिंगित हो रहे मुनि को अणुमात्र पाप नहीं लगता है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि पुनः उस दशा में मुनि महाराज के लिये प्रायश्चित्त करने का उपदेश क्यों दिया गया है? जब मुनि को पाप ही नहीं लगता तो अंगना के चुपट जाने पर उनको प्रायश्चित्त नहीं लेना चाहिये था। यों कहने पर तो तो ग्रन्थकार कहते हैं कि वह प्रायश्चित्त का उपदेश भी प्रसंग की निवृत्ति कराने के लिये है। प्रायश्चित्त को देने वाले आचार्य उन संयमी जितेन्द्रिय मुनि को उपदेश देते हैं कि तुम ऐसे प्रसंग को टाल दो जहां कि स्त्रियां आकर बाधा दे सके। तुमको इसका प्रायश्चित्त देकर आगे के लिए सूचित किया जाता है कि स्त्री-पशु, पक्षी जहां उपद्रव मचावे ऐसे प्रसंगो का निवारण कर दिया करो। प्रायः देखा जाता है कि सुन्दर स्त्रियां को देखकर जैसे कामी पुरुष अनेक कुचेष्टाये करते हैं उसी प्रकार अभिरूप पुरुषों को देखकर कमनीय कामिनियां उनको उपद्रुत करती हैं। बलभद्र, कामदेव, चक्रवर्ती आदिक यदि मुनि भी हो जाते हैं तो भी वे अत्यधिक सुन्दर जचते हैं। वसुदेव की कथा का स्मरण कीजिये। ऐसी दशा में चलचित्त अंगनाय उनको अपनी मनःकामना पूर्ण करने के लिये डिगाती हैं किन्तु "किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्" अडिग्ग मुनि आत्मध्यान से अविभाग प्रतिच्छेदमात्र भी नहीं चलायमान होते हैं फिर भी ऐसे ऐसे प्रसंगो का निवारण करने के लिये मुनि को प्रायश्चित्त लेने का उपदेश है। विश्वास पूर्वक आलोकन हाव, विलास, शृंगार, प्रार्थना आदि में भी उस प्रायश्चित्त विधान के उपदेश करने का कोई विरोध नहीं है अर्थात् किसी संयमी को स्त्रियां, यदि विश्वस्त आलोकन करे या शृंगार प्रार्थना के लिये काम चेष्टा पूर्वक अवलोकन करे तो ऐसी दशा में भी मुनि को ऐसे प्रसंगों की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त लेने का उपदेश है। यहां यह भी विशेष कह देना है कि वीर्य संसर्ग या अङ्गस्पर्श से स्त्रियों की आत्मा में नैमित्तिक कुत्सित परिणाम अवश्य उपज जाते हैं अतः बलात्कार दशा में स्त्रियों के रिरंसा नहीं होते हुये भी स्त्रियों के विषय में उक्त सिद्धान्त लागू नहीं किया जा सकता है ॥

कः पुनः परिग्रह इत्याह;—

हिंसा आदिक चार पापों के विशेष लक्षण समझ लिये हैं। अब पांचवें परिग्रह का लक्षण फिर क्या है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

मूर्छा परिग्रहः ॥१७॥

चेतन, अचेतन बहिरंग परिग्रहों में और राग आदि अन्तरंग परिग्रहों में जो मूर्छा यानी गृद्धिविशेष है वह परिग्रह है ॥

बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणादिव्यापृतिर्मूर्छा। वातपित्तश्लेष्मविकारस्येति चेन्न, विशेषितत्वात्, तस्याः सकलसंगरहितेऽपि यतौ प्रसंगात्। बाह्यस्यापरिग्रहत्वप्रसंग इति चेन्न, आध्यात्मिकप्रधानत्वात् मूर्छाकारणत्वाद्बाह्यस्य मूर्छाव्यपदेशात्।

गाय, भैंस, घोड़ा आदि बहिरंग चेतन परिग्रह और वस्त्र, मोती, भूषण, गृह, आदि अचेतन बहिरंग परिग्रह तथा राग आदिक अन्तरंग परिग्रहों के समीचीन रक्षण, उपार्जन या राग आदि अनुसार

तीव्र इच्छाओं के संस्कार आदि व्यापार करना मूर्च्छा है जो कि एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पयत जीवों के परिग्रह संज्ञा पायी जाती है। यहाँ कोई वैद्यक विषय की छटा दिखा रहा आक्षेप करता है कि जिस जीव के वात, पित्त, और कफ का विकार हो गया है उसके मूर्छा पायी जाती है। उन्माद, मृगी, सन्निपात आदि रोगो में मूर्छा हो जाती है "क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः। वेगाघातादभिघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः॥ करणायतनेषूग्राः बाह्येष्वाभ्यंतरेषु च। निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्छन्ति मानवाः॥ संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः। तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत॥ सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत्। मोहो मूर्छेति तामाहुः षड्विधा सा प्रकीर्तिता॥ वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च। षट्स्वप्येतासु पित्तन्तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते" ॥ इत्यादि। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि मूर्छा में विशेष कर दिया गया है "मूर्छा मोहसमुच्छ्राययोः", इस धातु से बना मूर्छा शब्द सामान्य रूप से मोह में वर्त्त रहा है। किन्तु यहां प्रकरण अनुसार बाह्य अभ्यंतर परिग्रहों के रक्षण, वर्द्धन, आदि में हुये "ममेदंभाव" को मूर्छा कहा गया है। सामान्य वाचक शब्द अवसर अनुसार विशेष अर्थों में प्रयुक्त कर लिये जाते है। यदि मूर्छा पद से वात, पित्त, कफों के विकार से उपजी मूर्छा पकड़ी जायगी ऐसी मूर्छा का तो सम्पूर्ण परिग्रहों से रहित हो रहे मुनियों में भी प्रसंग है। पूर्व संचित कर्मों के अनुसार तीव्ररोग हो जाने पर मुनियों के भी वह वात, पित्त, कफ जन्य मूर्छा हो सकती है। किन्तु मुनि के अन्तरंग, बहिरंग परिग्रहो की अभिकांक्षा स्वरूप मूर्छा कदाचित् नहीं पायी जाती है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि यो अभिकांक्षा स्वरूप आमीय गृद्धि को यदि परिग्रह कहा जाय तो राग आदि अन्तरंग परिणाम तो परिग्रह हो जायंगे किन्तु बहिरंग क्षेत्र, प्रासाद, आदिक चेतन अचेतन पदार्थों को परिग्रहपना नहीं हो सकने का प्रसंग आ जावेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो प्रसंग नहीं उठाना क्योंकि मूर्छा पद करके आध्यात्मिक राग आदि परिग्रह पकड़े जाते हैं। अन्तरंग परिग्रह ही प्रधान हैं। मूर्छा के कारण होने से बाह्यक्षेत्र आदि को मूर्छा का व्यपदेश कर दिया गया है जैसे कि प्राण के कारण हो रहे अन्न को प्राण कह दिया जाता है। यदि अन्तरंग में मूर्छा नहीं है तो बहिरंग क्षेत्र, धन, वस्त्र, आदि के होते हुये भी परिग्रही नही है। किसी अज्ञानी जीव करके वस्त्र या कम्बल द्वारा उपसर्ग को प्राप्त हो रहे मुनि परिग्रही नहीं हैं। ध्यानारूढ मुनि महाराज के निकट कोई चोर यदि भूषणों का ढेर लगा दे एतावता मुनि परिग्रही नही बन जाते हैं। उदासीन चक्रवर्ती उतना मूर्छावान् नहीं हैं जितना कि अर्जन, रक्षण आदि की अभिकांक्षाये कर रहा श्मश्रुनवनीत परिग्रही है। अतः आध्यात्मिक यानी अन्तरंग परिग्रह के होने पर ही बहिरंग परिग्रहों को मूर्छापन का मात्र व्यवहार है।

ज्ञानदर्शनचारित्रेषु प्रसंगः परिग्रहस्येति चेन्न, प्रमत्तयोगाधिकारात्। ततः सूक्तं मूर्छा परिग्रहः प्रमत्तयोगादिति।

यहाँ आशंका और उत्पन्न होती है कि आत्मा में पाये जा रहे राग आदि परिणामों को यदि परिग्रह कहा जायगा तब तो ज्ञान, दर्शन, और चारित्रगुणों में भी परिग्रह हो जाने का प्रसंग आवेगा। ज्ञानादिक तो बहुत अच्छे प्रकारों से आध्यात्मिक हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इस सूत्र मे प्रमत्त योग का अधिकार चला आ रहा है। ज्ञान, दर्शन, चारित्रों को धार रहे जीवों के प्रमाद योग नहीं हैं तिस कारण मूर्छा नहीं होने से ज्ञान आदि के परिग्रहपना घटित नहीं होता है। एक बात यह भी है कि आत्मा के तदात्मक स्वभाव होने के कारण ज्ञानादिक त्यागने योग्य नहीं हैं। हाँ रागादिक तो कर्मोदय के अधीन हैं अतः आत्मीयस्वभाव नहीं होने के कारण उन रागादिकों में "मेरे ये" ऐसा संकल्प स्वरूप परिग्रहपना बन जाता है यों सूत्रकारने बहुत अच्छा कहा था कि प्रमादके

योग से मूर्छा परिणाम परिग्रह है।

तन्मूलाः सर्वदोषानुषंगाः। यथा चामी परिग्रहमूलास्तथा। हिंसादिमूला अपि हिंसादीनां पंचानामपि परस्परमविनाभावात् ॥ तदेवाह;—

उस परिग्रह को मूल कारण मान कर ही सम्पूर्ण हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, जुआ आदि दोषों का प्रसंग आ जाता है। परिग्रही जीव हिंसा करता है, झूंठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवता है, द्यूत क्रीड़ा में प्रवर्त्तता है। "लोभ पाप का बाप बखाना" ऐसी लोक प्रसिद्धि भी है। जिस प्रकार वे सम्पूर्ण दोष इस परिग्रह को मूल मान कर एकत्रित हो जाते है उसी प्रकार हिंसा आदि मूल मान कर भी अन्य सभी दोष समुदित हो जाते हैं। क्यों कि हिंसा आदिक पाँचों भी पापों का परस्पर में अविनाभाव हो रहा है। अर्थात् एक बढ़िया गुण के साथ जैसे दश गुण अन्य भी लगे रहते है। उत्तम क्षमा को धारने वाला उत्तम मार्दव, आर्जव, आदि को भी थोड़ा बहुत अवश्य पालता है। इसी प्रकार एक प्रधान दोष के साथ अन्य कतिपय दोष लग ही बैठते हैं। एक गुण्डे व्यसनी धनाढ्य के साथ चार गुण्डे अन्य भी लग जाते हैं। "गुणाः गुणज्ञेषु गुणीभवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः, सुस्वादु तोयं प्रवहन्ति नद्यः समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः" "व्यालाश्रयापि विफलापि सकंटकापि वक्रापि पंकजभवापि दुरासदापि, एकेन बंधुरसि केतकि सर्वजन्तोः एको गुणः खलु निहन्ति समस्तदोषं ॥२॥" "एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः" इत्यादि नीति उक्तियाँ विचारणीय है। एक बड़ी आपत्ति मे जैसे छोटी छोटी आपत्तियाँ लगी रहती है। एक महान् रोग के साथ क्षुद्र रोग पड़ जाते है उसी ढंग से हिंसा आदिक पापों में से किसी भी एक पाप का उद्रेक हो जाने पर उसके अविनाभावी अन्य पाप भी सग लग बैठते है। उस ही सिद्धान्त को ग्रंथकार स्पष्ट कर कह रहे है।

यस्य हिंसानृतादीनि तस्य संति परस्परं।
अविनाभाववद्भावादेषामिति विदुर्बुधाः ॥१॥
ततो हिंसाव्रतं यस्य तस्य सर्वव्रतक्षतिः।
तदेव पंचधा भिन्नं कांश्चित् प्रति महाव्रतं ॥२॥

जिस जीव के हिंसा पाप प्रवर्त्त रहा है उसके अनृत, चोरी आदिक अवश्य हैं (प्रतिज्ञा) क्यों कि इन हिंसा आदिकों का परस्पर में अविनाभाव है (हेतु) जिस प्रकार कि अहिंसा आदि गुणों का परस्पर में अविनाभाव है। दृष्टांत) हिंसा आदि पाप क्रियाओं का अविनाभाव को रखने हुये सद्भाव रहता है इस प्रकार विद्वान् पुरुष समझ रहे हैं। तिस कारण जिस पुरुष के हिंसा नाम का अव्रत है उसके सम्पूर्ण सत्य, अचौर्य, आदिक व्रतों की क्षति हो जाती है अथवा जिसके अहिंसा व्रत है उसके सम्पूर्ण सत्य आदि व्रतों की अक्षति है। कारण कि वह अकेला अहिंसा व्रत ही तो किन्हीं बिस्तर रुचि या जड़-मति शिष्यों के प्रति पांच प्रकार भेदों को प्राप्त हुआ महाव्रत कह दिया जाता है। अर्थात् मध्य पिंडभूत शरीर के दो हाथ, दो पैर, और मध्यपिंड यों पाँच भेद मान लिये जाते है। इसी प्रकर मूलभूत अहिंसा के ही अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग, ये पाँच भेद कर दिये जाते हैं। साथ ही हिंसा के भी हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रहगृद्धि ये पांच भेद जड़ बुद्धि विनीतों की अपेक्षा कर दिये जाते हैं॥

यस्मादतिजड़ान् वक्रजडांश्च विनेयान् प्रति सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणमहिंसाव्रतमेकमेव

सुमेधोभिरभिमन्यमानं पंचधा छिन्नं तस्माद्यस्य हिंसा तस्यानृतादीनि संत्येव तेषां परस्परमविनाभा-वादहिंसायाः सत्यादविनाभाववत् ॥

जिस कारण कि अतीव जड़ हो रहे और वक्रजड़ हो रहे शिष्यों के प्रति श्रेष्ठधारणा बुद्धिशाली विद्वानों करके ठीक ठीक मान लिये गये सम्पूर्ण सावद्यक्रियाओं की निवृत्ति कर देना स्वरूप एक ही अहिंसा व्रत को पांच प्रकार से छेद भेद डाला है तिस कारण जिसके हिंसा पायी जाती है उसके अनृत आदिक अविरतियां हैं ही, क्योंकि उन हिंसा, झूंठ, आदि का परस्पर में अविनाभाव है जैसे कि अहिंसा का सत्य से अविनाभाव हो रहा है। भावार्थ "आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्, अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय। (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय) "झूंठ, चोरी आदि सभी पाप क्रियाओं में प्रमाद योग घुसा हुआ है और प्रमादयोग हिंसा है अतः सभी पाप हिंसामय है। इसी प्रकार सभी धर्म अहिंसा मय हैं जब कि "अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं" प्राणियों की अहिंसा ही जगत् में परमब्रह्म जानी गयी है परमब्रह्म शुद्ध आत्मा का स्वरूप है। केवलज्ञान, चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तवीर्य, ये सभी परिणाम अहिंसा मय है? यदि केवलज्ञान, उत्तम क्षमा, आदि को अहिंसास्वरूप कह दिया जाता है तो सत्य, अचौर्य, आदिक बड़ी सुलभता से अहिंसा आत्मक हो जाते है। अतीव मंदबुद्धि, जड़शिष्यों को समझाने के लिये अहिंसा के पांच भेद कर दिये गये है। हिंसा के भी झूंठ, चोरी, आदि भेद भी तो मात्र समझाने के लिये है। आज कल के मिथ्यादृष्टि दार्शनिक या कुचोद्य करनेवाले पापी पुरुषों को यहां वक्र जड़ समझना चाहिये। इन को विनेय यानी विनय करने वाला शिष्य यों कह दिया गया है कि समझा देने पर हिंसा के साथ संभव रहे झूंठ, चोरी आदि पापों को ये शिरसा पाप रूपेण बुद्धिग्राह्य कर लेते है। एक पण्डित जी ने अमरूद बेचने वाले कूंजड़ा से कहा कि भाई चौमासे मे अमरूदों में कीड़े पड़ जाते हैं अतः हम मोल नहीं लेते है। कूंजड़ा विनय पूर्वक कहता हकि महा-राज पण्डित जी फलों के कीड़े कोई नुकसान नहीं करते है। एक क्रान्तिवादी हठी लड़का डाका डाल कर उस धन को देशहित के कार्य मे लगाना चाहता है। तीसरा जड़ पुरुष कामासक्त स्त्रियों की इच्छा पूर्ण कर देने में पाप नहीं समझता है। वेश्यायें पुरुषों के चित्तविनोद को पुण्यकर्म समझ बैठी है। इस प्रकार अपनी अपनी ढपली और अपना अपना राग गा रहे विनीत अनेक अतिजड़ और वक्र जड़ जीवों के प्रति विचारशील विद्वानों ने हिंसा या अहिंसा के ही पांच भेद कर दिये है। अहिंसा या हिंसा के पांच भेद मानने मे किसी को कुछ खटका भी होय तो भी इन पांचों का अविना भाव तो बड़ी प्रसन्नता के साथ सब को मान्य हो जावेगा ही।

ननु च सति परिग्रहे तत्संरक्षणानंदादवश्यंभाविनी हिंसानृते स्यातां स्तेयाब्रह्मणी तु कथमिति चेत् सर्वथा परिग्रहवतः परस्य स्वग्रहणात् स्त्रीग्रहणाच्च निवृत्तेरभावात्। तन्निवृत्तौ देशतो विरतिप्रसंगात् सर्वथाविरोधात्।

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि आपने परिग्रह मूलक सम्पूर्ण दोषों का प्रसंग हो जाना बतलाया, परिग्रह के होते सन्ते अन्य झूँठ आदि चारों पापों का अविनाभाव कहा, किन्तु यहाँ यह पूँछना है कि परिग्रह के होते संते उस परिग्रह के संरक्षण अनुसार हुये आनंद से हिंसा और झूंठ तो अवश्य हो जावेंगे क्योंकि परिग्रही, रौद्रध्यानी अवश्य जीवों की हिंसा करता है। झूंठ भी बोलता है किन्तु परिग्रह होते संते चोरी और कुशील दोष किस प्रकार संभवेंगे बताओ जिससे कि पांचों पापों का अविनाभाव कह दिया जाय। यों प्रश्न करने पर ग्रन्थकार कहते है कि परिग्रहवाले जीव के दूसरे धन का परिग्रह कर लेने से

और स्त्री का ग्रहण कर लेने से सर्वथा निवृत्ति हो जाने का अभाव है। अर्थात् परिग्रह को इकट्ठा करने वाला पुरुष चोरी का त्याग नहीं कर सकता है। वेश्यायें या कतिपय व्यभिचारिणी स्त्रियां पुरुषों से धन के ग्रहण का उद्देश्य कर कुशील सेवन करती हैं। कतिपय पुरुष भी क्षेत्र, गृह, धन, खाद्य, पेय आदि परिग्रह की प्राप्ति का लक्ष्य कर मनचली धनाढ्य स्त्रियों के साथ गमन करते हैं। कतिपय परिग्रही जीव स्त्रियों, लड़कियों आदि का क्रय, विक्रय, कर धन उपार्जन करते है, कितने ही वृद्ध परिग्रही जीव चोरी या परस्त्रियों की अनुमोदना करते है। यो कृत, कारित, अनुमति से अनेक दोष लगते रहते हैं अतः परिग्रही के चोरी करने या स्त्रीग्रहण करने का परित्याग नहीं है। यदि उन चोरी और स्त्रीग्रहण की निवृत्ति मानी जायगी तो एक देश से हिंसादिक पापों से भी विरति हो जाने का प्रसंग आवेगा और ऐसी दशा में एक देशविरति और अविरत परिग्रहीपन का सर्वथा विरोध है जो एक देशविरति को धारण करता है वह परिग्रह संग्रह मे आसक्त नही है किन्तु परिमितपरिग्रही होता संता अनेक परिग्रहो से विरक्त है।

एतेन सर्वथा हिंसायामनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणामवश्यभावः प्रतिपादितस्तत्रानृतादिभ्यो हिंसांगेभ्यो विरतेरसंभवात् संभवे वा सर्वथा हिंसानवस्थितेः ॥

पाँचो पापों का अविनाभाव होकर प्रवर्तन को कथन कर रहे इस प्रकरण करके यह सिद्धान्त भी समझा दिया गया है कि हिंसा नामक पाप क्रिया मे अन्य झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन चारों क्रियाओं का सभी प्रकारों से अवश्य हो जाना नियत है क्योंकि उस हिंसा आनन्दी जीव में हिंसा के अङ्ग हो रहे अनृत आदिकों से विरति हो जाने का असम्भव है। यदि विकल्प रख कर हिंसारत पुरुष में अनृत आदिकों से विरति हो जाने का सभव माना जायगा तो उस जीव की सभी प्रकारों से हिंसा में अवस्थिति नही हो सकती है। अर्थात् जो अनृत आदि से विरति कर रहा है वह जीव सर्वथा हिंसा में आसक्त नही है। सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत आदि के साथ उसके अहिंसाणुव्रत भी सम्भव रहा है। यों हिंसा के साथ चारों पापो का अविनाभाव दर्शा दिया गया है॥

तथैवानृते सर्वथा हिंसास्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणामवश्यम्भावः प्रकाशितः हिंसांगत्वेनानृतस्य वचनात्तत्र तस्याः सामर्थ्यतः सिद्धेः। स्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणामपि सिद्धेस्तदंगत्वान्यथानुपपत्तेः ॥

जिस प्रकार परिग्रह में या हिंसा में शेष चारों अव्रतों का अविनाभाव है तिस ही प्रकार अनृत नामक पाप मे भी शेष हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रहों का सम्पूर्ण प्रकारों से अवश्यम्भाव प्रकाशित कर दिया गया है क्योंकि ग्रन्थो में अनृत का हिंसा के अंगपने कर के कथन किया गया है। अर्थात् "सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्, अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवसरति" ॥ (पुरुषार्थसिद्धय पाय) स्वयं ग्रन्थकार ने असत्य का निरूपण करते समय कहा था "तेन स्वपरसंतापकारणं यद्वचोगिनां। यथा दृष्टार्थमप्यत्र तदसत्यं विभाव्यते" ॥ अनृत भाषण करना हिंसा का अंग है, अतः अनृत में उस हिंसा की बिना ही सामर्थ्य से सिद्धि हो जाती है। साथ ही अनृत में चोरी, कुशील परिग्रहों की भी सिद्धि है कारण कि झूंठ को चोरी आदि का अंगपना अन्यथा बन नहीं सकता है। अथवा चोरी, कुशील परिग्रहों को झूंठ का अंग हो जाना अन्यथा यानी अवश्यम्भाव के बिना बन नहीं सकता है। जो जिसका अंग है उस अंग का अंगी भी वहाँ विद्यमान है, यों झूंठ बोलने वाले जीव के शेष चार अव्रतों की सत्ता भी पायी जाती है॥

तथास्तेये सर्वथा अवश्यंभाविनी हिसा द्रविणहरणस्यैव हिंसात्वात् द्रविणस्य बाह्यप्राणात्मकत्वात्। तथाचोक्तं–"यावत्तद्द्रविणं नाम प्राणा एते बहिश्चराः। स तस्य हरते प्राणान्

यो यस्य हरते धनं ॥' इतिहिंसाप्रसिद्धौ चानृताब्रह्मपरिग्रहाणां सिद्धिस्तदंगत्वात् ॥

तिस ही प्रकार चोरी में भी सभी प्रकारों से हिंसा अवश्य हो जावेगी, क्यों कि धनका हरण करना ही हिंसा है। यद्यपि बाह्यप्राण तो इन्द्रिय आदिक दश है तथापि धन को बाह्यप्राणस्वरूप माना गया है, और तिसी प्रकार आर्षग्रथों में कहा जा चुका है कि जो कुछ वे प्रसिद्ध हो रहे रुपया, भूमि, भूषण, प्रासाद आदिक धन नाम धारी है ये सब बढ़िया बाहरले प्राण है, जो चोर जिस जीव के धन को हर लेता है वह उसके प्राणों को ही हर लेता है-अर्थात् धन की चोरी हो जाने से हजारो जीवों की मृत्युये हो जाती है। धन का वियोग हो जाने पर हाय करके अनेक जीव मर जाते है, असंख्य अधमरे हो जाते हैं, कितने ही चिन्ता, आधिव्याधियो से पीड़ित हो कर कुछ काल में मर जाते है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी कहा है। 'अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्। तत्प्रत्येयं स्तयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥१॥ अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसां। हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥२॥" इस प्रकार चोरी करने में हिंसा की प्रसिद्धि हो जाने पर अनृत, कुशील, परिग्रह इन पाप कर्मों की भी सिद्धि हो जाती है, क्यों कि उन अनृत आदि अंगियों का यह चोरी अंग है अथवा अंगी चौर्य कर्म के ये अनृत आदिक सब अंग हैं। अग और अंगी का अविनाभाव प्रसिद्ध है ॥

एवमब्रह्माणि सति हिंसायाः सिद्धिस्तस्या रागाद्युत्पत्तिलक्षणत्वात् स्वभोग्यस्त्रीसंरक्षणानंदाच्च हिंसायां च सिद्धायां स्तेयानृतपरिग्रहसिद्धिस्तदंगत्वात् तेषां तद्विरत्यभावाद्विरतौ वा सर्वथा तद्भावविरोधाद् देशविरतिप्रसंगात् ॥

परिग्रह, हिंसा, झूंठ और चोरी इन एक एक मे शेष चारों अव्रतों का अविनाभाव जैसे कह दिया है इस ही प्रकार अब्रह्म के साथ भी शेष चारों पाप वर्त रहे है देखिये अब्रह्म यानी कुशील के होते सन्ते हिंसा की सिद्धि है ही क्योकि राग आदि की उत्पत्ति होना उस हिंसा का लक्षण माना गया है- "अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति। तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥" यो रागादिक की उत्पत्ति होने से मैथुन में तीव्र भावहिंसा होती है। एक बात यह भी है कि स्वकीय भोगने योग्य स्त्रियों के संरक्षण में वैषयिक आनन्द मानने से भी भाव हिंसा बढ़ जाती है। द्रव्यहिंसा तो कुशील मे जगत्प्रसिद्ध है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखा है-"यद्वेदरागयोगान् मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म, अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥१॥ हिंस्यंते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्, बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥२॥ यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि, तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥३॥ मैथुन में प्रवृत्ति कर रहा प्राणी थावर जंगम जीवों का विध्वंस कर रहा है। श्रुतसागरी में लिखा है-"तथाचोक्तं मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटयः। योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिंगसंघट्टपीडिताः। घाते घाते असंख्येया कोटयो जन्तवो म्रियन्ते इत्यर्थः तथा कक्षाद्वये, स्तनान्तरे, नाभौ, स्मरमन्दिरे च स्त्रीणां प्राणिन उत्पद्यन्ते तत्र करादिव्यापारे ते म्रियन्ते, मैथुनार्थं मृषावादं वक्ति अदत्तमप्याददते बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं च ॥" यों मथुन क्रिया मे तीव्रभावहिंसा और द्रव्यहिंसा प्रसिद्ध हो जाने पर चोरी, असत्य और परिग्रह की सिद्धि तो अनायास हो जाती है क्यों कि वे उसके अंग हैं। मैथुन करने से भी जीव के उन चोरी, झूंठ आदि से विरति हो जाने का अभाव है। अथवा कुशील वाले जीव के चोरी आदि से विरति मानी जायगी तब तो सर्वथा उस कुशील परिणाम के होने का विरोध हो जाने के कारण देशविरति ब्रह्मचर्य अणुव्रत हो जाने का प्रसंग आ जावेगा। ऐसी दशा में कुशील कथमपि नहीं हो सकता है। यों पाँचों में से प्रत्येक का इतर चारों अविरतियां के साथ अविनाभाव बन रहा बखान दिया गया है ॥

तदेवं वस्त्रपात्रदण्डाजिनादिपरिग्रहाणां न परिग्रहो मूर्छारहितत्वात् तत्त्वज्ञानादिस्वीकरणवदिति वदंतं प्रत्याह।।

यहाँ कोई कटाक्ष करता है कि सूत्रकार ने परिग्रह का लक्षण मूर्छा कहा सो ठीक है, जैनमुनि परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर रहे आकिञ्चन्य धर्म में दृढ है। हां संयम का उपकरण होने से वे मुनि कमण्डलु, पिच्छिका, पुस्तकों को ग्रहण कर लेते बताये गये हैं। जब कि कमण्डलु आदि का परिग्रह मूर्च्छा का कारण न होने से परिग्रह नहीं माना जाता है, तब तो इसी प्रकार वस्त्र (कपड़ा) पात्र (पाथड़ा) दण्ड (त्रिदण्ड, एक दण्ड आदि) आर्जन (मृग, व्याघ्र, सिंह का चमड़ा) आदि माला, चश्मा, घड़ी, जटा, कन्था, चीमटा, आदि परिग्रहों को भी परिग्रह पाप नहीं माना जाय (प्रतिज्ञा) मूर्च्छारहित होने से (हेतु) तत्त्वज्ञान, क्षमा, पिच्छिका आदि के अंगीकार करने समान (अन्वयदृष्टान्त) यह अनुमान ठीक है। अर्थात् लज्जा दूर करने के लिये वस्त्रका ग्रहण है जो कि कामुक स्त्री, पुरुषों, विकारों की निवृत्ति के लिये आवश्यक है। स्वयं की लज्जा का भी निवारण हो जाता है। साधु को जनता निर्लज्ज नहीं कहने पाती है। शुद्धभोजन या भैक्ष्यशुद्धि अनुसार अनेक भिक्षाओं को प्राप्त करने के लिये अथवा गुरु या रुग्णव्रती को भिक्षा का भाग देने के लिये पात्रकी आवश्यकता हो जाती है रुपया, पैसा धरने के लिये पात्र नहीं बांधा जाता है जिससे कि मूर्च्छा हो सके। इसी प्रकार कुत्ता, बिल्ली या सहचरियों को मारने के लिये दण्ड नहीं है केवल त्रिदण्डी या एक दण्डी साधु को अपना चिह्न दण्ड हाथ में उठाये रखना पड़ता है। अशुद्ध स्थल पर चमड़े को बिछाकर ध्यान लगा दिया जाता है। मयूरपिच्छिका के समान मृगचर्म, चमरीरुह, शंख आदि में सन्मूर्च्छन जीव नहीं उपजते है। जाप देने के लिये माला भी चाहिये। छोटे अक्षरों को देखने के लिये चक्षुरोगी साधु को उपनेत्र (चश्मा) धारना पड़ता है। सामायिक का समय देखने के लिये घड़ी की आवश्यकता है। जटायें तो अपने आप बढ जाती है। शरीर से उपजी उष्णता करके अनेक जीव मर जाते है। कन्था या वस्त्र से उन जीवों की रक्षा हो सकती है। इस प्रकार वावदूकता पूर्वक कह रहे कटाक्षकर्ता के प्रति आचार्य महाराज समाधान वचन को कहते है।

मूर्च्छा परिग्रहः सोपि नाप्रमत्तस्य युज्यते।
तथा विना न वस्त्रादिग्रहणं कस्यचित्तः ॥२॥

मूर्च्छा करना परिग्रह है, यों इस सूत्र द्वारा परिग्रह का निर्दोष लक्षण किया गया है। वह परिग्रह भी अप्रमत्त जीव के नहीं पाया जाता है यह युक्ति पूर्ण सिद्धान्त है क्योंकि प्रमादरहित जीव के मूर्च्छा नहीं है तिस कारण उस मूर्च्छा के बिना किसी भी जीव के वस्त्र, पाथड़ा, आदि का ग्रहण करना नहीं सम्भवता है यों सिद्धान्त हो चुकने पर वस्त्र, आदि को ग्रहण करने वाले साधुवेशी या अन्य जीव सभी परिग्रहदोषवान है। अर्थात् वस्त्र के रक्षण सीवन, धोवन, प्राप्ति, आदि में अनेक आरम्भ करने पड़ते है। प्रमेयकमलमार्तण्ड में लिखा है कि "ह्रीशीतार्तिनिवृत्यर्थं वस्त्रादि यदि गृह्यते। कामिन्यादिस्तथा किन्न कामपीडादिशान्तये ॥ येन येन बिना पीडा पुंसां समुपजायते। तत्तत्सर्वमुपादेयं लावकादि पलादिकम् ॥" यों राग का कारण हो रहा वस्त्र तो परिग्रह ही है। भोजन या भिक्षा के लिये पात्र रखना भी परिग्रह है। मुनि एक ही स्थान पर श्रावक के घर जा कर पाणिपात्र द्वारा निर्दोष आहार लेते हैं। हाँ बहिरंग शुद्धि के लिये जलाधार कमण्डलु को रखना पड़ता है। साधु की ऊंची अवस्था में कमण्डलु और पिच्छी का त्याग हो जाता है। तीर्थंकर मुनि को कमण्डलु और परिहारविशुद्धिसंयमी को पिच्छिका की आवश्यकता नहीं है, चिह्नरूप से भले ही लिये रहें। इसी प्रकार दण्ड रखना तो परिग्रह ही है यह

कोई रत्नत्रय या आत्मशुद्धि का चिह्न नहीं है। चर्म तो साक्षात् त्रस जीवों का उत्पत्तिस्थान है। अपवित्र, अशुद्ध, अस्पृश्य ऐसे चर्म को देखने या छूने से जब गृहस्थ भी भोजन करना छोड़ देता है तो साधु ऐसे त्रस जीवों के घात से उपजे निकृष्ट पदार्थ को अपने पास कैसे रख सकते हैं? अन्य चीमटा, घड़ी, आदिक भी संयम के उपकरण नहीं सम्भवते है। अतः मुनिजन मूर्छा के कारण हो रहे वस्त्र आदि उपधियों को परिग्रह मानकर उन से विरक्त रहते है।

लज्जापनयनार्थं कर्पटखण्डादिमात्रग्रहणं मूर्छाविरहेपि संभवतीति चेन्न, कामवेदनापनपनार्थं स्त्रीमात्रग्रहणेपि मूर्छाविरहप्रसंगात् तत्र योषिदभिष्यंग एव मूर्छेति चेत्, अन्यत्रापि वस्त्राभिलाषः सास्तु केवलमेकत्र तु कामवेदना योषिदभिलाषहेतु परत्र लज्जा कर्पटाभिलाषकारणमिति न तत्कारणनियमोस्ति, मोहोदयस्यैवांन्तरंगकारणस्य नियतत्वात् ॥

कोई पर वादी कह रहा है कि लज्जा का निवारण करने के लिये केवल कपड़े का खण्ड, काठ की बनी हुई कौपीन, पातल, मूंज का बना हुआ उपकरण आदि का ग्रहण करना मूर्च्छा से रहित होने पर भी सम्भव जाता है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो कामजन्य वेदना का निराकरण करने के लिये मात्र स्त्री के ग्रहण करने में भी मूर्छारहितपन का प्रसंग आ जायगा। अर्थात् जो कोई यों कहता है कि मूर्छा के न होने पर भी लज्जा के निवारणार्थ कपड़े आदि का ग्रहण है, वह यह भी कह सकता है कि मूर्छा के नहीं होने पर भी काम पीड़ा को दूर करने के लिये स्वल्पकाल पर्यन्त केवल स्त्री का ग्रहण है। वस्त्र से लज्जा दूर हो जाती है, स्त्री से कामपीड़ा निवृत्त हो कर आकुलता मिट जाती होगी, द्यूतक्रीड़ा की कण्डूया जुआ खेलने से अलग हो जायगी। इसी प्रकार अपमान, क्षुधा, निर्बलता, हास्य, कण्डूया, कारागृह वास, रिरंसा, दीनता, दरिद्रता आदि के निवारणार्थ हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाप क्रियाओं मे निमग्न हो सकता है। अपमान आदि का निवारण करने वाला जीव मूड़ा लगा देगा कि उक्त हिंसा आदि क्रियाओं में मेरे प्रमादयोग नहीं है जैसे कि लज्जा को दूर करने के लिये वस्त्रखण्ड आदि के ग्रहण में मूर्छा नहीं मानी जा रही है। इस पर यदि आक्षेपकार यों कहे कि वहां स्त्रीमात्र के ग्रहण मे तो स्त्री का प्रेमालिंगन करना ही मूर्छा है अतः कोई भी साधु कामवेदना के प्रतीकारार्थ स्त्रीमात्र को ग्रहण करने में मूर्छा रहित नहीं कहा जा सकता है। यों कहने पर ग्रन्थकार कहते है कि तब तो अन्य स्थल पर भी यानी लज्जानिवारणार्थ वस्त्रखण्ड आदि के ग्रहण करने मे भी वस्त्र की अभिलापा करना ही वह मूर्छा समझी जाओ। केवल इतना ही अन्तर है कि एक स्थल पर तो स्त्री की अभिलापा होने का कारण काम वेदना है और दूसरे स्थल पर कपड़े की अभिलापा का कारण लज्जा हो रहा है। कहीं प्रतिहिंसा की अभिलाषा का कारण अपमान हो सकता है। सुवर्ण की अभिलाषा का कारण दरिद्रता हो सकती है। इस प्रकार उस मूर्छा के कारणों का कोई नियम नही है कि स्त्री प्रसंग करना, वस्त्राभिलाषा करना, कौत्कुच्य करना आदिक ही मूर्छा के नियत कारण होवें। मूर्छा के बहिरंग कारण असंख्यात हो सकते है। हां अन्तरंग कारण एक मोहनीयकर्म का उदय होना तो नियत है। वस्त्रखण्ड आदि के ग्रहण करने में अंतरंग कारण और बहिरंग कारण विद्यमान हैं अतः मूर्छा अवश्यंभाविनी है। तभी तो परिग्रह रहित साधु वस्त्र आदि का ग्रहण नहीं करते है॥

एतेन लिंगदर्शनात् कामिनीजनदुरभिसंधिः स्यादिति तन्निवारणार्थं पटखण्डग्रहणमिति प्रत्युक्तं, तन्निवारणस्यैव तदभिलाषकारणत्वात्। नयनादिमनोहरांगानां दर्शनेपि वनिताजनदुरभिप्रायसंभवात् तत्प्रच्छादनकर्पटस्यापि ग्रहणप्रसक्तिश्च तत एव तद्वत्।

इस उक्तसयुक्तिक कथन से इस मन्तव्य का भी खण्डन हो चुका है कि लिंग के दर्शन से अलबेली कामिनी जनों के हृदय में कामवासना प्रयुक्त खोटे अभिप्राय उपजेंगे इस कारण उन कामिनियों के निकृष्ट अभिप्रायों की उत्पत्ति या लिंग देखने के निवारणार्थ साधु को वस्त्रखण्ड का ग्रहण करना उचित है। वस्त्रद्वारा गुह्य अंग का गोपन हो जाने से मनचली, अलबेली, नबेली, कामिनियों के दुरभिप्राय नहीं उपज सकेंगे। ग्रंथकार कहते हैं कि उसका निवारण करना ही वस्तुतः उनकी दूनी, चौगुनी अभिलाषाओं की उत्पत्ति का कारण है। अंगों को वह कामुक जीव गुप्त रखता है जिस के हृदय में कामवासना नागिन लहरें ले रही है। बालक अपने गुप्त अंगों को नहीं ढकता है, क्योंकि बालक के कषायभाव नहीं हैं। अनेक पुरुष, या स्त्रियां दूसरों के सुन्दर अंगों के निरीक्षणार्थ आनखशिख प्रयत्न करते हैं भले ही वे उस में सफल मनोरथ न हो सकें किन्तु मूर्छा या कुशील को हेतु मानकर पापास्रव तो हो ही जाता है। एक बात यह भी है कि कहां तक अंगों को ढका जायगा, नेत्र, दन्तावली, वक्षःस्थल, नाभि, हाथ, आदि मनोहर अंगों के देखने पर भी पुंश्चली वनिताजनों के कुत्सित अभिप्रायों का हो जाना सम्भवता है। ऐसा हो जाने उन नेत्र आदि को भले प्रकार ढक देने वाले कपड़े के भी ग्रहण करने का प्रसंग आ जावेगा कारण कि उस ही हेतु से यानी कामिनी जनों की निकृष्ट अभिलाषाओं का निवारण कर देने वाला होने से ही उस लिंग आच्छादक वस्त्र के समान नयन आदि का आच्छादक वस्त्र भी रखना पड़ेगा। ऐसी दशा में सुन्दर नेत्रवाले साधु की भला ईर्यासमिति कैसे पल सकेगी? सुन्दर हाथ पांव वाले मुनि के एषणासमिति नहीं पल सकेगी। सुन्दरता की परिभाषा भी बड़ी विलक्षण है। किसी को कुरूपा का अंग ही देवांगना का सा स्वरूप जचता है, अन्य को अत्यन्त सुन्दर रूप भी विषवत् प्रतीत होता है। किस किस की अपेक्षा साधु अपने अंग को छिपाते फिरेंगे। उलूक को सूर्य नहीं रुचता है, कमल को रात्रि नहीं रुचती है। कनैटा दूसरे की अच्छी आंख पर ईर्ष्या करता है। दरिद्रपुरुष मेला को बुरा समझता है। पण्डितों को मूर्खजन शत्रु समझते हैं। निर्धन पुरुषों की भावनाओं अनुसार बजाजखाना, सराफा, हलवाईहट्टा, नाजमण्डी, मेवाबाजार आदि सुन्दर वस्तुओं के क्रय विक्रय स्थान भले ही जन्म जन्मान्तरों के लिये भी मिट जांय उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी। वस्तुतः विचारा जाय तो अपनी पवित्र आत्मा में दुर्भावनाओं को नहीं उपजने देना ही स्वाधीन कर्तव्य है। जगत् की प्रक्रिया टाले नहीं टल सकती है। बालक के समान मुनि की निर्विकार चेष्टा होती है। दूसरों के अभिप्रायों को रोकने के लिये मुनि महाराज ने ठेका नहीं ले रखा है। दरिद्रों के खोटे अभिप्राय उत्पन्न होवेंगे एतावता बाजार या वस्त्र, आभूषणों का पहनना बन्द नहीं हो सकता है। तभी तो चारित्र मोह के उदय होने पर हुई मूर्छा को परिग्रह माना है। वस्त्रग्रहण में अवश्य मूर्छा है।

सोऽयं स्वहस्तेन बुद्धिपूर्वकपटखंडादिकमादाय परिदधानोपि तन्मूर्छागहित इति कोशपान विधेयं, तन्वीमाश्लिष्यतोऽपि तन्मूर्छारहितत्वमेवं स्यात्। ततो न मूर्छामन्तरेण पटादिस्वीकरणं संभवति तस्य तद्धेतुकत्वात्। सा तु तदभावेपि संभाव्यते कार्यापायेपि कारणस्य दर्शनात्। धूमाभावेपि मुर्मुराद्यवस्थपावकवत्।

सो यह प्रसिद्ध हो रहा रक्तवस्त्रधारी संन्यासी या शुक्लवस्त्रधारी श्वेताम्बर साधु अपने हाथ करके बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न पूर्वक वस्त्रखण्ड, लंगोटी आदि को ग्रहण कर पुनः पहनता हुआ भी उसकी मूर्छा से रहित है यों कहते रहने में कोशपान कर लेना चाहिये। भावार्थ—सद्गृहस्थ यदि सामायिक करने बैठे उसका वस्त्र वायु आदिक से यहाँ वहाँ हट जाय पुनः वह यदि उस वस्त्र को वहाँ का वहीं अंग पर

सरका लेता है तो वह अवश्य मूर्छावान है। आर्यिका भी यहाँ वहाँ खिसक गये वस्त्र को अपने हाथ करके लज्जावश बुद्धिपूर्वक पुनः पहन लेती है तो वह भी मूर्छायुक्त हो रही सामायिक भावों में स्थिर नहीं रह पाती है। किन्तु यहाँ वैष्णव सम्प्रदाय वाले या श्वेताम्बर जैन यों कहते है कि अपने हाथ द्वारा बुद्धि पूर्वक पटखण्ड आदि को ग्रहण कर पहिन रहा भी साधु मूर्छा रहित है ऐसे असत्यभाषण की उन वैष्णव या श्वेताम्बरों ने सौगन्ध ले रखी है अहिफेन खाने वाले या उद्भ्रान्त पुरुष उन्माद पूर्वक ऐसी रद्दी बातों को कहते है। यदि बुद्धिपूर्वक वस्त्रधारण कर रहा भी मूर्छा रहित है तो इसी प्रकार तन्वी (पतली तरुणी) का प्रेमालिंगन कर रहे साधु के भी उस तन्वी की मूर्छा से रहितपन का प्रसंग आ जावेगा। तिस कारण यह सिद्ध हो जाता है कि मूर्छा के बिना कपड़ा, दण्ड, पात्र आदिका स्वीकार करना कथमपि नही सम्भवता है क्योंकि उस मूर्छा को हेतु मान कर ही उस कपड़े आदिका स्वीकार करना कार्य उपजता है। हाँ वह मूर्छा तो उन पट आदि का ग्रहण के अभाव हो जाने पर भी सम्भावित हो रही है। अनेक पशु पक्षी या द्रव्यलिंगी साधुओं के प्रबल मूर्छा पायी जाती है। कार्य के न होने पर भी कारण देखा जाता है जैसे कि धूम के नहीं होने पर भी मुर्मुर आदि अवस्थाओं में अग्नि देखी जा रही है अर्थात् "न कारणानि अवश्यं कार्यवन्ति भवन्ति" कारणों से अवश्य कार्य हो जाने ही चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। (मत्वर्थो जनकत्वं, हाँ "सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये" सामर्थ्य का प्रतिबन्ध नहीं होना और अन्यकारणों की परिपूर्णता हो जाने पर समर्थ कारण उत्तर क्षण में कार्य को अवश्य कर देता है। किन्तु "कार्याणि तु अवश्यं कारणवन्ति भवन्ति" कार्य तो अवश्य ही कारण वाले होते हैं। (जन्यत्वं मत्वर्थीयार्थः) कारणो के बिना कार्य का आत्मलाभ हो नहीं हो सकता है। अनन्तानन्त कारण अन्य सहकारी कारणों के नहीं मिलने पर कार्यो को किये विना ही मर जाते है। सभी बीज अंकुरों को नहीं उपजा पाते है, लाखवां, करोड़वां भाग बीज अंकुर होकर उपजते है शेष बहुभाग खाने, कूड़े, खात, आदि में व्यय हो जाते हैं। गर्भोत्पादक शक्तियाँ बहुभाग नष्ट हो जाती हैं। सभी अंतरंग बहिरंग कारणों की यही दशा है। सभी कारण यदि कार्यो को कर बैठे तो स्थान ही नही मिलै। यों "अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुतो लक्षणम्" प्रत्येक कारण कुछ न कुछ तो कार्य करता ही रहता है, स्थान घेरना, भार रख देना, अपने ठलुआपन का ज्ञान करना, आदि साधारण कार्य होते रहते है जो कि अगण्य है। अतः कारण को कार्यवान् होने का नियम नही है। धानों के तुषों की अग्नि भीतर ही भीतर धधकती रहती है। बाहिर धुये रूप कार्य को नहीं उपजाती है। अयोगोलक अंगार, भूभड़ की आग भी धुंये को नही उत्पन्न करती है। इसी प्रकार प्रकरण मे यह कहना है कि वस्त्र, पात्र आदि परिग्रहों का ग्रहण किये बिना भी अंतरंग कारण वश मूर्छा सम्भव जाती है। किन्तु जहाँ इच्छा प्रयत्न पूर्वक वस्त्र, दण्ड, चर्म, आदि का ग्रहण हो रहा है वहाँ तो मूर्छा अवश्य ही है।

नन्वेवं पिच्छादिग्रहणेपि मूर्छा स्यात् इति चेत्, तत एव परमनैर्ग्रन्थ्यसिद्धौ परिहारविशुद्धिसंयमभृतां तत्त्यागः सूक्ष्मसांपराययथाख्यातसंयमभृन्मुनिवत्। सामायिकछेदोपस्थापनसंयमभृतां तु यतीनां संयमोपकरणत्वात् प्रतिलेखनस्य ग्रहणं सूक्ष्ममूर्छासद्भावेपि युक्तमेव, मार्गाविरोधित्वाच्च।

अपने वस्त्र, आदिको ग्रहण करने के पक्ष का अवधारण कर रहा कोई पण्डित आक्षेप कर रहा है कि इस प्रकार तो जैनों के यहाँ पिच्छी, कमण्डलु, आदि के ग्रहण करने में भी साधु के मूर्छा हो जायगी। यों कहने पर तो ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि तिस ही कारण से यानी पिच्छ आदि के ग्रहण में स्वल्प मूर्छा का अंश होने से ही जब परम उत्कृष्ट निर्ग्रन्थपन की सिद्धि हो जाती है तब परिविशुद्धि नाम के

संयम को धारने वाले मुनियों के उस पिच्छ आदिका त्याग हो जाता है। जैसे कि सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात संयम के धारी मुनियो के पिच्छ आदि का त्याग है। अर्थात्–"तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले। पच्चक्खाणं पढिदो, संझूया दुगाउपविहारो" जन्म से तीस वर्ष पर्यन्त पूर्ण आनन्द पूर्वक ठहरे पुनः दीक्षाग्रहण कर तीर्थंकर के सन्निकट सात, आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक पूर्व का अध्ययन करे उन मुनि के परिहारविशुद्धि संयम होता है। इनके वर्षाकाल मे एक स्थान पर ही ठहरने का नियम नहीं है। परिहारविशुद्धि संयमवाले मुनि करके किसी जीव को बाधा नही पहुँचती है। प्रत्युत ये किसी जीव के ऊपर यदि बैठ भी जावे तो उस जीव को विशेष आनन्द मिलेगा। रोग, शोक दूर हो जावेंगे। अतः इनको पिच्छीग्रहण की आवश्यकता नही है "तित्थयरा तप्पयरा हलधर चक्की य वासुदेवा य। पडिवासुदेव भोमा आहारं णत्थि णीहारो॥" तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, आदि के आहार है नीहार नहीं, ये मुनि हो जाते है तब भी इन मुनियों के मलमूत्र आदिका संसर्ग नहीं है अतः अंग शुद्धि के लिये राखे गये कमण्डलु की आवश्यकता नहीं। मात्र चिन्ह स्वरूप भले ही रख लिया जाय। विशेष ज्ञानी या अंग-वेत्ता मुनि महाराज शास्त्र भी नही रखते है। ज्ञान अल्प भी होय किन्तु कषायों का मन्द करना ही जिन का लक्ष्य होय वे भी शास्त्रों को रखने में उत्सुक नही रहते है। वीतरागभावो की वृद्धि हो जाने पर स्वयं श्रुतज्ञान बढ जाता है जो कि प्रकृष्टध्यान या श्रेणियों मे उपयोगी हैं। लोक मे भी देखा जाता है कि शास्त्र-ज्ञान थोड़े निमित्त से हो जाता है। छोटी आयु के पण्डित बड़े बूढ़े पचासों वर्ष स्वाध्याय करने वालों को पढा देते हैं। मुनि अवस्था में घटाटोपों की आवश्यकता नहीं है। भेद विज्ञान हो गया बस बुद्धि पुरुषार्थ पूर्वक तेरह प्रकार चारित्र को पालते हुये कदाचित् उपाध्याय से अत्यल्प अध्ययन कर तत्त्ववेत्ता बन जाते है। उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी मे भी पिच्छ, कमण्डलु नहीं हैं। हाँ छठवे गुणस्थान और निरतिशय अप्रमत्त सातमे गुणस्थान में मुनियों के पिच्छ आदि का ग्रहण है। यों सामायिक और छेदोपस्थापना नामक संयमो को धारने वाले मुनिमहाराजो के तो संयम साधने का उपकारी उपकरण होने से प्रमार्जन करने वाले प्रतिलेखन यानी पिच्छिका का ग्रहण करना समुचित ही है। भले ही पिच्छ या कमण्डलु के ग्रहण में सूक्ष्म मूर्छा का सद्भाव है तो भी प्राण संयम का विशेष उपकारी होने से पिच्छी का ग्रहण है। एक बात यह भी है कि संयम के उपकरण का ग्रहण करना मुनिमार्ग का विरोधक नही है प्रत्युत साधु-मार्ग के अनुकूल है। हाँ वस्त्र, पात्र, आदि का ग्रहण करना तो मोटी मूर्छा के अनुसार हुआ है और मुनिमार्ग निर्ग्रन्थता का विरोधी भी है॥

नन्वेवं सुवर्णादिग्रहणप्रसंगः तस्य नाग्न्यसंयमोपकरणत्वाभावात् तद्विरोधित्वात्। सकलोपभोगसम्यग्निबन्धनत्वाच्च। न च त्रिचतुरपिच्छमात्रमलाबूफलमात्रं वा किंचिन्मूल्यं लभते यतस्तदप्युपभोगसंपत्तिनिमित्तं स्यात्। न हि मूल्यदानक्रययोग्यस्य पिच्छादेरपि ग्रहणं न्याय्यं, सिद्धान्तविरोधात्॥

जिस प्रकार संयम का उपकरण हो रही पिच्छिका का ग्रहण है इस प्रकार सोना, चांदी, मोहर, नोट, गिन्नी, आदि के ग्रहण कर लेने का तो प्रसंग नही आता है। क्योंकि उस सुवर्ण आदि के ग्रहण को नग्नता या सयम के उपकरणपन का अभाव है प्रत्युत सुवर्ण आदि का ग्रहण करना उस संयम या नग्नता का विरोधी है। एक बात यह भी है कि सुवर्ण, रुपया आदि का ग्रहण करना तो सम्पूर्ण भोग उपभोगों का बहुत अच्छा कारण है। सोना, रुपया, आदि से अनेक उपभोग मोल लिये जा सकते है। आजकल सुवर्ण ही राष्ट्रकी अटूट सम्पत्ति मानी गयी है जिसके पास अधिक सोना है वही देश दूसरे देशों को

दबाकर सब के ऊपर प्रभाव जमाता है। किन्तु केवल तीन, चार, पिच्छों की बनी एक पिच्छिका अथवा मात्र शुष्क तूंबीफल (कमण्डलु) को यदि बेचा जाय तो कुछ भी मूल्य हाथ में नहीं प्राप्त होता है जिस से कि वह पिच्छिका या तूंबीफल भी उपभोग सम्पत्ति का निमित्त हो जाता। अर्थात् मयूर की तीन, चार, छह डंडीरें या तूंबीपात्र का कुछ भी मूल्य नहीं मिलता है। ऐसे संयमोपकरण रखने में मुनि के कोई मूर्छा नहीं है। हां मूल्य देकर क्रय विक्रय योग्य हो रहे अर्थात् जिन मूल्यवान कमण्डलु, पिच्छिका को बेचकर भोग्य पदार्थ खरीदे जा सकते है ऐसे पिच्छी कमण्डलु आदि का भी ग्रहण करना न्यायोचित नहीं है। क्योंकि सिद्धान्त से विरोध हो जायगा। इस कथन से जो साधुवेशी मूल्यवान उपकरण रखते हैं उनके रागपूर्ण मन्तव्यों का प्रत्याख्यान हो जाता है। मूल्यवान उपकरणों मे अवश्य मूर्छा हो जाती है। उन के संयोग वियोग में महान राग-द्वेष उपजते हैं सुवर्ण आदि की तो बात ही क्या है ॥

ननु मूर्च्छाविरहे क्षीणमोहानां शरीरपरिग्रहोपगमान्न तद्धेतुः सर्वः परिग्रह इति चेन्न, तेषां पूर्वभवमोहोदयापादितकर्मबंधनिबन्धनशरीरपरिग्रहाभ्युपगमात्। मोहक्षयात्तत्त्यागार्थं परमचारित्रस्य विधानादन्यथा तत्त्यागस्यात्यंतिकस्य करणायोगात्।

यहाँ कोई पण्डित अनुनयपूर्वक आपत्ति उठाता है कि मूर्छा के नहीं होने पर भी बारहवे गुणस्थान वाले क्षीणमोह मुनियों के औदारिक शरीर या कर्म शरीर रूपी परिग्रह स्वीकार किया गया है। इस कारण सभी परिग्रह उस मूर्छा को कारण मानकर होते हैं यह बात नहीं माननी चाहिये. सूक्ष्मराग का सद्भाव होने से दशमे गुणस्थान तक कथंचित मूर्छा मानी जा सकती है। ग्यारहवे गुणस्थान मे मूर्छा के कारण हो रहे चारित्र मोहनीय कर्म की सत्तामात्र है किन्तु बारहवे, तेरहवे, चौदहवे, गुणस्थानों में सर्वागमूर्छा नहीं होते हुये भी शरीर का परिग्रह हो रहा देखा जाता है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्योंकि मोह को क्षीण कर चुके उन जीवों के पूर्वभवों में मोह के उदय से अनचाहे आ गये कर्मबन्ध को कारण मानकर शरीर का परिग्रह हुआ स्वीकार किया जाता है। आठ कर्म शरीरो में से मोहनीय कर्म या चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से शेष रहे उन चार अघाति कर्मों और नो कर्मों का परित्याग करने के लिये क्षीणमोह मुनि पुनः उत्कृष्ट चारित्र का पुरुषार्थ पूर्वक विधान करते है। अन्यथा यानी उस परम चारित्र के किये बिना उन कर्म नोकर्मों का अनन्तानन्त काल तक के लिये होने वाले त्याग का किया जाना नही हो सकेगा। अर्थात् बारहवे गुणस्थान के आदि में चारित्र मोहनीय का क्षय हो जाने पर यद्यपि चारित्र गुण प्रगट हो गया है तथापि आनुषंगिक दोषों के लग जाने पर वह परम चारित्र नहीं हो सका है। तेरहवे, चौदहवे में कुछ कर्मों का भोग करके और कतिपय कर्म बन्धों को तपश्चरण नामक पुरुषार्थ या केवलिसमुद्घात द्वारा समस्थिति अनुसार क्षय कर चौदहवे गुणस्थान के अन्त में परमचारित्र प्राप्त कर लिया जाता है उस से सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग कर दिया जाता है। सिद्ध अवस्था में अनन्त काल तक वह परमचारित्र नामक पुरुषार्थ सुदृढ बना रहता है अतः पुनः कर्मनोकर्म शरीरों का ग्रहण नहीं हो पाता है। प्रथम अध्याय में ग्रन्थकार ने इस परम चारित्र का अच्छा विवेचन कर दिया है ॥

तर्हि तनुस्थित्यर्थमाहारग्रहणं यतेस्तनुमूर्छाकारणकमं युक्तमेवेति चेन्न, रत्नत्रयाराधननिबन्धनस्यैवोपगमात्। तद्विराधनहेतोस्तस्याप्यनिष्टेः। न हि नवकोटिविशुद्धमाहारं भैक्ष्यशुद्ध्यनुसारितया गृह्णन् मुनिर्जातुचिद्रत्नत्रयविराधनविधायी, ततो न किंचित्पदार्थग्रहणं कस्यचिन्मूर्छाविरहे संभवतीति सर्वः परिग्रहः प्रमत्तस्यैवाब्रह्मवत् ॥

जब कि पिच्छिका का ग्रहण सूक्ष्ममूर्छा को कारण मानकर हुआ बताया गया है और क्षीणमोह या जीवन्मुक्तों के भी पूर्व भवसम्बन्धी मोह के उदय अनुसार हुये कर्मबन्ध करके शरीरों का परिग्रह स्वीकार किया गया है तब औदारिक शरीर की स्थिति के लिये षष्ठ गुणस्थानवर्ती मुनि का कवलाहार ग्रहण करना भला शरीर में हो रही मूर्छा को कारण मान कर हुआ यों यति के मोह सिद्ध करने में वह आहार ग्रहण समर्थ है यह बात समुचित ही मानी जायगी। अर्थात् मुनि जो आहार लेते है वह भी मूर्छा को कारण मान कर हुआ परिग्रह ही समझा जायगा। "मूर्छाकरणक्षमं" पाठ होने पर मुनि का आहार ग्रहण करना मूर्छा का कारण और कार्य हो जाने से अच्छा परिग्रह समझा जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नों की समीचीन आराधना के कारण हो रहे ही आहार ग्रहण को जिनागम में स्वीकार किया गया है हां उस रत्नत्रय की विराधना के हेतु हो रहे उस अनिष्ट, अनुपसेव्य, अभक्ष्य, आदि आहार का ग्रहण करना तो अभीष्ट नहीं किया गया है। मन, वचन, काय, सम्बन्धी प्रत्येक के कृत, कारित, अनुमोदना अनुसार हुई नौ कोटियों से विशुद्ध हो रहे आहार को भैक्ष्य शुद्धिज्ञापक आगम की अनुकूलता से ग्रहण कर रहा मुनि कदाचित् भी रत्नत्रय की विराधना को करने वाला नहीं है। स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, के लिये शरीर उपयोगी है और शरीर मे बल की प्राप्ति आहार पूर्वक है अतः दोषों और अन्तरायो को टालकर मुनि महाराज दिन मे एक बार लघुभोजन करते है। अतः तत्त्वज्ञान के समान आहार का ग्रहण करना कोई मूर्छा का कार्य या मूर्छा का कारण नहीं है। अत्यल्प मूर्छा गणनीय नहीं है परमनिर्ग्रन्थपन की उपासना करने वाले तो आहार को भी छोड़ देते है। संन्यास मरण कर रहा श्रावक ही आहार और शरीर को परिग्रह मानकर छोड़ देता है। वस्त्र, पात्र आदि का ग्रहण करना पक्का परिग्रह है तिस कारण सिद्ध हुआ कि किसी भी मोही जीव या श्रावक या मुनि के किसी भी पदार्थ का ग्रहण करना मूर्छा के बिना नहीं सम्भवता है। इस प्रकार सम्पूर्ण परिग्रह प्रमादी जीव के ही सम्भवते है। जैसे कि अब्रह्म यानी कुशील क्रिया प्रमादी जीव के ही सम्भवती है। यों प्रमाद योग पूर्वक हुई मूर्छा परिग्रह है यह सूत्रकार का तात्पर्य निरवद्य है।

अथैतेभ्यो हिंसादिभ्यो विरतिर्व्रतमिति निश्चित तदभिसंबंधात्तु यो व्रती स कीदृश इत्याह;—

हिंसा आदि के लक्षण अनन्तर इन हिंसा आदिको से विरति हो जाना व्रत है। यों सातवें अध्याय के आदि सूत्र में कहे गये व्रत के लक्षण का निश्चय किया जा चुका है। अब आत्मा मे उन व्रतों का चारों ओर सम्बन्ध हो जाने से जो व्रती हो जाता है वह व्रती जीव तो कैसा है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को व्यक्त कर रहे है।

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

मायाशल्य, मिथ्यादर्शन शल्य और निदान शल्य इन तीनों से रहित हो रहा जो व्रतों से युक्त है वह व्रती है। अर्थात् शल्यरहितपन और व्रतों के सम्बन्ध से व्रती होता है मात्र शल्यरहितपन व्रती नहीं है चौथे गुणस्थान वाला जीव कदाचित् निष्कपट, निर्निदान अवस्था प्राप्त हो जाने पर भी व्रती नहीं हो जाता है इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी केवल बाह्य व्रतों के धार लेने से व्रती नहीं समझ लिया जायगा॥

अनेकधा प्राणिगणशरणाच्छल्यं बाधाकरत्वादुपचारसिद्धिः। त्रिविधं माया, निदान,

मिथ्यादर्शनभेदात् ।

अनेक प्रकारकी शारीरिक मानसिक वेदना स्वरूप पैनी सलाइयों करके प्राणीसमुदाय की हिंसा करने से शल्य समझी जाती है । बाण का अग्रफलक जैसे शरीर में घुस कर अनेक बाधाओं को करता है तिसी प्रकार माया आदिक शल्य भी शारीरिक, मानसिक, बाधाओं की कारण होने से शल्य के समान हो रहीं शल्यरूप से उपचरित हो जाती है यों माया आदिक में शल्यपने के उपचार की सिद्धि हो जाती है । "शल्यमिव शल्यं" । यह शल्य मायाशल्य, निदानशल्य, मिथ्यादर्शनशल्य, के भेद से तीन प्रकार है । छल-करना, ठगना, धोखा देना इत्यादिक माया शल्य है, विषय भोगों की आकांक्षा करना निदान शल्य है । तत्त्वों का श्रद्धान नहीं कर अतत्त्वों का श्रद्धान किये बैठना मिथ्यादर्शन शल्य है । शरीर में या मसूड़ों में छोटी सी फांस लग जाती है वही खटकती रहती है सलाई शूल या बाण घुस जाय तब तो महान दुःखपूर्ण खटका लगा रहता है । इसी प्रकार ये तीन शल्यें सदा अव्रती जीवों के चुभती रहती है । तीन शल्यों से रहित हो कर ही व्रतो को धारने वाला व्रती कहा जा सकता है ।

कश्चिदाह—विरोधाद्विशेषणानुपपत्तिः; मिथ्यादर्शनादिनिवृत्तेर्व्रतित्वाभावात् सद्दर्शनादित्वसिद्धेर्व्रताभिसंबंधादेव व्रतित्वघटनात् । विरुद्धं व्रतित्वस्य निःशल्यत्वं विशेषणं दण्डित्वस्य चक्रित्वविशेषणवत् । तदविरुद्धेपि विशेषणस्यानर्थक्यं वान्यतरेण गतार्थत्वात् । निःशल्य इत्यनेनैव व्रतित्वसिद्धिर्व्रतिग्रहणस्यानर्थक्यं व्रतीति वचनादेव निःशल्यत्वसिद्धेस्तद्वचनानर्थक्यवत् । विकल्प-इति चेन्न, फलविशेषाभावात् निःशल्य इति वा व्रतीति वा स्यादिति । विकल्पे हि न किंचित्फलमुपलभामहे । न च व्यपदेशद्वयमात्रमेव फलं । संशयनिवृत्तिः फलमित्यपि न सम्यक्, तद-विनाभावादेव संशयनिवृत्तेर्विपर्ययानध्यवसायं निवृत्तिवदिति ।

यहाँ कोई तर्कबुद्धि पण्डित लम्बा चौडा पूर्वपक्ष उठाकर कह रहा है कि शल्यरहितपना और व्रतसहितपना यों ये दोनो ही विरुद्ध है । शल्य रहित होने से कोई व्रती नही हो सकता है । जैसे कि पुस्तक रहित हो जाने से कोई विद्यावान नही हो सकता है या दण्ड रहित हो जाने से कोई छत्र सहित नहीं हो सकता है । इसी प्रकार मिथ्यादर्शन आदि तीनों शल्यों की निवृत्ति हो जाने से व्रती हो जाने का अभाव है । सम्यग्दर्शन अथवा समीचीनरीत्या प्रथम प्रतिमाधारी दार्शनिक आदिपन की सिद्धि हो जाने के कारण व्रतो का आत्मनिष्ठ सम्बन्ध हो जाने से ही व्रतीपना घटित हो जाता है । एक बात यह भी है कि व्रती होने का निःशल्यपना विशेषण विरुद्ध है जैसे कि दण्डधारीपन का चक्रसहितपना विशेषण विरुद्ध है । यदि उन शल्यरहितपन और व्रतसहितपन विशेषणो को अविरुद्ध भी मान लिया जाय तथापि एक विशेषण का व्यर्थपना है क्योंकि निश्शल्यपन और व्रतीपन दोनो में से एक करके ही अभीष्ट अर्थ प्राप्त हो जावेगा । जैसे कि "उपयोगवान आत्मा" यहां आत्मत्व या उपयोग दोनों में से एक ही करके इष्टसिद्धि हो जाती है दोनों एक ही तो है । जब कि निःशल्य यों इस कथन कर के ही व्रतीपन की सिद्धि हो जाती है ऐसी दशा होने पर सूत्र में व्रती का ग्रहण करना व्यर्थ है जैसे कि व्रती यों कथन करने से ही जब निश्शल्य-पना सिद्ध हो जाता है अतः उस निःशल्यपन का वचन व्यर्थ पड़ता है । यदि यहां कोई यों कहे कि यहां विकल्प है शल्यरहित भी उत्तरवर्ती सूत्र करके अगारी या अनगार हो सकता है अथवा व्रती भी अगारी वा अनगार हो सकता है यों विशेषणविशेष्यसम्बन्ध भी बन जाता है । उत्तर में कश्चित् कहता है कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों विकल्प करने में विशेषफल का अभाव है । एक पक्ष में निश्शल्य

यों कह दिया जाय , अथवा द्वितीय पक्ष में व्रती यों हो जावे इस प्रकार विकल्प करने में जब कि हम किसी भी फल को नहीं देख रहे है । मात्र दो व्यवहारो के लिये शब्द बोल देना ही कोई फल नहीं हो जाता है। देवदत्त को दाल से या दही से अथवा घी से भोजन करा देना यहां विकल्पों का न्यारा फलविशेष है। किन्तु निश्शल्य अथवा व्रती यों नाममात्र दो के कथन करने का कुछ भी फल नहीं है। यदि कोई कहे कि संशय की निवृत्ति हो जाना फल है। कोई निश्शल्य को व्रती से भिन्न हो जाने का यदि संशय कर ले तो इस संशय की निवृत्ति "निश्शल्यो व्रती" कहने से हो जाती है। कश्चित् पण्डित कहते हैं कि यह समाधान करना भी समीचीन नहीं है। क्योंकि उन निश्शल्यपन और व्रतीपन का अविनाभावसम्बन्ध होने से ही संशय की निवृत्ति हो जाती है जैसे कि दोनों के अविनाभाव का निर्णय हो जाने से विपर्यय और अनध्यवसाय नाम के समारोपों की निवृत्ति हो जाती है। यहां तक कश्चित् पण्डित पूर्व पक्ष कर रहा है।

अत्राभिधीयते—न वांगांगिभावस्य विवक्षितत्वात् । निःशल्यव्रतित्वयोर्ह्यत्रांगांगिभावो विवक्षितः । प्रधानानुविधानादप्रधानस्य प्रधानं हि व्रतित्वमंगि । तन्निःशल्यत्वमप्रधानमंगभूतमनुविधत्ते, यत्र व्रतित्व तत्रावश्यं निःशल्यत्वं भवतीति न तस्य तेन विरोधो नापि विशेषणं तदनर्थकं । न विकल्पोपगमो । न च फलविशेषाभावोपि प्रधानगुणदर्शनेन मतांतरव्यवच्छेदस्य फलस्य सिद्धेः । तेन कृतनिदानस्यापि मायाविनो मिथ्यादृष्टेश्च हिंसादिभ्यो विरतावपि व्रतित्वाभावः सिद्धः । मायानिदानमिथ्यादर्शनरहितस्यापि चासंयतसम्यग्दृष्टेर्व्रतित्वाभावः प्रतिपादितः स्यात् ततः ॥

अब यहाँ आचार्य महाराज करके समाधान वचन कहा जाता है, कि उक्त दोष देना ठीक नहीं, कारण कि यहाँ अंगभाव और अगीभाव की विवक्षा की जा चुकी है। निश्शल्यपन और व्रतीपन का यहाँ निश्चय से अंग-अंगीभाव मानना विवक्षा प्राप्त हो रहा है। व्रतीपना अंगी है उसका अंग निश्शल्यपना है। शल्य हटेंगी और व्रत आवेगे तब व्रती कहा जायगा। जैसे कि बहुत दूध, घी वाले गोपाल को गोमान् कहा जाता है। अनेक ठल्ल गोओं के होने पर भी गायवाला कहना शोभा नहीं देता है। जो निश्शल्य हो कर व्रती है वही सच्चा व्रती है। अप्रधान पदार्थ अपने अंगी प्रधान का अनुविधान यानी अनुकूल आचरण किया करता है। जब कि व्रतीपना यहाँ प्रधान है अंगी है वह निश्शल्यपन, अप्रधान, अंग भूत उस व्रतीपन का अनुविधान करता रहता है निश्शल्यत्व और व्रतित्व में अंग अंगीभाव सम्बन्ध है कोई भी किसी का उपकार कर सकता है यहाँ विशेषतया व्रतीपन में निश्शल्यपना उपकार करता है॥ कश्चिन का निश्शल्यत्व और व्रतित्व में विरोध दोष उठाना ठीक नहीं। क्योंकि जहाँ व्रतीपना है वहाँ निश्शल्यपना अवश्य होता है। इस कारण उस व्रतित्व का उस निश्शल्यत्व के साथ विरोध नहीं है। कश्चित् ने जो उस व्रतीपन का विशेषण हो रहे उस निश्शल्यपन को व्यर्थ कहा था वह भी ठीक नहीं है क्योंकि व्रती का शल्यरहितपना विशेषण सार्थक है। शल्यरहित होते हुये ही व्रती हो सकता है अन्यथा नहीं। निश्शल्य अथवा व्रती यों विकल्प का स्वीकार करना भी बुरा नहीं है। जैसा कश्चित् ने विकल्प का निषेध करते हुये विशेषफल का अभाव कहा था, जब कि यहां फलविशेष दीख रहा है तो फलविशेष का अभाव कहना भी समुचित नहीं है। व्रतीत्व और निश्शल्यत्व की प्रधानता और गौणता दिखलाने करके अन्यमतों का व्यवच्छेद हो जाना रूप फल की सिद्धि हो जाती है। तिस कारण निदान कर चुके भी मायाचार और मिथ्यादृष्टि जीव के हिंसा आदिकों से विरति होने पर भी व्रतीपन का अभाव सिद्ध हो चुका।

क्योंकि शल्यों के होते हुये व्रतों के सद्भाव से व्रती नहीं हो सकता है। बात यह है कि शल्यों के होते सन्ते वस्तुतः वे व्रत ही नहीं हैं व्रताभास है तभी तो निश्शल्यत्व और व्रतीत्व का सामानाधिकरण्य बन रहा है। दूसरी बात यह है कि माया, निदान, मिथ्यादर्शन इन तीनों शल्यों से रहित हो रहे भी किसी असंयत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवाले जीव के व्रतों के नहीं होने पर व्रतीपन का अभाव है। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन कषायों के उदय अनुसार मायाचार यद्यपि चौथे गुणस्थान में पाया जाता है, निदान भी पांचवें गुणस्थान तक सम्भवता है किन्तु यहां शल्यों में तीव्रमायाचार और प्रव्यक्त निदान अभिप्रेत हैं यो "निश्शल्यो व्रती" इस प्रकार विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध अनुसार कहने पर विशेषफल समझा दिया गया हो जाता है तिस प्रकार विवरण करने से जो निष्कर्ष निकला उस को वार्तिक द्वारा यों समझिये कि:—

निःशल्योऽत्र व्रती ज्ञेयः शल्यानि त्रीणि तत्त्वतः।
मिथ्यात्वादीनि सद्भावे, व्रताशयविपर्ययः ॥१॥

प्रकरण अनुसार यहाँ सूत्र में कहा गया जो निश्शल्य जीव है वह व्रतधारी व्रती समझ लिया जाय। तात्त्विकरूप से मिथ्यात्व आदिक शल्य तीन मानी गयी हैं। जीवों के उन शल्यों का व्यस्त या समस्तरूप से सद्भाव होने पर व्रतधारण के अभिप्रायों का विपर्यय हो जाता है। अर्थात् व्रती होने के लिये निश्शल्यपन रंगभूमि है। निश्शल्यता होना ही कठिन है पुनः व्रतों का धारण सुलभ साध्य है। व्रतीशब्द का योगविभाग कर "निश्शल्यो व्रती व्रती" यों वाक्य बनाते हुये शल्यरहित होकर व्रतधारी को व्रती कहना अक्षुण्ण बन जाता है।

स पुनर्व्रती सागार एवानगार एवेत्येकांतताया कृतये सूत्रकारः प्राह;—

वह व्रती फिर गृहस्थ ही है अथवा गृहरहित साधु ही व्रती है इस प्रकार के एकान्तों का निराकरण करने के लिये सूत्रकार महाराज बहुत बढिया निर्णय कह रहे हैं।

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

वह व्रती आगारी, अनगार, यों दो भेदों में विभक्त है। भावरूप से पकडा गया घर जिसके विद्यमान है वह गृहस्थ अगारी नाम का व्रती है और जिस त्यागी मुनि के भावरूपेण घर नहीं है वह अनगार व्रती है। यहाँ भी मात्र गृहसहितपन और गृहरहितपन से अगारी और अनगार की लक्षण व्यवस्था नहीं है किन्तु भविष्य सूत्र अनुसार अणुव्रतो के धारण से अगारीपना निर्णीत समझा जाय और बिना कहे ही सामर्थ्य से महाव्रतों के धारण अनुसार अनगारपना व्यवस्थित हो रहा मान लिया जाय।

प्रतिश्रयार्थिनयांगनादगारं। अनियमप्रसंग इति चेन्न, भावागारस्य विवक्षितत्वात् तदस्यास्तीत्यगारी। व्रतीत्यभिसंबन्धः व्रतिकारणसाकल्याद्गृहस्थस्याव्रतित्वमिति चेन्न। नैगमसंग्रहव्यवहारव्यापारान्नगरवासवद्राजवद्वा। नैगमव्यापाराद्धि देशतो विरतः सर्वतो विरतिं प्रत्यभिमुखसंकल्पो व्रती व्यपदिश्यते नगरवासत्वराजत्वाभिमुखस्य नगरवासराजव्यपदेशवत्।

प्रतिश्रय यानी ठहरने के लिये स्थान की लिप्सा को कर रहे जीव की अभिलाषा करके जो प्राप्त किया जाता है वह अगार है यों अगार शब्द की निरुक्ति कर घर अर्थ निकाला गया है। ऐसा घर

जिस के विद्यमान है वह अगारी है। जिसके घर नहीं वह अनगार मुनि है। श्रावकाचारों में गृहस्थ की पहली छह प्रतिमाओं में गृह का अर्थ स्त्री किया गया है शेष पांच प्रतिमाओं में गृह का अर्थ घर या घरसरीखा उपवन है। गृह का अर्थ गृहिणी करते हुये भी घर को छोड़ा नही गया है। अतः यहाँ सामान्य-रूप से अगार का अर्थ घर लिया जाय। यहाँ शंका उठती है कि घर सहितपन या घर रहितपन से कोई गृहस्थ, व्रती या मुनिव्रती का नियम नहीं है अतः उक्त सूत्र अनुसार कोई निव्रती या मुनिव्रती का नियम नहीं है अतः उक्त सूत्र अनुसार कोई नियम नहीं हो सकने का प्रसंग आया। देखिये सूने घर या देवस्थान आदि में कुछ देर तक निवास कर रहे मुनि को गृह सहितपना प्राप्त हुआ। गृहस्थों के घर में भी आहार करते समय मुनि ठहरते है। पश्चात् भी कुछ धर्मोपदेश देते हुये ठहर जाते है। तथा जिसकी विषयतृष्णायें दूर नहीं हुई हैं ऐसा गृहस्थ भी किसी कारण से घर को छोड़कर वन में निवास करता है। आजीविका के वश हजारों मनुष्य घर छोड़ कर बाहर वनों में, खेतों में, पहाड़ो में पड़े हुये है एतावता वे अगार रहित हो रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करना क्योंकि यहाँ हृदय में विचार लिये गये भाव-स्वरूप घर की विवक्षा की गयी है। अन्तरंग में चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होते सन्ते घर के सम्बन्ध से जो तृष्णा का नहीं हटना है वह भावागार है इस श्रावक के वह भावागार है इस कारण अगारी कहा जाता है। भले ही वह वन में, पहाड़ में, समुद्र में, आकाश, पाताल, में निवास करे तो भी वह अगारी है और मुनि महाराज चाहे धन धान्य जन पूर्ण घर में ही कुछ समय तक ठहरे रहे वे भावागार नहीं होने से अनगार ही हैं। यहां सूत्र में पूर्व सूत्र से व्रती का दोनों ओर से सम्बन्ध कर लेना चाहिये। अगारी व्रती और अनगारी व्रती यों दो व्रती हैं। यहां कोई आशंका उठाता है कि व्रती होने के कारणों की असंपूर्णता होने से गृहस्थ को व्रती नही कहना चाहिये। अर्थात् जब "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं" यों व्रतों का लक्षण माना है तो सकल व्रतों की पूर्णता नहीं होने से श्रावक को व्रती नही कहा जा सकता है। जैसे कि एक या दो हरी वनस्पति का त्याग कर देने से या दिन में चोरी का त्याग कर देने से कोई व्रती नही हो जाता है। पूरा लाख, पचास हजार रुपये होने से धनी कहा जा सकता है एक पैसा या एक रुपया के धन से कोई धनी नहीं हो जाता है। पूर्ण विद्यायें होने से विद्वान् कहना ठीक है किसी एक विद्या में मात्र चञ्चुप्रवेश हो जाने से विद्यावान नहीं। आचार्य कहते हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि नैगम, संग्रह, और व्यवहार, इन नयों के व्यापार से असकलव्रती गृहस्थ को भी व्रती कह दिया गया है। जैसे कि पूरे नगर में नहीं ठहर कर एक डेरे या घर के कोने में ठहरता हुआ कोई मनुष्य केवल नगर के एक देश में निवास करता है फिर भी वह कलकत्ता निवासी, आगरा वासी, सहारनपुर वासी, कहा जाता है। इसी प्रकार व्रतों के एक देश में अधिष्ठित हो रहा गृहस्थ व्रती कहा जा सकता है। अथवा राजा होने योग्य राजपुत्र को जैसे राजा कह दिया जाता है इसी प्रकार मुनिधर्म में अनुराग करने वाला श्रावक होता है। कालान्तर में पूर्ण व्रतों को धारेगा अतः नैगम नयकी अपेक्षा वर्तमान में भी व्रती कहा जा सकता है। और भी नैगम नय के व्यापार से विशेषतया यों समझिये कि एक देश से हिंसा आदि का परित्याग करता हुआ गृहस्थ अवश्य ही सम्पूर्ण रूप से हिंसा आदि की विरति के प्रति अभिमुख हो कर संकल्प कर रहा सन्ता ही व्रती इस शब्द करके व्यवहृत होता है जैसे कि नगर के बहुभागों में निवास करने के अभिमुख हो रहा पुरुष नगरावास शब्द कर के कहा जाता है। और राजपने के अभिमुख हो रहे राजपुत्र को राजापन का व्यपदेश कर दिया जाता है। अथवा बत्तीस हजार देशों के अधिपति को सार्वभौम राजा कहते हैं। फिर भी एक देश का अधिपति भी राजा कहा जा सकता है। तिसी प्रकार अठारह हजार शील और चौरासी लाख उत्तर गुणों का धारी अनगार ही पूर्णव्रती है किन्तु अणुव्रतों का धारी श्रावक भी व्रती कहा जा सकता है। अन्यथा धनी, विद्यावान्, कलावान्, तपस्वी, कुलवान्,

आरोग्यतावान्, रूपवान्, बलवान् आदि की कोई व्यवस्था नहीं बन सकेगी। जगत् में एक से एक बढ़ कर धनी आदि हो चुके है। पूर्ण धनी आदिक तो बिरल है। अल्पज्ञान, अल्पधन आदि से भी ज्ञानवान् धनवान् की व्यवस्था करनी ही पड़ेगी॥

संग्रहनयाद्वाणुव्रतमहाव्रतव्यक्तिवर्तिव्रतत्वसामन्यादेशादणुव्रतोऽपि व्रतीष्यते नगरैकदेशवासिनो नगरवासव्यपदेशवत् देशविषयराजस्यापि राजव्यपदेशवच्च।

नैगम नय अनुसार श्रावक का व्रती हो जाना समझा दिया गया है क्योंकि नैगम नय संकल्प मात्र को ग्रहण करता है श्रावक के सकलव्रती होने का संकल्प हो रहा है। तथा सामान्य रूपसे कच्चे, पक्के, छोटे, अधूरे, हेटे, आदि सभी विशेषों का संग्रह करने वाली संग्रह नय से तो अणुव्रत और महाव्रत इन सम्पूर्ण व्रतव्यक्तियों में वर्त रहे व्रतत्व सामान्य का कथन कर देने की विवक्षा से तो छोटे व्रतो का धारी गृहस्थ भी व्रती कहा गया इष्ट किया जाता है जैसे कि नगर के एक देश में निवास कर रहे पुरुष का "नगरवासी" यों व्यवहार कर दिया जाता है। तथा जैसे मालवा, पजाब, मेवाड़, ढूँढाड़, गुजरात, बंगाल, बिहार, सिन्ध, काठियावाड़, आदि प्रान्त या सर्विया, बलगेरिया, पैंटोगोनिया, ब्रजील, पैरू, स्कोटलेण्ड, मिश्र आदि द्वीप एवं ग्राम नगर समुदायस्वरूप एक प्रान्त या एक देश के राजा को भी राजापने का व्यवहार कर दिया जाता है। जबकि बत्तीस हजार देश या पचासों विषयों के सार्वभौम राजा को राजा कहना चाहिये। भारतवर्ष मे क्वचित् एक प्रान्त में कतिपय राजा विद्यमान है। अकेले बुन्देलखण्ड में पचास, चालीस राजा होंगे। मारवाड़ में ही दश, बीस राजा हैं। थोड़ी सी रियासत के अधिपति या ज़मींदार अथवा किसी किसी सेठ को भी राजा पदवी दे दी जाती है। यों सम्पूर्ण रूप से राजा नहीं होते हुये भी पचास, सौ गाँवों के अधिपति को जैसे राजापना व्यवहृत हो जाता है उसी प्रकार संग्रहनय से अणुव्रती का भी व्रतियों मे संग्रह हो जाता है।

व्यवहारनयाद्देशतो व्रत्यप्यगारी व्रतीति प्रतिपाद्यते तद्वदेवेत्यविरोधः।

तीसरे व्यवहार नय से संव्यवहार करने पर एक देशसे व्रती हो रहा भी गृहस्थ व्रती है यों व्यवहारियो में कह दिया जाता है। उस के ही समान अर्थात् जैसे एक देश या आधे विषय अथवा दश बीस ग्रामों के अधिपति को भी राजा कह दिया जाता है। यों नैगम संग्रह व्यवहारनयों अनुसार गृहस्थ को भी व्रती कह देने में कोई विरोध नहीं आता है। यहाँ तक अगारी शब्द की टीका हो चुकी है।

न विद्यते अगारमस्येत्यनगारः स च व्रती सकलव्रतकारणसद्भावात्। ततो अगृहस्थ एव व्रतीत्येकांतोऽप्यपास्तः॥

अब अनगार का अर्थ कहा जाता है। जिस किसी इस जीव के अगार यानी घर नहीं विद्यमान हैं, इस कारण अनगार कहा जाता है। वह अनगार हो रहा सन्ता व्रतों का धारी है क्योंकि मुनियों के सम्पूर्ण व्रतों के कारणों का सद्भाव है। तिस कारण यानी गृहस्थ और अगृहस्थ दोनों को व्रतित्व के कारणों का सद्भाव हो जाने से इस एकान्त आग्रह का भी निराकरण किया जा चुका है कि गृहस्थ भिन्न हो रहा मुनि ही व्रती होता है गृहस्थ व्रती नहीं होता है। अथवा दोनों के व्रतीपन का विधान हो जाने से गृहस्थ ही व्रती होता है, मुनिजन व्रती नही इस कदाग्रह का प्रत्याख्यान कर दिया जाता है॥ इस अपरंपार लीला के धारी जगत् में ऐसे भी सम्प्रदाय हैं जो कि साधुओं को नहीं मानकर गृहस्थ अवस्था से ही निःश्रेयस प्राप्ति हो जाने को अभीष्ट करते हैं। और गृहस्थ को अल्प भी व्रती नहीं मानकर

केवल साधुओं को ही व्रती मानने वाली आम्नायों की भी कमी नहीं है। जैन सिद्धान्त अनुसार अगारी और अनगार दोनों भी व्रती समझे जाते हैं।

नन्वेवंमनगारस्य पथिकादेः व्रतित्वं स्यादित्याशंकामपास्यन्नाह—

अनगार पनि का इस प्रकार गृहरहितपना लक्षण करने पर यहाँ आशंका उपजती है कि तब तो अगार रहित हो रहे पथिक (बटोही या रास्तागीर) कृषक, नाविक, प्रवासी अनाथ, निर्वासित, (निकाल दिया गया) आदि जीवों के भी व्रती हो जाने का प्रसंग आ जावेगा। इस प्रकार हुई आशंका का निराकरण कर रहे ग्रन्थकार उत्तर वार्तिक को कह रहे हैं॥

सोऽप्यगार्यनगारश्च भावागारस्य भावतः।
अभावाच्चेति पांथादेर्नानगारत्वसंभवः ॥१॥

वह शल्य रहित हो रहा व्रतों का धारी व्रती भी गृहस्थ और अनगार इन दो भेदों से दो प्रकार है यह सूत्रकार द्वारा कह दिया है। अगार पद से यहां भाव घर यानी परिणामों में घर का अनुराग रखना लिया गया है। उस भावघर के सद्भाव से अगारी और भावघर के अभाव से अनगार व्रती हुआ समझना चाहिये। इस कारण पथिक आदि को अनगारपने की सम्भावना नहीं है। क्योंकि पथिक आदि के तत्कालीन गृहवास नहीं होते हुये भी अभ्यन्तर परिणामों में गृहवास का तीव्र अभिष्वंग हो रहा है। तथा घर में बैठकर आहार कर रहे या किंचित् काल उपदेश दे रहे मुनि महाराज के घर का सम्बन्ध होते हुये भी घर की भाव गृद्धि नहीं होने से उसी प्रकार गृहस्थपना नहीं है जैसे कि वस्त्रधारीपन का उपसर्ग सह रहे चेलोपसृष्ट मुनि के तन्तुमात्र भी परिग्रह नहीं माना जाता है।

कः पुनरगारीत्याह;—

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि क्रम अनुसार व्रतों की दृढ़ता के उपासक होने से आदि में कहे गये अगारी का लक्षण फिर क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं॥

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

जिस के पाँचों व्रत अल्प हैं वह जीव अगारी यानी श्रावक कहा जाता है। अर्थात् हिंसा आदिक पाँचों पापों में से किसी एक या दो पापों की निवृत्ति हो जाने से ही अणुव्रती नहीं समझा जाय, किन्तु पाँचो ही व्रतों की विकलता हो जाने से अणुव्रती बनने की विवक्षा है। अणु शब्द का अन्वय विरति के साथ है।

अणुशब्दः सूक्ष्मवचनः सर्वसावद्यनिवृत्त्यसंभवात्। स हि द्वीन्द्रियादिव्यपरोपणे निवृत्तः, स्नेहद्वेषमोहावेशादसत्याभिधानवर्जनप्रवणः, अन्यपीडाकरात् पार्थिवभयाद्युत्पादिनिमित्तादप्यदत्तात् प्रतिनिवृत्तः, उपात्तानुपात्तान्यांगनासंगाद्विरतिः; परिच्छिन्नधनधान्यक्षेत्राद्यवधिगृही प्रत्येतव्यः॥ सामर्थ्यात् महाव्रतोऽनगार इत्याह—

सूत्र में पढ़ा हुआ अणुशब्द सूक्ष्म अर्थ को कह रहा है। जिस जीव के पाँचों व्रत अणु यानी सूक्ष्म हैं वह अणुव्रत यानी अणुव्रती है। अणूनि व्रतानि यस्य स अणुव्रतः (बहुव्रीहि समास) सम्पूर्ण

पाप सहित क्रियाओं से निवृत्ति होने का असम्भव हो जाने इस गृहस्थ के व्रत छोटे कहे जाते हैं। वह अणुव्रती श्रावक नियम से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि प्राणियों की संकल्प पूर्वक हिंसा करने में निवृत्त हो रहा है। इतना ही इसके अहिंसाणुव्रत है। अपने कार्य के लिये वह पृथिवी, जल, तेज, वायुकायिक जीवों की और अनन्तकायवर्जित वनस्पति जीवों की विराधना कर देता है तथा वह स्नेह, द्वेष और मोह का आवेश हो जाने से असत्य बोलने के परित्याग में प्रवीण रहता है। हां, अनेक स्थलों पर सूक्ष्मझूंठ बोल देता है, यह गृहस्थ का सत्याणुव्रत है। अन्य को पीड़ा करने वाले अदत्तादान से और राजभय, पंचभय से उपजाये गये निमित्त स्वरूप अदत्त से भी जो प्रतिनिवृत्त हो रहा है वह तीसरा अचौर्याणुव्रत है। अर्थात् जो धन अपना भी है किन्तु वह महान सक्लेश से प्राप्त हो सकता है ऐसे परार्थी पीड़ा को करने वाले धन को जो ग्रहण नहीं करता है। तथा जो धन राजा के डर या पञ्चों के भय अनुसार निश्चय करके छोड़ दिया गया है उस धन को भी ग्रहण करने में जिसका आदर नहीं है वह श्रावक अचौर्याणुव्रती है। अन्य सूक्ष्म चोरियों का इसके परित्याग नहीं है। घर में डाल कर स्वीकार कर ली गयी अथवा नहीं भी स्वीकार की गई ऐसी गृहीत और अगृहीत परस्त्रियों के प्रसंग से विरति करना चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत है। यह मात्र स्वकीय स्त्री में रति को करता है। यों यावत् स्त्रियों का परित्याग नहीं होने से ब्रह्मचर्य व्रत इसका अणु समझा गया। गाय, भैंस, अन्न, खेत, मकान, चाँदी, सोना आदि का अपनी इच्छा से परिमाण कर उस अवधि का नहीं अतिक्रमण कर रहा गृहस्थ परिग्रहपरिमाण व्रती समझ लेना चाहिये। परिमित खेत आदि का ग्रहण कर रहा गृहस्थ यावत् परिग्रहों का त्यागी नहीं है। अतः इसके पाँचवां अपरिग्रहव्रत अणु यानी छोटा समझा जाता है। यहाँ पाँचों स्थानों पर पुंल्लिंग पद उपलक्षण है। कर्म भूमि की तीनों लिङ्गवाले कतिपय मनुष्य स्त्रियां या नपुंसक अथवा तिर्यञ्च भी अणुव्रतों को धारण कर सकते हैं। यों अणु यानी सूक्ष्म व्रतों का धारी अगारी कहलाता है। सूत्र में कहे विना ही केवल "अणुव्रतोऽगारी" इस सूत्र की सामर्थ्य से परिशेष न्याय अनुसार यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिस पुल्लिंग पुरुष के वे पाँचों व्रत महान् हैं यानी परिपूर्ण रूप से हैं वह अनगार नाम का दूसरा व्रती है इस बात को ग्रन्थकार स्वयं अग्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट रूप से कहे देते हैं।

तत्र चाणुव्रतोऽगारी सामर्थ्यात्स्यान्महाव्रतः।
अनगार इति ज्ञेयमत्र सूत्रांतराद्विना ॥१॥

वहाँ अगारी और अनगार दो व्रतियों का निरूपण करने के अवसर पर सूत्र द्वारा एक सूक्ष्म व्रतवाले को अगारी कह देने की सामर्थ्य से यहाँ अन्य सूत्र के विना ही "महान व्रतों का धारी पुरुष अनगार है" यों दूसरा व्रती समझ लेना चाहिये। अतिसंक्षेप से अमेय प्रमेय का कथन कर रहे सूत्रकार महाराज सामर्थ्यसिद्ध तत्त्व का प्रतिपत्ति कराने के लिये पुनः अन्य सूत्रों को नहीं रचते फिरते हैं। गम्भीर वक्ताओं को व्याख्याकारों के लिये भी बहुत सा सामर्थ्यसिद्ध प्रमेय स्पष्टोक्ति नहीं किये छोड़ना पड़ता है। उदात्त गृहस्थ परोसने योग्य सभी भोजनों को नहीं हड़प जाता है।

दिग्विरत्यादिसंपन्नः स्यादगारीत्याह;—

यहाँ प्रश्न उठता है कि अणुव्रती और महाव्रती में क्या इतना ही अन्तर है कि एक के घर होते हुये छोटे पाँच व्रत हैं और दूसरे के गृहपरित्याग के साथ पाँचों महान् व्रत हैं। अथवा क्या अन्य-भी कोई विशेष है इस प्रकार प्रश्न उतरने पर दिग्विरति, देशविरति आदि सात शीलों से भी सम्पत्तियुक्त अगारी होगा। इस बात को सूत्रकार महाराज स्पष्टरीत्या कर रहे हैं॥

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग-परिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥२१॥

१ दिग्विरति नाम के व्रत से सम्पन्न, २ देशविरति नामक व्रत से युक्त, ३ अनर्थदण्ड विरति नामक व्रत से सहित ४, सामायिक व्रत से आर्लाढ, ५ प्रोषधोपवास से परिपूर्ण, ६ उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत से उपचित, ७ और अतिथिसंविभागव्रत से आढय भी अगारी होना चाहिये। सूत्रोक्त समुच्चायक च शब्द करके आगे कही जाने वाली सल्लेखना से भी युक्तगृही होना चाहिये। अर्थात् चार दिशाये चार विदिशाएँ, ऊर्ध्व, अधः यों दश दिशाओ मे प्रसिद्ध हो रहे हिमालय, विन्ध्यपर्वत महानदी आदि की मर्यादा करउससे बाहर मरण पर्यन्त जाने, मगाने अदि का नियम ग्रहण करना दिग्विरति व्रत कहा जाता है। नियत क्षेत्र से बाहर स्थित हो रहे त्रस और स्थावर सभी जीवी की विराधना का अभाव हो जाने से गृहस्थ भी महाव्रती के समान आचरण करता है। उस दिग्विरति के ही भीतर गाँव, नदी, खेत, घर आदि प्रदेशा की सीमा तक ही गमन, प्रषण, व्यापार, आदि का परिमित काल तक नियम करना देशविरति व्रत है। इन व्रतों से परिणामो में सन्तोष होता है और लोभ का निराकरण होता है। उपकार न होते हुये पाँच प्रकारके अनर्थदण्डों का परित्याग करना अनर्थ दण्डविरति व्रत है। सम्पूर्ण जीवों में साम्य-भाव रखते हुये शुभभावनाओं को बढ़ाकर आर्त्त, रौद्र, ध्यान का परित्याग करना अथवा बहिर्भावों का परित्याग कर रागद्वेष नहीं करते हुये पुरुषार्थ पूर्वक आत्मीय भावों में ध्यान युक्त बने रहना सामायिक व्रत है। सामायिक करते समय अणु और स्थूल हिंसा आदिक कदाचारों की निवृत्ति हो जाने से गृहस्थ भी उपचार से महाव्रती हो जाता है। प्रत्याख्यानावरण का उदय है अतः दिगम्बर दीक्षा ग्रहण, केशलोंच, सातमें गुणस्थान का ध्यान नही होने से मुख्य महाव्रत नहीं कहे जा सकते हैं। प्रत्येक महीने की दो अष्टमी, दो चौदश, को साम्यभावों की दृढता के लिये अन्न पान खाद्य लेह्य स्वरूप चार प्रकार के आहार का परित्याग करना प्रोषधोपवास है। सम्पूर्ण पापक्रियाये आरम्भ, शरीर संस्कार पूजन प्रकरणातिरिक्तस्नान, गन्धमाल्य, भूषण, आदि का त्याग करता हुआ पवित्र प्रदेश, या मुनिवास, चैत्यालय के निकट स्थल स्वकीय प्रोषधोपवास गृह, प्रभृति में ठहर रहा धर्मकथा को सुनकर आत्म चिन्तन कर रहा एकाग्र मन हो कर उपवास करने वाला श्रावक प्रोषधोपवास व्रती है। भोजन, पान, माला, आदिक उपभोग, और वस्त्र, गृह, वाहन, डेरा आदिक परिभोगों में परिमाण करना भोग परिभोग परिमाण है। जैन सिद्धान्त में त्रस घात, बहुवध, प्रमाद विषय, अनिष्ट, अनुपसेव्य इन विषयों के भेद से पाँच प्रकार भोग परिसंख्यान माना गया है। जिस का कि भोग्य अभोग्य में विचार करना पड़ता है। त्रस घात और बहुस्थावरघात तो जीव हिंसा की अपेक्षा अभोग्य है। शेष तीन शुद्ध होते हुये भी प्रमाद का कारण, प्रकृति को अनिष्ट और लोक में अनुपसेव्य होने से परित्यजनीय है। अतिथि के लिये भिक्षा, उपकरण, औषध, आश्रय, के भेद से निर्दोष द्रव्यों का प्रदान करना अतिथि संविभाग है। अपने लिये बनाये गये शुद्ध भोजन का देना अथवा धर्म के उपकरण पिच्छिका पुस्तक कमण्डलु, आर्यिका के लिये वस्त्र आदि रत्नत्रय वर्द्धक पदार्थों का देना परम धर्म की श्रद्धा कर के औषध और आवास का प्रदान करना अतिथि संविभाग व्रत है। इन सात शीलों से सम्पन्न भी गृही होना चाहिये। यहाँ सम्पन्न शब्द साभिप्राय है जैसे कोई बड़ा श्रीमान (धनाढ्य) निज सम्पत्ति से अपने को भाग्यशाली मानता रहता है, मेरे कभी लक्ष्मी का वियोग नहीं होवे ऐसी सम्पन्न बने रहने की अनुक्षण भावना भावता रहता है। उसी प्रकार गृहस्थ इन व्रतोंसे अपने को महान् सम्पत्तिशाली बने रहने का अनुभव करता रहे।

आकाशप्रदेशश्रेणी दिक्, न पुनर्द्रव्यान्तरं तस्य निरस्तत्वात्। आदित्यादिगतिविभक्तस्तद्भेदः पूर्वादिर्दशधा। ग्रामादीनामवधृतपरिमाणप्रदेशो देशः। उपकारात्यये पापादाननिमित्तमनर्थदण्डः विरतिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। विरत्यग्रहणमधिकारादिति चेन्न। उपसर्जनानभिसंबंधत्वात्।

अखण्ड आकाश में परमाणु के नाप से न्यारे न्यारे विभक्त गढ लिये गये प्रदेशों की पंक्ति को दिशा कहते है। किन्तु फिर वैशेषिको के मत समान कोई दिशा निराला द्रव्य नहीं है। उस दिशा के द्रव्यान्तरपने का निराकरण किया जा चुका है। अर्थात् वैशेषिकों ने संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग इन पांच गुणों वाले दिशा द्रव्य को स्वतन्त्रतया नौ द्रव्यों में गिनाया है। किन्तु सुदर्शन मेरु की जड़ से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः की ओर कल्पित कर ली गयी सूधी आकाश प्रदेश श्रेणी के अतिरिक्त कोई दिशा द्रव्य नहीं ठहरता है। सहारनपुर से श्री सम्मेद शिखरजी तक की पूर्व दिशा ही कलकत्ता वालों के लिये पश्चिम दिशा बन जाती है। जम्बू द्वीप के सभी स्थानों से सुदर्शन मेरु पर्वत उत्तर में पड़ता है। इस ढंग से दिशाओं में आपेक्षिक परिवर्तन होता देखा जा रहा है। ऐसी आकाश द्रव्य में कल्पित कर ली गयी दिशाये या विदिशाये कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं। सूर्य का उदय होना, सूर्य का अस्त हो जाना इस से नाप ली गयी सूर्य चन्द्र आदि की गति करके उस दिशा के भेद विभाग को प्राप्त हो रहे है। पूर्वा आदि यानी पूर्वदिशा, दक्षिणदिशा, पश्चिमदिशा, उत्तरदिशा, ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा, ईशानदिशा, आग्नेयदिशा, नैऋत्यदिशा, वायव्यदिशा यों दश प्रकार की वह दिशा है। ध्रुव तारे से भी उक्त दिशा का परिज्ञान कर पुनः चारों दिशाओं की परिच्छित्ति कर ली जाती है॥ नियत परिमाण वाले ग्राम, नगर, घर, नदी, आदिकों का प्रदेश तो देश कहा जाता है। कुछ भी उपकार नहीं करते हुये मात्र पापो का ग्रहण करने का निमित्त हो रहा पदार्थ अनर्थदण्ड है। दिशश्च, देशाश्च, अनर्थदण्डाश्च यों द्वन्द्वसमास कर पुनः दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः। यह पक्ष भी तत्पुरुष समास कर लिया जाय, तीनों पदो में हुये द्वंद्व के अन्त में पड़े हुये विरति शब्द का प्रत्येक पद के साथ पिछली ओर सम्बन्ध कर लिया जाता है। यों पहिले के तीन व्रतों के नाम दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति हो जाते है। यहाँ कोई शंका करता है कि उक्त सूत्र में विरति पद का ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योंकि "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्" इस सूत्र का अधिकार चला आ रहा होने से विरति शब्द की अनुवृत्ति हो जाती है यों विरति का ग्रहण करना व्यर्थ पड़ता है। ग्रन्थकार कहते है कि यों तो न कहना क्योकि उपसर्जन हो रहे दिग्देश, और अनर्थपदों के साथ उस विरति शब्द का सम्बन्ध नहीं हो सकता है अर्थात् "दिग्देश" आदि सूत्र मे सम्पन्नः पर्यन्त एक समसित पद है। पूरे पद के साथ तो विरति शब्द की अनुवृत्ति की जा सकती थी किन्तु गौण हो रहे केवल एक देश के साथ अधिकृत पद को बीच ही में नही जोड़ा जा सकता है। तिस कारण सूत्रकार को पुनः विरति शब्द का कण्ठोक्त ग्रहण करना पड़ता है।

एकत्वेन गमनं समयः, एकोऽहमात्मेति प्रतिपत्तिर्द्रव्यार्थादेशात् कायवाङ्मनःकर्म पर्यायार्थार्पणात्, सर्वसावद्ययोगनिवृत्त्येकनिश्चयनं वा व्रतभेदार्पणात्, समय एव सामयिकं समयः प्रयोजनमस्येति वा। उपेत्य स्वस्मिन् वसंतींद्रियाणीत्युपवासः। स्वविषयं प्रत्यव्यापृतत्वात् प्रोषधे पर्वण्युपवासः प्रोषधोपवासः।

तीन गुणव्रतों का विवरण कर दिया है अब आचार्य महाराज शिक्षाव्रतों में से पहिले सामा-

यिक का निरूपण करते है एकपने करके गमन होना समय है। सम् उपसर्ग पूर्वक "अय् गतौ" धातु से समय शब्द बनाया गया है। यहाँ सम् उपसर्ग एकीभाव अर्थ में प्रवतता है। जैसे कि चून में घी मिल गया दूध मे बूरा एकम एक होकर संगत हो गया है। इन स्थलों पर पर सम् का अर्थ एकम एक मिल जाना है "अय् धतु का अर्थ गमन यानी प्राप्ति हो जाना है। "समता सर्वभूतेषु, संयमे शुभभावना,—आर्त रौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्" स्वातिरिक्त परद्रव्य को भिन्न समझते हुये औपाधिक विभाव परिणतियों से हटा कर आत्मा की स्वयं मे एकपने से प्राप्ति करलेना समय है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा से और शरीर वचन मनोकी क्रियाये स्वरूप पर्यायों को जतानेवाली पर्यायार्थिक नयकी अविवक्षा से मैं अकेला ही आत्मा हूँ इस प्रकार एकपने से जानते रहना समय है। अथवा अहिंसा आदि व्रतों के भेद की अर्पणा करने से आत्मा का सम्पूर्ण सावद्य योगो से निवृत्ति स्वरूप एक निश्चय करना समय है। समय ही सामायिक है यह स्वार्थ मे ठण् प्रत्यय कर लिया है। अथवा प्रयोजन अर्थ में भी ठण् प्रत्यय कर लिया जाय पूर्वोक्त समय होना व्रत का प्रयोजन है वह सामायिक है यों सामायिक शब्द साधु बन जाता है "अय्" से घञ् प्रत्यय कर समीचीन आय का समाय बनालिया जाय पुनः ठण् प्रत्यय कर भी सामायिक शब्द बन जाता है। शब्द, गंध, आदि के ग्रहण में निरुत्सुक होकर जहाँ पाँचों इन्द्रियाँ स्व मे ही निवास करने लग जाती है इस कारण यह उपवास है। खाद्य लेह्य, पेय इन चारो प्रकार के आहार का त्याग हो जाना इसका अर्थ है। क्यों कि इन्द्रियां अपने अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, विषयों के प्रति व्यापार नही कर रही है। प्रोषध यानी अष्टमी, चतुर्दशी इन दो पर्वों में उपवास करना प्रोषधोपवास है। जघन्य आठ प्रहर के उपवासों में भी दो रात्रि और बीच का पूर्ण दिन यों बारह प्रहर तक चार प्रकार के आहार का त्याग करना पडता है, चतुर्दशी या अष्टमी के प्रातः काल से नवमी या पन्द्रस के प्रातः काल तक उपवास की प्रतिज्ञा लेता है अतः वह उपवास आठ प्रहर का समझा जाता है यह उपवासी सम्भवतः साते या तेरस की रात को कुछ गृहारम्भ कर लेवे इस कारण चौदस को प्रातः उपवास माड़ता है।

उपेत्य भुज्यत इत्युपभोगः अशनादिः, परित्यज्य इति परिभोगः पुनः पुनर्भुज्यत इत्यर्थः स वस्त्रादिः। परिमाणशब्दः प्रत्येकमुभाभ्यां संबंधनीयः। संयममविराधयन्नततीत्यतिथिः। न विद्यतेस्य तिथिरिति वा तस्मै संविभागः प्रतिश्रयादीनां यथायोगमतिथिसंविभागः।

उपेत्य यानी अपने अधीन कर जो एक बार में ही भोग लिया जाता है इस कारण भोजन, पान पुष्पमाला, चन्द्रनलेप आदिक उपभोग पदार्थ है। और एक बार भोग के छोड़ कर पुनः उसी को भोगा जाता है इस कारण भूषण आदि परिभोग हैं। पुनः पुनः पदार्थ भोगा जा रहा है यह इस परिभोग का अर्थ है। वे परिभोग वस्त्र, भूषण, पलंग, घोड़ा, गाड़ी, मोटरकार, घर, तम्बू आदिक है। एक धनाढ्य राजा एक बार जिस वस्त्र को पहन लेता था उसको दुबारा नहीं पहनता था ऐसी दशा में वस्त्र उसके उपभोग में गिना जायगा परिभोग में नहीं। परिमाण शब्द का दोनों के साथ प्रत्येक प्रत्येक में सम्बन्ध कर लेना चाहिये। उपभोग का परिमाण और परिभोग का परिमाण ये दोनों एक व्रत हैं। "अत सातत्यगमने" धातु से अतिथिशब्द बनाया गया है। व्रतधारण, समितिपालन, कषायनिग्रह, दण्डत्याग, इन्द्रियजय, स्वरूप संयम की नहीं विराधना करता हुआ जो सर्वदा प्रवर्तता है इस कारण वह अतिथि है, अथवा तिथि शब्द के साथ नञ् समास कर अतिथि शब्द बनाया जाय। जिस के कोई अष्टमी, चौदस, द्वितीया, पञ्चमी, एकादशी आदि तिथियों का विचार नहीं है अतः वह अतिथि है। उस अतिथि के लिये वसति-

का, शास्त्र, कमण्डलु आदिकों का जो यथायोग्य समीचीन विभाग यानी दान करना है वह अतिथि-संविभागव्रत है।

व्रतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, सम्पन्नशब्दश्च तेन दिग्विरतिव्रतसम्पन्न इत्यादि योज्यम्। व्रतग्रहणमनर्थकमिति चेत्, उक्तमत्र चोपसर्जनानभिसंबन्धादिति। तत इदमुच्यते—

इस सूत्र में द्वन्द्वसमास के अन्त में पड़े हुये व्रत शब्द का प्रत्येक के साथ सात पदों के पीछे सम्बन्ध कर लिया जाता है तथा सम्पन्न शब्द का भी प्रत्येक के साथ योग लग रहा है, तिस कारण दिग्विरतिव्रतसम्पन्न, देशविरतिव्रतसम्पन्न इत्यादि योजना कर लेना योग्य है। आदि पद कर लिये गये अनर्थदण्डविरतिव्रतसम्पन्न, सामायिकव्रतसम्पन्न, प्रोषधोपवासव्रतसम्पन्न, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत-सम्पन्न, अतिथिसंविभागव्रतसम्पन्न ऐसा उक्त सात व्रतोंवाला भी गृहस्थ होना चाहिये। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि इस सूत्र मे व्रत शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ है। क्योंकि उपरिम सूत्रों से व्रत की अनुवृत्ति हो ही जायगी यो आक्षेप प्रवर्तने पर तो ग्रन्थकार बोलते है कि इस विषय में हम उत्तर कह चुके हैं कि उपसर्जन यानी गौण हो चुके पद का पुनः काट छांट कर सम्बन्ध नहीं हो सकता है। "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्" इस सूत्र का व्रत शब्द बहुत दूर पड़ चुका है। तथा व्रत-सम्पन्नः इस अर्थ को कहने के लिये वह लक्ष्यभूत स्वतन्त्र व्रत शब्द उपयोगी भी नही पड़ता है। "निश्शल्यो व्रती" इस सूत्र मे यद्यपि व्रत शब्द है तथापि प्रधानभूत व्रती में वह गौण हो चुका है अतः व्रत शब्द यहां कण्ठोक्त किया गया है। अब तक सूत्रोक्त पदों का विवरण किया जा चुका है। तिस कारण इसको वार्तिकों द्वारा यों कहा जा रहा है कि—

दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिर्या विशुद्धिकृत्।
सामायिकं त्रिधा शुद्धं त्रिकालं यदुदाहृतं ॥१॥
यः प्रोषधोपवासश्च यथाविधि निवेदितः।
परिमाणं च यत्स्वस्योपभोगपरिभोगयोः ॥२॥
आहारभेषजावासपुस्तवस्त्रादिगोचरः।
संविभागो व्रतं यत्स्याद्योग्यायातिथये स्वयं ॥३॥
तत्संपन्नश्च निश्चेयोऽगारीति द्वादशोदिताः।
दीक्षाभेदा गृहस्थस्य ते सम्यक्त्वपुरःसराः ॥४॥

दिशाओ, देशो, और अनर्थदण्डों से जो विरति है वह आत्मा की विशुद्धि को करने वाली है। और आत्मविशुद्धि को करने वाला तीनों कालो में शुद्ध किया गया तीन प्रकार जो सामायिक कहा गया है वह चौथा व्रत है। एवं शास्त्रोक्त विधिका अतिक्रमण नहीं कर जो प्रोषध में उपवास होता है वह प्रोषधोपवास समझा दिया गया है। तथा अपने उपभोग और परिभोग पदार्थों का जो परिमाण करना है वह उपभोगपरिभोगपरिमाण नाम का छठा शील है। सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, महाव्रती आदि योग्यतावाले अतिथि के लिये जो स्वयं अपने हाथों से आहार, औषधि, निवास स्थान, पुस्तक, वस्त्र, कमण्डलु आदि यथायोग्य विषयों में हो रहा समीचीन विभाग करना है वह अतिथिसंविभाग व्रत है। उन अहिंसादि पाँच व्रतों से और इन सात व्रतों (शीलों) से भी सम्पन्न हो रहे अगारी का निश्चय कर लेना चाहिये। इस प्रकार

गृहस्थ की दीक्षा के भेद बारह कहे गये हैं। इन बारह व्रतों को गृहस्थ के उत्तर गुण भी कहते हैं। वे सब बारहों व्रत सम्यक्त्व को पूर्ववर्ती मान कर होने चाहिये। अर्थात् सम्यक्त्व पूर्वक होंगे तभी वे व्रत। या गृहस्थ दीक्षा के भेद कहे जा सकते हैं। मिथ्यादृष्टि के कदाचित् पाये जा रहे भी अहिंसा आदिक परिणाम कथमपि व्रत नहीं कहे जाते हैं।

कुतः कारणाद्दिग्विरतिः परिमिताच्च समाश्रीयते यतो विशुद्धिकारिणी स्यादिति चेत्, दुष्परिहारक्षुद्रजन्तुप्रायत्वाद्विनिवृत्तिस्तत्परिमाणं च योजनादिभिर्ज्ञातवद्भिः। ततो आगमनेऽपि प्राणिवधाद्यभ्यनुज्ञातमिति चेन्न, निवृत्त्यर्थत्वात्तद्वचनस्य कथंचित्प्राणिवधस्य परिहारेण गमन-सम्भवात्। तृष्णाप्राकाम्यनिरोधनतन्त्रत्वाच्च तद्विरतेर्महालाभेऽपि परिमितदिशो बहिरगमनात्। ततो बहिर्महाव्रतसिद्धिरिति वचनात्।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि-किस कारण से परिमित स्थान से दिग्विरति व्रत का भले प्रकार आश्रय लिया जा रहा है ? जिस से कि वह दिग्विरति अणुव्रती के लिये आत्मविशुद्धि को करने वाली हो सके। यों प्रश्न करने पर तो ग्रन्थकार उत्तर कहते हैं कि जिन का बड़ी कठिनता से रक्षार्थ परिहार हो सकता है ऐसे छोटे-छोटे जन्तुओ करके ये दिशायें प्रायः भरपूर हो रही है इस कारण अहिंसा व्रतकी पुष्टि के लिये उन दिशाओं की विशेषतया निवृत्ति करनी चाहिये। अर्थात छोटे छोटे जन्तु सर्वत्र भरे हुये हैं अतः अवधिभूत दिशाओं के बाहर गमनागमन नहीं करने से उन जन्तुओं की रक्षा हो जाती है। तथा लोक प्रसिद्धि अनुसार जाने जा चुके अथवा प्रसिद्ध हो रहे योजन, समुद्र, नदी, वन आदि चिन्हों करके उन दिशाओ का परिमाण कर लेना चाहिये। दिग्विरति करके सीमाके बाहर सम्पूर्ण पापों की निवृत्ति हो जाने से गृही मुनि के समान भासता है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि उस दिशा का परि-माण करने से भले ही व्रती सीमा के बाहर गमन नहीं करता है तो भी उन परिमित दिशाओ के भीतर स्थित हो रहे प्राणियो के वध आदि को उस व्रती ने अवश्य स्वीकार कर लिया है अन्यथा दिशाओं का परिमाण करना व्यर्थ पड़ता है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्योंकि व्रती पुरुष के प्रति उस दिग्विरति का कथन करना निवृत्ति के लिये है। सीमा के भीतर भी यथा योग्य प्राणियों के वध का परिहार करते हुये उस व्रती का गमनागमन करना सम्भवता है। दिग्विरति की सीमा के बाहर जीव वध की निवृत्ति के लिये जो उद्यत हो रहा है और सीमा के भीतर भी पूर्णरूप से निवृत्ति करने के लिये अशक्य है वह बहुत प्रयोजन के होते हुये भी परिमित अवधि से बाहर कथमपि गमन नहीं करूँगा ऐसा प्रणिधान कर रहा है अतः कोई दोष नही आता है। जो महाव्रत धारण करने के लिये भावना कर रहा गृही आज दिग्विरतिव्रत को पाल रहा है तो कुछ दिनों पश्चात वह सर्वत्र अहिंसा महाव्रत पालने के लिये समर्थ हो जायगा। क्रम क्रम से चढ़ने वाले अभ्यासी के लिये उतावलापन करना उचित नहीं। एक बात यह भी है कि उस दिग्व्रत का पालन यथेच्छ बढ़ी हुई तृष्णा के रोके जाने की अधीनता से हुआ है। मणि, रत्न, आदिका महान् लाभ होने पर भी परिमित दिशा के बाहर उस व्रती का गमन नहीं होता है। तिस कारण अहिंसाणुव्रत के धारी इस व्रती के परिमित अवधि के बाहर नवभंगों करके हिंसा आदि सर्व पापों की निवृत्ति हो जाने से महाव्रत की सिद्धि हो जाती है ऐसा आचार शास्त्रों में कथन किया गया है। अर्थात् दिग्विरत अणुव्रती भी महाव्रती के समान समझा जाता है "अवधेर्बहि-रणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते, प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्द-तराश्चरणमोहपरिणामाः सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्पन्ते" (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) "दिग्व्र-

तोद्रिक्त वृत्तघ्न कषायोदयमान्द्यतः महाव्रतायतेऽलक्ष्यमोहे गेहिन्यणुव्रतम्" (सागारधर्मामृत) अन्य ग्रन्थों का भी यही अभिप्राय है ॥

तथैव देशविरतिर्विशुद्धिकृत् । अनर्थदण्डः पञ्चधा अपध्यानपापोपदेशप्रमादचरितहिंसाप्रदानाशुभश्रुतिभेदात् । ततोऽपि विरतिर्विशुद्धिकारिणी । नरपतिजयपराजयादिसंचिंतनलक्षणादपध्यानात् क्लेशतिर्यग्वणिज्यादिवचनलक्षणात्पापोपदेशात् निःप्रयोजनवृक्षादिछेदनभूमिकुट्टनादिलक्षणात्प्रमादाचरितात् विषशस्त्रादिप्रदानलक्षणाच्च हिंसाप्रदानात् हिंसादिकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिलक्षणाच्चाशुभश्रुतेर्विरतेर्विशुद्धपरिणामोत्पत्तेः॥

जिस प्रकार दिग्विरति विशुद्धिकारिणी है उस ही प्रकार देशविरति भी विशुद्धि को करनेवाली है। मृत्युपर्यन्त की गई दिग्विरति के भीतर ही घर, पर्वत, ग्राम आदि देशों की अवधि कर प्रतिदिन, पक्ष, महीना, चार महीना, वर्ष आदि कुछ काल तक मर्यादा करता है वह देशव्रती है। इस के भी मर्यादा के बाहर सर्वसावद्य की निवृत्ति हो जाने से महाव्रतीपना उपचरित है। अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसाप्रदान, अशुभश्रुति, के भेद से अनर्थदण्ड पांच प्रकार का है। उन अनर्थदण्डों से भी विरति करना आत्मविशुद्धि को करने वाला है। तहाँ राजाओ का जय, पराजय, अंगच्छेदन, धनहरण आदि का बार बार चिन्तन करना स्वरूप आर्त. रौद्र अपध्यान से विरति हो जाने पर आत्मा के विशुद्धपरिणाम उपजते है। एवं क्लेशवणिज्या, तिर्यग्वणिज्या हिंसा, आरम्भ आदि का कथन करना स्वरूप पापापदेश से विरति हो जाने के कारण विशुद्ध परिणामों की उत्पत्ति होती है। प्रयोजन के बिना ही वृक्ष आदि का छेदन करना. भूमि खोदना, आग बुझाना, पानी सींचना, वायु का आरम्भ करना, व्यर्थ यहां वहां डोलना, आदि स्वरूप प्रमादाचरित से विरक्ति हो जाने पर आत्मा में विशुद्ध परिणामों की उत्पत्ति होती है। तथा हिंसा के उपकरण हो रहे विष, शस्त्र, अग्नि, लट्ठ, चाबुक, लेज आदि का प्रदान करना स्वरूप हिंसा प्रदान से गृहस्थ की विरति हो जाने पर आत्मा में विशुद्ध परिणतियां उपजती है एवं चित्त में कलुपता को करने वाली हिंसा आदि की कथाओं को सुनना या उनको सीखने, सिखाने का व्यापार करना आदि स्वरूप अशुभ श्रुति नामक अनर्थदण्ड से विरति हो जाने से भी विशुद्ध परिणामों की उत्पत्ति होती है ॥

मध्येऽनर्थदण्डग्रहणं पूर्वोत्तरातिरेकानर्थक्यज्ञापनार्थं तेनानर्थदण्डात्पूर्वयोर्दिग्देशविरत्योरुत्तरयोश्चोपभोगपरिमाणयोरनर्थकं चंक्रमाणादिकं विषयोपसेवनं च न कर्तव्यमिति प्रकाशितं भवति ततो विशुद्धिविशेषोत्पत्तेः । सामायिकं कथं त्रिधा विशुद्धिदमिति चेत्, प्रतिपाद्यते । सामायिके नियतदेशकाले महाव्रतत्वं पूर्ववत् ततो विशुद्धिरणुस्थूलकृतहिंसादिनिवृत्तेः । संयमप्रसंगः संयतासंयतस्यापीति चेन्न, तस्य तद्घातिकर्मोदयात् । महाव्रतत्वाभाव इति चेन्न, उपचाराद्राजकुले सर्वगतचैत्रवत् ।

पूर्ववर्ती दिग्व्रत और देशव्रत तथा उत्तरवर्ती उपभोगपरिमाण और परिभोग परिमाण के मध्य में अनर्थदण्ड का ग्रहण करना तो पूर्ववर्ती और उत्तरवर्तीव्रतों के अतिरेक का अनर्थकपना समझाने के लिये है तिस करके अनर्थदण्डविरतिके पूर्व में कहे गये नियत परिमाण वाले दिग्विरति और देश विरति तथा अनर्थदण्डव्रत से पीछे उत्तरवर्ती हो रहे नियत कर लिये गये उपभोगपरिमाण और परिभोगपरिमाण व्रतों में भी व्यर्थ का भ्रमण चंक्रमण आदि करना और निरर्थक विषयों का सेवन करना आदि कर्म नहीं करने चाहिये यह मध्य में अनर्थदण्डव्रत के डालने से प्रकाशित हो जाता है। उस अनर्थदण्डविरति से

आत्मा में विशुद्धि विशेष की उत्पत्ति होती है। यहां सामायिक व्रत में कोई प्रश्न उठाता है कि उक्त वार्तिकों में सामायिक को किस प्रकार तीन प्रकार शुद्ध या तीन भेद से विशुद्धि को देने वाला कहा गया है ? बताओ। यों कहने पर आचार्य महाराज समझाये देते हैं कि इतने देश और इतने काल मे साम्यभाव करना इस प्रकार नियत कर लिये गये सामायिक में स्थित हो रहे व्रती पुरुष के पूर्व के समान महाव्रत सहितपना समझ लेना चाहिये अर्थात् दिग्व्रत देशव्रत में जैसे सीमा के बाहर महाव्रतपना है उसी प्रकार नियतदेश नियतकाल तक सामायिक मे उद्युक्त हो रहे व्रती के उतने समय तक महाव्रतीपना है, उस सामायिक नामक मोक्षोपयोगी पुरुषार्थ से आत्मा मे विशुद्धियां, निर्मलतायें, उपजती है क्योंकि सामायिकव्रती के अणुरूप से किये गये और स्थूल रूप से किये गये हिंसा, झूठ आदि सम्पूर्ण पापो की निवृत्ति हो रही है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि तब तो त्रस वधत्याग की अपेक्षा संयत और स्थावर वध के नहीं त्याग की अपेक्षा असंयत हो रहे सयतासंयत गृहस्थ के भी महाव्रत हो जाने के कारण संयम धार लेने का प्रसंग आ जावेगा। आगम में छठे गुणस्थान से ऊपर संयम माना गया है, पांचवे गुणस्थान में संयम नहीं। ग्रंथकार कहते है कि यह तो न कहना क्योंकि सर्वसावद्य निवृत्ति स्वरूप सामायिक में स्थित हो रहे उस व्रती के उस संयम का घात करने वाले प्रत्याख्यानावरण कर्म का उदय हो रहा है। इस कारण संयमभाव नहीं कहा जा सकता है। अन्तरंग में प्रत्याख्यानावरण कर्म का अनुदय होने पर और बहिरंग में दिगम्बरदीक्षा, केशलोच आदि विधि के साथ जब आत्मास्वरूप चिन्तन किया जायगा तभी संयम बन सकता है अतः गृहस्थ के एक देश संयम माना गया है। इस पर कोई पुनः कटाक्ष करता है कि अन्तरंग में यदि प्रत्याख्यानावरण कर्म का उदय हो रहा है तब तो निवृत्ति रूप परिणाम नहीं हो सकते है अतः सामायिक मे आगूर्ण हो रहे श्रावक के महाव्रतीपना नही बन सकता है, जो कि आपने अभी कहा था। आचार्य कहते है कि यह तो न कहना क्योंकि अणुव्रती के उपचार से महाव्रतीपना कहा गया है जैसे कि राजा के कुल यानी परिवार में चैत्र यानी विद्यार्थी का सभी स्थानो पर चले जाना कह दिया जाता है। अर्थात् महाराज के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रख रहा कोई विनीत विद्यार्थी अनेक स्थानों पर पहुच जाता है या लघुवयस्क उपनय ब्रह्मचारी भिक्षा के लिये अन्तःपुर में भी चला जाता है जहां कि साधारण पुरुष नही जा पाते है किन्तु स्नानगृह, शयनगृह, अन्तरंग भाण्डागार आदि गुप्तस्थानो पर नही जा पाता है। फिर भी बहिरंग लोक उस ब्रह्मचारी को "राजकुल मे सर्वत्र इस की गति है" ऐसा व्यवहार कर देते है। उसी प्रकार यहां भी अणुव्रती श्रावक को उपचार से महाव्रत धारकपना व्यवहृत है।

कः पुनः प्रोषधोपवासो यथाविधीत्युच्यते—स्नानगन्धमाल्यादिविरहितोऽवकाशे शुचावुपवसेत् इत्युपवासविधिर्विशुद्धिकृत्, स्वशरीरसंस्कारकरणत्यागाद्धर्मश्रवणादिसमाहितान्तःकरणत्वात् तस्मिन् वसति निरारम्भत्वाच्च।

यहाँ कोई फिर पूँछता है कि पाँचवां शील प्रोषधोपवास भला क्या है ? यों जिज्ञासा प्रवर्तने पर वार्तिक में कहे गये और निरुक्ति अनुसार प्राप्त हो चुके प्रोषधोपवास को शास्त्रोक्त विधि अनुसार यों बखाना जाता है, प्रोषधोपवास की विधि इस प्रकार है कि जितेन्द्रिय पुरुष रागवर्द्धक स्नान करना, गन्धमाला पहिरना, भूषण-वस्त्र धारण करना आदि करके विरहित हो कर पवित्र अवकाश स्थल में उपवास मांडे, अथवा साधुओं के निवासस्थल या चैत्यालय एवं अपने घर में न्यारे बने हुये प्रोषधोपवास गृह में धर्म कथा को सुनता सुनाता हुआ या ध्यान करता सन्ता आरम्भ परिग्रह रहित हो रहा श्रावक उपवास करे। इस प्रकार उपवास की विधि है, जो कि परम विशुद्धि को करने वाली है क्योंकि अपने

शरीर सम्बन्धी संस्कारों के करने का त्याग हो रहा है और धर्म श्रवण, आत्मध्यान, स्वाध्याय, आदि में मन एकाग्र हो कर लग रहा है। अतः "उपेत्य वसति तस्मिन्" इन्द्रियों की स्वतन्त्र वृत्ति का संकोच कर शुद्ध आत्मीय स्वरूप में यह जीव निवास करता है। एक बात यह भी है कि आरम्भ परिग्रहों से आकुलता या संक्लेश बढ़ते हैं। उपवास में आरम्भरहित हो जाने से भी आत्म विशुद्धि बढ़ती है॥

भोगपरिभोगसंख्यानं पञ्चविधं, त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्। तत्र मधुमांसं त्रसघातजं तद्विषयं सर्वदा विरमण विशुद्धिदं, मद्य प्रमादनिमित्तं तद्विषयं च विरमणं संविधेयमन्यथा तदुपसेवनकृतः प्रमादात्मकलव्रतविलोपप्रसगः। केतक्यर्जुनपुष्पादिमाल्य जन्तुप्रायं शृंगवेरमूलकार्द्रहरिद्रानिम्बकुसुमादिकमुपदंशकमनन्तकायव्यपदेशं च बहुवधं तद्विषय विरमणं नित्यं श्रेयः। श्रावकत्वविशुद्धिहेतुत्वात्। यानवाहनादियद्यस्यानिष्टं तद्विषयं परिभोगविरमणं यावज्जीवं विधेयं। चित्रवस्त्राद्यनुपसेव्यंमस्पमशिष्टसेव्यत्वात् तदिष्टमपि परित्याज्यं शश्वदेव। ततोऽन्यत्र यथाशक्ति स्वविभवानुरूपं नियतदेशकालतया भोक्तव्यं।

जैन सिद्धान्त में त्रसों के घात और प्रमादवर्द्धक विषय तथा बहुस्थावरवध एवं अनिष्ट तथैव अनुपसेव्य विषय इन पांच विषयों के भेद से भोगोपभगों की परिसंख्या करना पाँच प्रकार है। बाईस अभक्ष्य केवल इन्हीं का विस्तार कहा जा सकता है। साधारण जीवों का बाईस मे नाम भी नही है तथा अनिष्ट अनुपसेव्य और मादक पदार्थों के त्याग का भी यथेष्ट वर्णन नहीं है अतः प्राचीन आम्नाय अनुसार अभक्ष्य पॉच ही मानने चाहिये। पाँच उदुंबर, तीन मकार, ओला, विदल, रात्रिभोजन, बहुबीजा, बैंगन, कंद मूल, अज्ञातफल, अचार, विष, माटी, बरफ, तुच्छफल, चलितरस, मक्खन, इन में कुछ पुनरुक्त है और कितने ही अभक्ष्य इनमें गिनाये नहीं गये हैं। मांसत्यागव्रत, मधुत्यागव्रत और मद्यत्यागव्रत के अतीचारों में से या यहाँ वहाँ के अप्रासंगिक कुछ अभक्ष्यों का नाम ले देने से बाईस की संख्या भर ली गयी है जो कि अव्याप्ति और अतिप्रसंग दोषों से खाली नहीं है। किन्हीं का अनुकरण किया गया दीखता है, आस्तां। उन पॉच अभक्ष्यों में प्रथम मधु और मांस तो त्रस जीवों के घात से उपजते हैं अतः उन मधु मांस में सर्वदा विरति करना आत्मविशुद्धि को देने वाला है। मद्य यानी शराब तो प्रमाद का निमित्त है अतः उस मद्य के विषय में हो रहा परित्याग भी भले प्रकार करना चाहिये अन्यथा यानी मद्यको त्यागे बिना उस मद्य के उपसेवन से किये गये प्रमाद से अहिंसा, सत्य आदि सम्पूर्ण व्रतों के विलोप होने का प्रसंग आ जायगा। गुड़, जौ, धाय के फूल, अंगूर, धतूरा, आदि को सड़ा गलाकर बनाया गया मद्य तो असंख्य त्रस जीवों के घात का हेतु भी है। किन्तु प्रासुक निर्जीव बना लिया मद्य भी मादक होने से अभक्ष्य है। जैसे कि सूखी भांग, धतूरा, अहिफेन आदि अभक्ष्य है। केतकी (केवड़ा), अर्जुन के फूल आदि की मालाये प्रायः बहुत से त्रस जन्तुओं के अवलम्ब है। बहु स्थावर वध भी होता है। अतः केवड़ा आदि के उपभोग का विरमण करना श्रेष्ठ है। तथा सचित्त हो रहे शृंगवेर यानी सोंठ, मूलक यानी मूली, गाजर आदि मूल पदार्थ, अदरक, हल्दी, निम्बपुष्प आदिक और उपदंशक कन्द ये सब सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतियाँ अनन्तकाय नाम को धारती हैं। इनके खाने या वर्तने से बहुत से (अनन्तानन्त) स्थावर जीवों का वध होता है। अतः गृहस्थ को उनमें आखड़ी कर सर्वदा विरक्ति करना श्रेष्ठ मार्ग है। क्योंकि श्रावकपने की विशुद्धि का हेतु वह बहुवध का त्याग है। गाड़ी, मोटर, रेलगाड़ी आदिक यान पदार्थ और घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि वाहन पदार्थ एवं गद्द, नदीजल, मिरच आदि जो जो पदार्थ जिसको अनिष्ट पड़ते हैं या प्रकृति को अनुकूल नहीं है उन उन विषयों के परिभाग का जीवन पर्यन्त

परित्याग करना चाहिये भले ही इन अनिष्ट पदार्थों में त्रस घात या बहुस्थावरघात नहीं है तथापि प्रकृति को अनुकूल नहीं पड़ने से आत्माके संक्लेशांगों की वृद्धिका कारण होने से अनिष्ट पदार्थों का यावज्जीव त्याग कर देना चाहिये। भोजन में भी जो दही, दूध, मका, केला, आदिक यदि शरीर प्रकृति को अनिष्ट पड़ते है तो वे उस व्यक्ति के लिये अभक्ष्य है। जिन वस्त्रों पर नाना पशु पक्षियों के कढ़ाव हो रहे हैं अथवा चमक, दमक, जिनकी खटकने योग्य है, पंचरंगे पट्टी, सीताराम, आदि शब्दो से अङ्कित आदि विकृत हो रहे चित्रवस्त्र, विभिन्न प्रकार के निन्दनीय भूषण, शृंगार, विकृत वेश, लार, उगाल, मूत्र, आदि त्यागने योग्य हैं। क्योंकि उक्त निन्दनीय परिभोग शिष्ट पुरुषो द्वारा सेवनीय नहीं है। गुण्डे, शृंगारी, नट, बहुरूपिया आदि अशिष्ट पुरुष ही ऐसे खटकने योग्य परिभोगो को सेवते है अतः वे चित्र-वस्त्र आदि भले ही जीव वध पूर्वक नहीं होते हुये इष्ट भी होंय तो भी आत्म विशुद्धि में क्षति पहुचाने वाले होने से सर्वदा ही सब ओर से त्यागने योग्य है। यदि यावज्जीव त्यागने की शक्ति नहीं है तो उसके सिवाय शक्ति का अतिक्रमण नहीं कर अपने विभव या परिस्थिति के अनुकूल हो कर नियत देश की मर्यादा और नियत काल की मर्यादा करके भोगना चाहिये, त्यागने की ओर लक्ष्य रखना चाहिये। स्त्रियों के वस्त्र, आभूषण, तो पुरुषो के लिये अनुपसेव्य पड़ जाते है और पुरुषो के वस्त्र, गायन, परिधावन, प्रकाण्ड अर्थोपार्जन आदि कार्य स्त्रियों के लिये अनुपसेव्य हो जाते है। इन कृतियों से आत्मा में उपहास, रागद्वेष परिणतियां, निर्बलताये, स्वकर्तव्यक्षति, आदि संक्लेश हो जाते है। अतः इन का परित्याग करना आवश्यक बताया है। "स्वविभवानुरूप" पद से यह भी ध्वनित हो जाता है कि आपक या संक्लेश को बढाने वाले सट्टा, लाटरी, वायदा आदि वाणिज्यों को त्याग करते हुये आत्मविशुद्धिको करने वाला भोगोपभोग संख्यान करना चाहिये। भगवान श्री समन्तभद्राचार्य ने श्रावकाचार मे भोगोपभोग संख्यान को पॉच प्रकार गिनाया है। 'त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये, मद्य च वर्जनीयं जिन-चरणौ शरणमुपयातैः ॥ १ ॥ अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि। नवनीतनिम्बकुसुमं कैतक-मित्येवमवहेयम ॥ २ ॥ यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्, अभिसन्धिकृताविरतिर्योग्याद्वि-षयाद्व्रतं भवति ॥३॥ राजवार्तिक में भी ऐसा ही निरूपण है ॥

अतिथिसंविभागश्चतुर्विधो भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्। तत्र भिक्षा निरवद्याहारः रत्नत्रयोपबृंहणमुपकरणं पुस्तकादि, तथौषध रोगनिवृत्त्यर्थमनवद्यद्रव्य, प्रतिश्रयो वसतिः। स्त्री-पश्वादिकृतसम्बन्धरहिता योग्या विज्ञेया। एवंविधोदितव्रतसंपन्नोऽणुव्रतो गृहस्थशुद्धात्मा प्रति-पत्तव्यः। चशब्दः सूत्रेऽनुक्तसमुच्चयार्थः प्रागुक्तसमुच्चयार्थात्। तेन गृहस्थस्य पञ्चाणुव्रतानि सप्त शीलानि गुणव्रतशिक्षाव्रतभांजीति द्वादशदीक्षाभेदाः सम्यक्त्वपूर्वकाः सल्लेखनान्ताश्च महाव्रत-तच्छीलवत्।

सातवां शील अतिथिसंविभाग व्रत तो भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय इन भेदों से चार प्रकार का है। उन चार भेदों मे पहिली भिक्षा तो संयम में तत्पर हो रहे अतिथि के लिये शुद्ध चित्त से निर्दोष आहार देना है। रत्नत्रय धर्म की वृद्धि के कारण हो रहे पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरण देने चाहिये। आर्यिका के लिये शाटिका वस्त्र देना उचित है। तथा रोग की निवृत्ति के लिये निर्दोष द्रव्य वाला औषध देना चाहिये। प्रतिश्रय का अर्थ यहां वसतिका है। मुनि, आर्यिका या साधुजनों के योग्य निवास स्थान का धर्म की श्रद्धा से दान दिया जाय। स्त्री, पशु, पक्षी, चोर, आदि जीवों द्वारा किये गये सम्बन्ध से रहित हो रही योग्य वसतिका समझ लेनी चाहिये। इस प्रकार कहे गये सात व्रतों से सम्पन्न

हो रहा और पांच अहिंसा आदि अणुव्रतो से भूषित हो रहा गृहस्थ शुद्धात्मा है ऐसी प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये। इस सूत्र में च शब्द पड़ा हुआ है जो कि अनुक्त का समुच्चय करने के लिये है। आठ मूल गुणों का धारण और सप्त व्यसनों के त्याग का भी ग्रहण कर लिया जाता है। एवं पूर्व मे कहे जा चुके पांच अणुव्रतों का समुच्चय करना इसका प्रयोजन है। भविष्य में कही जाने वाली सल्लेखना का भी आकर्षण कर लिया जाता है। तिस कारण सिद्ध हो जाता है कि गृहस्थ के अहिंसादि पाच अणुव्रत है और गुणव्रत, शिक्षाव्रत, इन नामों को धार रहे सात शील है। इस प्रकार सम्यक्त्व पूर्वक और सल्लेखनान्त ये मध्यवर्ती बारह दीक्षा के भेद गृहस्थ के है। जैसे कि मुनियों के महाव्रत और उनके परिरक्षक शील पाये जाते है। भावार्थ–जैसे मुनियों के सम्यक्त्वपूर्वक अट्ठाईस मूल गुण और चौरासी लाख उत्तर गुण तथा अन्त में सल्लेखना यों व्रतों की व्यवस्था है। उसी प्रकार सम्यक्त्वपूर्वक बारहव्रत और अन्त मे सल्लेखनामरण ये पूरा श्रावक धर्म है। माननीय पण्डित आशाधरजी ने कहा है कि "सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते, सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम् ॥"

कदा सल्लेखना कर्तव्येत्याह—

च शब्द करके समुच्चय करने योग्य सल्लेखना भला कब करनी चाहिये ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते है।

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

तद्भवमरना स्वरूप अन्त है प्रयोजन जिसका ऐसी सल्लेखना की प्रीति को रखने वाला और समय आ जाने पर उसका सेवन करने वाला व्रती होता है। अर्थात मरण के उपान्त्य में हो रही समीचीन रीत्या अन्न, ईहा, शरीरो की लेखना यानी पतला करना रूपी सल्लेखना में प्रीति करने वाला और सेवन करने वाला व्रती होना चाहिये॥

व्रतीत्यभिसंबन्धः सामान्यात्। स्वायुरिन्द्रियबलसंक्षयो मरणं, अन्तग्रहणं तद्भवमरणप्रतिपत्त्यर्थं ततः प्रतिसमय स्वायुरादिसंक्षयोपलक्षणनित्यमरणव्युदासः। भवांतरप्राप्त्यजहद्वृत्तपूर्वभवनिवृत्तिरूपस्यैव तद्भवमरणस्य प्रतिपत्तेः मरणमेवान्तो मरणान्तः, मरणान्तः प्रयोजनमस्या इति मारणान्तिकी।

सामान्यरूप से प्रकरण में चले आ रहे "व्रती" शब्द का यहां विधेय दल की ओर सम्बन्ध कर लेना चाहिये। अजर, अमर नित्य, हो रहे आत्मद्रव्य का तो मरण होता नही है किन्तु अपने आत्मीय परिणामों से ग्रहण किये गये आयुःप्राण, इन्द्रियप्राण, श्वासोछ्वास, और बल प्राणो का कारण वश से संक्षय यानी वियोग हो जाना मरण है। इस सूत्र मे अन्तशब्द का ग्रहण करना तो उस कालान्तरस्थायी पर्याय स्वरूप तद्भव के मरण की प्रतिपत्ति को कराने के लिये है। तिस कारण आद्य जीवन, मध्यजीवनों में भी प्रत्येकप्रत्येक समय में हो रहे स्वकीय आयुः, इन्द्रिय आदि का संक्षय करके उपलक्षित हो रहे नित्यमरण का निराकरण हो जाता है। अन्य भव की प्राप्ति हो जाना और अनेक भवों तक व्याप रहे ध्रौव्य स्वभावों को नहीं छोड़ कर वर्तना तथा ग्रहीत पूर्व भव सम्बन्धी स्वभावों की निवृत्ति हो जाना स्वरूप हो रहे ही तद्भवमरण की प्रतिपत्ति हो रही है। अर्थात् नित्यमरण और तद्भवमरण यों मरण दो प्रकार का है। सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय अनुसार सम्पूर्ण पूर्व पर्यायों का उत्तर क्षण में विध्वंस होना जान लिया जाता है। यों बाल अवस्था से लेकर वृद्ध अवस्था पर्यंत असंख्याते नित्य मरण हो रहे हैं किन्तु

यहां तद्भवमरण का ग्रहण है अन्यथा यानी नित्यमरण की विवक्षा करने पर अन्त शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ ही पड़ता क्योंकि नित्यमरण कोई अन्तस्वरूप नहीं है। आदि में, मध्य में सदा ही होते रहते हैं। यहाँ स्थूल ऋजुसूत्रनय अथवा व्यवहार नय अनुसार असंख्यात समयों की एक स्थूल पर्याय का पूरी भुज्यमान आयुः के अन्त में क्षय हो जाना स्वरूप तद्भवमरण लिया गया है। प्रत्येक सत् में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, तीनों धर्म घटित हो जाने चाहिये। पूर्वभव में असंख्यात समयों की स्थितिवाली बांधी गयी आयु का वर्तमान भव में उदय आ जाने के समय से प्रारम्भ कर उदय या उदीरणाकरणों करके हुये भुज्यमान आयुः के सम्पूर्ण निषेकों की पूर्णता हो जाना तद्भवमरण है। यहां आयु का अन्त हो जाने पर भवान्तर की प्राप्ति स्वरूप उत्पाद है और पूर्व भव की निवृत्ति हो जाना व्यय है, और अनेक भवों तक व्याप रहे ज्ञान, संसरण, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि परिणतियों का स्थिर रहना ध्रौव्य है। यों जैन सिद्धान्त में मरण की परिभाषा युक्ति आगम अनुसार कर दी गयी है। वह तद्भव मरण स्वरूप ही जो अन्त है वह मरणान्त है। जिस सल्लेखना का प्रयोजन मरणान्त है इस कारण सल्लेखना मारणान्तिकी कही जाती है। यों समासवृत्ति और तद्धित वृत्ति अनुसार सूत्रोक्त "मारणान्तिकी" शब्द को व्युत्पन्न कर दिया गया है।

सम्यक्कायकषायलेखनाबाह्यस्य कायस्याभ्यंतराणां च कषायाणां यथाविधि मरण-विभक्त्यागधनोदितक्रमेण तनूकरणमिति यावत्। तां मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता प्रीत्या सेवितेत्यर्थः॥ किं कर्तुमित्याह—

समीचीन रीति से काय और कषायों की लेखना यानी पतला करना सल्लेखना है। बहिरंग हो रही काय और अभ्यन्तर में वर्त रही क्रोधादि कषायों का यथाविधि मरणविभक्ति आराधना प्रकरणों में कहे गये क्रम करके तक्षण (पतला) करना यह सल्लेखना का फलितार्थ है। अर्थात् जो जीव शास्त्रोक्त विधि अनुसार समीचीन रीति से काय और कषायों की भी लेखना करता है वह सात, आठ, भवों में मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। समाधिमरण के प्रज्ञापक कतिपय ग्रन्थ है। गुरुपरिपाटी से चला आया श्रेष्ठ प्रक्रम विशेष हितकर है। "घादेण अघादेण व, पडिदं चागेण चत्तमिदि" कदलीघात सहित अथवा कदली घात के बिना समाधिरूप परिणामो में शरीर का छोड़ देना त्यक्त कहा जाता है। भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनी, और प्रायोग्य विधि से त्यक्त के तीनभेद है। सल्लेखना में शरीर आहार, और संकल्प विकल्पों के त्याग करते हुये ध्यानशुद्धि से आत्मा का शोधन किया जाता है। समाधिमरण के लिये दिगम्बर दीक्षा ले ली जाय तो बहुत ही अच्छा है। श्रावक भी समाधिमरण कर सकता है। समाधिमरण करते समय कदलीघात मरण भी हो जाय तो भी आत्मघात दोष नहीं लगता है क्योंकि कषायों के आवेश से विष, वेदना, आदि करके अपने प्राणों की हिंसा करने वाल आत्मघाती है। किन्तु यहाँ अत्यन्तदुर्लभ धर्म की रक्षा के लिये अवश्यनाशी शरीर की रक्षा का लक्ष्य न भी रखा जाय इस में कोई प्रमाद दोष नहीं है। हां संयम या तप के साधने के लिये शरीर को बनाये रखना आवश्यक है किन्तु उपसर्ग, दुर्भिक्ष आदि की प्रतीकार रहित अवस्था मिल जाने पर काय को हेय समझकर धर्म ही संरक्षणीय हो जाता है। देह आदि की विकृति, उपसर्ग, निमित्तशास्त्र, ज्योतिष, शकुन, स्वप्न आदि करके शीघ्र क्षय हो जाने वाली आयु का निश्चय कर आराधनाओं में अपने विचार को मग्न करना चाहिये। उस समय इन शुभविचारों की भावना करे कि जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग, ये सब शरीर के हैं आत्मा नित्य, अजरामर, रत्नत्रयस्वरूप उत्तमक्षमादि दशधर्म रूप है सल्लेखना करने वाला शरीर को इस प्रकार अलग छोड़ देता है जैसे कि कपड़े को उतार कर

अलग धर दिया जाता है, साँप काँचली को उतार कर पृथक् हो जाता है। सुना जाता है कि जयपुर में अमरचन्द्र जी दीवान ने जयपुर के जैन मन्दिरों की रक्षा और जयपुर को तोपों से उड़ाये जाने की आज्ञानुसार होने वाली लाखों जीवों की हिंसा का निवारण करनेके लिये स्वयं अपना मरण विचार लिया था तदनुसार प्राणदण्डप्राप्ति के प्रथम ही समाधिको भावते भावते अपने शरीर को त्यक्त कर दिया था। धन्य हैं ऐसे सज्जन जो कि जीवदया या प्रभावना का लक्ष्य रख अपने ऊपर आये हुये तीव्र उपसर्ग की अवस्था में समाधिमरण कर जाते हैं। इसीलिये तो समाधिमरण होने की प्रतिदिन भावना भाई जाती है कि हे भगवन् ! हमारा समाधिमरण होय। "दुःखक्खउकम्मक्खउसमाहिमरणं च बोहिलाभो य। मम होउ जगद्बान्धव, तव जिणवर चरणशरणेण" आज कल के वैज्ञानिक युगमें रेलगाड़ी, मोटरकार, बिजलियाँ, जहाज, खानों के धड़ाके, पुल बनाना आदि में सैकड़ों मनुष्य प्रतिदिन मरते हैं। मकान गिर जाना, प्लेग, अग्निदाह, विषूचिका आदि रोग, नदी प्रवाह, साँप, बिच्छू, व्याघ्र आदि के काटने से यों प्रतिदिन सैकड़ों मनुष्य मर जाते हैं। ऐसे मरणों में आर्त रौद्र ध्यान ही सम्भवते हैं। लाखों, करोड़ों में से संभवतः एक आध का ही धर्मध्यान होता होगा। अतः "दुःखक्खउ कम्मक्खउ समाहिमरण जिन गुण सम्पत्ति होउ मज्झं" ऐसी प्रतिदिन भावना भाई जाती है। चिरकाल से धर्म की आराधना की होय और मरण अवसर पर परिणाम बिगड़ जाँय तो यह बड़ा भारी टोटा है। योद्धा को युद्ध में स्खलित नहीं होना चाहिये। देखो जिसने पूर्व काल में आराधनाओं का अभ्यास किया है वह मरणकाल में अवश्य धर्मात्मा बना रहेगा। हां अत्यन्त तीव्र पाप कर्म का उदय आ जाने पर उसका भी समाधिमरण बिगड़ जाता है। किन्तु धर्मात्मा के प्रथम ही कर्म बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। समाधिमरण के समय हुये विशुद्धपरिणाम या संक्लेश परिणाम भविष्य में अनेक वर्षों तक वैसी ही शुभ, अशुभ, वासनाओं को बनाते रहते हैं अतः मिथ्यात्व का त्याग कर अन्न, पान के त्यागक्रम से संयम पूर्वक शरीर का त्याग करने के लिये उद्युक्त बने रहना चाहिये, न जाने कब मरण का प्रकरण प्राप्त हो जाय, आजकल बहुभाग होने वाली अकाल मृत्युओं का किसे पता है ? अच्छा हो समाधिमरणार्थी किसी तीर्थस्थान या अतिशयक्षेत्र पर जाकर अपना समाधिमरण करे जहां कि समाधिमरण कराने वाले निर्यापकों का सत्संग होय। प्रथम ही देना (कर्ज) लेना, कुटुम्बीजन, आश्रित संस्थाओ आदि की व्यवस्था कर चुकने पर निश्शल्य हो जाय, अनन्तर समाधिमरण के साधक उपायों में लगे। समाधिमरण कराने वाले पुरुष भी अतीव सज्जन और देश, काल, व्यक्ति, परिणाम, शरीर, आदि की परीक्षा में निपुण होंय। समाधिमरणार्थी को आहार या पुद्गलों में अनुराग न हो जाय इस लिये मिष्ट उपदेशों से दृष्टान्तपूर्वक उसको समझा दिया जाय कि हे भाई ! ऐसा कोई भी पुद्गल नहीं है जो कि तुमने भोगकर न छोड़ दिया होय यदि किसी पुद्गल में आसक्त हो कर मर जाओगे तो निदानवश क्षुद्रकीट हो कर परजन्म में उसको खाओगे। हाँ यदि त्यागी बने रहोगे तो स्वर्ग के सुख भोग कर निर्वाण को प्राप्त करोगे। इत्यादिक रूप से समाधिमरण की प्रथम अवस्थाओं, मध्यम अवस्थाओं और अन्त्य अवस्थाओं का जैनग्रन्थों में वर्णन पाया जाता है। श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, सागार धर्मामृत आदि में अच्छा स्पष्टीकरण है। समाधितंत्र में भी बहुत अच्छा सद्विचार है–अभिप्राय यह है कि शास्त्रोक्तरीति से काय और कषायों का समीचीनतया लेखन करना सल्लेखना है। उस मरणान्तस्वरूप प्रयोजन को रखने वाली सल्लेखना को "जोषिता" यानी प्रीति करके सेवन करने वाला व्रती है। यह इस सूत्र का अर्थ है। अब कोई पूँछता है कि क्या करने के लिये सूत्रकार ने उक्त सूत्र कहा है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा इसका समाधान कहते हैं ॥

सम्यक्कायकषायाणां त्वचा सल्लेखनात्र तां।

जोषिता सेविता प्रीत्या स व्रती मारणांतिकीं ॥१॥
मृत्युकारणसंपातकालमास्थित्य सद्व्रतं ।
रक्षितुं शक्यभावेन नान्यथेत्यप्रमत्तगं ॥२॥

सल्लेखना शब्द में सत् शब्द का अर्थ समीचीन है और लेखना का अर्थ तक्षा यानी तनूकरण (पतला करना) है। यहाँ प्रकरण में समीचीन रूप से काय और क्रोधादिकषायों को क्षीण करना ("त्वक्ष् तनूकरणे" धातु से त्वक्षा शब्द बना लिया जाय) सल्लेखना माना गया है। वह पूर्वोक्त व्रतों का धारी अणुव्रती या महाव्रती जीव उस मरण रूप अन्त नाम के प्रयोजन को धारने वाली सल्लेखना को जोषिता यानी प्रीति करके सेवन करने वाला होवे। स्वल्पकाल में ही मृत्युके कारणों का संपात होने वाला है ऐसे अवसर का समीचीन निमित्तों द्वारा विश्वास पूर्वक निश्चय कर सविचार प्रतिज्ञा पूर्वक गृहीत किये जा चुके अहिंसा, आदि श्रेष्ठ व्रतों की रक्षा करने के लिये पुरुषार्थ पूर्वक समाधिमरण कर सकने के अभिप्रायों से सल्लेखना की जाती है अन्यथा नहीं। अर्थात् समाधिमरण में जिसको प्रीति नहीं है या व्रतों की रक्षा का लक्ष्य नहीं है उसका समाधिमरण नहीं हो सकता है इस प्रकार सल्लेखना को प्रतिपन्न हो रहे अप्रमत्त जीव के यह सल्लेखना नाम का विरमण प्राप्त हो रहा है, भावार्थ- सल्लेखना करने वाले के आत्मवध दोष नहीं आता है क्यों कि प्रमादयोग से अपने प्राणों का वियोग करने वाला आत्महिंसक है किन्तु जिस व्रती के रत्नत्रय की रक्षा का उद्देश है उसके रागादि का अभाव हो जाने से प्रमादयोग नहीं होने के कारण स्वात्मघातीपन नहीं है॥

सेवितेति ग्रहणं स्पष्टार्थमिति चेन्न, अर्थविशेषोपपत्तेः। प्रतिसेवनार्थो हि विशिष्टो जोषितेति वचनात्प्रतिपद्यते।

कोई यहाँ आक्षेप करता है कि सूत्रकार को सरलपदों का प्रयोग करना चाहिये। क्लिष्टशब्दों द्वारा प्रतिपत्ति करने में बड़ी कठिनता पड़ती है। जोषिता के स्थान पर विशेषतया स्पष्ट कथन करने के लिए "सेविता" इस पद का ग्रहण करना अच्छा है। व्रती पुरुष मरणान्त प्रयोजन वाली सल्लेखना का सेवन करे यह अर्थ सेविता कह देने से स्पष्ट झलक जाता है, ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्यों कि सेविता को छोड़ कर जोषिता कहने में सूत्रकार को विशेष अर्थ की सिद्धि हो रही है चूंकि जोषिता ऐसा कथन करने से प्रीति पूर्वक कथन करना यह विशिष्ट अर्थ समझ लिया जाता है "जुषी प्रीतिसेवनयोः" प्रीति और सेवा करना दोनों ही जुषी धातु के अर्थ हैं। समाधिमरण में प्रीति के नहीं होने पर बलात्कार से सल्लेखना नहीं कराई जाती है रुचि होने पर व्रती स्वयमेव सल्लेखना को करता है अतः "जोषिता" पद ही यहाँ सुन्दर जचा।

विषोपयोगादिभिरात्मानं घ्नत एव तद्भावात् तत्र स्वयमारोपितगुणक्षतेरभावात्प्रीत्युत्पत्तावपि मरणस्यानिष्टत्वात्, स्वरत्नाविघाते भाण्डागारविनाशेऽपि तदधिपतेः प्रीतिविनाशानिष्टवत्। उभयानभिसंधानाच्चाप्रमत्तस्य नात्मवधः। नह्यसौ तदा जीवनं मरणं वाभिसंधत्ते "नाभिनन्दामि मरणं नाभिकांक्षामि जीवितं। कालमेव प्रतीक्षेऽहं निदेशं भृतको यथा॥" इति संन्यासिनो भावनाविशुद्धिः। ततो न सल्लेखनायामात्मवध इति वचनं युक्तं॥

यदि यहाँ कोई कटाक्ष करे कि आहार, पान, औषधियों के निरोध से काय को क्षीण कर रहे

समाधिमरणार्थी जीव के स्वाभिप्रायपूर्वक आयुःकर्म के निषेकों की निवृत्ति हुई है अतः अपने को मार डालना रूप आत्मवध दोष प्राप्त होता है। इस पर आचार्य महाराज कहते हैं कि विष का उपयोग शस्त्राघात, श्वासनिरोध आदि करके अपनी हत्या कर रहे ही द्वेषी, प्रमादी जीव के उस आत्मवध दोष का सद्भाव है किन्तु उस सल्लेखना में तो स्वयं उत्साह पूर्वक धार लिये गये गुणों की क्षति का अभाव है अतः सल्लेखना में प्रीति की उत्पत्ति होने पर भी यों ही मर जाना इष्ट नहीं है। अर्थात्–अप्रमादी, रागद्वेषरहित जीव के अपने रत्नत्रय या व्रतों की रक्षा का लक्ष्य है। मर जाना उसको अभीष्ट नहीं है। उपसर्ग, दुर्भिक्ष, असाध्यरोग, शस्त्राघात आदि अवस्थाओं में गुणों की विराधना नहीं करता हुआ शरीर की अपेक्षा नहीं रखता है, मरण की भी अभिलाषा नहीं रखता है। जैसे कि अपने अमूल्य रत्नों का विघात नहीं होते सन्ते भले ही भण्डारे का विनाश हो जाय तो भी उनके प्रभु हो रहे सेठ को प्रीति होते हुये भी भण्डारे का विनाश इष्ट नहीं है। भावार्थ–सोना, चाँदी, रत्न, मोती, आदि अमूल्य या बहुमूल्य पदार्थों से भरपूर हो रहे सेठ या महाराजा को यद्यपि रत्नों और रत्नों के स्थान कोठार का विनाश होना इष्ट नहीं है किन्तु कारण वश उस कोठार के विनाश का कारण उपस्थित हो जाय तो वह धनपति उन विनाशक कारणों का यथाशक्ति परिहार करता है यदि भण्डारे की रक्षा करना असाध्य हो जाय तो अनर्घ्य बहुमूल्य वस्तुओं का नाश नहीं होय वैसा प्रयत्न करता है। इसी प्रकार गृहस्थ भी व्रत, शील, पुण्य संचय, ध्यान, कायोत्सर्ग में प्रवृत्ति कर रहा सन्ता व्रत आदिके अवलम्ब हो रहे शरीर का पात हो जाना कथमपि नहीं चाहता है। हाँ उस शरीर के अनेक कारण वश नाश की प्रस्तुति हो जाने पर अपने गुणों की विराधना नहीं करता हुआ उन नाशक उपायों का परिहार करता है। यदि शरीर का पात अनिवार्य हो जाय तो अपने गुणो का नाश नहीं होने देता है। अतः सल्लेखना करने वाले जीवके आत्मवध दोष नहीं है। एक बात यह भी है कि प्रमाद रहित जीव के जीवित रहने और मर जाने इन दोनों में कोई प्रमादपूर्वक अभिप्राय नहीं है। अभिप्राय रखते हुये जब सुख दुःखों में रागद्वेष हो जाता है तब प्रमादी जीव के कर्म बन्ध होता है किन्तु श्री जिनेन्द्र भगवान करके उपदेशी गयी सल्लेखना को कर रहे जीव के जीवित या मरण का अभिप्राय नहीं है अतः आत्म वध दोष नहीं आता है। वह संन्यासमरण कर रहा जीव उस समय जीवन अथवा मरण का अभिप्राय नहीं रखता है वह तो यों विचार रहा है कि मैं मरण का प्रशंसापूर्वक स्वागत नहीं कर रहा हूँ। और मैं जीवित रहने की भी विशेष अभिलाषा नहीं रखता हूँ मैं तो केवल रत्नत्रय पूवक समाधिकाल की ही प्रतीक्षा कर रहा हूँ जिस प्रकार कि आजीविका करने वाला सेवक मात्र प्रभुके निदेश (हुक्म) की प्रतीक्षा किया करता है इस प्रकार संन्यास धारने वाले की भावनाओं में विशुद्धि हो रही है तिस कारण सल्लेखना करने में आत्मवध दोष नहीं है यह कथन करना युक्तिपूर्ण है ॥

तथा वदतः स्वसमयविरोधात् । सोऽयं ना संचेतितं कर्म बध्यत इति स्वयं प्रतिज्ञाय वधकचित्तमन्तरेणापि संन्यासे स्ववधदोषमुद्भावयन् स्वसमयं बाधते स्ववचनविरोधाच्च सदा मौनव्रतिकोऽहमित्यभिधानवत् । मरणसंचेतनाभावे कथं सल्लेखनायां प्रपन्न इति चेन्न, जरारोगेन्द्रियहानिभिरावश्यकपरिक्षयसम्प्राप्ते तस्य स्वगुणे रक्षणे प्रयत्नस्ततो न सल्लेखनात्मवधः प्रयत्नस्य विशुद्धयङ्गत्वात् तपश्चरणादिवत् ।

एक बात यह भी है कि उस समय सल्लेखना करते तिस प्रकार आत्मवध दोष को कह रहे वादी के यहाँ अपने स्वीकृत सिद्धान्त से विरोध पड़ता है। प्रसिद्ध हो रहा यह बौद्ध प्रतिज्ञा करता है

कि संचेतना किये गये विना कोई कर्म बंधता नहीं है ऐसी स्वयं प्रतिज्ञा कर बध करने वाले चित्त के विना भी संन्यास में आत्मवध दोष को उठा रहा सौगत अपने अभीष्ट सिद्धान्त की बाधा कर रहा है। भावार्थ—क्षणिक वादी यदि सभी भावों को नित्य कह बैठे तो उस के ऊपर स्व समय विरोध दोष लग बैठता है तथा बौद्ध मानते है कि जब सत्त्व तथा सत्त्वसंज्ञा और वधक एवं मारने का चित्त यों इन चार प्रकार की चेतना को पाकर हिंसक जीव के हिंसा लगती है अन्यथा नही, किन्तु सल्लेखना करने वाले व्रती के अपनी हिंसा करने का चित्त नहीं है ऐसी दशा में आत्मवध का दोष उठाना अपने सिद्धान्त से च्युत होना है। दूसरी बात यह है कि कोई बड़े बल से चिल्लाकर यों पुकारे कि मै सर्वदा मौन रहने के व्रत को धारे हुये हूं जैसे इस कथन में अपने वचनो से विरोध आता है। मौन व्रती कभी पुकार नही सकता है उसी प्रकार नैरात्म्य वादी बौद्ध आत्मतत्त्व को ही नहीं मानते है तो संन्यासी के ऊपर आत्मा के हिंसक-पन का दोष नही उठा सकते हैं अन्यथा स्ववचन विरोध हो जावेगा। यदि यहां बौद्ध यों कहें कि मरण में भले प्रकार चित्तविचार हुये विना वह संन्यासी किस प्रकार सल्लेखना करने में प्राप्त हो जायगा ? या सल्लेखना में प्रयत्न करने लग जायगा ? बताओ। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना, कारण कि बुढापा, असाध्यरोग, नेत्र आदि इन्द्रियों की हानि, चर्या क्रिया की हानि, आदि करके आवश्यक रूप में शरीर के परिक्षय का निःप्रतीकार प्रकरण प्राप्त हो जाने पर उस व्रती का अपने गुणों की रक्षा करने में प्रयत्न है मरण में संचेतना नहीं है तिस कारण सल्लेखना में आत्मवध दोष नहीं लगता है। सल्ले-खना कोई आत्महिंसा नहीं है किन्तु पुरुषार्थ पूर्वक उपान्त किये गये व्रतशीलों की रक्षा करना है। प्रयत्न कर रहे संन्यासी के विशुद्धि का अंग होने के कारण सल्लेखना एक बलवत्तर पुरुषार्थ है जैसे कि तपश्च-रण, केशलुंचन, कायक्लेश आदि हैं अतः प्रासुक भोजन, पान, उपवास आदि विधि करके मरणपर्यन्त शुभभावनाओं का विचार कर रहा संन्यासी शास्त्रोक्त विधि करके सल्लेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है।

एकयोगकरणं न्याय्यं इति चेन्न क्वचित्कदाचित्कस्यचित्तां प्रत्याभिमुख्यप्रतिपादनार्थत्वात् वेश्मापरित्यागिनस्तदुपदेशात्। दिग्विरत्यादिसूत्रेण सहास्य सूत्रस्यैकयोगीकरणेऽपि यथा दिग्विरत्या-दयो वेश्मापरित्यागिनः कार्यास्तथा सल्लेखनापि कार्या स्यात्। न चासौ तथा क्रियते क्वचिदेव समा-ध्यनुकूले क्षेत्रे कदाचिदेव संन्यासयोग्ये काले कस्यचिदेवासाध्यव्याध्यादेः सन्न्यासकारणसन्निपा-तादप्रमत्तस्य समाध्यर्थिनः सल्लेखनां प्रत्याभिमुख्यज्ञापनाच्च सागारानागारयोरविशेषविधिप्रति-पादनार्थत्वाच्च सल्लेखनायां पूर्वत्वादस्य तत्रस्य पृथग्वचनं न्याय्यं ॥ एतदेवाह—

यहाँ कोई आक्षेप करता है कि पूर्व सूत्र के साथ इस सूत्र का एक योग कर देना न्यायोचित है "दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतमारणान्तिकीं सल्लेखना-संपन्नश्च" यों मिलाकर एक सूत्र कर देने में लाघव है। ग्रन्थकार कहते है कि यह आक्षेप ठीक नहीं कारण कि किसी एक पवित्र क्षेत्र में किसी नियत समय में किसी नियत व्यक्ति के ही उस सल्लेखना के प्रति अभिमुखपना है। इस का प्रतिपादन करने के लिये पृथक् योग किया गया है। एक बात यह भी है कि पूर्व सूत्र के साथ इस सूत्र को मिला देने से घर का नहीं परित्याग करने वाले श्रावक को ही उस सल्लेखना करने का उपदेश समझा जाता। मुनि के सल्लेखना का कर्तव्य नहीं समझा जाता, किन्तु मुनिमहाराज को भी सल्लेखना करना सिद्धान्त में अभीष्ट किया गया है अतः दो सूत्रों को एक में जोड़ देना ठीक नहीं है "दिग्देशानर्थदण्डविरति" इत्यादि सूत्र के साथ इस "मारणान्तिकीं" आदि सूत्र का

अनेकों का एक योग कर देने पर भी जिस प्रकार दिग्विरति आदिक व्रत उस गृह के अपरित्यागी गृहस्थ को करने योग्य माने जाते हैं उसी प्रकार सल्लेखना भी गृहस्थ को ही करने योग्य होती। साथ ही जैसे सर्वत्र, सर्वदा सभी गृहस्थ दिग्विरति आदि व्रतों को पालते हैं उसी प्रकार सल्लेखना भी सभी स्थानों पर सभी कालों में सभी गृहस्थों के पालने योग्य हो जाती, किन्तु अहिंसा, दिग्विरति, आदि के समान वह सल्लेखना तो तिस प्रकार सर्वत्र सर्वदा सब करके नहीं की जाती है किन्तु समाधि के अनुकूल हो रहे तीर्थस्थान, धर्मशाला, वसतिका आदि किसी एक पावन क्षेत्र में ही और संन्यास के योग्य हो रहे किसी विशेष काल में ही तथा असाध्य व्याधि तीक्ष्ण अस्त्राघात आदि परिस्थितियों से उपद्रुत हो रहे किसी सप्तशीलधारी जीव के सल्लेखना होती है अतः संन्यासमरण के कारणों का सन्निपात हो जाने से सल्लेखना के लिये सदा अप्रमादी हो रहे उस समाधि के अभिलाषुक प्राणी के सल्लेखना के प्रति अभिमुखपन को ज्ञापन करना भी पृथक् योग की सार्थकता है। एक बात यह भी है कि अणुव्रती सागार और महाव्रती अनगार दोनों को विशेषता रहित यह सल्लेखना करने की विधि है। इस को समझाने के लिये सूत्रकार महाराज ने न्यारा सूत्र किया है। दिग्विरति आदि सूत्र में मात्र श्रावक की विधि है और इस सूत्र में सामान्य रूप से श्रावक और मुनि दोनों के लिये सल्लेखना का विधान किया गया है। यह अभिप्राय न्यारा सूत्र करने से ही झलक सकेगा। गृहस्थ भी तभी सल्लेखना करता है जब कि दिग्विरति आदि सातों शील उस सल्लेखना में पहिले पल जाते हैं अतः कारण कार्यभाव अनुसार भी इस सूत्र नामक तत्र का पृथक् वचन करना न्याय मार्ग से अनपेत है। इस ही बात को आचार्य महाराज वार्तिक द्वारा कहते हैं।

पृथक्सूत्रस्य सामर्थ्याच्च सागारानगारयोः।
सल्लेखनस्य सेवेति प्रतिपत्तव्यमञ्जसा ॥१॥

सागार और अनगार दोनों व्रतियों के सल्लेखना का सेवन है। इस सिद्धान्त को इन दो सूत्रों के पृथक् करने की सामर्थ्य से बिना कहे ही निर्दोष रूप से समझ लेना चाहिये।

तदेवमयं साकल्येनैकदेशेन च निवृत्तिपरिणामो हिंसादिभ्योऽनेकप्रकारः क्रमाक्रमस्वभावविशेषात्मकस्यात्मनोऽनेकान्तवादिनां सिद्धो न पुनर्नित्याद्येकान्तवादिन इति ॥ तेषामेव बहुविधव्रतमुपपन्नं नान्यस्येत्युपसंहृत्य दर्शयन्नाह—

तिस कारण यह सकल रूप करके हिंसादिक से निवृत्ति होने का अनेक प्रकार मुनियों का परिणाम और हिंसादिकों से एक देश करके निवृत्ति हो जाना स्वरूप श्रावकों का अनेक प्रकार का परिणाम तो क्रमभावी और सहभावी स्वभाव विशेषों के साथ तदात्मक हो रहे आत्मा के ही हो सकता है अतः अनेकान्तसिद्धान्त का पक्ष ले रहे अनेकान्त वादी जैनों के यहाँ ही परिणामी आत्माका अनेक प्रकार परिणाम हो जाना सिद्ध है किन्तु फिर आत्मादि पदार्थों को सर्वथा नित्य मानने वाले या आत्मा को सर्वथा अनित्य (क्षणिक) मानने वाले आदि एकान्तवादियों के यहाँ हिंसादिक से निवृत्ति हो जाना आदि परिणतियाँ नहीं सिद्ध होने पाती हैं। और उन अनेकान्तवादियों के यहाँ ही बहुत प्रकार के अहिंसा, सामायिक, दान, आदि व्रत भी बन सकते हैं। अन्य एकान्तवादी के यहाँ व्रत करना ही नहीं बन सकता है। अर्थात् सहक्रमभाव से अनेक विवर्तों रूप करके परिणमन कर रहे आत्मा के पहिले हिंसापरिणति थी पुनः उसी परिणामी आत्मा के अंतरंग बहिरंग कारण वश अहिंसाणुव्रत या अहिंसामहाव्रत परिणाम

उपज जाते हैं। क्षणस्थायी और कालान्तरस्थायी स्वभावों के साथ तदात्मक हो रहा आत्मा उन हिंसा, अहिंसाणुव्रत, अहिंसामहाव्रत, परिणामों के फलस्वरूप नारकी, देव, मोक्ष, अवस्थाओं को भोगता है। यदि आत्मा को सर्वथा नित्य माना जायगा तो वह सदा एक सा ही रहेगा। हिंसक है तो सदा हिंसा ही करता रहेगा और अहिंसक आत्मा सदा अहिंसक ही रहेगा। इसी प्रकार क्षणिक पक्ष में हिंसक आत्माको नरक नहीं मिला दूसरे ने ही नारकीय दुःखों को भोगा आदि अनेक दोष आते हैं। हाँ अनेकान्त सिद्धान्त में कोई दोष नहीं है इसी बात को उपसंहार कर दिखलाते हुये ग्रन्थकार वसंततिलका छन्द में गूँथे हुये पद्य को कह रहे हैं।

नानानिवृत्तिपरिणामविशेषसिद्धे-
रेकस्य नुर्बहुविधव्रतमर्थभेदात्।
युक्तं क्रमाक्रमविवर्तिभिदात्मकस्य
नान्यस्य जातु नयबाधितविग्रहस्य ॥१॥

कथञ्चिद्भिन्न हो रहे क्रमभावी और अक्रमभावी विशेष पर्यायों के साथ तदात्मक हो रहे नित्यानित्यात्मक एक परिणामी आत्मा के तो अनेक प्रकार के निवृत्तिरूप परिणाम विशेषों की सिद्धि है अतः उसी आत्मा के सर्वरूप से या एक देश से हिंसादिकों की विरति करना रूप प्रयोजनों के भेद से बहुत प्रकार के व्रतों का धारण युक्ति सिद्ध हो जाता है। किन्तु अन्यवादियों के यहाँ नयों से बाधित हो रहे सर्वथा क्षणिकत्व, नित्यत्व, आदि कल्पित शरीरों को धारने वाले आत्मा के कदाचित् भी व्रतों का पालन नहीं हो सकता है। भावार्थ-सत्त्वं अर्थक्रियया व्याप्तं. अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, क्षणिके नित्ये वा क्रमयौगपद्ये न स्तः। क्रम और युगपतपने करके अर्थक्रियाओं को कर रहा पदार्थ ही जगत् में सत् है सर्वथा नित्य या क्षणिक पदार्थ तो आकाशपुष्पसमान असत् है। पहिले प्रवृत्ति परिणाम को हटाकर पुरुषार्थ पूर्वक निवृत्ति परिणाम करना ये सब अर्थक्रियायें अनेकान्तसिद्धान्ती स्याद्वादियों के यहाँ ही सुघटित होती है। इसका विस्तार अष्टसहस्री में विशेष आनन्द के साथ समझ लिया जाता है।

इति सप्तमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्।

इस प्रकार सातमे अध्याय का प्रकरणों का समुदाय स्वरूप पहिला आह्निक समाप्त हुआ।

चिद्रूपसिद्धपरमात्ममयान्यहिंसा,—
दीनि व्रतानि पुरुपार्थभरात्प्रपन्नः।
मैत्री-प्रमोद-करुणादिसुभावनाढ्यः,
स्वर्गापवर्ग सुखमेति गृही यतिश्च ॥

अथ सद्दर्शनादीनां सल्लेखनान्तानां चतुर्दशानामप्यतीचारप्रकरणे सम्यक्त्वातिचारप्रतिपादनार्थं तावदाह;—

अब इस के अनन्तर सम्यग्दर्शन को आदि लेकर सल्लेखना पर्यंत चौदहों भी गुणों के अतिचारों के निरूपण का प्रकरण प्राप्त होने पर सबसे प्रथम सम्यक्त्व गुण के अतीचारों की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते है। अर्थात्-सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते। सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम्। सम्यग्दर्शन, अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, अचौर्यव्रत, शीलव्रत, परि-

ग्रहत्याग, दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोपधोपवास, उपभोग परिभोग संख्यान, अतिथिसंविभाग, सल्लेखना, यो श्रावकों के पाये जा रहे सम्यक्त्व और पाँच अणुव्रत, तथा सात शील, एक सल्लेखना इन चौदहों गुणो के अतीचारों का वर्णन द्वितीय आह्निक मे किया जायगा ॥

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेर-तीचाराः ॥२३॥

शंका करना, आकांक्षा करना, ग्लानि करना, अन्यमिथ्यादृष्टियों की मन से प्रशंसा करना और मिथ्यादृष्टियों के विद्यमान अविद्यमान गुणों का संस्तवन कहना ये पांच सम्यग्दर्शन के अतीचार है। अर्थात् निर्ग्रन्थों की मोक्ष होती है ? या सग्रन्थों की भी मुक्ति हो जाती है ? अथवा क्या गृहस्थ मनुष्य, पशु, स्त्री भी केवल्य को प्राप्त कर लेते है ? इस प्रकार शंकाये करना अथवा अनेक शुभ कार्यों में भय करने की टेव रखना शंका है। इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी भोगों की आकांक्षा करना कांक्षा नाम का दोष है। रत्नत्रययुक्त शरीरधारियों की घृणा करना, उनके स्नान नहीं करना, दन्तधावन नहीं करना आदि को दोष रूप से प्रकट करना विचिकित्सा है। जैन धर्म से बाह्य हो रहे पुरुषों के ज्ञान, चारित्र, गुणो की मन से प्रशंसा करना अन्यदृष्टि प्रशंसा है। अन्यमतावलम्बियो के सद्भूत असद्भूत गुणों को वचन से प्रकट करना संस्तव कहा जाता है। अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतीचार, और अनाचार, ये चार दोप माने गये है। "क्षति मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनं, प्रभोतिचारं विषयेषु वर्तनं, वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥" मानसिक शुद्धि की हानि हो जाना अतिक्रम है। विषयो की अभिलाषा होना व्यतिक्रम है। व्रतों की एक देश रक्षा का अभिप्राय रखते हुये एक अंश की क्षति कर देना अतीचार है। विचार पूर्वक ग्रहण किये गये व्रतो की रक्षा का लक्ष्य नहीं रख कर पापक्रियाओं में उच्छृंखल प्रवृत्ति करना अनाचार है। दर्शन मोहनीय कर्म की देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो जाने पर क्षयोपशम सम्यक्त्व मे ये अतीचार सभवते है। शंका आदि करने वाले जीव के सम्यग्दर्शन गुण की रक्षा रही आती है और एक देश रूप से सम्यक्त्व का भग भी हो जाता है ॥

जीवादितत्त्वार्थेषु रत्नत्रयमोक्षमार्गे तत्प्रतिपादके वागमे तत्प्रणेतरि च सर्वज्ञे सदसत्त्वाभ्यामन्यथा वा संशीतिः शंका, सद्दर्शनफलस्य विषयोपभोगस्येहामुत्र चाकांक्षणमाकांक्षा, आप्तागमपदार्थेषु सयमाधारे च जुगुप्सा विचिकित्सा, सुगतादिदर्शनान्यन्यदृष्टयस्तदाश्रिता वा पुमांसस्तेषां प्रशंसासंस्तवौ अन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवौ। त एते सम्यग्दृष्टेर्गुणस्य तद्वतो वातीचाराः पञ्च प्रतिपत्तव्याः।

जीव, अजीव आदिक तत्त्वार्थो मे या रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग में अथवा उन जीवादि और रत्नत्रय के प्रतिपादक आगम में एवं उन तत्त्वो के प्रणेता सर्वज्ञभगवान् मे विद्यमान अविद्यमान पने कर के अथवा अन्य प्रकारों से संशय करना शंका है। अर्थात्—साततत्त्व, रत्नत्रय, जिनागम, सर्वज्ञ देव, ये हैं या नहीं। अथवा इन के स्वरूप विपर्यास के विकल्पों अनुसार शंकायें करना शंका दोष है। सम्यग्दर्शन के फल हो रहे विषय भोगों के इहलोक और परलोक में हो जाने की आकांक्षा करना कांक्षा है। आप्त, आगम, और पदार्थों में तथा समय के आधार हो रहे साधुओ मे जुगुप्सा यानी घृणा करना विचिकित्सा है। अन्याश्च या दृष्टयः अन्यदृष्टयः अथवा अन्या दृष्टिर्येषां ते अन्यदृष्टयः यों समास कर बुद्ध, कपिल,

कणाद आदि के दर्शनशास्त्र अथवा उन दर्शनों के आश्रित हो रहे बौद्ध, सांख्य, वैशेषिक मतावलम्बी पुरुष अन्य दृष्टि हैं। उन दर्शनो या दार्शनिक पुरुषो की प्रशंसा और समीचीन स्तुति करना तो अन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तव हैं। ये प्रसिद्ध हो रहे शंकादिक दोष इस सम्यग्दर्शन गुण के अथवा सम्यग्दर्शनगुण वाले जीव के पाँच अतीचार समझने चाहिये, सूत्रोक्त अन्यदृष्टि में जैसे कर्मधारय और बहुव्रीहि समास किये गये हैं उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिपद का भी सम्यक् (समीचीना) चासौ दृष्टिरिति सम्यग्दृष्टिः। अथवा समीची दृष्टिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिस्तस्य सम्यग्दृष्टेः यों निरुक्ति कर सम्यग्दर्शन गुण अथवा सम्यग्दर्शन गुणवाले सम्यग्दृष्टि जीव के शंकादि पाँच अतीचार जान लिये जाते हैं।

कः पुनः प्रशंसासंस्तवयोः प्रतिविशेषः ? इत्युच्यते—वाङ्मानसविषयभेदात् प्रशंसासंस्तवयोर्भेदः। मनसा मिथ्यादृष्टिज्ञानादिषु गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा, वचसा तद्भावनं संस्तव इति प्रत्येयम्।

यहाँ कोई प्रतिवादी कटाक्षपूर्वक प्रश्न उठाता है कि प्रशंसा और संस्तव मे भला फिर क्या सूक्ष्म अन्तर है ? बताओ, यों कटाक्ष प्रवर्तने पर ग्रन्थकार करके समाधान कहा जाता है कि वचन और मन की विषयता अनुसार भेद से प्रशंसा और संस्तव में भेद है (विषयत्वं सप्तम्यर्थः) मन करके मिथ्यादृष्टि जीवों के ज्ञान, चारित्र, श्रद्धान, तपः, आदि में प्रकृष्ट गुणपना प्रकट करने का अभिप्राय तो प्रशंसा है और वचन से मिथ्यादृष्टियों के उन विद्यमान अविद्यमान गुणों का भावना करते हुये उच्चारण करना संस्तव है इस प्रकार दोनों में अन्तर निर्णय कर लेना चाहिये॥

प्रकरणादगार्यवधारणमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टिग्रहणस्योभयार्थत्वात्। सत्यप्यगारिप्रकरणे नागारिण एव सम्यग्दृष्टेरितीष्टमवधारणं। सामान्यतः सम्यग्दृष्ट्यधिकारेऽपि पुनरिह सम्यग्दृष्टिग्रहणस्यागार्यनगारसंबंधनार्थत्वात्। एतेनानगारस्यैवेत्यवधारणमपास्तं, उत्तरत्रागारिग्रहणानुवृत्तेः।

यहाँ किसी आक्षेपक का मंतव्य है कि गृहस्थ के व्रत और शीलों का यह प्रकरण है अतः उस गृहस्थ में पाये जा रहे सम्यग्दर्शन के ही ये पांच अतीचार है ऐसा अवधारण हो सकेगा, मुनियों के सम्यग्दर्शन में ये पांच अतीचार नहीं लग सकेंगे। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्योंकि सूत्रमे सम्यग्दृष्टि पद का ग्रहण है। अतः श्रावक और अनगार दोनों के सम्यग्दर्शनों के ये अतीचार माने जाते हैं। सम्यग्दृष्टि पद का ग्रहण करना सामान्यरूप से दोनों के लिये लागू है, यदि श्रावक संबंधी सम्यग्दर्शन के ही ये अतीचार इष्ट होते तो सम्यग्दृष्टि पद देने की कोई आवश्यकता न थी, अगारी का प्रकरण होने से ही अगारी के सम्यग्दर्शन की बिना कहे ही प्रतिपत्ति हो जाती, यों सम्यग्दृष्टिपद व्यर्थ हो कर ज्ञापन करता है कि षष्ठ, सप्तम, गुणस्थानवर्ती मुनि और पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक दोनों के संभव रहे क्षयोपशम सम्यक्त्व के ये पांच अतीचार हैं। अतः अगारी यानी गृहस्थ का प्रकरण होते सन्ते भी ये अगारी ही सम्यग्दृष्टि के अतीचार हैं यह अवधारण इष्ट नहीं किया जा सकता है जब कि यहां सामान्यरूप से सम्यग्दृष्टि का अधिकार चला आ रहा है, क्योंकि अहिंसादि अणुव्रत और सात शील सम्यग्दृष्टि जीव के ही संभवते हैं। तो भी यहां फिर सम्यग्दृष्टिपद का ग्रहण करना तो अगारी, अनगार, दोनों का संबंध करने के लिये है। प्रत्युत चतुर्थ गुणस्थानवर्ती क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव के भी ये अतीचार लग जाते हैं। इस कथन करके इस अवधारण का भी प्रत्याख्यान किया जा चुका है कि ये अतीचार अनगार (मुनि) ही के सम्यग्दर्शन के हैं। क्योंकि व्रतशीलेषु, बन्ध, वध, मिथ्योपदेश,, आदि अग्रिम सूत्रों में भी "अणुव्रतोऽगारी" सूत्र के अगारी पद के ग्रहण की अनुवृत्ति चली आ रही है अतः अगारी पद का

अधिकार निवृत्त नहीं हुआ है अतः अगारी के ही या अनगार के ही ये दोनों अवधारण उचित नहीं हैं।

दर्शनमोहोदयादतिचरणमतीचारः तत्त्वार्थश्रद्धानातिक्रमणमित्यर्थः।

दर्शन मोहनीय कर्म के मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन भेद हैं "जंतेण कोद्दव वा पढमुवसमसम्मभाव जंतेण, मिच्छं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा" इन में से पहिला सर्वघाती है, दूसरा जात्यन्तर सर्वघाती है, तीसरी सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती है। सम्यक्त्व नामक दर्शनमोह कर्म का उदय हो जाने से जो अतिचरण यानी अतिक्रमण करना है वह अतीचार है। तत्त्वार्थश्रद्धान का अतिक्रमण हो जाना इस का अर्थ है चल, मल, अगाढ़ता ये तीन दोष क्षयोपशम सम्यक्त्व मे कदाचित् पाये जाते है। उक्त सूत्र में मलो को दिखला दिया है।

ननु च न पंचातिचारवचनं युक्तमष्टांगत्वात् सम्यग्दर्शनस्यातिक्रमणानां तावत्त्वमिति-चेन्न, अत्रैवान्तर्भावात्, निःशंकितत्वाद्यष्टांगविपरीतातिचाराणामष्टविधत्वप्रसंगे त्रयाणां वात्सल्यादिविपरीतानामवात्सल्यादीनामन्यदृष्टिप्रशंसादिना सजातीयानां तत्रैवान्तर्भावात्। व्रताद्यतीचाराणां पंचसंख्याव्याख्यानप्रकाशाणामपि पंचसंख्याभिधानात्।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि सम्यग्दर्शन के निशंकितत्व १, निःकांक्षितत्व२, निर्विचिकित्सा ३, अमूढदृष्टि४, उपगूहन५, स्थितीकरण६, वात्सल्य७, प्रभावना८, ये आठअंग है तो सम्यग्दर्शन के अतिक्रमण भी उतने परिमाण वाले आठ ही होने चाहिये, केवल पाँच ही अतीचारों का कथन करना तो सूत्रकार को उचित नहीं है, युक्ति रहित है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना क्योंकि इन पाँचों में ही उन आठों का अन्तर्भाव हो जाता है। निःशंकित आदि आठों अंगों के विपरीत हो रहे अतीचारों को भी आठ प्रकारपने का प्रसंग होना चाहिये तो भी वात्सल्य आदिक से विपरीत हो रहे अवात्सल्य आदिक तीन का उन पाच मे ही अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि अवात्सल्य आदिक तीन तो अन्यदृष्टिप्रशंसा आदि की जाति के समान जाति को धारने वाले सजातीय है। अर्थात् आद्य तीन गुणों के प्रतिपक्ष हो रहे तीन शंका, कांक्षा, विचिकित्सा दोषों को तो कण्ठोक्त सूत्र में कह दिया ही है शेष रहे मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना इन पाँच दोषों को अन्यदृष्टिप्रशंसा, सस्तव, इन दो दोषों में गर्भित कर लेना चाहिये, देखिये जो पुरुष मिथ्यादृष्टियो की मन से प्रशंसा करता है, और वचन से स्तुति करता है वह मूढदृष्टि दोष वाला है। वैसा मूढदृष्टि जीव उन रत्नत्रयमंडित पुरुषो के दोषो का उपगूहन नही करता है, दर्शन या चारित्र से डिगते हुओं का स्थितीकरण भी नही कर पाता है वात्सल्य-भाव तो उस के निकट आता ही नहीं है। जिनशासन की प्रभावना करना तो कथमपि उसको अभीष्ट नहीं है। तिसकारण ये पाँच दोष सूत्रोक्त चौथे, पाँचवे, दोषो के सजातीय होने से उन्ही मे गर्भित कर लिये जाते है। एक बात यह भी है कि व्रत आदि यानी पाँच व्रतो, सात शीलो और सल्लेखना के भी पांच संख्या वाले पाँच प्रकार अतीचारों का व्याख्यान किया जावेगा। अतः सभी के पाँच अतीचारों की विवक्षा रखने वाले सूत्रकार ने सम्यग्दर्शन के भी अतीचारों को पांच संख्या में कथन कर दिया है। विशेष यह है कि शंका आदि पांच सूत्रोक्तदोष बड़े बलवान् है। जो सर्वज्ञ या आगम में ही शंका कर रहा है अथवा वीतराग धर्म का श्रद्धालु होकर भी भोगोपभोगों की आकांक्षा कर रहा है, मुनियों के पवित्र शरीर में भी घृणा उपजाता है, जैनमतबाह्य दार्शनिकों के गुणाभासों की प्रशंसा स्तुतियों के पुल बांधता है वह दीन पुरुष, मूढदृष्टि या अनुपगूहन तथा अस्थितीकरण तथा अवात्सल्य और अप्रभावना को तो बड़ी सुलभता से आचरेगा इतना लक्ष्य रखना कि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव इतनी

व्यक्त शंका आकांक्षायें आदि नहीं करता है कि सर्वज्ञ कोई है या नहीं, मुझे परभव में स्त्री, पुत्र, धन बहुत मिलें, मुनिशरीर बहुत घिनामना है, वाममार्गी, हिंसक, व्यभिचारी आदि बड़े अच्छे होते हैं, नदी, सागरस्नान से मुक्ति हो जाती है धर्मात्माओं की वाच्यता की जानी चाहिये, धर्मच्युत को और भी गिरा देना चाहिये, किसी से वत्सलता करने की आवश्यकता नहीं है, अज्ञान अन्धकार को क्यों हटाया जाय इत्यादि। सच बात तो यह है कि ये शंकादिक प्रकट दोष मिथ्यादृष्टियों के ही पाये जाते हैं। हां सम्यग्दृष्टि के तो अव्यक्त रूप से क्वचित् कदाचित संभव जाते हैं। बड़े पुरुष का यत्किंचित् भी दोष बहुत खटकता है, छोटा ही परिपाक में बड़ा हो जाता है अतः निर्दोष उपशमसम्यक्त्व या क्षायिक-सम्यक्त्व को धारने का लक्ष्य कराने के लिये अनुद्भूत शंकादिक छोटे दोषों का संभवना सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से क्षयोपशमसम्यक्त्व में कदाचित् हो जाता है। नाना प्रकार संकल्पविकल्पों में फसे हुये प्राणियों के आजकल सम्यक्त्व होना अतीव दुर्लभ है हां असंभव तो नहीं है जब कि असंख्यात योजन चौड़े अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप की परली ओर के अर्धभाग में असंख्याते तिर्यञ्च देशव्रती पाये जाते हैं तो जिनालय, जिनागम, तीर्थस्थान, गुरुसंगति, संयमिसत्संग, आदि अनेक अनुकूलताओं के होते हुये यहां भरतक्षेत्रसंबधी आर्यखण्डके मध्यप्रान्तों में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाना दुर्लभ नहीं है। सूक्ष्म-विचार के साथ पर्यवेक्षण किया जाय तो लाखों करोड़ों जीवों में से एक दो जीव के ही शंकायें करना नहीं मिलेगा शेष सभी जीव प्रायः हृदय में व्यक्त, अव्यक्त, रूप से शंका पिशाचियों से ग्रसित हो रहे परलोक है या नहीं ? बड़े बड़े स्नेही जीव भी मरकर पुनः अपने प्रेमपात्रों को आकर नहीं सम्हालते हैं। तीव्र-क्रोधी भी परलोक से आकर अपने शत्रुओं को त्रास देते नहीं सुने जाते हैं। क्वचित् भवस्मरण कर पूर्व भव की कुछ कुछ बातों को कहने वाले लड़का, लड़की, देखे सुने जाते हैं। किन्तु उन से भरपूर संतोष नहीं होता है। कई पुरुष अभिमान के साथ उपकार या अपकार करने की प्रतिज्ञा कर मरते हैं वे भी भूतकाल में लीन हो जाते हैं। यों अनेक जीव परलोक के विषय में या सर्वज्ञ, ज्योतिश्चक्र भूभ्रमण में शंकित रहना, चींटी मक्खी भोरी मकड़ी आदि के मानसिक विचार पूर्वक किये गये चमत्कार कार्यों की आलोचना कर नैयायिकों के अभिमत समान चींटी आदि में मन इन्द्रिय के होने की शंका बनाये रखते है इसी प्रकार जैन धर्मात्माओं या तीर्थस्थानों अथवा जिनबिम्ब, जिनागम आदि के ऊपर कई प्रकार की विपत्तियाँ आ रही जानकर भी असंख्यात सम्यग्दृष्टि देव या जिन शासन रक्षक देवों के होते हुये भी कोई एक भी देव यहाँ आर्य खण्ड में आकर दिगम्बर जैन धर्म का प्रकाण्ड चमत्कार क्यों नहीं दिखाता है ? स्वर्ग, मोक्ष, असंख्यात द्वीप समुद्र भला कहाँ है ? कुछ समझ में नहीं आता है जब पुण्य पाप की व्यवस्था है तो अनेक पापी जीव सुखपूर्वक जीवन बिताते हुये और अनेक धर्मात्मापुरुष क्लेशमय जीवन को पूरा कर रहे क्यों देखे जाते है ? वेश्याओं की अपेक्षा कुलीन विधवायें महान् दुःख भोग रही हैं, शिकार खेलने वाले या धीवर, बधक, बहेलिया, शाकुनिक, मांसिक आदि को कोई भी जीव पुनः आकर नहीं सताता है। कतिपय बड़े बड़े धर्मात्मा मरते समय अनेक क्लेशों को भुगतते हैं जब कि अनेक पापी जीव सुख पूर्वक मर जाते हैं। धर्म का रहस्य अन्धकार में पड़ा हुआ है। इसी प्रकार बड़े बड़े धर्मात्माओं को भी आकांक्षायें हो जाती हैं। नीरोग शरीर, दृढ सुन्दर शरीर पुत्र स्त्री धन कुल प्राप्ति, प्रभुता, यश, लोकमान्यता का मिलना, प्रकृष्टज्ञान, बल राजप्रतिष्ठा की पूर्णता आदि में से जिस किसी भी महत्त्वाधायक पदार्थ की त्रुटि रह जाती है उसी की आकांक्षा आजकल के जीवों के क्वचित्कदाचित् हो ही जाती है, दिनरात कलह करने वाली स्त्री से भले मनुष्य का भी जी ऊब जाता है बिचारा कहां तक संतोष करे। कुरूप, रोगी, क्रोधी, आजीविकाहीन, दरिद्र, मूर्ख, पति में सुन्दर युवती का चित्त कहाँ तक रमण कर सकता है उसको स्वानुकूल पति की आकांक्षा कदाचित् हो ही जाती है, चक्रवर्ती विद्याधर, देव, इन्द्र, अहमिन्द्रों के

सुखों को सुन कर अनेक भद्र पुरुषों के मुख में पानी आ जाता है। आतुर विद्यार्थी कदाचित् अच्छे व्याख्याता के व्याख्यान को सुन कर व्याख्याता बनने के लिये और अच्छे लेखक के लेखों को बांचकर प्रसिद्ध लेखक बनने के लिये एवं चित्रकार, अभिनेता, व्यापारी, शासक, आदि बनने के लिये जैसे लालायित हो जाता है उसी प्रकार कतिपय दानी पूजक पुरुषों का भी चित्त अन्य विभूतियों को देखकर अधीनता से बाहर हो जाता है॥ तीसरे विचिकित्सादोष पर भी यह कहना है कि कितने बहिरंग धर्मात्माओं में घृणा के भाव पाये जाते हैं। कितने पुरुष दुखी जीवों पर करुणा करते हैं? या बीमार धार्मिक पुरुषों के मलमूत्र धोकर उनकी परिचर्या में लग जाते है? बताओ। घृणाओं के भय के मारे कितने जीव अन्य मनुष्यों की चिकित्सा या समाधिमरण कराने के लिये उद्युक्त रहते हैं? हजारों लाखों मे से कोई एक आध ही होगा। जैनेतर पुरुषों की प्रशंसा और स्तुति करना अनेकभद्र पुरुषों में भी पाया जाता है हां कोई उदासीन श्रावक या मुनि इस अतीचार से बच गया होय, बहुत से जीवों मे यह दोष अधिकतया पाया जाता है। जैन पण्डित, ब्रह्मचारी, मुनियों की सन्मुख प्रशंसा करने वाले जैन सदस्य ही पीछे उन्हीं की निन्दा करते हुये देखे जाते हैं और वे ही मिथ्यादृष्टियों की उच्छ्वास लिये बिना प्रशंसा के गीत गाते रहते है। जैनों द्वारा व्यवहार में अनेक अजैन जन प्रतिष्ठा प्राप्त हो रहे हैं जैनों को उन अजैनों की टहल करनी पड़ती है। भले सम्यग्दृष्टि कहे जाने वालों के घर में भी एक मिथ्यादृष्टि पुरुष उच्चकोटि की प्रशंसा स्तुतियों को पा रहा है। अजैन राजवर्ग या प्रभुओं की प्रशंसा करते हुये लोक अघाते नहीं जब कि साधर्मी भाई से जयजिनेन्द्र या सहानुभूति सूचक दो एक शब्द कहने में ही ऊपर डलियों आलस्य चढ़ बैठता है। यही दुर्दशा अमूढदृष्टि गुण की है लोकमूढता, देवमूढता, गुरुमूढताओं के फन्दे में अनेक जैन स्त्री पुरुष फस जाते हैं प्रकट अप्रकट रूप से वे उन कार्यों मे आसक्ति कर बैठते है। रामलीला, रासक्रीडा, नाटक, सीनेमा, कहानियाँ, गंगास्नान, कुतपस्विदर्शन, देवताराधन, मंत्र तन्त्र क्रियाये, आदि उपायों द्वारा कितने ही श्रोता मूढदृष्टि क्रियाओं में सम्मति दे देते है। स्थितीकरण करना भी बड़ा कठिन हो रहा है। अजैनों को या राजवर्ग को या यशः संबन्धी कार्यो मे धन लुटाने के लिये अनेक धनिक थैलियों के मुँह खोले हुये है किन्तु निर्धन धार्मिको या दरिद्र विधवाओं अथवा दीन छात्रों के उदर पोषणार्थ स्वल्पव्यय करने की उनके आय व्यय के चिट्ठे (बजट) में सौकर्य (गुञ्जाइश) नहीं है। विद्वान् जन भी अपने स्वार्थ या यश की सिद्धि के स्थान पर तो व्याख्यानों को झाड़ते फिरते है किन्तु आवश्यक स्थलों पर दर्शनच्युत या चारित्रपतित जीवों को जिनमार्ग पर लाने के लिये उन को अवसर नहीं मिलता है। व्रतीपुरुष भी जैनत्वको बढ़ाने और स्थितीकरण करने में उतने उद्योगी नहीं हैं जितने कि होने चाहिये। उपगूहन अंग की भी यही विकट स्थिति है साम्यवाद के युग में दोषों का छिपाना दोष समझा जाता है, खोटी टेवो को धार रहे अनेक ठलुआ पुरुष जब दूसरों के असद्भूत दोषों की प्रसिद्धि मे लग रहे है तो सद्भूत दोषों को प्रकट करने मे उनको क्यों लज्जा आने लगी। आजकल व्यर्थ के संकल्प विकल्पो और झूठी निन्दा, प्रशंसा का व्यवहार बड़े वेग से बढ रहा है। साधर्मियों के अल्पीयान् दोषों का परोक्ष में या एकान्त में त्रियोग से छिपा लेना बड़ा भारी पुरुषार्थ पूर्वक किया गया गुरुतर कार्य हो गया है। निन्दा किये बिना चुपके बैठा नहीं जाता, परिताप देने पर भी जनता बुराई करने से नही चूकती है भले ही उलटा हम से ही कुछ ले लो किन्तु दूसरों के सद्भूत, असद्भूत, दोषों की निन्दा किये बिना हमारी कण्डूया मिट नही सकती है। तथा वात्सल्य परिणाम भी हीयमान हो रहा है। अपने साधर्मी भाइयों के साथ निष्कपट प्रतिपत्ति करने का व्यवहार क्वचित् ही पाया जाता है। भले से भला मनुष्य भी यदि किसी व्यक्ति से बात चीत करता है तो उस व्यक्ति को प्रथम यही भान होता है कि यह कोई स्वार्थ सिद्धि के लिये कपट व्यवहार कर मुझ को आर्थिक, मानसिक

क्षतियां पहुंचाने का प्रयत्न कर रहा है। विश्वास और वात्सल्यदृष्टियां न्यून होती जा रही है। ठोस प्रभावना अंग का पालना तो विरल पुरुषो में ही पाया जाता है। यश की प्राप्ति और कुछ धर्मलाभ का लक्ष्य रख कर यद्यपि कतिपय सभाये, प्रतिष्ठाएँ, तीर्थयात्राये, जिनपूजा, तपश्चरण, आदि कार्य होते है फिर भी परम पवित्र, जिनशासन के माहात्म्य का प्रकाश करना अभी बहुत दूर है। यदि दशवर्ष तक भी ठोस प्रभावनाये हो जायें तो साढ़ेबारहलाख जैनो की सख्या बढ कर दोकरोड़ हो सकती है और ये साढ़े बारह लाख भी पक्के जैन बन जावे। तात्पर्य यह है कि अष्टांगसम्यग्दर्शन की प्राप्ति अतीव दुर्लभ है, उन्तीस अंक प्रमाण पर्याप्त मनुष्यों में मात्र सात सौ करोड असंयत सम्यग्दृष्टि, तेरह करोड़ देश संयमी और तीन कम नौ कोटि संयमी, यों सम्पूर्ण सात सौ इक्कीस करोड़, निन्यानबेलाख, निन्यानबे हजार, नौ सौ सतानबे मनुष्य ही सम्यग्दृष्टि है यानी बीस अंक प्रमाण सौसंख मनुष्यों में एक मनुष्य के सम्यग्दृष्टि होने का स्थूल परिगणन आता है। हां असंभव नही है। क्षयोपशमसम्यक्त्व और उपशमसम्यक्त्व कभी कभी आधुनिक धर्मात्मा जैनों के हो जाते हैं। उस समय थोडी देर के लिये निःशंकितपन आदि गुण भी चमक जाते है। हाँ पुनः मिथ्यात्व का उदय आ जाने पर शंका आदि दोष स्थान पा जाते है। क्षयोपशम सम्यक्त्व मे उक्त पाँच अतीचार मन्द या अव्यक्त हो कर सभव जाते है। रत्नस्थान दुर्लभ होय इसमे आश्चर्य नहीं करना चाहिये किसी भी जीव के जब कभी निःशकितत्व, वात्सल्य आदि पाये जॉय तभी अच्छा है जीवों को पापप्रधान पुण्यरहित बहुभाग परणतियो का परित्याग कर रत्नत्रय पाने मे उद्योगी होना चाहिये यह जिनशासन का उपदेशत्रिलोक, त्रिकाल, मे अबाधित है।

कुतः पुनरमी दर्शनस्यातिचारा इत्याह—

सम्यग्दर्शन के वे शंका आदि पांच अतीचार फिर किस कारण से हो जाते है अथवा किस युक्ति से सिद्ध हो जाते है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस समाधान कारक अगले वार्तिक को कहते है। उसको सुनो।

सम्यग्दृष्टेरतीचाराः पञ्च शंकादयः स्मृताः।
तेषु सत्सु हि तत्त्वार्थश्रद्धानं न विशुद्ध्यति ॥१॥

क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव के शंका आदिक पांच अतीचार सर्वज्ञआम्नाय पूर्वक आचार्य परंपरा द्वारा स्मरण किये जा चुके माने गये है। कारण कि आत्मा में उन शका आदि पाच अतीचारों के होते सन्ते तत्त्वार्थों का श्रद्धान करना रूप सम्यग्दर्शन गुण की विशुद्धि नही हो पाती है। अर्थात् देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो जाने से आत्मा में चल, मल, अगाढ दोषों की उत्पत्ति होने के कारण तत्त्वार्थ श्रद्धान उतना विशुद्ध नहीं हो पाता है।

शंकादयः सद्दर्शनस्यातीचारा एव मालिन्यहेतुत्वात् ये तु न तस्यातीचारा न ते तन्मालिन्यहेतवो यथा तद्विशुद्धिहेतवस्तत्त्वार्थश्रवणादयोऽस्तद्विनाशहेतवो वा दर्शनमोहोदयादयस्तन्मालिन्यहेतवश्चैव ते तस्मात्तदतीचारा इति युक्तिवचनं प्रत्येयम् ॥

यहाँ अनुमान का प्रयोग यों समझिये कि शंका, आदिक पांच (पक्ष) सम्यग्दर्शन के अतीचार हैं (साध्यदल) मलिनता के कारण होने से (हेतु) जो परिणाम तो उस सम्यग्दर्शन के अतीचार नहीं है वे उस दर्शन की मलिनता के कारण भी नहीं हैं जैसे कि उस दर्शन की विशुद्धि के हेतु हो रहे तत्त्वार्थ

श्रवण, निस्तरण, आत्मध्यान, अमूढता, स्वानुभूति आदि अर्थ हैं। अथवा उस सम्यग्दर्शन के विनाश के कारण हो रहे दर्शनमोहनीय कर्म, अनन्तानुबन्धी कर्मों का उदय, उदीरणा, कुदेवभक्ति, जिनदेवावर्णवाद आदि हैं ये तो सर्वथा अनाचार है । व्यतिरेक व्याप्तिप्रदर्शन पूर्वक व्यतिरेकदृष्टान्त) । वे शंकादिक उस सम्यग्दर्शन की मलिनता के कारण हो रहे हैं (उपनय तिस कारण उस दर्शन के अतीचार शंका आदिक पांच हैं (निगमन) । इस प्रकार पांच अवयवों वाले अनुमान प्रमाण स्वरूप युक्ति का वचन समझ लेना चाहिये । भावार्थ-इस सूत्र में कहे गये प्रमेय की अनुमान प्रमाण से सिद्धि कर दी गयी है, सम्यग्दर्शन का एक देश करके भंग हो जाना स्वरूप मलिनपन को साधने में सम्यग्दर्शन के विशोधक तत्त्वार्थश्रवण आदि और सम्यग्दर्शन के विघातक दर्शन मोहोदय आदि दोनों प्रकार के भले बुरे परिणाम व्यतिरेक दृष्टान्त बन सकते हैं। वस्त्र को शुद्ध करने वाले साबुन, सोडा, रेह, रीठा आदि पदार्थ और वस्त्र का नाश करने वाले अग्नि, कीड़े, तेजाब आदि पदार्थ ये दोनों ही उस कपड़े को मलिन नहीं करते हैं । मलिन अवस्था में पदार्थ की विशुद्धि नहीं रहती है, और सर्वांङग नाश भी नहीं हो जाता है ।

व्रतशीलेषु कियंतोऽतीचारा इत्याह;—

आदि में आत्मसात् किये गये सम्यग्दर्शन के अतीचारों को समझ लिया है अब व्रत और शीलों में कितने कितने अतीचार संभवते हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं ।

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम् ॥२४॥

गृहस्थ के अहिंसा आदि पांच अणुव्रतों में और दिग्विरति आदि सात शीलों में भी अग्रिम सूत्रों में अनुक्रम से कहे जाने वाले पांच पांच अतीचार यथाक्रम करके समझ लेने योग्य हैं। गृहस्थसम्बन्धी बारह व्रतों के साठ अतीचार हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन और सल्लेखना के पांच पांच अतीचार तो श्रावक और संयमी दोनों व्रतियों के संभव जाते हैं ।

अतीचारा इत्यनुवृत्तिः । व्रतग्रहणमेवास्त्विति चेन्न, शीलविशेषद्योतनार्थत्वात् शीलग्रहणस्य। दिग्विरत्यादीनां हि व्रतलक्षणस्याभिसंधिकृतनियमरूपस्य सद्भावाद् व्रतत्वेऽपि तथाभिधानेऽपि च शीलत्वं प्रकाश्यते, व्रतपरिरक्षणं शीलमिति शीललक्षणोपपत्तेः ।

पूर्व सूत्र से अतीचार इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती है, यहाँ कोई शंका उठाता है कि सूत्र अत्यन्त लघु होना चाहिये अतः सूत्र में व्रत पद का ही ग्रहण किया जाय दिग्विरति आदिक सात शील भी व्रत ही हैं । तभी तो "व्रतसंपन्नश्च" सूत्रकार ने कहा था। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना क्योंकि दिग्विरति आदि में शीलपन यानी व्रत परिरक्षकपन की विशेषता का द्योतन करने के लिये शीलपद का ग्रहण किया गया है क्योंकि दिग्विरति आदि शीलों के यद्यपि व्रत के "अभिसंधि अर्थात् विचार पूर्वक चलाकर अभिप्रायों से किये गये प्रतिज्ञात नियम स्वरूप" लक्षण का सद्भाव है अतः शीलों में व्रतपना होते हुये भी सूत्रकार का तिस प्रकार शील रूप से कथन करने मे भी कुछ रहस्य है जो कि दिग्विरति आदि में शीलपने का प्रकाश कर रहा है। व्रतों की चारों ओर से रक्षा करने वाला शील होता है। इस प्रकार सातों में शील का लक्षण सुघटित बन रहा है। बात यह है कि आरम्भी, परिग्रही होने से गृहस्थों के व्रतों की रक्षा के लिये शील पालना आवश्यक है मुनियों के नहीं। तभी तो तीर्थ यात्रा के लिये दिग्विरति या देश व्रत के नियमों की अपेक्षा नहीं की जाती है अथवा गृहस्थ के तीसरी, दूसरी प्रतिमाओं में

पाये जा रहे सामायिक व्रत और सामायिक शील में जैसे विशेषता है उसी प्रकार यहां गृहस्थ के सात शील भी पांच व्रतों के रक्षक मात्र समझे जाते हैं। व्रतो की रक्षा करते हुये शीलों का परिपालन गौण भी हो जाय तो कोई विशेष क्षति (परवाह) नहीं है। हां व्रतों को भी गौण कर शीलों के ही नियम बनाये रखने का लक्ष्य नहीं रखना चाहिये।

सामर्थ्याद्गृहिसंप्रत्ययः, बन्धनादयो ह्यतीचारा वक्ष्यमाणा नानगारस्य संभवंतीति सामर्थ्याद्गृहिण एव व्रतेषु शीलेषु पच पंचातीचाराः प्रतीयंते। पंच पंचेति वीप्सायां द्वित्व व्रतशीलातीचाराणामनवयवेन पंचसख्यया व्याप्यत्वात्। पंचश इति लघुनिर्देशे सभवत्यपि पंच पंचेति वचनमभिव्यक्त्यर्थं, यथाक्रमवचनं वक्ष्यमाणातीचारक्रमसंबंधनार्थं।

सूत्र मे बिना कहे ही वक्ष्यमाण सूत्रो की सामर्थ्य से यहाँ गृहस्थ का समीचीन बोध हो रहा है, कारण कि बंध आदिक अतीचार जो भविष्य में कहे जाने वाले है वे गृहस्थ के ही संभवते है गृहत्यागी संयमी के नहीं संभवते है इस कारण प्रकरण सामर्थ्य से गृहस्थ के ही व्रतों और शीलों में पाँच पॉच अतीचार क्वचित् पाये जा रहे निर्णीत कर लिये जाते है। इस सूत्र में "पंच पंच" यो वीप्सा मे दोपना किया गया है क्यो कि व्रत और शीलों के अतीचारों का पूर्ण रूप से पॉच संख्या करके व्याप लिया जाता है "अनवयवेन द्रव्याणां अभिधानमेव वीप्सार्थः" यद्यपि वीप्सा अर्थ में शस् प्रत्यय कर पंचशः इस प्रकार लघुरूप से निर्देश करना संभव था तो भी सूत्रकार का पंच पंच यो बड़े रूप से कथन करना तो अभिव्यक्ति के लिये है अर्थात् लघुबुद्धि शिष्यों को पंच पंच कहने से सुलभतया स्पष्ट अर्थ की प्रकटता हो जाती है। सूत्र में यथाक्रम शब्द का कथन करना तो भविष्य में कहे जाने वाले अतीचारों का क्रम अनुसार संबन्ध कराने के लिये है अर्थात् पूर्व सूत्रों में व्रत और शीलों का जिस क्रम से निरूपण किया गया है उस क्रम का उल्लंघन नहीं कर वक्ष्यमाण सूत्रों में उनके अतीचार कहे जायंगे।

अत एवाह ;—

इस ही कारण से उक्त सूत्र का अभिप्राय प्रकट करते हुये ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिक को कह रहे हैं।

पंच पंच व्रतेष्वेवं शीलेषु च यथाक्रमं।
वक्ष्यंतेऽतः परं शेष इति सूत्रेति दिश्यताम् ॥१॥

इस प्रकार व्रतों में और शीलों में क्वचित् पाये जा रहे पाँच पाँच अतीचार भविष्य में सूत्रों द्वारा यथाक्रम से कहे जायंगे ऐसी सूत्रकार प्रतिज्ञा करते हैं। इस सूत्र का वाक्यार्थ बनाने में "अतः परं वक्ष्यन्ते" यानी इस सूत्र से परली ओर सूत्रों में कहे जावेंगे इतना पद शेष रह गया आया ततः अन्वि,, हो रहा समझ लेना चहिये। "सोपस्काराणि वाक्यानि भवंति" वाक्यों को यहां वहां से आवश्यक पदों को खींच लेनेका अधिकार प्राप्त है। आवश्यक हो रहे अनुपात्त पद का प्रयोजन वश अन्यत्र संबन्ध कर लेना अतिदेश है। "अतः परं व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमं वक्ष्यंते" यों सूत्र का वाक्य बना लिया जाय बड़ा सुन्दर जंचता है।

तत्राद्यस्याणुव्रतस्य केऽतीचारा इत्याह;—

उन व्रत और शीलों में सब के आदि में कहे गये या प्रधान हो रहे अहिंसाणुव्रत के अतीचार

कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे है।

बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥

अभीष्ट देश मे जाने के लिये उत्सुक हो रहे जीव के प्रतिबन्ध हेतु हो रहे हथकड़ी, लेज आदि से उस जीव को बांध देना बंध है। डंडा, चाबुक, छड़ी आदि करके प्राणियों का ताड़न करना बध है। कान, नाक, अण्डकोष आदि अवयवों को छेद देना छेद है। न्यायोचितभार से अधिक बोझ लादना अतिभारारोपण है। उचित समय पर या भूख, प्यास लगने पर गाय आदि के खाद्य, पेय पदार्थों का रोक लेना अन्नपान निरोध है। ये अहिंसाणुव्रत के प्रमादयोग से किये गये बन्ध आदि पांच अतीचार हैं। यदि प्रमादयोग नहीं है और हितैषिता है तो कुँआ, गड्ढा आदि में गिर जाने को रोकने के लिये पशु को लेज आदि से बांध देना, अथवा पागल स्त्री या पुरुष को स्वपरघात के निवारणार्थ सांकल आदि से बांध देना दोषाधायक नहीं है। कोई कोई पागल या भूतावेश की चिकित्सा तो थप्पड़ या बेंत से ताड़ना और कान, नाक, को दबाना आदि उपायों से की जाती है। उपद्रवी या अनभ्यासी छात्र का गुरु भी ताड़न करते है माता-पिता भी बच्चों को कदाचित् पीट देते हैं। शल्य चिकित्सा करने वाले डाक्टर या जर्राह फोड़ा को चीर देते है। आवश्यकता पड़ने पर अंगुली, टांग, आदि उपाङ्गों का छेद भी कर डालते हैं। वायु का रोग या अंगशून्यता की चिकित्सा के लिये शीशा का भारी कड़ा हाथ-पांव में डाल दिया जाता है। हितेच्छु वैद्य रोगी के खाने पीने को रोक देता है। उपवास करने का उपदेश देने वाले पण्डित भी दूसरों के अन्नपान का निरोध कर देते है। बात यह है कि विशुद्धि के अंग हो रहे बंध आदिक मल नहीं है और संक्लेशजनक हो रहे बंध आदिक उस अहिंसाविरति के अतीचार हैं। जीव के संपूर्ण प्राणों का वियोग नहीं करूंगा इतने मात्र अहिंसा व्रत को एक देश पाल रहा है फिर भी क्रोधवश बांधता, ताड़ता, छेदता, अतिभार लादता और खाना पीना रोकता हुआ प्रमादी जीव निर्दय होने के कारण व्रत, को सर्वाङ्ग नहीं पाल रहा सता अतीचार दोष का भागी हो जाता है।

अभिमतदेशे गतिनिरोधहेतुर्बंधः प्राणिपीडाहेतुर्वधः, कशाद्यभिघातमात्रं न तु प्राणव्यपरोपणं तस्य व्रतनाशरूपत्वात्, छेदोंऽगापनयनं, न्याय्यभारातिरिक्तभारवाहनमतिभारारोपणं, क्षुत्पिपासाबाधनमन्नपाननिरोधः। कुतोऽमी पंचाहिंसाणुव्रतस्यातीचारा इत्याह—

जाने आने के लिये अभीष्ट हो रहे देश मे स्वच्छन्द गमन के निरोध का हेतु हो रहा बन्ध है। ताड़न आदि द्वारा प्राणियों की पीड़ा का कारण हो रही वध क्रिया है जो कि चाबुक, लौदरी, बेंत आदि करके अभिघात कर देना मात्र है। किन्तु वध शब्द करके यहां सम्पूर्ण प्राणों का वियोग कर मार डालना अर्थ नहीं पकड़ना क्योंकि वह हत्या करना तो अहिंसाव्रत का ही नाश कर देना रूप है "सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभंजनम्" ॥ कान, नाक आदि अवयवों का छेद डालना छेद है। न्याय से अनपेत (समुचित) हो रहे बोझ से अधिक बोझ लादना अतिभारारोपण है। भूख, प्यास की वाधा उपजाना अन्नपान निरोध है। यों ये पांच अतीचार हुये। यहां कोई पूछता है कि अहिंसाणुव्रत के वे बन्ध आदि पांच अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हो जाते है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

तत्राहिंसाव्रतस्यातीचारा बंधादयः श्रुताः।
तेषां क्रोधादिजन्मत्वात्क्रोधादेस्तन्मलत्वतः ॥१॥

उन व्रतों या अतीचारों में अहिंसाव्रत के बन्ध आदिक पाँच अतीचार आचार्य परंपरा द्वारा सुने जा रहे माने गये हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे बन्ध आदिक तो क्रोध, लोभ आदि कषाय भावों से उपजते हैं। और क्रोध आदि उस अहिंसाव्रत के मल है। अंतरंग मलों अनुसार हुई बहिरंग की बन्धन, वध आदि निन्द्यक्रियायें अतीचार मानी जाती है यों अनुमान प्रयोग बना दिया है।

पूर्ववदनुमानप्रयोगः प्रत्येतव्यः ॥

जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि के अतीचारों का निरूपण करते हुये "मालिन्यहेतुत्वात्" हेतु देकर पूर्व में अनुमान का प्रयोग रचा था उसी प्रकार यहां अहिंसाव्रत के अतीचारो में भी अनुमान का प्रयोग इस वार्त्तिक अनुसार समझ लेना चाहिये।

अथ द्वितीयस्याणुव्रतस्य केऽतीचाराः पंचेत्याह;—

अब दूसरे सत्य अणुव्रत के पांच अतीचार कौन से है ? ऐसी निर्णिनीषा प्रकट होने पर महाविद्वान् सूत्रकार समाधान कारक अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥

इन्द्रपदवी या तीर्थंकरों के गर्भ अवतार, जन्म अभिषेक, साम्राज्य प्राप्ति, चक्रवर्तित्व, दीक्षा कल्याण अथवा मण्डलेश्वर आदि राज्य, सर्वार्थसिद्धिपर्यन्त अहमिन्द्र पद, ये सब सांसारिक सुख अभ्युदय कहे जाते हैं तथा तीर्थंकरों के केवलज्ञान कल्याण, मोक्षकल्याणक अनन्तचतुष्टय या अन्य सामान्य केवलियों की निर्वाण प्राप्ति ये सब निःश्रेयस माने जाते हैं। अभ्युदय और निःश्रेयस को साधने वाले क्रियाविशेषों में अज्ञानादि के वश हो कर अन्य को अन्य प्रकारों से प्रवृत्त करा देना या ठग लेना मिथ्योपदेश है। स्त्री पुरुषों या मित्रों आदि कर के एकान्त में की गयी या कही गयी विशेषक्रिया को गुप्तरीति से ग्रहण कर दूसरों के प्रति प्रकट कर देना रहोभ्याख्यान है। अन्य के द्वारा नहीं कहे गये विषय को उसने यों कहा था या किया था इस प्रकार ठगने के लिये जो द्वेषवश लिख दिया जाता है वह कूटलेख क्रिया है। सोना, चाँदी, रुपया, मोहरें किसी के यहाँ धरोहर रख दी गयीं उन कीपूरी संख्या को भूल कर पुनः ग्रहण करते समय अल्पसंख्यावाले द्रव्य को माँग कर ग्रहण कर रहे पुरुष के प्रति सोने आदि का अधिक परिमाण जान कर भी जो थोड़े द्रव्य की स्वीकारता दे देना है वह न्यासापहार है। अर्थ, प्रकरण, अंगविकार आदि करके दूसरों की चेष्टा को देखकर ईर्ष्या, लोभ, आदि के वश होकर जो अन्यपुरुषों के सन्मुख उस गुप्त मन्त्र का प्रकट कर देना है वह साकार मन्त्रभेद है। यों ये मिथ्योपदेश आदिक उस सत्यव्रत के पाँच अतीचार है। यहां भी सत्यव्रत का एक देश भंग और एक देश रक्षण होता रहने से अतीचारों की व्यवस्था है॥

मिथ्यान्यथाप्रवर्तनमतिसंधापनं वा मिथ्योपदेशः सर्वथैकान्तप्रवर्तनवत्, सच्छास्त्रान्यथाकथनवत् परातिसंधायकशास्त्रोपदेशवच्च, संवृतस्य प्रकाशनं रहोभ्याख्यानं, स्त्रीपुरुषानुष्ठितगुप्तक्रियाप्रकाशनवत्, परप्रयोगादन्यानुक्तपद्धतिकर्म कूटलेखक्रिया एवं तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वंचनाभिप्रायलेखनवत्, हिरण्यादिनिक्षेपे अल्पसंख्यानुज्ञावचनं न्यासापहारः शतन्यासे नवत्यनु-

छानवत्, अर्थादिभिः परगुह्यप्रकाशनं साकारमन्त्रभेदः अर्थप्रकरणादिभिरन्याकूतमुपलभ्यासूया-दिना तत्प्रकाशनवत् ॥ कथमेते अतीचारा इत्याह—

जिस प्रकार बौद्ध धर्म का पक्ष लेकर सर्वथा क्षणिक एकान्त में प्रवृत्ति करा दी जाती है एवं सर्व को नित्य मानने का पक्ष ले रहे एकान्तीपण्डित के अनुसार सर्वथा नित्यैकान्त में प्रवृत्ति करा दी जाती है। आदि, या समीचीन शास्त्र का अन्य प्रकारो से निरूपण करा दिया जाता है। तथा दूसरों की धन आदि के लिये वंचना कराने वाले शास्त्रों का उपदेश दे दिया जाता है उसी प्रकार मिथ्या यानी अन्यथा प्रवृत्ति करा देना, अथवा दूसरों के अभिप्राय को सुमार्ग से हटाकर कुमार्ग पर लगा देना मिथ्यो-पदेश है। ढके हुये यानी गुप्त हो रहे क्रिया विशेष का जो दूसरों की हानि करने के लिये प्रकाशित कर देना है वह रहोभ्याख्यान है, जैसे कि स्त्री पुरुषों करके एकान्त में की गई क्रियाविशेषको प्रकट कर दिया जाता है। दूसरों करके नही कहे गये किन्तु पर प्रयोग से इङ्गितों द्वारा समझ कर ठगने के लिये लेखन क्रिया के मार्ग को पकड़ना कूटलेखक्रिया है। जैसे कि उस मनुष्य ने मरते समय यों अमुक को भाग देने के लिये कहा था, इस प्रकार अंगचेष्टा करी थी इस प्रकार ठगने के अभिप्राय अनुसार लिख दिया जाता है। सोना, चांदी आदि की धरोहर किसी महाजन के यहां रख देने पर पुनः संख्या भूल गये स्वामी का अल्पसंख्यक द्रव्य मागने पर थोड़ी संख्यावाले हीन द्रव्य के धरोहर की स्वीकारता को कह देना न्यासापहार है। जैसे कि किसी बोहरे के यहां सौ मोहरों की धरोहर जमा कर देने वाले भोले जीव का संख्या भूल कर अपनी कुल नब्बे मोहरों को ले रहे भोले जीव के प्रति तुम्हारी नब्बे ही मोहरें थीं यों कह कर अधिक जान कर भी नब्बे मोहरों के देने का उस बोहरे करके अनुष्ठान कर दिया जाता है। अर्थ, प्रकरण, अंगविकार, भ्रूविक्षेप आदि करके दूसरो के गुह्य इतिवृत्तों का प्रकाश कर देना साकार-मन्त्रभेद है। जैसे कि अर्थ, प्रकरण आदि करके दूसरों की चेष्टा को दक्षता पूर्वक जान कर ईर्ष्या, द्वेष आदि करके उस गुप्त क्रिया को प्रकाश में ला दिया जाता है॥ यहाँ कोई पूछता है कि सत्यव्रत के ये पांच अतीचार भला किस प्रकार हो जाते हैं इस में युक्ति भी क्या है ? बताओ ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधान कारक अग्रिम वार्तिक को कहते है।

तथा मिथ्योपदेशाद्या द्वितीयस्य व्रतस्य ते।
तेषामनृतमूलत्वात्तद्व्रतेन विरोधतः ॥१॥

जिस प्रकार अहिंसाव्रत के संक्लेश वश पांच अतीचार दोष लग जाते हैं उसी प्रकार दूसरे सत्याणुव्रत के वे मिथ्योपदेश आदिक पांच का अतीचार सम्भव जाते हैं (प्रतिज्ञा) क्यों कि प्रमाद युक्त झूंठ बोलने के मूल मानकर वे मिथ्योपदेश आदि उपजते हैं (हेतु) जैसे कि वंचक शास्त्रों का उपदेश या दम्पतियों की रहस्य क्रिया का प्रकाश करना आदि अनृतमूलक होने से सत्य का दोप है (पक्षान्त-र्व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त) उस सत्यव्रत या आत्मविशुद्धि के साथ मिथ्योपदेश आदि का उसी प्रकार विरोध है जैसे अहिंसा व्रत का बन्ध आदि के साथ विरोध ठन रहा है। अतः एकदेश भंग और एकदेश रक्षण हो जाने से उक्त अतीचार सम्भव जाते है। अर्थात् अतीचार वाला विचारता है कि जैसे जैन पण्डित अपनी आम्नाय अनुसार जैन शास्त्रों का उपदेश सुनाते हैं उसी प्रकार मैंने यजुर्वेद अनुसार हिंसा का या बौद्ध मत अनुसार क्षणिक एकान्त पक्ष का अथवा "वाराङ्गना राजसभा प्रवेशः" इस नीति शास्त्र के अनुसार वेश्या के यहां जाने का एवं डाकुओं के अभिप्राय अनुसार सभी पापों के मूलभूत धनिकों के धन को मार पीट कर के भी हड़प लेने का उपदेश दे दिया है कोई मनमानी बातें नहीं कह दी हैं। इसी

प्रकार दम्पतियों के रहस्य की भी सच्ची ही बातें कही है, झूँठी बात एक भी नहीं कही है इत्यादि, यों व्रत की रक्षा कर रहा भी व्रत का पूर्णपालन नहीं कर सका है।

यथाद्यव्रतस्य मालिन्यहेतुत्वाद्बंधादयोऽतीचारास्तथा द्वितीयस्य मिथ्योपदेशादयस्तद्विशेषात्। तन्मालिन्यहेतुत्वं पुनस्तेषां तच्छुद्धिविरोधित्वात्।

जिस प्रकार सब के आदि में कहे गये अहिंसा व्रत के मालिन्य का कारण हो जाने से बंध, वध आदिक पांच अतीचार हैं। उसी प्रकार दूसरे सत्याणुव्रत के मिथ्योपदेश आदिक पांच अतीचार हैं। क्योंकि उस मलिनता के कारण हो जाने का दोनों में कोई अन्तर नहीं है। हां उन मिथ्योपदेश आदिकों को व्रत की मलिनता का कारणपना तो उस सत्य करके हुई आत्मविशुद्धि का विरोधी हो जाने से नियत है।

अथ तृतीयस्य व्रतस्य केऽतीचारा इत्याह;—

पहिले और दूसरे व्रतों के अतीचार ज्ञात हो चुके हैं अब तीसरे अचौर्य व्रत के अतीचार कौन हैं? ऐसी निर्णेतुं इच्छा प्रवर्तने पर सूत्रकार महोदय अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥

कोई पुरुष स्वयं तो चोरी नहीं करता है किन्तु दूसरे स्तेन यानी चोर को प्रेरणा कर देता है यह स्तेनप्रयोग है। उन चोरों करके चुराये गये बहुमूल्य द्रव्य को अल्पमूल्य द्वारा क्रय करने के अभिप्राय से ग्रहण कर लेना तदाहृतादान है। उचित न्याय से अन्य प्रकारों करके देना लेना अतिक्रम कहा जाता है, विरुद्ध राज्य के होते सन्ते अतिक्रम करना, राजा या स्वामी की घोषणा का उल्लंघन कर अन्य प्रकारों से लेना देना जैसे कि कर देने योग्य अपने पदार्थ को महसूल बिना दिये ही राज्य से बाहर कर देना, पूरी टिकट के स्थान पर आधी टिकट और आधी टिकट वाले की टिकट नहीं खरीदना, रेलगाड़ी मे सामान अधिक ले जाना, इत्यादि विरुद्धराज्यातिक्रम है। नापने, तोलने, के लिये काष्ठ, पीतल आदि के बनाये हुये सेर, ढय्या, पंसेरी आदि नाप या तखरी के पउआ, दुसेरी, आदि बांट एवं गज, फुटा, आदि को न्यून या अधिक रखना हीनाधिकमानोन्मान है। न्यून हो रहे मान, उन्मानों से खोटा बनियां दूसरों के लिये देता है और अधिक हो रहे मान, उन्मानों, करके वह बनियां अपने लिये नापता, तोलता है कृत्रिम बनाये गये नकली सोने, चांदी, मोती, घृत, दूध, चून आदि करके ठगने के विचार अनुसार व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतीचार हैं।

मोषकस्य त्रिधा प्रयोजनं स्तेनप्रयोगः। चोरानीतग्रहणं तदाहृतादानं, उचितादन्यथा दानग्रहणमतिक्रमः, विरुद्धराज्ये सत्यतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रमः, कूटप्रस्थतुलादिभिः क्रयविक्रयप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानं, कृत्रिमहिरण्यादिकरणं प्रतिरूपकव्यवहारः। कुतोऽमी तृतीयस्य व्रतस्यातीचारा इत्याह;—

चोरी करने वाले जीव को तीन प्रकार यानी मन, वचन, या काय करके अथवा दूसरे पुरुष द्वारा प्रयुक्त कराता है, कृत, कारित, अनुमोदना अनुसार प्रेरणा करता है वह कृत्यतः स्तेनप्रयोग है।

चोर करके लाये गये द्रव्य का ग्रहण कर लेना तदाहृतादान है। उचित रीति से अन्य प्रकार अन्याय द्वारा दान या ग्रहण करना अतिक्रम बोला जाता है। विरुद्धराज्य के होते सन्ते जो अतिक्रम करना है वह विरुद्धराज्यातिक्रम है। झूंठे नाप, तोल, आदि करके क्रय विक्रय का प्रयोग करना हीनाधिकमानोन्मान है, यहाँ आदि पद से घोड़े की, मोतियों की जल की गर्मी की बिजली की वर्षा की भाप की पाण्डित्य आदिकी भिन्न-भिन्न प्रकारों से होने वाली नाना नाप तोलों का ग्रहण है। कृत्रिम (नकली) सोना, चाँदी आदिका बनाना या इन का दूसरों को ठगने के लिये व्यापार करना प्रतिरूपकव्यवहार है ॥ यहाँ कोई पूंछता है कि तीसरे अचौर्य व्रत के स्तेन प्रयोग आदि पाँच अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हुये मान लिये जाँय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को कह रहे हैं।

प्रोक्ताः स्तेनप्रयोगाद्याः पंचास्तेयव्रतस्य ते ।
स्तेयहेतुत्वतस्तेषां भावे तन्मलिनत्वतः ॥१॥

अचौर्य व्रत के वे चोर प्रयोग आदिक पांच अतीचार सूत्रकार महाराज ने बहुत अच्छे ढंग से कह दिये है क्योंकि वे स्तेनप्रयोग आदिक तो चोरी के परम्परा हेतु हो रहे हैं। उन चोर प्रयोग आदि के होते सन्ते उस अचौर्यव्रत प्रयुक्त हुई आत्मविशुद्धि की मलिनता हो जाती है। एक अंश अचौर्यव्रत की रक्षा बनी रहती है कि मैंने मात्र चोरी का नौ भंगो से प्रयोग करना बता दिया है चोरी तो नहीं की है इत्यादि विचार अनुसार इन स्तेन आदि प्रयोग को अतीचारपने की व्यवस्था है।

अथ चतुर्थस्याणुव्रतस्य केऽतीचारा इत्याह;—

अब चौथे स्वदारसंतोष या ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतीचार कौन कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा उपजने पर सूत्रकार महाशय इस अग्रिम सूत्र को कहते है।

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥

अपनी संतान के अतिरिक्त अन्यदीय पुत्र या कन्याओं का विवाह करना पहिला अतीचार है। परपुरुषों के साथ गमन यानी क्रीडा करने की जिन स्त्रियों की टेव है वह खोटी स्त्री इत्वरिका कही जाती है वह सधवा हो या विधवा हो किसी पति के द्वारा गृहीत हो चुकी सन्ती इत्वरिका परिगृहीता मानी गई है। ऐसी परिगृहीत इत्वरिका के साथ जो गमन करना अर्थात् उसके जघन भाग, स्तन, मुख, उदर आदि का निरीक्षण करना, सराग भाषण करना, हाथ, भ्रकुटी, चक्षुः आदि करके संकेत करना इस प्रकार रागी होकर अनेक रमण कुचेष्टायें करना, द्वितीय अतीचार है। परपुरुषों के साथ गमन करने की टेव (आदत) को धार रही जो किसी पति कर के गृहीत नहीं हो चुकी है ऐसी गणिका या पुंश्चली स्त्री इत्वरिका अपरिगृहीता है। परपुरुषगामिनी अपरिगृहीत वेश्या या पुंश्चली (खानगी), स्त्रियों में स्तन निरीक्षण, हास्य, उपरिष्टात्क्रीड़ायें आदि कुक्रियायें करना तीसरा अतीचार है। स्व पुरुष या स्व स्त्री मे भी अंग यानी जननेन्द्रिय के अतिरित अगों में क्रीडा करना चौथा अतीचार है। स्व स्त्री में भी काम रति का प्रवृद्ध परिणाम होना यानी संतुष्ट नहीं होकर कामक्रीड़ा में अविराम प्रवृत्ति करना कामतीव्राभिनिवेश नाम का पाँचवां अतीचार है। यों परविवाह करण १ इत्वरिकापरिगृहीतागमन २ इत्वरिका अपरिगृहीता गमन ३ अनंगक्रीडा ४ कामतीव्राभिनिवेश ५ ये स्वदारसंतोष या परदारनिवृत्तिव्रत के पांच अतीचार हैं।

सद्वेद्यचारित्रमोहोदयाद्विवहनं विवाहः परस्य विवाहस्तस्य करणं परविवाहकरणं, अयनशीलेत्वरी सैव कुत्सिता इत्वरिका तस्यां परिगृहीतायामपरिगृहीतायां च गमनमित्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनं, अनंगेषु क्रीडा अनंगक्रीडा, कामस्य प्रवृद्धः परिणामः कामतीव्राभिनिवेशः। दीक्षितातिबालातिर्यग्योन्यादीनामनुपसंग्रह इति चेन्न, कामतीव्राभिनिवेशग्रहणात् सिद्धेः। त एते चतुर्थाणुव्रतस्य कुतोऽतीचारा इत्याह—

सातावेदनीय कर्म और चारित्रमोह (माया, लोभ, रति, हास्य, वेद) कर्म का उदय हो जाने से विवाह क्रिया द्वारा बंध जाना विवाह है, पर का जो विवाह सो परविवाह है उस परविवाह का करना परविवाहकरण है यों परविवाह शब्द की निरुक्ति कर दी गई है। परपुरुष के निकट गमन करने की टेव को धारने वाली स्त्री इत्वरी है। इत्वरी शब्द से कुत्सित इत्वरी यों खोटे अर्थ में क प्रत्यय कर देने पर वही कुत्सिता इत्वरी इत्वरिका कही जाती है। उस परिगृहीत हो रही इत्वरिका मे और किसी नियत भर्ता करके नहीं परिगृहीत हो रही इत्वरिका में गमन करना इत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमन है। काम सेवन के अंगों से भिन्न अंगों मे क्रीड़ा करना अनंगक्रीडा है। रति क्रिया का अतिशय करके बढ़ रहा परिणाम कामतीव्राभिनिवेश है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि दीक्षा ले जा चुकी स्त्री या छोटी अवस्था की अतिबाला लड़की अथवा छिरिया, हरिणी आदि तिर्यञ्चिनी एवं काष्ठ, चित्र, रबड़, रुई आदि की बनी हुई अनेक प्रकार की अचेतन स्त्रियां अथवा स्त्रियों की अपेक्षा से तिर्यञ्च पुरुष, दीक्षित, कृत्रिम पुरुष चिह्न आदि का इस सूत्र में उपलक्षण रूप से भी संग्रह नहीं हो सका है ऐसी दशा मे दीक्षिता आदि आदि के साथ क्रीड़ा करने को किस दोष मे गिना जायगा ? ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना क्योंकि पांचवे अतीचार कामतीव्राभिनिवेश का ग्रहण कर देने से उनके संग्रह की सिद्धि हो जाती है। कामकी तीव्रता से ही अपनी दीक्षिता स्त्री अथवा अपने लिये कल्पित की गई अतिबाला कन्या एवं तिर्यञ्चिनी आदि त्यागने योग्य स्त्रियों में प्रवृत्ति होती है। यों ये पॉच अतीचार कुछ व्रत की रक्षा का अभिप्राय रखकर व्रत का भंग कर देने से गृहस्थ के संभव जाते है। यहां कोई तर्क कर रहा है कि प्रसिद्ध हो रहे ये पांच अतीचार भला चौथे अणुव्रत के किस युक्ति से सिद्ध कर लिये जांय ? ऐसी तर्कणा उपजने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को कहते है।

चतुर्थस्य व्रतस्यान्यविवाहकरणादयः
पंचैतेऽतिक्रमा ब्रह्मविघातकरणक्षमाः ॥१॥

अन्यविवाहकरण आदिक ये पॉच (पक्ष) चौथे व्रत के अतीचार है (साध्य) क्योंकि ब्रह्मचर्याणुव्रत का बहुभाग विघात करने में समर्थ हो रहे हैं (हेतुदल)। यों अनुमान प्रयोग बना कर उक्त सूत्र के प्रमेय को प्रमाणसंप्लव द्वारा पुष्ट कर दिया है।

स्वदारसंतोषव्रतविहननयोग्या हि तदतीचारा न पुनस्तद्विघातिन एव पूर्ववत् ॥

पूर्व में जैसे अहिंसाणुव्रत, सम्यग्दर्शन आदि के अतीचार उन को माना गया है जो कि व्रतों की सर्वाङ्ग विशुद्धि होने के कारण नहीं है और व्रत का सर्वांग विनाश करने वाले भी नहीं हैं जो विशुद्धि के कारण है वे तो व्रतों के संरक्षक हैं जो व्रतों के विनाशक हैं वे अनाचार या अविरतिस्वरूप हैं हां व्रतों को मलिन कर देने वाले अतीचार कहे जाते हैं। उसी प्रकार स्वदारसंतोषव्रत में विघ्न करने

योग्य परिणाम ही उस चौथे व्रत के अतीचार हैं किन्तु फिर उस ब्रह्मव्रत का ही सर्वांग विघात करने वाले तो अतीचार नहीं हो सकते हैं यों इस कारिका में कहे गये अनुमान के व्यतिरेकदृष्टान्त तो ब्रह्मव्रत के विशोधक स्त्रीराग कथा श्रवण त्याग, नवधा ब्रह्मचर्यव्रतपालन आदि और ब्रह्मविघातक परस्त्रीरमण, वेश्यामैथुन आदि हैं तथा परविवाहकरण आदिक अन्वयदृष्टान्त हो सकते है। अन्तर्व्याप्ति को मानने वाले पण्डित पक्ष के भीतर भी व्याप्ति ग्रहण कर उसको अन्वयदृष्टान्त बना लेते हैं। अन्यथा सभी हेतु साध्य वालो को पक्ष कोटि में धर देने पर अन्वयदृष्टान्त का मिलना असंभव है।

अथ पंचमव्रतस्य केऽतीचारा इत्याह;—

व्रत और शीलों में पांच पांच अतीचार हैं इस प्रतिज्ञा अनुसार पहले चार व्रतों के अतिचार ज्ञात कर लिये इनके अनन्तर अब पांचवें परिग्रहपरिमाण व्रत के अतीचार कौन है ? ऐसी तत्त्व बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कह रहे है।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणाति-क्रमाः ॥२९॥

क्षेत्र-वास्तु, आदिक पांच परिग्रहपरिमाणव्रत के अतीचार है अर्थात् क्षेत्र और वास्तु का अतिक्रमण कर लेना पहिला अतीचार है। धान्यों की उत्पत्ति के स्थान को क्षेत्र कहते हैं। कुटिया, डेरा, कोठी, हवेली, घर, प्रासाद, ग्राम, नगर आदि ये वास्तु कहे जाते है। इनका लोभ के आवेश से अतिक्रम कर-लिया जाता है। सीमा करने वाली भींत या बाढ आदि को हटाकर दूसरे घर या खेत को मिला लेने से यह अतीचार सभव जाता है। मैंने घर आदि को बढा लिया है उनकी परिमित संख्या का अतिक्रम नहीं किया है यों इस व्रती के व्रत की एकदेश रक्षा का अभिप्राय है। रूपा, चांदी, मोहर, गिन्नी, पैसा, सिक्का आदि व्यवहार में क्रय विक्रय उपयोगी यानी वस्तु के अदल बदल का विनिमय करने वाले पदार्थ हिरण्य है। और सोना तो प्रसिद्ध ही है। परिमित किये गये हिरण्य, सुवर्णों, का अतिक्रमण कर लेना दूसरा अतीचार है। अपने व्रत के समाप्त हो जाने पर तुम से इतना सिक्का या सोना ले लूंगा इस अभिप्राय कर के अधिक लब्ध को अन्य के लिये अर्पण करदेने से लोभवश यह अतीचार संभव जाता है। गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा, ऊंट, छिरिया आदिक धन है। और गेहूं, चावल आदिक धान्य है। परिमित धन और धान्य का अतिक्रम करना तीसरा अतीचार है। यह अतीचारी विचारता है कि अपने घर में प्राप्त हो रहे धनधान्यो का विक्रय या व्यय कर देने पर पुनः तुम आसामियों से ले लूंगा इस भावना करके नियन्त्रण कर देने से यह दोष संभव जाता है। संख्या किये गये दासीदासों का अतिक्रम करना चौथा अतीचार है। गाय, घोड़ी, तोता, मैना, सिपाही, दासियां, चाकर, इनमे गर्भवाली की अपेक्षा अथवा कुछ काल पश्चात् अपने व्रत को यथावस्थित कर लूंगा। यों विचार कर नियत संख्या का अतिक्रम कर देने से यह अतीचार संभवता है। वस्त्र, भाण्ड, गाड़ी, पलंग, हल, आदिक सभी कुप्य में गर्भित हो जाते है। नियत काल के पश्चात् मैं तुम से ले लूंगा या अन्य को दिला दूंगा इस अभिप्राय से यह कुप्यो का अतिक्रमण संभव जाता है यों क्षेत्र वास्तुओं की सीमा को बढ़ाना १ हिरण्य सुवर्णों का अतिक्रम २ धनधान्यों की मर्यादा का उल्लंघन ३ दासीदासों की संख्या का अतिरेक ४ और कुप्यपदार्थों की मर्यादा का उल्लंघन ये पांच परिमित परिग्रहव्रत के अतीचार है।

क्षेत्रवास्त्वादीनां द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वः प्राक् कुप्यात्, तीव्रलोभाभिनिवेशात् प्रमाणातिरे-

कास्तेषामतिक्रमाः । पंच कुतोऽतीचारा इत्याह;—

क्षेत्र वास्तु आदिक पदों के दो दो पदों का द्वंद्व समास हो गया है। कुप्य से पहिले आठ पदों के चार युगलों का न्यारा न्यारा समाहारद्वंद्व कर लिया जाय। "क्षेत्रं च वास्तु च क्षेत्रवास्तु" खेत और घर का समाहार कर एकवचन पद क्षेत्रवास्तु बना लिया गया है "हिरण्यं च सुवर्णं च" यों रुपया आदि और सोने का समाहार कर 'हिरण्यसुवर्ण' पद एकवचन कर दिया है (समाहारे एकवत् स्यात्)। "धनं च धान्यं च" यों का द्वंद्व कर गाय आदिक धन और धान गेहूं आदिक धान्यों को कह रहा "धनधान्यं" पद बना लिया जाता है। "दासी च दासश्च" यों (गवाश्वप्रभृतीनि च) सूत्र करके समास कर टहलुआ, टह-लनी स्त्री पुरुषों को कह रहा "दासीदासं" पद साधु बन जाता है। पुनः "क्षेत्रवास्तु च हिरण्यसुवर्णं च धनधान्यं च दासीदासं च कुप्यं च" यों क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदासकुप्यानि एतेषां प्रमाणानां अतिक्रमाः" यों निरुक्ति कर सूत्र वाक्य बन जाता है। तीव्रलोभ का चारों ओर आवेश हो जाने से इन के प्रतिज्ञात प्रमाणों का अतिरेक होना संभव जाता है। उन क्षेत्र आदिकों के पाँच अतिक्रम अतीचार हैं। यहाँ कोई आगमोक्त विषय का तर्क द्वारा निर्णय करने के लिये आरेका उठाता है कि परिग्रह परिमाण व्रत के ये सूत्रोक्त पाँच अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हो जाते है ? बताओ। ऐसी निश्चिकीषा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को स्पष्टीकरणार्थ कह रहे हैं।

क्षेत्रवास्त्वादिषूपात्तप्रमाणातिक्रमाः स्वयं ।
पंच संतोषनिर्घातहेतवोंऽत्यव्रतस्य ते ॥१॥

क्षेत्र, वास्तु, आदिक में (पक्ष) स्वयं प्रतिज्ञा पूर्वक ग्रहण किये प्रमाण के ये पाँच अतिक्रम हो जाते है (साध्य) क्या कि ये पाँच अतिक्रम संतोष का एकदेश से घात करने में कारण हो रहे हैं (हेतु) अतः पाँच व्रतों के अन्त में पड़े हुये परिग्रहपरिमाणव्रत के वे क्षेत्रवास्तु अतिक्रम आदिक पाँच अतीचार हैं।

संतोषनिर्घातानुकूलकारणत्वाद्धि तदतीचाराः स्युर्न पुनः समर्थकारणत्वात् पूर्ववत् ।

पूरे संतोष के घातने में अनुकूल कारण हो जाने से उस परिग्रह परिमाणव्रत के ये पांच अतीचार नियम से संभव जायेंगे किन्तु फिर समूल चूल संतोष का घात करने में समर्थ कारण होने से ये अतीचार नहीं हैं जैसे कि पहिले सम्यग्दर्शन या अहिंसा आदि व्रतों में समझा दिया गया है अर्थात् एक देश व्रत की रक्षा और कुछ अंगों में व्रत का भंग हो जाने से पहिले अतीचार निर्णीत कर दिये गये हैं उसी प्रकार संतोष की भित्ति पर जो परिग्रहों का परिमाण किया था उस संतोष का जो परिपूर्णरूप से घात कर देते हैं ऐसी आयक के साथ हो रहीं गृद्धियां या उच्छृंखल होकर मार परिग्रहोंको इकट्ठा करते रहना अतीचार नहीं है किन्तु अनाचार है। और संतोप का जो किंचित् भी घात नहीं करते हैं ऐसे दान, पूजन, आदि भी अतीचार नहीं प्रत्युत संतोषवर्धक और परिमाणव्रत के पोषक गुण है। ये क्षेत्र वास्तु अतिक्रम आदिक पांच तो संतोष को घातने में एकदेश अनुकूल हो रहे हैं अतः अतीचार मान लिये गये है।

अथ दिग्विरतेः केऽतिक्रमाः पञ्चेत्याह;—

पांच अणुव्रतों के अतीचार कहे सो जाने अब इस के अनन्तर सात शीलों में से पहिली दिग्वि-रति के पांच अतीचार कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यंतराधानानि ॥३०॥

व्यतिक्रम शब्द को पहिले तीन शब्दों में जोड़ दिया जाय यों ऊर्ध्व व्यतिक्रम १ अधोव्यतिक्रम २ तिर्यग्व्यतिक्रम ३ क्षेत्रवृद्धि ४ स्मृत्यन्तराधान ५ ये पांच अतीचार दिग्विरमणव्रत के हैं। पर्वत, वृक्ष, मीनार आदि पर ऊपर चढ़ जाना, नीचे कूँआ बावड़ी आदि में उतरना, और तिरछे बिल, गुहा, आदि में प्रवेश करना ये नियत प्रदेश से परली ओर किये जांय तो इनका उल्लंघन करना यों तीन अतीचार हो जाते हैं। प्रयोजन बिना या अज्ञानसे इनका अतिक्रम किया जायेगा तब तो अतीचार है अन्य प्रकारों से अतिक्रम करने पर तो अनाचार ही है। अज्ञानवश ये अतिक्रम हो जांय तो पुनः संभल कर व्रतों की रक्षा कर ली जाती है पीछे वहां अतिक्रान्त स्थल में जाने का सर्वथा त्याग कर दिया जाता है अन्य को भी नहीं भेजा जाता है वहां अतिक्रान्त स्थान से किसी वस्तु का लाभ किया जाय तो उसका त्याग कर दिया जाता है। क्षेत्र की वृद्धि कर लेना अथवा पूर्व देश की अवधि में से घटाकर उसको पश्चिम देश की अवधि में लाभवश जोड़ देना यह क्षेत्र वृद्धि है। नियत सीमा को भूल कर अन्य न्यूनाधिक स्मृतियों का अभिप्राय रखना स्मृत्यन्तराधान है। अज्ञान, अचातुर्य, सन्देह, अतिव्याकुलता, अन्यमनस्कता, अतिलोभ आदि करके स्मृति का भ्रंश हो जाता है। किसी ने पूर्व दिशा में सौ योजन का परिमाण किया था, गमन करते समय स्पष्टरूप से स्मरण नहीं रहा कि मैने सौ योजन का परिमाण किया था, या पचास योजन का नियम किया था, उस व्रतापेक्षी का पचास योजन से आगे जाने पर तो अतीचार है और सौ योजन का अतिक्रम करने पर अनाचार हो जायेगा यों ये पांच दिग्विरति शील के अतीचार हैं॥

परिमितदिगवधिव्यतिलंघनमतिक्रमः, स त्रेधा ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्विषयभेदात्। तत्र पर्वताद्यारोहणादूर्ध्वातिक्रमः, कूपावतरणादेरधोऽतिवृत्तिः, बिलप्रवेशादेस्तिर्यगतीचारः, अभिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्याभिसंधिः क्षेत्रवृद्धिः। इच्छापरिमाणेंऽतर्भावात्पौनरुक्त्यमिति चेन्न, तस्यान्याधिकरणत्वात्। तदतिक्रमः प्रमादमोहव्यासंगादिभिः। अननुस्मरणं स्मृत्यंतराधानं।

परिमाण की जा चुकी दिशा की अवधि का उल्लंघन कर देना अतिक्रम कहा जाता है। विशेषरूप से अतिक्रम करना व्यतिक्रम है। वह व्यतिक्रम ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा, और तिर्यग्दिशा के विषयों की भिन्नता से तीन प्रकार का है उन तीनो मे पर्वत, स्तूप, टीला आदि के ऊपर चढ जाने से ऊर्ध्वातिक्रम संभव जाता है। कुँआ में उतर जाना, दरी में नीचे आ जाना आदि क्रियाओं से अधोअतिक्रम हो जाता है। बिल में घुस जाना, सुरंग में प्रवेश कर जाना आदिक से तिर्यक् अतिक्रम स्वरूप अतीचार हो जाता है। चारों ओर ग्रहण कर ली गई दिशा का लोभ के आवेश से अधिकपने का अभिप्राय रखना क्षेत्रवृद्धि है। यहाँ कोई शंका करता है कि "धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु।निस्पृहा, परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि" इस प्रमाण अनुसार पांचवें अणुव्रत माने गये परिमित परिग्रह का दूसरा नाम इच्छापरिमाण भी है। फैली हुई इच्छाओं का संकोच कर नियत परिमाण कर लेना पांचमा अणुव्रत है। जब क्षेत्र के अतिक्रम को पांचवें व्रत के अतीचारों में गिन लिया है उस में क्षेत्रवृद्धि का अन्तर्भाव हो सकता है तिस कारण यहां उस को पुनः कथन करना तो पुनरुक्त दोष है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वह इच्छा परिमाण तो अन्य क्षेत्र, वास्तु, आदिक अधिकरणों में हो रहा है और यह दिग्विरति अन्य के लिये है। वहाँ परिग्रहवुद्धि से क्षेत्र के प्रमाण का अतिक्रम कर दिया जाता है किन्तु यहां दिग्विरमण में मात्र दिशा के परिमाण का लक्ष्य है अतः उस क्षेत्र को बढाकर अतिक्रम रूप से गमन कर लिया है यों अर्थ में अन्तर है। प्रमाद, मोह, अन्यगतचित्तपना, उद्भ्रान्ति, आदि करके ये

तीन अतिक्रम या क्षेत्रवृद्धि हो जाती हैं। गृहीत मर्यादा का पीछे स्मरण नहीं रहना या न्यून अधिक रूप स्मरणान्तर कर लेना स्मृत्यन्तराधान है।

कस्मात् पुनरमी प्रथमस्य शीलस्य पंचातीचारा इत्याह; —

किस कारण से फिर पहिले दिग्विरतिशील के वे ऊर्ध्वातिक्रम आदि पाँच अतीचार संभव जाते हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस समाधान वचन को कहते हैं।

ऊर्ध्वातिक्रमणाद्याः स्युः शीलस्याद्यस्य पंच ते।
तद्विरत्युपघातित्वात्तेषां तद्धि मलत्वतः ॥१॥

आदि में हो रहे दिग्विरति शील के वे ऊर्ध्वदिशा अतिक्रमण आदिक पाँच अतीचार संभव जाते हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे उस दिग्विरति व्रत का ईषद्घात करने वाले हैं। तिसकारण नियम से वे उसके मल हैं। अतः व्रत का समूलचूल घात नहीं कर देने से और व्रत के पोषक भी नहीं होने से उन मलिनता के कारणों को व्रत का एकदेश भंग कर देने की अपेक्षा अतीचार कहा गया है।

अथ द्वितीयस्य केऽतीचारा इत्याह;—

अब दूसरे कहे गये देशविरति के अतीचार कौन कौन हैं ? ऐसी संगति अनुसार बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार इस अगले सूत्र को कह रहे हैं।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥३१॥

अपने संकल्पित देश में स्थित हो रहा भी श्रावक प्रतिषिद्ध देश में रक्खे हुये पदार्थों को प्रयोजनवश किसी से मंगा कर क्रय, विक्रय आदि करता है यह आनयन है। परिमित देश के बाहर स्वयं नहीं जाकर भृत्य आदि द्वारा इस प्रकार करो, यों प्रेष्यप्रयोग करके ही अभिप्रेत व्यापार की सिद्धि कर लेना प्रेष्यप्रयोग है। देशावकाशिक व्रत जब हिंसा से बचने के लिये लिया गया है तो स्वयं करना और दूसरे से कराना एक ही बात पड़ती है, प्रत्युत स्वयं गमन करने में कुछ विवेकपूर्वक ईर्यापथ शुद्धि भी हो सकती थी किन्तु दूसरे चाकरों से ईर्यासमिति नहीं पल सकेगी यों यह प्रेष्यप्रयोग अतीचार हो जाता है। सर्वत्र व्रत रक्षा की अपेक्षा रखते हुये पुरुष का व्रत में दोष लग जाने से अतीचारों की व्यवस्था मानी गई है। निषिद्ध देश में बैठे हुये कर्मचारी पुरुषों का उद्देशकर खांसना, मठारना, टेलीफोन भेजना शब्दानुपात है। अपने रूप को दिखला कर शीघ्र व्यापार साधने के अभिप्राय से रूपानुपात दोष हो जाता है। इसमें कपट का संसर्ग है। गृहीत देश से बाहर व्यापार करने वालों को प्रेरणा करने के लिये डेल, पत्थर आदि का फेंक देना, टेलीग्राफ करना पुद्गलक्षेप है। ये पाँच देशविरतिशील के अतीचार हैं।

तमानयेत्याज्ञापनमानयन, एवं कुर्विति विनियोगः प्रेष्यप्रयोगः, अभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः, स्वविग्रहप्ररूपण रूपानुपातः, लोष्ठादिपातः पुद्गलक्षेपः। कुतः पंचैते द्वितीयस्य शीलस्य व्यतिक्रमा इत्याह—

अपने संकल्प किये गये देश में स्थित हो रहे देशव्रती का प्रयोजन के वश से उस किसी विवक्षित पदार्थ को लाओ इस प्रकार मर्यादा के बाहर देश से मंगा लेने की आज्ञा देना आनयन दोष है। तुम इस प्रकार करो यों परिमित देश से बाहर स्वयं नहीं जाकर किंकर को भेज देने से प्रेष्य प्रयोग द्वारा

अभिप्रेत पदार्थ को प्राप्त कर लेना प्रेष्य प्रयोग है। व्यापार करने वाले पुरुषों का उद्देश्य लेकर खांसना, मठारना, हस्तसंकेत आदि करना, जिससे कि मर्यादा के बाहर देश में से इष्टसिद्धि हो सके वह शब्दानुपात है। मेरे तत्परताशाली रूप को देख कर शीघ्र ही बाहर देश से व्यापार संपादन हो सकता है, यों विचार कर शरीर को दिखलाना, झण्डी, ध्वजा, आदि दिखलाना रूपानुपात है। कर्मचारी पुरुषों का उद्देश लेकर बाहिर देश में डेल, पत्थर, चिट्ठी, टेलीग्राम आदि को फेंकना पुद्गलक्षेप है। ये देशविरमणशील के पाँच अतीचार हैं। यहाँ कोई तर्क उठाता है कि दूसरे दिग्विरति शील के पाँच व्यतिक्रम भला किस युक्ति से सिद्ध हुये मान लिये जांय ? कोरे आगमवाक्य को मान लेने की तो इच्छा नहीं होती है इस प्रकार सविनय तर्क के उपस्थित होने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिक को कहते हैं।

द्वितीयस्य तु शीलस्य ते पञ्चानयनादयः ।
स्वदेशविरतेर्बाधा तैः संक्लेशविधानतः ॥१॥

ये आनयन आदिक पांच तो (पक्ष) अपनी मर्यादा किये हुये देश के बाहर नहीं जाना स्वरूप दूसरे शील हो रहे देशविरतिव्रत को एकदेश बाधा पहुँचाते हैं (साध्यदल) क्योंकि नव ९ भंगों से देशविरतिजन्य विशुद्धि को धार रहे जीव के उन आनयन आदि क्रियाओं करके संक्लेश कर दिया जाता है (हेतु)। इस अनुमान करके पूर्व सूत्रोक्त आगमगम्य प्रमेय की सिद्धि कर दी जाती है। इस अनुमान में कहे गये साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति तो स्वयं में या किसी सत्याणुव्रती में ग्रहण कर ली जाती है। व्रतों करके शुद्ध हो रही आत्मा में स्वल्पसंक्लेश करने वाले परिणाम उस व्रत के अतीचार समझे जाते हैं यहां भी पूर्ववत् व्रतशोधक और व्रतसंधानक परिणामों से न्यारे थोड़ी मलिनता के कारण हो रहे दोष अतीचार समझ लिये जाय।

अथ तृतीयस्य शीलस्य केऽतीचारा इत्याह—

इसके अनन्तर अब तीसरे अनर्थदण्डविरति व्रत के अतीचार भला कौन हैं ? ऐसी निर्णयेच्छा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस वक्ष्यमाण अग्रिम सूत्र को सुस्पष्ट कर रहे हैं।

कंदर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्षाधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

राग की तीव्रता होने पर हँसी दिल्लगी के साथ मिला हुआ गुण्डे पुरुषों का सा अश्लील वचन प्रयोग करना कंदर्प है। तीव्र रागपरिणति और अशिष्ट वचन के साथ मिली हुई भौं मटकाना, कमर हिलाना, ओठ नचाना, हाथ पांव फड़काना, अंगहार, आदि कायक्रिया करना कौत्कुच्य है। ढीठता से भरपूर होकर जो कुछ भी यद्वा, तद्वा, अंट संट, व्यर्थ का बहुत बकवाद करना मौखर्य है। जिसको सुनते हुये दूसरे मनुष्य उकता जावें, प्रयोजन साधकत्व का नहीं विचार कर चाहे जिन मन वचन काय गत विषयों की अधिकता करना असमीक्ष्याधिकरण है। जितने अर्थ से भोग, उपभोग सब सध सकते हैं उनसे अतिरिक्त अनर्थक पदार्थों को अधिक मूल्य देकर भी ग्रहण कर लेने की टेव अनुसार संग्रह कर लेना उपभोग परिभोगानर्थक्य है। ये पांच अनर्थदण्डत्याग शील के अतीचार हैं।

रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कंदर्पः, तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्मयुक्तं कौत्कु-

च्यं, धार्ष्ट्यप्रायोऽसंबद्धबहुप्रलापित्वं मौखर्यं, असमीक्ष्य प्रयोजनाधिक्येन करणं असमीक्ष्याधिकरणं, तत्त्रेधा, कायवाङ्मनोविषयभेदात्। यावतार्थेनोपभोगपरिभोगस्यार्थस्ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यं, उपभोगपरिभोगव्रतेऽन्तर्भावात्पौनरुक्त्यप्रसंग इति चेन्न, तदर्थानवधारणात्।

उदीरणा प्राप्त राग की अधिकता से प्रवृद्ध हंसी से मिला हुआ शिष्टबहिर्भूत वाक्यों का प्रयोग करना कंदर्प है। वे तीव्रराग प्रयुक्त हास्यवचन और अशिष्ट वचन यों दोनों ही दूसरे उपहासपात्र में यदि दुष्ट काय क्रिया से संयुक्त हो जांय तो हास्यवचन, अशिष्ट वचन और दूषित काय चेष्टायें इन तीनों का मिश्रण परिणाम कौत्कुच्य कहा जाता है जैसे कि भांड़, विदूषक, किया करते है। जिसमे ढीठता बहुत पाई जाती है ऐसा पूर्वापर संबन्ध बिना अधिक बकबक करना मौखर्य है। विचारे बिना प्रयोजन नहीं होने पर भी अधिकता करके पदार्थों का निर्माण करा लेना असमीक्ष्याधिकरण है। काय गोचर, और वचन गोचर तथा मनोविषय, पदार्थों के भेद से वह असमीक्ष्याधिकरण तीन प्रकार है। मिथ्यादृष्टियों के काव्य, व्याकरण आदि का अनर्थक चिन्तन करना मनोगत है, और बिना प्रयोजन परपीड़ा को करने वाला कुछ भी बकते रहना वाग्विषय असमीक्ष्याधिकरण है। तथा बिना प्रयोजन चलते बैठते हुये सचित्त अचित्त फल, फूलों को छेदना भेदना, भूमि खोदना, अग्नि देना, विष देना, आदि आरंभ सभी काय गोचर असमीक्ष्याधिकरण है। जितने पदार्थों से उपभोग, परिभोग, प्रयोजन सध जाता है उतने पदार्थ का संग्रह करना अर्थ समझा जाता है उससे अतिरिक्त अन्यपदार्थों का अनर्थक आधिक्य रखना उपभोग परिभोगानर्थक्य है। यहाँ कोई शंका उठाता है कि इस उपभोग परिभोग आनर्थक्य अतीचार के परिहार का लक्ष्य रख जब इसका उपभोग परिभोग परिमाण नाम के छठे शील में अंतर्भाव हो जाता है तो यहां अतीचारों में निरूपण कर देने से पुनरुक्तपन दोष का प्रसंग आता है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्यों कि उस छठे व्रत के अर्थ का आप निर्णय नही कर पाये है। बात यह है कि उस छठे शील में अपनी इच्छा के वश से उपभोग परिभोग पदार्थों का परिमाण कर मर्यादा कर ली जाती है - किन्तु यहां फिर मर्यादा लिये हुये ही पदार्थों में पूर्णरीत्या अधिक रख देने का अभिप्राय है जैसे कि चार गाड़ियों के रखने की मर्यादा की थी किन्तु एक या दो गाड़ी से प्रयोजन सध जाता है फिर भी चारों गाड़ियों को व्यर्थ रक्खे रहना आनर्थक्य समझा जायेगा। विशेष यह है कि इन पांच अतीचारों में पहिले दो तो प्रमादचर्याविरति के अतीचार हैं और पापोपदेश विरति का अतीचार मौखर्य है। असमीक्ष्याधिकरण हिंसोपकारी पदार्थ दान विरति का दोष हो सकता है। प्रमादचर्यात्याग से भी यह दोष संभव जाता है। पांचवां भी प्रमादचर्या का ही अंग है। यों ये पांच अतीचार तीसरे अनर्थदण्ड विरति शील के है।

कस्मादिमे तृतीयशीलस्यातिचारा इत्याह;—

किस कारण से भला तीसरे अनर्थदण्डविरति शील के ये पांच अतीचार हो जाते हैं ? बताओ। "युक्त्यापन्नघटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे" जो युक्ति से घटित नहीं हो पाता है उसका प्रत्यक्ष देख कर भी मैं श्रद्धान नहीं करता हूं। संभवतः द्विचन्द्रदर्शन के समान वह प्रत्यक्ष भ्रान्त हो गया हो "प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः, करिणि दृष्टेऽपि तं चीत्कारेणानुमिन्वतेऽनुमातारः" प्रत्यक्ष से भले प्रकार निर्णय किये जा चुके भी अर्थ को अनुमान प्रमाण करके जानने की अभिलाषा रखना तर्क रसिक प्रमाणसंप्लव वादियों की टेव है। अच्छा तो अब ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार युक्ति पूर्ण अनुमानप्रमाण को प्रस्तुत करते हैं।

कंदर्पाद्यास्तृतीयस्य शीलस्येहोपसूत्रिताः ।
तेषामनर्थदण्डेभ्यो विरतेर्बाधकत्वतः ॥१॥

उपसंहार कर इस सूत्र में सूचित कर दिये कंदर्प आदिक पांच (पक्ष) तीसरे अनर्थदण्डत्याग शील के अतीचार है (साध्यदल) क्योंकि उन कंदर्प आदि को अनर्थदण्डों से विरति हो जाने का बाधकपना है । (हेतु) यों अनुमान द्वारा व्रत को एकदेश रूप से दूषित करने वाले परिणामों को अतीचारपना व्यवस्थित कर दिया है ।

अथ चतुर्थस्य शीलस्य केऽतिक्रमा इत्याह;—

अब चौथे सामायिक शील के पांच अतीचार कौन से हैं ? ऐसी विनीत शिष्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी भगवान इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं ।

योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

काय, वचन, और मन का अवलम्ब लेकर जो आत्म प्रदेश परिस्पन्द होता है वह योग है । योग की दुष्टप्रवृत्तियाँ करना अथवा सामायिक के अवसर पर योगों को दूसरे अनुपयोगी प्रकारों से एकाग्र करते रहना योगदुःप्रणिधान है । उन में शरीर के अवयव हाथ, पांव, सिर, आदि को निश्चल नहीं धारे रहना या शान्तिपरिणतियों के उपयोगी हो रहे नासाग्रनयन और खड़ी अवस्था में पाँवों की दोनों एड़ियों को मिलाकर दोनों अंगूठों मे चार अंगुल का अन्तर रखना, तथा पाठ पढते हुये सिर हिलाना आदि ध्यानानुकूल आकृतियों का स्थिर नहीं रख सकना कायदुःप्रणिधान है । बीच-बीच में गाने लग जाना, संस्कार रहित होकर अर्थ को नहीं समझाने वाले वर्ण या पद का प्रयोग कर देना, अतिशीघ्र, अतिविलम्ब, अशुद्ध, धृष्ट, स्खलित, अव्यक्त, पीडित, दीन, चपल, नासिकास्वरमिलित, शब्दों का प्रयोग करना वचनदुःप्रणिधान है । पुरुषार्थपूर्वक किये जाने योग्य विशुद्ध मानसिक विचारों के करने में उदासीनता धार कर क्रोधादि के अनुसार या अन्य सावद्य कार्यों में व्यासंग हो जाने से मन की अन्यप्रकारों करके प्रवृत्ति करना मनोदुःप्रणिधान है । सामायिक करने मे उत्साह नहीं रखना प्रातः मध्याह्न, सायंकाल, नियत समयों में सामायिक नहीं करना अथवा जैसे-तैसे उद्वेगचित्त से सामायिक पूरा करना, अनादर है । करने के अनन्तर ही झट भोजन, व्यापार, क्रीडन, आदि मे सोत्साह लग जाना, भी सामायिक का अनादर समझा जाता है । सामायिक करने मे चित्त की एकाग्रता नहीं रखना स्मृत्यनुपस्थान है अथवा सामायिक मुझ को कर्तव्य है अथवा नहीं करूं, सामायिक मैंने किया अथवा नहीं किया, यों प्रबल प्रमादसे स्मरण नहीं रखना भी पांचवां अतीचार है । मंत्र या पदों का भूल जाना लोक का चिन्तन करते हुये उसकी ऊंचाई चौड़ाई आदि का भूल जाना भी अस्मरण कहा जा सकता है । मनोदुःप्रणिधान और स्मृत्यनुपस्थान में यही अन्तर है कि क्रोध आदि का आवेश हो जाने से सामायिक में देर तक चित्त को स्थिर नही रखना स्मृत्यनुपस्थान है और मानसिक चिन्ताओं का परिस्पन्द होने से एकाग्रता करके मन का अवधान नहीं करना मनोदुःप्रणिधान है यों ये पांच सामायिक शील के अतीचार हैं ।

योगशब्दो व्याख्यातार्थः, दुष्प्रणिधानमन्यथा वा दुःप्रणिधानं, अनादरोऽनुत्साहः अनैकाग्र्यं स्मृत्यनुपस्थानं । मनोदुःप्रणिधानं तदिति चेन्न, तद्व्रतादन्याचिंतनात् । कुतश्चतुर्थस्य शीलस्यातिक्रमा इत्याह—

योग शब्द के अर्थ का व्याख्यान पहिले छठे अध्याय की आदि में "कायवाङ्मनःकर्म योगः"

इस सूत्र को बखानते हुये हो चुका है। दुःप्रणिधान शब्द में दुर् उपसर्ग का अर्थ दुष्टता अथवा अन्य सावद्य प्रकारों से परणतियां करना है। दुष्टक्रियाओं का प्रणिधान अथवा अन्य पापव्यापारों में चित्त को लगाना दुःप्रणिधान है। इतिकर्तव्य यानी अवश्य यों यह शुभ कर्म करना है इस शुभ प्रयत्न के प्रति पूर्णरूप से उत्साह नहीं करना अथवा ज्यों त्यों टाल कर अनुत्साह रखना अनादर है। एकाग्रपने से चित्त का समाधान नहीं रख सकना स्मृत्यनुपस्थान है। यदि यहां कोई यों शंका करे कि वह स्मृत्यनुपस्थान तो मनोदुःप्रणिधान ही ठहरा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि उस प्रकरणप्राप्त सामायिक व्रत से अन्य का चिन्तन कर देने से तो मनोदुष्प्रणिधान है। और भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है। यहां कोई तर्क उठाता है कि चौथे सामायिक शील के ये सूत्रोक्त अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हुये समझ लिये जांय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अगली वार्तिक में समाधान वचन कहते हैं।

योगदुःप्रणिधानाद्याश्चतुर्थस्य व्यतिक्रमाः।
शीलस्य तद्विघातित्वात्तेषां तन्मलतास्थितेः ॥१॥

योगदुःप्रणिधान आदि पांच (पक्ष) चौथे सामायिक शील के व्यतिक्रम हैं (साध्य) क्योंकि एकदेश करके उस सामायिक के विघातक होने से उन पांचों को उस सामायिक व्रत का मलपना व्यवस्थित है (हेतु) इस अनुमान से उक्त सूत्र के विषय को पुष्टि दी गई है। अर्थात् सामायिक का एकदेश भंग होते हुये भी इनसे सामायिक व्रत का अभाव नहीं हो सका है। अतः व्रत के विशोधक या सर्वाङ्ग घातक भी नहीं होसकने से ये पांच सामायिक व्रत के मलमात्र हैं पोषक या विनाशक नहीं है।

पंचमस्य शीलस्य केऽतीचारा इत्याह—

पांचवें प्रोषधोपवास शील के अतीचार कौन कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥

अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितोत्सर्ग १ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान २ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण ३ अनादर ४ स्मृत्यनुपस्थान ५ ये पांच प्रोषधोपवास शील के अतीचार हैं। अर्थात् यहां प्राणी विद्यमान हैं ? या नहीं इस प्रकार विचार पूर्वक अपनी चक्षु से दया के पालने का उद्देश्य कर जो पुनः पुनः निरीक्षण करना है वह प्रत्यवेक्षण है। कोमल वस्त्र मयूरपिच्छ आदि करके जीवों को हटाकर प्रतिलेखन करना प्रमार्जन है। प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन नहीं कर चुकने पर प्रमादयोग से झट भूमि में मूत्र आदि छोड़ देना यानी मूतना, हंगना, नाक छिनक देना, आदि सावद्य व्यापार करना पहिला अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग नाम का अतीचार है। देखे बिना और आधार शुद्धि किये बिना ही जिन पूजा, आचार्य-पूजा के उपकरण हो रहे जल, चंदन, आदि पदार्थ अथवा अपने पहिनने, ओढने, वस्त्र, पात्र, मूढा, आदि को झट खींचकर ग्रहण कर लेना, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है। बिना देखे और बिना शुद्ध किये हुये ही डुपट्टा, बिछौना, आदि का उपयोग करने के लिये स्वीकार कर लेना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण है। दूर की ओर देखते रहना अथवा निकृष्ट प्रतिलेखन से मार्जन करना भी अतीचार इन्हीं में गर्भित हो जाता है। नञ् का अर्थ खोटा भी है जैसे कि कुत्सित विद्यार्थी को अविद्यार्थी कह दिया जाता

है। भूख प्यास आदि से कुछ आकुलता उपजने पर ये तीन अतीचार संभव जाते हैं। भूख, प्यास, लगने के कारण अपने जिन पूजा आदि आवश्यक कर्मों में उत्साह नहीं रखना अनादर है। एकाग्रता नहीं रखना स्मृत्यनुपस्थान है।

प्रत्यवेक्षणं चक्षुषो व्यापारः, प्रमार्जनमुपकरणोपकार; तस्य प्रतिषेधविशिष्टस्योत्सर्गादिभिः संबंधस्तेनाप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितदेशे क्वचिदुत्सर्गस्तादृशस्य कस्यचिदुपकरणस्यादान तादृशे च क्वचिच्छयनीयस्थाने संस्तरोपक्रमणमिति त्रीण्यभिहितानि भवंति, तथावश्यकेष्वनादरः स्मृत्यनुपस्थानं च क्षुदर्दितत्वात् प्रोषधोपवासानुष्ठायिनः स्यादिति तस्यैते पंचातीचाराः कुत इत्याह—

दयार्द्र पुरुष का, जन्तु है, अथवा नहीं है, इस प्रकार विचार पूर्वक देखना नेत्र इन्द्रिय का व्यापार है। कोमल उपकरण करके जो उपकार यानी प्रतिलेखन किया जाता है वह प्रमार्जन है। प्रतिषेध से विशिष्ट हो रहे उन प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन दोनों का उत्सर्ग आदि तीनों के साथ प्रत्येक में संबन्ध कर लिया जाय तिस कारण सूत्र द्वारा यों तीन अतीचार कह दिये गये हो जाते है कि नहीं देखे जा चुके और नहीं शुद्ध किये जा चुके क्वचित् देश में मल, मूत्र, पुस्तक, पात्र आदि का पटक देना और किसी भी उपकरण का तिस प्रकार के अदृष्ट और अमृष्ट स्थान में ग्रहण कर लेना तथा कहीं सोने, बैठने, योग्य स्थान में बिछौना, ओढना आदि का झाड़े, पोंछे बिना उपक्रम कर देना यों तीन अतीचारों का द्योतक वाक्य बना कर कह दिया गया है। तथा स्वाध्याय, सयम, आदि आवश्यक कर्मों में आदर नहीं रखना अनादर है। प्रोषधोपवास शील का अनुष्ठान करने वाले जीव के भूख प्यास से पीड़ित होने के कारण स्मृतियों की स्थिति नहीं कर पाना हो सकता है। यों उस प्रोषधोपवास शील के पांच अतीचार संपूर्ण कह दिये गये है। यहाँ कोई पूंछता है कि उस प्रोषधोपवास के ये पांच अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हुये समझे जांय ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार युक्तिप्रदर्शक अग्रिम वार्त्तिक को कह रहे हैं।

अप्रत्यवेक्षितेत्याद्यास्तत्रोक्ताः पंचमस्य ते ।
शीलस्यातिक्रमाः पंच तद्विघातस्य हेतवः ॥१॥

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, आदिक पांच अतीचार जो उस सूत्र मे कहे गये है वे (पक्ष) पांचवें प्रोषधोपवास शील के अतिक्रम है (साध्य) क्योंकि वे उस प्रोषधोपवास व्रत का एक देश विघात करने का कारण हो रहे हैं (हेतु)। इस अनुमान से उक्त सूत्र का प्रतिपाद्य विषय पुष्ट हो जाता है।

यत इति शेषः।

कारिका में "यतः" पद शेष रह गया है। अर्थात् उक्त कारिका में हेतुदल प्रथमान्त पड़ा हुआ है अतः अनुमान प्रयोग बनाने के लिये "यतः" यानी जिस कारण से कि यह पद शेष रह गया समझ लिया जाय। भावार्थ "गुरवो राजमाषा न भक्षणीयाः" इस वाक्य का "राजमाषा न भक्षणीयाः गुरुत्वात्" राजमाष नहीं खाने चाहिये क्योंकि वे पचने में भारी होते हैं। यो प्रथमान्तपद को भी हेतु बना लिया जाता है। इसी प्रकार यहां भी "तद्विघातस्य हेतवः" इस प्रथमा विभक्ति वाले पद को चाहे "तद्विघातस्य हेतुत्वात्" यों हेतु में पंचमी विभक्तिवाला बना लिया जा सकता है अथवा इस हेतुदल को प्रथमान्त ही रहने दो इस के साथ यतः पद को जोड़ दो जोकि वार्त्तिक में नहीं कहा जा सका था अर्थ यों हुआ कि "यतः तद्विघातस्य हेतवस्ते सन्ति, अतः अप्रत्यवेक्षितादयः पंचमस्य शीलस्य अतिक्रमा भवन्ति" जिस कारण कि उस पांचवें शील के विघात के कारण वे हैं इस कारण अप्रत्यवेक्षित आदिक

ये पांचवें शील के अतीचार हैं। इस ग्रन्थ में यह बड़ा सौष्ठव है कि श्री विद्यानन्द स्वामी ने ही वार्त्तिक बनाये हैं और उन्होंने ही विवरण लिखा है अतः स्वोपज्ञ अलंकार स्वरूप विवरण में ही वे वार्त्तिक से कुछ शेष रह गये पद को जोड़ देने की ये प्रेरणा कर रहे हैं जो वे कहें वह हमको शिरसा मान्य है।

षष्ठस्य शीलस्य केऽतीचारा इत्याह;—

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि सूत्रकार महाराज ने पांच व्रत और सात शीलों में पांच-पांच अतीचार कहने की प्रतिज्ञा की थी तदनुसार पांच व्रत और पांच शीलों के अतीचार कहे जा चुके हैं अब संगति अनुसार छठे उपभोगपरिभोगपरिमाण शील के अतीचार कौन से है ? बताओ। ऐसा विनीत शिष्य का जिज्ञासा पूर्वक प्रश्न उतरने पर तत्त्वनिर्णेता सूत्रकार महाराज उत्साहसहित इस अग्रिम सूत्र को स्पष्ट कह रहे हैं।

सचित्तसंबंधसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥३५॥

द्वंद्वसमास के अन्त में पड़े हुये आहार शब्द का पांचों मे अन्वय कर देना चाहिये १ सचित्ताहार २ सचित्तसंबन्धाहार ३ सचित्तसंमिश्राहार ४ अभिषवाहार ५ दुःपक्वाहार ये पांच भोगोपभोगसंख्यान व्रत के अतीचार है अर्थात् "चिती संज्ञाने" धातु से चित्त शब्द बना कर उस चित्त के साथ जो वर्तता है वह सचित्त समझ लिया जाता है। व्रत की एकदेश रक्षा करते हुये किसी जीव का हरितकाय पदार्थ को खा लेना अतीचार है। यद्यपि सचित्त खाने का त्याग कर चुके व्रती का पुनः सचित्त का भक्षण कर लेने पर अनाचार हो जाना चाहिये तथापि अज्ञान या चित्त की अनैकाग्रता से सचित्तभक्षण हो जाने पर भी व्रतरक्षण की अपेक्षा है अतः सचित्ताहार को भी अतीचार में गिना दिया है। तथा सचेतन हो रहे बीज, फलखण्ड, पत्र, अंकुर, आदि करके संसर्ग मात्र किये जा रहे पदार्थ का भक्षण कर लेना सचित्तसंबन्धाहार है। स्वयं अचित्त हो रहा भी आहार दूसरे सचित्तद्रव्य का संघट्टमात्र हो जाने से दूषित हो गया है। एवं सचेतन पदार्थों से संमिलित हो रहे द्रव्य का आहार कर लेना सचित्तसम्मिश्राहार है जिस अचित्तका कि सचित्त द्रव्य के छोटे प्राणियों से पृथग्भाव नहीं किया जा सकता है। छोटे-छोटे वनस्पति कायिक जीवों की अवगाहना घनाङ्गुल के असंख्यातवे या संख्यातवे भाग मात्र है। छू जाने से ही खाद्य पदार्थ में अनेक जीव आ जाते हैं। बात यह है कि सचित्त संबन्ध में अचित्त के साथ सचित्त का केवल संसर्ग हो जाना विवक्षित है और यहां संमिश्र मे अचित्त का सचित्त से अविभागस्वरूप मिल जाना अभिप्रेत है। किसी किसी त्यागी पुरुष के भी भूंख, प्यास, की आकुलता हो जाने पर मोह या प्रमाद से सचित्त आदि द्रव्यों में भक्षण, पान, लेपन आदि की प्रवृत्ति हो जाती है। कुछ देर तक गलाकर जो सौवीर आदिक बना लिये जाते हैं वे द्रव पदार्थ कहे जाते है तथा इन्द्रियों के बल को बढ़ाने वाले उर्द के मोदक, रसायन, वशीकरण पदार्थ, पौष्टिकरस, ये वृष्य हैं। इन में से कोई पदार्थ भले ही अचित्त या शुद्ध भी होंय किन्तु इन्द्रियमदवृद्धि के कारण होने से व्रतियों को इनका त्याग करना चाहिये। अधकचा या अतिपक्व पदार्थ का आहार करना दुःपक्वाहार है उर्द की दाल या भात आदि को भीतर अधपका रहने देने पर अथवा अधिक गलाकर, जलाकर, खाने से और मोटे चावल, गेहूं की मोटी, गरिष्ठ रोटी, बाटी, भापला, एवं प्रकृति से भारी हो रहे कतिपय फल आदि का सेवन करने से शरीर में अनेक रोग या आलस्य उपजते हैं साथ ही आत्मसंक्लेश हो जाने के कारण धार्मिक क्रियाओं में क्षति पहुंचती है। इस प्रकार उपभोगपरिभोग संख्याव्रत के ये पांच अतीचार है।

सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तं, तदुपश्लिष्टः संबन्धः, तद्व्यतिकीर्णस्तन्मिश्रः। पूर्वेणावि-

शिष्ट इति चेन्न, तत्र संसर्गमात्रत्वात् । प्रमादसंमोहाभ्यां सचित्तादिषु वृत्तिर्देशविरतस्योपभोगपरिभोगविषयेषु परिमितेष्वपीत्यर्थः । द्रवो वृष्यं चाभिषवः, असम्यक् पक्वो दुःपक्वः । त एतेऽतिक्रमाः पंच कथमित्याह—

चित्त का अर्थ ज्ञान है । ज्ञान के साथ वर्तता है इस कारण जीवित हो रहा चेतना वाला पदार्थ सचित्त है १ उस सचित्त द्रव्य के साथ पृथक् कर्तुं योग्य संसर्ग को प्राप्त हो रहा पदार्थ सचित्त संबद्ध है २ तथा उस सचित्त द्रव्य करके एकरस हो कर मिश्रित हो रहा आहार्य पदार्थ सचित्तसंमिश्र है ३ । यहाँ कोई शंका करता है कि यह सचित्तसंमिश्र तो पूर्ववर्ती सचित्त संबन्ध से कोई विशेषता नहीं रखता है संसर्ग हुये और मिल गये में कोई अन्तर नहीं है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि उस सचित्त संबन्ध मे केवल स्पर्श कर लेना मात्र संसर्ग है और संमिश्र मे दोनो का एकरस होकर मिल जाना है । सिद्ध भगवान् का पुद्गल वर्गणाओं के साथ मात्र संसर्ग है बंध या संमिश्रण नहीं है । बोतल मे मद्य या विष का केवल उपश्लेष है हां पेट में खा पी लेने पर उनका शरीरावयवों के साथ संमिश्रण हो जाता है । प्रमाददोष और लोलुपता पूर्ण बढ़े हुये मोह कर के देश विरति वाले श्रावक की उपभोग और परिभोग के विषयों का परिमाण कर चुकने पर भी सचित्त आदि पदार्थों मे प्रवृत्ति हो जाती है यह इसका तात्पर्य अर्थ निकलता है । विशेष यह कहना है कि अप्रतिष्ठित प्रत्येक माने गये आम्रवृक्ष के फल या पत्ता को कोई कोई मन्दबुद्धि पुरुष अचित्त कहते हैं क्योंकि वृक्ष का एक जीव वहां वृक्ष में ही रहा आया, टूटा हुआ फल या पत्ता तो उसके आत्मप्रदेश निकल जाने पर अचित्त ही हो गया । इस पर यह समझना चाहिये कि शुष्क, पक्व, तप्त हो जाने पर या आम्ल, तीक्ष्णरसवाले पदार्थ के साथ संमिश्रण हो जाने की दशा मे अथवा शिल, चाकी आदि यन्त्रों करके चकनाचूर कर देने पर अचित्त हो जाने की व्यवस्था आगमोक्त है । अप्रतिष्ठित प्रत्येक होने पर भी आम, अमरूद, केला, आदि के फल, पत्त, शाखा, आदि अवयवों मे अन्य भी छोटे छोटे वनस्पति कायिक जीव पाये जाते हैं जैसे कि प्रत्येक कर्म का उदय होने पर भी कर्मभूमि के तिर्यञ्च, मनुष्यो, के शरीर मे अनेक त्रसजीव आश्रित हो रहे हैं । श्री गोम्मटसार का परामर्श करने पर वनस्पति कायिक जीवों की छोटी छोटी अवगाहनाओं का निर्णय हो जाता है । एकेन्द्रिय जीवों में पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय के जीवों में ही बादर निगोद का आश्रितपना टाला गया है वनस्पतिकाय मे बादर निगोद पाया जाता है । अतः संघट्ट करने पर भी शिल या चाकी के छेदों में घुस गये वनस्पति के उर्द, मूंग, बराबर के टुकड़े भी जब सचित्त सम्भव सकते हैं तो गीले फल, पत्ते, आदिक अवश्य ही सचित्त होने चाहिये । अतः व्रती उन त्यागे हुये सचित्त पदार्थों के आर्द्र फल पत्ते आदि का भक्षण नहीं कर सकता है । द्रव पदार्थ और वृषीकरण, बाजीकरण के उपयोगी वृष्यपदार्थ अभिषव हैं । समीचीन रूप यानी अन्यूनानतिरिक्त रूप से नहीं पका हुआ पदार्थ दुःपक्व है । यहां कोई पूंछता है कि वे प्रसिद्ध हो रहे सचित्त आहार आदि ये पांच अतीचार भला किस प्रकार सिद्ध हुये समझ लिये जांय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कह रहे है ।

तथा सचित्तसंबंधाहाराद्याः पंच सूत्रिताः ।
तेऽत्र षष्ठस्य शीलस्य तद्विराधनहेतवः ॥१॥

तथा सचित्तसंबंधाहार आदिक पांच जो यहां सूत्र द्वारा कहे जा चुके हैं वे (पक्ष) छठे शील

माने गये भोगपरिभोगसंख्यान के अतीचार हैं (साध्य) क्योंकि उस छठे शील की विराधना करने के कारण हो रहे हैं (हेतु) तिसी प्रकार अर्थात् जैसे अहिंसादि व्रतों का एक देश रक्षण और एक देश भंग कर देने वाले दोष उन व्रतो के अतीचार हैं उसी प्रकार व्रत का एक अंशरूप से भंग कर देने वाले सचित्त संबन्धाहार आदिक पांच इस छठे शील के अतीचार हैं (दृष्टान्त) ।

सप्तमस्य शीलस्य केऽतिक्रमा इत्याह—

अब सातमे अतिथि संविभाग शील के अतीचार कौन हैं ? ऐसी तीव्रनिर्णिनीषा प्रवर्तने पर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं ।

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥३६॥

सचित्तनिक्षेप १ सचित्तापिधान २ परव्यपदेश ३ मात्सर्य ४ और कालातिक्रम ५ ये पांच अतिथि-संविभाग शील के अतीचार हैं । अर्थात् सचित्त यानी सजीव हो रहे कमलपत्र, पलाशपत्र, कदलीपत्र आदि में खाद्य, पेय पदार्थ को धर देना अथवा गीली पृथिवी की बनी हुई चूलि पर भोज्य, पेय पदार्थों को रांधना, सचित्त जल से आर्द्र हो रहे बर्तनो में खाद्यपदार्थ रख देना आदि सचित्तनिक्षेप है । कोई तुच्छबुद्धि पुरुष विचारता है कि सचित्त पर धरे हुये पदार्थ को संयमीजन ग्रहण नहीं करते हैं यों दान नहीं देना पड़े इस अभिप्राय से वह देय पदार्थ को सचित्त पर धर देता है जैसे कि आजकल भी कतिपय धनपतियों के वैज्ञानिक रसोइया परोसने मे कृपणता करते हैं । सचित्त पदार्थ करके ढक देना तो सचित्तापिधान है । संयमी ग्रहण नहीं करेंगे तो भी मुझे लाभ है ऐसा मान रहा यह तुच्छ पुरुष भोज्य पदार्थ को सचित्त से ढक देता है अथवा उस भोज्य पदार्थ को त्वरा वश मैने सचित्त से ढक दिया है संयमी तो इस बात को जानते नहीं हैं यों विचार कर उस सचित्तपिहित वस्तु का संयमी के लिये दान कर देना भी सचित्तापिधान हो सकता है । दूसरे दाता के देय द्रव्य का अर्पण कर देना अर्थात् दूसरे के पदार्थ को लेकर स्वयं दे देना अथवा मुझे कुछ कार्य है तू दान कर देना यह परव्यपदेश है । अथवा यहां दूसरे दाता विद्यमान है मै यहां दाता नहीं हूं यह कह देना भी परव्यपदेश हो सकता है । धनलाभ या किसी प्रयोजन सिद्धि की अपेक्षा से द्रव्यादिक के उपार्जन को नही त्यागता सन्ता योग्य हो रहा भी दूसरे के हाथ से दान दिलाता है इस कारण यह परव्यपदेश महान् अतीचार है जो कार्य स्वयं किया जा सकता है किसी रोग, सूतक, पातक आदि का प्रतिबंध नहीं होते हुये भी उस को दूसरों से कराते फिरना अनुचित है । दान को देता हुआ भी आदर नहीं करता है अथवा अन्य दाताओं के गुणों को नही सह सकता है वह उसका मात्सर्य दोष है । संयमियों के अयोग्यकाल में दान करने का अभिप्राय रखना कालातिक्रम है, ये पांच अतीचार अतिथि संविभाग शील के हैं ।

सचित्ते निक्षेपः, प्रकरणात् सचित्तेनापिधानं, अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः, प्रयच्छतोप्यादराभावो मात्सर्यं, अकाले भोजनं कालातिक्रमः ॥ कुत एतेऽतिचारा इत्याह;—

मुनिदान योग्य अचित्तपदार्थों का सचित्तपदार्थ पर धर देना सचित्तनिक्षेप है "सचित्ते निक्षेपः" यों विग्रह कर लिया जाय । प्रकरण के वश से सचित्त करके अपिधान यों विग्रह कर "सचित्तापिधान" शब्द बना लिया जाय "अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः" इस परिभाषा अनुसार सप्तमी विभक्ति वाले सचित्त शब्द का अपिधान पद के साथ अन्वय करने पर प्रकरणवश तृतीयान्त सचित्तेन पद के साथ विग्रह करना चाहिए, अन्यथा पहिले अधिकरणपने से कहे गये सचित्त का तृतीयान्त पद रूप से अनुवृत्ति

करना कठिन पड़ जाता है। अन्य दाता हैं ही मैं क्यों दान देने की चिन्ता करूं अथवा यह देने योग्य पदार्थ किसी दूसरे का है ऐसा अभिप्राय कर अर्पण कर देना परव्यपदेश है। बड़े समारोह से दान कर रहे सन्ते भी अन्तरंग में पात्र का आदर नहीं करना या देने में हर्ष नहीं मनाना मात्सर्य है। अकाल में भोजन करना कालातिक्रम है। यों ये दान के अतीचार हुये। यहाँ कोई पूंछता है कि ये अतीचार भला किस प्रमाण से सिद्ध किये जा सकते हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को कह रहे हैं।

स्मृताः सचित्तनिक्षेपप्रमुखास्ते व्यतिक्रमाः।
सप्तमस्येह शीलस्य तद्विघातविधायिनः ॥१॥

वे सचित्तनिक्षेप आदिक यहाँ कहे गये पाँच अतीचार (पक्ष) सातवें अतिथिसंविभाग शीलके माने गये हैं सर्वज्ञोक्त विषय का गुरुपरिपाटी अनुसार अबतक यों ही स्मरण होता चला आ रहा है (साध्य) क्योंकि ये दोष उस अतिथि संविभाग का एकदेश से विघात करने वाले हैं (हेतु)। इस अनुमान प्रमाण से सूत्रोक्त आगमगम्य विषय की पुष्टि हो जाती है।

अथ सल्लेखनायाः केऽतिचारा इत्याह;

अतीचारों का प्रकरण होने पर लगे हाथ अब सल्लेखना के अतीचार कौन से हैं ? ऐसी विनीत शिष्य की बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानानि ॥३७॥

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबंध, और निदान, ये पाँच सल्लेखना के अतीचार हैं। अर्थात् यह प्रकृत शरीर में आत्मा का निवास करना स्वरूप जीवित नियम से अध्रुव है। यह बबूले के समान अनित्य शरीर अवश्य हेय है ऐसा जानकर भी मेरा जीवन बना रहे ऐसी लोलुपतापूर्ण सादर आकांक्षा करना जीविताशंसा है। रोग, टोटा, उपद्रव, अपमान आदि से आकुलित होकर मरण में संक्लेश पूर्वक अभिप्राय रखना मरणाशंसा है। बाल्य अवस्था में साथ खेले अथवा संपत्ति और विपत्ति में युगपत् साथ रहे मित्रों के साथ हुई क्रीड़ा आदि का स्मरण करना मित्रानुराग है। मैंने पहिले सुन्दर भोजन, पान, का बड़ा अच्छा भोग किया था, मनोहर, गुलगुदी, सजी हुई शय्याओं पर शयन किया था, अनेक इन्द्रियों के भोग भोगे थे, यों रागवर्धक सुखों का पुनः पुनः स्मरण करना सुखानुबंध कहा जाता है। भविष्य में भोगों की आकांक्षा के वश होकर वैषयिक सुखों की उत्कट प्राप्ति के लिये मनोवृत्ति करना निदान है यों पांच अतीचार सल्लेखना के हैं।

आकांक्षणमाशंसा, अवश्यहेयत्वे शरीरस्यावस्थानादरो जीविताशंसा, जीवितसंक्लेशान्मरणं प्रति चित्तानुरोधो मरणाशंसा, पूर्वसुहृत्सहपांशुक्रीडनाद्यनुस्मरणं मित्रानुरागः, पूर्वानुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबंधः, भोगाकांक्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानं। त एते संन्यासस्यातिक्रमाः कथमित्याह—

आकांक्षा यानी अभिलाषा करना आशंसा है, यह बिजली के समान क्षणिक शरीर अवश्य ही त्यागने योग्य है ऐसा जानते हुये भी शरीर की अवस्थिति बने रहने में आदर करना जीविताशंसा है।

रोगों के उपद्रव से आकुलित होने के कारण जीवित में महान् संक्लेश हो जाने से मरने के लिये एकाग्र हो कर मानसिक विचार करना मरणाशंसा है। पूर्व अवस्थाओं मे किये गये मित्रों के साथ धूलि कीड़ा, उद्यान भोजन, नाटक प्रदर्शन, सहभोजन, सहविहार आदि का पुनः स्मरण करना मित्रानुराग है। पहिले अनुभवे गये प्रीतिविशेषो की स्मृतियो की बारबार अभ्यावृत्ति करना सुखानुबंध है। विद्याधर, चक्रवर्ती, देव, इन्द्र, अहमिन्द्र आदि के भोगों की आकांक्षा करके नियत हो रहा चित्त उस निदान में दिया जाता है अथवा उस भोगाभिप्राय करके चित्त की टकटकी लगी रहती है इस कारण वह निदान कहा जाता है। करण या अधिकरण में युट्प्रत्यय कर दिया गया है "करणाधिकरणयोश्च युट्"। ये पांच सिद्ध हो रहे संन्यास के अतीचार है। कोई समाधिमरण करने वाला यदि अभक्ष्य औषधियों का भक्षण, प्रत्याख्यात पदार्थों का निरर्गल सेवन, आकुलित होकर पुकारना, तीव्ररौद्रध्यान, इत्यादि परिणतियां करे तो अनाचार है। केवल अज्ञान या प्रमादवश होकर मन्दरूप से यह जीवित की आशा आदि करता है अतः ये पांच कुछ संक्लेश सम्पादन के हेतु होने से अतीचार माने गये है। यहां कोई पूंछता है कि किस प्रकार सिद्ध हुये ये पांच अतीचार मान लिये जाँय ? बताओ। ऐसा तर्क प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा समाधान वचन कहते हैं।

विज्ञेया जीविताशंसाप्रमुखाः पंच तत्त्वतः।
प्रोक्तसल्लेखनायास्ते विशुद्धिक्षतिहेतवः ॥१॥

लक्षण कर भले प्रकर कह दी गई सल्लेखना के जीविताकांक्षा प्रभृति पांच वास्तविक रूप से अतीचार समझने चाहिये (प्रतिज्ञा) कारण कि वे समाधिमरण के उपयोगी हो रही उत्कृष्ट आत्म विशुद्धि की क्षति के कारण है (हेतु) ये जीविताशंसा आदिक दोष न तो समाधिपूर्वक मरण का ममूलचूल घात करते हैं और न उस समाधिमरण में कुछ विशुद्धि उत्पन्न करते है अतः समाधिमरण का एक देश घात और एक देश संरक्षण करने वाले होने से इन का अतीचार मान लिया है।

तदेवं शीलव्रतेष्वनतिचारस्तीर्थकरत्वस्य परमशुभनाम्नः कर्मणो हेतुरित्येतस्य पुण्यास्रवस्य प्रपञ्चतो निश्चयार्थं व्रतशीलसम्यक्त्वभावनातदतिचारप्रपंचं व्याख्याय संप्रति शक्तितस्त्यागतपसी इत्यत्र प्रोक्तस्य व्याख्यानार्थमुपक्रम्यते;—

तिस कारण इस प्रकार यहां तक "शीलव्रतेष्वनतीचारः" यानी सात शील और पांच व्रतों के अतीचार नहीं लगने देना यह परमशुभ नाम कर्म हो रहे तीर्थकरत्व का तृतीय आस्रव हेतु है। यों इस पुण्यास्रव का विस्तार से निश्चय करने के लिये इस सातवें अध्याय में पांच व्रत, सात शील, सम्यक्त्व, सल्लेखना, पच्चीस भावनायें, और उन चौदहों के अतीचारों के प्रपंच का व्याख्यान किया जा चुका है। अब वर्तमान में उन्हीं षोडश कारण भावनाओं में जो शक्ति से त्याग और तपश्चरण करना सूत्रित किया है "शक्तितस्त्यागतपसी" इस प्रकार यहाँ भले प्रकार कहे जा चुके त्याग यानी दान का व्याख्यान करने के लिये सूत्रकार महाराज उपक्रम यानी जानकर प्रारंभ करते हैं। भावार्थ—तीर्थकर नामकर्म के आस्रवों को कहते हुये सूत्रकार ने शील व्रतों में अतीचार नहीं लगने देना कहा था। तदनुसार व्रतों का लक्षण उन व्रतों की पोषक सामान्य विशेष भावनाये व्रतों के प्रतियोगियों के लक्षण व्रतधारियों के भेद तथा सात शील और सल्लेखना एवं व्रत और शीलों की नींव हो रहे सम्यक्त्व के अतीचार तथैव व्रत शीलों के अतीचार एवं व्रत प्रासाद के कलशस्वरूप सल्लेखना के अतीचारों का स्वयं सूत्रकार ने निरूपण कर दिया है। अब सोलह कारण भावनाओं में जो शक्ति अनुसार त्याग (दान) कहा गया था तथा

सात शीलों में भी अतिथिसंविभाग शब्द करके दान कहा गया है उस दान का व्याख्यान करने के लिये प्रक्रम का आरम्भ करते हैं।

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥

स्व यानी अपना अनुग्रह और पर अर्थात् दूसरों का अनुग्रह करने के लिये धन का त्याग करना दान है। भावार्थ–दाता का अपना अनुग्रह तो आत्मीय आनन्द के साथ पुण्यसंचय करना है और पात्र के सम्यग्ज्ञान, चारित्र, आरोग्य, शरीर शक्ति, आदि की वृद्धि करना है। यों दोनों प्रयोजनों का लक्ष्य रख जो सर्वांश ममत्व को छोड़ते हुये अपने धन का परित्याग कर देना है वह दान है।

स्वपरोपकारोऽनुग्रहः, स्वशब्दो धनपर्यायवचनः । किमर्थोऽयं निर्देश इत्याह--

यहाँ सूत्र में कहे गये अनुग्रह शब्द का अर्थ अपना और पर का उपकार करना है। दान देने से अपने को स्वकर्तव्यपालन, पुण्यसंचय और दानान्तराय के क्षयोपशम अनुसार हुए आध्यात्मिक आनन्द विशेष की प्राप्ति होती है तथा पात्र को आहार, औषधि, आदि देने से उनके ज्ञान, चारित्र, शरीर की पुष्टि होकर इन से ज्ञानाभ्यास करना, उपवास करना, तीर्थ यात्रा करना, भावपूर्ण धर्मोपदेश करना, कायक्लेश कर सकना आदि सत्कर्म प्रवर्तते हैं, औषधि, वसतिका, पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छिका, दे देने पर अथवा गृहस्थ पात्र को अन्य पदार्थों का भी स्व हस्त से दान करने पर धार्मिक कृत्यों की वृद्धि होती है। स्व शब्द के आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति और धन ये चार अर्थ हैं किन्तु सूत्र में कहे गये स्व शब्द का पर्याय वाची शब्द केवल स्वकीय धन ही लिया जाय, दान के प्रकरण में आत्मा या आत्मीय बन्धुजन अथवा अपने जातीय वर्ग के देने का तात्पर्य नहीं है। आहार, औषधि, पुस्तक, वसतिका, रुपया, गृह आदि धनों का ही मुनिमहाराज और गृहस्थ के लिये यथा योग्य दान दिया जाता है। पात्रदत्ति और करुणा-दत्ति में पुण्यवृद्धि के अर्थ अनेक धर्मादनपेत पदार्थों का दान किया जाता है। हाँ समदत्ति और अन्वय-दत्ति में पुण्यवृद्धि गौण होकर यशस्यता, स्व कर्तव्य और कुटुम्ब रक्षा धार्मिक लौकिक कार्यों का परि-पालन करना प्रधान फल हो जाता है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि दान के लक्षण का यह कथन यहां किस लिये किया गया है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा उत्तर को कहते हैं।

स्वं धनं स्यात्परित्यागोऽतिसर्गस्तस्य नुः स्फुटः।
तद्दानमिति निर्देशोऽतिप्रसंगनिवृत्तये ॥१॥
अनुग्रहार्थमित्येतद्विशेषणमुदीरितं।
तेन स्वमांसदानादि निषिद्धं परमापकृत् ॥२॥

स्व शब्द का अर्थ धन समझा जाय उस अपने धन का अतिसर्ग यानी स्फुट होकर जो परि-त्याग करना है वह दान है जो कि आत्मा का स्वकर्तव्य है। लक्षण के घटकावयव हो रहे पदों करके इतर व्यावृत्ति कर दी जाती है अतः अपने और पर के अपकार के लिये जो दिया जायेगा वह दान नहीं समझा जायेगा अथवा धन के अतिरिक्त जीवित रहने, शीर्ष आदि का त्याग करना कोई दान नहीं है। सूत्र-कार महाराजने "अनुग्रहार्थं स्वस्य" यों यह विशेषण कहा है उस करके अपने मांस का देना, शिर चढ़ा देना, पशुबलि करना, इत्यादिक दान करना, निषेधे जा चुके समझे जाय, क्योंकि ये अपने और दूसरे के बड़े भारी अपकारों को करने वाले हैं यह धन का दान भी नहीं है।

नहि परकीयवित्तस्यातिसर्जनं दानं स्वस्यातिसर्ग इति वचनात् । स्वकीयं हि धनं स्वमिति प्रसिद्धं धनपर्यायवाचिनः स्वशब्दस्य तथैव प्रसिद्धेः । न चैवं स्वदुःखकारणं परदुःखनिमित्तं वा सर्वमाहारादिकं धनं भवतीति तस्याप्यतिसर्गो दानमिति प्रसज्यते, सामान्यतोऽनुग्रहार्थमिति वचनात् । स्वानुग्रहार्थस्य परानुग्रहार्थस्य च धनस्यातिसर्गो दानमिति व्यवस्थितेः । तेन च विशेषणेन स्वमांसादिदानं स्वापायकारणं परस्यावद्यनिबंधनं च प्रतिक्षिप्तमालक्ष्यते तस्य स्वपरयोः परमापकारहेतुत्वात् ॥

दूसरे के धन को दे देना तो दान नहीं है क्योंकि श्री उमास्वामी महाराज दान के लक्षण में अपने धन का परित्याग करना ऐसा कण्ठोक्त निरूपण किया है जब कि अपना उपात्त किया गया धन ही स्व है ऐसा लोक में प्रसिद्ध हो रहा है । चार अर्थों में से यहां धन के पर्यायवाची हो रहे स्व शब्द की तिस ही प्रकार यानी अपने धन स्वरूप से प्रसिद्धि हो रही है, स्व का भी धन ही होना चाहिये मांस, रक्त, प्राण, आदि नहीं । यों स्व शब्द की सफलता हुई । इस प्रकार कहने पर भी प्रसंग उठाया जा सकता है कि अपने दुःख के कारण हो रहे अथवा दूसरों के दुःख के निमित्त हो रहे सभी आहार, औषधि, आदि कभी धन हो जाते हैं इस कारण उन का भी परित्याग करना दान हो जाओ, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह प्रसंग नहीं उठाया जा सकता है क्योंकि सूत्रकार ने दान के लक्षण में सामान्यरूप से अनुग्रहार्थ ऐसा कथन किया है अतः अपना अनुग्रह करना स्वरूप प्रयोजन को धारने वाले अथवा दूसरों का अनुग्रह होना स्वरूप प्रयोजन को धार रहे धन का संविभाग करना दान है ऐसी सूत्रानुसार व्यवस्था हो रही है । तिस अनुग्रहार्थ विशेषण करके अपने अपाय का कारण हो रहा और पर के पापबंध का कारण हो रहा स्वकीय मांस आदि का दान करना तो निरस्त कर दिया गया समझ लिया जाता है । क्योंकि वह स्वकीय मांस आदि का देना तो अपने और दूसरों के परम अपकार करने का हेतु हो रहा है ।

कुतस्तस्य दानस्य विशेष इत्याह—

सूत्रकार महाराज के प्रति कोई जिज्ञासु प्रश्न उठाता है कि उस दान की या उस दान के फल की किन कारणों से विशेषता हो जाती है ? अथवा दान में कोइ विशेषता ही नहीं है ? ऐसी पृच्छा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं ।

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दाताविशेष और पात्रविशेष इन विशेषताओं से उस दान की विशेषता हो जाती है । दान के फल में भी अन्तर पड़ जाता है । अर्थात् श्रेष्ठ पात्र का प्रतिग्रह करना, ऊँचे आसन पर बैठाना, पाद प्रक्षालन करना, पूजन करना, नमस्कार करना अपने मन की शुद्धि करना, वचन शुद्धि, कायशुद्धि और भोजन, पान शुद्धि इत्यादि पुण्योपार्जन क्रिया विशेषों का ठीक ठीक क्रमविधान करना विधि कही जाती है । उस विधि की आदर अनादर अनुसार विशेषता हो जाती है । देय द्रव्य की विशेषता अनुसार द्रव्यविशेष व्यवस्थित है । जो द्रव्य मद्य, माँस, मधु, के संसर्ग से रहित है, चर्म से छुआ हुआ नहीं है, पात्र के तपः, स्वाध्याय, निराकुलता, शुद्ध परिणतियां आदि की वृद्धि का कारण है वह द्रव्य विशेष विशिष्ट पुण्य का संपादक है अन्य प्रकारों के द्रव्य से वैसा पुण्य प्राप्त नहीं होता है । दाता भी शुद्ध आचरण का होय, पात्र में ईर्ष्या नहीं करे, दान देने में उत्साह रखता हो, शुभपरिणामी होय, दृष्टफलों की अपेक्षा नहीं रखता हो, श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलोलुपता, क्षमा और शक्ति इन सात गुणों को धार रहा हो ऐसा

दाता विशिष्ट पुण्य का भाजन है उक्त गुणों में जितनी कमी होगी वही दाता की त्रुटि है पात्र की विशेषता प्रसिद्ध ही है, मुनिमहाराज उत्तम पात्र है श्रावक मध्यम है और सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। मुनियों में भी तीर्थंकर, गणधर, ऋद्धिधारी, आचार्य, उपाध्याय, आदि भेद हो सकते है। इसी प्रकार श्रावक और सम्यग्दृष्टियों में भी अवान्तर भेद हैं। सम्यग्दर्शन आदि की शुद्धि, अशुद्धि, अपेक्षा पात्रों में विशेषता हो जाती है। यों विधि आदि की विशेषताओं से दान और उसके फल में तारतम्य अनुसार विशेषतायें हो जाती हैं।

प्रतिग्रहादिक्रमो विधिः विशेषो गुणकृतः तस्य प्रत्येकमभिसंबंधः। तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः, अनसूयाऽविषादादिर्दातृविशेषः, मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः। एतदेवाह—

अतिथि का प्रतिग्रह करना, अतिथि को ऊँचे देश में स्थापन करना आदि क्रिया विशेषों का नवधाभक्ति स्वरूप क्रम तो विधि है। गुणों की अपेक्षा की गई परस्पर मे विशिष्टता का हो जाना विशेष है। द्वंद्व समास के अन्त में पड़े हुये विशेष का विधि, द्रव्य, दाता, और पात्र इन चारों में प्रत्येक के साथ पिछली ओर संबंध कर देना, जिससे कि विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष, पात्रविशेष, यों सूत्रोक्त पद समझ लिये जाँय, पात्र के तपश्चरण करना, स्वाध्याय करना इन आवश्यक क्रियाओं की परिवृद्धि का हेतुपना, गमन, धर्मोपदेश मे आलस्य नही करावना आदिक तो द्रव्य की विशेषतायें हैं। पात्र में ईर्ष्या, असूया नही करना, दान देने में विषाद नहीं करना, देते हुये प्रीति रखना, कुशल होने का अभिप्राय रखना, भोगों की आकांक्षा नहीं रखना, इत्यादिक तो दाता की विशेषतायें है। मोक्ष के कारण हो रहे सम्यग्दर्शन आदि गुणों के साथ संयोग विशेष होना तो पात्रों की विशेषता है इस ही मन्तव्य को ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा कह रहे है।

तद्विशेषः प्रपंचेन स्याद्विध्यादिविशेषतः।
दातुः शुद्धिविशेषाय सम्यग्बोधस्य विश्रुतः ॥१॥

विधि, द्रव्य, आदि की विशेषताओं से उस दान का विस्तार करके विशेष हो जाता है जो कि दाता के सम्यग्ज्ञान की विशेष शुद्धि के लिये हो रहा प्रसिद्ध है अर्थात् विधि आदि की विशेषताओं से दाता को दान के फल में बड़ा अन्तर पड़ जाता है। भूमि, जल, वायु, वृष्टि, आदि विशेष कारणों करके जैसे बीज फल की विशेषतायें हो जाती है।

कुतोऽयं विध्यादीनां यथोदितो विशेषः स्यादित्याह;—

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आम्नाय अनुसार चला आया यह विधि आदिकों का सूत्रोक्त विशेष भला किस कारण से हो जाता है? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिक को कह रहे हैं।

विध्यादीनां विशेषः स्यात् स्वकारणविशेषतः।
तत्कारणं पुनर्बाह्यमांतरं चाप्यनेकधा ॥२॥

विधि, द्रव्य आदिकों की विशेषता तो अपने अपने कारणों की विशेषता से हो जायेगी उन विधि आदिकों के कारण तो फिर बहिरंग और अंतरंग अनेक प्रकार के हैं। अर्थात् घट, पट, आदिक

अनेक कार्यों की विशेषतायें अपने अपने अंतरंग, बहिरंग कारणों अनुसार हो रही देखी जाती हैं लोक में भी ऐसी प्रसिद्धि है कि "पाग, भाग, वाणी, प्रकृति, सूरत (मूरत) अर्थ विवेक। अक्षर मिलें न एक से ढूंढो नगर अनेक" भूत, भविष्य, वर्तमान काल के या देशान्तरों के अनेकानेक मनुष्यों की सूरतें, मूरतें, एक सी नहीं मिलती है। एक मनुष्य की भी बाल्य, कुमार, युवा, अर्धवृद्ध और वृद्ध अवस्थाओं की आकृतियों में महान् अन्तर है सूक्ष्मदृष्टि से विचारने पर प्रत्येक वर्ष, मास, दिन, घंटाओं की सूरतें न्यारी जचेंगी। हर्ष, विषाद, क्रोध, क्षमा, भूख, तृप्ति, टोटा, लाभ, रोग, आरोग्य आदि अवस्थाओं में झट न्यारी न्यारी आकृतियां हो जाती है। ये ही दशायें पशु, पक्षी, मक्खियां, चीटे,चीटियां, वृक्ष, आदि में समझ ली जांय। स्थूलदृष्टि से मक्खियाँ एक सी दीखती हैं किन्तु उनमें अंतरंग बहिरंग, कारण वश अनेक अन्तर पड़े हुये हैं। भले ही एक माँचे में ढले हुये, रुपये, पैसे, खिलौनों, में अन्तर नहीं है किन्तु सदृश परिणाम स्वरूप सामान्यवाले मनुष्य, घोड़ा, आदि उक्त दृष्टान्तों से चना, गेहूँ, चावलों प्रभृति में भी व्यक्तिशः अन्तर मानने की इच्छा हो जाती है। इसी प्रकार द्रव्य आदि में बहिरंग, अन्तरंग कारणों अनुसार विशेषतायें हो जाती हैं। पूर्ण आदर उत्साह के साथ प्रतिग्रह आदि के करने में और मन्द उत्साह के साथ विधि करने में अन्तर पड़ जाता है। गरिष्ठ पदार्थ, अति उष्ण, औषधि, रूक्ष भोजन, आदि द्रव्यों की अपेक्षा, लघुपाच्य, अनुष्णाशीत द्रव्यों का दान करने मे अन्तर है, शुद्धहृदय, निष्कपट, दाता मे और ईर्ष्यालु, अनुत्साही, दाता मे महान् अन्तर है। तीर्थंकर, मुनि, ऋद्धिधारी मुनि, सामान्य-द्रव्यलिंगी, उत्तम श्रावक, पाक्षिक श्रावक, आदि पात्रो के अन्तर अनुसार दान फल की विशेषतायें हो जातीं हैं।

विधिद्रव्यदातृपात्राणां हि विशेषः स्वकारणविशेषात्। तच्च कारणं बाह्यमनेकधा द्रव्य-क्षेत्रकालभावभेदात्। आन्तरं चानेकधा श्रद्धाविशेषादिपरिणामः। कः पुनरसौ विध्यादीनां विशेषः प्रख्यातो यतो दानस्य विशेषतः फलविशेषसंपादनः स्यादित्याह—

अपने अपने कारणों की विशेषताओं से विधि, द्रव्य, दाता और पात्रो का विशेष हो रहा नियमित है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इनके भेद से वे बहिरङ्ग कारण अनेक प्रकार के है। उन के अनुसार कार्यों में भेद पड़ जाता है। तथा श्रद्धाविशेष, उत्साहविशेष, क्षयोपशम, विशुद्धि, आदिक परिणाम स्वरूप अंतरंग कारण भी अनेक प्रकार हैं इन अंतरंग कारणों से भी कार्यों में अनेक अन्तर पड़ जाते है। जैसे कि विद्यालय, अध्यापक, भोजन, श्रेणी, पुस्तकों, समय, परिश्रम आदि के समान होने पर भी छात्रों की अन्तरंग कारण वश अनेक प्रकार व्युत्पत्तियां देखी जाती हैं। कारणों की बड़ी अचिन्तनीय शक्ति है। जिस से कि कार्यो में वस्तु भूत अनेक विशेषतायें उपज बैठती हैं। यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि वह विधि आदिकों की विशेषता फिर कौन सी प्रसिद्ध हो रही है ? जिस से कि सूत्रोक्त अनुसार दान की विशेषता से वह विधि आदिकों का विशेष भला फलविशेषों का सम्पादन करनेवाला हो सके ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकों को कह रहे हैं।

पात्रप्रतिग्रहादिभ्यो विधिभ्यस्तावदास्रवः।
दातुः पुण्यस्य संक्लेशरहितेभ्योऽतिशायिनः ॥३॥
किंचित्संक्लेशयुक्तेभ्यो मध्यमस्योपवर्णितः।
बृहत्संक्लेशयुक्तेभ्यः स्वल्पस्येति विभिद्यते ॥४॥

निकृष्टमध्यमोत्कृष्टविशुद्धिभ्यो विपर्ययः ।
तेभ्यः स्यादिति संक्षेपादुक्तं सूरिभिरञ्जसा ॥५॥

पात्रों का प्रतिग्रह करना, ऊंचा स्थान देना, पादप्रक्षालन करना, पूजा रचना आदिक संक्लेश रहित हो रही नवधा विधियों से तो दाता को सातिशय पुण्य का आस्रव होता है तथा बहुभाग विशुद्धि और किंचित्संक्लेश करके युक्त हो रहे प्रतिग्रह आदि विधियो से दानकर्ता जीव को मध्यम श्रेणी के पुण्य का आस्रव होना कहा है एवं अत्यल्पविशुद्धि और बढ़े हुये संक्लेश करके युक्त हो रहे पात्र प्रतिग्रह, आदि विधियों से दाता को स्वल्प पुण्य का आस्रव होता है । इस प्रकार विधियों की विशेपता से यों उक्त प्रकार उत्तम, मध्यम, जघन्य जाति के पुण्यों का आस्रव होना कह दिया गया है । सूत्र में विधियों की विशेपता से जो उस दान का विशेष कहा था उसका अभिप्राय यही है कि यों विशेष रूप से दानजन्य पुण्यास्रव के भेद कर दिये जाते है । निकृष्ट विशुद्धि, मध्यम विशुद्धि और उत्कृष्ट विशुद्धियों से किये गये उन प्रतिग्रह आदि विधिया से दाता को विपर्यय होगा यानी स्वल्प पुण्य का आस्रव, मध्यम पुण्य का आस्रव और उत्कृष्ट अनुभागवाले पुण्यका आस्रव होगा । इस प्रकार आचार्य महाराज सूत्रकार ने संक्षेप से उक्त सूत्र में तात्त्विकरूप करके यो निरूपण कर दिया है । अर्थात् श्री समन्तभद्राचार्य ने "विशुद्धि संक्लेशाङ्गं चेत्स्वपरस्थं सुखासुखं, पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद्वयर्थस्तवार्हतः" यों आप्तमीमांसा में विशुद्धि और संक्लेश के अङ्गों को पुण्य और पाप का आस्रव इष्ट किया है । दशवे गुणस्थान में भी ईपत्संक्लेश पाया जाने से ज्ञानावरण आदि पाप प्रकृतियो का आस्रव होता रहता है और पहिले गुणस्थान में भी स्वल्प विशुद्धि अनुसार कतिपय पुण्य प्रकृतियां आ जाती है । प्रथम गुणस्थान से प्रारम्भ कर तेरहवें गुणस्थान तक के जीव दान कर सकते है, जो जीव सर्वथा संक्लेश रहित है उनके उत्कृष्ट विशुद्धि है हा जो किंचित् संक्लेश युक्त हैं उनके मध्यमविशुद्धि पाई जाती है । बढ़े हुये संक्लेश से परिपूर्ण हो रहे जीवों के निकृष्ट विशुद्धि हो सकती है अथवा थोड़ी भी विशुद्धि पायी जा सकती है । इस प्रकार दान की विधि से हुये विशेप का ग्रन्थकार ने समर्थन कर दिया है ।

गुणवृद्धिकरं द्रव्यं पात्रे पुण्यकृदर्पितं ।
दोषवृद्धिकरं पापकारि मिश्रं तु मिश्रकृत् ॥६॥

द्रव्य की विशेपता यो है कि पात्रों में गुणों की वृद्धि को करने वाला द्रव्य यदि अर्पित किया जायेगा तो वह दाता को पुण्य का आस्रव करने वाला है और शारीरिक दोषों या आत्मीय दोषों की वृद्धि को करने वाला द्रव्य यदि पात्रो के लिये समर्पित किया जावेगा तो दाता को वह द्रव्यपापास्रव का करानेवाला होगा, हाँ कुछ गुणों की और कुछ दोषों की यों मिश्रित हो रही वृद्धि को करने वाला द्रव्य तो दाता को पुण्यपाप में मिश्रण का आस्रावक है । यह द्रव्य की विशेषता से दानफल की विशेषता हुई ।

दाता गुणान्वितः शुद्धः परं पुण्यमवाप्नुयात् ।
दोषान्वितस्त्वशुद्धात्मा परं पापमुपैति सः ॥७॥
गुणदोषान्वितः शुद्धाशुद्धभावो समश्नुते ।
बहुधा मध्यमं पुण्यं पापं चेति विनिश्चयः ॥८॥

दानकर्ता जीव जो श्रद्धा आदि गुणों से अन्वित हो रहा शुद्ध परिणामों वाला है वह दान-क्रिया से उत्कृष्ट पुण्य को प्राप्त कर सकेगा हाँ ईर्षा, द्वेष, आदि दोषों से अन्वित हो रहा अशुद्धात्मा है वह दाता तो बड़े भारी पापास्रव को प्राप्त करता है हां जो गुण और दोष दोनों से अन्वित हो रहा है। वह दाता अशुद्ध परिणतियों के हो जाने पर बहुत प्रकार के मध्यम पुण्य और पापकर्मों के आस्रव को यथायोग्य प्राप्त कर लेता है यों दाता की विशेषता से दान फल की विशेषता का विशेषरूप से निर्णय कर दिया गया है।

दत्तमन्नं सुपात्राय स्वल्पमप्युरुपुण्यकृत् ।
मध्यमाय तु पात्राय पुण्यं मध्यममानयेत् ॥९॥
कनिष्ठाय पुनः स्वल्पमपात्रायाफलं विदुः ।
पापापापं फलं चेति सूरयः संप्रचक्षते ॥१०॥

पात्रों की विशेषता इस प्रकार है कि श्रेष्ठ पात्र के लिये दिया गया अन्न या औषधि, ज्ञान, आदिक थोड़े भी होय परिपाक में विपुल पुण्य का आस्रव कराते हैं हां मध्यम पात्र के लिये दिये गये अन्न आदि तो मध्यम पुण्य को प्राप्त करायेंगे पुनः जघन्य पात्र के लिये दिये गये अन्न आदि तो दाता को स्वल्प पुण्य का आस्रव करायेंगे किन्तु व्रतहीन और दर्शनहीन अपात्र के लिये दिया गया द्रव्य निष्फल ही होता है ऐसा विद्वान् जान रहे हैं अथवा अपात्रदान का फल पाप और अपाप भी हो जाता है अर्थात् हिंसक या व्यसनी जीवों के लिये उनके अनुकूल हो रहे दूषित द्रव्यों के देने से महान् पाप का आस्रव होता है और उन व्यसनी या दुरभिमानी जीवों के लिये योग्य द्रव्य देने वाले को पाप नहीं लगना बस यही फल पर्याप्त है। सम्यग्दर्शन रहित होकर उपरिष्ठात् व्रती बन रहे कुपात्र में दान करने से कुभोगभूमि के सुख मिलना फल कहा है। इस प्रकार आचार्य महाराज उक्त सूत्र में दान का निर्दोष रूप से बढ़िया व्याख्यान कर रहे हैं। भावार्थ—गृहस्थ की कतिपय क्रियायें ऐसी हैं जिनके करने पर पुण्य नहीं लगता है किन्तु नहीं करने पर पाप लग बैठता है जैसे कि बाल-बच्चों, को पालने या शिक्षित करने से माता-पिता को कोई पुण्य नहीं लगता है हाँ उक्त कर्तव्य के नहीं पालने से संक्लेश, अपकीर्ति, कर्तव्यच्युति अनुसार पापबंध अवश्य होगा, तथा गृहस्थ के कतिपय कर्म ऐसे भी हैं जिनके करने पर पाप नहीं लगता है किन्तु नहीं करने पर पुण्य लग बैठता है जैसे कि व्यापार में एक रुपये पर चौअन्नी, दुअन्नी, का मोटा लाभ उठा रहे व्यापारी को कोई पाप नहीं लगता है बेचने वाले और खरीदने वाले की चाहे जो कुछ राजी होय किन्तु सन्तोषी व्यापारी यदि थोड़े लाभ से ही बेचे तो संतोष, परोपकार, मितव्यय, सत्कीर्ति, वात्सल्य, अनुसार हुई आत्मविशुद्धि से उसको पुण्य अवश्य हो जायेगा। यहाँ पुण्यपाप पद से तीव्र अनुभाग शक्ति वाले पुण्यपाप, लिये जाँय यों तो गृहस्थ की चाहे किसी भी क्रिया से पुण्य पाप यथा योग्य लगते ही रहते हैं। पहिले गुणस्थान से लेकर दशवें तक अनेक पुण्यपाप कर्मों का बन्ध होता रहता है। सनातनी पण्डितों के यहाँ भी "नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया" तथा "अकुर्वन्विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते" यों नित्य नैमित्तिक कर्मों करके कोई पुण्य की प्राप्ति नहीं मानी गई है। हाँ संध्यावन्दन आदि कर्मों को नहीं करने वालों को पापबंध अवश्य हो जायेगा, प्रत्यवायाभाव भले ही फल समझ लिया जाय राजा करके नियत करीं गई धाराओं (कानूनों) के पालने से प्रजाको कोई इनाम या सार्टीफिकिट नहीं मिलता है हाँ कानून नहीं पालने वालों को दण्ड अवश्य प्राप्त होता है। यवनों के यहाँ व्याज नहीं खाने वालों को कोई खुदा की ओर से पुण्य नहीं बटता है हाँ व्याज खाने वालों का नरक जाना उन्होंने माना

है। इत्यादि युक्तियों से अपात्र दान का फल पाप और अपाप समझ लिया जाय जैसे कि किसी कुपात्र दान से पुण्य और अपुण्य हो जाते हैं। वेश्याओं के सुख, रईसों के पशु पक्षियों के सुखों की प्राप्ति, पापमिश्रित पुण्य से हो जाती है इसी प्रकार क्वचिद्धार्मिकों को दुःख या सज्जनों को क्लेश की प्राप्ति भी पूर्वजन्मार्जित पुण्यमिश्रित पाप से हो जाती है। यह पुण्यास्रव या पापास्रव का अचिन्तनीय कार्य कारणभाव विशुद्धि संक्लेशाङ्गों पर अवलम्बित है जो कि परिशुद्ध प्रतिभावालों को स्वसंवेद्य भी है। शेष युक्ति, आगम, गम्य है। "पापापायं" ऐसा पाठ होने पर तो आचार्य महाराज दान का फल पाप के अपाय हो जाने को भी बखानते हैं। यों अर्थ कर सकते हैं।

सामग्रीभेदाद्धि दानविशेषः स्यात् कृष्यादिविशेषाद्बीजविशेषवत्।

दान की सामग्री के भेद से दानक्रिया में अवश्य विशेषता हो जायेगी जैसे कि कृषी यानी जोतना अथवा पृथिवी, जल, घाम आदि कारणों की विशेषता से बीज के नाना प्रकार फलविशेष हो जाते है। नागपुर का संतरा, भुसावल का केला, बनारसी आम, काबुली अनार, सहारनपुर का गन्ना, छोटा खीरा आदि पदार्थ उन नियत स्थानों में ही सुस्वादु, कोमल फलित होते है अन्यस्थानों मे बीज बो देने से वैसे फल की प्राप्ति नहीं होती है इसी प्रकार ऋतुओं, मेघ जल, सूर्यातप, द्वारा भी अनेक अन्तर पड़ जाते है। तद्वत् विधि आदि की सामग्री द्वारा हुई दान क्रिया के विशेषों अनुसार दानफल का तारतम्य है।

निरात्मकत्वे सर्वभावानां विध्यादिस्वरूपाभावः क्षणिकत्वाच्च विज्ञानस्य तदभिसंबंधाभावः।

न्यायपूर्वक युक्तिपूर्ण जैन सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे श्री विद्यानन्द स्वामी इस सातवे अध्याय के प्रमेय की स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार ही सिद्धि हो सकने का प्रतिपादन करते है कि हिंसा करना या उसका त्याग करना एवं विशेष सामान्य भावनायें भावते रहना तथा अतीचारों के प्रत्याख्यान का प्रयत्न करना और दान अथवा उसके विधि आदिक अनुसार हुये फलविशेषों की संपत्ति ये सब अनेकान्त का आश्रय कर स्याद्वादसिद्धान्त में ही सुघटित होते है। परिणामी हो रहे नित्यानित्यात्मक जीव के तो अनगार धर्म और उपासकाचार पल जाते हैं किन्तु बौद्ध, नैयायिक, सांख्यों के यहाँ एकान्त पक्ष अनुसार व्रत विधान नहीं आचरा जा सकता है। देखिये नैरात्म्यवादी बौद्धों ने प्रथम तो आत्मद्रव्य को ही स्वीकार नहीं किया है तथा स्वलक्षण या विज्ञान को उन्हों ने स्वभाव, क्रिया, परिणतियों, से रहित स्वीकार किया है। ऐसी दशा में सम्पूर्ण पदार्थों को निरात्मक, निस्स्वरूप, मानने पर बौद्धों के यहां विधि द्रव्य आदि के स्वरूपों का ही अभाव हो जाता है। सात्मक, स्वभाववान्, पदार्थ तो प्रतिग्रह कर सकता है मुनि महाराज को ऊंचे आसन पर बैठा सकता है या प्रतिग्रहीत हो जाता है, ऊंचे आसन पर बैठ जाता है, स्वभावों से शून्य हो रहा क्या दान देवे ? और क्या लेवे ? दूसरी बात यह है कि बौद्धों ने विज्ञान को ही आत्मा स्वीकार किया है, एक क्षण ही ठहर कर दूसरे क्षण में नष्ट हो चुके विज्ञान के क्षणिक हो जाने के कारण उन दान ग्रहण, स्वर्गप्राप्ति आदि परिणतियों का चहुं ओर से सम्बन्ध नहीं हो पाता है कारण कि पूर्वक्षण और उत्तर क्षण में पाये जा रहे विषयों के संस्कार अनुसार अवग्रह करने में समर्थ हो रहे एक अन्वित ज्ञान का अभाव है। सत् का सर्वथा विनाश और असत् का ही उत्पाद मान रहे बौद्धों के यहां पूर्वोत्तर समीपवर्ती परिणामों का अन्वय नहीं माना गया है। अर्थात् क्षणिक विज्ञान का पक्ष लेने पर यह पात्र है, ऋषि है, तपःस्वाध्याय में तत्पर रहेंगे मेरे पहिले

दान करने की भावना थी अब वही मैं नवधा भक्ति से दान कर रहा हूं दान का फल मुझ कर्ता को ही प्राप्त होगा, इसी प्रकार यह द्रव्य वही शुद्ध है जिसको कि घन्टों पहिले से शोधन, पाचन, आदि क्रियाओं से संस्कृत किया गया है, इत्यादिक अन्वित संबन्ध नहीं हो सकते है। दान का संरंभ करने वाला न्यारा है, फलभोक्ता भिन्न है, शुद्ध खाद्य, पेय, तब न्यारे थे अब न जाने नये उत्पन्न हुये कैसे है ? यों तत्त्वों को क्षणिक मानने पर कोई नियम, आखड़ी, व्रत, दान, नहीं पाले जा सकते हैं। अष्टसहस्री में इसका विशेष स्पष्टीकरण है।

नित्यत्वाज्ञत्वनिःक्रियत्वाच्च तदभावः। क्रिया गुणसमवायादुपपत्तिरिति चेन्न, तत्परिणामाभावात्। क्षेत्रस्य वा चेतनत्वात्। स्याद्वादिनस्तदुपपत्तिरनेकान्ताश्रयणात्। तथाहि —

दूसरे वैशेषिक या नैयायिकों के प्रति यह कहना कि उन्होंने है आत्मा को सर्वथा नित्य स्वीकार किया है "सदकारणवन्नित्यं" सत् होकर जो स्वकीय उत्पादक कारणों से रहित हैं वह नित्य है। वैशेषिकों ने आत्मा को मूलरूप से ज्ञानरहित भी इष्ट किया है। धन के योग से धनवान् के समान सर्वथा भिन्न हो रहे ज्ञान के समवाय से आत्मा को ज्ञानवान माना गया है। मूल में आत्मा अज्ञ है तथा नैयायिकों ने आत्मा को सर्वव्यापक होने के कारण क्रिया शून्य अभीष्ट किया है। जो विचार सर्वत्र यहाँ वहाँ ठसाठस भरा हुआ है वह एक स्थान से दूसरे स्थान को कथमपि नहीं जा सकता है "सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वं" यह वैशेपिकों के यहाँ विभुत्व का पारिभाषिक लक्षण है। यों जिस दर्शन में आत्मा का नित्यपन, अज्ञपन, क्रियारहितपन, इष्ट किये गये हैं उस दर्शन में नित्य, अज्ञ और निष्क्रिय होने के कारण उन विधि आदि के स्वरूप का अभाव है जो नित्य है वह पहिले यदि अदाता था तो सर्वदा अदाता आत्मा ही बना रहेगा तथा जो दाता है तो सदा दाता ही रहेगा। पात्र का गोचरी, भ्रामरी, गर्तपूरण, अक्षम्रक्षण वृत्तियों अनुसार दाता के घर पर आना, और दाता का प्रतिग्रह आदि करना ये सब बातें सर्वथा नित्य आत्मा में नहीं सुघटित होती है। जो ज्ञान गुण से सर्वथा भिन्न है वह अज्ञ आत्मा विचारा घट, पट आदि के समान क्या विधि, श्रद्धा, आदि को करेगा ? कथमपि नहीं। इसी प्रकार निष्क्रिय हो रहे व्यापक आत्मा मे आहार, विहार, उच्चासन, अर्चन, भक्ति, आदि कुछ भी धार्मिक कृत्य नहीं बनते है। अतः क्षणिकवादी बौद्ध के समान आत्मा को नित्य मान रहे नैयायिकों के यहां भी विधि, श्रद्धा, अहिंसा, आदि कोई भी व्रत या शील नहीं सिद्ध हो सकते है। यदि यहां वैशेपिक यों कहे कि "अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदंप्रत्ययहेतुः संबंधः समवायः" यो सर्वथा भिन्न भी हो रहे क्रिया और गुणों का एकपन के समान समवाय संबन्ध हो जाने से आत्मा के विधि, श्रद्धा, अहिंसाव्रत, दिग्विरतिशील, आदि अनुष्ठान बन जायेगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि सर्वथा भिन्न हो रहे ज्ञान, श्रद्धा, तुष्टि, प्रतिग्रह, आदिक उस आत्मा के परिणाम नहीं कहे जा सकते है। सह्याचल का परिणाम विन्ध्य पर्वत नहीं हो सकता है। बात यह है कि देवदत्त को वस्त्र का योग हो जाने से वस्त्रवान् कह सकते हो किन्तु आत्मा का स्वभावपरिणाम वस्त्र नहीं है तिसी प्रकार आत्मा को क्रिया गुणों के समवाय से औपाधिक क्रियावान्, गुणवान, कहा जा सकता है किन्तु आत्मा की क्रिया या गुणों के साथ एकरसपरिणति नहीं होने के कारण इन प्रस्तावप्राप्त दान, ग्रहण, अहिंसा, मैत्री, आदि स्वरूप परिणतियां नहीं हो सकती है। अथवा सांख्यों के प्रति हमें यों कहना है कि उनके यहां प्राकृतिक क्षेत्र को अचेतन स्वीकार किया गया है "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंचभूतानि" सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणमय प्रकृति से महत्तत्त्व प्रकट होता है उस बुद्धि या महान् से अहंकार होता है अहंकार से पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय एक

मन तथा रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, शब्दतन्मात्रा यों ये सोलह् विवर्त आविर्भूत होते हैं। पुनः पांच तन्मात्राओं से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पांच भूत अभिव्यक्त हो जाते हैं। यों एक प्रकृति और तेईस विकृतियां इस प्रकार चौबीस तत्त्वों को क्षेत्र कहते हैं। क्षेत्र की चेतना करने वाला पुरुष पच्चीसवां तत्त्व है यों पच्चीस तत्त्वों को इष्ट कर रहे सांख्यों के प्रति आचार्य कहते है कि आपने प्रकृति को ही कर्ता अभीष्ट किया है प्रकृति के ही व्रत, आखड़ी, उपवास, दान, श्रद्धा, अहिंसा, सामायिक, आदि विकार माने हैं किन्तु जब चौबीसो प्रकार का क्षेत्र अचेतन है ऐसी दशा में घट, पट आदि के समान इस अचेतन क्षेत्र के विधि आदिक विवर्त कथमपि नही बन सकते हैं। प्रतिग्रह, व्रत, आदिक तो चेतन आत्मा के परिणाम हैं जो कि अचेतन के असंभव है। यदि क्षेत्र के विधि आदिक परिणतियां मानी जायेगी तो वह अचेतन नहीं हो सकता हैं। नैयायिकों के समान सांख्यों ने भी आत्मा को नित्य, ज्ञानरहित, क्रियाशून्य, शुद्ध, स्वीकार किया है इस कारण आत्मा के भी विधि आदि के होने की उपपत्ति नहीं है। हाँ स्याद्वादियों के यहां तो उन विधि, दान, आदि का होना सिद्ध हो जाता है क्योंकि जैनों के यहां अनेकान्त पक्ष का आश्रय किया जा रहा है। आत्मा नित्य अनित्य आत्मक हो रहा परिणामी है कतिपय पूर्व परिणतियों को छोड़ता संता उत्तर विवर्तों को आत्मसात् कर ध्रुव बना रहता है अतः उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, स्वरूप आत्मा के सब पुण्य पाप क्रियायें या शुद्ध परिणतियें बन जाती है इसी स्याद्वाद सिद्धान्त को ग्रन्थकार शिखरिणी छन्द मे वार्तिक द्वारा स्पष्टरूप से कह कर दिखलाते है।

> अपात्रेभ्यो दत्तं भवति सफलं किंचिदपरं।
> न पात्रेभ्यो वित्तं प्रचुरमुदितं जातुचिदिह।
> अदत्तं पात्रेभ्यो जनयति शुभं भूरि गहनं
> जनोऽयं स्याद्वादं कथमिव निरुक्तं प्रभवति ॥१॥

यहाँ लौकिक या शास्त्रीय व्यवस्थाओं में कोई कोई पदार्थ यदि अपात्रों के लिये भी दे दिया गया होता है तो वह सफल यानी दाता या पात्र के लिये श्रेष्ठ फल का देने वाला है तथा कोई दूसरा पदार्थ या धन यदि अत्यधिक भी पात्रों के लिये दिया जाय तो भी वह कदाचिदपि सफल नहीं हुआ कहा गया है तथा पात्रों के लिये नहीं दिया गया या दिया गया भी दान पश्चात् आपत्तिकाल में शुभ और बहुत तथा दुरधिगम्य फल को उत्पन्न करता है ऐसी अनेकान्तपूर्ण दशा में स्याद्वाद शब्द की निरुक्ति से लब्ध हुये कथंचित् पक्ष परिग्रह अर्थ की यह विचारशील मनुष्य भला किसी भी प्रकार आद्योत्पत्ति कर ही लेता है। अर्थात् अनेक स्थलों पर पात्र को देना व्यर्थ कहा गया है किन्तु स्याद्वाद मत अनुसार विशुद्ध परिणामों से अपात्र को भी दिया गया दान सफल है और संक्लेश परिणामो अनुसार पात्र के लिये भी अर्पित किया गया दान निष्फल है। इसी प्रकार कदाचित् रोग आदि अवस्थाओं में पात्रों के लिये नहीं भी देना पुण्य को उपजाता है, जब कि पात्र के लिये अशुद्ध पदार्थ का दान या क्लेशवर्द्धक खाद्य, पेय, का दान पाप को उपजाता है। स्याद्वाद का सर्वत्र साम्राज्य छा रहा है स्याद्वाद के प्रभुत्व की छाप सर्वत्र लग रही है।

किंचिद्धि वस्तु विशुद्धान्तरमपात्रेभ्योऽपि दत्तं सफलमेव, संक्लेशदुर्गतं तु पात्रेभ्यो दत्तं न प्रचुरमपि सफलं कदाचिदुपपद्यतेऽतिप्रसंगात्, तथा दत्तमदत्तमपि पात्रेभ्योऽपात्रेभ्यश्च शुभमेव फलं जनयति संक्लेशांगाप्रदानस्यैव श्रेयस्करत्वात्। ततः पात्रायापात्राय वा स्याद्दानं सफलं,

स्याददानं, स्यादुभयं, स्यादवक्तव्यं च स्यादुदानं वाऽवक्तव्यं चेति, स्याद्वादिनयप्रमाणमयज्योतिः-प्रतानो अपसारितसकलकुनयतिमिरपटलः सम्यगनेकान्तवादिदिनकर एव विभागेन विभावयितुं प्रभवति न पुनरितरो जनः कूपमण्डूकवत्पारावारवारिविजृंभितमिति प्रायेणोक्तं पुरस्तात्प्रतिपत्तव्यं ॥

जिस वस्तु से दाता और पात्र का अंतरंग विशुद्ध हो जाय ऐसी कोई भी खाद्य, ज्ञान, पुस्तक, पेय वस्तु होय वह वस्तु अपात्र के लिये भी दे दी जाय तो परिपाक में नियम से सफल ही होगी। हाँ जो संक्लेशों द्वारा दाता या पात्र की दुर्गति कर देने वाली वस्तु है वह पात्रों के लिये अत्यधिक भी दे दी जाय तो भी कदाचित् सफल नहीं बन सकती है। क्योंकि अतिप्रसंग दोष लग जायगा, यानी क्रोधी राजा, या डाकू, वेश्या, अफीमची, मद्यपायी, आदि को दिया गया अथवा दुष्ट लोभी दाता कर के दिया गया पदार्थ भी सफल हो जाना चाहिये, जो कि किसी को इष्ट नहीं है। तथा पात्रों के लिये और अपात्रों के लिये कोई भी पदार्थ दिया गया होय अथवा नहीं भी दिया गया होय विशुद्ध भावनाओं अनुसार परिपाक से शुभ ही फल को उत्पन्न कराता है कारण कि संक्लेशांगों करके नहीं प्रदान करना ही जैन सिद्धान्त में श्रेयस्कर यानी पुण्यवर्द्धक या परंपरया मुक्ति संपादक अभीष्ट किया है। आत्मा की यावत् परिणतियों में विशुद्धि और संक्लेश अनुसार शुभ अशुभ व्यवस्थाये नियमित की गई हैं तिसकारण उक्त छंदः मे कहा गया स्याद्वादसिद्धान्त यों पुष्ट हो जाता है कि पात्र के लिये अथवा अपात्र के लिये अर्पित किया गया कथंचित् सफल हो रहा दान है (प्रथम भंग)। और पात्र,अथवा अपात्र के लिये संक्लेश पूर्वक दिया गया विफल हो रहा कथंचित् अदान है (द्वितीय भंग)। एवं क्वचित् दिया गया दान क्रम से अर्पणा करने पर दान, अदान, उभय स्वरूप है विशुद्धि और संक्लेश का मिश्रण हो जाने पर उभय धर्म सध जाता है (तृतीय भंग) तथा दानपन, अदानपन, इन दोनों धर्मों को युगपत् कहने की विवक्षा करने पर "स्यात् अवक्तव्य" धर्म सधता है। विरोधी सारिखे प्रतिभास रहे दो धर्मों को स्वाभाविक शब्दशक्ति अनुसार कोई भी एक शब्द युगपत् कह नहीं सकता है संकेत करने का साहस करना भी व्यर्थ पड़ता है (चतुर्थ भंग) विशुद्धि अंश का आश्रय करने पर और एक साथ दोनों विशुद्धि, संक्लेशों, की अर्पणा करने पर "स्यात् दानं अवक्तव्यं च" यह पांचवां भंग घटित हो जाता है (पाँचवां भंग) तथैव व्यस्तरूप से संक्लेश और समस्तरूप से विशुद्धि संक्लेशों का आश्रय करने पर 'अदानं च अवक्तव्यं च" भंग सध जाता है (षष्ठ भंग)। न्यारे न्यारे क्रम से अर्पित किये गये विशुद्धि संक्लेशों और समस्तरूप से सह अर्पित किये गये विशुद्धि संक्लेशों का आश्रय कर सातवां भंग व्यवस्थित है (सप्तम भंग)। इस प्रकार यह समीचीन, अनेकान्तवादी, विद्वान् सूर्य के समान हो रहा ही अनेक सप्तभंगियों की विभाग करके विचारणा करने के लिये समर्थ हो जाता है। जिस अनेकान्तवादी सूर्योपम पण्डित का स्याद्वाद से परिपूर्ण हो रहे नय और प्रमाणों की प्रचुरता को लिये हुये प्रकाश मण्डल चारों ओर फैल रहा है और उस अनेकान्त वादी सूर्य ने संपूर्ण कुनयों स्वरूप अंधकार पटल को नष्ट कर दिया है। किन्तु फिर दूसरे कूपमण्डूक के समान बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक आदिक जन तो सिद्धान्त स्वरूप गम्भीर, विशाल, समुद्र के जल की विजृंभणाओं पर प्रभुता प्राप्त करने के लिये योग्य नहीं है इस बात को हम पूर्व प्रकरणों में बहुत स्थलों पर कह चुके हैं वहां से व्युत्पत्तिलाभ कर अनेकान्तसिद्धान्त की प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये।

भावार्थ—यहाँ दान के प्रकरण में आचार्यों ने स्याद्वाद सिद्धान्त की योजना करते हुये दानपन, आदानपन, इन दो मूल भंगों की अपेक्षा सप्तभंगी को लगाया है। अदान में पड़े हुये नञ् का अर्थ कुत्सित भी हो जाता है। यों कुदान से भी कुभोग के लौकिकसुखों की प्राप्ति हो जाती है तब तो कुदान करना भी

सफल रहा और कदाचित् संक्लेशों अनुसार किया गया पात्रदान भी अदान समझा गया। ये सर्व अंतरंग परिणामों के वश हुई व्यवस्थायें अनेकान्तवादियों के यहां तो सुशृंखलित बन जाती है। यहाँ ग्रन्थकार ने अनेकान्तवादी पण्डित को धार्मिक क्रिया और लौकिक कर्तव्यों के प्रकृष्ट उपकारक सूर्य का रूपक दिया है। सूर्य का प्रकाशमण्डल हजारों योजन इधर उधर फैलता है उसी प्रकार स्याद्वादसिद्धान्त के अनेक नय और प्रमाणों की प्रचुरता विश्व में विस्तृत हो रही है। सूर्य जैसे अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार अनेकान्तवादी विद्वान् भी क्षणिकत्व, कूटस्थ नित्यत्व आदि एकान्तों का प्रतिपादन कर रहीं कुनयों को निराकृत कर देता है। जिन पुद्गल स्कन्धों का अन्धकारमय परिणमन हो रहा था सूर्य का सन्निधान मिलने पर उन्हीं पुद्गलस्कन्धों का प्रकाशमय ज्योतिःस्वरूप परिणाम होने लग जाता है। इस ही ढंग से क्षणिकत्ववादी बौद्ध या पच्चीस तत्त्वों को कह रहे कपिल मतानुयायी एवं षोडशपदार्थवादी नैयायिक तथा सात पदार्थों को मान रहे वैशेषिक आदि के कुनय गोचरों का कथंचित् अनेकान्त सूर्य करके सुनय गोचरपना प्राप्त हो जाता है तभी तो सिद्धचक्रविधान के मन्त्रों में कपिल, वैशेषिक, षोडश-पदार्थवादी, आदि को सिद्धस्वरूप मान कर नमस्कार किया है। भगवान् के सहस्रनामों में भी इस का आभास पाया जाता है। भूतप्रज्ञापननय अनुसार अथवा सुनययोजना से, पच्चीस, सोलह, सात, एक अद्वैतब्रह्म, शब्दाद्वैत, ज्ञानाद्वैत, आदि तत्त्वों की भी सुव्यवस्था हो जाती है। तभी तो देवागम स्तोत्र के अन्त में श्री समन्तभद्र आचार्य महाराज ने "जयति जगति क्लेशावेशप्रपंचहिमांशुमान् विहत विषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान्। यतिपतिरजो यस्या धृष्यान्मताम्बुनिधेर्लवान्, स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते" इस पद्य द्वारा जिनेन्द्रमतरूप समुद्र के ही छोटे छोटे अंशों को अपना मत मान कर उपासना कर रहे अनेक दार्शनिकों को बताया है। श्री अकलंक देव ने भी आठवें अध्याय में "सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु" इत्यादि पद्य का उद्धरण कर एकान्तवादियों के तत्त्वों को जिनागम का ही अंश स्वीकार किया है। जिस प्रकार भांग पीनेवाला भांग पीने की यों पुष्टि कर देता है कि गधा ही भांग को नहीं पीता है यानी गधे से न्यारे जीव भांग को पीते ही है, उसी प्रकार भांग को नहीं पीने वाला उसी दृष्टान्त से यों अपने व्रत को पुष्ट करता है कि गधा भी भांग नहीं पीता है तो अन्य लोग भांग को कथंचित् भी नहीं पियेंगे। इत्यादि ढंगों से एवकार और अपिकार मात्र से एकान्त अनेकान्त का अन्तर है। वस्तुतः समीचीन एकान्तों का समुदाय ही तो अनेकान्त है। इस ग्रन्थ में अनेक बार अनेकान्त प्रक्रिया को कहा जा चुका है। अष्टसहस्री तो अनेकान्तसिद्धि का घर ही है। जगत्प्रसिद्ध निर्दोष स्याद्वादसिद्धान्त को समझाने के लिये थोड़ा संकेतमात्र कर देना पर्याप्त है। स्याद्वादसिद्धान्त से सम्पूर्ण तत्त्वों की यथायोग्य विभाग करके विचारणा कर ली जाती है। हां, कुनयों के गाढ़ अन्धकार में उद्भ्रान्त हो रहे एकान्तवादी मुग्ध जीव विचारा उसी प्रकार सिद्धान्त रहस्य का पता नहीं लगा सकता है जिस प्रकार कि दो तीन हाथ तक ही उछलने की शक्ति को धार रहा कुंये का दीन मेंढक अनेक योजनों लम्बे, चौड़े, गहरे समुद्र जल की सीमा को नहीं पा सकता है। अनेक भङ्गोंवाली प्रक्रिया को नय विशारद पुरुष शीघ्र समझ लेता है। श्री अमृतचंद्र स्वामी ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में "एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण, अन्तेन जयति जैनी, नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी" इस पद्य द्वारा अनेकान्त सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है। परिशुद्ध प्रतिभावालों को सुलभता से अनेकान्त की प्रतीति कर लेनी चाहिये।

इति सप्तमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

यहाँ तक तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र के सातवें अध्याय के प्रकरणों का
दूसरा आह्निक समाप्त हो चुका है।

इति श्री विद्यानन्दि-आचार्यविरचिते
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे सप्तमोध्यायः
समाप्तः ॥७॥

•

इस प्रकार अब तक अनेक गुणगरिष्ठ पूज्य श्री विद्यानन्द स्वामी आचार्य के द्वारा
विरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार नामक
महान् ग्रन्थ में सातवां अध्याय
पूर्ण हुआ।

•

सातवें अध्याय का सारांश

इस सातवे अध्याय के प्रकरणों की सूची इस प्रकार है कि छठे और सातवें में आस्रवतत्त्व के निरूपण करने की संगति अनुसार पुण्यास्रव का निरूपण करने के लिये प्रथम ही व्रत का सिद्धान्त लक्षण किया गया है। बुद्धिकृत अपाय से ध्रुवत्व की विवक्षा कर सूत्र में अपादान प्रयुक्त पंचमी विभक्ति का समर्थन कर संवर से पृथक् प्ररूपण का उद्देश्य बताते हुये रात्रि भोजनविरति का भावनाओं मे अन्तर्भाव बता दिया है। आत्मा की एक देश विशुद्धि और सर्वांग विशुद्धि नामक परिणतियों के अनुसार अणुव्रतों महाव्रतों की व्यवस्था कर व्रतों की पच्चीस भावनाओं का युक्तिपूर्ण समर्थन किया है। भाव्य, भावक, भावनाओं, का दिग्दर्शन कराते हुये सामान्य भावनाओं मे हिंसादि द्वारा अपाय और अवद्य देखने की पुष्टिकर हिंसादि में दुःखपन साध दिया है। मैत्री, प्रमोद आदि के व्यतिकीर्ण रूप से सामञ्जस्य को दिखलाते हुये संवेग वैराग्यार्थ भावना को सुन्दर हृदयग्राही शब्दों द्वारा निर्णीत किया है। भावना कोई कल्पना नहीं किन्तु वस्तुपरिणति अनुसार हुये आत्मीय परिणाम है पश्चात् व्रतों के प्रतियोगी हो रहे हिंसा आदि का लक्षण करते हुये प्राणव्यपरोपण को हिंसा बताकर प्राणी आत्मा के दुःख हो जाने प्रयुक्त पापबंध होना बखाना गया है। नैयायिक, सांख्य, आदि के यहाँ प्राणव्यपरोपण होने पर प्राणी का व्यपरोपण नहीं सधता है। सूत्र की मनीषा भावहिंसा और द्रव्यहिंसा दोनों का लक्षण करने में तत्पर है। बौद्ध या चार्वाकों के यहाँ हिंसा, या अहिंसा, नहीं बनती है "प्रमत्तयोग" पद से अनेक तात्पर्य पुष्ट होते हैं। झूँठ के लक्षण में भी प्रमादयोग लगाना अत्यावश्यक है। अप्रशस्त कहने को झूंठ माना गया है यह बहुत बढ़िया बात है। अपने या दूसरे के सन्ताप का कारण जो वचन है वह सब असत्य है और हिंसा आदि के निषेध करने में प्रवर्त रहा कैसा भी वचन हो सत्य ही है पाप का कार्य या कारण जो हिंसापूर्ण वचन है वह असत्य है। अतः अपराधी जीव अपने को बचाने के लिये या स्वार्थी मनुष्य अभक्ष्यभक्षण, परस्त्रीसेवन आदि के लिये यदि मनोहर भी वचन बोलेगा तो वह असत्य ही माना जावेगा, निकृष्ट स्वार्थों से भरा हुआ वचन झूँठ है जब कि परोपकारार्थ झूँठ भी एक प्रकार का सत्य है। न्यायवान् राजा या राजवर्ग मात्र भविष्य में अहिंसा की रक्षा के लिये दण्डविधान करते हैं जो कि अपराधी के अभ्यन्तर परिणामों और अपराधों की अपेक्षा से ताड़न, वध, बंधन, कारावास, जुरमाना, आदि करना पड़ता है। किसी किसी

फांसी के अपराधी को भी क्षमा कर दिया जाता है "अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं" जगत् में अहिंसा व्याप जाय इस का पूर्ण लक्ष्य है। इसी प्रकार चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के लक्षणों में कतिपय सिद्धान्तरहस्य प्रकट किये गये है। व्रती के अगारी और अनगार भेदों को बखान कर दिग्विरति आदि का आत्मीय विशुद्धि पर अवलंबित रहना पुष्ट किया है। व्रतशीलों के अन्त में सल्लेखना का व्याख्यान कर प्रथम आह्निक को समाप्त कर दिया है। इसके अनन्तर सम्यग्दृष्टि के अतीचारों की व्याख्याकर आठ अंगके विपरीत दोषों को पांच अतीचारों में ही गतार्थ कर अनुमान प्रमाण द्वारा शंकादि अतीचारों को साध दिया है। आगे व्रतों और शीलों में पांच पांच अतीचारों के कहने की प्रतिज्ञा कर पांच व्रत और सात शील तथा सल्लेखना के अतीचारों को कह रहे सूत्रों का व्याख्यान किया है। सभी अतीचारों में व्रतों का एक देश भंग और एक देश रक्षण का लक्ष्य रक्खा गया है। व्रतों को सर्वथा नष्ट कर देने वाले या व्रतों के पोषक परिणामों को अतीचारपना नहीं है। दान के लक्षण सूत्र में पड़े हुये पदों की सार्थकता करते हुये विधि आदि की विशेषता से दान की हो रही विशेषता को युक्ति पूर्वक साध दिया है पश्चात् अनेकान्त सिद्धान्त की लगे हाथ "जयदुंदुभि" बजाई गई है जिस प्रकार अनेकान्त की पुष्टि करने के लिये सूर्य का पश्चिम में भी उदय होना या जल की उष्णता एवं अग्निकी शीतता आदि को पुष्ट कर दिया जाता है उसी प्रकार दान में स्याद्वादसिद्धान्त को जोड़ते हुये क्वचित् अपात्रों के लिये भी दिये गये किसी ज्ञान, पुस्तक, भक्ष्य, पेय औषधि आदि के दान को सफल बताया है जब कि कदाचित् पात्रों के लिये भी दिया गया किसी अनुपयोगी या संक्लेशकारक पदार्थ का दान निष्फल समझा गया है। यो दान, अदान के दो मूलभंगों अनुसार सप्तभंगी प्रक्रिया का अयोजन कर अनेकान्तवादी विद्वान् को सूर्य का प्रतिरूपक बनाते हुये एकान्ती पण्डितों को कूपमण्डूक के समान जताकर अनेकान्त सिद्धान्तसागर की प्रतिपत्ति कर लेने के लिये तत्त्वान्वेषी जिज्ञासुओं को उत्साहित किया गया है। एक दन्तकथा वृद्ध विद्वानों से सुनी जा रही है कि समुद्र तट का निवासी एक हंस किसी समय एक कुएं के पास उड़ कर जा बैठा कुएँ के मेंढक ने प्रसंग पा कर हंस से पूछा कि आपका समुद्र कितना बड़ा है ? हंस ने हंसकर उत्तर दिया कि प्रिय भ्रात ! समुद्र बहुत बड़ा है। मेंढक हाथपांव पसार कर कहता है कि क्या सागर इतना बड़ा है ? राजहंस उत्तर देता है कि नहीं इस से कहीं बहुत बड़ा है। पुनः झुंझलाता हुआ मेंढक सविस्मय हो कर कुएं के एक तट से दूसरे तट पर उछल कर समझाता है कि क्या इस से भी बड़ा है ? हंसराज गम्भीर होकर वही कहता है कि भाई ! समुद्र इस से भी अत्यधिक लम्बा, चौड़ा है, तब मेंढक उस हंसोक्ति को असत्य समझ कर हंस की प्रतारणा करता है कि कोई भी जलाशय कुएँ से बड़ा नहीं हो सकता है। हंस उस मेंढक को हठी समझ कर स्वस्थान को चला जाता है और कदाचित् मेंढक को ले जाकर समुद्र का दर्शन कराता है तब कहीं मेंढक को अगाध पारावार का परिज्ञान होता है और उस का मिथ्या अभिनिवेश नष्ट हो जाता है। इसी दृष्टान्त अनुसार एकान्तवादियों को कूपमण्डूक की उपमा दी गई है। परमपूज्य श्री विद्यानन्दी आचार्य स्याद्वादसिद्धान्त के उद्भट प्रतिपादक हैं। श्री विद्यानन्द स्वामी के अष्टसहस्री ग्रन्थ का यह अतिशय विख्यात है कि "अष्टसहस्री को हृदयंगत करने वाला विद्वान् अवश्य ही स्याद्वादसिद्धान्त का अनुयायी हो जाता है। वस्तुओं के अंतरंग बहिरंग कारणवश अथवा स्वाभाविक हुये अनेक धर्मों की योजना अनुसार अनेकान्त की व्यवस्था है और शब्दों के वाच्यार्थ अनुसार कहे गये वस्तु के धर्मों में सप्तभंग नय की विवक्षा द्वारा स्याद्वादसिद्धान्त की प्रतिष्ठा है। यों अनेकान्त की भित्ति पर सध रही स्याद्वाद सिद्धान्त की जयपताका को फहराते हुए ग्रन्थकार ने सातवें अध्याय के द्वितीय आह्निक को समाप्त कर दिया है॥

ख्यातुं तीर्थकरास्रवेषु पठितां शीलव्रतादुष्टतां,
सामान्येतरभावना अहितकृद्धिंसादिलक्ष्माणि च ।
सम्यक्त्वादिसुलेखनान्ततदतीचारान् जगौ यां श्रयन्
सानेकान्तसरस्वती विजयते स्याच्चिह्निता सूत्रकृत् ॥१॥

इति आचार्यवर्य श्री विद्यानन्द स्वामी विरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारनामक महान् ग्रन्थ की आगरामण्डलान्तर्गत चावलीग्रामनिवासी न्यायाचार्य माणिकचन्द्रकृत हिन्दीदेशभाषामय तत्त्वार्थ-चिन्तामणि टीकामें सातवां अध्याय परिपूर्ण हुआ ।

॥ इति सप्तमोध्यायः ॥

•

श्लोक वर्णानुक्रमणिका

पंचमाध्याय